राष्ट्रों के मध्य राजनीति

(POLITICS AMONG NATIONS)

लेखक

हंस जे० मारगेनथाउ

अनुवादक

प्रेम नारायण मीतल

नरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव

डा० धर्मचन्द ग्रोवर

कुलभूषण राय

हरियाणा हिन्दी ग्रंथ अकादमी

प्रकाशक
हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
चण्डीगढ

प्रथम संस्करण 1976

मूल्य : बाईस रुपये (Rs. 22.00)

मुद्रक :
टी० फिलिप, मैनेजर,
कुरुक्षेत्र-विश्वविद्यालय प्रेस, कुरुक्षेत्र ।

प्रस्तावना

राष्ट्रभाषा हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं को विश्वविद्यालयों में सर्वोच्च स्तर तक शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रयत्नों की सफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि इन भाषाओं में ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं में पर्याप्त ग्रन्थ उपलब्ध हों।

इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा एक विशेष योजना परिचालित की गई है। इस योजना के अनुसार इन भाषाओं में मौलिक मानक ग्रन्थों की रचना करवाई जा रही है तथा अंग्रेजी आदि भाषाओं में उपलब्ध छात्रोपयोगी साहित्य के अधिकृत अनुवाद भी सुलभ किये जा रहे हैं। इस महत्त्वपूर्ण कार्य को कम-से-कम समय में सम्पन्न करने के लिए भारत सरकार की प्रेरणा और आर्थिक सहायता से भी राज्यों में स्वायत्तशासी संस्थाओं की स्थापना की गई है। इन संस्थाओं की स्थापना से भारतीय भाषाओं में पुस्तक निर्माण के काम को प्रोत्साहन मिलने लगा है और आशा की जाती है कि छात्रों को भारतीय भाषाओं में संबन्धित विषयों की वे प्रामाणिक पुस्तकें, जो उन्हें अब तक सामान्यतः बाजार में उपलब्ध नहीं थी, यथाशीघ्र सुलभ होंगी।

हरियाणा में पुस्तक निर्माण का यह कार्य हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी के माध्यम से करवाया जा रहा है। यह हर्ष का विषय है कि प्रसिद्ध विद्वान और अध्यापक इस कार्य में अकादमी को सहयोग दे रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक हन्स जे० मारगेनथाउ कृत 'पॉलटिक्स अमंग नेशन्ज' का हिन्दी रूपांतर है। इस के अनुवादक कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के सर्वश्री प्रेम नारायण मीतल, नरेन्द्र नाथ श्रीवास्तव, धर्मचन्द ग्रोवर तथा कुलभूषण राव हैं।

पुस्तक में भारत सरकार द्वारा तैयार की गई शब्दावली का प्रयोग किया गया है, ताकि देश की सभी संस्थाओं में छात्रों की सुविधा के लिए एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

निदेशक,
हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

विषय-सूची

तृतीय संस्करण का प्राक्कथन

इस पुस्तक का तीसरा संस्करण परिशोधन के उसी क्रम को बनाये रखता है, जो दूसरे संस्करण मे पाँच वर्ष पूर्व अपनाया गया था। लेखक तथा पाठक के लिए फलप्रद ऐसे परिशोधन की निरन्तर आवश्यकता इस पुस्तक के एक मूल सिद्धान्त की ओर इंगित करती है, जो प्रथम अध्याय मे प्रयुक्त इस दृढ निश्चय पर निर्भर है कि राजनीतिक मामलो मे सदा एक बाह्य एव विश्वव्यापी रूप से सिद्ध सत्य वर्तमान रहता है और यह सत्य मानवीय विवेक द्वारा जाना जा सकता है तथा इतिहास के क्रमिक कालो की निरन्तर परिवर्तनशील समाकृतियो (Configurations) मे अकित भी है और उनकी ओर इगित भी करता है। अपने, परीक्षा और अनुभव पर निर्भर, स्पष्टीकरणो तथा उन उद्देश्यो दोनो मे ही कथित राजनीतिक सत्य अपने समय की उपज माना जाता है। अपने अनेक लगभग समान दायित्वों के साथ अठारहवी एव उन्नीसवी शताब्दियो का शक्ति-सतुलन बीसवी शताब्दी के मध्यकाल मे शक्ति-सतुलन के स्वरूप का वर्णन करना प्रत्यक्ष रूप की व्याख्या करने के समान था जिसे प्रत्येक व्यक्ति सदियो के राजनीतिक अनुभव से पहले से ही जानता रहा है। बीसवी शताब्दी की तीसरी और चौथी दशाब्दियों मे शक्ति-सतुलन को सयुक्त राज्य अमरीका मे अतर्राष्ट्रीय नीतियो का चिरस्थायी तत्त्व घोषित करना उस सत्य का दर्शन कराना था, जिसकी उपस्थिति मे कुछ ही लोग विश्वास करते थे और अधिकतर लोग जिसे पूर्ण अपसिद्धान्त, अपधर्म और एक बीतती हुई सुप्तप्राय: भटकन मानते थे।

जो परिवर्तन तृतीय संस्करण के लिखने के पश्चात् राजनीतिक वातावरण मे हुए हैं, उनके सदर्भ मे इस पुस्तक मे प्रस्तुत अतर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त की परीक्षा करते समय मुझे इस बात का भान हुआ कि इस पर दिये गए बल मे परिवर्तन करूँ और मान्यताओ, विधियो एव सैद्धान्तिक स्वरूप को ज्यो का त्यो बनाये रख कर उन्हें विस्तृत करूँ। प्रमुख शक्ति-तत्त्व के, जो पूर्ण अबाधित होने के पश्चात् अब सैनिक-शक्ति के समीकृत होता जा रहा है, विरोध मे मैंने पहले की अपेक्षा इसके सूक्ष्म दृष्टिकोणो पर जोर दिया है, विशेषतया विचारात्मक शक्ति के रूप मे, और राजनीतिक विचारधाराओ पर विवेचन को मैंने विस्तृत किया है। वर्तमान विश्व-राजनीति मे सधियाँ जो समस्याएँ प्रस्तुत करती हैं, उसे देखते हुए मैंने सधियो के सिद्धान्त पर एक भाग अलग से जोड दिया है और योरोपीय समुदायो पर अध्याय जोड दिये गये हैं। हाल के विकासो को देखते हुए शान्तिमय

परिवर्तन पर अध्याय बढा दिया गया है और संयुक्तराष्ट्र संघ का अध्याय फिर से पूर्णत लिखा गया है।

कुछ सामान्य समस्याओं को समझने और जांचने के लिये, जो कि जनता के वाद विवाद के विषय हैं मैं विशेष बेचैन रहा हूँ। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण समस्यायें ये है—नाभिकीय लडाई की पूर्ण नाशकारिता को देखते हुए शक्ति सन्तुलन पूर्ण नाभिकीय और संकुचित युद्ध का आपसी सम्बन्ध, अधिराष्ट्रीय संगठनों की आवश्यकता तथा उनके प्रति झुकाव, पहले के उपनिवेशी क्षेत्रों में नवीन राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय राज्य की लुप्तप्रयोगिकता, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त की पर्याप्तता। इन नवीन सी दिखती परिस्थितियों और समस्याओं में से, जैसा कि इस पुस्तक के प्रथम संस्करण में इंगित किया गया था, केवल पूर्ण हिंसा की लुप्तप्रयोगिकता ही वास्तव में ऐसी है, जिसका पहले कोई उदाहरण नहीं मिलता। और सब तो एक नवीन राजनीतिक अथवा औद्योगिक वातावरण में *प्रकट अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चिरस्थायी सिद्धान्तों की अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं।*

द्वितीय संस्करण के प्राक्कथन में माण्टेस्क्यू के समान अनुभव से शान्ति प्राप्त करते हुए मुझे उन लेखकों के भाग्य पर दु ख प्रकट करना पडा है, जिनकी आलोचना उन विचारों के लिए हुई जो उन्होंने कभी नहीं अपनाये थे। मैं अब भी इसी प्रकार की आलोचना का विषय बना हुआ हूँ। मुझसे अब भी कहा गया है कि मैं राष्ट्र-राज्य पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की प्रधानता में अब भी विश्वास करता हूँ यद्यपि राष्ट्र राज्य की लुप्तप्रयोगिकता एवं इसको कार्यात्मक स्वभाव वाले अधिराष्ट्रीय संगठनों में मिला देने की आवश्यकता 1948 के प्रथम संस्करण के प्रमुख प्रसंग में से एक थी। मुझसे अब भी कहा जाता है कि मैं सफलता को राजनीतिक कार्य का मानदण्ड मानता हूँ। तब भी 1955 तक मैंने राजनीति की इस धारणा का उन्हीं युक्तियों से खंडन किया था, जो मेरे विरोध में लगाई जाती हैं। और वास्तव में इस पुस्तक में और अन्यत्र इसके विरोध में प्रचुर प्रमाण होते हुए भी मुझ पर नैतिक समस्या के प्रति उदासीनता का आरोप लगाया जाता है।

यह संस्करण प्रिंसटन में 'इन्सटीट्यूट फॉर एडवांस स्टडी' में रहने पर लिखा गया था। मैं कृतज्ञता के साथ श्रीमती मेरियन जी हार्ट्ज और कुमारी जोआन ओंगहेन की योग्यतापूर्ण सहायता को स्वीकार करता हूँ।

'कमेन्टरी' व 'कान्फ्लूयेन्स' में पहले प्रकाशित सामग्री का उपयोग करने की अनुमति देने के लिए भी कृतज्ञ हूँ।

प्रिंसटन न्यू जरसी

हस जे० मारगेनथाउ

द्वितीय संस्करण का प्राक्कथन

इस पुस्तक के द्वितीय सस्करण म जो अनेक परिवर्तन किए गए है, उनका कारण है सयुक्त राज्य के बौद्धिक वातावरण मे पिछले छह वर्षों मे नवीन अभिवृद्धियाँ, विश्व राजनीति की स्थितिया और लेखक का मस्तिष्क।

जब यह पुस्तक 1947 म लिखी गई थी, तब इसमे बीस वर्ष के बौद्धिक अनुभवो का सार था। यह अतर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप और उन तरीको पर जिनके द्वारा विदेशी नीति की मिथ्या अवधारणा पर जो पाश्चात्य लोकतत्रो के द्वारा कार्यान्वित होने पर अवश्यम्भावी रूप से एकदलीय पद्धति और युद्ध के भय और वास्तविकता की ओर ले जाती है, एकाकी तथा प्रभावहीन प्रतीत होने वाले चिन्तन का अनुभव था। जब यह पुस्तक मूल रूप मे लिखी गई, तब भी विदेशी राजनीति की वह मिथ्या एव विकृत धारणा अपने उत्तरोत्तर उत्कर्ष पर थी। तब यह पुस्तक वास्तव मे उस सिद्धान्त के विरोध म उग्र प्रहार के अतिरिक्त कुछ हो भी नही सकती थी। दूसरे पक्ष वालो की भूलो के अनुपात मे ही इस पुस्तक को अपने दृष्टिकोण म आमूल क्रान्तिकारी होना पडा है। उस सघर्ष को काफी सीमा तक जान लेन पर विवादग्रस्त मत उस स्थिति को सुसगठित होने दे सकता है, जिस तक पहुँचने की आवश्यकता नही रह गई है। उस स्थिति की केवल प्रतिरक्षा करना है, और उसे नय अनुभवो के अनुकूल ढालना है।

पिछले छह वर्षों के उन राजनीतिक अनुभवो मे से, जिनका पुस्तक मे परिशोधन करना पडा है, चार प्रमुख है—विश्व-राजनीति के ढाँचे मे नवीन प्रवृत्तियाँ, उपनिवेशीय क्रान्ति का विकास, अधिराष्ट्रीय प्रादेशिक सस्थाओ की स्थापना और सयुक्त राष्ट्र की कार्यवाहियाँ। जब कि 1947 मे दिखलाई पडने वाले लक्षण विश्व राजनीति की द्विध्रुवी पद्धति को दो गुटो मे परिवर्तित होने की ओर इगित करते थे, नवीन प्रवृत्तियाँ पिछले सालो मे प्रकट हो गई है, जो उस प्रवृत्ति के विरोध मे चल रही है। एशिया एव अफ्रीका मे उपनिवेशीय क्रान्ति बहुत फैल चुकी है और तीव्रता से बढ भी रही है। इस तरह से यह विश्व-राजनीति मे नवीन समस्याओ को जन्म देती हुई और नवीन नीतियो की आवश्यकता बताती हुई एक नवीन शक्ति की तरह प्रकट हुई है। नवीन सस्करण मे मानव के मस्तिष्क के सघर्ष को समझाने का प्रयास किया गया है, क्योकि कूटनीति और युद्ध की परम्परागत परिधियो मे अतर्राष्ट्रीय राजनीति की

नवीन परिधि को जोडना पडेगा। प्रथम सस्करण मे सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्रीय राज्य की लुप्तप्रयोगिकता पर जोर दिया गया था। द्वितीय सस्करण मे अधिराष्ट्रीय सस्थायें जैसे योरोपीय कोयले व लोहे का सगठन और उत्तर-अटलांटिक सधि सगठन, जिनके द्वारा बहुत से राष्ट्र कुछ समान हितो का अनुसरण करते है बनाने के प्रयत्नो पर दृष्टिपात किया गया है। नवीन सयुक्त-राष्ट्र सघ का जिन भ्रमात्मक आशाओं से आम तौर पर स्वागत किया गया था, उनके विरोध म प्रथम सस्करण मे चेतावनी दी गई है, द्वितीय सस्करण मे सयुक्त राष्ट्र सघ का वास्तविक निमाण और उन निष्पत्तियो का जो राजनीतिक क्षेत्र मे उनसे मूल रूप म भिन्न है और जिन्हें सयुक्त राष्ट्र को करना था (जिनकी कि उससे आशा की जाती थी) वर्णन हो सकता है। हर स्थान पर कोरिया के युद्ध के अनुभव पुस्तक के सैद्धान्तिक ढाँचे मे जड दिये गये है।

बौद्धिक वातावरण और राजनीतिक स्थितियो मे आये हुए इन विकासो ने लेखक के विचार को प्रभावित किया है। इस पुस्तक म स्पष्ट किए गए राजनीतिक दर्शन के लिए और भी महत्त्वपूर्ण है इस पुस्तक के प्रथम व द्वितीय सस्करण के मध्य लेखक की विचारधारा का स्वतत्र विकास। इस सस्करण मे स्पष्टीकरण, परिष्कार और परिवर्तन किए गए हैं। भूमिका का अध्याय जोडा गया है, जो इस पुस्तक मे निहित कुछ मूल सिद्धान्तो की ओर इगित करता है। ऐसी अवधारणाओं, जैसे राजनीतिक शक्ति, सास्कृतिक साम्राज्यवाद, विश्व जन-मत, नि शस्त्रीकरण, सामूहिक सुरक्षा और शान्तिमय परिवर्तन आदि पर पुनर्विचार किया गया है, तथा वे पुन निर्मित की गई हैं और पिछले वर्षों मे जो नवीन विकास हुए हैं, उन पर लागू की गई हैं। विरोध-नीति, शीत-युद्ध, तटस्थ राष्ट्र और प्वाइण्टफोर आदि नवीन अवधारणाओ का परिचय कराया गया है तथा वे अपने विभिन्न रूपो मे विवेचित हुई हैं। गृह-नीति के विदेशी नीति पर प्रभाव पर विशिष्ट रूप से जोर दिया गया है। अपने महत्त्व की मान्यता से राष्ट्रीय शक्ति के नवीन तत्त्व के रूप म सरकार का वैशिष्ट्य पुन स्थापित किया गया है। विदेशी तथा गृह-नीति के मध्य कूटनीति का एक नवीन नियम कार्य करता है। शक्ति-सन्तुलन तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे आपसी सम्बन्ध ने, जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के बहुत स चिरप्रतिष्ठित लेखको को विदित था, और ओपनहेम के लेख के प्रथम सस्करणो मे अब भी जिस पर जोर दिया जाता था, उसने फिर से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सिद्धान्त मे अपना उपयुक्त स्थान प्राप्त किया है।

इस पुस्तक का द्वितीय सस्करण प्रथम सस्करण के उत्साहपूर्ण स्वागत का परिणाम है। इन पृष्ठो म प्रतिबिम्बित समीक्षात्मक सामग्री के विषय मे

मुझे हेरल्ड स्प्राउट और आरनोल्ड वोलफर्स के इस दिशा मे योगदान की ओर विशेष रूप मे ध्यान आकर्षित करना है। जार्ज पैटी ने युद्ध की टेक्नोलॉजी के विवेचन मे कुछ वास्तविक भूलो के प्रति मेरा ध्यान आकर्षित किया है। बहुत से प्रस्तावो को मान कर मैंने नौसिखियो की ज्ञान-शक्ति को सहायता प्रदान करने के लिए ऐतिहासिक ब्यौरो को विस्तृत किया है। ऐतिहासिक शब्दावली से भी वही उद्देश्य पूर्ण होता है, जो मूल ग्रन्थ मे कथित अधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति तथा घटनाओ की संक्षिप्त व्याख्या पूर्ण करती है। नक्शे फिर से चित्रित किये गये हैं और नवीन नक्शे तथा आकृतियां जोड दी गई हैं।

विवादग्रस्त विषयो को अपनाने वाले लेखको का यह दुर्भाग्य है कि उन्हे उन विचारो के लिए भी दोषी ठहराया जाता है, जो उन्होंने कभी नही अपनाये। एक लेखक के लिए उस समय यह सुखप्रद नही है कि वह उन विचारो के लिए दोषी ठहराया जाय, जो उसने न केवल कभी प्रकट नहीं किये है वरन् स्पष्ट रूप मे बारम्बार जिनका खडन किया है और जो उसको अवांछित लगे है। उन लोगो को जो अध्ययन के पहले बोलने और जानने के पहले निर्णय करने को उत्सुक हो जाते है, मैं माण्टेस्क्यू का भी तर्क प्रस्तुत करता हूं जो उन्होने 'स्प्रिट ऑफ दी ला' के पाठको को प्रस्तुत किया था :—

"मैं अपने पाठको से एक कृपा की याचना करता हूं, जो मुझे भय है कि नही दी जायगी। वह है कि वे बीस वर्ष के परिश्रम का कुछ घटो के अध्ययन मे ही निष्कर्ष न निकाले, तथा वे सम्पूर्ण पुस्तक को स्वीकार या अस्वीकार करें, कुछ विशेष अशो को ही नही। अगर उन्हे लेखक के ध्येय को खोजना है, तो वे कृति के ध्येय को ही खोजें।"

इस सस्करण को तैयार करने मे जिन्होने मुझे सहयोग प्रदान किया है, उनकी प्रशसा करना मेरे लिए एक सुखद कर्त्तव्य है। मेरे साथी चार्ल्स हार्डिन लियो स्ट्रॉस और केनेथ टामसन ने प्रथम नवीन अध्ययन के बारे मे सुझाव दिये हैं। शिकागो विश्वविद्यालय के अमरीकी विदेशी नीति के अध्ययन के केन्द्र के अध्यापक वर्ग के निम्नलिखित सदस्यो ने मूल्यवान सहायता प्रदान की है लुइस रौसग्रड्स ने पाडुलिपि तैयार की और सूचकाक के तैयार करने मे सहायता दी, और उन्होने तथा मार्गरेट डीम्स कौक्स, राबर्ट हेटरी और मिल्टन रेकोव ने गवेषणा मे सहायता की। डॉ० राबर्ट आसगुड् ने ऐतिहासिक शब्द-सग्रह तैयार किया है। एल्फ्रेड ए. केनाफ के कॉलेज डिपार्टमेंट के जोन टी. हेवुस और गेराल्ड गाटलेब की समझ तथा सहयोग के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूं।

निम्नलिखित ग्राता एकाडमी आफ पोलिटीकल साइंस, अमरीकन पोलिटिकल साइंस रिव्यू अमरीकन सोसाइटी आफ इण्टरनेशनल लॉ रिव्यू ऑफ पालिटिक्स में पूर्व प्रकाशित सामग्री का उपयोग करने की अनुमति का मैं स्वागत करता हूँ।

शिकागो इलीनायस

हंस जे० मारगेनथाउ

प्रथम संस्करण की प्रस्तावना

यह पुस्तक 1943 से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर शिकागो विश्वविद्यालय मे मेरे दिये गए भाषणो से विकसित हुई है। यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धो पर परम्परागत पाठ्य-विषय का ही यह विवेचन करती है, फिर भी अंतर्राष्ट्रीय विधि, अंतर्राष्ट्रीय सगठन एव कूटनीतिक इतिहास की आधारभूत समस्याओ पर इसमे विशेष बल दिया गया है।

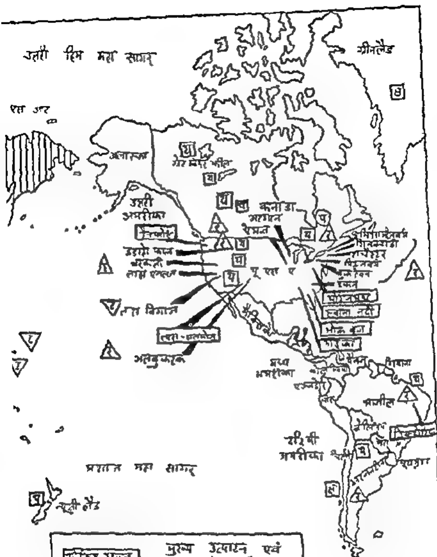
मैं अपने विद्यार्थियो के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। कक्षा मे उनके जागरूक विवादो ने इस पुस्तक मे वर्णित समस्याओ पर मेरे स्वय के विचारो के स्पष्टीकरण मे सहयोग दिया है। उन विद्यार्थियो मे से, जिन्होने इस पुस्तक के बनने मे विशेष सहायता दी है, मैं कुछ का उल्लेख अवश्य करूँगा। श्रीमती मेरी जेन ने 1946 के जाडे के मौसम मे दिये गये भाषणो का और कक्षा के विवादो का आशुलिपि मे प्रतिलेख बनाया। उनके बौद्धिकतापूर्ण और कष्टसाध्य परिश्रम से उन भाषणो का एक मात्र लिखित रेकार्ड मिल सका है। उस रेकार्ड के बिना यह पुस्तक एक वर्ष से तनिक अधिक समय मे पूर्ण नही हो सकती थी। कृति की प्रारम्भिक अवस्था मे किए गए गवेषणा-कार्य मे श्री एल्फ्रेड हॉट्ज ने मुझे योग्य सहायता प्रदान की, सहायता का प्रमुख भार तब भी केनेथ डबल्यू० थॉम्पसन पर पडा, जिन्होने अपने कार्य मे असमान्य योग्यता व नटिबद्धता का परिचय दिया। मानचित्रो को मौलिक रूप मे श्री चार्ल्स आर० जोन्स ने चित्रित किया और आरेखो को श्री जान हॉरटन ने।

मैं प्रोफेसर लिओनार्ड डी० ह्वाइट के प्रति अत्यधिक कृतज्ञ हूँ, जिन्होने शिकागो विश्वविद्यालय के राजनीति-विभाग के कार्यकारिणी के अध्यक्ष की हैसियत से मुझे हर सभव सहायता प्रदान की। उनकी सूझ ने मेरे कार्य को सरल बनाया। नोट्रेडेम विश्वविद्यालय के प्रोफेसर वाल्डीमर ग्यूरियन ने और शिकागो विश्वविद्यालय के प्रोफेसर एडवर्ड ए. शिल्स और लदन स्कूल ऑफ इकनॉमिक्स और पोलिटिकल साइन्स ने मेरी पाडुलिपि पढी और मुझे अपनी सलाह और आलोचना का लाभ प्रदान किया। मेरे बहुत से सहशिक्षको ने मुझे विशेष स्थलो पर सलाह दी। जो भी गुण पुस्तक के शीर्षक मे है, उसका सब श्रेय प्रोफेसर चार्ल्स एम० हार्डिन को मिलना चाहिए, क्योकि उन्ही के सुझाव पर मैंने यह शीर्षक चुना था। शिकागो विश्वविद्यालय की सोशल साइन्स रिसर्च

कमेटी ने कृति को उदारतापूर्ण आर्थिक सहायता प्रदान की और सोशल साइन्स-रिसर्च कमेटी के लिपिक-वर्ग के अनेक सदस्यों ने योग्य सहायता दी। मैं हर एक की सेवायें कृतज्ञता से स्वीकार करता हूँ।

निम्नलिखित प्रकाशकों ने मुझे पूर्व-प्रकाशित सामग्री को पुस्तक में समाविष्ट करने की अनुमति देने की कृपा की है —अमरीकन जर्नल ऑफ इन्टरनेशनल लॉ कोलम्बिया लॉ रिव्यू, एथिक्स, रिव्यू ऑफ पोलिटिक्स, यूनीवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस और येल लॉ जर्नल।

शिकागो, इलीनॉयस हंस जे० मारगेनथाउ



उत्तरी हिम महा सागर
ग्रीनलैंड
अलास्का
उत्तरी अमरीका
कनाडा
यू एस ए
मध्य अमरीका
दक्षिणी अमरीका
ब्राजील
प्रशांत महा सागर
न्यूजीलैंड
मुख्य उत्पादन एवं अनुसंधान केन्द्र
अन्य उत्पादन केन्द्र
अनुसंधान एवं विकास
परीक्षण-क्षेत्र

उत्तरी हिम महा सागर

यूरोप

यू एस एस आर

बैकाल झील

मंगोलिया

इरान

लिबिया

मिस्र

अफ्रीका

ट्रावनकोर

कांगो

मडागास्कर

आस्ट्रेलिया

अन्ध महा सागर

हिन्द महा सागर

य खण्डनीय सामिग्री के मुख्य संग्रह

ब खण्डनीय सामिग्री के अन्य संग्रह

क्ष खण्डनीय सामिग्री के सम्भाव्य संग्रह

साम्यवादी प्रभुत्व-क्षेत्र

पहला अध्याय

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का सिद्धान्त तथा व्यवहार

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक यथार्थवादी सिद्धान्त

इस पुस्तक का उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का एक सिद्धान्त प्रस्तुत करना है। वह मानदंड जिससे ऐसे सिद्धान्त की आलोचना की जानी चाहिए आदि काल से मान्य व सूक्ष्म नही है, वरन् परीक्षा तथा अनुभव पर निर्भर एवं यथार्थवादी है।

अन्य शब्दो मे, सिद्धान्त का निर्णय किसी पूर्वनिश्चित, निगूढ एवं वास्तविकता से असम्बद्ध विचार से नही किया जाना चाहिए, बल्कि इसके उद्देश्य से ही, इसका निर्णय होना चाहिए। तभी अनुभूत पदार्थ के समूह मे सम्बद्धता व आशय लाए जा सकते हैं, जिनके बिना यह असम्बद्ध एवं अस्पष्ट रह जायगा। इसको द्विविध परीक्षा देनी है—एक परीक्षा अनुभव पर निर्भर और दूसरी तर्कसंगत। क्या वास्तव मे जो यथार्थताएँ हैं, वे सिद्धान्त के द्वारा उनके ऊपर लगाई गई व्याख्याओ के अनुरूप हैं और क्या वे निष्कर्ष जिन पर सिद्धान्त पहुंचता है इसके पूर्व धारित तथ्यो की तार्किक आवश्यकता के अनुरूप ही हैं? संक्षेप मे, क्या सिद्धान्त तथ्यो तथा अपने आन्तरिक स्वरूप के साथ युक्ति-संगत है?

यह सिद्धान्त जिस विचारणीय विषय को प्रस्तुत करता है, वह समस्त राजनीति के स्वभाव से सम्बन्ध रखता है। आधुनिक राजनीतिक विचार का इतिहास दो विचार धाराओ के संघर्ष की कहानी है, जो अपने-अपने मानव समाज और राजनीति के रूप के विचारो मे मौलिक रूप से भिन्न है। एक का विश्वास है कि एक विवेकी और न्यायानुसारी चरित्रपूर्ण राजनीतिक व्यवस्था जो सर्वत्र मान्य निगूढ आदर्शों से ली गई है, यहो और अभी ही प्राप्त की जा सकती है। यह मानव-स्वभाव की सारभूत अच्छाई और अनन्त विकास को अंगीकार करती है; और सामाजिक अवस्था की तर्कयुक्त मानदण्डो तक पहुंचने की असफलता के लिए ज्ञान और समझ का अभाव, अप्रचलित सामाजिक संस्थाओ या कुछ विशिष्ट विच्छिन्न व्यक्तियो अथवा समुदायो की अति नीचता को ही दोषी ठहराती है।

इन कमियों के निवारण के लिए यह शिक्षा-सुधार व शक्ति के यत्र-तत्र उपयोग में विश्वास करती है।

दूसरी विचारधारा इस बात में विश्वास करती है कि संसार जैसा तार्किक दृष्टिकोण से अपूर्ण है, मानव-स्वभाव के अन्दर स्वतः वर्तमान शक्तियों का फल है। संसार को उन्नत करने के लिए उन शक्तियों के साथ काम करना है, न कि उनके विरोध में। स्वभावतया इस विषय में विरोधी स्वार्थों तथा आपस के झगड़ों से पूर्ण होने के कारण नैतिक सिद्धान्त कभी भी पूर्णतया कार्यान्वित नहीं किए जा सकते केवल अधिक से अधिक स्वार्थों के सदैव अस्थायी सन्तुलन और झगड़ों के सदैव कष्टपूर्ण निर्णय से उन्हें अधिक से अधिक कार्यान्वित किया जा सकता है। तब यह विचारधारा नियंत्रण और सन्तुलन में ही सारे सत्तावादी समाजों का विश्वव्यापी आदर्श मानती है। यह ऐतिहासिक पूर्वकालीन उदाहरणों से पुनर्विचार की याचना करती है, न कि निगूढ़ आदर्शों से, और सम्पूर्ण अच्छाई की प्राप्ति के स्थान पर कम दोष को प्राप्त करने का लक्ष्य रखती है।

मानव-स्वभाव, जैसा वस्तुतः है, और ऐतिहासिक प्रगति का क्रम जैसा कि वास्तव में होता है, उसके साथ इस सैद्धान्तिक सम्बन्ध के आधार पर यहाँ प्रस्तुत सिद्धान्त हैं। राजनीतिक यथार्थवाद के दर्शन का कोई यथाक्रम स्पष्टीकरण करना यहाँ असम्भव है। छह आधारभूत सिद्धान्तों को, जो अक्सर गलत समझे गये हैं, अलग करना ही पर्याप्त होगा।

राजनीतिक यथार्थवाद के छह सिद्धान्त

(1) राजनीतिक यथार्थवाद विश्वास करता है कि सामान्यतया समाज की तरह, राजनीति बाह्य कर्म-विधियों से शासित है, जिनका क्षेत्र मानव-स्वभाव है। समाज का परिष्कार करने के लिए समाज जिन कानूनों से जीवन यापन करता है, उन्हें जानना प्रथम आवश्यकता है। इन कानूनों का कार्य-कलाप हमारी अभिरुचि के लिए अप्रवेश्य होने के कारण व्यक्ति उनको असफलता की आशंका के साथ ही चुनौती दे सकेंगे।

राजनीति की विधियों की कर्मशीलता में विश्वास करने के कारण, यथार्थवाद को एक तर्कमय सिद्धान्त की पुष्टि की सम्भावना में भी विश्वास करना चाहिए, जो चाहे कितने भी अपूरेपन से और एकांगी होते हुए भी इन बाह्य विधियों को प्रतिबिम्बित करता है। पुनः यह राजनीति में सत्य एवं

विचार मे भेद करने की सम्भावना मे विश्वास करता है—साथ ही यथार्थवाद प्रमाणो से समर्थित और तर्क से आलोकित सत्य तथा तथ्यो से निरपेक्ष और व्यक्तिगत पक्षपातो से पूर्ण ऐच्छिक विचार मे भी भेद करने मे आस्था रखता है ।

जब से प्राचीन चीनी, भारतीय एव ग्रीक दर्शनो ने राजनीतिक विधियो के अन्वेषण की चेष्टा की है तब से मानव स्वभाव, जिसमे राजनीति की विधियो की जडें हैं अपरिवर्तित ही रहा है । अत नवीनता राजनीतिक सिद्धान्त मे एक अवश्यभावी गुण नही है और न ही पुरातापन एक अवगुण। यदि कोई राजनीतिक सिद्धान्त है, जो पहले कभी नही सुना गया था तो यह तथ्य उसकी शुद्धता को अनुमोदित करने के बजाय उसके विरोध म सभावना की रचना करता प्रतीत होता है। इसके विपरीत यह तथ्य कि एक राजनीति का सिद्धान्त शताब्दियो या कहिए, हजारो साल पहले विकसित हुआ था, जैसा कि शक्ति-सन्तुलन का सिद्धान्त था, यह सम्भावना प्रस्तुत नही करता कि यह बहिष्कृत या अप्रचलित ठहराया जाय । राजनीति का कोई भी सिद्धान्त विवेक व अनुभव की द्विविध परीक्षा के अन्तर्गत लाया जाना चाहिए । क्योकि यह गत शताब्दियो मे विकसित हुआ था अत परित्याज्य है, यह विवेकमय तर्क नही वरन् एक आधुनिकतामय दुराग्रह है, जो वर्तमान की अतीत पर श्रेष्ठता को मान कर चलता है । ऐसे सिद्धान्त के पुनर्जीवन को फैशन अथवा सनक कह कर अलग कर देने का मतलब होगा कि हम राजनीतिक मामलो मे राय रख सकते है किसी सत्य को स्वीकार नही कर सकते । यथार्थवाद के लिए तथ्यो को निश्चित करने तथा विवेक द्वारा उनमे सार प्रदान करने मे ही सिद्धान्त निहित होता है । यथार्थवाद मानता है कि किसी विदेशी नीति का चरित्र, केवल किए गये राजनीतिक कार्यो की परीक्षा तथा उन कार्यो के पहले से जाने हुए परिणाम के द्वारा ही निश्चित किया जा सकता है । इस तरह हम जान सकते हैं कि राजनीतिज्ञो ने क्या किया है। उनके कृत्यो के अवश्यम्भावी परिणामो से हम उनके उद्देश्यो का भी अनुमान लगा सकते हैं ।

तब भी तथ्यो की परीक्षा ही पर्याप्त नही है। विदेशी नीति की तथ्य सम्बन्धी सामग्री को अर्थ प्रदान करने के लिए हमे राजनीतिक यथार्थता को एक प्रकार की तार्किक रूपरेखा से जाचना होगा एक ऐसे मानचित्र से जो हमे विदेशी नीति का सम्भावित अर्थ भासित करा सके। दूसरे शब्दो मे, हम अपने को उस राजनीतिज्ञ के स्थान पर रखते हैं, जिसको विशेष प्रकार की अवस्था मे विदेशी नीति

की एक विशेष समस्या का सामना करना है और हम अपने से पूछते हैं कि वह विवेकमय विकल्प क्या है, जिनमे से एक राजनीतिज्ञ, जिसको इस समस्या का इन्ही अवस्थाओ म मुकाबला करना है, चुन सकता है (यह अनुमान लगाते हुए कि वह सदैव विवेकमय व्यवहार ही करेगा) और इन तर्कमय विकल्पो मे से किसको यह विशेष राजनीतिज्ञ इन अवस्थाओ के अन्तर्गत कर्म करता हुआ चुनना चाहेगा। इस विवेकयुक्त कल्पना का वास्तविक तथ्यो की कसौटी पर कसा जाना ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सारो को अर्थ प्रदान करता है और राजनीति के एक सिद्धान्त को सम्भव बनाता है।

(2) शक्ति के नाम से लक्षित स्वार्थों का विचार ही वह प्रमुख मार्ग-दर्शक है, जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे यथार्थवाद का पथ-प्रदर्शन करता है। यह विचार अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को समझने की कोशिश करने वाले विवेक तथा समझे जाने वाले तथ्यो के मध्य कड़ी बन जाता है। यथार्थवाद राजनीति को अन्य क्षेत्र, जैसे अर्थशास्त्र (धन के नाम से लक्षित स्वार्थ समझा जाने वाला) नीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र अथवा धर्म से भिन्न कार्य व ज्ञान का स्वतन्त्र क्षेत्र-सा प्रस्तुत करता है। बिना ऐसे विचार के अन्तर्राष्ट्रीय अथवा घरेलू राजनीति का कोई सिद्धान्त पूर्णतया असम्भव होगा। क्योकि इसके बिना हम राजनीतिक और अ-राजनीतिक तथ्यो मे भेद नही कर सकेंगे और न ही हम राजनीतिक क्षेत्र मे एक क्रमबद्धता ला सकेंगे।

हम यह मान कर चलते हैं कि राजनीतिज्ञ शक्ति के नाम से लक्षित स्वार्थ के अनुकूल ही सोचते व कार्य करते है और इतिहास का प्रमाण इस कल्पना को सत्य सिद्ध करता है। यह कल्पना किसी भूत, वर्तमान अथवा भविष्य के राजनीतिज्ञ के राजनीतिक रगभूमि पर किये गए कार्यो को पुन: चित्रित और पूर्वधारित करने की हमे अनुमति देती है। जब वह अपने प्रेषणो (dispatches) को लिखता है, तो हम उन्हे उत्सुकता से जानने का प्रयत्न करते है, उसका अन्य राजनीतिज्ञो से वार्तालाप सुनते हैं, उसके वस्तुत. विचार पढते है और हम उसके सम्बन्ध मे अपनी धारणा बना लेते है। शक्ति नाम-धारी स्वार्थ को लेकर सोचते हुए हम वही साचते है जैसा वह सोचता है और नि स्वार्थ दर्शको की भाँति हम उसके विचार और कार्य शायद राजनीतिक दृश्य के उस पात्र से अधिक अच्छी तरह समझते हैं।

शक्ति नाम से परिभाषित स्वार्थ का विचार दर्शक पर बौद्धिक अनुशासन लागू करता है, राजनीति के विषय मे विवेकमय सम्बद्धता लाता है और इस प्रकार

राजनीति के सैद्धान्तिक ज्ञान को सम्भव करता है। पात्र की ओर से यह अभिनय मे विवेकयुक्त नियन्त्रण की योजना करता है और विदेशी नीति मे वह चकित कर देने वाली निरन्तरता पैदा करता है, जिसके कारण अमरीकी, ब्रिटिश और रूसी विदेशी नीति सुबोध विवेकयुक्त क्रमबद्ध प्रतीत होती है, जो क्रमानुसार राजनीतिज्ञो के भिन्न उद्देश्यो, वरीयताओ और बौद्धिक तथा नैतिक गुणो को न मानते हुए अपने मूल रूप मे सर्वदा स्थायी है। तब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक यथार्थ उपपत्ति दो जनप्रिय भ्रान्तियो मे रक्षा करेगी—एक उद्देश्या से सम्बन्धित भ्रान्ति से तथा दूसरी सैद्धान्तिक वरीयताओ से सम्बद्ध भ्रान्ति से।

केवल राजनीतिज्ञो के उद्देश्यो मे ही विदेशी नीति का मार्ग-दर्शक सिद्धान्त ढूंढना निरर्थक तथा भ्रान्तिपूर्ण दोनो ही है। यह निरर्थक इसलिए है, क्योकि उद्देश्य मनोवैज्ञानिक स्वीकृत तत्त्वो मे सब से अधिक प्रभावोत्पादक है, क्योकि ये अभिनेता एव दर्शक दोनो के ही स्वार्थो व भावो से अक्सर पहिचान की सीमा से बाहर विकृत हो जाते हैं। क्या हम वास्तव मे जानते है कि हमारी प्रेरणाएँ क्या हैं? और हम अन्य लोगो की प्रेरणाओ के बारे मे क्या जानते हैं?

हमे राजनीतिज्ञो के वास्तविक उद्देश्यो का ज्ञान भल ही हो, उससे हमे विदेशी नीतियो को समझने मे बहुत कम सहायता मिलेगी। वह ज्ञान हमको पथ-भ्रष्ट भी कर सकता है। यह सत्य है कि राजनीतिज्ञो के उद्देश्यो का ज्ञान हमे उनकी विदेशी नीति की दिशा के अनेक पथ-प्रदर्शक सूत्रो मे से एक सूत्र अवश्य दे सकता है। तब भी यह उनकी विदेशी नीतियो के भविष्य को बतलाने मे कोई सूत्र नही दे सकता। इतिहास उद्देश्यो के स्वरूप और विदेशी नीति के स्वरूप मे कोई पूर्ण और अवश्यम्भावी सम्बन्ध प्रकट नही करता। नैतिक एव राजनीतिक दोनो ही सन्दर्भो मे यह सत्य है।

एक राजनीतिज्ञ के भले अभिप्रायो से हम इस निष्कर्ष पर नही पहुँच सकते कि उसकी वैदेशिक नीतिया नैतिक रूप से प्रशसनीय अथवा राजनीतिक दृष्टिकोण से सफल होगी। उसके उद्देश्यो की आलोचना करते समय हम कह सकते हैं कि वह जान बूझ कर उन नीतियो का अनुसरण नही करेगा, जो नैतिक दृष्टि से सदोष है, परन्तु हम उनकी सफलता की सम्भावना पर कुछ नही कह सकते। यदि उसके कृत्यो के नैतिक और राजनीतिक गुणो को हम जानना चाहते है तो हमे उन्हे स्वय को जानना चाहिए न कि उनके उद्देश्यो को। कितनी बार विश्व को उन्नत करने की इच्छा से ही राजनीतिज्ञ प्रेरित हुए हैं, परन्तु उसको

श्री भी बुरा बनाते हुए उनका अन्त हुआ है और कोई ऐसा चीज प्राप्त की है जिसकी न वे आशा करते थे न इच्छा

नेवा न चम्परलेन की अनुनय की नीतियाँ जहा तक हम समझ सकते हैं अ न । म न प्रेरित थी सम्भवत व अन्य बहुत से ब्रिटिश प्रधान मन्त्रियो म कम व्यक्ति त शक्ति के विचारो स प्रेरित थ और उन्होंने शान्ति की रक्षा करने तथा सब सम्बन्धित लोगो की प्रसन्नता को स्थायी बनाने का प्रयत्न किया। फिर भी उनकी नीतियो न द्वितीय विश्वयुद्ध को अवश्यम्भावी बनाने तथा करोडो को अवर्णनीय दुर्गति म पहुचाने म सहायता दी। दूसरी ओर सर विंसटन चर्चिल क उद्देश्य विस्तार म बहुत कम विश्वव्यापी रहे हैं और व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय शक्ति की ओर कहा अधिक संकीर्णता से उन्मुख रहे हैं तब भी वे विदेशी नीतिया जो इन हीन प्रेरणाओ से निकली व नैतिक और राजनीतिक गुणो म वास्तव म उनसे श्रेष्ठ थी जो उनके पूर्वाधिकारी ने चलाई थी। उद्देश्यो की दृष्टि स रावसपरि सबसे अधिक सदाचारी व्यक्तियो म था। फिर भी यह उसी गुण की वा र्मिक क्रांति था जिसने उससे कम सदाचारियो का हत्या करवाई उनको फासी दिलवाई और उस क्रांति का नष्ट किया जिसका वह नेता था।

अच्छी प्रेरणाए भली भाँति विचाराधीन बुरी नीतियो के विरोध म आश्वासन प्रदान करता है परन्तु व स्व प्रेरित नीतिया की नैतिक अच्छाई और राजनीतिक सफलता का आश्वासन नही देता अगर कोई विदेशी नीति समझना चाहता है तो प्रमुखतया किसी राजनीतिज्ञ के उद्देश्यो को जानना आवश्यक नहीं है आवश्यक है विदेशी नीति के सारभूत तत्वो को समझने के लिए उसकी बौद्धिक क्षमता का जानना। साथ ही जो उसने समझा है उसे सफल राजनीतिक कर्म म क्रियान्वित करने की उसकी राजनीतिक निपुणता को जानना भी आवश्यक है। यह निष्कर्ष निकलता है कि जब आचार शास्त्र सूक्ष्म रूप मे प्रेरणाओ के नैतिक गुणो का निर्णय करता है तब राजनीतिक सिद्धान्त को बुद्धि संकल्प और क्रिया के राजनीतिक गुणो का निर्णय करना चाहिए।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का यथार्थवादी सिद्धान्त अपने का इस प्रचलित भ्रान्ति स दूर रखता है जिसके अनुसार किसी राजनीतिज्ञ की विदेशी नीति तथा उसकी दार्शनिक और राजनीतिक सहानुभूतिया को एक ही समझ लिया जाता है उसकी दार्शनिक और राजनीतिक सहानुभूतिया स उसकी विदेशी नीति को पृथक मान लिया जाता है। विशेषतया समकालीन अवस्थाओ म अपने लिए लोकप्रिय सहायता प्राप्त करने के निमित्त राजनीतिज्ञ अपनी विदेशी नीतियो को अपनी

दार्शनिक और राजनीतिक सहानुभूतियों के रूप में प्रस्तुत करने का अभ्यास आसानी से बना लेते हैं। फिर भी वे लिंकन की भाँति अधिकार-सम्बन्धी कर्तव्य, जिसका मतलब है राष्ट्रीय हित में सोचना व कर्म करना तथा "व्यक्तिगत इच्छा", जिसका तात्पर्य है स्वयं की नैतिक मान्यताओं और राजनीतिक आदर्शों को समस्त विश्व में प्रत्यक्ष करना, इन दोनों में भी भेद करेंगे। राजनीतिक यथार्थवाद राजनीतिक आदर्शों और नैतिक सिद्धान्तों के प्रति उदासीनता की न तो आकांक्षा ही करता है और न ही उस पर शोक करता है, लेकिन वाञ्छनीय और सम्भावित में तीव्र भेद जरूर चाहता है। वह चाहता है कि जो सदैव और सर्वत्र वाञ्छनीय है तथा समय और स्थान की प्रत्यक्ष परिस्थितियों में सम्भव है—इन दोनों स्थितियों में भेद किया जाय।

यह निर्विवाद सिद्ध है कि सब विदेशी नीतियों ने ऐसा तर्कमय लक्ष्यपूर्ण और भावुकताहीन रास्ता सदैव नहीं अपनाया है। व्यक्तिगत पक्षपात और व्यक्तिगत रुचि सम्बन्धी प्राथमिकता जैसे अनिश्चित तत्व तथा बुद्धि एवं इच्छा की वे सब कमियाँ, जिनका मानव-जीवन में होना अवश्यम्भावी है विदेशी नीति को अपने तर्कसंगत रास्ते से अवश्य ही विलग करती है, विशेषरूप से जहां विदेशी नीति प्रजातन्त्रात्मक नियंत्रण के अन्तर्गत प्रचलित की जाती है वहाँ विदेशी नीति के आधार के लिए सर्वमान्य भावनाओं को जगाने की आवश्यकता विदेशी नीति की विवेक-शक्ति को क्षीण करने में असफल नहीं हो सकती। फिर भी एक विदेशी नीति को, जो तर्क-शक्ति को लक्ष्य बनाकर चलती है उस समय के लिए इन विवेकहीन तत्वों से अलग हटना होगा और एक ऐसी विदेशी नीति का चित्रण करना होगा, जो विवेकपूर्ण मार्ग से भटककर अनुभव में प्राप्त विवेकयुक्त सार को प्रस्तुत करती हो।

वास्तव में, विदेशी नीति और उससे उत्पन्न तर्कमय सिद्धान्त में जो अन्तर है वह एक फोटोग्राफ और रंगीन चित्र के अन्तर के समान है। नग्न नेत्र से जो कुछ भी देखा जा सकता है, फोटो वह सब दर्शाता है, रंगीन चित्र नग्न नेत्र से देखी जा सकने वाली सब वस्तुओं को नहीं दिखाता। लेकिन यह वह चीज दिखाता है या दिखाने का प्रयत्न करता है, जो नग्न चित्र नहीं दिखा सकता, और वह है चित्रित व्यक्ति का मानवीय रूप।

राजनीतिक यथार्थवाद के अन्दर सैद्धान्तिक ही नहीं, अपितु आदर्शात्मक तत्त्व भी है। इससे विदित है कि राजनीतिक यथार्थ दैवयोग से घटने वाली घटनाओं

से ओत-प्रोत है और यह विदेशी नीति पर डाले गए प्रभाव की ओर संकेत करता है। आदर्शात्मक तत्त्वों की ओर उन्मुख होते हुए भी राजनीतिक यथार्थवाद अन्य सिद्धान्तों के साथ ही सैद्धान्तिक दृष्टि से, राजनीतिक यथार्थ के विवेकयुक्त तत्त्वों पर बल देता है क्योंकि ये ही विवेकमय तत्त्व यथार्थ को सिद्धान्त के समझने योग्य बनाते हैं। राजनीतिक यथार्थवाद एक विवेकमय नीति की सैद्धान्तिक रचना को प्रस्तुत करता है जिसको अनुभव कभी पूर्णतया प्राप्त नहीं कर सकता।

साथ ही साथ राजनीतिक यथार्थवाद एक विवेकमय विदेशी नीति को अच्छी विदेशी नीति समझता है क्योंकि केवल विवेकयुक्त विदेशी नीति ही सकटों को कम से कम करती है और लाभों को सबसे अधिक बढ़ाती है और इसलिए दूरदर्शिता के नैतिक उपदेश तथा सफलता की राजनीतिक आवश्यकता दोनों को ही स्वीकार करती है। राजनीतिक यथार्थवाद राजनीतिक विश्व के फोटोग्राफ को रंगीन चित्र से मिलाने की इच्छा रखता है, अच्छी अर्थात् विवेकमय विदेशी नीति तथा वास्तविक विदेशी नीति में जो अवश्यम्भावी व्यवधान है, उससे सचेत रहते हुए राजनीतिक यथार्थवाद न केवल यह समर्थन करता है कि सिद्धान्त को राजनीतिक यथार्थ के विवेकसिद्ध तत्त्वों को ही कार्यकेन्द्र बनाना चाहिए, वरन् यह भी कि अपने नैतिक व व्यावहारिक उद्देश्यों को हृदयगम करते हुए विदेशी नीति को विवेकमय होना चाहिए।

प्रस्तुत सिद्धान्त के विरोध में यह कोई तर्क नहीं है कि वास्तविक विदेशी नीति न इसके अनुसार रहती है और न रह सकती है। इस प्रकार का तर्क करना पुस्तक के अभिप्राय को गलत समझना है। पुस्तक का उद्देश्य राजनीतिक यथार्थ की अविवेकपूर्ण व्याख्या करना नहीं, अतर्राष्ट्रीय राजनीति का विवेकमय सिद्धान्त प्रस्तुत करना है। यह एक तथ्य है कि पूर्ण शक्ति-सन्तुलन की नीति वास्तव में दुर्लभ है। इस तथ्य से उपर्युक्त सिद्धान्त के अशक्त होने की सभावना है। फिर भी यह सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि इस विषय में अपूर्ण होने के नाते यथार्थ को शक्ति-सतुलन की एक आदर्श पद्धति के अति समीप समझना व परखना चाहिए।

(3) यथार्थवाद का ध्येय शक्ति-सम्पादन है, पर वह अपने को सदा के लिए इन अर्थों में सीमित नहीं रखना चाहता है। शक्ति-लाभ का विचार वास्तव में राजनीति का सार है और देश काल से अप्रभावित है। प्राचीन ग्रीस अनुभवों से उत्पन्न थ्यूसीडाइड्स का कथन है कि राज्यों अथवा व्यक्तियों में लाभ का साम्य सब से दृढ बन्धन है। उन्नीसवीं शताब्दी में लार्ड सेलिसबरी की टिप्पणी

से, कि राष्ट्रों में जो बन्धन बना रहता है, वह विरोध करने वाले स्वार्थों की अनुपस्थिति है, ग्रहण किया गया था। जार्ज वाशिंगटन की सरकार के द्वारा यह सर्वमान्य सिद्धान्त के रूप में खड़ा किया गया था —

"मानवीय स्वभाव का अल्प-ज्ञान हमें विश्वास दिला देगा कि मानव-जाति के प्रमुख भाग के लिए स्वार्थ शासन करने वाला सिद्धान्त है, और प्रत्येक व्यक्ति इससे न्यूनाधिक रूप में प्रभावित है। सार्वजनिक गुणों के उद्देश्य एक समय के लिए या विशेष उदाहरणों में मनुष्यों को पूर्ण निःस्वार्थ व्यवहार को पा लेने के लिए कार्यान्वित कर सकते हैं, पर वे स्वयं में सामाजिक कर्तव्य की शुद्ध आज्ञाओं और बन्धनों के प्रति निरन्तर प्रयत्न करती हुई अनुरूपता को प्रस्तुत करने में पर्याप्त नहीं हैं। कुछ ही मनुष्य सामान्य हित के लिए निजी स्वार्थ या लाभ के सब दृष्टिकोणों का निरन्तर त्याग करने के योग्य हैं। इस कारण मानव-स्वभाव की प्रतिनीचता के विरोध में मानवीय गठन का आवाज उठाना व्यर्थ है। तथ्य यह है और हर युग व राष्ट्र के अनुभव ने इसे सिद्ध किया है और भिन्न रूप देने से पूर्व हमको भी काफी सीमा तक मानव के गठन को बदलना होगा। कोई भी संस्था, जो इन सूक्तियों के सम्भावित सत्य पर आधारित नहीं है सफल नहीं हो सकती।" उपर्युक्त विचार हमारी शताब्दी में मैक्स वेबर्स के शब्दों में इस प्रकार प्रतिध्वनित हुए हैं —

"विचार नहीं, परन् स्वार्थ (भौतिक तथा आदर्शवादी) प्रत्यक्ष रूप से मनुष्य के कार्यों को प्रभावित करते हैं। फिर भी इन विचारों से निर्मित विश्व की प्रतिमाओं ने अवसर प्रेरणाओं का काम किया है, जो उन रास्तों का निर्णय करती रही हैं, जिनपर लाभों की गतिशीलता ने कार्यों को गतिमान् बनाये रखा है।"

फिर भी इतिहास के एक विशिष्ट काल में, राजनीतिक कृत्य को निश्चयात्मक रूप देने वाले लाभों का रूप, उन राजनीतिक व सांस्कृतिक प्रकरणों पर आश्रित रहता है, जिनके मध्य विदेशी नीति का निर्माण होता है। वे लक्ष्य जिनका कोई राष्ट्र अपनी विदेशी नीति में अनुसरण करता है, किसी राष्ट्र के द्वारा लक्षित या अनुसरणीय ध्येयों की सम्पूर्ण सरगम को बजा सकते हैं।

शक्ति के सिद्धान्त पर ऐसे ही निरीक्षण लागू होते हैं। इसकी विषय-सामग्री तथा इसके उपयोग का ढंग राजनीतिक व सांस्कृतिक वातावरण से निश्चित होता है। शक्ति में वह प्रत्येक वस्तु निहित हो सकती है, जो मानव का मानव पर नियंत्रण निश्चित करती है तथा बनाये रखती है। इस प्रकार शक्ति, प्रत्येक

सामाजिक सम्बन्ध—शारीरिक शक्ति के प्रयोग से लेकर बहुत सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक बन्धन तक के वे सारे सम्बन्ध जिनके द्वारा मानव मानव पर नियंत्रण रखता है, तथा जो उस उद्देश्य को सहायता प्रदान करते है—को अपना लेती है। शक्ति के अंतर्गत मानव पर मानव की दोनों ही प्रकार का प्रभुत्व निहित है जैसे पाश्चात्य प्रजातंत्रो मे जब मनुष्य नैतिक उद्देश्यो से नियमित तथा वैधानिक सुरक्षाओ से नियंत्रित होता है तथा जब मनुष्य का जगली व असभ्य रूप प्रकट होता है जिसका कानून उसकी अपनी ही शक्ति है और जिसका एक मात्र औचित्य उसकी अपनी शक्ति की प्रतिष्ठा ही है।

राजनीतिक यथार्थवाद यह अंगीकार नहीं करता कि अपनी चरम अस्थिरता और सदैव वर्तमान भीषण हिंसा के भय के साथ समकालीन अवस्थाएँ, जिनके अंतर्गत विदेशी नीति कार्य करती है परिवर्तित नहीं की जा सकती। उदाहरणार्थ शक्ति सिद्धात वास्तव म एक स्थायी तत्व है जैसा कि फेडरेलिस्ट अखबारो के लेखक भली भाति जानते थ। फिर भी यह शक्ति सिद्धात सापेक्ष स्थायित्व और शान्तिमय झगड़ो के बीच भी चलता रहता है जैसा कि सयुक्त राज्य म। अंतर्राष्ट्रीय मच पर व तत्व जिन्होने इन अवस्थाओ को बढावा दिया है, द्विगुणित किये जा सकें तो ऐसी ही स्थिरता और शान्ति की स्थितिया वहा भी प्रचलित होगी जैसी कि कुछ राष्ट्रो के इतिहास के लम्बे युगो मे रही है।

समकालीन विदेशी नीति के अंतिम निर्देश के स्थल के रूप म जो कुछ भी अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के सामान्य चरित्र के बारे म सत्य है वह राष्ट्र राज्य के बारे मे भी सत्य है। यथार्थवादी वास्तव म विश्वास करता है कि स्वार्थ ही प्रमुखतया निरन्तर रहने वाला मानदण्ड है जिससे राजनीतिक कार्यो का निर्णय व प्रबन्ध किया जाना चाहिए। स्वार्थ व राष्ट्र राज्य का समकालीन सम्बन्ध इतिहास की उपज है और इतिहास के जीवन पथ म अवश्य ही अदृश्य हो जायगा। यथार्थ स्थिति म इस मानी हुई बात का कोई विरोध नहीं उपस्थित होता कि राजनीतिक विश्व के राष्ट्र राज्यो मे वर्तमान विभाजन का स्थान समकालीन विश्व की कला और शास्त्रीय सभावनाओ तथा नैतिक आवश्यकताओ के अनुसार एक भिन्न प्रकार की और विशाल इकाइयाँ ले लेंगी।

समकालीन विश्व का आकार किस प्रकार बदला जा सकता है इस प्रमुख प्रश्न के सम्मुख यथार्थवादी राजनीतिज्ञ चिन्तन की अन्य शाखाओ से विलग हो जाता है। यथार्थवादी को यह प्रलोभन दिया जाता है कि यह आकार परिवर्तन केवल उन चिरन्तन शक्तियो के कुशलता से किए हुए हस्तक्षेप से ही प्राप्त किया

जा सकता है, जिन्होंने अतीतकाल की रचना की है तथा जो भविष्य को भी गढ़ेगी। यथार्थवादी को यह नहीं कहा जा सकता कि एक राजनीतिक यथार्थ का, जिसकी अपनी विधियाँ है एक निगूढ़ आदर्श से, जो उन विधियों को अंगीकार करना अस्वीकार करता है, सामना करके हम उस आकार-परिवर्तन को ला सकते हैं।

(4) राजनीतिक यथार्थवाद राजनीतिक कार्य की नैतिक महत्ता के प्रति सचेत है। नैतिक और सफल राजनीतिक कार्य की आवश्यकताओं में अवश्यम्भावी तनाव के प्रति भी यह जागरूक है। राजनीतिक यथार्थवाद तनाव को मिटाने या उसे अनदेखा कर जाने के लिए अनिच्छुक है। वह राजनीतिक तथ्यों को नैतिक दृष्टि से वास्तविकता की अपेक्षा अधिक सन्तोषजनक दिखलाकर तथा नैतिक विधि की वास्तविकता की अपेक्षा कम कठोर दिखलाकर राजनीतिक और नैतिक दोनों ही को अस्पष्ट बनाने के पक्ष में नहीं है। सम्पूर्ण नैतिक सिद्धान्त अपने निगूढ़ स्पष्टीकरण में राज्यों के कार्यों पर लागू नहीं किए जा सकते। लेकिन काल और स्थान की प्रत्यक्ष परिस्थितियों में से इन्हें छानना चाहिए इस बात का यथार्थवादी समर्थन करता है। व्यक्ति अपने लिए कह सकता है कि न्याय किया जाना चाहिए, चाहे विश्व नष्ट हो जाय परन्तु राज्य के संरक्षण में रहने वाले लोगों को राज्य से ऐसा कहने का कोई अधिकार नहीं है। व्यक्ति व राज्य दोनों को ही स्वतन्त्रता जैसे राजनीतिक कार्यों का विश्वविदित नैतिक सिद्धान्तों के द्वारा ही निर्णय करना चाहिए। फिर भी, जब कि व्यक्ति का ऐसे नैतिक सिद्धान्त की रक्षा में आत्म-बलिदान का नैतिक अधिकार है, राष्ट्रीय अनुजीवन के नैतिक सिद्धान्त से प्रेरित राज्य को कोई अधिकार नहीं है कि वह स्वतन्त्रता के उल्लंघन की अपनी नैतिक असहमति द्वारा सफल राजनीतिक कार्य को अवरुद्ध होने दे। दूरदर्शिता-हीन कोई भी राजनीतिक नैतिकता नहीं हो सकती अर्थात् बाह्य रूप से नैतिक कृत्यों के राजनीतिक परिणामों पर ध्यान न देने वाली कोई भी राजनीतिक नैतिकता असम्भव है। तब यथार्थवाद दूरदर्शिता अर्थात् वा राजनीतिक कृत्यों के परिणामों की जाँच को, राजनीति का सर्वोच्च सदाचार मानता है। सारांश में, आचारशास्त्र कर्म की नैतिक विधि के अनुरूप ही कर्म का निर्णय करता है, राजनीतिक आचार कर्म का उसके राजनीतिक प्रभावों से अनुमान लगाता है। चिर प्रतिष्ठित और मध्यकालीन दर्शनशास्त्र इससे भिन्न था तथा लिंकन को भी यह ज्ञात था जब उन्होंने कहा —

'जिसे मैं सब से अच्छा समझता हूँ वही मैं करता हूँ और मैं अन्त तक ऐसा ही करने का विचार रखता हूँ। अगर मेरे कार्य का परिणाम मुझे पूर्णतया

सत्य सिद्ध करेगा तो जो कुछ भी मेरे विरोध म कहा गया है, वह नगण्य होगा। अगर मुझे गलत सिद्ध करेगा ना इस पर देवताओं का शपथपूर्ण समर्थन भी कि मैं सत्य था, कोई प्रभाव नहीं डालेगा।

(5) राजनीतिक यथार्थवाद किसी विशिष्ट राष्ट्र की न्यायानुकूल आशाओं को विश्व पर शासन करने वाले नैतिक कानून के अनुरूप सिद्ध करना अस्वीकार करता है। जिस प्रकार यह सत्य और राय मे भेद करता है उसी प्रकार यह सत्य व मूर्तिपूजा मे भी भेद निर्धारित करता है। कुछ ही इस लोभ का संवरण बहुत काल तक कर सके है अन्यथा सब राष्ट्र अपनी विशिष्ट आशाओं को व कर्मों को विश्व के नैतिक उद्देश्यों का बाना पहनाने को लालायित रहे हैं। राष्ट्र नैतिक विधि के अन्तर्गत हैं, यह जानना एक बात है, निश्चयात्मकता से राष्ट्रों के सम्बन्धों म क्या अच्छा है क्या बुरा है यह जानने का बहाना करना दूसरी बात है। इस विश्वास मे कि सब राष्ट्र मानवीय मस्तिष्क के लिए ईश्वर के गहन न्याय के अन्तर्गत ही आते हैं तथा हम ईश्वर निन्दक दृढ विश्वास मे कि ईश्वर सदैव हमारी ओर है और जो हम इच्छा करते है उसकी ईश्वर भी इच्छा करता है, इन दोनों मे ही जमीन आसमान का अन्तर है।

एक विशिष्ट राष्ट्रीयता व ईश्वर के परामर्श मे हल्के ढंग से साम्य स्थापित करना नैतिक दृष्टिकोण से अरक्षणीय है, क्योंकि इसी अहंकार के पाप के विरोध मे ग्रीक दुखांत लेखकों व बाईबिल के पंडितों ने शासकों व शासितवर्ग को आगाह किया था। यह साम्य राजनीतिक दृष्टि से भी घातक है, क्योंकि यह उस निर्णय को विकृत करने के लिये उत्तरदायी है जो युद्धमय उन्माद की चक्षुहीनता से नैतिक सिद्धान्त, आदर्श अथवा स्वयं ईश्वर के नाम पर राष्ट्रों और संस्कृतियों का विनाश कर देता है।

दूसरी ओर, शक्ति के मानदण्डों में वर्णित स्वार्थ का विचार ही हमें उस नैतिक अति और उस राजनीतिक भूल—दोनों से ही बचाता है। क्योंकि अगर हम अपने राष्ट्र के साथ-साथ अन्य सब राष्ट्रों पर, निज के शक्ति नामधारी स्वार्थों को लक्ष्य करने वाली राजनीतिक इकाइयों के रूप में दृष्टिपात करें, तो हम उन सबके प्रति न्याय कर सकते हैं। अन्य राष्ट्रों की उसी भांति आलोचना करने के पश्चात् हम उन नीतियों का अनुसरण कर सकने का सामर्थ्य रखते हैं, जो हमारे स्वार्थों की रक्षा व उन्हें उन्नत बनाने के साथ-साथ अन्य राष्ट्रों के स्वार्थों का भी आदर करती हैं। नीति का संयम अवश्य ही नैतिक निर्णय के संयम को प्रतिबिम्बित करेगा।

(6) अत राजनीतिक यथार्थवाद तथा अन्य विचारधाराओ म अन्तर वास्तविक एव गभीर है। राजनीतिक यथार्थवाद के सिद्धान्त को चाहे कितना ही गलत समझा गया हो तथा उसका मिथ्या वर्णन किया गया हो, राजनीतिक मामलो के प्रति इसका स्पष्ट बौद्धिक व नैतिक दृष्टिकोण निर्विरोध है।

बौद्धिक दृष्टि से, राजनीतिक यथार्थवादी राजनीतिक क्षेत्र की स्वतन्त्रता का समर्थन करता है, जैसे अर्थशास्त्री विधिवेत्ता व नीतिशास्त्र का लेखक अपनी अपनी स्वतन्त्रता का समर्थन करते है। वह शक्ति नाम से वर्णित स्वार्थ के रूप मे सोचता है, जैसे अर्थशास्त्री धन नामक स्वार्थ को लेकर विचार करता है, विधिवेत्ता कार्यों की वैधिक नियमो से अनुरूपता का और नीतिशास्त्र का लेखक कार्यों की नैतिक सिद्धान्तो से अनुरूपता का विचार करता है। अर्थशास्त्री प्रश्न करता है कि "यह नीति समाज या उसके एक अश के धन पर क्या प्रभाव डालती है", विधिवेत्ता पूछता है, 'क्या यह नीति कानून के नियमो से मिलती है ?" नीतिशास्त्र का लेखक प्रश्न करता है "क्या यह नीति नैतिक सिद्धान्तो के अनुकूल है ?" और राजनीतिक यथार्थवादी प्रश्न करता है, यह नीति किस प्रकार की शक्ति पर प्रभाव डालती है ?" (अथवा वह सघीय सरकार काग्रेस की पार्टी कृषि आदि पर क्या प्रभाव डालती है ?)

राजनीतिक यथार्थवादी राजनीतिक विचारो के अतिरिक्त अन्य विचार के आदर्शो के अस्तित्व व सम्बद्धता के प्रति असावधान है। राजनीतिक यथार्थवाद होने के नाते, आदर्शो को राजनीतिक आदर्शो के अधीन करने के लिए वह विवश है तथा जब अन्य विचारधाराएँ अन्य क्षेत्रो के लिए समुचित विचारो के आदर्शो को राजनीतिक क्षेत्र पर लागू करती है, तो वह उनसे पृथक् हो जाता है। इसी स्थान पर 'वैधिक नैतिक दृष्टिकोण' से राजनीतिक यथार्थवाद अतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रश्न पर विचार करता है। जैसा विवेचन किया गया है, यह विषय केवल कल्पना का अश नही है वरन् विवाद की सीमा तक पहुँच जाता है यह कई ऐतिहासिक उदाहरणो से दर्शाया भी जा सकता है। इस पर ध्यान आकर्षित करने के लिए तीन उदाहरण पर्याप्त होगे।

1936 मे सोवियत यूनियन ने फिनलैंड पर आक्रमण किया। इस कार्य ने फ्रास व इगलैंड के सम्मुख दो विवादपूर्ण विषय उपस्थित कर दिये, एक वैधिक दूसरा राजनीतिक। क्या उस कार्य ने राष्ट्र सघ के नियम को भग किया है ? और अगर किया है, तो फ्रास व ग्रेट ब्रिटेन को कौन से विपरीत लक्ष्यो को अपनाना चाहिए ? वैधिक प्रश्न का स्वीकारात्मक ढग से उत्तर दिया जा सकता था, क्योंकि

स्पष्टतया सोवियत यूनियन ने वह कार्य किया था, जिस पर राष्ट्र संघ के नियम ने प्रतिबन्ध लगा रखा था। राजनीतिक प्रश्न का उत्तर, प्रथम तो रूस के कार्य ने किस प्रकार फ्रांस व ग्रेट ब्रिटेन के स्वार्थों पर प्रभाव डाला था, इस पर निर्भर था, दूसरे एक तरफ फ्रांस व ग्रेट ब्रिटेन के मध्य वर्तमान शक्ति-विभाजन व दूसरी ओर सोवियत यूनियन तथा अन्य प्रबल शत्रु राष्ट्र विशेषतया जर्मनी के मध्य शक्ति वितरण पर तीसरे फ्रांस तथा ग्रेट ब्रिटेन के स्वार्थों तथा भविष्य के शक्ति-विभाजन पर तथा विपरीत लक्ष्यों से सम्भावित प्रभाव पर निर्भर था। राष्ट्र संघ के प्रमुख सदस्यों के नाते फ्रांस व ग्रेट ब्रिटेन ने सोवियत यूनियन का संघ से बहिष्कार करवा दिया तथा उनकी फिनलैंड को जाने वाली टुकड़ियों को स्वीडन के भूभाग में से मार्ग देने की स्वीडन की अस्वीकृति ने ही उन्हें सोवियत यूनियन से युद्ध में फिनलैंड का साथ देने से रोका (अगर इसी अस्वीकृति ने उन्हें बचाया न होता, तो थोड़े ही काल में फ्रांस व ग्रेट ब्रिटेन को एक साथ सोवियत यूनियन व जर्मनी से युद्ध करना पड़ता)।

फ्रांस व ग्रेट ब्रिटेन की नीति वैधिकता का वरेण्य उदाहरण थी, क्योंकि उन्होंने कानूनी प्रश्न को, जो अपने क्षेत्र में तर्कसम्मत था, अपने राजनीतिक कार्यों द्वारा हल होने दिया। कानून तथा शक्ति दोनों ही प्रश्नों पर शंका समाधान करने के स्थान पर, उन्होंने केवल कानून का प्रश्न ही पूछा और जो उत्तर उन्हें मिला, वह उस विषय से तनिक भी सम्बन्धित नहीं हो सकता था, जिस पर उसका अस्तित्व ही निर्भर हो सकता था।

दूसरा उदाहरण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में "नैतिकतामय दृष्टिकोण" की व्याख्या करता है। इसका सम्बन्ध चीन की साम्यवादी सरकार की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति से है। उस सरकार के उत्थान ने पाश्चात्य विश्व का दो विषयों से सामना किया, एक नैतिक से दूसरा राजनीतिक से। क्या उस सरकार का स्वभाव और नीतियाँ पाश्चात्य विश्व के नैतिक आदर्शों के अनुरूप थी? क्या पाश्चात्य विश्व को ऐसी सरकार से व्यवहार रखना चाहिए? प्रथम का उत्तर अवश्यम्भावी रूप से नकारात्मक होगा। परन्तु उससे यह आवश्यक उपपत्ति नहीं निकलती कि दूसरे प्रश्न का उत्तर भी नकारात्मक ही होना चाहिए। प्रथम यानी नैतिक प्रश्न के विचार का मापदण्ड था केवल चीन की साम्यवादी सरकार के स्वभाव तथा नीतियों को पाश्चात्य नैतिकता पर तोलना। दूसरी ओर दूसरे अर्थात् राजनीतिक प्रश्न को सम्बन्द्ध स्वार्थों तथा दोनों पक्षों द्वारा प्राप्त शक्ति से शासित होना था तथा इन स्वार्थों और शक्ति के लिए कोई कार्य-पद्धति निश्चित करनी थी। इस परीक्षा के प्रयोग ने इस निष्कर्ष पर पहुँचा दिया होता कि चीन की

साम्यवादी सरकार से कुछ भी व्यवहार न रखना ही अधिक विवेकमय होगा। इस परीक्षा की पूर्णरूपेण उपेक्षा करके इस निष्कर्ष पर पहुँचना और राजनीतिक प्रश्न का नैतिक विषय के रूप मे उत्तर देना, वास्तव मे अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रति 'नैतिकतामय दृष्टिकोण' का पांडित्यपूर्ण उदाहरण था।

तृतीय घटना यथार्थवाद और विदेशी नीति के प्रति वैधिक नैतिकतामय दृष्टिकोण में निहित अन्तर की विलक्षणता से व्याख्या करती है। ग्रेट ब्रिटेन बैल्जियम की तटस्थता का जिम्मा लेने वालों में से एक होने के कारण 1914 मे जर्मनी से युद्ध मे भिड गया, क्योंकि जर्मनी ने बैल्जियम की तटस्थता को भग किया था। ब्रिटेन का यह कार्य यथार्थवादी अथवा वैधिक नैतिकता के रूप मे न्यायसगत ठहराया जा सकता था। तात्पर्य यह है कि कोई यथार्थवादी ढग से तर्क कर सकता था कि ब्रिटिश विदेशी नीति के लिए नीदरलैंड को किसी विरोधी शक्ति के शासन में आने से रोकना स्वत सिद्ध है। तत्पश्चात् बैल्जियम की तटस्थता का उल्लघन स्वय मे इतना नही था, जितनी उल्लघन करने वाले की विरोधात्मक विचारधारायें थी, जिन्होने ब्रिटेन की मध्यस्थता का युक्ति-पूर्वक कथन किया। अगर उल्लघन करने वाला राष्ट्र जर्मनी को छोड कर कोई अन्य होता तो ग्रेट ब्रिटेन बीच मे पडने से रुक जाता। उस काल मे ब्रिटेन के विदेशी सेक्रेटरी सर एडवर्ड ग्रे ने यही दृष्टिकोण अपनाया था।

वैदेशिक मामलो के द्वितीय सेक्रेटरी श्री हार्डिन्ज ने सन् 1908 मे उससे कहा था कि "यदि जर्मनी के विरुद्ध युद्ध के बीच फ्रास बेल्जियम की निष्पक्षता का उल्लघन करता है, तो शायद इग्लैड अथवा रूस बेल्जियम की निष्पक्षता कायम रखने के लिए अपनी उँगली उठाये, परन्तु यदि जर्मनी बेल्जियम की निष्पक्षता का उल्लघन करता है, तो यह सभव है कि परिस्थिति इसके ठीक विपरीत होगी।" जिसके उत्तर मे सर एडवर्ड ने कहा था 'यह बिल्कुल ठीक है।" कोई भी राष्ट्र कानूनी तथा नैतिकतावादी दृष्टिकोण अपना सकता था। बेल्जियम की तटस्थता का उल्लघन अपने आप मे कानूनी व नैतिक स्तर पर बुरा होने के कारण बगैर इस बात को ध्यान दिये कि अपने देश के हित किस दिशा मे है अथवा उल्लघन करने वाला कौन है, इस उल्लघन के विरोध मे ब्रिटिश अथवा अमरीका के हस्तक्षेप के पक्ष मे दलील दे सकता था। यह दृष्टिकोण श्री थियोडोर रूजवेल्ट ने श्री ग्रे को लिखे गये अपने 1915 की 22 जनवरी के पत्र मे अपनाया था :—

"मेरे सम्मुख परिस्थिति का केन्द्र बिन्दु बेल्जियम है। यदि इगलैंड अथवा फ्रांस ने जर्मनी की तरह बेल्जियम के साथ व्यवहार किया होता तो मैंने उसका उसी प्रकार से विरोध किया होता जैसा कि अब मैं जर्मनी का विरोध कर रहा हूं। मैं तुम्हारे कार्य का जोरदार समर्थन करता हूं, क्योंकि यह उन के लिए, जो यह विश्वास करते हैं कि सधियो का अच्छी नीयत से पालन होना चाहिये और अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता नाम की भी कोई चीज है, एक उपयुक्त आदर्श प्रस्तुत करना है। मैं यह परिस्थिति एक अमरीकी की हैसियत से अपनाता हूँ, क्योंकि एक अमरीकी एक जर्मन के मुकाबले मे एक अंग्रेज के अधिक निकट है जोकि एक ओर तो अपने देश के हितो की सेवा पूर्ण भक्ति से करता है, परन्तु जो साथ ही साथ मनुष्य मात्र के सम्मुख न्यायपूर्ण तथा शोभनीय कार्य करना चाहता है क्योंकि वह प्रत्यक राष्ट्र का सिंहावलोकन उसके कार्यों के अनुसार करता है।"

राजनीतिक क्षेत्र की स्वाधीनता का अन्य दृष्टिकोण के हस्तक्षेप से बचाने का अर्थ इन दृष्टिकोणो के प्रति उदासीनता कदापि नही है। इसका वास्तविक अर्थ तो यह है कि प्रत्येक अपने निश्चित दायरे में सीमित रहे। राजनीतिक यथार्थवाद मानव की दो प्रकार की प्रवृत्तियो को मान्यता प्रदान करता है। वास्तविक मानव आर्थिक मनुष्य, राजनीतिक मनुष्य, नैतिक मनुष्य, 'धार्मिक मनुष्य , का समन्वय है। जो मनुष्य केवल 'राजनीतिक मनुष्य' है वह एक पशु तुल्य होगा, क्योंकि वह नैतिक परिधियो से पूर्णतया स्वतन्त्र होगा, वह मनुष्य जो पूर्णत 'नैतिक मनुष्य' होगा, वह एक मूर्ख होगा, क्योंकि उसमे विवेक की कमी होगी। वह मनुष्य जो पूर्णत 'धार्मिक व्यक्ति' है, एक साधु होगा, क्योंकि उसम सासारिक इच्छाएँ नही होंगी।

मानवीय प्रकृति के इन भिन्न स्वरूपो को मान्यता प्रदान करते हुए राजनीतिक यथार्थवाद यह मानता है कि प्रत्येक पक्ष अपने पैमाने पर समझा जाना चाहिए। उदाहरणार्थ, यदि हम 'धार्मिक मनुष्य' को समझना चाहते हैं, तो कुछ समय के लिए उसके अन्य पक्षो को भूल जाना चाहिए और केवल उसके धार्मिक तथ्य से ऐसा देखना चाहिए जैसे वह ही सब कुछ हो। इसके आगे धार्मिक क्षेत्र मे हमे उन्ही मूल्याकनो को लागू करना चाहिए जो उससे सम्बन्धित विचार से जुडे हो, तथा साथ ही साथ अन्य मान्यताओ के पैमानो तथा उनके मनुष्य के धार्मिक गुणो पर प्रभाव के प्रति सदा जागरूक रहना चाहिए। जो बात मनुष्य के इस पक्ष पर लागू होती है, वह उसके अन्य पक्षो पर भी ठीक

उसी प्रकार लागू होती है। कोई भी आधुनिक अर्थशास्त्री अपने विज्ञान के अन्य विज्ञानों से सम्बन्ध को केवल इसी रूप में सोचेगा। अन्य विचार के मापदण्डों से स्वतंत्र करके ही अर्थ-शास्त्र ने अपने आपको एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में निखारा है। राजनीतिक क्षेत्र में उसी प्रकार के विकास को लाना राजनीतिक यथार्थवाद का उद्देश्य है।

यह तो सत्य है कि राजनीति का वह सिद्धान्त, जो ऐसे सिद्धान्त पर अवलम्बित है, सर्वमान्य कभी नहीं हो सकता और इसी कारण से ही कोई ऐसी वैदेशिक नीति भी सर्वमान्य नहीं हो सकती। क्योंकि ऐसा सिद्धान्त व नीति दोनों ही हमारी संस्कृति की दो विशेष प्रवृत्तियों के विरुद्ध है—वह दृष्टिकोण तथा नतीजों के स्वयं विरुद्ध है। इनमें से एक तो हमारी उन्नीसवीं शताब्दी के अनुभवों से उपजा दृष्टिकोण है, जो समाज में शक्ति के स्थान को ही बुरा मानता है, जिसके बारे में हम आगे चल कर विस्तारपूर्वक देखेंगे। यथार्थवादी राजनीति के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक रूप के विरुद्ध दूसरा विरोध मनुष्य के मस्तिष्क व राजनीतिक क्षेत्र के सम्बन्ध के स्वरूप से उपजता है। कुछ कारणों से, जिनका उल्लेख हम आगे चल कर करेंगे, मनुष्य का मस्तिष्क अपने दैनिक कार्य-कलापों में राजनीति को यथार्थ रूप में देखने से घबराता है। वह जानबूझ कर उस सत्य को या तो छिपाता है अथवा विकृत करता है, अथवा घटाता है या फिर उस पर आवरण डालता है विशेष रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर। क्योंकि अपने आप को राजनीति की प्रकृति के बारे में धोखा देकर ही वह अपने लोगों के मध्य राजनीतिक रूप से जीवन-यापन कर सकता है और स्वयं अपने राजनीतिक अभिप्राय को पूरा कर सकता है।

इसलिए यह आवश्यक है कि एक सिद्धान्त, जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को उसके वास्तविक रूप में समझना चाहता है, न कि उस रूप में जो लोकप्रिय है, तो उसे उन मनोवैज्ञानिक विरोधों को दबा देना चाहिए, जो ज्ञान के अन्य क्षेत्रों को नहीं सहना पड़ता। जो पुस्तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का सैद्धान्तिक अध्ययन करना चाहती है, उसके लिए विशेष व्याख्या का समर्थन आवश्यक है

दूसरा अध्याय

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का विज्ञान

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का ज्ञान

विभिन्न दृष्टिकोण—इस पुस्तक के दो उद्देश्य हैं। पहला तो उन शक्ति को जानना व समझना जो कि राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं औ उन तरीकों को समझना जिनके द्वारा ये शक्तियां एक दूसरे पर तथा अंतर्राष्ट्रीय रा नीतिक सम्बन्धों व संस्थाओं पर प्रभाव डालती हैं। सामाजिक विज्ञान के अन्य अ मे यह बात पूर्णत स्वय मे सही मानी जायगी, क्योंकि प्रत्येक वैज्ञानिक ज्ञान स्वाभाविक लक्ष्य उन शक्तियों की खोज है, जो किसी सामाजिक घटना के पी व्याप्त हैं और साथ ही यह देखना होता है कि वे कैसे कार्य करती हैं। अंतर्राष्ट्र राजनीति के अध्ययन के प्रसग मे इस लक्ष्य पर जोर देना असगत न होगा जैसा कि डॉ० ग्रेसन कर्क ने कहा है —

"अब तक सयुक्त राज्य मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के अध्ययन पर ः व्यक्तियो का प्रभुत्व रहा है, जिन्होंने निम्नलिखित तीन दृष्टिकोणों मे से कं एक दृष्टिकोण अपनाया है। सर्वप्रथम वे इतिहासकार हैं जो कि अंतर्राष्ट्र सम्बन्धो को केवल आधुनिक इतिहास समझते हैं, जिसमे स्वीकृत सामग्री पर्याप्त मा मे न होने के कारण विद्यार्थी को कठिनाइयाँ होती हैं। दूसरा वर्ग अंतर्राष्ट्र विधिवेत्ताओं का है, जिन्होंने अपने आप को राज्यो के आपसी सम्बन्धो के कानू पक्ष के अध्ययन मे सलग्न रखा है, पर जिन्होंने इस बात का कभी भी गम्भीरत पूर्वक प्रयत्न नहीं किया कि वह कौन से आधारभूत कारण हैं, जिनके कारण य वैधिक परिधि सदा ही अधूरी व अपूर्ण रहती चली आई है। और अन्त मे वे लोग जो कि अंतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में यथार्थ रूप से अधिक रुचि नहीं रखते, बस उस आद रूप म अधिक रुचि रखते हैं जो कि अपने आप म पूर्ण हो, जिसे वे स्व निर्मित करना चाहते हैं। काफी समय पश्चात् केवल आधुनिक काल में ह ऐसे विद्यार्थी आए हैं, जिन्होंने विश्व-राजनीति की आधारभूत व शाश्वत शक्ति का अध्ययन प्रारम्भ किया है, तथा उन संस्थाओं का अध्ययन जो कि दाक्तियों को अपने मे समेटे हुए हैं। यह अध्ययन न तो उनकी प्रशंसा अथ

दोषारोपण करने की नीयत से वरन् इस इच्छा से किया गया है कि उन आधारभूत हलचलों को समझें जो किसी राज्य की वैदेशिक नीति को निर्मित करती है। इस प्रकार अंत मे राजनीति-वैज्ञानिक अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र म पदार्पण कर ही रहा है।[1]

डॉ० कर्क की विचार-शृंखला को ही लेते हुए प्रोफेसर चार्ल्स ई० मार्टिन ने कहा है कि सर्वाधिक ज्वलन्त समस्या जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के सामने है, वह द्वैत की भावना है, जो उन्हें भिन्न-भिन्न विरोधी क्षेत्रों में व्यावहारिक रूप में फैलानी पड़ती है। मेरा तात्पर्य एक ओर शान्ति-क्षेत्र से है, जहाँ शान्ति की संस्थाएँ आपसी झगड़ों को सुलझाने से सम्बन्धित हैं तथा दूसरी ओर है शक्ति-संघर्ष व युद्ध का क्षेत्र (परन्तु वास्तविकता यही है, इससे कोई बचाव नहीं है)। मेरे विचार से हमारे अध्ययन-पठन के दृष्टिकोण में पिछले बीस वर्षों में एक सबसे बड़ा दोष शायद यह रहा है कि हम ने युद्ध की पद्धति तथा शक्ति-संघर्ष के प्रभाव से सम्बन्धित पुस्तकों के प्रभाव को हलके तौर पर समाप्त ही कर दिया है। मेरा विचार है कि ऐसा करने में राजनीति वैज्ञानिक बड़ी भूल कर रहे हैं। जबकि हम को ही शक्ति-संघर्ष तथा उसके परिणाम व उससे पैदा होने वाली परिस्थितियों का अध्ययन करना चाहिए। हमें ही युद्ध-रूपी संस्था का भी अध्ययन करना चाहिए।[2]

इस परिभाषा के अन्तर्गत अंतर्राष्ट्रीय राजनीति एक अध्ययन के विषय के रूप में आधुनिक इतिहास व प्रचलित घटनाओं अन्तर्राष्ट्रीय विधि तथा राजनीतिक सुधारों से भिन्न हैं।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में आधुनिक इतिहास तथा प्रचलित घटनाओं के अतिरिक्त भी अन्य तथ्यों का समावेश होता है। निरीक्षण-कर्ता वर्तमान दृश्य व उसके निरन्तर बदलते हुए दृश्यरूपों व परिवर्तित पहलुओं से घिरा हुआ है। उसे स्पष्ट होने के लिए कोई ठोस भूमि प्राप्त नहीं है और न ही कोई मापदण्ड जोकि आधारभूत तत्त्वों तक पहुँचे बिना प्राप्त नहीं हो सकते। वे उस समय स्पष्ट होते हैं, जब आधुनिक घटनाओं को सुदूर अतीत से जोड़ा जाय और दोनों को मानवीय स्वभाव की शाश्वत प्रवृत्तियों के संदर्भ म देखा जाय।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को वैधिक नियमों अथवा संस्थाओं में नहीं उतारा जा सकता। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति इन विधियों की परिधि तथा उन संस्थाओं के

1 American Journal of International Law, Vol 39 (1945) P 369-70

2 Proceedings of the Eighth Conference of Teachers of International Law and Related Subjects (Washington Carnegie Endowment for International peace 1946) P-66

द्वारा ही सचालित होती है। परन्तु यह उन के समान ठीक उसी प्रकार साम्य नही रखती जिस प्रकार राष्ट्रीय स्तर पर अमरीकन राजनीति, अमरीकन संविधान सघीय कानून अथवा सघीय सरकार के अगों से समता रखती है।

बिना यह जाने कि अतर्राष्ट्रीय राजनीति वास्तव मे क्या है और किस लिए है उसको सुधारने के प्रयत्न के बारे में हमारा भी वही मत है जो श्री विलियम ग्राह्म समनेर का है —

परिस्थितियो तथा मानव प्रकृति के यथार्थ रूप की सही परीक्षा करने के स्थान पर कुछ महान् आदर्श और मान्यताओ को पूर्वाग्रह के रूप मे मान कर चलना राजनीतिक वाद विवाद का सबसे बडा दोष है। कुछ ऊँची व अधिक श्रेष्ठ वस्तुओ का एक आदर्श पटल से ही बना लिया जाता है जो कि वास्तविकता मे वर्तमान परिस्थिति से ऊँचा होता है और प्राय अनजाने ही आदर्श का अस्तित्व वर्तमान स्थिति मे मान लिया जाता है। उसे फिर ऐसे चिन्तन का मानदण्ड मान लिया जाता है, जिसकी कोई बुनियाद नही होती। राजनीतिक विषयो पर सूक्ष्म चिन्तन का तरीका ही गलत है। यह लोक-प्रिय है, क्योंकि यह सरल है। एक नये जगत् की कल्पना करना इस जगत को जानने से आसान है। राज्यो के इतिहास तथा सस्थाओ के अध्ययन की अपेक्षा कुछ लोक-प्रिय स्वीकृत तथ्यो के आधार पर चिन्तन की उडान आसान है। लोक-प्रिय नारे भी आसान हैं अपेक्षाकृत इस अध्ययन के कि वह सही है अथवा नही। ये सब शकाओ को बढावा देते है, जिससे उपदेशो व लोकोक्तियों की वृद्धि होती है और राष्ट्रों के मध्य काफी झगडे होते हैं और लाभ कम होता है।[3]

समझ की सीमाएं

अतर्राष्ट्रीय राजनीति मे सैद्धान्तिक खोज मे निरीक्षण-कर्ता को जो सबसे बडी कठिनाई का सामना करना पडता है, वह है तथ्यो की दुरूहता। जिन घटनाओ को वह जानने का प्रयत्न करता है, वे स्वय विलक्षण घटनायें हैं। वे एक विशेष प्रकार से इस बार ही घटित हैं और इस प्रकार न तो पहले ही घटी थी और न घटेंगी, दूसरी ओर वे एक दूसरे से मिलती-जुलती है, क्योंकि वे सामाजिक शक्तियों का स्पष्टीकरण हैं। सामाजिक शक्तियाँ मानव-स्वभाव का गतिमय रूप है। इसी कारण एक ही परिस्थिति के अतर्गत सामाजिक शक्तियाँ

3 "Democracy And Responsible Government," The Challege of Facts and Other Essays (New Haven Yale University Press, 1914) pp 245-6.

समान रूप मे प्रकट होती हैं। फिर समान घटनाओ और विचित्र घटनाओ के मध्य रेखा कहाँ खीची जाय ?

अतर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक अध्ययन को घटनाओ की दुम्हता के कारण जिन कठिनाइयो का सामना करना पडता है, यह बता देना प्रासगिक होगा कि वे वास्तव म, मानव समझदारी के सामने स्वाभाविक बाधाओ या एक विशेष रूप मात्र हैं। जैसाकि मान्टगिन ने कहा था 'जिस प्रकार कोई घटना अथवा आकृति एक दूसरे से पूर्ण रूप से नहीं मिलती, उसी प्रकार से कोई भी एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न भी नहीं हैं आदि प्रकृति के द्वारा एक चातुर्यपूर्ण मिश्रण है। यदि हमारे चेहरो म सामान्यता न होनी तो हम मनुष्य की पशु से भिन्नता स्थापित कदापि न कर पाते, और यदि उनम आपस म भिन्नताएँ न होती तो हम एक दूसरे को एक दूसरे से भिन्न न कर पाते। सभी वस्तुएँ कुछ सामान्यताओ के आधार पर ही एक दूसरे से जुडी रहती हैं। प्रत्येक उदाहरण अधूरा ही होता है, इसी कारण अनुभवो से उपजी हुई तुलना सर्वदा त्रुटिपूर्ण तथा अपूर्ण होती है। फिर भी एक अनुभव दूसरी तुलनाओ की कडी बन जाता है। उसी प्रकार कानून भी उपयोगी और सेवा के योग्य बन जाते है, तथा कुछ शाब्दिक खीच-तान, जबर्दस्ती तथा पक्षपात से पूर्ण व्याख्याओ द्वारा हमारे मामलों को निबटाने मे सहायक होते हैं।[4] इस प्रकार की दूरारूढ व पक्षपात-पूर्ण धारणाओ से निरन्तर सुरक्षित रहना चाहिए।

विभिन्न घटनाओ की तुलना के उपरान्त ही हम अतराष्ट्रीय सिद्धान्तो का ज्ञान प्राप्त करते है। एक विशेष प्रकार की राजनीतिक परिस्थिति एक खास तरह की वैदेशिक नीति को जन्म देती है। किसी विभिन्न राजनीतिक परिस्थिति से व्यवहार करते समय हम अपने आप से पूछते है यह परिस्थिति पिछली परिस्थिति से किस प्रकार से भिन्न तथा किस प्रकार से समान है ? क्या य समानतायें पिछली विकसित नीति को पुष्ट करती है ? या फिर समानताओ व विभिन्नताओ का सामजस्य उस नीति का सार बनाये रख कर कुछ पक्षो म उसमे काट-छाँट सभव करता है ? या फिर विभिन्नता समानता को पूर्णत विषमतामय करके पुरानी नीति को लागू करने के अयोग्य बना देती है ? यदि कोई अतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझना चाहता है तथा वर्तमान घटनाओ के तथ्य को समझना चाहता है, तो उसे इन प्रश्नो म निहित दो प्रमुख बौद्धिक कार्यों को करना पडेगा। उसे दो राजनीतिक परिस्थितियो की समानताओ व भिन्नताओ

4 The Essays of Michel de Montaigne edited and translated by Jacob Zeitlin (New York Alfred A Knopf, 1936) Vol III, P-270

म अन्तर स्थापित करना पड़गा। इसके अतिरिक्त, उस वैदेशिक नीति के लिए इन समानताओं व भिन्नताओं क महत्त्व को जानने की क्षमता रखनी होगी। निम्नलिखित तीन घटनाएं जो यो ही ली गई है इस समस्यापूर्ण प्रश्न व उसकी कठिनाइयों का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

जार्ज वाशिंगटन ने 17 सितम्बर सन् 1796 का अपने विदाई भाषण म, अमरीकन वैदेशिक नीति के आधारभूत सिद्धान्तों की चर्चा की थी, जिनका सार था, यूरोपीय मामलों स तटस्थता का दृष्टिकोण। 2 दिसम्बर सन् 1823 को प्रजीडेन्ट मनरो ने एक सदेश अमरीकन काग्रस को भेजा था, जिसमे उन्होंने भी अमरीकन वैदेशिक नीति के सिद्धान्तों को उन्ही युक्तियों मे प्रस्तुत किया था। सन् 1917 मे सयुक्त राज्य ने फ्रास व ग्रेट ब्रिटेन का जर्मनी के विरुद्ध पक्ष लिया, जोकि उन दोनो की स्वतत्रता को सकट म डाल रहा था। सन् 1947 की 12 मार्च को अमरीकन काग्रस को एक सदेश भेजते हुए प्रसिडेंट ट्रूमेन ने अमरीकन वैदेशिक नीति को पुन निर्धारित किया, जिसका तात्पर्य विश्वव्यापी साम्यवाद की रोक-थाम था।

सन् 1512 म इगलैंड के आठवें हेनरी ने हैप्सबर्ग के साथ फ्रास के विरुद्ध मैत्री की थी। सन् 1515 म उसने फ्रास से हैप्सबर्ग के विरुद्ध मित्रता की सधि की थी। सन् 1522 व 1542 म उसने फिर हैप्सबर्ग स गठबन्धन किया। फ्रास के विरुद्ध सन् 1756 मे ग्रेट ब्रिटेन ने फ्रास व रूस स प्रास्ट्र लिया व जर्मनी के विरुद्ध व सन् 1939 मे फ्रास व पोलैन्ड से जर्मनी के विरुद्ध गठबन्धन किया।

नेपोलियन, विलियम द्वितीय व हिटलर ने यूरोप महाद्वीप को विजय करने की कोशिश की और असफल रहे।

क्या इन तीन कड़ियो की घटनाओं की लड़ी म कुछ ऐसी समानताएँ है, जो हम प्रत्यक कड़ी के लिये एक सिद्धान्त के निर्माण का अवसर देती है? या फिर प्रत्यक कड़ी की विभिन्न घटनाएं एक दूसरे से इतनी भिन्न है कि प्रत्येक के लिए अलग-अलग नीति की आवश्यकता होगी? इस निर्णय तक पहुँचने की कठिनाई ही वैदेशिक नीति के लिए सही फैसले को निर्धारित करने की कठिनता है जिसके द्वारा भविष्य के लिए सही रास्ता ढूँढा जा सके और जिसस सही वस्तु सही समय म सही उपाय स की जा सके।

क्या वाशिंगटन क विदाई-भाषण में उत्पन्न वैदेशिक नीति का अमरीकन वैदेशिक नीति का सामान्य सिद्धान्त माना जाय? या फिर वह कुछ विशेष परिस्थितियों स उत्पन्न हुई थी और इस कारण उसकी यथार्थता उनके द्वारा सीमित थी? क्या वाशिंगटन व मनरो के सदेशों की वैदेशिक नीति ट्रूमैन के सिद्धान्त स मेल खाती है? समस्या को दूसरे शब्दों म इस प्रकार रखा जा

सकता है, क्या ट्रूमैन का सिद्धान्त वाशिंगटन व मनरो के अमरीकन वैदेशिक मामलो के विचार का एक रूपान्तरण मात्र है या वह अमरीकन वैदेशिक नीति की परम्परा से मौलिक रूप मे पृथक् है ? और यदि यह सत्य है तो क्या परिवर्तित परिस्थितियो म यह औचित्यपूर्ण है ? सामान्य कथन के अनुसार क्या सन् 1796, 1823, 1917, 1941 व 1947 म सयुक्त राज्य की अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति के मध्य का अन्तर इन विभिन्न परिस्थितियो के लिए विभिन्न वैदेशिक नीतियो का समर्थन करता है ? सन् 1917, 1941, व 1947 की परिस्थितियो मे वे क्या समानताएँ व विभिन्नताएँ हैं जो कि यूरोप ने सयुक्त राज्य के सामने प्रस्तुत की थी, व किस सीमा तक उनके फलस्वरूप सयुक्त-राज्य को सामान्य अथवा भिन्न वैदेशिक नीति अपनाने पर प्रेरित करती है ?

ब्रिटिश वैदेशिक नीति म घटित इन परिवर्तनो का अर्थ क्या है ? क्या वे राजकुमारो तथा राजनीतिज्ञो की सनक और धोखेबाजी से उत्पन्न हुए हैं ? या क्या वे जनता के उस सचित ज्ञान से प्रेरित हुए है, जो किसी सयोगवश हुई मित्रता का प्रतिक्रमण करके स्थायी हितो को दृष्टि म रखकर यूरोप महाद्वीप के साथ सम्बन्धो को निर्धारित करता है ?

क्या महाद्वीपीय विजय के तीनो प्रयत्नो स उत्पन्न सकट, जिनके पीछे बहुत सी दुर्घटनाये घटी, असमान कारणो की ही उपज थी ? या फिर उनकी परिणाम की समानता पूरी राजनीतिक परिस्थिति की समानता की ओर सकेत करती है, और इस प्रकार की कोशिश फिर से करने वालो के लिए एक विचार-योग्य उपदेश का रूप ले लेती है ? अधिक विशेषता के साथ यदि कहा जाय तो क्या सोवियत रूस की यूरोपीय नीति नेपोलियन, विलियम द्वितीय व हिटलर के समान कही जा सकती है ? जिस सीमा तक वह ऐसी ही है, तो क्या उनके कारण सयुक्त राज्य को 1917 व 1941 के समान ही अपनी नीति निर्धारित करनी होगी ?

कभी-कभी जैसा कि ब्रिटिश वैदेशिक नीति के परिवर्तनो का प्रश्न है, उत्तर स्पष्ट है, अर्थात् नीति किसी सनक की उपज नही, वरन् बुद्धि की उपज है। परन्तु अधिकतर, विशेष रूप से जबकि हम वर्तमान तथा भविष्य से सम्बन्ध रखते है, तो उत्तर अनिश्चित होगा और मर्यादाओ से सीमित भी। जिन तथ्यो पर उत्तर आधारित है, वे मुख्यत अस्पष्ट हैं तथा उनम निरन्तर परिवर्तन सम्भव है। जो लोग, इसके विपरीत सोचते हैं, वे भूठी तुलनाओ के अतिरिक्त इतिहास से कुछ नही सीखे हैं। जब ऐसे व्यक्ति अपने देश की वैदेशिक नीति को निर्धारित करने के लिए उत्तरदायी होते हैं तो फल सदा विध्वसकारी असफलता ही होता है। विलियम द्वितीय और हिटलर ने नेपोलियन के दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम से कुछ

नहीं सीखा क्योंकि वे सोचते थे कि उससे उन्हें कुछ शिक्षा नहीं मिल सकती। जिन्होंने वाशिंगटन की सलाह को एक ऐसे सिद्धान्त का रूप दे दिया, जिसका दासतापूर्ण अनुकरण करना है, उन्होंने उनके मुकाबिले में कम गलती नहीं की, जिन्होंने उसे पूर्णतः ठुकरा दिया।

जो पहला पाठ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी को सीखना है और जिसे कभी भी नहीं भूलना चाहिए, वह यह है कि अतर्राष्ट्रीय मामलों का पेचीदापन साधारण समाधान व विश्वसनीय भविष्यवाणी को असंभव बना देता है। यहाँ पर ज्ञानी व नीम हकीम (मिथ्या चिकित्सक) एक दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। उन शक्तियों का ज्ञान, जो कि अतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को निर्धारित करती हैं, तथा उन तरीकों का ज्ञान, जिनके द्वारा राजनीतिक सम्बन्ध स्पष्ट होते हैं, अतर्राष्ट्रीय राजनीति के तथ्यों की अस्पष्टता का अनावरण करता है। प्रत्येक राजनीतिक परिस्थिति में विरोधी प्रवृत्तियाँ खेल करती हैं। इन प्रवृत्तियों में से एक प्रवृत्ति किन्हीं विशेष परिस्थितियों में प्रमुखकारी हो सकती है। परन्तु कौन सी प्रवृत्ति वास्तव में प्रचलित हो जायेगी, इस बात का तो केवल अनुमान ही किया जा सकता है। इसीलिए सबसे श्रेष्ठ काम जो एक विद्वान् विद्यार्थी कर सकता है, वह यह है कि किसी विशेष अतर्राष्ट्रीय परिस्थिति में व्याप्त विभिन्न प्रवृत्तियों की खोज कर, जो उसमें सभावनाओं के रूप में निहित रहती है। वह उन विशेष परिस्थितियों की ओर ध्यान आकर्षित कर सकता है, जिनके फलस्वरूप एक तरह की प्रवृत्ति के फैल जाने की अधिक संभावना है और इस प्रकार अनुमान लगा सकता है कि वास्तविकता में किस प्रकार की भिन्न परिस्थितियाँ तथा प्रवृत्तियाँ प्रकट हो कर प्रमुखकारी होंगी।

क्योंकि अतर्राष्ट्रीय राजनीति के तथ्य निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं, विश्व की घटनाएँ आश्चर्यपूर्ण ढग से घटित होती रहती हैं। जो व्यक्ति उनमें अपने भूतकालीन ज्ञान तथा वर्तमान परिस्थितियों के आधार पर भविष्य का अनुमान करना चाहता है, उसके लिए विश्व की समस्याओं के भण्डार में सदा आश्चर्यान्वित करने वाले तथ्य वर्तमान रहते हैं। सन् 1776 में वाशिंगटन ने घोषणा की थी कि *हमारे देश का भाग्य हर मानवीय संभावना के अन्तर्गत आने वाले चन्द सप्ताह के गूढ़ कार्यों पर अवलम्बित है।* परन्तु सात वर्ष से पहले स्वतंत्रता की लड़ाई का अन्त नहीं हुआ। सन् 1792 में ब्रिटिश प्रधान मंत्री पिट ने फौजी खर्च में कमी का समर्थन किया था, (विशेषरूप से ब्रिटिश नौ सेना के नाविकों में बेहद छँटनी कर) तथा आने वाले वर्षों में और भी छँटनी के आश्वासन की आशा की घोषणा इन शब्दों में की थी, "यह बात निर्विवाद है कि इस देश के इतिहास में आज से पूर्व कभी भी ऐसा समय नहीं आया जबकि यूरोप की परिस्थिति के

आधार पर हम, अधिक विवेकपूर्ण दृष्टिकोण से, कम से कम पन्द्रह वर्ष के लिए शान्ति की आशा कर सकें।" केवल दो माह के पश्चात् ही महाद्वीप युद्ध की लपटों में झुलस गया। छह माह के भीतर ही भीतर ग्रेट ब्रिटेन भी उसमें उलझ गया। इस प्रकार युद्ध का लम्बा दौर प्रारम्भ हो गया, जो प्राय पच्चीस वर्ष तक चलता रहा। जब लार्ड ग्रेनवाइल सन् 1870 में ब्रिटिश वैदेशिक सचिव बने थे, तो उनको स्थायी उपसचिव ने सूचना दी थी कि "उसने अपने लम्बे अनुभव के मध्य कभी भी वैदेशिक मामलों में उतना शान्तिमय वातावरण नहीं देखा था, और उसके मध्य कोई भी ऐसी महत्त्वपूर्ण समस्या नहीं थी, जिससे उन्हें (लार्ड ग्रेनवाइल को) निपटना पड़े।" उसी विशेष दिन, होहन ज़ोलर्न सिगमरिंजन के राजकुमार लियोपोल्ड ने स्पेन का शासन-भार स्वीकार कर लिया। इसके तीन सप्ताह पश्चात् उसी कारण फ्रांस एवं प्रशा के मध्य युद्ध छिड़ गया।

जबकि इतने बड़े राजनीतिज्ञों की भविष्यवाणी इतनी बुरी तरह से असफल रही, तब हम जैसे छोटे मस्तिष्कों की भविष्यवाणी से क्या आशा की जा सकती है? प्रथम विश्वमहायुद्ध के पूर्व जबकि अधिकतर लोग महायुद्ध को —कम से कम अल्पकालीन युद्ध को—असम्भव समझते थे, कितनी ऐसी पुस्तकों से जो कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलों पर लिखी गई थी, यह अनुमान किया जा सकता था कि क्या होने वाला है? क्या दोनों विश्व महायुद्धों के बीच लिखी गई पुस्तकों में किसी भी पुस्तक की सहायता से कोई भी यह अनुमान लगा सकता था कि बीसवीं शताब्दी के छठे दशाब्द में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का क्या रूप होगा? द्वितीय विश्वमहायुद्ध के प्रारम्भ में, युद्ध के अन्त में जगत् का राजनीतिक रूप किस प्रकार का होगा, ऐसा कौन अनुमान लगा सकता था? सन् 1945 में कौन जान सकता था कि सन् 1955 में विश्व का क्या रूप होगा? यह सन् 1950 में कौन जान सकता था कि सन् 1960 में उसका रूप क्या होगा? तो फिर उन लोगों पर क्या विश्वास किया जा सकता है, जो पूर्ण विश्वास से बतलाते हैं "कि कल व परसों क्या होने वाला है"[5]?

5. अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में सम्बन्धित भविष्यवाणियों की ग़लतियों का विशेष स्पष्टीकरण हवाई कल्पना पर आधारित उन भ्रान्तियों में विदित हो जाता है, जो अनुमानियों ने हर युद्ध के उपरान्त अगले युद्ध के स्वरूप के बारे में भविष्यवाणी करने में की थीं। मेकवेली से लेकर जनरल जे० एफ० सी० फुलर की भविष्यवाणियां युद्ध का इतिहास वह कहानी है जो तर्कसंगत कही जा सकती है, परन्तु जिनका वास्तविक ऐतिहासिक विकास में उपजी परिस्थितियों में कोई सम्बन्ध नहीं था। उदाहरण के लिए जनरल फुलर ने सन् 1923 में दूरदर्शिता के आधार पर भविष्यवाणी की थी कि द्वितीय विश्व महायुद्ध का निर्णयात्मक शस्त्र गैस होगी। See, The Reformation of war (New York E.P. Dutton and Company, 1923)

अंतर्राष्ट्रीय शान्ति-समस्या को समझ

य प्रश्न हमको इस पुस्तक के द्वितीय लक्ष्य की ओर अग्रसर करते हैं। बीसवीं शताब्दी के मध्य में राजनीति का कोई भी अध्ययन, विशेष रूप से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का कोई भी अध्ययन—इस अर्थ में तटस्थतापूर्ण नहीं हो सकता कि वह ज्ञान का कार्य से पृथक् कर ले और 'ज्ञान के लिए ज्ञान' के सिद्धान्त का अनुसरण करे। अब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति संयुक्त राज्य के लिए केवल घटनाओं की शृंखला, चाहे कितनी ही मूल्यवान अथवा लाभप्रद क्यों न हो, नहीं रही है और जैसी कि वह अपने इतिहास में पहले राष्ट्र के जीवन तथा भाग्य से असम्बद्ध थी, अब नहीं है। संयुक्त-राज्य का अस्तित्व तथा भाग्य अंतर्राष्ट्रीय राजनीति की अपेक्षा आंतरिक राजनीति द्वारा कहीं अधिक गहराई से प्रभावित था, जैसे कि मैक्सिकन युद्ध, स्पेनिश अमरीकन युद्ध तथा मनरो सिद्धान्त के रूजवैल्ट द्वारा दिये गये उपसिद्धान्त के विरोध में गृह-युद्ध।

हमारे युग के दो विशेष तथ्यों ने संयुक्त-राज्य के लिए अंतर्राष्ट्रीय राजनीति व गृह-राजनीति के आनुपातिक महत्त्व को पूर्णत पलट दिया है। सबसे प्रथम इस समय जब हम लिख रहे हैं, संयुक्त राज्य विश्व के दो सब से शक्तिशाली राष्ट्रों में से एक है। फिर भी अपने वास्तविक और शक्तिशाली प्रतिद्वंद्वियों के मुकाबिले में उतना शक्तिशाली नहीं है कि वह अपनी नीतियों के फलस्वरूप राष्ट्र के मध्य अपनी स्थिति के प्रश्न की उपेक्षा कर सके। गृह-युद्ध के अंत से लेकर द्वितीय विश्व-महायुद्ध के प्रारंभ तक यह बात कोई विशेष तथ्य नहीं रखती थी कि संयुक्त-राज्य लेटिन अमरीकन पड़ोसियों के प्रति अथवा चीन या स्पेन के प्रति क्या नीति अपनाता है। निजी शक्ति की आत्म-निर्भरता तथा शक्ति-सन्तुलन के प्रभाव के कारण संयुक्त-राज्य सफलता से उपजी असीमित महत्त्वाकांक्षा व असफलता से उत्पन्न भय तथा नैराश्य से मुक्त रहता था। संयुक्त राज्य सफलता या असफलता के प्रति एक उपेक्षा का रुख अपना सकता था और उसके कारण स्वयं के लालच अथवा भय से मुक्त रह सकता था। परन्तु अब वह अपने महाद्वीप की परिधि के बाहर खड़ा सम्पूर्ण राजनीतिक जगत् को मित्र अथवा शत्रु के रूप में देख रहा है। अब वह दूसरों के लिए खतरनाक, भेद्य एव भयप्रद हो गया है।

अति शक्तिशाली परन्तु सर्वशक्तिशाली न होने के कारण पैदा हुआ संकट दूसरे तथ्य के कारण और भी बढ़ जाता है और वह है विश्व के राजनीतिक स्वरूप में त्रिविध क्रान्ति।

सर्वप्रथम बहु-शक्ति-केन्द्रीय राज्य पद्धति, जिसका केन्द्र यूरोप था, आज विश्व-व्यापी केन्द्रीय पद्धति द्वारा हटा दी गई है, जिसके शक्ति-केन्द्र यूरोप

के बाहर हैं। इसके अतिरिक्त पाश्चात्य सभ्यता की नैतिक एकता, जिसके कारण ही वह इतिहास में सम्पूर्ण संसार में विलक्षण रही है, आज दो पूर्णत विरोधी विचार शृंखलाओं में विभाजित हो गई है जिनमें से प्रत्येक विचार-धारा सर्वत्र मनुष्य की निष्ठा अपनी ओर आकर्षित करने में संलग्न है। और अन्त में आधुनिक टकनोलोजी (यान्त्रिकी) ने पूर्ण युद्ध को संभव बना कर पूर्ण-विध्वंस को उसका परिणाम बना दिया है। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इन आधुनिक तत्त्वों ने विश्व शान्ति स्थायी रखने के प्रश्न को न केवल अत्यन्त कठिन कार्य बना दिया है अपितु साथ ही साथ उन्होंने युद्ध में निहित संकट को उस सीमा तक पहुँचा दिया है जहां पहुँच कर पूर्ण अणु-युद्ध स्वयं विध्वंसकारी निरर्थकता का रूप ले लेता है। क्योंकि संयुक्त राज्य आज प्रभुत्वकारी स्थिति में है जिसके कारण उसका उत्तरदायित्व भी सबसे अधिक है अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को संचालित करने वाली शक्तियों का अध्ययन व ज्ञान संयुक्त राज्य के लिए एक आनन्दकारी बौद्धिक वृत्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है। वह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आवश्यकता बन गई है।

इसी कारण वर्तमान संयुक्त राज्य के दृष्टिकोण से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति पर मनन करना उन मूलभूत समस्याओं पर मनन करना है जो आज अमरीकन वैदेशिक नीति के सामने उपस्थित हैं जबकि हर युग में अन्य शक्तियों के मध्य एक शक्ति के रूप में संयुक्त राज्य के हितों को बढ़ावा देना अमरीकी वैदेशिक नीति का प्रमुख लक्ष्य रहा है। और आधुनिक युग में जिसने सम्पूर्ण विध्वंसकारी युद्ध अणु-शस्त्रों द्वारा संचालित करना सीख लिया है विश्व शान्ति स्थिर रखना प्रत्येक राष्ट्र की प्रथम अभिरुचि बन गई है।

इसी कारण इस पुस्तक में दो प्रमुख विचारों के विवेचन की योजना है वे हैं शक्ति व शान्ति। ये दोनों विचार मध्य बीसवीं शताब्दी में विश्व राजनीति के केन्द्रीय विचार इस कारण बन गए हैं क्योंकि विध्वंसकारी शक्ति का अपूर्व जमाव शान्ति की समस्या को अनिवार्य आवश्यकता समझता है। ऐसे जगत् में जिसकी संचालिका शक्ति सार्वभौमिक राष्ट्रों की शक्ति लालसा है शान्ति केवल दो साधनों द्वारा स्थापित की जा सकती है। एक साधन तो स्वयं संचालित सामाजिक शक्तियों की यान्त्रिकता है जो कि अंतर्राष्ट्रीय क्षितिज के शक्ति संघर्ष में शक्ति संतुलन के रूप में प्रकट होता रहता है। दूसरा साधन आदर्शों पर आधारित सीमाएँ हैं जिसे मनुष्य स्वयं अपने ज्ञान द्वारा अंतर्राष्ट्रीय विधि अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता व विश्वव्यापी जनमत के रूप में उस संघर्ष विधि के ऊपर घेरे की तरह डालता है। अब तीन प्रश्न और उठते हैं जिनका उत्तर अपेक्षित है। क्योंकि इनमें से कोई भी शक्ति संघर्ष को शान्ति की सीमाओं में अनन्तकाल

क लिए बाध कर नही रख सकता अतर्राष्टीय शांति को स्थिर रखने के मुनावा का वास्तविक मूल्य क्या है ?

यदि पूछा जाय ता प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्र राज्यो क आज के अतर्राष्ट्रीय समाज का विश्वव्यापी राज्य सरीखे अति राष्ट्रीय सगठन म परिणत कर देने का मूल्य क्या है ? और अन्त म उस काय क्रम का रूप क्या होगा जा अतीत के पाठ को दृष्टिगोचर करत हुए कायक्षत्र म अपने आप का वतमान की समस्याओं स सामञ्जस्य स्थापित करना चाहता है ?



प्रयत्न किया था, अन सभी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के मंच पर अभिनेता बनें[2]।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इस विचार से निम्नलिखित दो निष्कर्ष निकलते हैं —

सर्वप्रथम, एक राष्ट्र के दूसरे राष्ट्र के प्रति प्रत्येक कार्य को राजनीतिक कार्य का स्वरूप नही दिया जा सकता। अनेक कार्य साधारणत बिना किसी शक्ति के विचार के प्रारम्भ किये जाते हैं और उसमे उस राष्ट्र की शक्ति पर कोई प्रभाव नही पड़ता। अनेक कानूनी, आर्थिक, मानवीय, एव सास्कृतिक कार्य इसी प्रकार के होते हैं। इसी कारण जब कभी भी एक राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र से प्रत्यर्पण सधि स्थापित करता है अथवा वस्तुओं व सेवाओ का विनिमय करता है, या प्राकृतिक प्रकोप को दूर करने म सहयोग स्थापित करता है अथवा सम्पूर्ण ससार मे सास्कृतिक उपलब्धियो के प्रचार को प्रोत्साहित करता है तो वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सलग्न नही कहा जा सकता। दूसरे शब्दो मे, किसी राष्ट्र का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सलग्न होना अतर्राष्ट्रीय मच पर किये गये अनेक कार्यों मे से केवल एक ही कार्य है।

दूसरे सब राष्ट्र हर समय अतर्राष्ट्रीय राजनीति मे एक ही सीमा तक लिप्त नही रहते। उनकी लिप्तता की मात्रा सोवियत रूस व सयुक्त राष्ट्र अमरीका की पराकाष्ठा से लेकर स्विटजरलैंड लक्जम्बर्ग अथवा वेनेजुला की न्यूनतम लिप्तता तक तथा पूर्ण अलिप्तता तक हो सकती है जैसे लीचटेन्सटीन (Leichtensteen) तथा मोनाको (Monaco)। इसी प्रकार की अतियाँ विदेश देशो के इतिहास म भी दृष्टिगोचर हो सकती हैं। स्पेन सोलहवी शताब्दी मे अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-सघर्ष मे एक मुख्य प्रतिद्वन्द्वी था, परन्तु आज उसका अभिनय बहुत ही सीमित है। यही बात आस्ट्रिया, स्वीडन व स्विटजरलैंड पर लागू होती है। दूसरी ओर सयुक्त राज्य, सोवियत रूस व चीन सरीखे राष्ट्र आज पचास अथवा बीस वर्ष पूर्व की अपेक्षा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अत्यधिक गहराई से लिप्त है। सक्षेप म, राष्ट्रो का अतर्राष्ट्रीय राजनीति से सम्बन्ध गतिमय है। यह सम्बन्ध शक्ति के परिवर्तन पर अवलम्बित है, जो किसी राष्ट्र को कभी शक्ति-सघर्ष की प्रथम पक्ति मे ला देता है, अथवा कभी उसे उस सघर्ष मे गतिशील रूप से हिस्सा लेने को विवश कर देता है। इससे उसके सास्कृतिक रूपान्तरण के प्रभावस्वरूप उस राष्ट्र का दृष्टिकोण ही परिवर्तित हो

2. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की शक्ति से सम्बन्धित कुछ महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों के लिए देखिये Lionel Robbins, The Economic Causes of War (Lordon: Jonathan cape, 1939) pp 63 ff

सकता है, जो अब शक्ति के स्थान पर अन्य लक्ष्यों का अनुसरण करने लगता है, जैसे व्यापार।

राजनीतिक शक्ति की प्रकृति

जब हम इस पुस्तक के संदर्भ में शक्ति के शब्द का प्रयोग करते हैं, तो हमारा तात्पर्य प्रकृति के ऊपर मनुष्य की शक्ति से नहीं होता, अथवा किसी कलात्मक माध्यम जैसे भाषा भाषण, ध्वनि रंग अथवा उत्पादन तथा वितरण के साधन अथवा स्वयं के ऊपर आत्म नियन्त्रण के रूप में नहीं होता। जब हम शक्ति की चर्चा करते हैं, तो हमारा तात्पर्य उस शक्ति से होता है, जो मनुष्य अन्य मनुष्यों के मस्तिष्क व कार्यों के ऊपर प्रयोग करता है। राजनीतिक शक्ति से हमारा तात्पर्य जन शक्ति-धारियों के आपसी सम्बन्धों व उनके तथा सामान्य जनता के सम्बन्धों में होता है।

परन्तु राजनीतिक शक्ति की उस शारीरिक बल से भिन्नता स्थापित करना आवश्यक है जो हिंसा के रूप में प्रकट होता है। पुलिस कार्यवाही कैद, फांसी तथा युद्ध के रूप में शारीरिक हिंसा की भर्त्सना सदैव राजनीति में व्याप्त रहती है। जब हिंसा वास्तविकता का रूप धारण कर लेती है, तो यह सैनिक शक्ति के पक्ष में राजनीतिक शक्ति के पद-त्याग का द्योतक होता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तो खास तौर पर फौजी ताकत धुड़की अथवा उसमें निहित शक्ति के रूप में राष्ट्रीय शक्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण भौतिक तत्त्व है, जो राजनीतिक शक्ति की पूर्ति करता है। जब यह युद्ध के रूप में वास्तविकता में परिणत होता है, तब यह सैनिक शक्ति द्वारा राजनीतिक शक्ति का स्थान ग्रहण करने को सूचित करता है। उस परिस्थिति में मस्तिष्क के मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध के, जो कि राजनीतिक शक्ति का तत्त्व है, स्थान पर शारीरिक हिंसा होने लगती है, जिसमें शक्तिशाली निर्बल के कार्यों पर आधिपत्य जमाने लगता है। शारीरिक हिंसा के प्रयोग से राजनीतिक सम्बन्ध का मनोवैज्ञानिक तत्त्व नष्ट हो जाता है, और इसी लिए हमें सैनिक तथा राजनीतिक शक्ति की भिन्नता को समझना चाहिए।

शक्ति का प्रयोग करने वाले तथा जिसके विरुद्ध शक्ति प्रयुक्त होती है—इन दो राष्ट्रों के मध्य का मनोवैज्ञानिक सम्बन्ध ही राजनीतिक शक्ति है। इसके द्वारा प्रथम दूसरे के कुछ कार्यों पर अपने उस असर के कारण नियंत्रण रखता है जो वह उसके मस्तिष्क पर डाल सकता है। यह प्रभाव तीन स्रोतों से उपजता है—कुछ लाभों की आशा, कुछ अहितकारी बातों का भय तथा उन व्यक्तियों अथवा संस्थाओं के प्रति आदर अथवा प्रेम की भावना। यह प्रभाव या तो आदेश अथवा भर्त्सना अथवा प्रोत्साहन अथवा पद की शक्ति द्वारा प्रयुक्त किया जाता है या फिर इनमें से कई के एक साथ सम्मिलित हो जाने से किया जाता है।

गृह-राजनीति में इन विभिन्न तत्त्वों के बदलते हुए संगठनों को प्राय. मान्यता दी जाती है परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में ये उतने स्पष्ट न होते हुए भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। एक प्रवृत्ति यह भी है कि राजनीतिक शक्ति को वास्तविक शारीरिक शक्ति के बल प्रयोग का रूप दिया जाने लगा है, जिसमें सफल बल-प्रयोग की धमकी या प्रलोभन को अधिक महत्ता दी जाती है और व्यक्तिगत प्रतिभा की उपेक्षा की जाती है। व्यक्तिगत प्रतिभा के प्रति इस उदासीनता के फलस्वरूप जैसा कि हम आगे देखेंगे[3], अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रतिष्ठा के प्रश्न के प्रति उदासीनता काफी हद तक व्याप्त होती रही है। परन्तु व्यक्ति की व्यक्तिगत प्रतिभा (जैसे नेपोलियन अथवा हिटलर) अथवा संस्था की क्षमता के बिना (जैसे कि सोवियत सरकार अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ) जिससे अपने अनुयायियों के हृदय में प्रेम व आस्था जगाने में सफलता प्राप्त होती है, हम उन तमाम प्रमुख घटनाओं को पूर्णत नहीं समझ सकते, जो आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में विशेष रूप से घटित होती रही है।

प्रतिभाशाली नेतृत्व तथा उसके कारण उत्पन्न प्रजा के स्नेह का अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महत्त्व निम्नलिखित पत्र से स्पष्ट रूप से विदित हो जाता है जो स्काटलैंड के पादरी तथा प्रोटेस्टैंट एकता के कार्यकर्त्ता श्री जान ड्यूरी ने स्वीडन के गुस्तावस अडोलफेस की, जो उस समय प्रोटेस्टैण्ट लक्ष्य के लिये जर्मनी में लड़ रहे थे शक्ति के क्षय के बारे में ब्रिटिश राजदूत श्री टामस रो को लिखा था —

"उसके प्रभुत्व में वृद्धि उसके पद का आधार है और प्रेम उसके प्रभुत्व का आधार है। प्रभुत्व की प्राप्ति प्रेम से ही होनी चाहिए, यह शक्ति से नहीं हो सकती, क्योंकि उसकी शक्ति अपनी प्रजा में व्याप्त न होकर विदेशियों में व्याप्त है, अपने स्वयं के धन में निहित न रह कर उनके धन में है उनकी इच्छा में नहीं, वरन् दोनों की आपसी आवश्यकता में है। इसी कारण यदि आवश्यकता इतनी अधिक न हो, जितनी अब है अथवा ईश्वर के द्वारा अन्य कोई साधन सुझा दिया जाय (जो यह कार्य किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा भी सम्पन्न करवा सकता है), परन्तु इस आवश्यकता को हटाना जरूरी है, क्योंकि जो धन एवं बल उसकी सहायता में व्यय हो रहा है वह अब किसी काम का नहीं रहा, क्योंकि जो स्नेह उसके लिए पहले था वह अब अपने स्थान पर नहीं रहा है[4]।"

संयुक्त राज्य का अध्यक्ष (प्रेसिडेण्ट) कार्यकारिणी के ऊपर राजनीतिक

3. छठा अध्याय देखिये।
4. Gunner westin, Negotiations About Church Unity. 1628-1634 (Upsala : Almquist and wiksells, 1932) P. 208.

शक्ति का प्रयोग उस समय तक करता है जब तक कि इसके आदेशों का पालन कार्यकारिणी के सदस्य करते रहते हैं। राजनीतिक दल का नेता राजनीतिक शक्ति का उपभोग उस समय तक ही करता है, जब तक वह दल के सदस्यों के कार्यों को अपनी इच्छा द्वारा नियन्त्रित करने में समर्थ रहता है। हम किसी उद्योगपति, मजदूर नेता अथवा पूंजीपति की राजनीतिक शक्ति का तभी तक जिक्र करते हैं, जब तक कि उनकी अभिरुचियां सरकारी कर्मचारियों पर प्रभाव डालती रहती हैं। संयुक्त राज्य प्योरटो रिको (Poerto Rico) द्वीप पर उस सीमा तक राजनीतिक शक्ति का उपभोग करता है जिस सीमा तक वहां के नागरिक उसकी विधियों को मान्यता प्रदान करते हैं। जब हम मध्य अमरीका में संयुक्त राज्य की राजनीतिक शक्ति का वर्णन करते हैं, तो हमारा तात्पर्य होता है कि वहां की सरकारें किस सीमा तक संयुक्त राज्य की सरकार की इच्छा के अनुसार अपने कार्य संचालित करती हैं। इसी कारण जब हम कहते हैं कि 'अ' 'ब' के ऊपर राजनीतिक शक्ति का प्रयोग करता है अथवा करना चाहता है तो, हमारा तात्पर्य यह होता है कि वह 'ब' के कुछ कार्यों पर या तो नियन्त्रण रखता है अथवा रखना चाहता है, जिसका माध्यम 'ब' के मस्तिष्क के ऊपर 'अ' का प्रभाव है।

किसी भी वैदेशिक नीति का भौतिक लक्ष्य चाहे जो भी हो—जैसे कच्चे पदार्थों के स्रोतों या सामुद्रिक रास्तों पर नियन्त्रण अथवा भूमि-सम्बन्धी परिवर्तन—इन सभी में दूसरे के मस्तिष्क पर प्रभाव डाल कर उनके कार्यों पर नियन्त्रण लागू करने का तत्व व्याप्त होता है। राइन-सीमा पिछले सौ वर्षों से फ्रांस की वैदेशिक नीति का लक्ष्य रही है जिसका राजनीतिक तात्पर्य यह है कि जर्मनी की आक्रमण करने की उत्सुकता को समाप्त कर दिया जाय अथवा उसके लिये शारीरिक तौर पर यह हमला अत्यन्त कठिन अथवा असम्भव बना दिया जाय। सम्पूर्ण उन्नीसवीं शताब्दी में ग्रेट ब्रिटेन की विश्व-राजनीति में सुदृढ़ स्थिति इस कारण रही, क्योंकि उसने नपी-तुली वैदेशिक नीति लागू की, जिसके फलस्वरूप अन्य देशों द्वारा उसका विरोध करना या तो संकटपूर्ण था (क्योंकि वह बहुत ही शक्तिशाली था), या अनावश्यक प्रतीत होता था (क्योंकि वह अपनी शक्ति का उदारता से प्रयोग करता था)।

5 पुस्तक में दिये हुए उदाहरण राजनीतिक शक्ति एवं केवल सामाजिक तथ्य की विभिन्नता को भी प्रकट करते हैं, जैसाकि कानूनी रूप से शक्ति का प्रतिनिधि संयुक्त राज्य में अध्यक्ष होता है, जोकि लोबी कक्ष में प्रभाव डालने वाले तथ्यों में भिन्न है। संयुक्त राष्ट्र का अध्यक्ष और लोबी-कक्ष में प्रभाव डालने वाले दोनों ही राजनीतिक शक्ति का उपभोग करते हैं, चाहे इसका स्रोत व स्वभाव कितना ही भिन्न क्यों न हो।

सैनिक तैयारियों का राजनीतिक लक्ष्य यह होता है कि अन्य देशों के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग यत्न से परिपूर्ण कर दिया जाए ताकि वे ऐसा न करें। दूसरे शब्दों में सैनिक तैयारियों का राजनीतिक लक्ष्य यह होता है कि सैनिक शक्ति का वास्तविक प्रयोग अनावश्यक कर दिया जाए। ऐसा भावी शत्रु के हृदय में सैनिक शक्ति के प्रयोग को निरर्थक सिद्ध करके ही किया जा सकता है। युद्ध का राजनीतिक लक्ष्य भी न तो स्वयं शत्रु की भूमि पर अधिकार करना होता है और न ही शत्रु की सेनाओं का हनन करना, वरन् शत्रु के मस्तिष्क में वह परिवर्तन उपस्थित करना होता है, जो कि उसे विजेता की इच्छा के अनुसार कार्य करने को प्रेरित करे।

इसी कारण जब कभी भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रसंग में आर्थिक, वाणिज्य-सम्बन्धी, भूमि-सम्बन्धी अथवा सैनिक नीतियों का जिक्र होता है, तो उन आर्थिक नीतियों में, जो स्वयं में एक लक्ष्य है, तथा उनमें जो किसी राजनीतिक लक्ष्य की पूर्ति के हेतु सक्रिय हैं अर्थात् वे आर्थिक नीतियाँ, जिनका आर्थिक ध्येय वास्तव में दूसरे राष्ट्र की नीतियों पर नियन्त्रण प्राप्त करना मात्र है, अन्तर स्थापित करना आवश्यक है। स्विट्जरलैंड की संयुक्त-राज्य के प्रति निर्यात-नीति प्रथम श्रेणी में आती है, जबकि सोवियत रूस की पूर्वीय यूरोप के प्रति आर्थिक नीति दूसरी श्रेणी में आती है। इसी प्रकार से संयुक्त राज्य की लैटिन अमरीका एशिया व यूरोप के प्रति अनेक आर्थिक नीतियाँ हैं। यह अन्तर व्यावहारिक दृष्टिकोण से अत्यन्त महत्वपूर्ण है और इसकी विफलता के कारण ही नीतियों तथा जनमत में अनेक गड़बड़ियाँ होती रही हैं।

एक आर्थिक, वित्तीय, राज्यक्षेत्रीय अथवा सैनिक नीति का जो कि स्वयं अपने ही लक्ष्य से सचालित की जाती है, मूल्यांकन उसकी ही शब्दावली में किया जा सकता है। क्या वह आर्थिक अथवा वित्तीय दृष्टि से लाभदायक है अथवा नहीं? किसी भूमि-भाग को प्राप्त करने से विजेता राष्ट्र की जनसंख्या एवं आर्थिक परिस्थिति पर क्या प्रभाव पड़ेगा, अथवा उसके गृह-सम्बन्धी राजनीतिक संगठन पर क्या प्रभाव पड़ सकता है? सैनिक नीति के परिवर्तन के शिक्षा, जनसंख्या और घरेलू राजनीतिक प्रणाली पर क्या परिणाम होंगे? इस प्रकार की नीतियों से सम्बन्धित निर्णय उनकी स्वयं आन्तरिक योग्यता के आधार पर किए जाते हैं।

राजनीतिक शक्ति का अवमूल्यन

शक्ति की महत्त्वाकांक्षा, अन्य राजनीतियों के समान ही, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का विशिष्ट तत्त्व है। अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वास्तव में आवश्यक

तौर पर शक्ति-सघर्ष का रूप धारण कर लेती है। जबकि इस तथ्य को साधारण व्यवहार मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे मान्यता प्राप्त है, इसे अपनी घोषणाओ मे विद्वान् प्रचारक और यहाँ तक कि राजनीतिज्ञ बहुधा बहिष्कृत करते हैं। नेपोलियन के युद्ध के उपरान्त यूरोप के निरन्तर बढते हुए वर्गों मे यह विश्वास बढ गया है कि अन्तर्राष्ट्रीय मच पर होने वाला शक्ति-सघर्ष वास्तव मे एक समकालीन घटना है, जो कि उन कारणो की समाप्ति के साथ समाप्त हो जायेगी, जिन विशेष कारणो से वह उपजी है। श्री जरमी बेन्थम का विश्वास था कि उपनिवेशो के लिए होड़ ही अन्तर्राष्ट्रीय द्वन्द्व की जड है। उसका सरकारो को उपदेश था कि "अपने उपनिवेशो को स्वतन्त्र कर दो" और अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष एव युद्ध स्वय लुप्त हो जायेंगे[6]। स्वतन्त्र व्यापार के समर्थक श्री कोबडेन[7] (Cobden) व प्रधौन[8] (Praudhon) का विश्वास था कि व्यापार-सम्बन्धी रुकावटो को हटाकर ही राष्ट्रो के मध्य स्थायी समन्वय स्थापित किया जा सकता है और उससे शायद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति स्वय लुप्त हो जाए। कोब्डेन के कथनानुसार किसी भविष्य के चुनाव मे हम शायद उन लोगो पर "कोई वैदेशिक राजनीति नही" का सिद्धान्त लागू करके देखेंगे, जो किसी स्वतन्त्र चुनाव-क्षेत्र के प्रतिनिधि होना चाहेंगे[9]। उसके अनुयायियो के अनुसार पूँजीवाद अन्तर्राष्ट्रीय वैमनस्य तथा युद्ध की जड है। उनका विश्वास है कि अन्तर्राष्ट्रीय समाजवाद अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-सघर्ष को समाप्त करके स्थायी शान्ति स्थापित कर देगा। उन्नीसवी शताब्दी मे प्राय प्रत्येक स्थान के उदारवादी

6 Emancipate your Colonies (London Robert Heward, 1930)

7 स्वतन्त्र व्यापार! आखिर यह है क्या? क्यों न उन बन्धनों को तोड दिया जाय, जो राष्ट्रों में पार्थक्य स्थापित करते है। वे रुकावटें समाप्त कर देनी चाहियें, जिनके पीछे दम्भ, प्रतिशोध, नफरत व जलन की भावनायें पनपती हैं, जो अक्सर अपनी परिधि को तोड़कर देशों को रक्त की बाढ में डुबो देती हैं। स्वतन्त्र व्यापार ईश्वर का अन्तर्राष्ट्रीय कानून है। इसी कारण स्वतन्त्र व्यापार एव शान्ति दोनो मूलत एक ही लक्ष्य हैं। See speeches by Richard Cobden (London MacMillan & Co 1870), Vol I P. 79, Political writings (New York D Appleton & Co 1867) Vol II P 110, Letter of April 12, 1842 to Henry Ashworth, quoted in John Morley, Life of Richard Cobden (Boston Roberts Brothers 1881) P 154

8 हमें चाहिए कि हम चुंगी को समाप्त कर दें और इस प्रकार जनता की मैत्री का ऐलान कर दें, जिसमें उसकी एकता को मान्यता प्राप्त हो जाएगी और उसकी समानता की घोषणा हो जाएगी। Oeuvres Completes (Paris 1867) Vol I P 248

9 Quoted in A C.F Beales, A short History of English Liberalism, P. 195

विचारक इस विषय मे आपस मे सहमत थे कि शक्ति-संघर्ष एवं युद्ध एक निरंकुश सरकार की देन है और प्रजातन्त्र तथा संवैधानिक सरकार की निरंकुशतावाद तथा तानाशाही के विरुद्ध विजय तो प्राप्त होगी ही, साथ ही स्थायी शान्ति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग भी शक्ति-संघर्ष तथा युद्ध के विपरीत विजयी हो जायेंगे। इस उदारवादी दृष्टिकोण का वुडरो विल्सन सबसे प्रभावशाली एवं वाग्मी समर्थक था।

आधुनिक काल में राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र-संघ के द्वारा विश्व के पुनर्निर्माण के प्रयास भी इसी विश्वास से उत्पन्न हुए है कि अन्तर्राष्ट्रीय मंच से शक्ति-संघर्ष को समाप्त किया जा सकता है। इसीलिये सन् 1943 में मास्को परिषद् में, जिसने संयुक्त राष्ट्रसंघ की नींव डाली थी, सैक्रेट्री आफ स्टेट श्री कोरडल हल ने कहा था कि नया अन्तर्राष्ट्रीय संघ शक्ति-संघर्ष को समाप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग से एक नया युग प्रारम्भ करेगा[10]।

इंग्लैंड के राज्यमन्त्री श्री फिलिप नोयल बेकर ने हाउस ऑफ कामन्स के अधिवेशन मे सन् 1946 मे घोषणा की थी कि ब्रिटिश सरकार का यह निश्चय है कि वह संयुक्त राष्ट्रसंघ की संस्थाओं का शक्ति-संघर्ष समाप्त कर डालने का प्रयत्न करेगी, इस प्रकार प्रजातान्त्रिक उपायों से जनता की इच्छा सर्वव्यापक हो जायेगी[12]।

यद्यपि हम इन विचारधाराओं तथा उनसे उत्पन्न निष्कर्षों के बारे में आगे चल कर बहुत कुछ कहेंगे[13], यहाँ पर यह कहना पर्याप्त होगा कि शक्ति-संघर्ष समय व स्थान दोनों की ही परिधि मे सर्वदा के लिये अनुभव की तराजू पर सत्य प्रमाणित होता है। यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सम्पूर्ण इतिहास में विभिन्न सामाजिक आर्थिक व राजनीतिक परिस्थितियों के होते हुए भी राज्य एक दूसरे से सदा शक्ति-संघर्ष के लिए ही टकराते रहे है। यद्यपि मानव-शरीर रचना शास्त्र के ज्ञाताओं ने यह दर्शा दिया है कि कुछ आदिम लोग शक्ति की चाह से मुक्त है, परन्तु किसी ने अभी तक यह नहीं दर्शाया है कि उनकी मानसिक स्थितियों को किस प्रकार से सम्पूर्ण जगत् में पैदा किया जा सकता है, जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर से शक्ति-संघर्ष को समाप्त किया जा सके[13]? यदि कुछ लोगों को शक्ति की चाह से वंचित कर दिया जाये और अन्य

10 New York Times, November 19, 1943, P. 1.

11. House of Commons Debates (Fifth Series 1946) Vol. 419 P. 1262

12. आठवाँ भाग देखिये।

13 इस समस्या के विशद विवेचन के लिए देखिये Malcolm Sharp, "Aggression : A Study of Valves and Law" Ethics, Vol 57 No 4. Part II (July 1947)

लोगों को इसमें लिप्त रहने दिया जाय तो ऐसा करना निरर्थक सिद्ध होगा। यदि शक्ति की चाह समग्र विश्व से समाप्त नहीं की जा सकती तो व लोग जिन को इससे वंचित कर दिया गया है, उन बचे हुये लोगों की शक्ति का शिकार बन जायेंगे, जिनमें यह चाह वर्तमान है।

इस निष्कर्ष की इस तर्क द्वारा आलोचना की जा सकती है कि भूतकाल पर अवलम्बित निष्कर्ष विश्वसनीय नहीं होते और ऐसे निष्कर्ष वास्तव में सदा प्रगति व सुधार के शत्रु ही उपस्थित करते रहे हैं। यह आवश्यक नहीं है कि एक प्रकार की सामाजिक व्यवस्था जो भूतकाल में रही है, वही अनिवार्य रूप से भविष्य में भी कायम रहे। परन्तु परिस्थिति उस समय बदल जाती है जब कि हम सामाजिक व्यवस्था तथा संस्थाओं का विवेचन न करके उन प्राथमिक पाशविक मनोवैज्ञानिक लक्ष्यों का विश्लेषण करते हैं जिसके फलस्वरूप ही समाज का निर्माण होता है। जीवित रहने, अपनी जाति बढ़ाने तथा शासन करने के लक्ष्य हर मनुष्य में पाये जाते हैं।[14] उनकी आनुपातिक शक्ति उन सामाजिक परिस्थितियों पर अवलम्बित होती है, जो एक प्रकार के लक्ष्य को तो प्रोत्साहन देती हैं तथा दूसरे प्रकार के लक्ष्य का दमन करती हैं अथवा इनके स्पष्टीकरण को सामाजिक मान्यता से वंचित रखती है। दूसरी ओर वे अन्य लक्ष्यों को सामाजिक मान्यता के लिए प्रोत्साहित करती है। शक्ति के क्षेत्र में से ही यदि उदाहरण लिया जाय, तो हम देखेंगे कि प्रायः सभी समाज वध को समाज के अन्दर शक्ति प्राप्त करने के साधनों में निम्नतम मानते हैं, परन्तु सभी समाज युद्ध नामक शक्ति-संघर्ष में शत्रु को मारने का प्रोत्साहन देते हैं। जबकि तानाशाह अपने देश के लोगों में शक्ति की चाह को धिक्कारते हैं, प्रजातन्त्र में राजनीतिक शक्ति की होड़ को एक नागरिक कर्त्तव्य माना गया है। जहाँ पर आर्थिक क्षेत्र में एकाधिकारी संगठन मौजूद रहता है वहाँ आर्थिक शक्ति के लिये होड़ अनुपस्थित रहती है तथा होड़ वाले आर्थिक तरीकों में कुछ प्रकार के आर्थिक शक्ति के संघर्ष को अवैध घोषित कर दिया जाता है और अन्य प्रकार के संघर्षों को प्रोत्साहन दिया जाता है। टोकेवेली के कथन के आधार पर ओस्ट्रोगोरस्की ने कहा था कि अमरीकी लोगों के व्यसन राजनीतिक न होकर

14 मनोवैज्ञानिकों ने यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि दमन व शासन की प्रवृत्ति जानवरों में भी पाई जाती है जैसे मुर्गी व बंदर जो कि इच्छा तथा योग्यता के आधार पर सामाजिक पद शृंखला बना लेते हैं। See Warder Allee Animal Life and Social Growth, and The Social Life of Animals (New York W.W Norton and Co Inc 1938)

व्यापारिक होते हैं। उस जगत् में जिसका निर्माण बाकी है, शक्ति की लालसा मनुष्य की अपेक्षा वस्तुओं को अपना लक्ष्य अधिक बनाती है[15]।

इस तर्क के विरोध में जोकि अंतर्राष्ट्रीय शक्ति-संघर्ष को विशेष ऐतिहासिक परिस्थिति अथवा घटना की उपज मानता है, सबसे शक्तिशाली तर्क गृह-राजनीति के स्वभाव में ही ढूंढा जाना चाहिये जो कि विशेष सामाजिक परिस्थितियों से स्वतन्त्र है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का तत्त्व गृह-राजनीति के समान है। दोनों—घरेलू तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीतियों—में शक्ति-संघर्ष है, केवल अन्तर यह है कि वह विभिन्न परिस्थितियों में व्याप्त होता है।

विशेषतया शासन करने की प्रवृत्ति परिवार से लेकर प्रत्येक भ्रातृत्वपूर्ण, पेशेवर तथा स्थानीय राजनीतिक समुदायों से होती हुई राज्य तक व्याप्त है। पारिवारिक स्तर पर सास व बहू के लाक्षणिक द्वन्द्व में वास्तव में शक्ति-संघर्ष का रूप देखा जा सकता है, जिसमें एक दूसरे के विपरीत निर्धारित शक्ति-सन्तुलन स्थापित करना चाहता है। वास्तविकता में यह उस अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष की प्रतिच्छाया है, जिसमें वर्तमान स्थिति तथा साम्राज्यवादी नीतियों का द्वन्द्व व्याप्त है। विभिन्न सामाजिक क्लबों में, भाईचारे की संस्थाओं में, शिक्षा संस्थाओं में तथा व्यापारिक संघों में विभिन्न गुटों के मध्य शक्ति-संघर्ष निरन्तर दृष्टिगोचर होता रहता है, जिसमें एक गुट या तो उस शक्ति को कायम रखना चाहता रहता है जो उसके पास है अथवा अपनी शक्ति की वृद्धि में संलग्न रहता है। व्यापारिक संगठनों में आपस में प्रतिद्वन्द्विता तथा मजदूर व पूँजीपति के मध्य संघर्ष भी अक्सर आर्थिक लक्ष्यों के लिए नहीं वरन् एक दूसरे पर प्रभाव डालने की नीयत से प्रचलित होते रहते हैं, जोकि वास्तव में शक्ति-संघर्ष का ही एक रूप है। अन्त में एक राष्ट्र का पूर्ण राजनीतिक जीवन—विशेषरूप से प्रजातन्त्रात्मक राज्य का स्थानीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक का जीवन—निरन्तर शक्ति संघर्ष का दृश्य उपस्थित करता है। मध्यवर्ती चुनावों में संसद में वोट देने के समय, कानूनी झगड़ों में, शासन, निर्णय व कार्यकारिणी के कार्यों में, इन प्रत्येक कार्यों में मनुष्य अन्य मनुष्यों के ऊपर या तो शक्ति कायम रखना चाहते हैं अथवा स्थापित करना चाहते रहते हैं। जिन तरीकों से संसद, न्यायालय, कार्यकारिणी व शासनकर्त्ता अपने निर्णयों पर पहुँचते हैं, उनमें अनेक दबाव डालने वाले गुट उनके निर्णयों पर प्रभाव डालते रहते हैं, जो वास्तव में अपनी शक्ति की या तो रक्षा करना चाहते रहते हैं अथवा उसकी वृद्धि करना चाहते हैं। जैसा कि डेड सी के एक सूचीपत्र में वर्णित है :—

15 M Ostrogorsky. Democracy and the organisation of political parties (New York The Macmillan Co 1902) Vol. II p 592.

"कौन सा देश अपने से अधिक शक्तिशाली देश का दबाव पसन्द करेगा अथवा कौन अपनी सम्पत्ति को अन्यायपूर्ण रूप से लुटवाना चाहेगा ? परन्तु क्या कहीं पर भी कोई राष्ट्र है, जिसने अपने पड़ोसियों का दमन न किया हो ? या फिर जगत् में कहाँ पर ऐसे आदमी पाये जायेंगे, जिन्होंने दूसरे की सपत्ति न लूटी हो ?"

थ्यूसीडाइड्स के कथनानुसार देवताओं के बारे में तो हम जानते ही हैं और मनुष्यों के बारे में विश्वास करना पड़ता है कि उनके स्वभाव का यह एक आवश्यक नियम है कि जब जब उनकी सामर्थ्य होगी वे शासन करेंगे।[16]

और जॉन आफ सेलिसबरी के शब्दों में —

"यह सच है कि प्रत्येक व्यक्ति के भाग्य में राजनीतिक शक्ति नहीं होती, परन्तु ऐसा व्यक्ति जिसे अत्याचार न छू गया हो या तो बहुत ही विरला है अथवा उत्पन्न ही नहीं हुआ है। साधारण भाषा में हम अत्याचारी उसे कहते हैं, जो शक्ति के आधार पर अवलम्बित अपनी सरकार के द्वारा सम्पूर्ण जनता का दमन करता हो। यह आवश्यक नहीं है कि सदा सम्पूर्ण जनता के ऊपर ही एक दमनकारी अपना दमन दर्शाये, वरन् वह निम्नतम स्थिति वाले मनुष्यों का दमन अवश्य करेगा, क्योंकि यदि प्रत्येक व्यक्ति सम्पूर्ण जनता के ऊपर ऐसा नहीं कर सकता तो वहाँ तक अवश्य करना चाहेगा जहाँ तक उसका बस चलेगा[17]।

सामाजिक सम्बन्धों में सामाजिक सगठनों के अन्दर शक्ति-सघर्ष की इस सर्वव्यापकता के कारण यदि अतर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति-सघर्ष से परिपूर्ण है, तो यह क्या कोई आश्चर्य की बात है ? और फिर क्या यह आश्चर्य की बात न होगी यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शक्ति-सघर्ष स्थायी तत्त्व न होकर एक अस्थायी अथवा आकस्मिक तत्त्व होता, जबकि शक्ति-सघर्ष गृह-राजनीति के प्रत्येक अग का आवश्यक तथा स्थायी अग है ?

राजनीतिक शक्ति के घटने के दो मुख्य स्रोत

अतर्राष्ट्रीय मच पर शक्ति-तत्त्व के महत्त्व के ह्रास के दो मुख्य कारण रहे हैं :—एक तो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का वह दर्शन जिसका प्रभुत्व उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बहुत था और जो आज भी अतर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से

16. Thucydides, Book V P 105

17. John of Salisbury, policraticus, translated by John Dickinson (New York : Alfred A Knopf, 1927) VII P 17

जुड़ी विचारधाराओं म एक विशेष स्थान रखता है ,- दूसरे वे विशेष राजनीतिक व बौद्धिक परिस्थितिया जिनके अतर्गत सयुक्त राज्य अमरीका के वाह्य जगत् से सम्बन्ध स्थापित हुए है।

उन्नीसवी शताब्दी का दर्शन

उन्नीसवी शताब्दी म शक्ति-सघर्ष के प्रति अवमूल्यन का दृष्टिकोण गृह-राजनीति के अनुभव से उपजा था। इस अनुभव का प्रमुख लक्षण मध्यवर्ग का कुलीन वर्गों द्वारा दमन था। इस दमन को हर प्रकार व राजनीतिक दमन का रूप देकर उन्नीसवी शताब्दी का राजनीतिक दर्शन कुलीनतत्र के तिरस्कार के साथ ही साथ हर प्रकार की राजनीति के विरुद्ध हो गया। कुलीनतत्रात्मक सरकारो की पराजय के उपरान्त मध्यवर्ग ने अप्रत्यक्ष रूप से दमन का विकास कर लिया। उन्होंने शासक व शासित व परम्परागत वैषम्य को मिटाकर तथा हिंसात्मक सैनिक तरीको को बदल कर—जोकि कुलीनतत्रात्मक सरकार के प्रमुख लक्षण थे—अप्रत्यक्ष आर्थिक अवलम्बन की जजीरो मे सबको बाँध दिया। यह आर्थिक व्यवस्था वाह्य रूप से सामान्य व समानता से परिपूर्ण समतावादी वैध नियमो के जाल के अन्तर्गत सचालित होने लगी, जिस के आवरण म शक्ति-सम्बन्ध छिप गये। उन्नीसवी शताब्दी इन कानूनी सम्बन्धो की राजनीतिक प्रकृति को देख सकने मे असफल रही। वे बीती हुई राजनीति से अत्यन्त भिन्न प्रतीत होते थे। इसी कारण प्रत्यक्ष व हिंसापूर्ण कुलीनतत्रात्मक राजनीति को ही राजनीति का रूप मान लिया गया। उसी कारण गृह-राजनीति अथवा अतर्राष्ट्रीय राजनीति म होने वाला शक्ति सघर्ष एक ऐतिहासिक घटना मात्र प्रतीत हुआ, जो कि निरकुश सरकार का एक अग था और जो उसके समाप्त हो जाने के उपरान्त स्वय अपने आप समाप्त हो जाने को विवश था।

अमरीकी अनुभव

अमरीकी अनुभव से शक्ति-सघर्ष के निरकुश सरकार से समीकरण की पर्याप्त पुष्टि हुई। इस अनुभव का स्रोत तीन तत्त्वो मे खोजा जा सकता है—सर्वप्रथम अमरीकन प्रयोग की विलक्षणता, द्वितीय सम्पूर्ण उन्नीसवी शताब्दी मे विश्व द्वन्द्वो से अमरीकन महाद्वीप की विलगता और अन्त मे तीसरा तत्त्व है अमरीकन राजनीतिक विचारधारा का साम्राज्य विरोधी व मानवतावादी शान्तिवाद।

ब्रिटिश साम्राज्य से संवैधानिक विच्छेद के कारण अमरीकन वैदेशिक नीति यूरोप की सामान्य नीतियों से भिन्न रूप धारण करेगी, यह बात तो वाशिंगटन के विदाई-भाषण से ही ज्ञात हो जाती है। "यूरोप के कुछ प्राथमिक हित हैं, जिनसे हमें या तो कुछ भी नहीं अथवा न्यूनतम सरोकार है। इसी कारण वह तो उन वाद-विवादों में अक्सर उलझा रहेगा, जिनके कारण हमारे लिए वास्तव में अज्ञात रहेंगे। इसलिए यह हमारे लिए विवेक से परे होगा, यदि हम कृत्रिम बन्धनों द्वारा उनके साधारण झगड़ों के परिवर्तनों में अपने को जोड़ते रहें जो कि उनकी राजनीति में नित घटते रहेंगे अथवा उनकी साधारण गुटबन्दियों विरोधवादियों मित्रताओं व शत्रुता में उलझ जाय।" सन् 1796 में यूरोपीय राजनीति तथा शक्ति-संघर्ष अभिन्न थे। उस समय केवल यूरोपीय राजकुमारों की आपसी प्रतिद्वन्द्विता के अतिरिक्त और कहीं शक्ति-संघर्ष था ही नहीं। यूरोप की महत्वाकांक्षायें प्रतिद्वन्द्विताएँ, हित, विनोद तथा लोभ ही केवल अमरीकन दृष्टिकोण से अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-संघर्ष के द्योतक थे। इसी कारण यूरोपीय राजनीति से विराग, जैसाकि वाशिंगटन ने घोषणा की थी, का अर्थ शक्ति-संघर्ष से ही विराग माना जा सकता था।

तथापि, यूरोपीय राजनीतिक शक्ति-संघर्ष से विरक्ति अमरीका के लिए एक राजनीतिक कार्यक्रम के अलावा कुछ और भी था। कुछ सामयिक घटनाओं के होते हुए भी यह उन्नीसवीं शताब्दी का मान्य तथ्य था। यह तथ्य बाह्य भौगोलिक परिस्थिति के अलावा स्वयं का चुना हुआ मार्ग भी था। आम लेखक अमरीका की इस भौगोलिक स्थिति की विलक्षणता में ईश्वरीय प्रेरणा का प्रतिबिम्ब देखते होंगे, जिसके फलस्वरूप ही अमरीका का विराग व तटस्थता सम्भव थे। परन्तु उत्तरदायी लेखक वाशिंगटन के उपरान्त, इसकी भौगोलिक परिस्थिति तथा वैदेशिक नीति के निर्धारित लक्ष्य का संगम तथा भौगोलिक परिस्थिति को उस लक्ष्य की पूर्ति का माध्यम मानते आये हैं। वाशिंगटन ने हमारी दूर रहने की तथा तटस्थता की स्थिति की ओर संकेत करते हुए कहा था, "इस विशेष परिस्थिति के लाभ को क्यों छोड़ा जाय?" जब अमरीकन वैदेशिक नीति का यह अध्याय समाप्त हुआ, तो जॉन ब्राइट ने ऐलफ्रेड लव को लिखा था, "हमें आशा है कि तुम्हारे महाद्वीप के बढ़ते हुए करोड़ों लोग अब कभी युद्ध का रूप नहीं देखेंगे। कोई भी तुम पर आक्रमण नहीं कर सकता और तुम स्वयं अन्य राष्ट्रों के झगड़े से परे रहने को उत्सुक हो[18]।"

18 Quoted in Merle Curti, Peace and War The American Struggle 1636–1936 (New York , W. W. Norton and Co. 1936) p 122.

अमरीकन महाद्वीप के तट से नए ससार के नागरिक अतर्राष्ट्रीय शक्ति सघर्ष के दृश्य को देखते रहे जो कि यूरोप अफ्रीका व एशिया में प्रस्तुत हो रहा था। क्योंकि अपनी वैदेशिक नीति के फलस्वरूप प्राय उन्नीसवी शताब्दी के मुख्य भाग मे, वे दर्शन का रूप धारण करने म सफल हुए वे इस परिस्थिति का या तो स्वय निर्धारित अथवा स्वाभाविकतावश स्थायी परिस्थिति समझ बैठे जब कि यह वास्तव म एक अस्थायी ऐतिहासिक घटना मात्र थी। अधिक से अधिक वे दूसरो द्वारा सचालित शक्ति-सघर्ष को देखते रहे और सब से अच्छा तो यह होगा कि प्रजातत्र की विश्वव्यापी विजय का दिन समीप होगा जबकि राजनीतिक शक्ति-सघर्ष का नाटक समाप्त हो जायगा और फिर यह खेल कभी नही खेला जाएगा।

इस लक्ष्य की पूर्ति ही अमरीकन सदेश का अर्थ मान लिया गया था। राष्ट्र के सम्पूर्ण इतिहास मे अमरीकन राष्ट्रीय भाग्य को युद्ध विरोधी स्वतत्रता अभी मूल्यो मे समझा गया है। जहा भी राष्ट्रीय सदेश का अनाक्रमणकारी व तटस्थ रूप निखरता है जैसा कि श्री जान सी० कालहोन के राजनीतिक दर्शन म दिग्दर्शित होता है उसे गृह-स्वतत्रताओ का विकास माना गया है। तथापि हम अपने महाद्वीप पर स्वतत्रता का विकास करके हजारो विजयो से कही अधिक प्राप्त कर सकते हैं।' जब अमरीकन स्पेन युद्ध के दौरान सयुक्त राज्य अपने इन अ-साम्राज्यवादी व प्रजातान्त्रिक आदर्शों से हटता दीख रहा था, तो विलियम ग्राहम समनेर ने उसके तथ्यो का पुन इस प्रकार कहा था विस्तारवाद व साम्राज्य वाद प्रजातत्र पर एक बहुत बडा प्रहार हैं। विस्तारवाद व साम्राज्यवाद अमरीकन जनता की सबसे अच्छी परम्पराओ सिद्धान्तो व हितो के घोर विरोधी हैं[19]'। अमरीकन परम्परा के आदर्शों व यूरोपीय शक्ति-सघर्ष की तुलना करते हुए जार्ज वाशिंगटन के समान ही समनेर ने सोचा था कि दोनो एक दूसरे के विपरीत है परन्तु भविष्यवक्ता के रूप मे अमरीकन-स्पेन के युद्ध के अन्त मे उन्होने कहा था कि अमरीका निश्चय ही अब उस मार्ग का अनुसरण करने के लिए बाध्य हो गया है जिसने यूरोप को युद्ध व क्रांति के भँवर म ढकेल दिया है।

इसी कारण उन्नीसवी शताब्दी म राष्ट्रीय कार्यो के बारे मे साधारण धारणायें बनी तथा उन विशेष अमरीकी अनुभवो के तत्त्वो ने इस विश्वास को जन्म दिया कि शक्ति-सघर्ष म उलझने से बचना सभव है और उसमे उलझना एक ऐतिहासिक घटना मात्र है तथा राष्ट्र शक्ति सघर्ष अथवा सघर्ष रहित नीतियो के मध्य स्वेच्छा से अपनी नीति चुन सकते हैं।

19 "The Conquest of the United States by Spain," Essays of William Graham Sumner (New Haven Yale University Press, 1940) Vol II P 295

चौथा अध्याय

शक्ति-संघर्ष : तटस्थता की नीति

गृह तथा अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति-संघर्ष के ही दो रूप हैं। उनका प्रत्यक्ष रूप एक दूसरे से इस कारण भिन्न है, क्योंकि दोनों में विभिन्न नैतिक राजनीतिक तथा सामाजिक वातावरण वर्तमान रहता है। पाश्चात्य राष्ट्रीय समाज अपने अन्दर जो सामाजिक सामञ्जस्य प्रकट करते हैं, वह आपस के सम्बन्धों में नहीं करते। एक-सी संस्कृति, औद्योगिक एकता, बाह्य दबाव और अन्त में पद-श्रृंखलात्मक राजनीतिक संगठन के समावेश के कारण एक राष्ट्र की सामाजिक एकता उस दूसरे राष्ट्रों से पृथक् करती है। इसी कारण आंतरिक व्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होती है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की अपेक्षा गहन परिवर्तनों से मुक्त रहती है।

सम्पूर्ण इतिहास प्रकट करता है कि प्रत्येक राष्ट्र, जोकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संलग्न है, निरंतर युद्ध-रूपी हिंसा की तैयारी करता रहता है अथवा उसमें तीव्रता से उलझा रहता है अथवा उसके प्रभाव से अपने आप को दुबारा संभालता रहता है। दूसरी ओर पाश्चात्य प्रजातान्त्रिक राज्यों की गृह-राजनीति में राजनीतिक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए व्यापक रूप में प्राय हिंसा का प्रयोग अपवादस्वरूप ही रह गया है। परन्तु एक संभावना के रूप में वह फिर भी वर्तमान है और उसका भय क्रान्ति के रूप में राजनीतिक विचार व कर्म पर निरन्तर अपनी छाप डालता रहता है[1]। इस प्रकार गृह तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का अन्तर इस दिशा में मौलिक न होकर केवल स्तर का अंतर मात्र है।

हर राजनीति, चाहे वह गृह राजनीति हो अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति हो, उसके तीन आधारभूत रूप हैं। दूसरे शब्दों में सभी राजनीतिक घटनायें निम्नलिखित तीन आधारभूत रूपों में से किसी एक के अन्तर्गत रखी जा सकती हैं। राजनीतिक नीति या तो शक्ति को स्थायी रखने का प्रयत्न करती है या उसमें वृद्धि का प्रयत्न करती है या उसका प्रदर्शन करती है।

---

1 यह बात विशेषकर उन्नीसवीं शताब्दी के लिए और भी लागू होती है जैसा कि श्री गुग्लिमो फरेरो ने अपनी पुस्तक The Principles of Power में दर्शाया था।

इन तीन प्रकार के राजनीतिक रूपों के आधार पर ही अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में तीन विशेष प्रकार की नीतियों का उदय होता है। वह राष्ट्र, जिसकी वैदेशिक नीति शक्ति की रक्षा का प्रयत्न करती है और उसमें परिवर्तन नहीं चाहती, यथास्थिति की नीति अपनाता है। वह राष्ट्र जिसकी वैदेशिक नीति वर्तमान शक्ति-सम्बन्धों को परिवर्तित कर उसमें वृद्धि करना चाहती है, दूसरे शब्दों में अपनी शक्ति के स्थान पर अनुकूल परिवर्तन कराना चाहती है, साम्राज्यवादी वैदेशिक नीति का अनुसरण करता है। वह राष्ट्र जिसकी वैदेशिक नीति अपनी शक्ति का प्रदर्शन करना चाहती है (चाहे उसको स्थिर रखने अथवा बढ़ाने के लक्ष्य से) वह प्रतिष्ठा की नीति अपनाता है[2]। यह बात ध्यान देने की है कि ये वर्गीकरण वस्तुतः अस्थायी प्रकृति के हैं, जिनको और भी सुधारा जा सकता है[3]।

2 यदि कोई देश बल प्रयोग के बिना ही विवश होकर अपनी सत्ता छोड़ देता है, (जैसाकि इंगलैंड ने भारत के साथ सन् 1947 में किया अथवा संयुक्त राज्य ने कई बार लैटिन अमरीकन देशों के साथ किया) तो यह उपर्युक्त तीन प्रकार की अंतर्राष्ट्रीय राजनीतियों के रूप में विपरीत तथ्य नहीं है। इन सब परिस्थितियों में एक राष्ट्र उस फौजी कमाण्डर की भाँति कार्य करता है, जो किसी विशेष परिस्थिति में पीछे हटने का निर्णय करता है, या तो इस कारण कि उसका मोर्चा आवश्यकता से अधिक फैल गया है अथवा अपने यातायात के साधनों का जमाव हमले के लक्ष्य की दृष्टि से करना चाहता है। इसी प्रकार एक राष्ट्र अपनी सत्ता त्यागने का निर्णय तभी कर सकता है जब वह उसकी रक्षा करने में अधिक समय के लिये अपने को असमर्थ पाता है। या फिर वह एक प्रकार के नियन्त्रण के स्थान पर दूसरे प्रकार का नियन्त्रण, स्थापित कर सकता है, उदाहरणार्थ फौजी नियन्त्रण के स्थान पर राजनीतिक नियन्त्रण, अथवा राजनीतिक नियन्त्रण के स्थान पर आर्थिक नियन्त्रण, अथवा इसके विपरीत। या फिर वैदेशिक नीति के एक लक्ष्य परिवर्तन का अर्थ दूसरी ओर अधिक शक्ति लगाना हो सकता है। चाहे जो कुछ भी हो यदि वह सत्ता को अपने आप छोड़ देता है तो इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वह सत्ता में दिलचस्पी नहीं रखता। ठीक इसी तरह जैसे यदि एक फौजी कमाण्डर पीछे हटता है तो इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि वह फौजी विजय में दिलचस्पी नहीं रखता।

3 यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि ये अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तीन विशेष रूप आवश्यक तौर पर राजनीतिज्ञों की आंतरिक इच्छाओं से मेल नहीं खाते और न ही किसी वैदेशिक नीति के पक्षपातियों की इच्छा से। यह सम्भव है कि ऐसे पक्षपाती जिस नीति के पक्ष में हैं, उसके वास्तविक चरित्र के बारे में उन्हें स्वयं ज्ञान न हो, उदाहरणार्थ एक राष्ट्र की इच्छा तो तटस्थता की नीति का अवलम्बन करना है, पर अनजाने में वह साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करने लगे। जैसाकि अंग्रेजों के लिए कहा गया है कि उन्होंने इतना बड़ा साम्राज्य बिना सोचे विचारे आवेश में बना डाला। इस सन्दर्भ में इस पुस्तक में जो कुछ भी आगे चल कर कहा गया है, उसमें हमारा तात्पर्य नीतियों के वास्तविक चरित्र से है, न कि उनको सञ्चालित करने वालों के अभिप्रायों से।

'यथापूर्व स्थिति' (Status quo) का विचार वास्तव में उस कूटनीतिक शब्द 'स्टेट्स को एँटीबेलम' (यथापूर्व स्थिति) से उपजा है जो कि प्रायः शान्ति-संधियों में पाया जाता है, जिसमें यह शर्त रहती है कि शत्रु की सेनायें अपनी पुरानी राजसत्ता की सीमा में, उस राष्ट्र की भूमि से हट कर जिसमें वे घुस गई थी, वापिस हो जायेंगी। द्वितीय महायुद्ध में इटली[4] व बुलगेरिया[5] के साथ की गई शान्ति संधियों में ऐसा ही हुआ था। यह लिख दिया गया था कि 'मित्र व सहायक शक्तियों की फौजें यथासम्भव शीघ्र ही संधि के प्रारम्भ से नब्बे दिन के अन्दर ही सम्बन्धित राष्ट्रों की भूमि से हटा ली जायेंगी। जिसका अर्थ है कि विशेष समय की अवधि के अन्तर्गत उस विशेष भूमि में सम्बन्धित 'यथापूर्व स्थिति' स्थापित हो जाएगी।[6]

तटस्थता की नीति इतिहास के किसी विशेष समय में शक्ति के विशेष बटवारे को स्थिर रखने के लक्ष्य में यत्नशील रहती है। यह भी कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तटस्थता की नीति वही कार्य करती है जो गृह राजनीति में एक दक्षिणपंथी नीति करती है। इतिहास का वह विशेष समय जिसके संदर्भ में तटस्थता की नीति का वर्णन किया जाता है, अधिकतर किसी युद्ध का अन्त होता है जब कि शक्ति का वितरण किसी शान्ति संधि में कानूनी रूप पा जाता है। यह इस कारण होता है, क्योंकि शान्ति-संधियों का लक्ष्य युद्ध द्वारा लाए हुए शक्ति के नये वितरण को कानूनी रूप प्रदान करना होता है, ताकि शक्ति के नये वितरण का संतुलन कानूनी तरीकों द्वारा प्राप्त किया जा सके। इसीलिये तटस्थता की नीति की यह एक विशेष प्रवृत्ति होती है कि वह पिछले महायुद्ध से उपजे हुए शान्ति-समझौते के समर्थक के रूप में प्रकट होती है। जो यूरोपियन सरकारें तथा राजनीतिक दल सन् 1815 से 1848 तक तटस्थता की नीति के समर्थक थे, वे वास्तव में नेपोलियनिक युद्धों के उपरान्त 1815 के शान्ति समझौते के समर्थक थे। 'पवित्र मैत्री' का मुख्य लक्ष्य, जो कि सन् 1815 में इन सरकारों ने *बनाया था, यथापूर्व स्थिति'* को बनाये रखना था, जो कि नेपोलियनिक युद्ध के उपरान्त 1815 में स्थापित हुई थी, उस हैसियत से वे शान्ति संधि अर्थात् पेरिस की संधि के संरक्षक के रूप में कार्य करती रही।

4 See Article 73, New York Times January 18, 1947, p 26

5 See Article 20, *ibid* p 32

6 पुराने उदाहरणों के लिये देखिये **Coleman Phillipson, Termination of War and Treaties of Peace (New York E P. Dutton and Co. 1916) pp 223 ff.**

इस प्रसग मे 1815 की 'यथापूर्व स्थिति' की रक्षा के हेतु पेरिस-संधि तथा 'पवित्र-मैत्री' (Holy Alliance) का आपसी सम्बन्ध उसी प्रकार का है जोकि 1919 की शान्ति-सधियो का 1918 की 'यथापूर्व स्थिति' की रक्षा के हेतु राष्ट्र-सघ से था। प्रथम विश्व महायुद्ध के अन्त मे जो सत्ता-वितरण हो गया था, उसका कानूनी रूप 1919 की शान्ति-सधियो मे पाया गया। राष्ट्र-सघ का यह मुख्य ध्येय बन गया कि वह 1919 की सधियो पर आधारित 'यथापूर्व स्थिति' की रक्षा करके विश्व-शान्ति की रक्षा करे। राष्ट्र सघ की दसवी धारा के शब्दो म प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का यह कर्तव्य था कि "वह वर्तमान राजनीतिक स्वतत्रता तथा क्षेत्रीय स्वतन्त्रता की बाहरी आक्रमण से रक्षा करे," जिसका तात्पर्य वास्तव म 1919 की सधियो के अन्तर्गत प्राप्त 'यथापूर्व स्थिति' की रक्षा करना था। इसी कारण दोनो विश्व महायुद्धो के मध्य प्रमुख सघर्ष 'यथापूर्व स्थिति' के पक्ष अथवा विपक्ष मे था, जिसे या तो राष्ट्र-सघ की दसवी धारा के अतर्गत वारसाई सन्धि की भूमि-सम्बन्धी धाराओ का पक्ष लेना था अथवा उसका विरोध करना था। 1919 मे स्थापित 'यथापूर्व स्थिति' के विरुद्ध राष्ट्रो के लिए यह स्वाभाविक था कि वे राष्ट्र-सघ से अपना सम्बन्ध विच्छेद करते, जैसा कि जापान ने 1932 मे, जर्मनी ने 1933 मे व इटली ने 1937 मे किया।

केवल शान्ति-सधियो तथा उनके पक्ष मे की गई अतर्राष्ट्रीय सन्धियो मे ही तटस्थता की नीति का प्रकाशन नही होता। जो राष्ट्र एक विशेष प्रकार के शक्ति के वितरण को बनाए रखना चाहते हैं, वे इस लक्ष्य की पूर्ति के हेतु विशेष प्रकार की सधियो का साधन अपनाते हैं जैसे 'चीन से सम्बन्धित समस्याओ और सिद्धान्तो से सम्बन्धित नौ शक्तियो की सधि', जो वाशिंगटन म 7 फरवरी 1922 को की गई थी या फिर 'आपसी गारन्टी की सधि' जो कि जर्मनी, बेलजियम, फ्रास, ग्रेट ब्रिटेन व इटली के मध्य 16 अक्तूबर 1925 को लोकार्नो मे हस्ताक्षरित की गई थी।

नौ शक्ति-सधि ने अमरीकन 'खुले द्वार' की नीति को बदल कर उन देशों की सामूहिक नीति मे परिवर्तित कर दिया, जो कि चीन से व्यापार करने मे दिलचस्पी रखते थे। उसमे उन सबने तथा चीन ने इस सधि को बनाये रखने की प्रतिज्ञा की थी। उसका मुख्य ध्येय चीन से सम्बन्धित इन राष्ट्रो के उस समय के आनुपातिक शक्ति वितरण को सतुलित करना था। इसका अर्थ यह था कि जो विशेषाधिकार कुछ राष्ट्रो ने, विशेष रूप से ग्रेट ब्रिटेन व जापान ने, चीन की भूमि मे हस्तगत कर लिए थे, (जैसे मञ्चूरिया व अनेक बन्दरगाह) वे न केवल अपने स्थान पर कायम ही रहे, वरन् यह भी स्पष्ट

किया गया कि समझौता करने वाले राष्ट्र को चीन द्वारा अब कोई विशेषाधिकार नहीं दिये जायेंगे।

आपसी गारन्टी की लोकारनो-संधि का उद्देश्य 1918 मे यथापूर्व स्थिति की उस आम गारंटी की पुष्टि था, जो राष्ट्र-संघ की दसवी धारा मे निर्दिष्ट था। उसमे भी विशेषतया जर्मनी की पश्चिमी सीमा से सम्बन्धित गारन्टी थी। संधि की प्रथम धारा, विशेषकर उस गारन्टी की ओर संकेत करती है, जिसके अनुसार जर्मनी व फ्रांस तथा जर्मनी व बेलजियम के मध्य भूमि की 'यथापूर्व स्थिति' बनाये रखने की स्थापना थी।

मैत्री की संधियो का तो अधिकतर तथा विशेषकर यही कार्य होता है कि किसी पक्ष की 'यथापूर्व-स्थिति' को कायम रखा जाए, उदाहरणार्थ फ्रांस के विरुद्ध युद्ध मे विजयी होने के उपरान्त तथा जर्मन साम्राज्य की सन् 1871 मे स्थापना के बाद, बिस्मार्क ने जर्मनी की यूरोप मे नई प्रभुत्वकारी स्थिति को कायम रखने की नीयत से मित्रता की संधियाँ की, ताकि फ्रांस बदले का युद्ध न छेड सके। सन् 1879 मे जर्मनी व आस्ट्रिया ने आपस मे रूस के विरुद्ध सुरक्षा की मैत्री-संधि की तथा सन् 1894 मे फ्रांस व रूस ने आपस मे जर्मन-आस्ट्रिया के गुट के विरुद्ध सुरक्षा की संधि की। प्रमुख विश्व-महायुद्ध की अग्नि इसी आपसी भय के कारण भडक उठी, क्योकि दोनो प्रतिद्वन्द्वी एक दूसरे के प्रति शकित थे कि कही शत्रु बाह्य रूप से शान्ति की रक्षा का बाना बनाये हुए वास्तविक रूप से 'यथापूर्व स्थिति' को परिवर्तित करने की चेष्टा न कर बैठे।

दोनो विश्व-महायुद्धो के मध्य के समय मे जो मैत्री-संधियाँ फ्रांस ने सोवियत यूनियन, पोलैंड, चेकोस्लोवेकिया, यूगोस्लेविया तथा रूमानिया से स्थापित की, उनका लक्ष्य 'यथापूर्व स्थिति' को कायम रखना था, विशेष रूप से जर्मनी द्वारा उनको परिवर्तित करने की सभावना को दूर रखना था। यही लक्ष्य सोवियत रूस व चेकोस्लोवेकिया, यूगोस्लेविया व रूमानिया तथा चेकोस्लोवेकिया व यूगोस्लेविया की आपसी संधियो का था। परीक्षा होने पर इन संधियो की कार्य-विफलता 1935 से 1939 के मध्य तब प्रमाणित हुई थी, जब जर्मनी ने सन् 1939 मे पोलैंड पर आक्रमण किया था। 5 अप्रैल, 1939 की ब्रिटिश-पोलैंड मैत्री-संधि इस दिशा मे युद्ध के पूर्व अन्तिम प्रयास था, जिसके फलस्वरूप जर्मनी की पूर्व की सीमा पर 'यथापूर्व स्थिति' रखने का प्रयत्न किया गया था। आज भी जो मैत्री-संधियाँ सोवियत यूनियन ने पूर्वी यूरोपीय देशो के साथ की है तथा जो सन्धियाँ पश्चिमी यूरोप के देशो ने आपस मे तथा संयुक्त राज्य के साथ की हैं, उन सब का लक्ष्य अपने-अपने

प्रदेशों में द्वितीय विश्व महायुद्ध के उपरान्त शक्ति-वितरण के आधार पर स्थापित 'यथापूर्व-स्थिति' को बनाये रखना है।

यथापूर्व स्थिति (Status quo) की नीति का वह स्पष्टीकरण जिसका महत्व संयुक्त राज्य के लिए सब से अधिक रहा है तथा जो उसकी वैदेशिक नीति का आधार रहा है मनरो सिद्धान्त कहलाता है। संयुक्त राज्य के प्रधान श्री मनरो के दो दिसम्बर सन् 1823 के वार्षिक संदेश में, जोकि उन्होंने अमरीकन कांग्रेस के नाम भेजा था, एक एकतरफा घोषणा के रूप में यथापूर्व-स्थिति की नीति के दो प्रमुख सिद्धान्त स्थापित किये। एक ओर तो उसका उद्देश्य संयुक्त राज्य की ओर से पश्चिमी गोलार्ध में वर्तमान शक्ति वितरण को मान्यता प्रदान करना था यथा—"किसी भी यूरोपीय शक्ति के वर्तमान उपनिवेश अथवा अधीन देशों के मामलों में न तो हमने हस्तक्षेप किया है और न हम भविष्य में करेंगे ही।' दूसरी ओर, उसका उद्देश्य संयुक्त-राज्य द्वारा किसी भी अमरीकन शक्ति वितरण को बदलने की कोशिश के विरोध की घोषणा करना था। "परन्तु उन सरकारों के लिए, जिन्होंने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी है और उसे कायम रख रहे हैं—यदि कोई भी यूरोपीय-शक्ति उनके दमन की नीयत से उनके भाग्य के नियन्त्रण का किसी भी प्रकार प्रयत्न करेगी, तो संयुक्त राज्य इसको उसके स्वयं के प्रति एक अमैत्रीपूर्ण रुख के रूप के अतिरिक्त और किसी रूप में नहीं ग्रहण करेगा।" जैसाकि प्रेसीडेंट डी० रूजवेल्ट ने सन् 1933 की 12 अप्रैल को पैन-अमरीकन एकता की गासन-कमेटी को संदेश देते हुए कहा था "मनरो सिद्धान्त का लक्ष्य किसी भी गैर-अमरीकन शक्ति द्वारा इस गोलार्ध में किसी भी युक्ति द्वारा भूमि हस्तगत करना अथवा उस पर नियन्त्रण प्राप्त करने की इच्छा का विरोध करना था और अब वह भी है।"

हम कह चुके हैं कि तटस्थता की नीति इतिहास के किसी भी विशेष समय में वर्तमान शक्ति-वितरण को स्थायी रखना अपना लक्ष्य समझती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि तटस्थता की नीति किसी भी प्रकार के परिवर्तन के प्रति अवश्य ही विरुद्ध होती है, जब कि यह नीति अपने आप में परिवर्तन के विरुद्ध नहीं है, परन्तु यह नीति उस परिवर्तन के विरुद्ध है जो दो अथवा अधिक राष्ट्रों के मध्य वर्तमान शक्ति वितरण को बदलता है, उदाहरणार्थ जो परिवर्तन 'अ' को प्रथम स्तर की शक्ति से घटा कर दूसरे स्तर की शक्ति बनाता है अथवा 'ब' को 'अ' के पहले से अधिक महत्वपूर्ण स्थान पर ला देता है। छोटे मोटे शक्ति-वितरण के सुधार, जो कि राष्ट्रों के आपसी शक्ति-अनुपात तथा सम्बन्ध को नहीं छूते, तटस्थता की नीति की सीमा के पूर्णतः

भीतर हैं। उदाहरणार्थ, सन् 1867 में संयुक्त राज्य द्वारा रूस से अलास्का की भूमि की खरीद ने 'यथापूर्व-स्थिति' पर कोई असर नहीं डाल पाया, क्योंकि उस समय के यातायात की टैकनीक तथा युद्ध के तरीकों के संदर्भ में संयुक्त राज्य द्वारा उस समय की इस दुर्गम भूमि का प्राप्त करना किसी खास सीमा तक रूस व अमरीका के मध्य आपसी शक्ति-सम्बन्ध में कोई भेद नहीं डालता था।

इसी प्रकार डेनमार्क से सन् 1917 में वर्जिन-द्वीप, संयुक्त राज्य ने हस्तगत किए, उसका तात्पर्य केन्द्रीय अमरीकन गणतन्त्रों के मध्य 'यथापूर्व स्थिति' को बदलने का तनिक भी इरादा नहीं था। यह सच है कि वर्जिन द्वीप को प्राप्त कर लेने से पनामा नहर की रक्षा के हेतु संयुक्त राज्य की स्थिति को काफी मात्रा में बढ़ावा मिल गया, परन्तु उससे संयुक्त राज्य और केन्द्रीय अमरीकन गणतन्त्रों के आनुपातिक शक्ति-सम्बन्ध में कोई अन्तर नहीं पड़ा। वर्जिन द्वीप की प्राप्ति ने संयुक्त राज्य की कैरेबियन स्थिति को काफी सुदृढ़ कर दिया, जो कि पहले से ही काफी प्रभुत्व सम्पन्न थी, परन्तु क्योंकि इसने उस स्थिति को जन्म नहीं दिया था, इसी कारण वह 'यथापूर्व-स्थिति' की पूर्णत परिधि में था। बल्कि हम यह भी कह सकते हैं कि संयुक्त राज्य के केन्द्रीय अमरीकन गणतन्त्रों के ऊपर प्रभुत्व को और भी शक्तिमय बना कर इसने वर्तमान में स्थित शक्ति-वितरण को शक्तिशाली करते हुए तटस्थता की नीति के लक्ष्यों की पूर्ति की।

पाँचवाँ अध्याय

शक्ति-संघर्ष : साम्राज्यवाद

साम्राज्यवाद क्या नहीं है ?

वर्जिन द्वीप का संयुक्त राज्य द्वारा हासिल किये जाने का एक वाह्य तथा निःस्वार्थ अध्ययन यह दिग्दर्शित करता है कि यह कार्य वास्तव में उस भौगोलिक क्षेत्र से सम्बन्धित तटस्थता तथा यथापूर्व-स्थिति कायम रखने की नीति का ही एक अंग था। परन्तु फिर भी कुछ निरीक्षकों द्वारा इसको तथा केरेबियन में संयुक्त राज्य के प्रत्येक कार्य को साम्राज्यवादी कह कर हीन घोषित किया गया है। ऐसे निरीक्षकों ने "साम्राज्यवादी" शब्द को किसी वैदेशिक नीति के रूप का वर्णन करने की नीयत से प्रयुक्त नहीं किया है, बल्कि उस नीति की अवमानना के लक्ष्य में किया है जिसके वे स्वयं विरोधी रहे हैं, ताकि उसकी प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचे। इस शब्द का विवाद-सम्बन्धी उद्देश्यों के लिए निधड़क प्रयोग इस सीमा तक बढ़ गया है कि आज 'साम्राज्यवादी' व "साम्राज्यवाद" शब्दों का प्रयोग अत्यंत व्यापक बन गया है कि इनको किसी भी वैदेशिक नीति से जड़ दिया जाता है, चाहे उसका वास्तविक चरित्र कुछ भी क्या न हो, केवल इसीलिये कि प्रयोगकर्त्ता उस नीति के स्वयं विरुद्ध हैं।

अंग्रेजों से घृणा करने वाले सन् 1960 के ब्रिटिश-साम्राज्यवाद को एक वास्तविकता के रूप में प्रदर्शित करेंगे, जैसाकि वे सन् 1940 अथवा 1914 में करते थे। रूस से घृणा करने वाले रूस की वैदेशिक नीति के कार्यों के कारण उसे साम्राज्यवादी कहेंगे। सोवियत रूस द्वितीय विश्व-महायुद्ध में भाग लेने वाले सभी राष्ट्रों को साम्राज्यवादी लक्ष्य से प्रेरित होकर लड़ने वालों की दृष्टि से देखता रहा था, जब तक कि उस पर स्वयं सन् 1941 में जर्मनी ने आक्रमण न कर दिया और तदुपरान्त जो युद्ध उसे स्वयं लड़ना पड़ा वह उसकी दृष्टि में साम्राज्य-विरोधी युद्ध का रूप ले गया। संयुक्त-राज्य के आलोचकों तथा शत्रुओं के लिए हर स्थान पर "अमरीकन साम्राज्यवाद" एक पारिभाषिक शब्द बन गया है, और शंका में वृद्धि तो इससे और भी होती है कि कुछ विशेष आर्थिक व राजनीतिक पद्धतियाँ तथा आर्थिक गुटों यथा बैंक-स्वामियों तथा उद्योग-पतियों इत्यादि को, बिना प्रभेद किये, साम्राज्यवादी वैदेशिक नीतियों से मिला दिया जाता है।

बिना सोचे इस प्रयोग के कारण "साम्राज्यवाद" शब्द ने अपने अर्थ ही गंवा दिए हैं। प्रत्येक व्यक्ति जो किसी की वैदेशिक नीति से अनिच्छित कोई अन्य वैदेशिक नीति अपनाता है, वह उस व्यक्ति की दृष्टि में साम्राज्यवादी है। ऐसी परिस्थितियों में गम्भीर अध्येताओं का यह कर्तव्य हो जाता है कि साधारण प्रयोगों की परिधि को लाँघकर इस शब्द को नैतिक स्तर पर एक निष्पक्ष वस्तुपरक तथा निश्चित अर्थ प्रदान करें जो कि साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक अध्ययन में सहायक हों[1]।

इससे प्रथम कि हम यह पूछें कि वास्तव में साम्राज्यवाद क्या है हम यह प्रश्न करना चाहिए कि साम्राज्यवाद वह क्या नहीं है, जिसे सामान्यतया अधिकतर लोग साम्राज्यवाद समझ बैठते हैं? निम्नलिखित तीन प्रमुख भ्रम हमारे ध्याना-कर्षण के योग्य हैं —

(1) वह हर वैदेशिक नीति जो किसी राष्ट्र की शक्ति में वृद्धि के लक्ष्य से संचालित है आवश्यकतावश अथवा स्वभावतः ही साम्राज्यवाद का उदाहरण नहीं होती। हमने इस भ्रान्तिपूर्ण विचार का निराकरण यथापूर्व स्थिति की नीति के अंतर्गत पहले ही कर रखा है। हमने साम्राज्यवादी वैदेशिक नीति की इस प्रकार परिभाषा की है कि यह वह नीति है जो यथापूर्व स्थिति को पलट देने का प्रयत्न करती है अर्थात् दो अथवा दो से अधिक राष्ट्रों के बीच के शक्ति सम्बन्ध को बदल देने का प्रयत्न करती है। एक नीति जो कि शक्ति सम्बन्धों के तत्वों को अछूता रखते हुए उनके अन्तर्गत ही सामंजस्य ढूंढती है, वह वास्तव में यथापूर्व स्थिति की परिधि के अन्दर ही कार्यान्वित होती रहती है।

यह विचार कि साम्राज्यवाद तथा जानबूझ कर शक्ति-वृद्धि एक ही बात है, विशेषतया दो तरह के वर्गों द्वारा प्रकट होता है। जो लोग किसी विशेष राष्ट्र के तथा उसकी नीति के सैद्धान्तिक रूप में विरोधी हैं (उदाहरणार्थ इंग्लैण्ड-विरोधी रूस-विरोधी व अमरीका विरोधी) वे अपने वैमनस्य के विषय के वर्तमान होने को

---

1 इस शब्द का अक्सर औपनिवेशिक विस्तार के पर्यायवाची के रूप में भी प्रयोग किया जाता रहा है। उदाहरणार्थ Parker Thomas Moon, की पुस्तक Imperialism and World Politics (New York The MacMillan Co 1926) में ऐसा ही है।

इस प्रकार का प्रयोग उस समय तक सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से आपत्तिरहित है जब तक कि औपनिवेशिक विस्तार की चर्चा द्वारा किसी विशेष सैद्धान्तिक विचार शृंखला को इसमें अन्तर्निहित करने का प्रयास नहीं किया जाता, क्योंकि इस पुस्तक में हमारा चिन्तन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विकास के साधारण अध्ययन से सम्बन्धित है। यह स्पष्ट है कि औपनिवेशिक विस्तार से सम्बन्धित विचार हमारे ध्येय के लिए कितना सीमित रह जाता है?

ही विश्व शान्ति के लिए भय मानते हैं। जब कभी भी वह देश जिसमें भय है, अपनी शक्ति में वृद्धि करने की चेष्टा करता है, तो वे लोग जो उससे डरते हैं, उस शक्ति-वृद्धि को विश्व विजय का प्राथमिक सोपान समझते हैं अर्थात् उसे साम्राज्यवादी नीति का उदाहरण मानते हैं। दूसरी ओर उन्नीसवीं शताब्दी के राजनीतिक दर्शन के उत्तराधिकारी प्रत्येक गतिशील वैदेशिक नीति को एक आवश्यक बुराई मान कर चलते हैं जो भविष्य में तो मिट ही जायेगी परन्तु जो केवल इस कारण निन्दनीय समझी जानी चाहिये, क्योंकि उसका लक्ष्य शक्ति-वृद्धि होता है। वे ऐसी वैदेशिक नीति को अपने सम्मुख सबसे बुरी वस्तु अर्थात् साम्राज्यवाद का स्वरूप मानते हैं।

(2) प्रत्येक वह वैदेशिक नीति, जिसका लक्ष्य किसी वर्तमान साम्राज्य की रक्षा करना है, साम्राज्यवादी नहीं होती है। यह साधारण धारणा है कि जब कभी कोई राष्ट्र, जैसे ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस सोवियत रूस अथवा संयुक्त-राज्य अपनी प्रभुत्व-सम्पन्न स्थिति को स्थायी रखने के हेतु युद्ध करता है, तो वह सब युद्ध साम्राज्यवादी है। इस प्रकार किसी वर्तमान साम्राज्य की सुरक्षा, स्थायित्व व संतुलन को स्थायी रखने को ही साम्राज्यवाद का रूप मान लिया जाता है, न कि उस गतिमय पद्धति को, जिसके द्वारा एक नया साम्राज्य स्थापित किया जाता है। फिर भी इन वर्तमान साम्राज्यों की गृह-नीति के संदर्भ में 'साम्राज्यवाद' शब्द का प्रयोग असंगत न होगा, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के संदर्भ में उसका प्रयोग भ्रमात्मक व त्रुटिपूर्ण ही होगा, क्योंकि यह नीति वास्तव में तटस्थ व दक्षिणपंथी होती है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में साम्राज्यवाद तटस्थता की नीति से इस अर्थ में ही भिन्न है कि वह गतिमान नीति है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का इतिहास इस प्रसंग में उदाहरण के लिए उल्लेखनीय है।

ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विचार ग्रेट ब्रिटेन में ही उपजा था। इसका प्रयोग सर्वप्रथम डिसरैली के नेतृत्व में दक्षिण-पंथी दल ने सन् 1874 के चुनाव-आन्दोलन के मध्य किया था। दक्षिण पंथियों के अनुसार ब्रिटिश साम्राज्यवाद का विचार, जो कि डिसरैली ने पहले-पहल सोचा था और जिसे जोसफ चेम्बरलेन व विन्स्टन चर्चिल ने बाद में विकसित किया था, उदार-वादियों के विश्व-वाद व अन्तर्राष्ट्रवाद का विरोधी विचार था। इसका ठोस उदाहरण "साम्राज्यवादी संघ" के कार्यक्रम में मिला था। इस कार्यक्रम के प्रमुख तथ्य निम्नलिखित थे —

1. संरक्षण की शुल्क-पद्धतियों (tariffs) द्वारा सम्पूर्ण ग्रेट-ब्रिटेन व उसके आधिपत्यों का एकीकरण व सामंजस्य द्वारा एक संयुक्त साम्राज्य के रूप में गठन।
2. अंग्रेजों के लिए स्वतन्त्र उपनिवेश-भूमि सुरक्षित रखना।

3 संयुक्त फौज रखना।
4 एक केन्द्रीय प्रतिनिधि-संस्था की लन्दन में स्थापना करना।

जिस समय इस "साम्राज्यवादी" प्रोग्राम को बनाया गया तथा लागू किया गया था, उस समय तक ग्रेट ब्रिटेन का भूमिगत विस्तार समाप्ति पर पहुँच चुका था। तो फिर ब्रिटिश 'साम्राज्यवाद' की योजना वास्तव में विस्तार की योजना न होकर सुदृढ़ता की योजना थी। इसका उद्देश्य, जो कुछ हासिल कर लिया गया था, उसको सुरक्षित रखना व उसका उपभोग करना था। इसके द्वारा उस शक्ति-विभाजन को सतुलित करना था जो कि ब्रिटिश साम्राज्य के उदय के उपरान्त उपस्थित हो गया था।

जब किपलिंग ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के समर्थन हेतु "गोरों का बोझ" (*the whiteman's burden*) का तर्क दिया था, उस समय तक यह बोझ वास्तव में उसके कंधे तक आ गया था। सन् 1870 के उपरान्त ब्रिटिश साम्राज्यवाद—अर्थात् अपने औपनिवेशिक प्राप्यों के सदर्भ में ब्रिटिश वैदेशिक नीति—वास्तव में स-मान्य स्थिति की नीति थी, न कि अपने सही अर्थों में साम्राज्यवादी। तथापि, ग्रेट ब्रिटेन के साम्राज्यवाद के विरोधीगण तथा अन्य साम्राज्यवाद-विरोधी भी डिसरैली तथा चैम्बरलेन के साम्राज्यवादी नारों को उनके शाब्दिक अर्थों में मानकर अथवा साम्राज्यवाद के प्रभाव को साम्राज्यवाद मानकर ब्रिटिश नीति का विरोध करते रहे, खास तौर से उनकी उस नीति का जो कि भारत तथा अफ्रीका में शोषण तथा उपभोग के लक्ष्य को इंगित करती रही। वास्तव में, जब सन् 1942 में चर्चिल ने 'ब्रिटिश साम्राज्य के समापन-समारोह में सभापतित्व करने से इन्कार किया था', तो वह एक साम्राज्यवादी की हैसियत से नहीं, वरन् वैदेशिक मामलों में एक दक्षिण-पंथी की हैसियत से बोल रहा था—एक साम्राज्य के संरक्षक के रूप में।

ब्रिटिश "साम्राज्यवाद" व उसके विरोधी-गण, साम्राज्यवाद व साम्राज्य की सुदृढ़ता व सुरक्षा के मध्य की भ्रान्ति का विलक्षण उदाहरण है। जब कभी-भी हम रोमन साम्राज्य व रोमन साम्राज्यवाद के बारे में सोचते हैं, तो हमारा तात्पर्य रोमन इतिहास के उस पृष्ठ से होता है, जो रोमन साम्राज्य के प्रथम बादशाह अगस्टस से सम्बन्धित है। फिर भी जिस समय अगस्टस ने राम व उसकी अधिकृत भूमियों को साम्राज्य का सविधान प्रदान किया था, उस समय तक रोम का विस्तार अपनी अन्तिम सीमा तक पहुँच चुका था। वास्तव में गणतंत्र की वैदेशिक नीति प्यूनिक युद्ध से लेकर जूलियस सीज़र के हटाये जाने तक पूर्णतः साम्राज्यवादी रही थी। उस युग में विश्व का राजनैतिक रूप परिवर्तित करके रोमन बना दिया गया था। सम्राटों की विदेशी नीति तथा निरन्तर युद्ध की प्रवृत्ति

पूर्व विजित क्षेत्रों की रक्षा के लक्ष्य से गूँथी हुई थी। ब्रिटेन की डिसरैली से लेकर चर्चिल तक की सचालित साम्राज्यवादी वैदेशिक नीति की तरह वह भी वास्तव में दक्षिण पथी नीति थी जिसका ध्येय यथापूर्व स्थिति बनाये रखना ही था। जब कभी विजय प्राप्त होती थी जैसाकि टैंजैन के अन्तर्गत था तो भी ये नीतियाँ रोमन साम्राज्य की प्रभुसत्ता व साम्राज्य की सुरक्षा के लक्ष्य से ही प्रेरित था।

यह बात अमरीकन साम्राज्यवाद की बीसवी शताब्दी के प्रारंभ से द्वितीय विश्व-महायुद्ध तक भूमि-सम्बन्धी नीति पर लागू होती है। अमरीकन साम्राज्यवाद के पक्ष व विरोध में जो बड़ा तर्क वितर्क इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चलता रहा वह वास्तव में उन्नीसवी शताब्दी में बड़े साम्राज्यवादी विस्तार के उपरान्त प्रारंभ हुआ था। जो नीति तर्क वितर्क का विषय बन गयी थी, वह वास्तव में सुदृढता की नीति थी दूसरे शब्दों में सुरक्षा शायद अर्थात् यथापूर्व स्थिति की ही नीति थी। जब सन 1898 में विलियम ग्राहम समनर ने अमरीका का क्षत्रीय विस्तार की नीति को स्पेन द्वारा सयुक्त राज्य की विजय' कहा था तो वास्तव में जिस नीति की उसने चर्चा की थी वह अपनी पूर्णता प्राप्त कर चुकी थी। जब मिनस्टर एलबर्ट जे० बेवरिज ने कहा था ईश्वर ने हमको इस योग्य बनाया है कि हम असभ्य तथा मूढ लोगो पर शासन करें, तो उसने किए हुए उस दमन को न्यायसंगत प्रमाणित करने का प्रयत्न किया था उसने भविष्य में किसी विस्तार की योजना का समर्थन नहीं किया था।

इस प्रकार दोनों ही जगह ग्रेट ब्रिटेन व संयुक्त राज्य में—जो आधुनिक तर्क वितर्क साम्राज्यवाद के पक्ष अथवा विपक्ष में चला, वह वास्तव में साम्राज्यवादी विस्तार के उपरान्त हुआ। भविष्य में वास्तविक रूप से क्या नीति ग्रहण करनी होगी इस प्रश्न के सदर्भ में यह तर्क वितर्क वास्तव में साम्राज्यवादी नीति के परिणाम से सम्बन्धित था प्रधान साम्राज्य की रक्षा व शासन में। इसका कारण ढूँढना मुश्किल नहीं है। यह महान् वाद विवाद ग्रेट ब्रिटेन में उस समय प्रारम्भ हुआ जब कि दक्षिण—पथी तथा ने ब्रिटिश साम्राज्य को आदर्श रूप प्रदान करने का प्रयत्न किया जो कि महाद्वीप के राष्ट्रवाद का अग्रेजी रूप था। ब्रिटिश साम्राज्य एक औपनिवेशिक साम्राज्य था और इस रशियन में वह आधुनिक साम्राज्य के प्रतिनिधित्व का रूप धारण कर गया।

2 सीनेट में 9 जनवरी 1900 का भाषण जो कि Ruhl J Bartlett की पुस्तक The Record of American Diplomacy (New York Alfred A Knopf 1947) P 388 पर छपा था

इसी के कारण उपनिवेशों को प्राप्त करके उनका शोषण करना साम्राज्य का पर्यायवाची शब्द बन गया, जिसके अर्थों को, यदि पूर्णतौर पर नहीं तो अधिकांशत, आर्थिक मानदण्डों से परखा जाने लगा। इस आर्थिक मूल्यांकन ने सर्वव्यापी, सुसंगठित व सर्वलोकप्रिय विचार शृंखला को जन्म दिया है। जिसके द्वारा आधुनिक युग में साम्राज्यवाद के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया गया है वह है साम्राज्यवाद से सम्बन्धित आर्थिक सिद्धान्त। यहाँ पर हम तीसरे भ्रमात्मक विचार की चर्चा करेंगे, जिसने साम्राज्यवाद की वास्तविक प्रकृति को अस्पष्ट बना रखा है।

साम्राज्यवाद के आर्थिक सिद्धान्त

साम्राज्यवाद से सम्बन्धित मार्क्सवादी, उदारवादी तथा दानवी सिद्धान्त

साम्राज्यवाद के आर्थिक सिद्धान्त तीन पृथक विचार शृंखलाओं में विकसित हुए हैं — मार्क्सवादी, उदारवादी तथा वह सिद्धान्त जिसे ठीक ही साम्राज्यवाद का 'दानवी' सिद्धान्त[3] कहा जाता है।

साम्राज्यवाद से सम्बन्धित मार्क्सवादी सिद्धान्त इस बौद्धिक विश्वास पर आधारित है कि प्रत्येक राजनीतिक घटना आर्थिक तथ्यों का दर्पण मात्र है, जो कि वास्तव में मार्क्सवादी विचार-धारा का आधार ही है। तथापि साम्राज्यवाद रूपी राजनीतिक घटना उस आर्थिक व्यवस्था की उपज है जिससे वह पैदा होती है—अर्थात् पूँजीवाद की। मार्क्सवादी सिद्धान्त के अनुसार पूँजीवादी समाज अपनी परिधि के भीतर अपनी उपज के अनुपात में व्यवसाय के लिए बाजार का पर्याप्त क्षेत्र नहीं प्राप्त कर पाता तथा अपनी पूँजी को फिर उद्योग में लगाने का अवसर नहीं पाता। इसी कारण उनमें अन्य गैर पूँजीवादी तथा अन्त में पूँजीवादी राष्ट्रों में दासता की प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है। इससे उन्हें अपनी अतिरिक्त उपज की खपत के लिए पूँजीवादी देशों को भी अपना बाजार बनाना पड़ता है। इससे उन्हें अपनी स्वयं की अतिरिक्त पूँजी को नये उद्योग धंधों में लगाने का अवसर प्राप्त होता है।

काटस्की अथवा हिलफरडिंग जैसे उदारवादी मार्क्सवादी साम्राज्यवाद को पूँजीवाद की एक नीति मानते हैं। इसी कारण उनके अनुसार साम्राज्यवादी नीति का एक ऐच्छिक विषय है जिसकी ओर पूँजीवाद परिस्थिति-वश कम या अधिक

3 Charles A Beard The Devil Theory of War (New York The Vanguard Press 1936) तथा The New Republic Vol 86 (March 4 11, 18, 1936) भी देखिए।

अग्रसर हो सकता है। दूसरी ओर लेनिन[4] तथा उसके अनुयायी, खासतौर पर बुखारिन[5], पूंजीवाद व साम्राज्यवाद को एक ही घटना के दो रूप मानते हैं। साम्राज्यवाद विशेषतः अपने एकाधिकार के स्तर पर पूंजीवाद का वास्तविक रूप है। लेनिन के अनुसार "साम्राज्यवाद पूंजीवाद के उस विकास के स्तर का रूप है, जिसमें एकाधिकारों तथा अर्थ-पूंजी ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया हो, जिसमें पूंजी के आयात ने अत्यधिक महत्व ग्रहण कर लिया हो तथा विश्व का ट्रस्टों के मध्य वितरण प्रारम्भ हो गया हो, जिसमें संसार की तमाम भूमि का बड़ी पूंजीवादी शक्तियों के बीच बटवारा पूर्ण हो चुका हो"[6]।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार पूंजीवाद मुख्य दोष है और साम्राज्यवाद उसका अनिवार्य अथवा सम्भव परिणाम है। उदारवादी विचारधारा के अनुसार जिसके प्रमुख प्रतिनिधि श्री जॉन ए० होबसन[7] हैं, साम्राज्यवाद पूंजीवाद का फल न होकर वास्तव में पूंजीवादी व्यवस्था के कुछ असन्तुलनों का परिणाम है। मार्क्सवाद की भाँति ही उदारवादी विचारधारा भी साम्राज्यवाद की जड़ अतिरिक्त उत्पादन व पूंजी में मानती है, जिसके लिए विदेशी बाजारों को ढूंढना अनिवार्य हो जाता है। फिर भी होबसन व उसकी विचारधारा के अनुसार यह अतिरिक्त उपज खरीदने की शक्ति के गलत सतुलन का परिणाम मात्र है, उसका हल घरेलू बाजार के विकास में व्याप्त है, जो कि खरीदने की शक्ति में वृद्धि तथा आवश्यकता से अधिक बचत की समाप्ति आदि से आर्थिक सुधारों के द्वारा हासिल किया जा सकता है। साम्राज्यवाद के प्रति एक घरेलू विकल्प में विश्वास ही उदारवाद की मार्क्सवाद से पृथक्ता स्थापित करता है।

---

4 Collected Works (New York International Publishers 1927) Vol XVIII, Selected Works (New York: International Publishers 1935) Vol V

5 Imperialism and World Economy (New York International Publishers 1929) उन लेखकों में जिन्होंने विशेषकर साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धान्त पर प्रभाव डाला है, पुस्तक में दिए गए उल्लेखों के अतिरिक्त, रोजा लक्जमबर्ग तथा फ्रिट्ज स्टर्नबर्ग का प्रसंग आवश्यक है। Fritz Sternberg की The Coming Crisis (New York The John Day Company 1946) भी पठनीय है।

6. Imperialism, the highest stage of Capitalism (New York. International Publishers 1933) p 72

7. Imperialism (London G Allen and Unwin, 1938)

साम्राज्यवाद का दानवी सिद्धान्त (Devil Theory) अन्य दो सूक्ष्मसिद्धान्तों के विपरीत—बहुत ही भिन्न बौद्धिक स्तर पर सचालित होता है। शान्तिवादी इस सिद्धान्त को अपनाये हुए हैं और आज यह साम्यवादियों के प्रचार का एक खास हथियार बन गया है। इसे न्ये कमेटी (Nye Committee) का आधिकारिक दर्शन कहा जा सकता है जिसने संयुक्त राज्य सीनेट की ओर से सन 1934 36 म प्रथम विश्व महायुद्ध म संयुक्त राज्य के हस्तक्षेप पर वाणिज्य व उद्योग धन्धों के प्रभाव की खोज की थी। कमेटी की बैठकों को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई थी उसके कारण कुछ समय तक यह दानव सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को स्पष्टीकरण करने का संयुक्त राज्य म मुख्य साधन बना रहा। सिद्धान्त की सरलता ने उसकी लोकप्रियता म भारी योग दिया। इसने कुछ विशेष गुटों की ओर इंगित किया जो कि स्पष्ट रूप से युद्ध से लाभ उठाते हैं जैसे युद्ध की वस्तुओं को बनाने वाले उद्योगपति (हथियार बनाने वाले वर्ग) अन्तर्राष्ट्रीय बैंकर्स (वाल स्ट्रीट) इत्यादि। क्योंकि उनको युद्ध मे लाभ होना है इसलिये उनके लिये युद्ध म संलग्न होना स्वाभाविक हो है। इस प्रकार युद्ध से लाभ उठाने वाले युद्ध प्रचारकों म बदल जाते हैं अर्थात् उन दानवों म जो कि युद्ध की योजना बनाते हैं ताकि उससे अपने को धनी बना सकें।

जब कि उग्रवादी मार्क्सवादी साम्राज्यवाद को पूँजीवाद का ही एक रूप मानते हैं तथा उदारवादी मार्क्सवादी तथा हॉब्सन के शिष्यगण साम्राज्यवाद को पूँजीवादी व्यवस्था के असन्तुलन का परिणाम समझते हैं दानव सिद्धान्त के उपासकों की दृष्टि से साम्राज्यवाद तथा युद्ध साधारणत कुत्सित पूँजीपतियों के षडयन्त्र के कारण घटित होते हैं ताकि वे उनसे निजी लाभ उठा सकें।

इन सिद्धान्तों की आलोचना

साम्राज्यवाद की आर्थिक समीक्षायें चाहे वे परिष्कृत अथवा आदिम कालीन हों इतिहास की परीक्षा के समक्ष असफल हो जाती हैं। साम्राज्यवाद की आर्थिक अभिव्यक्ति कुछ एकाकी उदाहरणों पर आधारित सीमित ऐतिहासिक अनुभव को इतिहास के सर्वव्यापक सिद्धान्त म परिणत करने का प्रयत्न करती है। यह तो वास्तव म सच है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम पक्ष तथा बीसवीं शताब्दी के मध्य कुछ छोटी छोटी लड़ाइयाँ विशेष रूप से यदि पूर्णत नहीं तो आर्थिक लक्ष्यों के लिये लड़ी गई थीं। इसका विशिष्ट उदाहरण सन् 1899 1902 का बोअर युद्ध तथा सन् 1932 से 1935 तक बोलीविया तथा पराग्वे के मध्य का चाको युद्ध है। बोअर युद्ध का मुख्य उत्तरदायित्व ब्रिटेन के सोने की खानों के मालिकों पर बिना किसी संदेह के लादा जा सकता है। चाको युद्ध कुछ लोगों के अनुसार

मुख्यत दो तेल की कम्पनियो के मध्य ऐच्छिक तन के कूओ के हथियाने के लक्ष्य से लडा गया था।

परन्तु परिपक्व पजीवाद के सम्पूर्ण युग म बोअर युद्ध को छोडकर काई भी युद्ध महान शक्तिया के मध्य विशेषकर अथवा मुख्यत आर्थिक लक्ष्यो के लिये नही लडा गया। उदाहरण के लिये आस्टिया व प्रशा के मध्य सन् 1866 के युद्ध अथवा जमनी व फ्रास क सन् 1870 क युद्ध का कोई भी महत्वपूण लक्ष्य आर्थिक न था। य राजनीतिक युद्ध थ वास्तव म साम्राज्यवादी युद्ध थ। उनका लक्ष्य सवप्रथम जमनी के अतगत प्रशा क पक्ष म तत्पश्चात यूरोपीय राज्य-व्यवस्था मे जमनी क पक्ष म नया शक्ति वितरण लागू करना था। सन 1854 56 का क्रीमियन युद्ध अमरीका व स्पेन क मध्य सन् 1898 का युद्ध, रूस व जापान के मध्य सन् 1904 05 का युद्ध इटली व तुर्किस्तान के मध्य सन् 1911 12 का युद्ध तथा अनेक वनस्पति युद्ध युद्ध लक्ष्यो मे आर्थिक लक्ष्य का एक निम्न स्तर पर ही इगित करते है। दोनो विश्व महायुद्ध राजनीतिक युद्ध थ जिनका लक्ष्य यदि सम्पूर्ण ससार का नही तो यूरोप का आधिपत्य था। स्वभावत इन युद्धो म विजय द्वारा आर्थिक लाभ मिले और विशेष रूप से पराजय मे आर्थिक हानिया उठानी पडी। परन्तु य परिणाम वास्तविक प्रश्न नही थ—व तो विजय अथवा पराजय के राजनीतिक परिणाम क सह फल मात्र थ। उसस भी कम य आर्थिक परिणाम उत्तरदायित्वपूर्ण राजनीतिक नेतागण के मस्तिष्क पर प्रभाव डालने वाले साधन थ विशेषकर उस समय जब व युद्ध व शान्ति के प्रश्न के बारे म विचार कर रह थ।

इस प्रकार हम देखत हैं कि साम्राज्यवाद क आर्थिक सिद्धान्त इतिहास के उस युग क अनुभवो द्वारा भी पुष्टि प्राप्त नही करत जिसस व यदि पूर्ण ऐक्य नही रखत तो गहराई स सम्बधित अवश्य मान जात ह। और फिर औपनिवेशिक विस्तार का मुख्य युग जिस आर्थिक सिद्धान्तवादी साम्राज्यवाद का रूप मानत हैं परिपक्व पूजीवाद क पहल ही बीत चुका है और इसलिए उस जर्जर पूजीवादी ढाच क विरोधाभासो की उपज नही माना जा सकता। सोलहवी सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दियो की तुलना म उन्नीसवी तथा बीसवी शताब्दियो की औपनिवेशिक प्राप्तियाँ कम हैं। पजीवाद का आधुनिकतम पक्ष वास्तव म साम्राज्यो का एशिया तथा अफ्रीका म घट ब्रिटन फ्रास व नीदरलैंड की ओर हटने क रूप म विघटित होना प्रकट कर रहा है।

यदि कोई उन सिद्धान्तो का पजीवादी युग क पूर्व क साम्राज्य निर्माण आलोचना की पृष्ठभूमि म परख तो इतिहास की साक्षी आर्थिक सिद्धान्तो व तर्कों क और भी विरुद्ध जाती है। जिन नीतियो क फलस्वरूप प्राचीन युग म मिस्र मसोपोटामिया तथा पारसी साम्राज्यो की नाव पडी थी व राजनीतिक अथ म

साम्राज्यवादी थीं। यही सिकन्दर महान् की विजय तथा ईसाई युग के पूर्व के रोम की नीतियों का चरित्र था। सातवीं तथा आठवीं शताब्दी में अरब का विस्तार भी साम्राज्यवाद के सभी लक्षण दर्शाता है। पोप उरबन द्वितीय ने जब सन् 1095 में क्लर मौंट की काउंसिल के समक्ष प्रथम क्रूसेड (धार्मिक युद्ध) के पक्ष में कहा था तो साम्राज्यवादी नीति के पक्ष में प्रचलित विचारात्मक तर्क इन शब्दों में प्रस्तुत किए थे—"आखिर यह भूमि जिस पर तुम बसते हो, जो कि चारों ओर से समुद्र तथा पर्वतों से घिरी है तुम्हारी अधिक आबादी के लिए बहुत कम है। और न यहाँ धन की ही वृद्धि है और यह अपने किसानों के लिए भी पर्याप्त भोजन नहीं दे पाती। तो फिर एक दूसरे की हत्या करके या जान से यह बेहतर होगा कि तुम युद्ध करो और उस सामाजिक संघर्ष में तुम में से अधिकतर वीरगति को प्राप्त हो जाओ[8]। लुई चौदहवां पीटर दी ग्रेट तथा नेपोलियन प्रथम आधुनिक पूर्व-पूंजीवादी युग के महान् साम्राज्यवादी थे।

पूर्व पूंजीवादी युग के ये सभी साम्राज्यवाद पंजीवादी युग के साम्राज्यवादों की उस प्रवृत्ति के भागी हैं, जिसके फलस्वरूप एक साम्राज्यवादी शक्ति वर्तमान शक्ति-सम्बन्धों को उखाड़ फेंककर उनके स्थान पर अपने स्वयं के प्रभुत्व को स्थापित करने को उद्यत होती है। और फिर भी दोनों युगों के साम्राज्यवादों में यह विशेषता भी सामान्य है कि आर्थिक लक्ष्य राजनीतिक लक्ष्यों के अन्तर्गत ही रखे जाते हैं।

न तो सिकन्दर महान् और न नेपोलियन प्रथम और न ऐडोल्फ हिटलर ही अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए अथवा किसी आर्थिक व्यवस्था के असंतुलन से बचने के लिए साम्राज्यवादी नीतियों की ओर अग्रसर थे। उनका वही लक्ष्य था जो किसी उस उद्योगपति का होता है, जो एक "उद्योग-साम्राज्य" स्थापित करने को अग्रसर होता है और एक उद्योग में दूसरा उद्योग उस समय तक जोड़ता चला जाता है जब तक कि उस विशेष उद्योग पर अपना पूर्ण एकाधिकार अथवा अर्ध-एकाधिकार स्थापित नहीं कर लेता। जो वस्तु पूर्व-पूंजीवादी, साम्राज्यवादी पंजीवादी, साम्राज्यवादी तथा साम्राज्यवादी पंजीवादी चाहता है वह आर्थिक लाभ नहीं है, वरन् शक्ति है। उद्योगपति भी अपने 'साम्राज्यवादी' लक्ष्य की ओर आर्थिक आवश्यकता द्वारा प्रेरित नहीं होता है और न व्यक्तिगत लाभ की ही आकांक्षा से। यही नेपोलियन प्रथम के विषय में भी सत्य था। व्यक्तिगत लाभ तथा आर्थिक समस्याओं का साम्राज्यवादी विस्तार द्वारा निवारण उन सबके लिए

8 F A Ogg, editor, A Source Book of Medieval History (New York American Book Co 1907) P. 286.

एक वाद का रोचक विचार है एक स्वागत-योग्य सह-फल है, न कि वह लक्ष्य जिसके द्वारा साम्राज्यवादी प्रेरणा जागृत तथा अग्रसर होती है।

हमने यह देखा कि साम्राज्यवाद आर्थिक तत्वों द्वारा निर्धारित नहीं होता चाहे वे पूंजीवादी हों अथवा किसी अन्य प्रकार के। अब हम यह देखेंगे कि पूंजीपति अपने आप साम्राज्यवादी नहीं होता। आर्थिक सिद्धान्तों के अनुसार और विशेष कर "दानव सिद्धान्त" के अनुसार पूंजीपति सरकार को अपने यन्त्र के रूप में साम्राज्यवादी नीतियों का भड़काने के लिए प्रयोग में लाते हैं। परन्तु आर्थिक व्याख्याओं के समर्थन में लक्षित ऐतिहासिक घटनायें अधिकतर प्रसंगों में यह दर्शाती हैं कि इसका ठीक उलटा सम्बन्ध वास्तव में पूंजीपति तथा राजनीतिज्ञों के मध्य पाया जाता है। साम्राज्यवादी नीतियाँ अधिकतर सरकार द्वारा नियोजित की गईं और उन्होंने बाद में पूंजीपतियों को उनके पक्ष में आने का निर्देश दिया। इस प्रकार ऐतिहासिक साक्षी आर्थिक तत्व के ऊपर राजनीतिक तत्व की प्रभुता की सच्चाई को इंगित करती है, और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर पूंजीपति का आधिपत्य, प्रोफेसर शूम्पेटर, के शब्दों में "एक अखबारी परियों की कहानी है जो कि करीब-करीब मूर्खतापूर्ण है और तथ्यों से परे है"।[9]

फिर भी पूंजीपति एक वर्ग के रूप में, कतिपय व्यक्तिगत पूंजीपतियों को छोड़कर साम्राज्यवादी नीतियों के वास्तव में उत्साही समर्थक भी नहीं होते। आधुनिक समाज में पूंजीवादी तत्वों का प्रतिनिधित्व करने वाली राजनीतिक पार्टियाँ तथा साहित्य व्यवसायी वर्गों की, उन तमाम वैदेशिक नीतियों के प्रति परम्परागत विरोध प्रदर्शित करते हैं, जो साम्राज्यवाद की भांति युद्ध की ओर अग्रसर करती हैं। जैसाकि प्रोफेसर वाईनर ने कहा था

'वास्तव में मध्यवर्ग ही ऐसे थे जो कि शान्तिवाद, अन्तर्राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों तथा झगड़ों के समझौतों व निरस्त्रीकरण के उस हद तक समर्थक थे, जहाँ तक इन्हें समर्थन प्राप्त हुए। इनमें अधिकतर कुलीनतन्त्रवादी, ग्रामीण तथा शहरी श्रमिक वर्ग थे जो कि विस्तारवादी, साम्राज्यवादी तथा राष्ट्रीय प्रभुसत्तावादी थे, ब्रिटिश संसद में उभरते हुए मध्य वर्ग के प्रतिनिधि वे "पैसे वाले" थे जो कि उत्तरी औद्योगिक जिलों तथा लन्दन 'शहर' के प्रतिनिधि थे, जाकि नैपोलियनिक युद्ध क्रीमियन युद्ध, बोअर युद्ध तथा हिटलर के उत्थान तथा पार्लेंड पर जर्मनी के हमले के समय समझौतावादी थे। हमारे देश में ही मुख्यतः व्यवसायी वर्गों के मध्य से अमरीकन क्रान्ति के प्रति विरोध उपजा था तथा

9 Joseph Schumpeter, Business Cycles (New York and London : McGraw—Hill Book Co 1939) Vol I p 495 N.I.

सन् 1812 के युद्ध व 1898 के साम्राज्यवाद के विरुद्ध तथा पर्लहार्बर के पूर्व श्री रूजवेल्ट की नाजी-विरोधी नीतियों का विरोध जन्मा[10]।'

अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में सर एण्ड्रू फ्रीपोर्ट के "स्पैक्टेटर' में लेकर हमारे युग के नोरमेन ऐन्जल के "दि ग्रेट इल्यूजन" तक पूँजीपति वर्ग का यह विश्वास रहा है तथा पूंजीपतियों का व्यक्तिगत तौर पर भी यही विश्वास रहा है कि "युद्ध लाभदायक नहीं होता" कि औद्योगिक समाज व युद्ध में कोई समन्वय नहीं है और पूँजीवाद का हित शान्ति में है न कि युद्ध में। क्योंकि शान्ति में ही वह विवेकशील लेखा-जोखा सम्भव है, जिसपर पूँजीपतियों के कार्य अवलम्बित हैं। युद्ध में अविवेक तथा अराजकता के तत्त्व निहित हैं जोकि पूँजीवाद की आत्मा ही के विरुद्ध हैं। जब कि वर्तमान शक्ति-सम्बन्धों को पलटने का प्रयत्न होने के कारण साम्राज्यवाद के भीतर युद्ध की सम्भावनायें रहती हैं। तो फिर एक वर्ग के रूप में पूँजीपति युद्ध के विरुद्ध रहे। उन्होंने युद्ध कभी प्रारम्भ नहीं किया और दबाव तथा दबाव के अन्तर्गत ही उन साम्राज्यवादी नीतियों का समर्थन किया जोकि सम्भवत युद्ध की ओर अग्रसर होती हैं और प्राय वास्तव में युद्ध में जिनका अन्त हुआ।

तो फिर यह सम्भव कैसे हुआ कि साम्राज्यवाद के आर्थिक जैसे सिद्धान्त जोकि अनुभव की वास्तविकता से इतने परे हों, जनमत पर इतना प्रभाव डाल दें। इस सिद्धान्त की सफलता के लिये दो तथ्य उत्तरदायी हैं: पाश्चात्य जगत् के विचारों का वातावरण तथा इस सिद्धान्त का स्वय का स्वरूप। हमने पहले तो इस युद्ध की उस साधारण प्रवृत्ति की ओर ध्यान आकृष्ट किया है जिसके अन्तर्गत राजनीतिक समस्याओं को आर्थिक स्तर पर उतारने का प्रयत्न किया जाता है[11]।

---

10 Jacob Viner, "Peace as an Economic Problem" International Economics (Glencoe : The Free Press 1951) P 255 तथा Philip S Foner, Business and Slavery : न्यूयार्क तथा न्यूइंग्लैंड के व्यापारियों के गृह-युद्ध के विरोध में तथा लार्ड सेलिसबरी को डिसरैली के 26 सितम्बर सन् 1876 के कथन के अनुसार ' हर पैसे वाले तथा स्वत्वधारी वर्ग हर देश के युद्ध के विरुद्ध है।" इस प्रसग में जर्मनी के ब्रिटेन के राजदूत ने प्रथम विश्वमहायुद्ध के पूर्व *30* जून सन *1914* को विदेशी मामलों के कार्यालय को जो समाचार भेजा था, वह भी महत्त्वपूर्ण है, "मैं हर कोने में सुन रहा हूँ कि वाणिज्य तथा औद्योगिक वर्ग युद्ध के पूर्णत तथा हर रूप में विरुद्ध है।" British Documents on the origin of the War, 1898–1914 (London His Majesty's Stationary Office, 1926) Vol XI, p 361

11. Hans J Morgenthau, Scientific Man Vs power politics (Chicago . University of Chicago Press 1946) pp 75 ff.

पूंजीपति तथा उनके आलोचक दोनों ही इस आधारभूत त्रुटि के लिए उत्तरदायी हैं। प्रथम को पूंजीवाद के विकास से यह आशा थी कि पूर्व-पूंजीवादी पुरातन बेड़ियों को तोड़ने के उपरान्त अपने निजी नियमों का अनुसरण करते हुए समृद्धि व शान्ति का प्रसार करेगा। दूसरा का यह विश्वास था कि यह लक्ष्य या तो पूंजीवाद के सुधार अथवा पूंजीवादी व्यवस्था की समाप्ति के उपरान्त ही प्राप्त किया जा सकता है। दोनों वर्ग राजनीतिक समस्या का आर्थिक समाधान खोज रहे थे। बैन्थम ने उपनिवेशों की स्वतन्त्रता की दलील पेश की थी, जिससे उसके द्वारा साम्राज्यवादी संघर्षों का निवारण किया जाय, जोकि युद्ध की ओर अग्रसर होते हैं। प्रूधौन कौबर्डन तथा उनके शिष्य राष्ट्रीय चुंगी को ही अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों की जड़ समझते थे और तर्क करते थे कि केवल स्वतन्त्र व्यापार द्वारा ही शान्ति प्राप्त की जा सकती है।

अपने समय में हम सुनते हैं कि जर्मन इटालियन तथा जापानी साम्राज्यवाद आर्थिक आवश्यकताओं में जन्मे थे। ये देश साम्राज्यवादी नीतियों से विमुख रहते, यदि उन्हें ऋण उपनिवेश तथा कच्चे माल की प्राप्ति हो सकती। गरीब राष्ट्र इस मत के अनुसार अपने आर्थिक संकट के निवारण हेतु युद्ध को अपनाते हैं, तो फिर यदि समृद्धिशाली देश उनकी आर्थिक कठिनाइयों का निवारण करने में सहायक हों तो उनका युद्ध करने का कोई कारण ही नहीं रह जायगा। पूंजीवाद के प्रारंभिक युग में उसके समर्थक तथा आलोचक दोनों ही यह विश्वास करते थे क्योंकि आर्थिक इच्छायें व्यापारियों के कार्यों का निर्धारण करती हैं, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति के आचरण का पथ-प्रदर्शन भी करती होगी।

साम्राज्यवाद की आर्थिक व्याख्या की मान्यता का दूसरा कारण उसकी लोकप्रियता है। जैसाकि प्रोफेसर शुम्पेटर ने साम्राज्यवाद के मार्क्सवादी सिद्धान्त के बारे में कहा है वह साधारणतः सत्य है, "ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे समय के प्रमुख तथ्यों की व्याख्या की जा चुकी है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का पूर्ण कुटिल मार्ग विश्लेषण के द्वारा स्पष्ट कर दिया गया ज्ञात पड़ता है"[12]। साम्राज्यवाद जैसी बीभत्स, अमानुषिक तथा घातक ऐतिहासिक शक्ति की सैद्धान्तिक रूप में एक विशेष प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रूप में व्याख्या और अन्त में किसी विशेष परिस्थिति में उसको पहचानना तथा उसका पर्याप्त साधनों द्वारा मुकाबला करना—ये सब व्यापार या तो पूंजीवाद की आन्तरिक प्रवृत्तियों अथवा उसके विकृत रूप में सिमट कर रह जाते हैं। जब कभी भी साम्राज्यवाद रूपी

12 Joseph Schumpeter, Capitalism and Democracy (New York and London Harper and Brothers 1947), p 51.

अपने सामने आता है—चाहे सैद्धान्तिक समझदारी के लिए अथवा व्यावहारिक व्यवहार के लिए यह सभी योजना स्वयं ही उत्तर प्रस्तुत कर देता है और नीति को आगम पहुंचा देता है।

विभिन्न प्रकार के साम्राज्यवाद

यथापूर्व स्थिति की पतन्त्र की नीति होने के नाते साम्राज्यवाद का वास्तविक चरित्र एक नीति के रूप में उस समय सब से अच्छी तरह समझा जा सकता है जबकि उन विभिन्न परिस्थितियों का ध्यान किया जाए जो कि साम्राज्यवादी नीतियों के पक्ष में प्रकट होती हैं तथा उन आन्तरिक व बाह्य परिस्थितियों के कारण एवं तत्पर वीभत्स नीति में साम्राज्यवादी नीति आवश्यकतावश उदित होती है।

साम्राज्यवाद के तीन प्रलोभन

को बदल देना चाहती हैं जबकि प्राय बराबर की अथवा पूर्णत असमान शक्तियां एक दूसरे का विरोध करती हैं और इसका युद्ध के उपरान्त की वर्तमान स्थिति में परिवर्तित कर देती हैं, जिससे अस्थायी विजयी पराजित का स्थायी स्वामी बन जाता है।

पराजित युद्ध—इस निम्नता की स्थिति के परिणामस्वरूप जिसे स्थायित्व का रूप देने का प्रयत्न किया गया था पराजित में उस आकांक्षा का बीज बोया जा सकता है जिसके अतर्गत उसमें विजयी का पासा पलट देने की प्रेरणा हो, उसमें शक्ति के उत्तराधिकार में जगह बदल देने की आकांक्षा हो। दूसरे शब्दों में, विजय की मात्रा के परिणामस्वरूप, विजयी द्वारा संचालित साम्राज्यवादी नीति के उत्तर में पराजित पक्ष साम्राज्यवादी नीति के प्रति प्रेरित हो जाता है। यदि वह पूर्ण रूप से ध्वस्त नहीं हो गया है अथवा विजयी द्वारा जीत नहीं लिया गया है, तो पराजित में, जो कुछ उसने हारा है, उसे पुन प्राप्त करने की इच्छा रहेगी और यदि सम्भव हो तो उससे भी अधिक प्राप्त करने की।

दूसरे के सफल साम्राज्यवाद के विरोध में उपजे साम्राज्यवाद का विशेष उदाहरण सन् 1935 से लेकर द्वितीय महायुद्ध तक का जर्मन साम्राज्यवाद है। यूरोपीय वर्तमान स्थिति सन् 1914 में आस्ट्रिया, फ्रांस, जर्मनी, ग्रेट ब्रिटेन, इटली व रूस के सतुलित योग से लक्षित थी। मित्र राष्ट्रों की विजय तथा बाद की शान्ति-सन्धियों ने जो नयी 'यथापूर्व स्थिति' उत्पन्न की वह फ्रांस की साम्राज्यवादी नीतियों का फल थी। इस नयी यथापूर्व स्थिति ने यूरोप में फ्रांस की अधिनायकता स्थापित कर दी, जिसे वह पूर्वी तथा मध्य यूरोप में नये बने हुये राज्यों की सधि मित्रता द्वारा प्रयोग में लाने लगा।

सन् 1919 से लेकर 1935 तक जर्मन वैदेशिक नीति उस यथापूर्व स्थिति के ढांचे के अन्तर्गत प्रचलित दीख पड़ रही थी, जबकि वह गुप्त रूप से उसे पलट देने में संलग्न थी। वह जर्मनी के लिये कम से कम कुछ समय तक मार्तमिर सफल के साथ रियायतें प्राप्त करने का प्रयत्न करती रही, पर उसने वारसाई सधि के उपरान्त स्थापित यथापूर्व स्थिति को स्वीकार कर रखा था। उसने स्पष्ट रूप से इन शक्ति-सम्बन्धों को चुनौती नहीं दी, वरन् उस एकीकरण को लक्षित करती रही, जो इन सम्बन्धों को सुरक्षित रहने दे। विशेष रूप से 'इच्छापूर्ति की नीति' का चरित्र ऐसा ही था—अर्थात् वारसाई सधि की इच्छापूर्ति-जिसको वीमर गणराज्य न खोजने का प्रयत्न किया था। वारसाई द्वारा बनाई गई यथापूर्व-स्थिति को अल्पकालीन मान्यता प्रदान कर उसकी सीमाओं के भीतर ही जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को उत्तेजित करने की इस नीति ने ही राष्ट्रवादियों तथा नाजियों के हिंसक विरोध को भड़का दिया

था, जब कि नाज़ियों ने सन् 1933 में शक्ति प्राप्त कर ली थी और गृह-क्षेत्र में अपनी शक्ति को स्थिर कर लिया था। उन्होंने वारसाई संधि की नि:शस्त्रीकरण की धाराओं को तोड़ फेंका। सन् 1936 में उसी संधि का उल्लंघन कर उन्होंने राइनलैंड पर कब्ज़ा कर लिया और जर्मन-फ्रांसीसी सीमा के सन्निकट स्थित जर्मन-क्षेत्र के नि:सैन्यीकरण को रद्द घोषित कर दिया। इन कार्यों द्वारा नाज़ी जर्मनी की साम्राज्यवादी नीति का स्पष्ट रूप से आगमन हुआ, क्योंकि ये कार्य उस शृंखला के प्राथमिक कदम थे जिनके द्वारा जर्मनी ने स्पष्ट कर दिया कि वह अब वारसाई की यथापूर्व स्थिति को मानने के लिये तैयार नहीं है और उस यथापूर्व-स्थिति को पलटने का उसका लक्ष्य है।

कमज़ोरी—एक और विशेष परिस्थिति, जोकि साम्राज्यवादी नीतियों को प्रोत्साहन देती है वह है, कमज़ोर राज्य अथवा राजनीतिक दृष्टिकोण से रिक्त स्थान। दोनों ही एक शक्तिशाली राज्य के लिये आकर्षक है। यही परिस्थिति थी, जिसमें से औपनिवेशिक साम्राज्यवाद जन्मा था। यही वह परिस्थिति थी, जिसने प्राथमिक तेरह अमरीकन राज्यों के संघ को एक महाद्वीपीय शक्ति के रूप में परिणत होना सम्भव बना दिया था। नैपोलियन तथा हिटलर के साम्राज्यवाद कुछ हद तक इसी चरित्र के थे, खास तौर पर हिटलर के सन् 1940 के "आँधी-तूफान" वाले समय का साम्राज्यवाद। द्वितीय विश्व-महायुद्ध के अन्त में साम्राज्यवाद शक्तिशाली तथा कमज़ोर राज्यों के आपसी सम्बन्धों में जन्मा है, जिसका उदाहरण सोवियत यूनियन तथा पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों, जिन्हें पिछलग्गू (Satellites) कहा जाता है, के सम्बन्धों में दृष्टिगोचर होता है। शक्ति-शून्यता का आकर्षण, साम्राज्यवाद के लिये एक प्रोत्साहन बन कर एशिया व अफ्रीका के नये राष्ट्रों के जीवन के लिये ही खतरे का सम्भव कारण बन सकता है, क्योंकि वह शक्ति के सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्वों से खाली है।

साम्राज्यवाद के तीन लक्ष्य—क्योंकि साम्राज्यवाद तीन विशेष परिस्थितियों से उपजता है, इसी कारण साम्राज्यवाद तीन विशेष लक्ष्यों की ओर अग्रसर होता है। साम्राज्यवाद का लक्ष्य सम्पूर्ण धरती के राजनीतिक रूप से संगठित प्रदेशों के ऊपर प्रभुत्व स्थापित करना होता है अर्थात् एक विश्व-व्यापी साम्राज्य स्थापित करना या फिर यह एक महाद्वीपीय सीमा के अन्तर्गत साम्राज्य अथवा नायकत्व की ओर लक्षित हो सकता है या फिर यह पूर्ण रूप से स्थानीय क्षेत्र में प्रभुत्व को अपना लक्ष्य बना सकता है। दूसरे शब्दों में, यह हो सकता है कि एक साम्राज्यवादी नीति की कोई भी सीमा न हो।

साम्राज्यवादी नीति जिस राष्ट्र को अपने आधिपत्य में लाने के लिये लक्ष्य बनाती है, उसकी शक्ति तथा विरोध ही साम्राज्यवादी नीति की सम्भव सीमा

है, या फिर उसकी सीमायें भूगोल द्वारा निर्धारित होती है, जैसे एक महाद्वीप की भौगोलिक सीमायें। या उसकी सीमा उसके ही स्थानीय लक्ष्यों द्वारा निर्धारित होती है।

विश्व-साम्राज्य

असीमित साम्राज्यवाद के असाधारण उदाहरण, सिकन्दर महान्, रोम, सातवीं तथा आठवीं शताब्दी मे अरब तथा नैपोलियन व हिटलर की विस्तारवादी नीतियां हैं। इन सब में एक सामान्य प्रवृत्ति विस्तार की ओर प्रकट होती है, जिसकी कोई भी विवेकपूर्ण सीमा नहीं है और जो अपनी सफलताओं पर पनपती है और यदि अपने से अधिक शक्तिशाली शक्ति द्वारा रोक न दी जाये तो सम्पूर्ण राजनीतिक जगत् की सीमा तक विस्तृत होती चली जाये[13]। यह प्रवृत्ति उस समय तक सन्तुष्ट नहीं हो सकती, जब तक कि कहीं भी साम्राज्य का सम्भव लक्ष्य प्रस्तुत है—अर्थात् मनुष्यों का राजनीतिक रूप से संगठित वह वर्ग जो कि अपनी स्वतन्त्रता के फलस्वरूप ही विजेता को उसकी शक्ति-लोलुपता के लिये चुनौती बन जाता है। जैसाकि हम देखेंगे कि इस प्रकार से साम्राज्यवाद का असंयम ही यथा उन तमाम स्थानों को विजय करना, जिन्हें पराजित किया जा सकता है असीमित साम्राज्यवाद का लक्षण है, जोकि भूतकाल में इस प्रकार की साम्राज्यवादी नीतियां के ध्वंस का कारण बन गया है। केवल रोम ही एक अपवाद है, जिसके कारणों पर हम आगे चल कर विचार करेंगे।

---

13. हाब्स ने शक्ति की असीमित इच्छा का अद्वितीय विश्लेषण "Leviathan के ग्यारहवें अध्याय के पृष्ठ 49 पर दिया है, "सर्वप्रथम तो मैं मानव की उस प्रवृत्ति की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ और वह है शक्ति के बाद शक्ति की एक शाश्वत् एवं आतुरतापूर्ण चाह, जो केवल मृत्यु से आकर ही समाप्त होती है। और इसका कारण सदा यह नहीं है कि मनुष्य को एक गूढ़ आनन्द की आशा हो, उससे भी अधिक आनन्द की जो कि उसने प्राप्त कर लिया हो या वह कम शक्ति से सन्तुष्ट नहीं हो सकता, वरन् क्योंकि वह बिना और शक्ति प्राप्त किये अपनी प्राप्त शक्ति के परिणामस्वरूप अच्छी तरह से रहना सम्भव बना ही नहीं सकता। इसी कारण सर्वशक्तिमान सम्राट भी, इस शक्ति को संचय करने के लक्ष्य से गृह-क्षेत्र में कानून का साधन तथा बाह्य क्षेत्र में युद्ध का साधन अपनाते हैं और जब इस इच्छा की भी सन्तुष्टि हो जाय, तो उसमें नयी महत्त्वाकांक्षायें जन्मती हैं, युद्ध में प्रसिद्धि की, जो कि नयी विजयों से ही प्राप्त की जा सकती है, अन्य में विलास तथा ऐन्द्रिय सुख की, अन्य में प्रशंसा की जो कि किसी विशेष कला में उच्चता प्राप्त करने के रूप में प्रस्तुत होती है, अथवा मस्तिष्क की क्षमता के रूप में।

महाद्वीपीय साम्राज्य

भूगोल द्वारा सीमित साम्राज्यवाद का स्पष्ट उदाहरण यूरोपीय शक्तियों की यूरोपीय महाद्वीप का प्रभुत्व प्राप्त करने की नीतियों में मिलता है। लुई चौदहवाँ, नेपोलियन तृतीय तथा विलियम द्वितीय इसके उदाहरण हैं। सन् अठारह सौ पचास में कैवूर की अध्यक्षता में पीडमौण्ट के राज्य की इटली प्रायद्वीप पर प्रभुत्व की अभिलाषा, सन् 1912 व 1913 में बलकान युद्ध के विभिन्न भागीदारों की बलकान प्रायद्वीप में प्रभुत्व की अभिलाषा, भूमध्य सागर को इटालियन झील बनाने का मुसोलिनी का प्रयत्न—ये सब भूगोल द्वारा निर्धारित साम्राज्यवाद के महाद्वीपीय सीमाओं से कम विस्तार के अन्तर्गत के उदाहरण हैं। उन्नीसवीं शताब्दी में अमरीकन नीति, जिसके अन्तर्गत उत्तरी अमरीकन महाद्वीप के अच्छे भूभाग में शनैः शनैः अमरीकन विस्तार की योजना रही, पूर्ण रूप में नहीं तो मुख्यतः महाद्वीप की भौगोलिक सीमाओं द्वारा निर्धारित थी, क्योंकि संयुक्त राज्य ने कैनाडा व मैक्सिको को अपने आधिपत्य में लाने का प्रयत्न नहीं किया है, यद्यपि ऐसा करने में वह निश्चय ही सफल हो सकता था। महाद्वीपीय साम्राज्यवाद इस स्थान पर स्थानीय सीमाओं के लक्ष्य द्वारा सुधार दिया गया है।

इसी प्रकार का मिश्रित साम्राज्यवाद पश्चिमी गोलार्ध से सम्बन्धित अमरीकन नीति का तत्व बन जाता है। मुनरो सिद्धान्त ने पश्चिमी गोलार्ध के लिए गैर—अमरीकन शक्तियों से सम्बन्धित एक यथापूर्व स्थिति की नीति निर्धारित करके बचाव की एक ढाल तैयार कर दी, जिस ढाल के पीछे संयुक्त राज्य उस भौगोलिक क्षेत्र में अपना स्वयं का प्रभुत्व स्थापित कर सके। परन्तु उन भौगोलिक सीमाओं के अंतर्गत अमरीकन नीति स्थायी रूप से सदा साम्राज्यवादी न थी। कुछ केन्द्रीय अमरीकन गणराज्यों तथा कुछ दक्षिण अमरीकन देशों के प्रति अवसर अन्य देशों, उदाहरण के लिए, अरजनटाइना तथा ब्राजील से सम्बन्ध के समय वह संयुक्त राज्य की वर्तमान उच्चता को स्थापित रखने का प्रयत्न भर करती रही, जो कि एक प्रकार के स्वाभाविक आन्दोलन का परिणाम मात्र थी, न कि जान बूझ कर संचालित अमरीकन नीति का परिणाम। भले ही संयुक्त राज्य के पास एक यथार्थ अधिनायक के रूप में इन देशों पर अपनी उच्चता, लागू करने की शक्ति थी, परन्तु उसने वैसा करने से इन्कार कर दिया। यहाँ पर भी हम भौगोलिक ढाँचे के अन्दर सीमित नीति के अन्दर एक स्थानीय साम्राज्यवाद निहित देखते हैं।

स्थानीय प्रभुता

स्थानीय साम्राज्यवाद का रूप अठारहवीं व उन्नीसवीं शताब्दी के राजाओं की नीति में प्राप्त होता है। अठारहवीं शताब्दी में फ्रैड्रिक महान्, लुई पन्द्रहवें,

मेरिया थरेसा, पीटर दी ग्रेट व कैथरीन द्वितीय इस प्रकार की वैदेशिक नीति की सचालक-शक्तियां थे। उन्नीसवीं शताब्दी में बिस्मार्क इस प्रकार की साम्राज्यवादी नीति का उस्ताद था जिसके अनुसार पूर्व व्यवस्था को पलट कर स्वयं निर्धारित की हुई सीमाओं के भीतर राजनीतिक प्रभुता स्थापन का लक्ष्य रहता है। इस प्रकार की स्थानीय साम्राज्यवादी नीति, महाद्वीपीय साम्राज्यवाद तथा असीमित साम्राज्यवाद में वह ही अन्तर है जो कि बिस्मार्क विलियम द्वितीय तथा हिटलर की वैदेशिक नीतियों का अन्तर है। बिस्मार्क मध्य यूरोप में जर्मनी का प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था विलियम तमाम यूरोप में व हिटलर सम्पूर्ण जगत् में। रूसी साम्राज्यवाद के परम्परागत लक्ष्य, जैसे फिनलैंड, पूर्वी यूरोप, बालकन्स, डारडनल्स व ईरान पर नियंत्रण भी स्थानीय साम्राज्यवाद के रूप हैं। इस प्रकार के साम्राज्यवाद की सीमायें भौगोलिक साम्राज्यवाद की तरह प्रकृति के बाह्य तथ्यों द्वारा निर्धारित नहीं होती जिनके आगे जाना तकनीकी तरीके से कठिन होगा अथवा राजनीतिक रूप से मूर्खतापूर्ण होगा। इसके विपरीत यह कई पक्षान्तरों में से स्वतन्त्रतापूर्वक चुना हुआ एक मार्ग होता है जैसे कि यथापूर्व स्थिति की नीति, महाद्वीपीय साम्राज्यवाद या तीसरा स्थानीय साम्राज्यवाद। अठारहवीं शताब्दी के दौरान तीसरा पक्षान्तर इस कारण श्रेयस्कर था, क्योंकि उस समय शक्तियों का एक जमाव ऐसा था, जोकि एक दूसरे से प्राय बराबर थी और महाद्वीपीय साम्राज्यवाद के प्रयत्न को हतोत्साहित करती थीं। लुई चौदहवें के अनुभव ने दर्शा दिया था कि इस प्रकार का प्रयत्न कितना सकटमय बन सकता है। और फिर अठारहवीं शताब्दी का साम्राज्यवाद मुख्यत राजाओं की व्यक्तिगत शक्ति व यश की लोलुपता से संचालित होता था न कि आधुनिक राष्ट्रवाद की जनवादी भावनाओं से। ये मान्यतायें यूरोपीय संस्कृति की राजतन्त्रात्मक परम्पराओं के ढांचे के अंतर्गत संचालित होती रहती थी, जोकि राजनीतिक रजत-पट पर कार्यरत अभिनेताओं के ऊपर एक नियन्त्रण का कार्य करती रहती थी। यह नैतिक प्रतिबन्ध धार्मिक व राष्ट्रवादी धर्मयुद्धों के युग में आवश्यकतावश अनुपस्थित रहता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में यह चुनाव का तत्त्व जोकि स्थानीय साम्राज्यवाद का प्राथमिक लक्षण है बिस्मार्क की वैदेशिक नीति में सब से प्रभावशाली रूप में दृष्टिगोचर होता है। सबसे पहले उसे प्रशा के उन दक्षिणपंथी तत्वों के विरोध का सामना करना पड़ा, जो कि प्रशा के लिये यथापूर्व स्थिति के समर्थन के पक्ष में थे और बिस्मार्क की स्थानीय साम्राज्यवादी नीति के विरुद्ध थे, जिसके द्वारा वह जर्मनी के अन्दर प्रशा की अधिनायकता स्थापित करना चाहता था। जब विजयी युद्धों ने बिस्मार्क की नीति को सम्भव बना दिया, तो इस नीति का उनके विरुद्ध बचाव

करना आवश्यक हो गया जोकि उस सीमा का उल्लंघन करना चाह रहे थे जिसको बिस्मार्क ने प्रशा के लिये और बाद में जर्मनी के लिये निर्धारित कर दिया था। सन 1890 में विलियम द्वितीय द्वारा बिस्मार्क का पद-त्याग करवाना इस स्थानीय साम्राज्यवाद के अंत का तथा जर्मन की वैदेशिक नीति में महाद्वीपीय साम्राज्यवाद की ओर बढ़ती प्रवृत्ति के प्रारम्भ का द्योतक है।

साम्राज्यवाद के तीन साधन

जिस प्रकार विशेष परिस्थितिवश नाना प्रकार का साम्राज्यवाद उदित होता है तथा अपने लक्ष्य के अनुसार भी तीन प्रकार के साम्राज्यवाद होते हैं उसी प्रकार साम्राज्यवादी नीतियों के साधनों में भी तीन प्रकार की विभिन्नतायें स्थापित करनी चाहिये। हमें सैनिक, आर्थिक व सांस्कृतिक साम्राज्यवाद में अन्तर स्थापित करना चाहिये। इन साधनों को साम्राज्यवाद के लक्ष्यों में मिलाकर गड़बड़ पैदा करना एक विस्तृत तथा व्यापक भ्रान्ति का भी कारण है, जैसे आर्थिक साम्राज्यवाद का लक्ष्य केवल अन्य लोगों के आर्थिक शोषण के अतिरिक्त कोई और दूसरा हो ही नहीं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि इस भ्रान्त धारणा की जड़ साम्राज्यवाद के आर्थिक सिद्धान्तों में तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को समझने में शक्ति के तत्व के प्रति उपासीनता में भी पाया जाता है। वास्तव में तो सैनिक साम्राज्यवाद सैनिक विजय लक्षित करता है, आर्थिक साम्राज्यवाद अन्य लोगों का आर्थिक शोषण तथा सांस्कृतिक साम्राज्यवाद एक प्रकार की संस्कृति को दूसरी संस्कृति द्वारा हटाया जाना लक्षित करता है परन्तु ये सब सदा एक ही साम्राज्यवादी लक्ष्य के साधन के रूप में काम करते हैं। वह लक्ष्य यथापूर्व स्थिति को पलट देना होता है अर्थात् साम्राज्यवादी राष्ट्र तथा उसके होने वाले शिकार के शक्ति सम्बन्धों को पलट देना। यह शाश्वत लक्ष्य या तो सैनिक, आर्थिक अथवा सांस्कृतिक साधनों द्वारा प्राप्त किया जाता है या एक ही साधन द्वारा अथवा उनके संसर्ग से। नीचे पर हम इन साधनों का उल्लेख कर रहे हैं।

सैनिक साम्राज्यवाद

सब से स्पष्ट, सबसे प्राचीन तथा असंस्कारी साम्राज्यवाद सैनिक विजय है (प्रत्येक समय के महान विजेता महान साम्राज्यवादी भी रहे हैं)। इस साधन का साम्राज्यवादी राष्ट्र के दृष्टिकोण से सब से बड़ा लाभ यह है कि नये शक्ति-सम्बन्ध जो कि सैनिक विजय के उपरान्त स्थापित हुये हैं पराजित राष्ट्र द्वारा भड़काये हुये अन्य युद्ध द्वारा ही बदले जा सकते हैं जिसमें सफलता की संभावनायें हारे हुए राष्ट्र के विरुद्ध ही अधिक होती है। नैपोलियन प्रथम फ्रांसीसी क्रान्ति के विचारों की शक्ति पर पूर्णतः अवलम्बित रह सकता था और उनके द्वारा यूरोप तथा संसार भर में फ्रांस की अधिनायकता स्थापित करने का प्रयत्न करता अर्थात्

सैनिक विजय के स्थान पर वह सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को चुन सकता था। दूसरी ओर, यदि वह सैनिक विजय करके उसे वश मे रख सकता था, तो वह अपने साम्राज्यवादी लक्ष्य को अधिक जल्दी प्राप्त कर सकता था तथा विजय के दौरान वह व्यक्तिगत संतोष प्राप्त कर सकता था, जो कि एक विजेता को युद्ध के उपरान्त प्राप्त होता है। तथापि उस विशेष परिस्थिति मे, केवल जिसमे यह कथन सत्य हो सकता है, साम्राज्यवाद के सैनिक साधन का प्रमुख दोष लक्षित होता है। लड़ाई एक जुआ है, वह जीती भी जा सकती है और हारी भी जा सकती है। एक राष्ट्र जो कि साम्राज्यवादी लक्ष्यो के हेतु युद्ध प्रारम्भ करता है, एक साम्राज्य प्राप्त कर के उसे अपने वश मे रख सकता है, जैसाकि रोम ने किया। या फिर वह उसे जीत कर खो दे तथा दूसरो के साम्राज्यवाद का शिकार बन जाय, जैसा कि नाज़ी जर्मनी और जापान के मामले मे हुआ। साम्राज्यवाद वह जुआ है जोकि उच्चतम दाँव के लिये खेला जाता है।

आर्थिक साम्राज्यवाद

आर्थिक साम्राज्यवाद कम क्रूरतापूर्ण तथा साधारणत. सैनिक तरीके से कम प्रभावशाली है और एक विवेकपूर्ण साधन द्वारा शक्ति हथियाने के रूप मे आधुनिक युग की उपज है। इस प्रकार यह व्यापारिक तथा पूँजीवादी विस्तारवादी युग की समकालीन उपज है। इसका आधुनिक विलक्षण उदाहरण वह है जिसे "डालर साम्राज्यवाद" के नाम से पुकारा जाता है। फिर भी इसने अपना पार्ट ब्रिटिश तथा फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के इतिहास मे भी अदा किया है। पुर्तगाल मे ब्रिटिश प्रभाव अठारहवी शताब्दी के बाद मे शक्तिशाली रूप मे आर्थिक नियन्त्रण द्वारा अवलम्बित रहा है। जगत् मे ब्रिटिश प्रभुता आर्थिक नीतियो की उपज थी जिसे ठीक तौर पर ही "तेल कूटनीति" (Oil Diplomacy) कहा जाता है। जो प्रबल प्रभाव फ्रांस ने दोनो विश्व महायुद्धो के मध्य रूमानिया इत्यादि जैसे देशो पर प्रयुक्त किया था वह काफी हद तक आर्थिक तत्वो पर अवलम्बित था।

जिन नीतियो को हम आर्थिक साम्राज्यवाद कहते है, उनकी सामान्य प्रवृत्ति एक ओर तो साम्राज्यवादी तथा अन्य राष्ट्रो के सम्बन्धो को बदल कर यथापूर्व-स्थिति को पलट देना है और दूसरी ओर उस लक्ष्य की पूर्ति भू-भाग की सैनिक विजय द्वारा नही, वरन् आर्थिक नियन्त्रण द्वारा करना है। यदि वह राष्ट्र अन्य राष्ट्रो के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के हेतु भू-भाग को जीतना नहीं चाहता अथवा जीत नही सकता, तो इस लक्ष्य की पूर्ति वह उन लोगो पर नियन्त्रण करके कर सकता है जो उस भूभाग पर नियन्त्रण करते हैं। उदाहरण के लिये केन्द्रीय अमरीकन गणतन्त्रात्मक राज्य सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न राज्य है। उनके पास सार्वभौमिकता के सब लक्षण हैं तथा प्रभुसत्ता के तमाम आडम्बरो का वे प्रदर्शन

मे ग्रेट ब्रिटन असमर्थ होता था, या जब रूस स्वीकृत किये गये लाभो को वापस लेने की धमकी देता था तो रूस का प्रभाव बढता था तथा इसके विपरीत करने पर विपरीत परिणाम होता। रूस ईरान की भूमि हडपने का साहस कभी नही कर सकता था, ग्रेट ब्रिटेन की भी ऐसी कोई इच्छा ही न थी। परन्तु दोनो ही ईरानियन सरकार पर नियत्रण रखना चाहते थे, जो अपन क्षेत्र मे तेल के कुओ तथा भारत को जाने वाली सडक पर नियत्रण रखती थी।

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद[15]

जब हम सास्कृतिक साम्राज्यवाद का सकेत करते है, तो यह सबसे सूक्ष्म तथा, यदि यह अपने आप ही सफल हो जाये, तो सबसे सफल साम्राज्यवादी नीतियो मे से है? इसका लक्ष्य भूमि की विजय अथवा आर्थिक जीवन का नियत्रण नही होना, वरन् लोगो के मस्तिष्को पर विजय तथा नियन्त्रण करके उन्हे दो राष्ट्रो के मध्य के शक्ति–सम्बन्धो को पलटने वाले यन्त्र के रूप मे प्रयोग करना होता है। यदि हम कल्पना करें कि 'अ' राज्य की सस्कृति और विशेष कर उसकी राजनीतिक विचारधारा, अपने तमाम ठोस साम्राज्यवादी लक्ष्यो के साथ, 'ब' राज्य के तमाम नागरिको के मस्तिष्को को उसकी नीति के निर्धारण के लिये जीत लेती है, तो 'अ' की विजय किसी भी सैनिक विजेता अथवा आर्थिक स्वामी से कही अधिक पूर्ण होगी। 'अ' को धमकी देने अथवा फौजी या आर्थिक दबाव देने की आवश्यकता अपने लक्ष्य की पूर्ति के हेतु रहेगी ही नही क्योकि वह लक्ष्य अर्थात् 'ब' का 'अ' की इच्छा के प्रति समर्पण या दासत्व तो एक उच्च सस्कृति तथा अधिक आकर्षक राजनीतिक विचार–पद्धति की सम्मोहन–शक्ति द्वारा हासिल किया जा चुका होगा।

परन्तु यह तो एक काल्पनिक उदाहरण है। वास्तविकता मे सास्कृतिक साम्राज्यवाद ऐसी सम्पूर्ण विजय से काफी पीछे रह जाता है, जो साम्राज्यवाद के अन्य साधनो को अर्थहीन बना दे। आधुनिक युग मे जो विशेष भूमिका सास्कृतिक साम्राज्यवाद अदा करता है, वह है अन्य साधनो की सहकारिता। सास्कृतिक

15 इस शीर्षक के अन्तर्गत जो वर्णित है उसे अक्सर "विचार—पद्धति का साम्राज्यवाद" के नाम मे सम्बोधित किया जाता है "विचार-पद्धति' शब्द राजनीतिक दर्शनों के इगित करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। परन्तु दो कारणों मे "सास्कृतिक" शब्द का प्रयोग श्रेयस्कर प्रतीत होता है। एक ओर तो "सास्कृतिक" शब्द हर प्रकार के बौद्धिक राजनीतिक तथा अन्य प्रभावों को इगित करता है, जिनको साम्राज्यवादी लक्ष्य के साधन के रूप मे प्रयोग में लाया जाता है। और दूसरी ओर हम सातवें अध्याय में "विचार-पद्धति" शब्द का उसके विशेष समाजवैज्ञानिक अर्थ मे प्रयोग कर रहे है, तो फिर इनमे भ्रम होना अनिवार्य होगा, यदि हम उसी शब्द का यहाँ पर साधारण लोक प्रचलित अर्थ में प्रयोग करें।

साम्राज्यवाद दुश्मन को शिथिल बना देता है और सैनिक विजय अथवा आर्थिक प्रवेश के लिये पृष्ठभूमि तैयार करता है। उसका आधुनिक प्रमुख उदाहरण पांचवीं पंक्ति अर्थात् शत्रुपक्षीय गुप्तचर (Fifth column) है और उसकी दो विलक्षण सफलताओं में से एक तो नाज़ी जर्मनी की पांचवीं पंक्ति है जिसका प्रयोग द्वितीय विश्व-महायुद्ध के पूर्व तथा प्रारम्भ में किया गया था। उसकी सफलता आस्ट्रिया में सबसे अधिक दर्शनीय थी जब कि वहां की एक नाज़ीवादी सरकार ने जर्मन फौजों को देश पर कब्जा करने के लिये आमन्त्रित किया था। उसको फ्रांस तथा नार्वे में भी काफी सफलता प्राप्त हुई थी क्योंकि वहां के अनेक प्रभावशाली नागरिक सरकार के बाहर व भीतर दोनों ही बन गये थे अर्थात् वे नाज़ी शासन व उसके अन्तरराष्ट्रीय लक्ष्यों के अनुयायी हो गये थे। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि सैनिक विजय से पूर्व ही ये देश अधिकांश तौर पर सांस्कृतिक साम्राज्यवादी साधनों द्वारा कब्जे में लाये जा चुके थे। यह ब्रिटेन ने द्वितीय विश्व-महायुद्ध के प्रारम्भ में ही अपनी सीमा के अन्दर रहने वाले नाज़ी तथा उसके प्रति सहानुभूति रखने वालों को नज़रबन्द करके नाज़ी सांस्कृतिक प्रवेश के भय को स्वीकार किया था। नाज़ी सांस्कृतिक प्रभाव के प्रवेश का यह भय उस देश को बना हुआ था जो जर्मन साम्राज्यवाद का सम्भावित लक्ष्य था।

सांस्कृतिक साम्राज्यवाद का दूसरा विलक्षण उदाहरण हमारे युग का साम्यवादी अन्तरराष्ट्रीय संघ है जो कि नाज़ी पांचवें कालम के पहले से स्थापित है। मास्को द्वारा सरकारी तौर पर पथ-प्रदर्शित यह संस्था हर देश के साम्यवादी दल का नियन्त्रण व पथ-प्रदर्शन करती है और यह देखती है कि राष्ट्रीय साम्यवादी दल की सञ्चालित नीतियां सोवियत रूस की वैदेशिक नीति के अनुरूप हैं। जिस सीमा तक साम्यवादी दल किसी देश में प्रभाव प्राप्त करते हैं उसी अनुपात से सोवियत रूस का प्रभाव उन राष्ट्रों में बढ़ता जाता है, और जहां पर साम्यवादी दल राष्ट्रीय सरकार पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेते हैं वहां इन दलों के नियन्त्रण के फलस्वरूप रूसी सरकार इन राष्ट्रीय सरकारों पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेती है। पूर्वी यूरोपीय तकनीक जो सोवियत रूस ने अपनायी है वह सांस्कृतिक साम्राज्यवाद तथा अन्य प्रकार की साम्राज्यवादी विजयों की पारस्परिक आन्तरिक सम्बद्धता का श्रेष्ठ उदाहरण है। इन देशों में वहां के साम्यवादी दलों द्वारा साम्यवाद की विजय वास्तव में मास्को द्वारा निर्देशित केवल रूस के प्रभुत्व का साधन मात्र है जिससे अन्य साधनों का समन्वय उसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए स्थापित कर लिया गया है। इस प्रकार सैनिक विजय पूर्वी यूरोप पर रूसी आधिपत्य का आधार है। पूर्वी यूरोप के आर्थिक जीवन पर रूस का नियन्त्रण इस का समर्थक और पोषक है, जिसके फलस्वरूप पूर्वी यूरोप रूस के ऊपर अवलम्बित रहता है।

और अन्त म सोवियत रूस ने पूर्वी यूरापीय जनता की अपने राष्ट घम राजनीतिक दलो के प्रति प्ररित परम्परागत भक्ति को साम्यवाद के प्रति प्ररित करने का प्रयत्न किया है जिसके फलस्वरूप यह भक्ति सोवियत रूस के प्रति आकृष्ट हो जाय और सब रूसी नीतिया क मनचाहे यत्र बन जायें।

समग्र शक्ति सम्पन्न (Totalitarian) सरकारो का सास्कृतिक साम्राज्यवाद अत्यधिक अनुशासित तथा सगठित होता है क्याकि य सरकारें अपने समग्र शक्ति सम्पन्न चरित्र के कारण ही अपन नागरिको तथा वैदेशिक सहानुभूति प्रकट करन वालो के विचारो तथा कार्यों पर कठोर नियत्रण तथा अधिनायकीय प्रभाव स्थापित कर सकती हैं। जबकि सास्कृतिक साम्राज्यवाद की तकनीक को सम्पूर्ण शक्तिवादियो ने परिपूर्ण कर रखा है और उसे पाचवी पक्ति (Fifth column) क रूप म एक प्रभावशाली राजनीतिक यत्र बना दिया है। सास्कृतिक सहानुभूति तथा राजनीतिक लगाव का साम्राज्यवादी अस्त्र के रूप म प्रयोग प्राय उतना ही प्राचीन है जितना कि स्वय साम्राज्यवाद का। प्राचीन यूनान तथा पुनर्जागत इटली का इतिहास उन गाथाओ से भरा पडा है जिनमे साम्राज्यवादी नीतियो को शत्रु की सेना के मध्य सैनिक विजयो की अपेक्षा राजनीतिक सहानुभूति से पूर्ण समुदायो द्वारा सचालित किया गया था। आधुनिक युग की सरकारो से सम्बद्ध धार्मिक सस्थाओ ने साम्राज्यवादी नीतियो के सास्कृतिक चरित्र मे महत्वपूर्ण भाग लिया है। इस प्रसग मे जारशाही रूस की नीतिया इसका विशिष्ट उदाहरण है जिसने जार की दुहरी स्थिति (रूसी सरकार के अध्यक्ष तथा कट्टर चच (Orthodox Church) के अध्यक्ष) का कट्टर चच के धम क वैदेशिक अनुयायियो का रूस की शक्ति के विकास क लिय प्रयोग किया था। उन्नीसवी शताब्दी मे बालकन प्राय द्वीप म तुर्किस्तान के विरुद्ध रूस अधिनायक शक्ति के रूप म आगे आने म प्राय इसी कारण सफल हुआ था क्योकि उसन कट्टर चच के सास्कृतिक साम्राज्यवाद का रूसी वैदेशिक नीति के अस्त्र के रूप म सफलतापूवक प्रयोग किया था।

धम-निरपेक्ष पृष्ठभूमि म फ्रास का La mission civilisatrice फ्रासीसी साम्राज्यवाद का एक समय अस्त्र रहा है। फ्रासीसी सभ्यता के आकषक गुणों का फ्रासीसी वैदेशिक नीति मे जानबूझ कर प्रयोग प्रथम विश्व महायुद्ध के पूव भूमध्य सागर क क्षेत्रो क देशो म फ्रासीसी साम्राज्यवाद के आधारो म से एक आधार था। दोनो विश्व-महायुद्धो क समय म जो सम्पूर्ण जगत म फ्रास के लिय जन सहानुभूति की लहर दौड गइ वह सास्कृतिक साम्राज्यवाद का ही फल था जिसक फलस्वरूप फ्रास के सैनिक साम्राज्यवाद को दोनो विश्व-महायुद्धो क अन्तिम तथा विजयी वर्षों म शक्ति प्राप्त हुई। राष्ट्रीय सस्कृति के

विस्तार के रूप में सांस्कृतिक साम्राज्यवाद सम्पूर्ण शक्तिसम्पन्न तत्त्व के अनुपात में कहीं कम यान्त्रिक तथा अनुशासनबद्ध है परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह उससे कम प्रभावशाली भी है। जबकि शक्ति-सम्पन्न साम्राज्यवाद अधिकतर राजनीतिक विचार पद्धति के सम्पर्कों का प्रयोग करता है सांस्कृतिक साम्राज्यवाद विदेशों के बौद्धिक रूप से प्रभावशाली वर्ग को अपनी संस्कृति के आकर्षक गुणों से उस समय तक प्रभावित करता है जब तक कि वह वर्ग उस संस्कृति के राजनीतिक लक्ष्यों व मान्यताओं को भी उतना ही आकर्षक महसूस करने को उद्यत होने लगता है।

हमने पहले ही दर्शाया है कि सांस्कृतिक साम्राज्यवाद साधारणतया सैनिक तथा आर्थिक साम्राज्यवाद के सहायक के रूप में कार्यान्वित होता है। इसी प्रकार जब कि आर्थिक साम्राज्यवाद कभी-कभी अपने पैरों पर खड़ा रहता है, सांस्कृतिक साम्राज्यवाद अधिकतर सैनिक नीतियों का सहायक होता है। दूसरी ओर सैनिक साम्राज्यवाद बिना असैनिक साधनों की सहायता के विजयी हो सकता है किन्तु कोई भी प्रशासन केवल सैनिक शक्ति पर आधारित होकर अधिक समय तक नहीं टिक सकता। तो फिर विजेता केवल आर्थिक तथा सांस्कृतिक प्रवेश द्वारा सैनिक विजय के लिए पृष्ठभूमि ही नहीं तैयार करेगा और वह अपने साम्राज्य का आधार केवल सैनिक शक्ति पर निर्धारित नहीं करेगा वरन् प्राथमिक तौर पर पराजितों की जीविका के नियन्त्रण तथा उनके मस्तिष्कों पर प्रशासन करके आधारित करेगा। और इस अत्यन्त सूक्ष्म परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य में रोम को छोड़कर सिकन्दर से लेकर नैपोलियन व हिटलर तक सभी मस्तिष्कों को जीतने की असफलता जिनको उन्होंने जीत लिया था उन साम्राज्यों के अन्त का कारण बनी। नैपोलियन के विरुद्ध सदा नये बनाये गये गुट रूस के विरुद्ध पोलैंड की सारी उन्नीसवीं शताब्दी भर का विद्रोह हिटलर के विरुद्ध गुप्त लोगों का संघर्ष तथा आयरलैण्ड व भारत का ब्रिटिश शासन के विरुद्ध स्वतन्त्रता संग्राम आधुनिक युग में उस अन्तिम समस्या के वे उच्चतम उदाहरण हैं जिसको कुछ ही साम्राज्यवादी नीतियाँ सुलझा पाई हैं।

किस प्रकार एक साम्राज्यवादी नीति का अनुसन्धान तथा सन्तुलन किया जा सकता है?

अब तक किया गया विवेचन हमें उस आधारभूत प्रश्न की ओर ले जाता है, जिसका सामना वैदेशिक नीति का संचालन करने वाले जन-अधिकारी गण तथा नागरिकों को अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों के बारे में एक विवेकपूर्ण निश्चय तक पहुँचने के लिये करना पड़ता है। प्रश्न अन्य राष्ट्र द्वारा संचालित

वैदेशिक नीति के चरित्र से और इसलिए उस वैदेशिक नीति के प्रकार से सम्बन्धित है जो उसके साथ अपनाया जाना चाहिये। क्या दूसरे राष्ट्र की वैदेशिक नीति साम्राज्यवादी है अथवा ऐसी नहीं है? दूसरे शब्दों में, क्या वह वर्तमान शक्ति-वितरण को पलट देना चाहती है अथवा उसका तात्पर्य केवल यथापूर्व-स्थिति के साधारण ढाँचे के अन्तर्गत एकीकरण है? इस प्रश्न के उत्तर ने राष्ट्रों के भाग्य को निर्धारित किया है और इसके गलत उत्तर का अर्थ घोर संकट अथवा वास्तविक ध्वंस हुआ है, क्योंकि उत्तर के ठीक होने पर ही उससे उपजी वैदेशिक नीति की सफलता निर्भर है। साम्राज्यवादी इरादों का सामना यथापूर्व-स्थिति की नीति पर आधारित साधनों द्वारा करना घातक है। यह भी कम खतरे से खाली न होगा कि उस नीति से जो केवल यथापूर्व-स्थिति के अन्तर्गत एकीकरण ढूंढती हो, ऐसा वर्ताव किया जाय कि मानो वह साम्राज्यवादी नीति हो। प्रथम त्रुटि की उच्चतम मिसाल उन्नीस सौ तीस के लगभग जर्मनी के प्रति तुष्टिकरण की नीति थी। दूसरी त्रुटि का उदाहरण प्रथम विश्व-महायुद्ध के प्रारम्भ के पूर्ववर्ती युग में यूरोप की महान् शक्तियों की वैदेशिक नीतियों पर निर्णायक प्रभाव था।

नीति की समस्या: विरोध-नीति, तुष्टीकरण तथा भय—क्योंकि साम्राज्यवादी तथा यथापूर्व स्थिति की नीतियाँ अपने स्वभाव में आधारभूत रूप से भिन्न हैं इसी कारण जो नीतियाँ उनके सन्तुलन के हेतु निर्धारित की जाती हैं, वे आपस में एक दूसरे से आधारभूत रूप में भिन्न होनी चाहियें। एक नीति, जिसके द्वारा यथापूर्व-स्थिति की नीति का सन्तुलन किया जा सकता है, साम्राज्यवादी नीति के मुकाबले के लिये पर्याप्त नहीं होती। एक यथापूर्व-स्थिति की नीति जिसका उद्देश्य वर्तमान शक्ति-वितरण के सामूहिक दायरे में एकीकरण स्थापित करना होता है, उसका मुकाबला आदान-प्रदान, सतुलन तथा समझौते द्वारा किया जा सकता है अर्थात् उस नीति के द्वारा जोकि सम्पूर्ण शक्ति वितरण के दायरे के मध्य एकीकरण के साधनों का प्रयोग करती है, जिसके अन्तर्गत अधिकतम लाभ तथा न्यूनतम हानि का लक्ष्य समक्ष रखा जाता है। साम्राज्यवाद को, जोकि वर्तमान शक्ति-वितरण को पलट देना चाहता है, कम से कम रोकथाम की नीति द्वारा सन्तुलित करना चाहिये, जो कि वर्तमान शक्ति-वितरण की सुरक्षा में साम्राज्यवादी राष्ट्र द्वारा लाये गये और अधिक अत्याचार, विस्तार तथा यथापूर्व स्थिति के अन्य विघ्नों को एकदम रोक देने का लक्ष्य रखती है। रोकथाम की नीति एक दीवार खड़ी कर देती है, भले ही वह यथार्थ हो अथवा काल्पनिक, उदाहरणार्थ चीन की महान् दीवार अथवा फ्रांसीसी मैगीनो लाइन। काल्पनिक दीवार का उदाहरण है सन् 1945 में निर्धारित सोवियत वृत्त तथा पाश्चात्य

जगत् के मध्य निर्धारित रेखा। मानो यह दीवार साम्राज्यवादी राष्ट्र से कहती है "यहाँ तक, पर अब आगे नहीं। यह चुनौती देती है कि उस रेखा के आगे एक कदम भी बढ़ाया तो निश्चय ही युद्ध भड़क उठेगा।

तुष्टीकरण की नीति वह वैदेशिक नीति है जो साम्राज्यवाद के खतरे का उन साधनों द्वारा मुकाबला करना चाहती है जोकि यथापूर्व स्थिति की नीति के लिये उपयुक्त है। तुष्टीकरण की नीति साम्राज्यवाद के साथ ऐसा व्यवहार करती है मानो कि वह यथापूर्व स्थिति की नीति है। उसकी त्रुटि यह है कि वह एक समझौते की नीति को यथापूर्व-स्थिति के लिये अनुकूल राजनीतिक वातावरण से हटाकर उस वातावरण में ले जाती है जोकि साम्राज्यवादी आक्रमण के लिये उपयुक्त है तथा जहाँ पर वह लागू नहीं हो सकती। हम यह भी कह सकते हैं कि तुष्टीकरण की नीति समझौते की नीति का विकृत रूप है जो कि साम्राज्यवादी नीति को यथापूर्व-स्थिति की नीति का रूप समझने के कारण त्रुटिपूर्ण बन जाती है।

'तुष्टीकरण' शब्द का प्रयोग असयत एव तिरस्कृत रूप में करने की आजकल की इस प्रवृत्ति से दृष्टि हटाकर यह बात विशेष ध्यान में रखनी चाहिये कि तुष्टीकरण की नीति व साम्राज्यवाद एक दूसरे से तर्कसंगत रूप में जुड़े हुए हैं। दूसरे शब्दों में, एक ओर तुष्टीकरण की नीति का होना तथा दूसरी ओर साम्राज्यवादी नीति का होना आवश्यक है। यदि हम कहते है कि 'अ' राज्य 'ब' राज्य के साथ तुष्टीकरण की नीति बरतता है, तो हम उसी समय यह भी कह रहे हैं कि 'ब' राज्य 'अ' राज्य के साथ साम्राज्यवादी नीति बरत रहा है। यदि दूसरा वाक्य गलत है तो प्रथम भी अर्थहीन हो जाता है।

तुष्टि करने वाला राष्ट्र साम्राज्यवादी शक्ति की उत्तरोत्तर माँगों में विवेक-पूर्ण रूप से सीमित उन लक्ष्यों को व्याप्त देखता है, जो स्वयं में यथापूर्व-स्थिति को कायम रखने से मेल खाते हैं और जो या तो अपने स्वयं के गुणों के आधार पर अथवा समझौते द्वारा समाप्त किये जा सकते हैं। उसकी त्रुटि यह नहीं है कि वह यह नहीं देख पाता कि एक के बाद एक माग स्वयं में पूरक नहीं है और किसी विशेष मनमुटाव से नहीं जन्मी है, वरन् यह कि ये माँगें एक जंजीर की कड़ियाँ हैं, जिसके अन्त की कड़ी यथापूर्व-स्थिति को पलट देती हैं। आपस में विरोधी नीतियों का कानून अथवा नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर समझौता अथवा कूटनीतिक सौदा वास्तव में उस कूटनीति का एक महान् कार्य है, जोकि यथापूर्व-स्थिति की मान्य सीमाओं के अन्तर्गत सचालित होती है। क्योंकि दोनों पक्ष वर्तमान शक्ति-वितरण को मान्यता प्रदान करते हैं, दोनों ही पक्ष अपने झगड़े या तो सिद्धान्त के आधार पर अथवा समझौते द्वारा सुलझा सकते हैं,

क्योंकि जो कुछ भी समझौता होगा, वह उनके मध्य बुनियादी शक्ति-वितरण को प्रभावित नहीं करेगा।

परन्तु उस समय परिस्थिति भिन्न हो जाती है जब कि एक अथवा दोनों ही पक्ष वर्तमान शक्ति वितरण में आधारभूत परिवर्तन की खोज में हों। तब किसी विशेष भाग का कानूनी अथवा नैतिक सिद्धान्त के आधार पर अथवा सौदे के साधन द्वारा निपटना और इस ओर से उदासीन रहना कि उस समझौते का शक्ति वितरण पर क्या प्रभाव पड़ेगा, वास्तव में, साम्राज्यवादी राष्ट्र के पक्ष में शक्ति वितरण में खण्डश परिवर्तन उपस्थित करेगा। क्योंकि दूसरा सदा समझौते द्वारा मुनाफा उठायेगा और चालाकी से अपनी माँगों का आधार चुनेगा ताकि सिद्धान्त भी उसके पक्ष में रहे। अब ये टुकड़े करके प्राप्त किये हुए परिवर्तन जुड़ कर साम्राज्यवादी राष्ट्र के पक्ष में शक्ति-सम्बन्धों को बदल देंगे। साम्राज्यवादी राष्ट्र एक अहिंसात्मक विजय, जो निश्चित ही रहती है अपने इस विरोधी के ऊपर प्राप्त कर लेगा, जिसको समझौते व तुष्टि का भेद मालूम नहीं था।

जर्मनी ने सन् 1935 में खुले तौर पर साम्राज्यवादी नीतियों का श्रीगणेश वार्साई संधि की निरस्त्रीकरण की धाराओं की भर्त्सना के उपरान्त किया, जिसके साथ ही अन्य राष्ट्रों के निःशस्त्रीकरण की असफलता की ओर तथा फ्रांस व रूस के निःशस्त्रीकरण में वृद्धि की ओर भी संकेत किया। स्वयं अपने आप में और स्वार्थपरता के लक्ष्य की ओर उदासीन होकर देखने से इस तर्क में समानता के कानूनी सिद्धान्त की दृष्टि से गुण की कमी न थी। कागजी विरोध-पत्रों तथा कागजी मैत्री-संधियों के अलावा जर्मनी के साम्राज्य की ओर पहले कदम की ठोस प्रतिक्रिया तीन महीने के उपरान्त एंग्लो जर्मन नौ संधि के रूप में किया गया समझौता था, जिसके अन्तर्गत ग्रेटब्रिटेन ने जर्मनी को ग्रेट-ब्रिटेन की 35 प्रतिशत नौसेना संगठित करने की आज्ञा दे दी। यदि हम माँगों की घोषित विवेकपूर्ण सीमाओं को उनकी वास्तविक सीमायें मान लें, तो सन् 1936 में जर्मनी द्वारा राइनलैंड पर कब्जा तथा उसी वर्ष अपनी नदियों के अंतर्राष्ट्रीय कन्ट्रोल का अनिष्टकारी प्रकाशन दोनों ही को कानूनी समानता के सिद्धान्त का आधार प्राप्त था। सन् 1938 में आस्ट्रिया के हथियाने का भी राष्ट्रीय स्व-शासन के सिद्धान्त के आधार पर समर्थन किया जा सकता था, जिससे प्रथम विश्व-महायुद्ध के पूर्व मित्र राष्ट्रों के युद्ध लक्ष्यों में से एक घोषित लक्ष्य माना गया था।

तदुपरान्त जर्मनी ने चेकोस्लोवेकिया के जर्मन हिस्से की सन् 1938 के अन्त में माँग की, जब म्यूनिक-संधि के पूर्व हिटलर ने यह घोषणा की कि चेकोस्लोवेकिया का जर्मन हिस्सा वह आखरी क्षेत्रीय माँग है, जो जर्मनी यूरोप में

कर रहा है, तो वास्तव में वह कह रहा था कि इस भूमि का हथियाना अपने आप में एक विवेकसंगत लक्ष्य है। उसने यह ढोंग रचा था कि जर्मन वैदेशिक नीति यूरोप की यथा पूर्व-स्थिति के साधारण ढाँचे की सीमा के अन्तर्गत ही कार्यशील है और उसे पलटने का उसका कोई इरादा नहीं है और अन्य यूरोपीय शक्तियों का भी जर्मन वैदेशिक नीति को उसी प्रकाश में दृष्टिगोचर करना चाहिये तथा उसी प्रकार से उसके साथ बर्ताव करना चाहिये। मार्च सन् 1939 के अन्त में द्वितीय विश्व-महायुद्ध के छिड़ जाने के पाँच माह पूर्व जब सम्पूर्ण चेकोस्लेवाकिया के संयोजन तथा पोलैंड के ऊपर की गई क्षत्रीय माँगों के उपरान्त पाश्चात्य शक्तियों को विश्वास तो हो गया कि जो एक यथापूर्व-स्थिति की नीति के रूप में दृष्टिगोचर होती रही है वह वास्तविकता में प्रारम्भ से ही साम्राज्यवादी नीति रही है। यदि वह विश्वव्यापी साम्राज्यवादी नीति नहीं थी तो वह महाद्वीपीय साम्राज्यवादी नीति तो निश्चय थी।

उस क्षण तक यूरोप में शक्ति-वितरण पहले से ही जर्मनी के पक्ष में परिणत हो चुका था। वह उस हद तक बदल चुका था कि जर्मनी की शक्ति में अन्य वृद्धि केवल युद्ध के अतिरिक्त अन्य किसी साधन द्वारा नहीं रोकी जा सकती थी। जर्मनी इतना शक्तिशाली हो चुका था कि अब वारसाई द्वारा निर्धारित यथापूर्व-स्थिति को खुली चुनौती दे सकता था और उन राष्ट्रों की ख्याति-अर्थात् शक्ति की प्रसिद्धि, जो कि वारसाई-व्यवस्था के साथ तादात्म्य स्थापित कर चुके थे, इतनी गिर चुकी थी कि वे यथापूर्व-स्थिति के अवशेष को भी कूट-नीतिक साधनों द्वारा सुरक्षित रखने में असमर्थ थे। या तो वे आत्म-समर्पण कर सकते थे अथवा युद्ध। इस प्रकार सन् 1938 के तुष्टिकर्त्ताओं ने जब जर्मन साम्राज्यवाद के विरोध का निराशायुक्त समझा था तो उनकी भूमिका देशद्रोही की थी। या फिर सन् *1939-45* में उन्होंने उस विरोध के फल के या उसकी सफलता के किसी भी दैवयोग के होते हुए भी, उस विरोध को नैतिक रूप से आवश्यक समझा था, तब वे उसके नायक बन गये थे। अन्तिम महान् विपत्ति तथा जो दुखान्त कार्य उस विपत्ति के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय रजत-पट के अभिनेताओं के सम्मुख खड़े हो गये, उस प्राथमिक त्रुटि द्वारा पहले से ही निर्धारित हो चुके थे, जिसके फल-स्वरुप उन्होंने एक साम्राज्यवादी नीति का उत्तर इस प्रकार दिया था मानो वह एक यथापूर्व-स्थिति की नीति हो।

"एक बार यदि विरोध-नीति साम्राज्यवादी नीति को रोक देने में सफल हो जाय, या फिर साम्राज्यवादी नीति अपने लक्ष्य की पूर्ति द्वारा अपना मार्ग पूरा कर चुकी हो या वह क्षय हो चुकी हो, तो रोकथाम (बिना समझौते के विरोध की नीति) शायद समझौते के लिये रास्ता ही खोल दे। ऐसी नीति जब साम्राज्यवाद

की संतुष्टि करती है तो बुरी होती है, परन्तु जब यह एक यथापूर्व–स्थिति की नीति को स्थान देने को अपना लक्ष्य बनाती है अर्थात् उस नीति को, जिसने अपनी साम्राज्यवादी अभिलाषायें पीछे छोड़ दी हो, तो वह एक भलाई बन जाती है। यह वह अन्तर है, जिसकी ओर सर विन्सटन चर्चिल ने 14 दिसम्बर सन् 1950 मे हाऊस आफ कामन्स मे इशारा किया था। उन्होने कहा था —

'प्रधानमन्त्री की यह घोषणा कि कही भी कोई तुष्टीकरण की नीति नही होगी, सबका समर्थन प्राप्त करती है। यह देश के लिये एक अच्छा नारा है। परन्तु मुझे यह लगता है कि इस सदन मे उसकी स्पष्ट परिभाषा की आवश्यकता है। हमारा वास्तव मे तात्पर्य, जैसाकि मैं सोचता हूँ, यह है कि कमजोरी अथवा भय से उपजी कोई संतुष्टि की नीति नही अपनायी जायेगी। तुष्टीकरण अपने आप मे परिस्थितियो के अनुसार अच्छा अथवा बुरा है। भय से उपजा तुष्टीकरण निरर्थक तथा घातक दोनो ही है। शक्ति से उपजा तुष्टीकरण उदार तथा भद्र दोनो ही है और विश्व-शान्ति के लिये आवश्यक तथा एक मात्र रास्ता हो सकता है।''

दूसरी वह आधारभूत त्रुटि, जिसमें वैदेशिक मामलो के संचालन के उत्तरदायी लोग फस सकते हैं, इसके ठीक विपरीत है। उसका वर्णन हम अभी कर चुके हैं। इसमे एक यथापूर्व–स्थिति की नीति को गलती से साम्राज्यवाद की नीति समझ लिया जा सकता है। ऐसा करने से "अ" राज्य वे तमाम पग उठाता है, जो अपने लक्ष्य मे केवल आत्मसुरक्षा की भावना से प्रेरित है, अर्थात् शस्त्रीकरण, फौजी अड्डे, फौजी सन्धियाँ इत्यादि। ये सब "ब" राज्य की ओर लक्षित होते हैं। दूसरा राज्य, इसके उत्तर मे, विपरीत पग उठाने लगता है, क्योंकि वह अब देखता है कि "अ" राज्य साम्राज्यवादी नीति की ओर अग्रसर हो रहा है। उत्तर के रूप मे उठाये गए ये कदम "अ" राज्य के प्रारम्भिक भय की शंकाओ को शक्ति प्रदान कर देते है, जो उसमे "ब" की नीतियो के बारे मे प्रारम्भ मे उत्पन्न हो गई थी। फिर यही चक्र चलने लगता है। अन्त मे या तो दोनो देश एक दूसरे से सम्बन्धित नीतियो की अपनी त्रुटियो का सुधार कर लेते हैं या फिर दोनो ओर से बढती हुई आपसी शंकायें एक दूसरे को उभारती हुई अन्त मे युद्ध मे परिणत हो जाती हैं। एक प्राथमिक त्रुटि से एक दुष्ट कुचक्र जन्म ले लेता है। जब दो अथवा दो से अधिक राज्य, जिनमे से प्रत्येक केवल यथापूर्व-स्थिति को कायम रखने की खोज कर रहा हो, तब दोनो एक दूसरे के साम्राज्यवादी षड्यन्त्रो के बारे मे पूर्णरूप से विश्वास किये हुए अपने फैसले व कार्य की त्रुटि का आधार दूसरे की त्रुटियो मे ढूंढ लेते है। ऐसी स्थिति मे केवल एक महामानवीय प्रयत्न ही घटनाओ के क्रम को प्राथमिक षड्यन्त्र के मार्ग से मोड सकता है।

सन् 1870 के फ्रांस व जर्मनी के मध्य युद्ध से लेकर प्रथम विश्व महायुद्ध के सन् 1914 में छिड़ जाने तक की यूरोपीय कूटनीति का इतिहास इस स्थिति का उदाहरण है। सन् 1870 के युद्ध के विजयात्मक अन्त के तथा जर्मन साम्राज्य की स्थापना के उपरान्त जर्मन वैदेशिक नीति मुख्यतः आत्म-सुरक्षा-पूर्ण थी। उनका ध्यान यूरोप में जर्मनी की नयी स्थिति की रक्षा करने की ओर था जो कि उसने प्राप्त कर ली थी तथा बिस्मार्क के प्रसिद्ध शब्दों 'कॅऊचमार दस कोअलीशन्स' में विशेषतः फ्रांस व रूस के मध्य एक उग्र संघर्ष स्थिति को पलट सकना था। जर्मनी आस्ट्रिया व इटली के समक्ष तृतीय संधि उस आत्म-रक्षा की नीति का साधन थी। उसकी सेवा रूस के साथ पुनः आश्वासन की संधि द्वारा भी प्राप्त की गई थी जिसके अन्तर्गत रूस व जर्मनी ने दोनों में से किसी के भी किसी तीसरे से युद्ध में उलझ जाने की स्थिति में, एक-दूसरे से निष्पक्षता की प्रतिज्ञा की थी।

सन् 1890 में बिस्मार्क के अपदस्थ होने के उपरान्त विलियम तृतीय ने पुनः आश्वासन की संधि के अतिक्रमण का निश्चय कर लिया, विशेषकर इस भय से कि कहीं उसका सञ्चालन आस्ट्रिया के हृदय में कटुता पैदा कर तृतीय संधि को ध्वस्त न कर दे। तदुपरान्त (सन् 1891 व 1894 में) रूस ने फ्रांस से समझौते किये, जो कि अपने चरित्र में आत्म-सुरक्षा के होते थे और स्पष्ट रूप से तृतीय संधि के भय व इरादों द्वारा प्रेरित थे। सन् 1894 के सैनिक सम्मेलन की धाराएँ विशेषतः यह पूर्व आशा करती थी कि सम्भवतः तृतीय संधि एक आरम सुरक्षा की संधि से बदलकर साम्राज्यवाद का यन्त्र बन जायेगी। इस दस्तावेज की प्रमुख धाराओं का निम्नलिखित तात्पर्य था यदि फ्रांस के ऊपर जर्मनी अथवा इटली का जर्मनी की मदद से आक्रमण होगा तो रूस फ्रांस को फौजी मदद देगा। यदि रूस भी जर्मनी अथवा जर्मनी की सहायता द्वारा आस्ट्रिया के आक्रमण का शिकार बनता है, तो फ्रांस भी रूस के साथ ऐसा ही करेगा। यदि तृतीय संधि के देश अपनी फौजों को युद्ध के लिये तैयार करते हैं, तो फ्रांस व रूस भी अपनी-अपनी फौजों को युद्ध के लिए अविलम्ब तैयार करेंगे।

प्रथम, गुटबन्दियों का भय तृतीय संधि के संगठन की ओर ले गया। फिर उसके ध्वस होने के भय ने जर्मनी को रूस से मैत्री-पूर्ण सम्बन्धों को समाप्त करने को उद्यत किया। अन्त में तृतीय संधि के इरादों के भय ने फ्रांस व रूस की संधि को जन्म दिया। वह इन दो बचाव की संधियों के आपसी भय तथा अनिश्चित चरित्र द्वारा उपजी असुरक्षा थी, जिसने प्रथम विश्व-महायुद्ध के पूर्व के दो पक्षों में कूटनीतिक दाँव-पेचों को प्रेरित किया था। इन दाँव-पेचों ने या तो नए गठबंधनों की खोज की, जो कि स्थित सन्धियों को ध्वस कर दें अथवा स्थित संधियों के लिए उन शक्तियों की सहायता प्राप्त करें, जो अभी तक अलग रही थी। अन्त में

सन् 1914 में यह प्रचंड अग्नि आवश्यक भय बन गई, क्योंकि एक पक्ष को यह भय था कि यदि उसके द्वारा यह परिवर्तन अपने पक्ष में करके रोक न दिया जायेगा, तो दूसरा पक्ष शक्ति सम्बन्धों को निश्चय रूप से अपने पक्ष में कर लेगा। इन दो विरोधी पक्षों में रूस व आस्ट्रिया विशेषकर इस भय से आक्रान्त थे। अन्य राष्ट्रों के शंकास्पद साम्राज्यवाद के भय ने प्रतिक्रिया में साम्राज्यवाद को जन्म दिया, जिसके प्रत्युत्तर में प्रारंभिक भय और भी वास्तविक बन गया।

अनुसन्धान की समस्या

सन्तुष्टीकरण, साम्राज्यवाद से समझौते का प्रयत्न है, जिसे प्रायः इस रूप में नहीं समझा जाता, यह वह भय है जो साम्राज्यवाद उस जगह उत्पन्न कर देता है जहाँ वह न हो। इन दो त्रुटिपरक उत्तरों तथा दो घातक त्रुटियों को निपुण वैदेशिक नीति को अपने से परे रखना चाहिए। ऐसी निपुण वैदेशिक नीति जो साम्राज्यवाद को उस स्थान पर मान्यता देती है, जहाँ वह प्राप्त हो, तथा उसका विशेष चरित्र निर्धारित करती है, पाँच कठिनाइयों द्वारा बाधित की जाती है और ये सब कठिनाइयाँ भीषण चरित्र की हैं।

प्रथम तथा पूर्णतः मौलिक कठिनाई का संकेत बुखारीन ने किया था, जोकि लेनिन की मृत्यु के उपरान्त से लेकर उन्नीस सौ तीस की महान् छटनी (great purges) तक साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रमुख व्याख्याता था। साम्राज्यवाद की अन-आर्थिक व्याख्याओं के विरुद्ध तर्क प्रस्तुत करते हुए उसने संक्षेप में यों कहा था "साम्राज्यवाद एक कब्जा करने की नीति है। परन्तु हर कब्जा करने की नीति साम्राज्यवाद नहीं है"। यह कथन वास्तव में सही है और हमारे पिछले कथनों से मेल खाता है, जहाँ पर हमने यथापूर्व-स्थिति को सीमाओं के अन्तर्गत कब्जे तथा उसको पलट देने की नीति के अंतर के बारे में कहा है। किसी विशेष ठोस परिस्थिति में, इस अंतर को स्थापित करने में भीषण कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कोई कैसे निश्चयपूर्वक जान सकता था कि हिटलर के अन्तिम लक्ष्य क्या थे? सन् 1935 के उपरान्त उसने एक के बाद एक माँग प्रस्तुत की जो स्वयं में यथापूर्व स्थिति की नीति से मिलाई जा सकती थी। उनमें प्रत्येक साम्राज्य की ओर अग्रसर होने वाली सड़क का सोपान बन सकती थी। प्रत्येक एकाकी कदम स्वयं में अस्पष्ट था, जिससे उस नीति के वास्तविक चरित्र का स्पष्टीकरण सम्भव नहीं था, जिसके वे मौलिक तत्त्व थे। तो फिर कहाँ पर कोई हमारे प्रश्नों का उत्तर ढूँढ सकता था?

फिर भी कोई उसे उन विशेष प्रकार की दो अथवा तीन परिस्थितियों के आधार पर जान सकता था, जिनकी ओर हम पहले संकेत कर चुके हैं कि वे

साम्राज्यवादी नीति को प्रोत्साहन देती है। भले ही यह खोज कितनी ही प्रयोगात्मक व शंकाप्रद रही हो, पर वारसाई यथापूर्व-स्थिति को पलट देने की अभिलाषा प्रारम्भ से ही नाज़ी कार्यक्रम का एक मुख्य अंग थी, जोकि सन 1933 में जर्मन सरकार का सरकारी कार्यक्रम बन गयी। इस लक्ष्य को दृष्टिगोचर करते हुए हम पहले से तो देख सकते थे कि जर्मन सरकार एक ऐसी वैदेशिक नीति का अनुसरण करेगी, जोकि मौका मिलने पर इसकी वास्तविकता को जल्दी से जल्दी हासिल करने का प्रयत्न करेगी अर्थात् जैसे ही वे राष्ट्र जिनका वारसाई संधि द्वारा यथापूर्व-स्थिति से तादात्म्य है या तो उस यथापूर्व-स्थिति की रक्षा सफलतापूर्वक करना नहीं चाहते अथवा ऐसा करने में असमर्थ हो गये हैं।

प्रारंभिक आधारभूत कठिनाई इस तथ्य से और भी उग्र हो जाती है कि एक नीति जोकि वर्तमान शक्ति-वितरण के अंतर्गत सामान्यता की खोज से प्रारंभ होती है या तो अपनी सफलता के दौरान अथवा अपने नैराश्य के चक्र में अपना चरित्र परिवर्तित कर दे। दूसरे शब्दों में, स्थापित शक्ति-वितरण के मध्य यदि प्राथमिक लक्ष्य आसानी से हासिल हो जाते हैं, तो विस्तारवादी राष्ट्र को आसानी से यह सोचने का प्रोत्साहन दे सकती है कि वह कमज़ोर अथवा डगमगाने वाले विरोधियों का सामना कर रहा है और इस कारण वर्तमान शक्ति-सम्बन्धों में बिना किसी भय अथवा बड़ी कोशिश के परिवर्तन किया जा सकता है। इस प्रकार खाने से भूख बढ़ सकती है और यथापूर्व-स्थिति के अंतर्गत एक सफल विस्तारवादी नीति तुरन्त अपने आप को साम्राज्यवादी नीति में परिणत कर सकती है। यही यथापूर्व-स्थिति की सीमा के अन्तर्गत विस्तारवादी नीति की असफलता के लिये सत्य हो सकता है। एक राष्ट्र यदि अपने उन सीमित लक्ष्यों में निराश हो जाता है, जोकि वर्तमान शक्ति-सम्बन्धों की ही सीमा के अन्तर्गत प्राप्त नहीं किए जा सकते, तो वह निर्णय करता है कि उन शक्ति-सम्बन्धों को ही बदल देना चाहिए। इसी दशा में वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति की निश्चितता प्राप्त कर सकता है।

जबकि एक नीति केवल क्षेत्रीय तथ्यों में प्रकट की जाती है तो उन क्षेत्रीय लक्ष्यों का *चरित्र कभी-कभी उस प्रभावित नीति के चरित्र का संकेत कर देता है।* उदाहरण के लिये वह लक्ष्य युद्ध के दृष्टिकोण से एक ऐसे लाभ का बिन्दु हो सकता है कि उसका हथियाना स्वयं में उस क्षेत्र के शक्ति-सम्बन्धों में परिवर्तन ला दे। परन्तु यह आसानी उस समय हासिल नहीं हो सकती, और इसी कारण एक और अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। जहाँ पर एक वैदेशिक नीति मुख्यतः आर्थिक अथवा सांस्कृतिक साधनों द्वारा घुसने का प्रयत्न करती है वहाँ ये साधन भी संदिग्ध है, क्योंकि वे उस नीति-संचालन में साधक बनते हैं, जिसका

चरित्र भी ऐसा ही है, परन्तु उनकी अस्पष्टता उन सैनिक साधनों की अपेक्षा कहीं अधिक है, जिनके निश्चित क्षेत्रीय लक्ष्य होते हैं। आर्थिक व सांस्कृतिक विस्तार का लक्ष्य अनिश्चित लक्ष्य होता है। आर्थिक और सांस्कृतिक विस्तार के लक्ष्य विभिन्न प्रकार के अनिश्चित व्यक्ति होते हैं। इसके अलावा उनका व्यावहारिक उपयोग काफी बड़े दायरे में अगणित राष्ट्रों द्वारा किया जाता है। साम्राज्यवाद के साधनों के रूप में, सांस्कृतिक और आर्थिक विस्तार का साम्य साम्राज्यवादी नीतियों से भिन्नता रखने वाली उन नीतियों से स्थापित करना, जिनके पीछे कोई निहित शक्ति-संचय का लक्ष्य नहीं है, एक दुष्कर कार्य है। यहाँ फिर उन विशेष परिस्थितियों का संकेत करना जोकि साम्राज्यवादी नीतियों को प्रेरित करती हैं, लाभदायक होगा।

वे गतिशील आर्थिक नीतियाँ, जिनका अनुसरण स्विटजरलैंड अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कर रहा है, कभी भी साम्राज्यवादी रंग में रँगी नहीं रही हैं। ब्रिटिश वैदेशिक व्यापार की नीतियाँ कभी-कभी कुछ देशों के प्रति साम्राज्यवादी रही हैं। आज उनका लक्ष्य मुख्यतः केवल आर्थिक है, अर्थात् वे ब्रिटिश द्वीप के निवासियों की आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रयत्न करती हैं। वे लाभदायक व्यापार-संतुलन के द्वारा आर्थिक जीवन की ओर लक्षित हैं। वे वैदेशिक राष्ट्रों के ऊपर राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने अथवा स्थापित करने की नीयत से संचालित नहीं है। कुछ सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थानों, जैसे मिस्र तथा ईरान, के प्रति ही द्वितीय विश्व-महायुद्ध के अन्त के पश्चात् ब्रिटिश आर्थिक नीति कभी कभी राजनीतिक विचार-विमर्श के अन्तर्गत हो गई है। इन विचारों में से कुछ ने तो साम्राज्यवादी रूप धारण कर लिया होगा और कुछ विशेष परिस्थितियों में भविष्य में धारण कर लेंगे।

स्पेन का दक्षिणी अमरीका में सांस्कृतिक प्रवेश आवश्यकतावश साधारणतः साम्राज्यवादी महत्ता से वंचित रहा, क्योंकि संयुक्त राज्य की अपेक्षा स्पेन की सैनिक शक्ति की क्षीणता दक्षिण अमरीका में शक्ति-सम्बन्धों को स्पेन के पक्ष में परिवर्तित करने के विचार को रोके हुए थी। कुछ देशों में फ्रांस का सांस्कृतिक मिशन (दूतावास) स्वयं में एक लक्ष्य रहा है। विभिन्न परिस्थितियों के अंतर्गत व विभिन्न देशों में वह साम्राज्यवादी लक्ष्यों के अंतर्गत हो गया है। यहाँ पर भी आर्थिक व सांस्कृतिक विकास का चरित्र राजनीतिक परिस्थिति के परिवर्तन के अनुसार परिवर्तित हो सकता है। जब अवसर आता है तो "सद्भावना का सरोवर" अथवा दूसरे देश के वैदेशिक व्यापार में प्रभुत्वकारी स्थितियाँ, जो एक राष्ट्र ने स्वयं में एक लक्ष्य के रूप में प्राप्त कर रखी हैं, अकस्मात् राजनीतिक शक्ति के स्रोत तथा शक्ति-संघर्ष के समर्थ अस्त्र बन सकते हैं। जब फिर से परिस्थितियाँ

परिवर्तित हो जायें तो ये उतनी ही आकस्मिकता से अपना यह गुण खो सकते हैं।

जब इन सारी कठिनाइयों के ऊपर विजय प्राप्त कर ली गई हो और एक वैदेशिक नीति का सही रूप से साम्राज्यवादी होना निश्चित हो चुका हो तब एक और कठिनाई सामने आती है। इसका सम्बन्ध इस प्रश्न से है कि किस प्रकार के साम्राज्यवाद का हम सामना करते हैं। एक सफल स्थानीय साम्राज्यवाद अपनी सफलता से विस्तार का प्रोत्साहन प्राप्त कर सकता है और विस्तृत होते होते महाद्वीपीय अथवा विश्व-व्यापी बन सकता है। खासतौर पर अपनी स्थानीय प्रभुता को सुरक्षित व सतुलित करने के लक्ष्य से एक दफा यह आवश्यक समझ सकता है कि और अधिक उच्च स्तर पर शक्ति की प्रभुता प्राप्त की जाय और उसे विश्व-व्यापी राज्य में पूर्णरूप से सुरक्षा का भाव अनुभव हो। प्रायः साम्राज्यवाद में एक गतिमान तत्त्व निहित रहता है, जिसकी विषयपूर्ण व्याख्या आक्रमणकारी अथवा आत्म-सुरक्षा-पूर्ण शब्दों में व्याप्त रहता है और जो एक सीमित क्षेत्र से प्रारम्भ होकर महाद्वीप और वहाँ से लेकर सम्पूर्ण जगत् में फैल जाता है। फिलिप व सिकन्दर के आधिपत्य में मेसोडोनियन साम्राज्य तथा नेपोलियन का साम्राज्यवाद इसी प्रकार के थे। दूसरी ओर, एक विश्वव्यापी साम्राज्यवादी नीति, अपने से ऊँची शक्ति द्वारा विरोध पाकर एक भौगोलिक रूप से निर्धारित क्षेत्र में सिमट जा सकती है या फिर केवल स्थानीय प्रभुत्व से संतुष्ट हो सकती है या फिर वह अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्तियाँ पूर्णतः खोकर अपने आप को यथापूर्व-स्थिति की नीति में परिणत कर सकती हैं। एक भौगोलिक रूप से निर्धारित साम्राज्यवाद के रूप में विकसित होने के उपरान्त एक स्थानीय साम्राज्यवाद में लौट कर फिर वहाँ से साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का पूर्णरूप से विच्छेद सत्रहवीं व अठारहवीं शताब्दी के स्वीडन के साम्राज्यवाद के इतिहास में ढूँढा जा सकता है।

इसी कारण साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों का तथा उसके फलस्वरूप उन नीतियों का भी जो उसके विरोध में प्रकट होती है कभी भी निश्चित रूप में मूल्यांकन नहीं हो सकता। दोनों ही नीतियाँ तथा विरोधी नीतियाँ सदा पुनः मूल्यांकन तथा पुनः सुधार पर निर्भर रहती है। परन्तु वैदेशिक नीति के निर्धारणकर्त्ता सदा एक विशेष प्रकार के साम्राज्यवादी विस्तार, अथवा अन्य प्रकार की वैदेशिक नीति के साँचे को स्थायी समझ लेने तथा उस साँचे के अनुकूल वैदेशिक नीति सचालित करने के लोभ के शिकार बन सकते हैं, विशेषतः जब वह साँचा ही बदल चुका हो। एक विश्वव्यापी साम्राज्यवाद के विरोध में उन साधनों से भिन्न साधनों की आवश्यकता होती है, जोकि एक स्थानीय साम्राज्यवाद का विरोध करते हैं। जो

राष्ट्र पहले साम्राज्य के लिए उपर्युक्त तत्वों को द्वितीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रयुक्त करें तो यह उन खतरों को निमन्त्रण देगा, जिनको वह दूर करना चाहता है। दूसरे राष्ट्र की साम्राज्यवादी नीति में परिवर्तन को शीघ्र मान्यता प्रदान करना एक अन्य कठिनाई है और अपनी स्वयं की वैदेशिक नीति को शीघ्र उस परिवर्तन के अनुसार बदल लेने की असफलता में त्रुटि का एक अन्य स्रोत है। अन्तत यह कहा जा सकता है कि सभी वैदेशिक नीतियों में साम्राज्यवाद किसी न किसी रूप में भागीदार रहता है। वे सब नीतियाँ साम्राज्यवाद को कम या अधिक उग्र रूप में प्रस्तुत करती है। विभिन्न वैदेशिक नीतियों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली के आवरण में साम्राज्यवाद का स्वरूप छिपा रहता है। समस्या यह है कि किस प्रकार शाब्दिक आवरण को भेदकर उसमें छिपे साम्राज्यवाद के स्वरूप को देखा जाय। अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच के अभिनेता बहुत कम बार ही अपनी वैदेशिक नीति उसके वास्तविक रूप में प्रस्तुत करते हैं, और एक साम्राज्यवादी नीति तो सर्वदा ही अपने असली स्वरूप को संचालित करने वाले राजनीतिज्ञों के कथनों द्वारा ओझल रखती है। संचालित नीतियों का वास्तविक चरित्र विचार-पद्धति के शब्दों के आवरण में छिपा रहता है। इन विचार-पद्धतियों के कारणों तथा प्रकारों का विवेचन इस पुस्तक के सातवें अध्याय में होगा। इस विवेचन के उपरान्त यह स्पष्ट हो जायेगा कि एक वैदेशिक नीति के तत्त्व तथा उसकी ऊपरी आकृति में अन्तर स्थापित करना कितना कठिन है।

छठा अध्याय

शक्ति-संघर्ष : प्रतिष्ठा की नीति

प्रतिष्ठा की नीति का आधुनिक राजनीतिक साहित्य में वास्तविक मान्यता की अपेक्षा कहीं कम मान्यता प्राप्त हुई है। यह है अंतर्राष्ट्रीय मंच पर शक्ति-संघर्ष की तीसरी आधारभूत अभिव्यक्ति। उस उदासीनता के तीन कारण हैं। प्रतिष्ठा की नीति इस उदासीनता में उन तमाम सूक्ष्म तथा दुर्लभ मन्त्रणाओं की भागीदार है जिनकी जानकारी को जैसा हम पहिले देख चुके हैं शक्ति के भौतिक रूप के व्यावहारिक अथवा चुनौतीपूर्ण पक्ष की दृष्टि से अत्यधिक सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक लगाव के कारण हानि उठानी पड़ी है। फिर भी प्रतिष्ठा की नीति ने कूटनीतिक जगत् में सामाजिक आचरण के हेतु कुलीनतन्त्रात्मक तरीका या अपने साधना के रूप में प्रचुर प्रयोग किया है। वह कूटनीतिक जगत् अपनी पारम्परिक नैतिक नियमावली मर्यादा की स्थिति से सम्बन्धित आपसी झगड़े व निरर्थक औपचारिकता के साथ प्रजातान्त्रिक जीवन पद्धति का विरोधाभास है। यहां तक कि वे भी, जिन्हें पूर्ण तौर पर यह नहीं समझाया जा सकता है कि शक्ति संघर्ष और कुछ नहीं है बस कुलीनतन्त्र का ही एक रूप मात्र है कूटनीतिज्ञों द्वारा संचालित प्रतिष्ठा की नीति को एक काल-गणना के भ्रम से पूर्ण खिलवाड़ मात्र समझते हैं। उन की दृष्टि में यह उच्छृंखल तथा हास्यास्पद है और अंतर्राष्ट्रीय राजनीति से इसका कोई आंगिक सम्बन्ध भी नहीं है।

अन्त में, शक्ति-संचय अथवा उसकी सुरक्षा के विपरीत कभी कभी प्रतिष्ठा अपने आप में एक लक्ष्य होती है। अधिकतर प्रतिष्ठा की नीति उन यन्त्रों में से एक है, जिन्हें यथापूर्व स्थिति की नीति तथा साम्राज्यवादी नीतियां अपने लक्ष्यों की पूर्ति के हेतु प्रयोग में लाती हैं तथा जिसके कारण यह निर्णय आसान हो जाता है कि प्रतिष्ठा की नीति महत्वपूर्ण नहीं है और उसके व्यवस्थित अध्ययन की आवश्यकता नहीं है।

वास्तव में प्रतिष्ठा की नीति का चाहे जितना भी बढ़ा चढ़ा अथवा हास्यास्पद रूप में प्रयोग किया गया हो वह राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों का उतना ही स्वाभाविक तत्त्व है जितना कि व्यक्तियों के आपसी सम्बन्धों में प्रतिष्ठा की इच्छा। यहां पर फिर से यह स्पष्ट हो जाता है कि अंतर्राष्ट्रीयता तथा गृह राजनीति एक ही सामाजिक तथ्य की विभिन्न अभिव्यक्तियां मात्र हैं। दोनों ही क्षेत्रों में

सामाजिक मान्यता की अभिलाषा एक गतिमान शक्ति है, जोकि सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित करती है तथा सामाजिक संस्थाओं को जन्म देती है। व्यक्ति अपने सहचरों द्वारा अपने स्वयं के मूल्यांकन की पुष्टि चाहता है। व्यक्ति की सज्जनता, बुद्धि तथा शक्ति को दूसरों के द्वारा की गयी प्रशंसा से ही बल मिलता है। इससे वह अपने उच्च गुणों के प्रति जागरूक हो सकता है तथा अपने उन गुणों का आनन्द उठा सकता है जिन्हें वह अपने उच्च गुण समझता रहा है। वह श्रेष्ठता की कीर्ति द्वारा ही उस सुरक्षा धन व शक्ति की मात्रा को प्राप्त कर सकता है *जिसे वह अपना अधिकार समझता है। इसी कारण जीवित रहने तथा शक्ति के* संघर्ष में—जो कि वस्तुतः सामाजिक जगत् का कच्चा माल है—यह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है कि दूसरे हमारे बारे में क्या सोचते हैं जितना कि यह कि हम वास्तव में क्या हैं। हमारे वास्तविक रूप की अपेक्षा हमारे साथियों के मन पर अंकित हमारी छाप समाज में हमारी सदस्यता के रूप को निर्धारित करती है। यह भी हो सकता है कि वह छाप हमारे वास्तविक स्वरूप का रूप ही हो।

तो फिर यह देखना आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण कार्य है कि दूसरे लोग किसी की सामाजिक स्थिति के बारे में जो मानसिक चित्र धारण करते हैं वह यदि श्रेष्ठतर नहीं है तो कम से कम सच्चाई से वास्तविक परिस्थिति का प्रतिनिधित्व तो करता है या नहीं। इसी के लिए प्रतिष्ठा की नीति होती है। उसका लक्ष्य दूसरे राष्ट्रों पर उस शक्ति का प्रभाव डालना है जोकि स्वयं अपना राष्ट्र उपभोग करता है या उस शक्ति का जिसमें वह राष्ट्र विश्वास करता है, या चाहता है कि दूसरे राष्ट्र विश्वास करें। दो विशेष यन्त्रों के द्वारा इस लक्ष्य की सिद्धि होती है पूर्ण विस्तृत अर्थों में कूटनीतिक रस्में तथा सैनिक शक्ति का प्रदर्शन।

कूटनीतिक विधि

नैपोलियन के जीवन की दो घटनायें स्पष्ट रूप से उन संकेतों को दर्शाती हैं, जिनके द्वारा अपने राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप में एक राजा की शक्ति-स्थिति रीति रिवाजों के रूप में प्रकट होती है। एक घटना तो नैपोलियन को शक्ति के शिखर पर स्थित दिखलाती है तथा दूसरी उस स्थिति को प्रकट करती है जब वह शक्ति शिखर को पीछे छोड़ चुका था।

सन् 1804 में नैपोलियन का पोप द्वारा सम्राट के रूप में राज्याभिषेक होने वाला था। तब दोनों ही शासकों का एक दूसरे के प्रति अपनी श्रेष्ठता प्रदर्शित करने में आधारभूत हित था। नैपोलियन अपनी श्रेष्ठता सफलतापूर्वक प्रदर्शित कर पाया था। उसने पोप के द्वारा नहीं वरन् अपने हाथों से अपने शीश पर

मुकुट धारण किया तथा रस्मों के द्वारा उसकी पुष्टि की। उसके एक जनरल तथा पुलिस मन्त्री, ड्यूक रोविगो ने अपने संस्मरण में इस प्रकार लिखा है —

वह पोप से नेमार्स की सड़क पर मिलने गया। रस्म की नीयत से शिकार-पार्टी का बहाना बनाया गया था और सहायक गण अपनी सामग्री-सहित जंगल में उपस्थित थे। सम्राट घोड़े पर सवार होकर शिकार की पोशाक में अपने नौकरों चाकरों सहित आये। जिस समय आकाश में अर्द्धचन्द्र निकला हुआ था पहाड़ की चोटी पर भेंट हुई थी। वहां पोप की गाड़ी आगे बढ़ी। वे बायें दरवाजे से अपनी सफेद पोशाक में उतरे। जमीन गन्दी थी। वह उस पर अपने सफेद सिल्क के जूतों से उतरना नहीं चाह रहे थे, परन्तु अन्त में उन्हें ऐसा करना ही पड़ा।

नैपोलियन घोड़े से उनका स्वागत करने को उतरे। वे एक दूसरे से गले मिले और बादशाह की गाड़ी जोकि जान बूझ कर आगे बढ़ा ली गई थी कुछ कदम आगे बढ़ी मानो कोचवान की लापरवाही के कारण ऐसा हुआ हो परन्तु उसके दोनों द्वारों को खुला रखने के लिए सेवक तैनात थे और अन्दर घुसते समय सम्राट् ने दाहिना द्वार अपनाया व दरबार का एक अधिकारी पोप को बाएं द्वार की ओर ले गया ताकि दोनों गाड़ी में दोनों दरवाजों से साथ ही साथ घुसें। सम्राट् स्वभावतः दाहिनी ओर बैठ गए और इस पहले कदम ने बिना किसी समझौते के वह व्यवहार निर्धारित कर दिया, जिसका अनुसरण पोप के संपूर्ण पेरिस में रहने के बाकी समय तक किया गया।[1]

दूसरी घटना ड्रेसडेन में सन् 1813 में हुई थी जबकि रूस में पराजय के उपरान्त नैपोलियन को सम्पूर्ण यूरोप के उस गठबन्धन से खतरा हो गया था जिसके परिणामस्वरूप उसे कुछ ही समय उपरान्त लिपज़िग की करारी हार की चोट खानी पड़ी थी। नैपोलियन ने आस्ट्रिया के चान्सलर मैटरनिच को एक नौ घण्टे की भेंट में इस गुटबन्दी से दूर रखने का प्रयत्न किया। मैटरनिच नैपोलियन से एक पतित व्यक्ति की भांति व्यवहार कर रहा था जबकि नैपोलियन इस प्रकार का व्यवहार कर रहा था मानो कि वह एक युग से यूरोप का मालिक हो। एक तूफानी विचार-विनिमय के उपरान्त नैपोलियन ने मानो अपनी उच्चता आंकने की नीयत से अपना टोप नीचे गिरा दिया। उसे आशा थी कि विरोधी गुट का प्रतिनिधि उसे उठा कर देगा। जब मैटरनिच ने उसे न देखने का बहाना किया तो यह दोनों व्यक्तियों को स्पष्ट हो गया होगा कि औस्टरलिट्स व वाग्राम की शक्ति व प्रतिष्ठा में एक निश्चित परिवर्तन आ गया है। मैटरनिच ने परिस्थिति को

1 Memoirs of the Duke of Rovigo (London 1828) Vol I Pt II, P 73

वार्तालाप के अन्त में इस आशय के शब्दों मे समाप्त कर दिया, "नैपोलियन मुझे विश्वास है कि तुम बाजी हार गये हो।"

कूटनीतिज्ञों के आपसी सम्बन्ध स्वाभाविक तौर पर प्रतिष्ठा की नीति के यन्त्र बन जाते हैं, क्योंकि कूटनीतिज्ञ अपने देशों के सांकेतिक प्रतिनिधि होते हैं।[2] जो आदर उनको दिया जाता है, वास्तव में, उनके देशों को दिया जाता है। जो आदर वे स्वय देते हैं वह उनके देश द्वारा प्रदान किया जाता है। जो मानहानि उनके प्रति अथवा उनके द्वारा की जाती है, वह वास्तव में उनके देश के प्रति अथवा उनके देश द्वारा की जाती है। इन तथ्यों के स्पष्टीकरण के उदाहरण इतिहास मे पर्याप्त है तथा उनको अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में जो महत्व प्राप्त होता है, उसके उदाहरण भी कम नहीं है।

प्राय सभी राज-दरबारों म यह परम्परा थी कि वैदेशिक राजदूतों का परिचय तो साधारण अफसरों द्वारा कराया जाता था, जबकि राजकीय राजदूतों का परिचय राजकुमार कराया करते थे। जब सन् 1698 मे लुई चौदहवें ने वेनिस के गणराज्य के राजदूत का परिचय लोरेन के राजकुमार द्वारा देने दिया था, तो वेनिस की महान् परिषद् ने फ्रांसीसी राजदूत द्वारा सम्राट् को आश्वासन दिया था कि वेनिस सदा इस मान के लिये कृतज्ञ रहेगा और परिषद् ने लुई चौदहवें को उसके लिये एक विशेष पत्र भी भेजा था। इस हाव भाव द्वारा फ्रांस ने यह संकेत किया कि वह वेनिस के गणराज्य को उतना ही शक्तिशाली मानता है जितना कि एक शक्तिशाली राज्य को, और इस नयी प्रतिष्ठा के लिए ही वेनिस ने कृतज्ञता प्रकट की थी। पोप अपने यूरोपीय दरबार मे विभिन्न प्रकार के राज्यों के कूटनीतिज्ञ प्रतिनिधियों का विभिन्न महाकक्षों मे स्वागत करता था। मुकुटधारी राज्याध्यक्षों तथा वेनिस के राजदूतों का स्वागत "साला रेगिया" तथा अन्य राजकुमारों तथा गणराज्यों के प्रतिनिधियों का स्वागत "साला ड्यूकेल" म किया जाता था। ऐसा कहा जाता है कि जैनोआ के गणराज्य ने पोप को लाखों की रकम इसलिए प्रदान की थी कि उसके प्रतिनिधिगण "साला रेगिया" म स्वागत प्राप्त करें न कि "साला ड्यूकेल" मे। परन्तु पोप ने वेनिस के विरोध के कारण इस प्रार्थना का तिरस्कार कर दिया, क्योंकि वह यह नहीं चाहता था कि जनोआ उसके बराबर का बर्ताव प्राप्त कर ले। व्यवहार की समानता का अर्थ होना है प्रतिष्ठा की समानता—अर्थात् शक्ति का यश जिसके लिये वह राज्य, जिसकी प्रतिष्ठा अधिक थी, कभी भी तैयार नहीं हो सकता था।

2 कूटनीतिज्ञों के विभिन्न कार्यों के लिए देखिए अध्याय 31

अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक भी कुस्तुनतुनियां के राज दरबार में यह प्रथा थी कि व राजदूत व उनके परिजन जो स्वयं सम्राट के सम्मुख प्रस्तुत होते थे, दरबार के कर्मचारियों द्वारा धर दबाये जाते थे तथा उनके शीश झुका दिये जाते थे। राजदूत व प्रधानमंत्री के मध्य परम्परागत व्याख्यानों के उपरान्त ये दरबार के अफसर लोग चिल्ला उठते थे, परमात्मा की जय हो कि काफिर आयें और हमारे यशस्वी देदीप्यमान अधिकारयुक्त सम्राट का पूजन करें। वैदेशिक देशों के प्रतिनिधियों के दर्प-दमन का अभिप्राय उन देशों की शक्ति हीनता को संकलित करना था जिनका वे प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

प्रेसीडेंट थियुडोर रूजवेल्ट की अध्यक्षता में सब कूटनीतिज्ञ प्रतिनिधियों का सामूहिक रूप में जनवरी के प्रथम दिवस को स्वागत किया जाता था, जिससे वे प्रेसीडेंट का अभिनन्दन कर सकें। प्रेसीडेंट टैफ्ट ने विधि में परिवर्तन कर दिया तथा आदेश दिया कि राजदूत मंत्रिगण पृथक्-पृथक् मिलें जबकि स्पेन के मन्त्री जिसको इस परिवर्तन की सूचना नहीं दी गई थी सन् 1910 की प्रथम जनवरी को व्हाइट हाऊस में राजदूतों के स्वागत-समारोह में प्रस्तुत हुआ तो उसे अन्दर जाने से रोक दिया गया। इस पर स्पेन की सरकार ने मन्त्री को वापिस बुला लिया और संयुक्त राज्य की सरकार को कड़ा विरोध पत्र भेजा। एक राष्ट्र जिसने कुछ ही समय पहले अपना साम्राज्य खो दिया था तथा जो एक तृतीय-श्रेणी की शक्ति बनकर रह गया था, कम से कम अपने पूर्व गौरव के अनुसार प्रतिष्ठा पाने का आग्रह करता रहा।

सन् 1946 में पेरिस में विजयोत्सव के समय जब सोवियत वैदेशिक मन्त्री को द्वितीय पंक्ति में बिठाया गया जबकि अन्य महान् शक्तियों के प्रतिनिधि प्रथम पंक्ति में बैठे थे तो उसने गर्वोक्ति के साथ सभा भवन को छोड़ दिया था। एक राष्ट्र जो अन्तर्राष्ट्रीय समाज में काफी समय से समाजच्युत रहा था उसने एक महान् शक्ति की निश्चित रूप में उच्च स्थिति प्राप्त कर ली थी और वह इस नये पद की प्रतिष्ठा की मांग का आग्रह कर रहा था। पोट्सडैम कान्फ्रेंस में सन् 1945 में चर्चिल स्टालिन व ट्रूमैन में आपस में यह समझौता नहीं हो पाया था कि कान्फरेंस के कमरे में कौन सबसे पहले घुसे। अन्त में वे तीनों भिन्न दरवाजों से एक ही समय में घुसे। ये तीन नेतागण अपने अपने राष्ट्रों की शक्ति का सृजन कर रहे थे। इसी कारण इनमें से एक को अग्रगमन देना उसके राष्ट्र को अन्य दो राष्ट्रों के मुकाबिले में उच्चता की प्रतिष्ठा प्रदान करना होता, जबकि अन्य दो ऐसा हो जाने देने को कभी भी सहमत न होना चाहते थे क्योंकि उनका दावा शक्ति की समानता का था। वे आवश्यकतावश उस प्रतिष्ठा के प्रति जागरूक थे, जिससे उनकी समान प्रतिष्ठा अपनी सांकेतिक अभिव्यक्ति प्राप्त करती थी।

जो राजनीतिक महत्त्व इन मनोरंजनों का है, जिसमे सभी कूटनीतिज्ञ एक दूसरे से स्पर्धा करते हैं, वाशिंगटन के सामाजिक दृश्यों से सम्बन्धित एक साहित्यिक लेख के इस अंश से स्पष्ट हो जाता है —

'यह प्रश्न कि ये वैदेशिक राज-दूतावास इन उत्सवों के द्वारा कुछ प्राप्त भी करते हैं या नहीं, स्वाभाविक रूप से वाद-विवाद का विषय है। उस पर कोई रोक नहीं है। परन्तु बहुत से राजदूत अपने सामाजिक परिवेश का अनुकरण अत्यधिक गंभीरतापूर्वक करते हैं और इसे अपने कार्य-भार का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण तथा रचनात्मक पक्ष मानते हैं। वे शायद ठीक ही हैं।

अन्ततः सद्‌व्यवहार की माँग एक राजदूत के कार्यों को उस राजधानी में जहाँ वह प्रतिनिधित्व कर रहा है, बहुत ही संकुचित कर देती है। स्थायी तौर पर एक राजदूत पहाड़ी पर कांग्रेस-सदस्यों में घुलमिल कर व्यवहार करता हुआ देखा जाना नहीं चाहता या संसद में वाद-विवाद के स्तर पर अपनी प्रतिक्रियाओं को खुल्लमखुल्ला जनता के सम्मुख रखना नहीं चाहता। फिर भी काफी इधर-उधर दौड़-धूप करनी पड़ती है ताकि वह अमरीकन मामलों व अफसरों के बारे में सही जानकारी प्राप्त कर सके और बदले में अपना स्वयं का तथा अपने देश के चरित्र का प्रभाव जनता के मस्तिष्क पर डाल सके। इसके लिये सामाजिक मार्ग ही उसका एकमात्र साधन है, और यदि वह विचार विनिमय में प्रवीण व आकर्षक नहीं है, तो राज-दूतावास में अपने देश के लिये कोई विशेष लाभदायक नहीं हो सकता।

क्योंकि लेटिन अमरीका वाले वाशिंगटन में सबसे बड़ी व कीमती दावतें देते रहते हैं, और बाह्‌य रूप से उनसे सबसे कम लाभ उठाते जान पड़ते हैं, इसलिए उनको केवल खिलाड़ी लड़कों के समान समझ कर छोड़ देने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। यह एक गलती है। लेटिन अमरीका वालों का लक्ष्य अपनी प्रतिष्ठा की स्थापना करना है, जिसका अर्थ है अमरीकन परिवार में समानता की स्थिति प्राप्त करना और कौन यह कह सकता है कि वे अपने धन का प्रदर्शन ही नहीं, वरन् अपने आचरण तथा प्रभावशाली व उर्वर मस्तिष्कों का प्रदर्शन करके, इन उत्तम उत्सवों की पंक्तियों द्वारा उस लक्ष्य की ओर कुछ न कुछ प्राप्त नहीं कर रहे हैं ?'[3]

प्रतिष्ठा की नीति एक राष्ट्र द्वारा अपनी उस शक्ति-प्रदर्शन की नीति के रूप में, जोकि उसके पास है, या जो वह सोचता है कि उसके पास है, अथवा जो वह चाहता है कि अन्य राष्ट्र विश्वास करें कि उसके पास है, अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों

3. "R S V Politics" Fortune, February 1952, P. 120 (Used by Permission of Fortune Copyright Time Inc. 1952.)

के स्थान के चुनने में विशेष फलदायक अभिव्यक्ति की भूमि प्राप्त करती है। जब परस्पर स्पर्द्धा वाले अनेक विरोधी दावे प्रस्तुत किये जाते हैं और समझौते द्वारा निपटाये नहीं जा सकते तो वह देश प्रायः सम्मेलन का स्थान चुन लिया जाता है, जो प्रतिष्ठा की होड़ में स्वयं हिस्सा नहीं ले रहा हो। इसी कारण नीदरलैंड, दी हेग तथा स्विटज़रलैंड में जैनेवा-अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के स्थान रहे हैं। अक्सर एक अनुकूल स्थान से सम्मेलन को दूसरे स्थान में ले जाना शक्ति के अत्यधिक प्रभुत्व के परिवर्तन का सूचक होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकांश समय तक प्रायः सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन पेरिस में हुआ करते थे। परन्तु सन् 1878 की बर्लिन कांग्रेस ने, जोकि पुनः स्थापित जर्मन साम्राज्य की राजधानी में फ्रांस के विरुद्ध उसकी जीत के उपरान्त हुई थी, संपूर्ण जगत् को जर्मनी की नयी प्रतिष्ठा यूरोपीय महाद्वीप की प्रभुत्वकारी शक्ति के रूप में प्रदर्शित की थी। प्रारम्भ में सोवियत रूस ने संयुक्त राष्ट्र के प्रधान कार्यालय के रूप में जैनेवा के चुनाव का विरोध किया था, क्योंकि जैनेवा, जो राष्ट्रसंघ का पूर्व प्रधान कार्यालय था, दोनों विश्व-महायुद्धों के मध्य रूस की प्रतिष्ठा का प्रतीक बन गया था। क्योंकि संयुक्त-राष्ट्र-संघ की बैठकें न्यूयार्क में होने लगी थीं, इसलिये सोवियत रूस को स्थायी अल्पमत प्राप्त हुआ और उसे अमरीकन नेतृत्व के अंतर्गत बहुमत का सामना करना पड़ रहा था, तो उसने संयुक्त राष्ट्र-संघ के प्रधान कार्यालय को जैनेवा में ले जाने की युक्ति प्रस्तुत की क्योंकि वह स्थान अमरीकन प्रभुत्व का प्रतीक नहीं था।

साधारणतः जब एक राष्ट्र के पास किसी क्षेत्र अथवा भू-भाग में शक्ति की प्रबलता होती है, तो वह यह बल देता है कि जो सम्मेलन इन मामलों से सम्बन्धित हों, वे उसके क्षेत्र के अन्दर अथवा समीप हों। इसी कारण प्रायः वे सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन जो, सामुद्रिक प्रश्नों से सम्बन्धित रहे हैं, लन्दन में होते रहे हैं। जापान से सम्बन्धित अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन या तो वाशिंगटन अथवा टोकियो में हुए हैं। द्वितीय विश्व-महायुद्ध के उपरान्त यूरोप के भविष्य से सम्बन्धित प्रायः सभी अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन या तो रूस की भूमि में हुये हैं जैसे मास्को अथवा माल्टा में, या फिर उस भूमि में जहाँ रूस का कब्ज़ा हो, जैसे पोट्सडैम, में या फिर रूस की भूमि के निकट, जैसे तेहरान में। परन्तु सन् 1947 के अन्त तक राजनीतिक परिस्थिति इस सीमा तक बदल चुकी थी कि प्रेसीडेंट ट्रूमैन दृढ़ता से यह घोषित कर सके थे, कि वे स्तालिन से वाशिंगटन को छोड़ कर कहीं और नहीं मिलेंगे।[4]

4 New York Times, Dec 19, 1947, P. 1, July 27, 1948, P 1, Feb. 4, 1949, P. 1

फौजी शक्ति का प्रदर्शन

कूटनीतिक विधियों के अलावा प्रतिष्ठा की नीति सैनिक प्रदर्शन को अपने लक्ष्य की पूर्ति के साधन के रूप में प्रयोग करती है, क्योंकि सैनिक शक्ति एक राष्ट्र की शक्ति का स्पष्ट मापदण्ड है उसका प्रदर्शन अन्य राष्ट्रों को उस राष्ट्र की शक्ति का भान कराता है। उदाहरण के लिये, वैदेशिक राष्ट्रों के फौजी प्रतिनिधि-गण शान्ति के समय में सेना तथा नौ सेना की परेडों को देखने को इस लिये आमन्त्रित नहीं किये जाते हैं कि उन्हें फौजी गुप्त रहस्य बता दिए जायें, वरन् इसलिए कि उन पर व उनकी सरकारों पर अपने राष्ट्र की सैनिक तैयारी का प्रभाव पड़ सके। विदेशी प्रेक्षकों को सन् 1946 में प्रशांत महासागर में किये गए अणुबम परीक्षणों के अवसर पर निमन्त्रण देने का यही ध्येय था। एक ओर तो विदेशी प्रेक्षकों को संयुक्त राज्य की नौ-सेना-शक्ति तथा अमरीकन तकनीकी प्रगति से प्रभावित करना था ("न्यूयार्क टाईम्स ने सूचित किया था कि संयुक्त राष्ट्र-अणुशक्ति-नियन्त्रण-कमीशन," आपस में सहमत थे कि संयुक्त राज्य एक जहाज़ी बेड़े को बम से भस्म कर रहा था जोकि विश्व की अनेक नौ-सेनाओं से बड़ा था)[5] तथा दूसरी ओर विदेशी प्रेक्षकों को स्वयं दृष्टिगोचर कराना था कि अणुबम पानी की सतह के ऊपर व नीचे क्या कर सकता है और एक राष्ट्र जिसके पास अणुबम का एकाधिकार है, वह उन राष्ट्रों से, जिनके पास नहीं हैं, कितना अधिक शक्तिशाली हो सकता है।

नौसेना की गति क्षमता महान् होती है, इसीलिए वह किसी देश की कीर्ति-पताका और शक्ति को विश्व के चारों कोनों में पहुँचाने में समर्थ होती है। यही कारण है कि नौसेना का प्रदर्शन प्रतिष्ठा की नीति का महत्वपूर्ण साधन रहा है। फ्रांसीसी जहाज़ी बेड़े के सन् 1891 में रूसी बन्दरगाह क्रोन्साड में आगमन व उसके उत्तर में सन् 1893 में रूसी जहाज़ी बेड़े के फ्रांसीसी बन्दरगाह टोउलोन में आगमन ने संसार को रूस व फ्रांस के मध्य राजनीतिक व फौजी समन्वय को प्रकट कर दिया, जोकि शीघ्र ही एक राजनीतिक व सैनिक सन्धि का ठोस रूप धारण कर गया। महान् नौसेना-शक्तियों द्वारा समय-समय पर सुदूरपूर्व के बन्दरगाहों पर अपने जहाज़ी बेड़ों को भेजने का लक्ष्य वहाँ की जनता पर पश्चिमी शक्तियों की उच्चता का प्रभाव अंकित करना था। संयुक्तराज्य ने समय-समय पर अपनी नौ-सेना के जहाज दक्षिण अमरीका के बन्दरगाहों में इस विचार से भेजे हैं कि सम्बन्धित राष्ट्रों को जतला दिया जाय, कि पश्चिमी गोलार्ध में अमरीकन नौ-सेना सर्वशक्तिमान है।

5. Ibid July 1, 1946 P. 3.

जब भी नौसेना शक्तियों के दावों को औपनिवेशिक अथवा अर्द्ध-औपनिवेशिक भू-भागों में या तो वहाँ के आदिम निवासियों ने अथवा होड़ करने वाली शक्तियों ने चुनौती दी है, तो इन राष्ट्रों ने उस भू-भाग में अपनी नौ-सेना के जहाज अपने देश की शक्ति के सांकेतिक प्रतिनिधि के रूप में भेजे हैं। इस प्रकार की प्रतिष्ठा की नीति का प्रसिद्ध उदाहरण सन् 1905 में जर्मन फौजी जहाज द्वारा विलियम द्वितीय का मराको के बन्दरगाह टनजियर में आगमन था जिसका उद्देश्य फ्रांस का उस राज्य के ऊपर दावों को पलट देना था। सन् 1946 से भूमध्य सागर में जो इटली, यूनान व तुर्किस्तान के बन्दरगाहों में फौजी बेड़े घूम घूम कर दौरा कर रहे हैं, वे निश्चयपूर्वक ही रूस की उस भू भाग में महत्त्वाकांक्षाओं के उत्तर के रूप में हैं। पश्चिमी यूरोप के सबसे खुले हुए भू-भागों का पश्चिमी शक्तियों की संयुक्त सेनाओं की परेडों के स्थान के लिए चुनाव का आशय सोवियत रूस तथा मित्र राष्ट्रों को पश्चिमी सन्धिबद्ध राष्ट्रों की सैनिक शक्ति का प्रदर्शन कराना है तथा पश्चिमी यूरोप में यथापूर्व स्थिति की रक्षा के हेतु इस शक्ति के प्रयोग के निश्चय का प्रदर्शन करना है।

प्रतिष्ठा की नीति के सैनिक प्रकार का सबसे उग्र रूप सेना को अपूर्णत या पूर्णत युद्ध के लिये तैयार करना है। यह सैनिक तैयारी प्रतिष्ठा की नीति के रूप में आज अप्रचलित भले ही क्यों न हो क्योंकि भविष्य की लड़ाइयाँ सम्भवतः हर समय पूर्ण तैयारी पर निर्भर रहेगी परन्तु भूतकाल में, यहां तक कि सन् 1936 व 1939 तक, रक्षित वर्गों में से कुछ को सैनिक रूप में बुलाना, या सैनिक कार्यों के लिये कभी भी बुलाये जा सकने योग्य सैनिकों को सैनिक सेवा में बुलाना प्रतिष्ठा की नीति का एक प्रभावशाली साधन रहा है। उदाहरण के लिये सन् 1914 की जुलाई में, रूस ने अपनी सेना को लड़ाई के लिये तत्पर किया जिसके बाद आस्ट्रिया जर्मनी व फ्रांसीसी राष्ट्रों ने भी अपनी सेनाओं को युद्ध के लिए तैयार किया, तथा सितम्बर 1938 में फ्रांस व चेकोस्लोवेकिया ने अपनी सेनाओं को तत्पर किया, और फ्रांस ने अपनी सेना को मार्च सन् 1939 में, युद्ध के लिए तैयार किया। इन सब परिस्थितियों में ध्येय सदा यही था कि मित्र तथा शत्रु दोनों को साथ ही साथ अपनी फौजी शक्ति प्रदर्शित की जाय तथा अपना यह निश्चय भी प्रकट कर दिया जाय कि यह शक्ति अपने राजनीतिक लक्ष्यों की पूर्ति के लिये प्रयोग में लायी जायेगी।

इस स्थान पर प्रतिष्ठा अर्थात् शक्ति की ख्याति, दोनों ही रूपों में प्रयोग में लाई जाती है—लड़ाई के लिये दूसरों को हतोत्साहित करने के लिए तथा युद्ध की तैयारी के लिये। यह आशा की जाती है कि अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा इतनी महान् होगी कि दूसरे राष्ट्रों को युद्ध के लिये हतोत्साहित करेगी और

साथ ही साथ यह आशा भी की जाती है कि यदि यह प्रतिष्ठा की नीति असफल हो जाय, तो लडाई के छिड जाने के पूर्व सेना की कवायदें अपने राष्ट्र को सबसे लाभदायक फौजी परिस्थिति मे ला देंगी । ऐसी स्थिति मे राजनीतिक व सैनिक नीतियाँ एक दूसरे मे सम्मिलित हो जाती है और एक ही नीति के दो रूप धारण करने की प्रवृत्ति अपना लेती है । हम को और भी अवसर प्राप्त होंगे जब हम शांति तथा युद्ध दोनो ही समय मे वैदेशिक तथा सैनिक नीतियो के निकटतम सम्बन्धो पर विचार करेंगे ।[6]

प्रतिष्ठा की नीति के दो लक्ष्य

स्वभावत प्रतिष्ठा की नीति के दो अन्तिम लक्ष्य होते हैं : स्वयं अपने लिये प्रतिष्ठा प्राप्त करना अथवा अधिकतर, साम्राज्यवाद अथवा यथापूर्व-स्थिति की नीति की सहायता से प्रतिष्ठा प्राप्त करना । जबकि राष्ट्रीय समाजो मे प्रतिष्ठा की खोज उसके स्वय के लिये की जाती है, वैदेशिक नीति मे यह न्यूनतम रूप से प्राथमिक लक्ष्य होता है । प्रतिष्ठा अधिक से अधिक उन वैदेशिक नीतियो की एक सुखद उपज है, जिनका अन्तिम लक्ष्य शक्ति की ख्याति न होकर शक्ति का तत्व होता है । क्योंकि राष्ट्रीय समाजो के व्यक्तिगत सदस्य अपने जीवन तथा सामाजिक स्थिति मे एक सस्थाओ की सगठित व्यवस्था तथा आचरण के नियमो द्वारा सुरक्षित रहते है, अत वे प्रतिष्ठा की होड के एक हानिकारक सामाजिक खेल मे लिप्त रह सकते हैं । परन्तु वे राष्ट्र जिनको अतर्राष्ट्रीय समाज के सदस्य होने के नाते, विशेषकर अपनी ही शक्ति पर अपनी रक्षा के लिये अवलम्बित रहना होता है, अपनी प्रतिष्ठा के लाभ व हानि से अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे अपनी शक्ति स्थिति पर पडने वाले प्रभाव की कभी भी उपेक्षा नही कर सकते हैं ।

तो फिर यह कोई आकस्मिक बात नही है, जैसाकि हमने पहले ही सकेतित किया है, कि अन्तर्राष्ट्रीय मामलो के ये प्रेक्षक, जो शक्ति के महत्त्व को कम करके देखते है, वे प्रतिष्ठा के प्रश्नो को हलके ढग से लेने को प्रस्तुत होते हैं । इसी प्रकार यह भी कोई आकस्मिक बात नही है कि केवल मूर्ख स्वार्थी लोग ही प्रतिष्ठा की नीति को केवल प्रतिष्ठा मात्र के लिये खोजते है । आधुनिक युग म विलियम द्वितीय व मुसोलिनी इसके उदाहरण हैं । गृह क्षेत्र मे नयी शक्ति की प्राप्ति से मदान्ध हो वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को भी एक प्रकार का व्यक्तिगत खेल समझने लगे, जहाँ अपने राष्ट्र की उच्चता व अन्य राष्ट्रो की हीनता मे, वे अपनी स्वय की व्यक्तिगत उच्चता का आनन्द उठा

6. अध्याय 9, 23, 32 देखिये ।

रहे थे। ऐसा करने मे, उन्होंने आन्तिवश अन्तर्राष्ट्रीय हृदय को गृह-क्षेत्र मे मिलाने की गडबडी की। गृह में अपनी शक्ति के प्रदर्शन का बुरे से बुरा रूप एक निर्दोष मूर्खता से अधिक बुरा नही हो सकता। बाहर ऐसा प्रदर्शन आग मे खेलना है, जो उस खिलाडी को ही भस्म कर देगी, जिसके पास अपने विश्वास के योग्य शक्ति नही है अथवा इतनी शक्ति नही है जितनी का वह व्यर्थ दिखावा करता है। एक व्यक्ति की सरकारें—अर्थात् निरंकुश राजतंत्र अथवा तानाशाही—शासक की व्यक्तिगत कीर्ति का राष्ट्रीय राजनीतिक हितो के साथ समीकरण करने को उन्मुख होती हैं। वैदेशिक नीति के सफल संचालन को दृष्टि में रखते हुए यह समीकरण एक गंभीर त्रुटि है, क्योंकि यह प्रतिष्ठा की नीति का केवल प्रतिष्ठा के लिये होने की ओर अग्रसर करना है जिससे वह, जो राष्ट्रीय हित तथा शक्ति उसकी सहायता के लिये प्राप्त हो सकती हैं, दोनो की ओर उदासीन रहना है।

यथापूर्व-स्थिति तथा साम्राज्यवाद की नीतियो के लिये प्रतिष्ठा की नीति जो कार्य करती है वह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रकृति से ही उपजता है। एक राष्ट्र की वैदेशिक नीति सदा इतिहास के किसी विशेष समय में व्याप्त शक्ति-सम्बन्धो तथा निकट अथवा सुदूर भविष्य मे विकसित होने की संभावना के आँकने का परिणाम है। उदाहरण के लिये, हम कह सकते है कि संयुक्त राज्य की वैदेशिक नीति, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत यूनियन तथा अर्जनटाईना की शक्तियो के संभव विकास पर निर्भर है। इसी प्रकार से ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत रूस तथा अरजनटाईना की वैदेशिक नीतियाँ भी इन्ही मूल्यांकनो पर आधारित हैं। ये मूल्यांकन सदा पुनर्विचार के अंतर्गत है, जिससे वे समयानुकूल रह सकें।

प्रतिष्ठा की नीति का प्राथमिक ध्येय इन मूल्यांकनो को प्रभावित करना है। उदाहरण के लिये यदि संयुक्त राज्य दक्षिण अमरीका के राष्ट्रो के ऊपर अपनी शक्ति का प्रभाव इस सीमा तक डाल सकता है कि उन्हे विश्वास हो जाय कि पश्चिमी गोलार्ध में संयुक्त राज्य की शक्ति की प्रबलता चुनौती से परे है तो उसकी पश्चिमी गोलार्ध मे यथापूर्व स्थिति की नीति को चुनौती देना संभव न होगा और इस प्रकार से उसकी सफलता निश्चित हो जायगी। जो आनुपातिक राजनीतिक संतुलन यूरोप ने 1920–30 तथा 1930–40 के प्रारम्भिक वर्षों मे भोगा था, उसका मुख्य कारण संसार मे फ्रांस की सर्वशक्तिमान् सैनिक शक्ति का होना था। 1930–40 के अन्तिम वर्षों मे जर्मन साम्राज्यवाद की विजयो का मुख्य कारण उसकी सफल प्रतिष्ठा की नीति थी। उस नीति ने उन राष्ट्रो को जोकि यथापूर्व-स्थिति की स्थापना चाह रहे थे, जर्मनी की उच्चता, (यदि अजेयता का नहीं तो), का विश्वास दिला दिया था। उदाहरण के लिये, विशेषकर सैनिक

व राजनीति नेताओं के आधार पर निर्मित, "बिलटसक्रीग" के चित्रों को पोलेण्ड और फ्रांस में विदेशी प्रेक्षकों को दिखाना इस ध्येय की स्पष्ट रूप से पूर्ति करता था। एक राष्ट्र की अन्तिम वैदेशिक नीति चाहे जो भी क्यों न हो, उसकी प्रतिष्ठा—उसकी शक्ति की ख्याति—सदा एक महत्त्वपूर्ण तथा कभी कभी उस वैदेशिक नीति की सफलता अथवा असफलता का निर्णायक तत्त्व होता है। इसीलिए प्रतिष्ठा की नीति, एक विवेकपूर्ण वैदेशिक नीति का अनिवार्य तत्त्व है।

शीत युद्ध, जिसने पश्चमी जगत् व सोवियत् गुट के सम्बन्धों को 1940 50 के अन्तिम वर्षों से लेकर अत्यधिक प्रभावित कर रखा है, विशेषकर प्रतिष्ठा क अस्त्रों द्वारा ही लडा जा रहा है। संयुक्त राज्य व सोवियत यूनियन ने एक दूसरे को अपनी सैनिक शक्ति, तकनीकी सफलताओं, आर्थिक क्षमता व राजनीतिक सिद्धान्तो से प्रभावित करने का प्रयत्न किया है ताकि एक दूसरे की मनोदशा को क्षीण कर दिया जाय और एक दूसरे को लड़ाई की ओर अबाध्य पग उठाने के लिये हतोत्साह कर दिया जाय। इसी प्रकार उन्होंने अपने मित्र-राष्ट्रों, दुश्मन के गुट के सदस्यों तथा तटस्थ राष्ट्रों को भी इन्हीं गुणों द्वारा प्रभावित करने का प्रयत्न किया है। उनका लक्ष्य अपने मित्र-राष्ट्रों की भक्ति बनाये रखना, शत्रु-पक्ष की एकता को क्षीण करना तथा तटस्थ राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त करना रहा है। इस युग म एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में प्रतिष्ठा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है, जबकि शक्ति-संघर्ष न केवल परम्परागत राजनीतिक दबाव व सैनिक शक्ति के साधनों द्वारा लडा जा रहा है वरन् अधिक मात्रा में मनुष्यों के मस्तिष्कों पर विजय प्राप्त करने के रूप में लडा जा रहा है। एशिया, मध्यपूर्वी भाग व अफ्रीका में विशेषकर, शीत-युद्ध प्राथमिक तौर पर प्रतिद्वंद्वी राजनीतिक दर्शनों, आर्थिक व्यवस्थाओं तथा जीवन के तरीकों की होड के रूप में लडा जा रहा है। यह बात यों भी कही जा सकती है कि इन प्रदेशों में प्रतिष्ठा—शक्ति व कार्यकुशलता की ख्याति—राजनीतिक संघर्ष का मुख्य दाँव बन गई है। उस संघर्ष के मुख्य अस्त्र प्रचार तथा विदेशी सहायता हैं। प्रचार अपने पक्ष की प्रतिष्ठा बढ़ाने तथा शत्रु की प्रतिष्ठा को घटाने का प्रयत्न करता है, तथा वैदेशिक सहायता का तात्पर्य पाने वाले देश को सहायता देने वाले देश की आर्थिक व तकनीकी योग्यता से प्रभावित करना है।

प्रतिष्ठा की नीति की विजय उस समय होती है जब कि वह उस राष्ट्र को, जोकि उसकी खोज कर रहा है, शक्ति की इतनी ख्याति दिलाने में सफल हो जाती है कि उसे शक्ति के वास्तविक उपयोग का त्याग देने के लिये समर्थ बनाए। इस विजय को दो तत्त्व सम्भव बनाते हैं : शक्ति की ऐसी ख्याति जिसे

चुनौती दी ही न जा सके तथा उसके आत्म नियंत्रित प्रयोग की प्रसिद्धि। इस अपूर्व सामंजस्य के विलक्षण उदाहरण रोमन व ब्रिटिश साम्राज्य तथा संयुक्त राज्य की "अच्छे पड़ौसी" की नीति है।

बड़े साम्राज्य प्रायः शीघ्र ही विघटन के दुर्भाग्य से ग्रस्त हो जाते हैं, किन्तु इसके विपरीत, रोमन साम्राज्य की दीर्घायु का कारण वह महान् सम्मान था, जो साम्राज्य की सीमाओं में प्रत्येक रोमन को दिया जाता था। साम्राज्य के किसी भी अंग की अपेक्षा राजनीतिक योग्यता व सैनिक शक्ति में रोम उच्च था। अपनी उच्चता के भार को यथासम्भव सहनीय और सरल बना कर उसने अपनी प्रजा को अपने आप को रोमन प्रभुत्व के भार से मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा से ही वंचित कर दिया। अधिक से अधिक एक अथवा दो व्यक्ति विद्रोह कर बैठें, परन्तु कभी भी इतनी पर्याप्त प्रेरणा नहीं रही, जिसके फल-स्वरूप काफी शक्तिशाली दल बन सके, जो रोम को चुनौती दे सके। एकाकी विद्रोह में प्रबल रोमन शक्ति द्वारा शीघ्र तथा दक्षतापूर्वक निबट लिया जाता, जिससे रोम की शक्ति की कीर्ति में और भी वृद्धि होती। एक ओर तो उनका दुःखद दुर्भाग्य था जिन्होंने रोम को चुनौती देने का साहस किया था और दूसरी ओर रोमन साम्राज्य की संरक्षता में उनका शांतिमय व समृद्धिशाली जीवन था, जोकि राज्य-भक्त रहे। इस वैषम्य ने शक्ति के प्रयोग में उदारता की दृष्टि से रोम की ख्याति को बढ़ाया।

शक्ति को आत्म नियंत्रण द्वारा उदारता प्रदान करने की यही नीति ब्रिटिश साम्राज्य की आधारशिलाओं में से एक है। प्रेक्षक लोग कुछ ही सहस्र अफसरों द्वारा करोड़ों भारतीयों के ऊपर शासन करने की क्षमता पर आश्चर्य प्रकट करते रहे हैं। उन आत्म निर्धारित राजभक्ति के बन्धनों के तो कहने ही क्या, जिनके फलस्वरूप आत्म-शासित राज्य साम्राज्य की एकता में बद्ध रहे हैं। परन्तु द्वितीय विश्व महायुद्ध में जो कलंकित पराजयें जापान के हाथों ग्रेट ब्रिटेन ने भुगतीं, उनमें उसकी अजेय शक्ति की कीर्ति सदा के लिये ध्वस्त हो गई और संपूर्ण एशिया की पराधीन जातियों की राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की पुकार समय तथा विवेक के द्वारा परिपक्व एवं सहिष्णु शासन की स्मृति को सदा के लिये डुबो गई। इस द्विमुखी प्रतिष्ठा के चले जाने से और साम्राज्य को केवल भौतिक शक्ति के बल पर स्थापित रखने के साधनों के न प्राप्त हो पाने से ब्रिटिश साम्राज्य का एशियाई भाग ब्रिटेन की प्रतिष्ठा के साथ अधिक समय तक जीवित नहीं रह सका।

"अच्छे पड़ौसी" की नीति के प्रारंभ करने के उपरान्त से पश्चिमी गोलार्ध में संयुक्त राज्य का नेतृत्व उसी तरह से अपनी शक्ति की अजेयता की प्रतिष्ठा

पर आधारित है न कि उसके वास्तविक प्रयोग पर। पश्चिमी गोलार्ध में संयुक्त राज्य की उच्चता इतनी स्पष्ट तथा अत्यधिक है कि केवल उसकी शक्ति की आनुपातिक प्रतिष्ठा ही, अमरीकन गणराज्यों के समक्ष संयुक्त राज्य की स्थिति की प्रभुता को आश्वासन प्रदान करने के लिये पर्याप्त है। संयुक्त राज्य कभी-कभी इस प्रतिष्ठा पर जोर देने को छोड़ भी सकता है, क्योंकि इस प्रकार के आत्म नियंत्रण के स्पष्टीकरण द्वारा वह अपने नेतृत्व को दक्षिण के पड़ौसियों के लिये अधिक सहनीय बना देता है। इसीलिये संयुक्त राज्य ने "अच्छे पड़ौसी" की नीति के उद्घाटन के उपरान्त से यह एक दृष्टिकोण बना लिया है, कि पैन-अमरीकन सम्मेलन दक्षिण अमरीका के देशों में हुआ करेंगे, न कि संयुक्त राज्य में। क्योंकि पश्चिमी गोलार्ध में संयुक्त राज्य के पास अद्वितीय शक्ति का तत्त्व वर्तमान है, वह यह अधिक विवेकसंगत समझता है कि उस प्रतिष्ठा के प्रकाशन के लिये जोर न दे जोकि ऐसी असाधारण शक्ति के साथ चलती है, और पश्चिमी गोलार्ध के किसी और देश को प्रतिष्ठा के रूप में कम से कम शक्ति के बाह्य रूप का आनन्द उठा लेने दे।

प्रतिष्ठा की नीति के दो विकृत रूप

परन्तु एक राष्ट्र के लिये प्रतिष्ठा की नीति का अनुसरण करना ही पर्याप्त नहीं है। इस प्रसंग में वह आवश्यकता से बहुत अधिक अथवा कम कर सकता है और दोनों ही हालतों में उसे असफलता का भय है। वह आवश्यकता से अधिक उस समय करता है, जबकि वह अपनी शक्ति की तस्वीर अत्यधिक बढ़ा-चढ़ा कर खींचता है, और इस प्रकार शक्ति की उस कीर्ति के प्राप्त करने का प्रयत्न करता है, जोकि उसकी वास्तविक शक्ति के अनुपात से कहीं अधिक है। दूसरे शब्दों में वह अपनी प्रतिष्ठा शक्ति के बाह्य रूप पर निर्मित करता है नाकि उसके तत्त्व पर। यहाँ पर प्रतिष्ठा की नीति अपने आप को प्रवचना की नीति में परिणत कर देती है। इसका आधुनिक इतिहास में विशिष्ट उदाहरण इटली की सन् 1935 के यथोपियन युद्ध से लेकर सन् 1942 के अफ्रीकी आन्दोलन की नीति में प्राप्त होता है। साम्राज्यवादी विस्तार की नीति द्वारा भूमध्य सागर को इटली की झील बनाने की नीयत से यथोपियन युद्ध का श्रीगणेश करके तथा स्पेन के गृह-युद्ध में, सन् 1936 व 1939 के मध्य इटली ने ग्रेट ब्रिटेन की भर्त्सना की थी, जोकि उस समय धरती पर सर्वशक्तिमान नौ सेना-शक्ति तथा भूमध्य सागर में सर्वप्रबल शक्ति था। उसने यह प्रभाव डाल कर ऐसा किया मानो वह एक प्रथम स्तर की शक्ति हो। इटली अपनी इस नीति में उस समय तक सफल रहा, जब तक कि किसी अन्य राष्ट्र ने उसके शक्ति के दम्भ को कसौटी पर रखने की हिम्मत नहीं की।

जब यह परीक्षा आई तो उसने इटली की शक्ति की ख्याति, जिसे प्रचार के अनेक साधनों द्वारा जान-बूझ कर बनाए रखा गया था, तथा उसकी वास्तविक शक्ति के मध्य के अन्तर का पर्दाफाश कर दिया। उसने प्रतिष्ठा की नीति का भेद खोल कर उसका वास्तविक रूप प्रवचना की नीति में प्रदर्शित कर दिया।

प्रवचना की नीति के तत्त्व का उदाहरण नाटक की उस विधि में भली प्रकार प्राप्त हो जाता है, जिसमें बीसियों अतिरिक्त अभिनेताओं को सिपाहियों की वर्दी पहनाकर रंगमंच पर चलाया जाता है, और जो दृश्य के पीछे अन्तर्धान होकर बार-बार फिर से वापिस आ जाते हैं और इस प्रकार कवायद करने वाले मनुष्यों की एक बहुत बड़ी संख्या का भ्रम उत्पन्न कर दिया जाता है। जबकि मूर्ख मनुष्य सैनिक शक्ति के इस बड़े प्रदर्शन से आसानी से छले जा सकेंगे, जानकार व तटस्थ प्रेक्षक, इस छल के शिकार नहीं बन पायेंगे। और यदि रंगमंच के निर्देशक द्वारा संचालित 'सेना" किसी अन्य "सेना' से युद्धरत कर दी जाय तो प्रवचना तुरन्त सबके सामने प्रमाणित हो जायगी। यहाँ आकर प्रवचना की नीति अपने प्राथमिक तत्त्वों में घट कर रह जाती है और उसकी संचालन क्रिया उसके प्राथमिक तत्त्वों में प्रदर्शित होती है। प्रवचना की नीति अल्प समय के लिये तो सफल हो सकती है, परन्तु अधिक अवधि के लिये वह तभी सफल हो सकती है जबकि वह वास्तविक परीक्षा के प्रदर्शन को सदा के लिये टालने में सफल हो जाय, किन्तु ऐसा तो कूटनीति की उच्चतम क्षमता भी पूर्णतः प्राप्त नहीं कर सकती।

भाग्य तथा राजनीतिक ज्ञान अधिक से अधिक यही कर सकता है कि वह प्रवचना की प्राथमिक सफलता को अपने राष्ट्र की वास्तविक शक्ति के प्रशंसात्मक गुण के स्तर तक लाने में प्रयुक्त कर सकता है, जबकि अन्य राष्ट्र उसकी शक्ति को उसकी योग्यता से अधिक मान्यता प्रदान करने में छल लिये गए हों तो प्रतिष्ठा व शक्ति का सामंजस्य स्थापित करने के लिये आवश्यक समय मिल जाता है। इसीलिये जो राष्ट्र शक्ति की होड़ में पीछे रह गया हो विशेषकर शस्त्रीकरण के क्षेत्र में, तो वह प्रवचना की नीति के आवरण के पीछे अपनी कमजोरी छिपाने का प्रयत्न कर सकता है और साथ ही साथ अपने पिछड़ेपन को दूर कर सकता है। सन् 1940-41 की शरद् ऋतु व जाड़ों में ग्रेट ब्रिटेन वास्तव में हमले के लायक था तो उसकी प्रतिष्ठा, जोकि उस समय की उसकी वास्तविक सैनिक शक्ति से कहीं अधिक थी, सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व था, जिसने जर्मनी को उसकी भूमि पर हमला करने से रोक रखा था। तदुपरान्त अपनी सुरक्षा की नीति का प्रदर्शन करते-करते वह वास्तविक सुरक्षा-शक्ति प्राप्त करने में सफल हो गया, परन्तु यह ध्यान देने योग्य बात है कि भाग्य ने इस प्रवचना की नीति

को हिटलर की त्रुटियों के रूप में सहारा दिया था और यह नीति ब्रिटेन ने जान बूझ कर स्वतन्त्रतापूर्वक उतनी नहीं चुनी थी, वरन् प्राय पूर्ण रूप से अप्रनिहत आवश्यकतावश एक आखरी दाव के रूप में अपनायी गई थी[7]।

तथापि यह तो सत्य है कि साधारणत अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रवंचना की नीति का अनुसरण त्रुटिकर है। यह भी कोई कम त्रुटि न होगी कि दूसरे छोर तक पहुँचा जाय और शक्ति की उस कीर्ति से संतुष्ट हो जाया जाय जो कि वास्तविक शक्ति से कम हो। इस निषेधात्मक प्रतिष्ठा-नीति के दोनों विश्व महायुद्धों की अवधि में विशेषकर द्वितीय विश्व महायुद्ध के प्राथमिक वर्षों में विलक्षण उदाहरण संयुक्त राज्य तथा सोवियत यूनियन हैं।

द्वितीय विश्व महायुद्ध के छिड़ जाने के समय संयुक्त राज्य जब विश्व का संभावित रूप से सर्वशक्तिमान राष्ट्र बन चुका था और उसने स्पष्ट रूप से जर्मन व जापानी साम्राज्यवाद के विरुद्ध घोषणा कर रखी थी फिर भी जर्मनी व जापान अधिकतर इस तरह से आगे बढ़े मानो संयुक्त-राज्य एक प्रथम स्तर की शक्ति के रूप में वर्तमान ही न हो। इस विवेचन के प्रसंग में पर्ल हारबर पर किया गया हमला संयुक्त राज्य की सैनिक शक्ति के प्रति अस्पष्ट भर्त्सना का द्योतक है। संयुक्त राज्य की शक्ति की कीर्ति—अर्थात् उसकी प्रतिष्ठा—इतनी निम्न थी कि जापान अपनी युद्ध की योजनायें इस विश्वास पर आधारित कर सका कि संयुक्त राज्य की सैनिक शक्ति पर्ल बन्दरगाह की चोट से पुनः समय के अन्तर्गत युद्ध के निर्णय पर प्रभाव डालने के हेतु वापिस नहीं हो पायेगी। अमरीका की प्रतिष्ठा इतनी निम्न थी कि जर्मनी व इटली संयुक्त राज्य को यूरोपीय युद्ध से परे रखने का प्रयत्न करने के स्थान पर उसे उसमें उलझाने के लिये अधिक आतुर प्रतीत हो रहे थे। ऐसा उन्होंने सन् 1941 के दिसम्बर की दस तारीख को युद्ध की घोषणा करके किया। सन् 1934 में हिटलर ने

7 हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि अपने इतिहास की दो शोचनीय अवधियों में ग्रेट ब्रिटेन अपनी मुक्ति अपनी प्रतिष्ठा के कारण ही काफी हद तक प्राप्त कर पाया था। सन् 1917 में जब तमाम यूरोप नेपोलियन के चरणों में पड़ा था और फ्रांस ने अपने सारे प्रयास ग्रेट ब्रिटेन के विध्वंस के हेतु लगा रखे थे तो ब्रिटिश नाविक बेड़े में एक विद्रोह उठ खड़ा हुआ था कुछ समय के लिये तो महाद्वीप व ब्रिटिश द्वीप के मध्य केवल दो राजभक्त जहाज ही रह गये थे। सन् 1940 के ग्रीष्मकाल में भी ब्रिटेन उसी प्रकार से असहाय था भले ही इसके कारण भिन्न रहे हों। दोनों ही परिस्थितियों में निःसंदेह आदरपूर्ण भय से ब्रिटेन का आतंक स्थापित था वह इन तत्वों में से एक तत्व था, जिसने शत्रुओं को आक्रमण करने से रोक रखा था विशेषकर उस स्थिति में जब शक्ति का भौतिक वितरण इस आक्रमण के पक्ष में बहुत अधिक था।

कथनानुसार, "अमरीकी कार्ड सिपाही नहीं है। इस से तथाकथित नय जगत की हीन और पतित अवस्था उसकी सैनिक अकुशलता से स्पष्ट हो जाती है।"[8]

इतना बड़ा घटाव प्रारम्भिक तौर पर उसके कारण था कि सैनिक शक्ति की कीर्ति के रूप में अमरीकन प्रतिष्ठा की नीति की अनुपस्थिति कह सकते है। अन्य राष्ट्रों का यह प्रदर्शित करने के स्थान पर कि संयुक्त राज्य की मानवीय तथा भौतिक संभावनायें सैनिक शक्ति के रूप में क्या अर्थ रख सकती है संयुक्त-राज्य जगत् के समक्ष इन महान सम्भावनाओं को युद्ध के वास्तविक प्रश्नों में परिणत करने की अनिच्छा (यदि अक्षमता नहीं तो) को प्रमाणित करने के लिए इच्छुक प्रतीत होता रहा है। इस प्रकार संयुक्त राज्य ने अपने शत्रुओं की उदासीनता तथा आक्रमणों को आमन्त्रित किया और अपनी नीतियों की असफलता के फलस्वरूप अपने गम्भीर हितों के प्रति घातक खतरों को भी।

सोवियत रूस को एक ही प्रकार का सामना करना पड़ा था इसलिये नहीं कि इसने युद्ध के बल पर उदासीनता की, वरन् इस कारण कि वह अपनी प्रतिष्ठा की नीति में असफल रहा। दोनों विश्व महायुद्धों के मध्य के समय में लगातार सोवियत यूनियन की शक्ति की कीर्ति निम्न रही। जबकि जर्मनी, फ्रांस तथा ग्रेट ब्रिटेन ने कभी कभी अपनी वैदेशिक नीतियों के पक्ष में रूसी समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न किया किसी भी राष्ट्र की राय सोवियत यूनियन की शक्ति के बारे में उतनी उच्चतम न हो सकी कि वह रूसी राजनीतिक विचार पद्धति के प्रति घृणा और उसके सम्पूर्ण यूरोप से फैल जाने के भय के ऊपर काबू पा जाती। उदाहरण के लिये सन् 1938 में चकोस्लावेकिया के संकट के समय में जब फ्रांस व ग्रेट ब्रिटेन को या तो जर्मनी के साम्राज्यवादी विस्तार का समर्थन करना था अथवा सोवियत रूस द्वारा प्रस्तुत सहायता सहित उसे रोकना था तो रूस की प्रतिष्ठा इतनी निम्न हो चुकी थी कि पाश्चात्य यूरोपीय शक्तियों को उसके द्वारा प्रस्तुत सहयोग को तिरस्कृत करने में तनिक भी संकोच नहीं हुआ। सोवियत रूस की सैनिक प्रतिष्ठा सन् 1939 40 के फिनलैंड युद्ध में अपने निम्नतर बिन्दु तक पहुँच गई थी जबकि छोटा सा फिनलैंड रूसी दैत्य के सम्मुख अकेला मोर्चा लेता दृष्टिगोचर हो रहा था। उस प्रतिष्ठा की अनुपस्थिति ही उन तत्त्वों में से एक तत्त्व था, जिसने जर्मन सैनिक नेतृत्व तथा मित्र-राष्ट्रों के सैनिक नेतृत्व को यह विश्वास दिला दिया था कि सोवियत रूस जर्मनी के आक्रमण को सहन नहीं कर पायगा।

तथापि एक बुद्धिपूर्ण वैदेशिक नीति के लिये प्रतिष्ठा तथा वास्तविक शक्ति के मध्य का विरोधाभास उदासीनता का विषय नहीं होना चाहिये। क्योंकि

8 Hermann Rauschning The Voice of Destruction (New York G.P Putnam's sons, 1940) P 71

यदि सोवियत रूस सन् 1938 अथवा 1939 अथवा 1941 मे उतना ही शक्तिशाली दृष्टिगोचर होता, जितना कि वह वास्तव मे था—अर्थात् उसकी प्रतिष्ठा उसकी शक्ति के अनुसार ही होती—तो अन्य राष्ट्रो की उसके प्रति नीतियाँ आसानी से भिन्न होती और सोवियत रूस व जगत का भाग्य शायद भिन्न होता। क्या सोवियत रूस आज उतना ही शक्तिशाली है जितना कि वह दीखता है, या उससे अधिक अथवा कम है यह प्रश्न सोवियत रूस व जगत् दोनो ही के लिये आधारभूत महत्त्व का प्रश्न है। यही सयुक्त राज्य के लिये भी सत्य है और उन तमाम राष्ट्रो के लिए भी जोकि अतर्राष्ट्रीय राजनीति मे सक्रिय भाग ले रहे है। जगत् को उस शक्ति का प्रदर्शन, जोकि अपना राष्ट्र रखता है, न बहुत अधिक और न बहुत कम दिखाना, ही एक विवेकशील रूप से सोची गई प्रतिष्ठा की नीति का कार्य है।

सातवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों में वैचारिक तत्त्व

राजनीतिक विचार-पद्धतियो का स्वभाव[1]

यह एक विलक्षण बात है कि प्रत्येक राजनीति–चाहे वह गृह-राजनीति हो या अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति–अपनी आधारभूत अभिव्यक्ति में कभी भी अपने वास्तविक रूप में प्रकट नहीं होती। उसका वास्तविक रूप होता है शक्ति-संघर्ष। शक्ति को, जोकि उस नीति का वास्तविक लक्ष्य होता है और जिसके लिए वह संचालित की जाती है, नैतिक, वैधानिक अथवा जीव वैज्ञानिक शब्दावली में प्रस्तुत करने अथवा विवकसंगत सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। अर्थात् नीति का वास्तविक स्वरूप आदर्शात्मक संगतियो और बुद्धिसंगत व्याख्याओ के आवरणों में छिपा लिया जाता है।

व्यक्ति जितनी गहराई से शक्ति संघर्ष में संलग्न होता है, उतना ही कम वह शक्ति संघर्ष को उसके वास्तविक रूप में देख पाता है। जो शब्द हैमलेट ने अपनी माता से कहे थे वे ही शक्ति के भूखे सभी लोगो से उतनी ही असफलता पूर्वक कहे जा सकते हैं मां गरिमा के प्रेम के लिए अपनी आत्मा पर खुशामदी

1 विचार पद्धति की धारणा अक्सर दार्शनिक राजनीतिक अथवा नैतिक विश्वासों के अर्थ में प्रयोग में लायी जाती है। हम विचार-पद्धति के इस साधारण अभिप्राय से सम्बन्धित विषय का विवेचन पुस्तक के अन्त में कर रहे हैं। इस अध्याय में विचार-पद्धति को उस अर्थ में प्रयुक्त किया गया है जो कार्ल मैनहीम के 'विशेष विचार धारा'' के विचार से मेल खाता है कार्ल मैनहीम की पुस्तक ''आइडियालाजी एण्ड यूटोपिया'' को देखिये (न्यू यौर्क हारकोर्ट ब्रेस एण्ड कम्पनी 1936, पृ० 49) ''विचार पद्धति का विशेष रूप उस समय इंगित होता है जबकि इस शब्द का अर्थ यह होता है कि हम प्रतिद्वन्द्वी के विचारों और प्रस्तुत वस्तुओं के प्रति शंकित हैं। ये उन वास्तविक परिस्थितियों को ढाँपने के आवरण मात्र ही समझे जाते हैं जो इनके हित के अनुकूल नहीं होतीं। ये तोड़ी मरोड़ी गई बातें जान बूझ कर बोले गये झूठों से लेकर अनजाने में कहे गये मिथ्या कथनों तथा भ्रान्तिपूर्ण आवरणों का रूप धारण कर सकती हैं दूसरों को जान-बूझकर धोखा देने से लेकर आत्म प्रवंचना का रूप ले सकती हैं।'' और भी देखिये विचार पद्धतियों के अध्ययन का ध्येय मानवीय हितों के प्रायः जानबूझ कर पैदा किये गये, विशेषकर राजनीतिक दलों के'' धोखे तथा आवरणों का पर्दाफाश करना है।

मरहम न लगाओ, जो तुम्हारा अपराध नहीं वरन् मेरा पागलपन प्रकट करता है।"

अथवा जैसाकि अपनी पुस्तक "युद्ध व शांति" में टाल्सटाय ने प्रस्तुत किया है —

जब कभी भी कोई व्यक्ति अकेला ही कार्य करता है, तो वह अपने मन में उन विचारों की एक शृंखला लेकर चलता है जिन्होंने उसके अतीत के आचरणों को निर्धारित किया है और जो उसके वर्तमान के कार्यों के समर्थन में सहायक होते हैं और उसके भविष्य के कार्य व लक्ष्यों का पथ प्रदर्शन करने में भी सहायता देते हैं।

मनुष्यों की सभायें भी उसी प्रकार से कार्य करती हैं। वे उनके लिये जोकि कार्य में प्रत्यक्ष भाग नहीं लेते, अपने सामूहिक कार्यों से सम्बन्धित विचार-विमर्श, आत्म-पक्ष-समर्थन तथा अनुसन्धानों के निर्माण का दायित्व दे देते हैं।

कुछ ज्ञात और अज्ञात कारणों से फ्रांसीसी एक दूसरे पर आघात करते हैं तथा एक-दूसरे का कत्ल करने लगते हैं, और इस घटना का औचित्य कुछ ही मनुष्यों की स्पष्ट इच्छाओं में आत्म-पक्ष-समर्थन के रूप में ढूंढा जाता है, जो यह घोषणा करते हैं कि यह सब फ्रांस की भलाई के लिये है, स्वतन्त्रता के ध्येय के लिये है और समानता के हेतु है। मनुष्य एक दूसरे का कत्ल बन्द कर देते हैं और इस घटना का औचित्य शक्ति के केन्द्रीकरण तथा यूरोप का सामना करने की आवश्यकता के आधार पर सिद्ध किया जाता है। मनुष्य अपने सहयोगी मानवों को मृत्यु के घाट उतारते हुए पश्चिम में पूर्व की ओर मार्च करते हैं और इस घटना की साक्षी फ्रांस की कीर्ति के मुहावरे तथा इंगलैण्ड की निम्नता इत्यादि देती हैं। इतिहास हमें बतलाता है कि घटनाओं की ये औचित्यपूर्ण व्याख्यायें पूर्णत अर्थहीन होती हैं, तथा वे एक दूसरे से असम्बद्ध होती हैं। मनुष्य का उसके अधिकारों की घोषणा के उपरान्त कत्ल या फिर इंगलैण्ड के पतन के लिये इसमें लाखों का कत्ल इसके उदाहरण हैं। परन्तु इन औचित्यपूर्ण व्याख्याओं का अपने समय में अद्वितीय मूल्य होता है।

ये उन व्यक्तियों के ऊपर से नैतिक उत्तरदायित्व को हटा देती हैं जो उन घटनाओं को जन्म देते हैं। उस समय ये औचित्यपूर्ण व्याख्यायें मार्ग का परिष्कार करती हैं। व मनुष्य की नैतिक जिम्मेदारी का रास्ता साफ कर देती हैं। इन औचित्यपूर्ण व्याख्याओं के अलावा उस स्पष्ट प्रश्न का कोई भी उत्तर प्राप्त नहीं हो सकता है जो इन ऐतिहासिक घटनाओं का परीक्षण करने वाले किसी भी निरीक्षणकर्त्ता के मस्तिष्क में तुरन्त आता है। वह प्रश्न है कि क्या कारण थे, जिनसे लाखों लोग अपराध, कत्ल, युद्ध इत्यादि के लिये संगठित होते चले गये"[2]

2 Epilogue, Part II, Chapter VII.

अपने राजनीतिक कार्यों को एक राजनीतिक विचार पद्धति के आवरण मे छिपाये बिना राजनीतिक मच का अभिनेता पार्ट खेल ही नहीं सकता है। जितना ही एक व्यक्ति किसी विशेष शक्ति सघर्ष से दूर होता है, उतना ही सभवत उसकी सही प्रकृति को समझने मे वह सफल हो पाता है। तो यह कोई आकस्मिक घटना नही है कि किसी विशेष देश की राजनीति के बारे मे विदेशियो की समझ उस देश के देशवासियो के मुकाबिले में अधिक अच्छी होती है। राजनीतिज्ञों के मुकाबिले मे विद्वान् विद्यार्थियो के पास इस प्रश्न को समझने के लिए अधिक सामग्री होती है कि आखिर यह नीति किस उद्देश्य से अपनायी गई है। दूसरी ओर राजनीतिज्ञ उस अदम्य प्रवृत्ति के शिकार होते हैं जिसके फलस्वरूप वे अपनी नीतियो का शक्ति सघर्ष की शब्दावली के स्थान पर नैतिक अथवा कानूनी सिद्धान्तो अथवा जीव-विज्ञान की आवश्यकताओं के सिद्धान्तो के अन्तर्गत स्पष्टीकरण करने के प्रयत्न में सलग्न रहते हैं, और इस प्रकार अपने आपको धोखा देते हैं। दूसरे शब्दो में, जबकि प्रत्यक्ष राजनीति आवश्यकतावश शक्ति की खोज है, विचार पद्धति इस शक्ति की होड़ में सलग्नता को अभिनेता व उनके दर्शकगण के सम्मुख मनोवैज्ञानिक व नैतिक रूप मे अपनाने योग्य बना देती है।

ये कानूनी तथा नैतिक सिद्धान्त व जीव-वैज्ञानिक आवश्यकतायें अतर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे दोहरे कार्य की पूर्ति करती है। या तो वे राजनीतिक कार्यों के अन्तिम लक्ष्य होती है जिनके बारे मे हम पहले कह चुके हैं—अर्थात् वे अन्तिम लक्ष्य, जिनके पाने के लिये ही राजनीतिक शक्ति प्राप्त की जाती है—अथवा वे बहाने तथा झूठे परदे का रूप लेती है, जिनके पीछे शक्ति का तत्व जोकि हर राजनीति मे निहित है, छिपा दिया जाता है। यह सिद्धान्त तथा आवश्यकतायें पहले अथवा दूसरे कार्य की पूर्ति कर सकती है या फिर वे उन दोनो कार्यों की पूर्ति एक साथ कर सकती हैं। एक कानूनी तथा नैतिक सिद्धान्त, जैसे न्याय अथवा एक जीव वैज्ञानिक आवश्यकता जैसे रहन-सहन का उपयुक्त स्तर एक वैदेशिक नीति के लक्ष्य हो सकते हैं या फिर वह एक 'विचार-पद्धति' मात्र हो सकती है, या फिर दोनो ही। क्योंकि इस प्रसग मे हम अतर्राष्ट्रीय राजनीति के अन्तिम लक्ष्यों से सरोकर नही रख रहे हैं, हम कानूनी व नैतिक सिद्धान्तो तथा जीव वैज्ञानिक आवश्यकताओ से उस हद तक ही सरोकर रखेंगे, जिस हद तक वे "विचार-पद्धति" का कार्य सम्पन्न करने में सहायक है।

ये विचार पद्धतियां कुछ व्यक्तियो के कपट के फलस्वरूप आकस्मिक घटनायें नही है, जिन्हे हटा कर अधिक ईमानदार व्यक्तियों को उनके स्थान पर रखा जाय, ताकि वैदेशिक मामलो का सचालन अधिक शोभनीय हो जाय। ऐसी आकाक्षाओ के साथ सदा ही निराशा चलती रहती है। विरोधी दल के वे सदस्य

जोकि फ्रैंकलिन डी० रूजवैल्ट या चर्चिल की वैदेशिक नीतियों की कुटिलता के सबसे सशक्त आलोचक थे, जब स्वयं वैदेशिक मामलों के लिये उत्तरदायी बन गये तो उन्होंने भी अपने अनुयायियों को अपनी "विचार-पद्धति" के प्रयोग द्वारा धक्का पहुँचाया था। यह राजनीति की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि वह राजनीतिक मंच के अभिनेता को विचार पद्धतियों द्वारा अपने कार्यों के निकट लक्ष्य को छिपाने पर मजबूर कर देती है। राजनीतिक कार्य का निकटतम लक्ष्य शक्ति होता है, और राजनीतिक शक्ति मनुष्यों के मस्तिष्कों व कार्यों के ऊपर नियन्त्रण करने वाली शक्ति है। परन्तु जिन्हें शक्ति का भावी लक्ष्य चुना गया है, वे स्वयं दूसरों पर शक्ति प्राप्त करने पर उतारू होते हैं। इस प्रकार राजनीतिक मंच का अभिनेता सदा एक ही समय में भावी स्वामी अथवा भावी दास होता है। वह अन्यों पर शक्ति के प्रयोग की टोह में रहता है तथा उनके ऊपर शक्ति के प्रयोग की घात में रहता है।

राजनीतिक प्राणी होने के नाते, मनुष्य की इस उभय-भाविकता के साथ ही उसकी अपनी परिस्थिति के नैतिक मूल्यांकन की उभय-भाविकता चलती है। वह अपनी शक्ति-लोलुपता को उतना ही न्याय संगत समझेगा, जितना कि वह दूसरे की अपने ऊपर शक्ति प्राप्त करने की इच्छा को बुरा समझेगा। द्वितीय विश्व-महायुद्ध के उपरान्त से रूसी शासक शक्ति प्राप्त करने के षड्यन्त्र को अपनी स्वयं की सुरक्षा के लिये आवश्यक व न्यायसंगत समझते हैं, परन्तु वे अमरीकन शक्ति के विकास को साम्राज्यवादी तथा विश्व-विजय का आयोजन मान कर उसकी भर्त्सना करते हैं। संयुक्त राज्य ने रूसी महात्वाकांक्षाओं पर भी उसी प्रकार के कलंक लगा रखे हैं, जबकि वह अपने अन्तर्राष्ट्रीय लक्ष्यों को राष्ट्रीय सुरक्षा की आवश्यकता के रूप में प्रकट करता है जैसाकि जान आदम्स ने कहा है —

"शक्ति सदा यह सोचती है कि उसकी आत्मा महान् है और दुर्बलों की समझदारी के परे देख सकने की क्षमता उसके पास है और वह ईश्वर की सेवा में संलग्न है, जबकि वह ईश्वर के तमाम कानूनों का उल्लंघन कर रही होती है। हमारे उन्माद, महत्वाकांक्षायें, लालच, प्रेम व रोष इत्यादि इतनी आध्यात्मिक बारीकियों से आच्छन्न है तथा इतनी सशक्त वाक् चातुरी से परिपूर्ण है कि वे समझदारी व अन्तश्चेतना की पुकार को अनसुना कर देते हैं और दोनों को ही अपने पक्ष में ढाल लेते हैं।

इस मूल्यांकन की उभय भाविकता भी, जोकि शक्ति की समस्या के प्रति प्रत्येक राष्ट्र के दृष्टिकोण की विलक्षणता है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वभाव में ही निहित है। जो राष्ट्र विचारधाराओं को त्याग कर स्पष्ट रूप से यह कह दे कि वह शक्ति चाहता है, और इसी कारण अन्य राष्ट्रों की समान महत्वाकांक्षाओं

का विरोध करेगा तो वह इस शक्ति संघर्ष म अपने को निश्चित रूप स एक बहुत ही अहितकर परिस्थिति म पायगा। यह स्पष्ट स्वीकृति दूसरी ओर अन्य राष्टो को इतनी स्पष्टवादिता-पूवक घोषित वदेशिक नीति के घोर विरोध म सगठित कर देगी और इस प्रकार से उस विशेष राष्ट को इतनी अधिक शक्ति का प्रयाग करने पर बाध्य कर देगी जो अन्यथा अनावश्यक हो। दूसरी ओर यह स्वीकृति अतर्राष्टीय समुदाय के सवमान्य नतिक मूल्यो का खुला उल्लघन मानी जायगी और इस प्रकार से उस विशेष राष्ट को ऐसी परिस्थिति म ला पटकगी जहा से वह अपनी वदेशिक नीति अपूरे उत्साह से सचालित करेगा तथा साथ ही एक मलिन अत करण के साथ। सरकार का वदेशिक नीति के पीछे जनता को एक त्रित करने और तमाम राष्टीय शक्ति तथा साधन उसके समथन म लाने के लिये राष्ट के प्रतिनिधि भाषणकर्ता को जाव वैज्ञानिक आवश्यकताओ जैसे राष्टीय जीवन की आवश्यकता तथा नतिक सिद्धात जैसे न्याय के प्रति अनुभूति जगानी होगी न कि स्वय शक्ति के प्रति। यही वह एकमात्र माग है जिसके द्वारा कोई राष्ट उत्साह तथा उत्सग का भावना का सचार कर सकता है और जिसके बिना कोई भी वैदेशिक नीति शक्ति की अन्तिम परीक्षा म उत्तीण नहा हो सकती।

इसी प्रकार के मनोवैज्ञानिक तत्व अनिवाय रूप से अतर्राष्टीय राजनीतियो को वैचारिक आवरणो स ढाप देत है तथा उन्हे अतर्राष्टीय क्षत्र मे शक्ति सघष के अस्त्रो म परिणत कर देते है। एक सरकार जिसकी वदेशिक नीति अपनी जनता के बौद्धिक विश्वासो तथा नैतिक मूल्यो के प्रति आकषण का भाव पदा करती है उस विरोधी वैदेशिक नीति के ऊपर अगणित लाभ प्राप्त कर लेती है जो उन लक्ष्यो के चुनने म सफल नही हो पाई है जिनके पास ऐसा ही आकषण व्याप्त हो अथवा अपने चुने हुए लक्ष्यो मे ऐसा आकषण दष्टिगोचर कराने मे सफल हो। विचार-पद्धतिया हर विचार की भाति वे अस्त्र है जो एक राष्ट की हिम्मत को बढा कर उसके साथ ही साथ उस राष्ट की शक्ति बढा सकते हैं और इस काय द्वारा ही विरोधी की हिम्मत को पस्त कर देते है। वुडरो विलसन के फोरटीन प्वाइण्टस (चौदह सुझाव) ने प्रथम विश्व महायुद्ध म मित्र राष्टो की विजय म जो अत्यधिक योगदान दिया था वह मित्र राष्टो की हिम्मत को बढा कर तथा केन्द्रीय शक्तियो की हिम्मत को पस्त करके अतर्राष्टीय राजनीति म नैतिक तत्व के महत्व की प्रतिष्ठा का विलक्षण उदाहरण है।

वैदेशिक नीतियो की विशिष्ट विचार-पद्धतिया

अतर्राष्टीय राजनीति क स्वभाव से तो फिर यह निष्कष निकलता है कि साम्राज्यवादी नीतिया सदा ही व्यवहार मे कोई न कोई वैचारिक आवरण

ढंकती है, जबकि यथा-पूर्व-स्थिति की नीतियाँ अधिकतर उस रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं, जोकि उनका वास्तविक स्वभाव है। इससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि कुछ विशेष प्रकार की वैचारिक श्रृंखलायें स्वभाव से ही कुछ विशेष प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों से सम्बद्ध रहती है।

यथापूर्व स्थिति की विचार-धाराएँ

यथापूर्वस्थिति की नीति अपना वास्तविक चरित्र स्पष्ट कर सकती है और वैचारिक आवरणों से अपने को मुक्त रख सकती है, क्योंकि वर्तमान स्थिति वर्तमान होने के नाते ही एक कानूनी नैतिकता की अधिकारिणी बन जाती है। जो वर्तमान है, उसके पक्ष में कुछ न कुछ तो होना चाहिये, अन्यथा वह वर्तमान न होता। जैसा कि डीमोस्थनीज ने कहा है —

"कोई भी व्यक्ति अपनी सुरक्षा के लिए जितनी शीघ्रता से युद्ध छेड़ेगा, उतनी शीघ्रता से दूसरों पर अत्याचार के लिए नहीं। अपनी सम्पत्ति के खोने का भय होने पर मनुष्य लड़ता है, अत्याचार के लिए नहीं। क्योंकि यह तो सच है कि मनुष्य इसे अपना लक्ष्य बनाते हैं, परन्तु यदि उन्हें रोक दिया जाता है तो वे यह नहीं महसूस करते कि उन्होंने अपने विरोधियों द्वारा अन्याय सहन किया है"।[3]

क्योंकि जो राष्ट्र यथापूर्व स्थिति की नीति का अनुसरण करता है और अपनी वर्तमान शक्ति के बचाव की खोज में संलग्न रहता है, वह अन्य राष्ट्रों के रोष को दूर करने तथा अपनी स्वयं की शंकाओं के समाधान की आवश्यकता का परित्याग कर सकता है। यह उस समय और भी होता है, जबकि क्षेत्रीय वर्तमान स्थिति के बचाव को किसी नैतिक अथवा कानूनी आक्रमण का सामना नहीं करना पड़ता और जबकि परम्परागत रूप से इस वर्तमान स्थिति की सुरक्षा हेतु राष्ट्रीय शक्ति ही अनन्य रूप से प्रयोग में लायी गई हो। ऐसे राष्ट्र जैसे स्विटजरलैंड, डैनमार्क, नोरवे तथा स्वीडन को अपनी वैदेशिक नीति की यथा-पूर्व स्थिति की सुरक्षा की शब्दावली में व्याख्या करने में हिचकने की आवश्यकता नहीं होती है, क्योंकि यह वर्तमान स्थिति साधारण तौर पर कानूनी मान ली गई है। अन्य राष्ट्र, जैसे ग्रट ब्रिटेन, फ्रांस, यूगोस्लेविया, चेकोस्लोवेकिया तथा रूमानिया जोकि दोनों विश्व-महायुद्धों के दौरान मुख्यतः यथापूर्व स्थिति की नीति का अनुसरण करते रहे, अपनी वैदेशिक नीतियों के लिये ही यह घोषणा नहीं कर

3 Demosthenes, For the Liberty of the Rhodians, Section 10-11.

सकते थे कि वे उनकी संपत्ति की रक्षा की ओर नत्शिन हैं। क्योंकि सन् 1919 की यथापूर्वस्थिति की कानूनी यथार्थता स्वयं इन राष्ट्रों के आन्तरिक व बाह्य रूप में चुनौती का शिकार बन चुकी थी अतः उन्हें उन आदर्श सिद्धान्तों को रखना आवश्यक हो गया, जोकि इन चुनौतियों का सामना कर सकें। शान्ति तथा अंतर्राष्ट्रीय कानून के आदर्श इस लक्ष्य की पूर्ति करते रहे।

शान्ति व अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आदर्श यथापूर्व स्थिति की नीति की सेवा में विशिष्ट रूप की विचार-पद्धतियाँ हैं क्योंकि साम्राज्यवादी नीतियाँ यथापूर्व स्थिति में गड़बड़ी पैदा करके प्रायः युद्ध की ओर अग्रसर होती हैं और उन्हें युद्ध की संभावना को सदा अपने दृष्टिकोण के सम्मुख रखना होता है। एक वैदेशिक नीति जो जितना ही सान्त्वना देने को अपना प्रमुख सिद्धान्त घोषित करती है, उसी अनुपात में साम्राज्य-विरोधी हो जाती है और वर्तमान स्थिति की सुरक्षा की हिमायती बन जाती है। अपनी यथापूर्व स्थिति की नीति को सान्त्वनावाद की शब्दावली में घोषित कर एक राजनीतिज्ञ अपने साम्राज्यवादी विरोधियों के ऊपर युद्ध-प्रियता का कलंक मढ़ देता है और इस प्रकार अपने व अपने देशवासियों के अन्तःकरण को नैतिक शंकाओं से मुक्त कर देता है और उन सभी देशों के सहयोग को प्राप्त कर लेने की आशा कर सकता है जो कि यथापूर्व स्थिति की सुरक्षा चाहते हैं।

अंतर्राष्ट्रीय कानून का आदर्श भी यथापूर्व स्थिति की नीतियों के लिये सामान्य वैचारिक कार्य सम्पन्न करता है। कानून साधारणतः और अंतर्राष्ट्रीय कानून विशेषकर एक स्थिर सामाजिक शक्ति है। वह शक्ति का एक विशेष वितरण निर्धारित करता है तथा उसे विशेष ठोस परिस्थितियों में स्थिर रखने के मानदण्ड तथा पद्धतियाँ प्रस्तुत करता है। गृह-कानून एक उच्चतम रूप से विकसित शासन-पद्धति, न्यायालयों के फैसलों, तथा कानून को कार्यान्वित करने की पद्धतियों द्वारा शक्ति के साधारण वितरण की परिधि के अन्तर्गत अनुकूलता और कभी कभी काफी हद तक परिवर्तन की संभावना भी प्रस्तुत करता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून ऐसे कानूनी परिवर्तन की व्यवस्था की अनुपस्थिति में, जैसाकि हम आगे चलकर छब्बीसवें अध्याय में देखेंगे, विशेषकर ही नहीं वरन् वास्तविक रूप में, एक स्थिर शक्ति होना है। अंतर्राष्ट्रीय कानून की दुहाई जैसे "कानून के अन्तर्गत व्यवस्था" अथवा, "कानून की साधारण गतिशीलतायें" किसी विशेष वैदेशिक नीति के पक्ष में इसीलिये सदा यथापूर्व स्थिति की नीति के वैचारिक आवरण के रूप में प्रयुक्त होती हैं। विशेषकर जबकि एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, जैसे राष्ट्र-संघ, किसी विशेष वर्तमान स्थिति के संरक्षण के लिए ही निर्मित किया गया हो, तो इस संगठन के लिए पक्षपात इस विशेष वर्तमान स्थिति के अवलम्बन के बराबर हो जाता है।

प्रथम विश्व-महायुद्ध के अन्त के उपरात से यथापूर्व-स्थिति की नीति के पक्ष मे ऐसी कानूनी विचार-पद्धतियो का प्रयोग एक साधारण बात बन गई है, यद्यपि पुराने युगो की मित्र-सधियाँ लुप्त नही हो गई हैं, फिर भी वे एक कानूनी सगठन की परिधि के अतर्गत "क्षेत्रीय व्यवस्था" बनने को प्रस्तुत हो गई हैं। "यथापूर्व स्थिति की सुरक्षा" "अतर्राष्ट्रीय शाति व सुरक्षा" को स्थान दे देती है। कई राज्य जिनका "यथापूर्व स्थिति" की रक्षा मे समान्य हित है, किसी भी स्रोत से उस सामान्य हित पर आंच नही आने देंगें। उसकी रक्षा वे धार्मिक सश्रय का आश्रय न लेकर "सामूहिक सुरक्षा" अथवा "आपसी सहायता की सधि" द्वारा करने का प्रयत्न करेंगे, क्योकि वर्तमान स्थिति मे परिवर्तन अक्सर छोटे राष्ट्रो की कीमत पर ही किये जाते हैं। छोटे राष्ट्रो के अधिकारो की रक्षा (जैसे सन् 1914 मे बेलजियम अथवा सन् 1939 मे पोलैंड या फिनलैड के अधिकारो की रक्षा), विशेष अनुकूल परिस्थितियो के अतर्गत यथापूर्व स्थिति की दूसरे प्रकार की विचार-पद्धति का रूप धारण कर लेती है।

साम्राज्यवाद की विचार-पद्धतियाँ

साम्राज्यवादी नीति को सदा ही एक विचार-धारा की आवश्यकता होती है, क्योकि यथापूर्व स्थिति की नीति के विपरीत साम्राज्यवाद सदा ही प्रामाणिकता का भार अपने कन्धो पर ले कर चलता है। उसे यह प्रमाणित करना होता है कि जो वर्तमान स्थिति वह पलटना चाहता है वह पलट देने के लायक है और जो वर्तमान के पक्ष मे अनेकों के मस्तिष्को मे कानूनी नैतिकता व्याप्त है, वह किसी ऐसे उच्च नैतिक सिद्धान्त के पक्ष मे समाप्त कर दी जानी चाहिये, जोकि शक्ति के नये वितरण का आधार है। गिबन के शब्दो मे, "प्रत्येक युद्ध के लिये सुरक्षा अथवा बदले का, मर्यादा अथवा उत्साह का, अधिकार अथवा उपयुक्तता का उद्देश्य तुरत विजेता के कानूनी शब्दकोश मे ढूंढ लिया जाता है"।[4]

जिस हद तक साम्राज्यवाद की विशिष्ट विचार-धारायें कानूनी विचारो का प्रयोग करती हैं, वे निरपेक्ष अतर्राष्ट्रीय कानून से अर्थात् वर्तमान अतर्राष्ट्रीय कानून से सम्बद्ध नही हो सकती। जैसाकि हम देख चुके हैं कि अतर्राष्ट्रीय कानून से स्थायी रूप से वर्तमान यथापूर्व स्थिति को पोषण मिलता है। साम्राज्यवाद का गतिशील चरित्र गतिमान विचार-धारा की माँग करता है। कानून के क्षेत्र मे स्वाभाविक कानून अर्थात् कानून के आदर्श रूप का विचार साम्राज्यवाद की

4 The Decline and Fall of the Roman Empire (The Modern Library Edition) Vol. II P. 1235.

वैचारिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यथार्थ स्थिति या सम्बन्धित वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्याय के विरुद्ध साम्राज्यवादी राष्ट्र तक ऐसे उच्च कानून की दुहाई देगा, जोकि न्याय की आवश्यकताओं की पूर्ति करता हो। यद्यपि नाजी जर्मनी ने वारसाई पर स्थापित यथापूर्व स्थिति को दोहरान की माँग समानता के उस सिद्धान्त के आधार पर की थी जिस का वारसाई सन्धि उल्लंघन करती प्रतीत होती थी। उदाहरणार्थ उपनिवेशों की माँग जिनके स्वामित्व से वारसाई सन्धि ने जर्मनी को पूर्णत वंचित कर दिया था अथवा उस सन्धि के एक-पक्षीय नि शस्त्रीकरण की धाराओं के दोहराने की माग भी उसी सिद्धान्त के अतर्गत उपजी थी।

साम्राज्यवादी नीति एक हारी हुई लड़ाई म उपजी यथापूर्व स्थिति के विरुद्ध लक्षित नहीं होती। वह शक्ति शून्यता म उपज कर विजय की ओर अग्रसर होती है। ऐसी स्थिति म अन्यायपूर्ण तथा निरचयात्मक कानून के विरुद्ध प्राकृतिक कानून की अपील के स्थान पर नैतिक विचार धाराय उसका स्थान ग्रहण कर विजय को एक नैतिक आवश्यकता का रूप देती है। नव कमजोर लोगों का दमन "सफेद लोगों का बोझ, राष्ट्रीय उद्देश्य व्यक्त नियति" पवित्र विश्वास 'क्रिश्चियन कर्त्तव्य' इत्यादि प्रतीत होने लगता है। विशेषकर औपनिवेशिक साम्राज्यवाद अधिकतर इस प्रकार के वैचारिक नारों द्वारा ढापा गया। जैसेकि 'पाश्चात्य सभ्यता की कृपा जिसके अनुसार धरती की अदवत जातियों तक विजेता राष्ट्र का पहुँचना एक धर्म कार्य है। जापान की पूर्वी एशिया के लिये 'सयुक्त धन का क्षेत्र' की विचार-धारा मानवतावादी आवरण के वैसे ही आवरणों का द्योतक थी। जब कभी भी एक धार्मिक निष्ठा से युक्त राजनीतिक दर्शन साम्राज्यवादी नीति म मेल खा जाता है तो वह तुरन्त ही वैचारिक आवरण का यन्त्र बन जाता है।

अरब विस्तार के युग मे अरब-साम्राज्यवाद अपने को एक धार्मिक कर्त्तव्य की पूर्ति के रूप मे न्याय सगत घोषित करता रहा। नेपोलियन का साम्राज्यवाद यूरोप भर मे "स्वतन्त्रता समानता व भ्रातृत्व की पताका फहराते हुए फैल गया था। रूसी साम्राज्यवाद ने विशेषकर अपनी कुसतुनतुनिया व दारदनेल्स की अभिलाषा म, एक के बाद एक अथवा साथ ही साथ रूढ़िवादी निष्ठा, स्लाव-पक्ष', 'विश्व क्रान्ति' तथा 'पूँजीवादी घेरे स सुरक्षा आदि नारो का प्रयोग किया है।

आधुनिक युग मे, विशेषकर डार्विन तथा स्पेन्सर के सामाजिक दर्शन के प्रभाव में साम्राज्यवादी विचारधारायें जीव-वैज्ञानिक तर्कों को महत्ता प्रदान करती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म परिवर्तित करने पर सर्वशक्तिशाली के जीवित रहने की उपयुक्तता का सिद्धान्त एक शक्तिशाली राष्ट्र की दुर्बल राष्ट्र क ऊपर उच्चता

में स्वभावतः परिणत हो जाता है। इसके अनुसार दूसरा राष्ट्र प्रथम की शक्ति का पूर्व निर्धारित लक्ष्य मात्र ही होता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि शक्तिशाली दुर्बल का दमन नहीं करता है अथवा यदि दुर्बल शक्तिशाली के साथ समानता का दावा करता है तो यह प्रकृति के विरुद्ध होगा। शक्तिशाली राष्ट्र का पृथ्वी पर जीवित रहने का अधिकार है। वह "धरती का गौरव" है। जैसा कि एक विख्यात जर्मन समाजशास्त्री ने प्रथम विश्व-महायुद्ध के समय खोज की थी कि "वीर" जर्मन को निश्चित रूप से "ब्रिटिश दुकानदार" के ऊपर विजयी होना चाहिए। निम्न जातियाँ स्वामी जातियों की सेवा करें, यह तो प्रकृति का नियम ही है, जिसका विरोध केवल दुष्ट तथा मूर्ख लोग ही करेंगे। गुलामी तथा बहिष्कार तो मूर्ख व्यक्ति की न्यायपूर्ण नियति है।

साम्यवाद, फासिस्टवाद, नाजीवाद तथा जापानी साम्राज्यवाद ने इन जीव-वैज्ञानिक विचार-धाराओं को एक नया क्रांतिकारी मोड़ दे दिया। जिन राष्ट्रों को प्रकृति ने धरती के स्वामित्व के लिये बनाया है, उन्हें स्वभावतः निम्न राष्ट्रों की चालाकी तथा हिंसा द्वारा निम्न अवस्था में रखा जाता रहा है। ओजस्वी परन्तु गरीब प्रभावयुक्त राष्ट्रों को धनी परन्तु ह्रासोन्मुख राष्ट्रों द्वारा धरती के धन से वंचित रखा जाता है। श्रमजीवी राष्ट्रों को अपने आदर्शों से प्रेरित हो उन पूँजी-वादी राष्ट्रों से संघर्ष करना आवश्यक है, जो केवल अपनी थैलियों की रक्षा मात्र से वास्ता रखते हैं। अति-जनसंख्या की विचारधारा द्वितीय विश्व-महायुद्ध के पूर्व जर्मनी, इटली तथा जापान को विशेष प्रिय बन गई थी। जर्मन जनता एक "क्षेत्र-हीन जनता" है, जो यदि "रहने योग्य स्थान" प्राप्त न कर पाई तो उसका दम घुटता रहेगा और यदि उसे "कच्चा माल" प्राप्त न हो पाया तो भूखों मर जायेगी। कुछ अन्य विभिन्नताओं के साथ यह विचार पद्धति इटली तथा जापान द्वारा भी उन्नीस सौ तीस के वर्षों के दौरान अपनी विस्तारवादी नीतियों को न्यायसंगत प्रमाणित करने तथा साम्राज्यवादी लक्ष्यों के आवरण के रूप में प्रयोग में लायी गयी थी।[5]

5 दोनों विश्व महायुद्धों के बीच में जर्मनी, इटली तथा जापान द्वारा आबादी के दबाव तथा आर्थिक संकट के आधार पर उपनिवेशों के दावों का वास्तविक वैचारिक रूप उपयुक्त आबादी तथा आर्थिक आंकड़ों के अध्ययन से प्रकट हो जाता है। जर्मनी के चार अधीनस्थ उपनिवेशों की, जो उसके पास सन् 1914 में थे, और जिनका क्षेत्र नौ लाख तीस हजार वर्ग मील था, आबादी एक करोड़ बीस लाख थी, जिसमें से केवल बीस हजार गोरे लोग थे। उस समय यह सर्वेक्षित किया गया था कि पेरिस शहर में जर्मनी के तमाम अधीनस्थ उपनिवेशों में कुल मिलाकर बसे हुए। लोगों से अधिक जर्मन बसे थे इरिट्रिया में इटली के पचास वर्ष के औपनिवेशिक राज्य के उपरान्त भी वहाँ की दो हजार वर्ग मील भूमि में, जो बसने के लिये सबसे उपयुक्त

परन्तु साम्राज्यवाद का सबसे प्रचलित आवरण तथा दोष मुक्ति का स्रोत जो व्यवहार म लाया गया है वह है साम्राज्यवाद विरोधी विचार पद्धति[6]। यह इतनी व्यापक रूप स इस कारण प्रचलित है क्योकि साम्राज्यवाद की विचार धाराओ म से यह सबस प्रभावशाली है। हेलाग क अनुसार फासिस्टवाद सयुक्तराज्य म फासिस्ट विरोधी विचार के रूप म आयगा उसी प्रकार साम्राज्य वाद अनेक देशो म साम्राज्यवाद विरोधी विचार धारा के रूप म आयगा। सन् 1914 तथा सन् 1939 मे दोनो पक्ष एक दूसरे के साम्राज्यवाद म अपनी सुरक्षा करने के लिये युद्ध म सलग्न हुए थे। जर्मनी ने सन् 1941 म सोवियत् रूस पर उसक साम्राज्यवादी षडयत्रो को पलट देने की नीयत स आक्रमण किया था। द्वितीय विश्व महायुद्ध के उपरान्त से अमरीकन तथा ब्रिटिश तथा रूसी वैदेशिक नीतियो का दोष-मुक्त होना अन्य राष्ट्रो के साम्राज्यवादी लक्ष्या के आधार पर प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार अपनी स्वय की वैदेशिक नीति को उसक वास्तविक चरित्र के साम्राज्यवाद विरोधी होने पर भी अथवा उस यथापूर्व स्थिति की सुरक्षा तथा रक्षा के रूप मे प्रस्तुत करके कोई भी अपनी जनता म वह श्रेष्ठ चेतना पूर्ण देता है तथा अपन लक्ष्य की सिद्धि के उद्देश्य से वह विश्वास प्राप्त करता है जिसके बिना कोई भी जनता किसी वैदेशिक नीति का पूर्ण हृदय से समर्थन नही कर सकती है और न ही उसके पक्ष म

मानी गई थी केवल चार सौ इटालवी बसे थे। जापान क कोरिया तथा फारमूसा क उपनिवेशों ने चालीस वर्षो म मध्य जापान की एक वर्ष की आबादी की वृद्धि से कम आबादी को अपने अन्दर बसाया है।

जहाँ तक उपनिवेशों का मात राष्ट्र क प्रति आर्थिक महत्त्व का प्रश्न है जर्मनी तथा इटली मे सम्बन्धित आकडों मे इस विषय में प्रकाश पडता है सन् 1913 में जर्मनी क सम्पूर्ण आयात व निर्यात का केवल 0 5 प्रतिशत आयात निर्यात उसक अपने उपनिवेशों क साथ रहा था सन् 1933 में इटली क उपनिवेशो मे आयात उसके सम्पूर्ण आयात का केवल 1 6 प्रतिशत था व इटली मे यहा निर्यात उसक सम्पूर्ण निर्यात का केवल 7 2 प्रतिशत था जिसका एक बहुत बडा भाग युद्ध सम्बन्धी सामग्री का रहा होगा केवल जापान क लिये उसके उपनिवशों का आर्थिक महत्त्व अत्यधिक रहा है, क्योंकि सन् 1934 म उसक सम्पूर्ण व्यापार का 25 प्रतिशत इन उपनिवेशों मे रहा था (सम्पूर्ण आयात का 23 1 प्रतिशत तथा सम्पूर्ण निर्यात का 22 प्रतिशत) कृपया देखिए Royal Institute of International Affairs The Colonial Problem (London New York Toronto, Oxford University Press) P 287

6 साम्राज्यवाद विरोधी विचारधारा का एक विरोधी पक्ष शक्ति विरोध की विचारधारा है इस विचारधारा क अनुसार अन्य राष्ट्र अपनी नीतियों में शक्ति की लिप्सा द्वारा प्रेरित होते हैं, जबकि अपना निजी राष्ट्र इन निम्न लक्ष्यों मे वंचित होने क कारण पवित्र आदर्शों के लक्ष्यों का ही अनुसरण करता है।

सफलतापूर्वक संघर्ष ही कर सकती है। साथ ही साथ वह शत्रु को भी, गलत समझ सकता है यदि वह वैचारिक स्तर पर उतना तैयार नहीं है, जिससे वह अब यह निर्धारित करने में असमर्थ हो जाता है कि किस पक्ष की ओर न्याय है?

अस्पष्ट विचार-धाराएँ

साम्राज्य विरोधी विचार धारायें अपनी अस्पष्टता से ही प्रभावशीलता प्राप्त करती हैं। अब वे निरीक्षणकर्त्ता को चक्कर में डाल देती हैं। वह इस विषय में निश्चित नहीं हो पाता कि वह साम्राज्यवादी विचारधारा का अध्ययन कर रहा है अथवा यथापूर्व स्थिति की नीति के वास्तविक प्रकाशन का निरीक्षण कर रहा है। यह संदेहजनक प्रभाव हर उस परिस्थिति में वर्तमान रहता है, जबकि एक विचारधारा किसी विशेष नीति का आवरण नहीं बनाई जाती। यह प्रभाव यथापूर्व स्थिति के संरक्षक तथा साम्राज्यवादी तत्व को बढ़ावा देने वालों द्वारा प्रयोग में लाया गया है। हमारे समय में राष्ट्रीय आत्म-निर्णय तथा संयुक्त राष्ट्र की विचार-धाराओं ने वही कार्य संपन्न किया है। शीत युद्ध के प्रारंभ से निरन्तर विकसित होती हुई ये विचार धारायें शान्ति की विचारधारा में आकर जुड़ गई है।

केन्द्रीय तथा पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों की वैदेशिक दमन से स्वतन्त्रता को राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त के आधार पर ही न्याय-संगत सिद्ध किया गया था, जैसा कि वुडरो विलसन ने उस सिद्धान्त पर विचार किया था। सैद्धान्तिक स्तर पर यह न केवल साम्राज्य की यथापूर्व स्थिति के विरोध में था, वरन् किसी भी प्रकार के साम्राज्यवाद के विरोध में था चाहे वह पुरानी साम्राज्यवादी शक्तियों का हो—जैसे जर्मनी, आस्ट्रिया तथा रूस का अथवा स्वतन्त्र किये गये राष्ट्रों का। फिर भी आत्म निर्णय के नाम पर ही पुरानी साम्राज्यवादी व्यवस्था के नाश के तुरन्त उपरान्त नये साम्राज्यवाद का जन्म होना आवश्यक था। पोलैंड, चैकोस्लोवेकिया रूमानिया तथा यूगोस्लेविया के उदाहरण उतने ही विलक्षण थे, जितने वे आवश्यकतावश थे, क्योंकि पुराने साम्राज्यवादी ढांचे के ढह जाने से जो शून्यता उत्पन्न हो गई थी, उसकी पूर्ति करना तो आवश्यक था ही, और नये स्वतंत्र राष्ट्र उस पूर्ति के लिये प्रस्तुत ही थे। जैसे ही उन्होंने अपने आप को शक्ति-सम्पन्न कर लिया, वैसे ही उन्होंने भी उसी राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त का नयी यथापूर्व-स्थिति की रक्षा के हेतु प्रयोग किया। प्रथम विश्व-महायुद्ध के अन्त से लेकर द्वितीय विश्व-महायुद्ध के अन्त तक यह सिद्धान्त उनका सबसे शक्तिशाली वैचारिक अस्त्र रहा था।

जाता है, क्योंकि यह दुहाई साधारणत मानवीय सिद्धान्तों के आवरण मे ही दी जाती है। उसकी अस्पष्टता ही इस विचार-पद्धति का एक ऐसा साधन बन जाती है, जिसके द्वारा अपने शत्रुओ को भ्रम मे डाल दिया जाता है तथा मित्रो को शक्ति प्रदान की जाती है।

द्वितीय विश्व-महायुद्ध के अन्त के उपरान्त से शान्ति की विचारधारा ने अधिक से अधिक मात्रा मे इसी प्रकार का कार्य सम्पन्न किया है। तृतीय विश्व-महायुद्ध के भय के कारण, जोकि आधुनिक जन-ध्वंसात्मक यन्त्रो द्वारा लडा जायेगा, कोई भी सरकार अपनी वैदेशिक नीति के पक्ष मे अपनी जनता तथा बाहरी जनता का समर्थन तब तक नही प्राप्त कर सकती, जब तक कि वह उन को अपने शांति-प्रिय इरादो के लिये विश्वास नही दिला पाती। इस प्रकार "शांति-सम्मेलन", "शांति का आक्रमण" "शांति का धार्मिक संघर्ष" इत्यादि शीत युद्ध के प्रचार के अखाड़े के नपे-तुले हथियार बन चुके हैं। फिर भी विशेष यथार्थवादी वैदेशिक नीतियो के संदर्भ में, इन विश्वव्यापी शांति-प्रियता की घोषणाओं तथा इरादो का प्रदर्शन वास्तव में अर्थहीन बन चुका है, क्योंकि यह तो स्वयंसिद्ध माना जा सकता है कि आज के युद्ध की असीम विध्वंसता के कारण प्रत्येक राष्ट्र प्रायः अपने इरादो की पूर्ति शांति के साधनो द्वारा करना चाहेगा न कि युद्ध द्वारा। परन्तु उसी संकेत के आधार पर ये घोषणायें दो महत्त्वपूर्ण राजनीतिक कार्य सम्पन्न करती है। वे घोषित शांतिप्रिय लक्ष्यो के पर्दे के पीछे वास्तविक नीतियो की खोज को छिपा लेती हैं। साथ ही साथ वे इन नीतियो के पक्ष मे तमाम सद्भावनाओं वाले लोगो का समर्थन प्राप्त करने मे सहायक सिद्ध होती हैं, फिर इन नीतियो का वास्तविक चरित्र चाहे जो कुछ भी क्यो न हो, क्योकि वे शान्ति की सुरक्षा के रूप मे प्रस्तुत की जाती हैं—जोकि एक ऐसा लक्ष्य है, जिसे हर जगह के सद्भावना वाले व्यक्ति सदा ही गम्भीरतापूर्वक प्राप्त करना चाहते है।

मान्यता की समस्या

तो फिर इन वैचारिक आवरणो को भेदकर उनके पीछे क्रियान्वित वास्तविक राजनीतिक शक्तियो को परखना और समझना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्यार्थी का एक महत्त्वपूर्ण तथा अत्यधिक कठिन कार्य होता है। यह इस कारण महत्त्वपूर्ण है, कि यदि यह न किया जाय तो किसी वैदेशिक नीति का वास्तविक चरित्र निर्धारित करना असभव हो जाता है। साम्राज्यवादी प्रवृत्तियो तथा उनके विशेष चरित्र की मान्यता इस अन्तर की स्पष्टता को जानने पर अवलम्बित है। यह अन्तर की स्पष्टता वैचारिक आवरणो, जोकि साधारणत. साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं का खडन करते रहते है तथा वास्तविक राजनीतिक लक्ष्यो के भेद को

प्रकट करती है। इस अन्तर को सही सही समझ लेने में सबसे बड़ी कठिनाई न साधारण कठिनाई से उत्पन्न होती है जोकि प्रत्येक मानवीय कार्य का वास्तविक अर्थ जानने में प्रस्तुत होती है चाहे उस कार्य का कर्ता उसे जो कुछ भी समझे अथवा समझाने का ढोंग रचता रहे। यह साधारण समस्या अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में दो अन्य कारणों से और भी जटिल हो जाती है जोकि इस क्षेत्र की साधारण विशेषतायें हैं। प्रथम तो आत्मप्रशंसा अथवा गर्व में जो कि प्रतिष्ठा की नीति की द्योतक है तथा साम्राज्यवाद के वैचारिक आवरणों में अन्तर स्थापित करने का प्रश्न है। दूसरे यथापूर्व स्थिति का वैचारिक पद्धति अथवा स्थानीय साम्राज्यवाद के पीछे सचालित वास्तविक नीति के असली चरित्र के निर्धारण की समस्या है।

हम विलियम द्वितीय की वैदेशिक नीति के बारे में टिप्पणी करने का मौका मिला है जिसकी भाषा तथा व्याख्या द्वारा स्थूल तौर पर साम्राज्यवादी नीति का आभास मिलता था जबकि वास्तव में वह साम्राज्यवादी पर यत्न तथा विकृत आत्मप्रशंसा का एक विचित्र सम्मिश्रण था। इसके ठीक विपरीत हिटलर तथा मुसोलिनी की साम्राज्यवादी वैदेशिक नीतियों का यही तत्त्व 1930 40 के अंतिम वर्षों तक मान्यता से साधारणत वंचित रहा था क्योंकि उसे घरेलू व्यवहार के लिए एक झांसेबाजी तथा डींग की पालिसी समझ लिया जाता रहा था। जानबूझ कर अथवा अनजाने में प्रयोग किये गये वैचारिक आवरणों के पीछे छिपी किसी वैदेशिक नीति के वास्तविक चरित्र का निर्धारण उस समय और भी कठिन हो जाता है जबकि वह दुराव यथापूर्व स्थिति की विचार-पद्धतियों का आवरण होता है। द्वितीय विश्व महायुद्ध के उपरान्त के युग में संयुक्त राज्य तथा सोवियत यूनियन की वैदेशिक नीतियां इस प्रसंग का अद्वितीय उदाहरण है।

दोनों ही राष्ट्रों ने अपनी वैदेशिक नीतियों के लक्ष्यों को प्रायः एक से ही यथा-पूर्व स्थिति के वैचारिक आवरण में ढाल कर प्रस्तुत किया है। संयुक्त राज्य तथा सोवियत यूनियन दोनों ने यह घोषणा की है कि उनकी कोई भी क्षेत्रीय महत्त्वाकांक्षायें नहीं है सिवाय उस सीमा रेखा के आगे जोकि तेहरान याल्टा तथा पाटसडम में किये गये सैनिक समझौतों द्वारा सैनिक दृष्टिकोण से निर्धारित की गई थी या जो सैनिक विभाजन की रेखायें सैनिक कमांडरों के आपस के समझौते के उपरान्त द्वितीय विश्व महायुद्ध के अन्त में निर्धारित हुई थी। दोनों ही राष्ट्र स्वतंत्र तथा प्रजातान्त्रिक सरकार हर जगह स्थापित देखना चाहते हैं और दोनों ही सुरक्षा तथा राष्ट्रीय रक्षा के उद्देश्य से सचालित हैं और वे पूंजीवादी अथवा साम्यवादी साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपनी स्वयं की इच्छा के बावजूद अपनी रक्षा का प्रबन्ध करने पर मजबूर है।

प्राय सभी अमरीकन तथा रूसी लोग स्पष्ट रूप से इन कथनो द्वारा प्रभावित हो यह विश्वास कर लेते हैं कि यह उनके देश की वैदेशिक नीति के चरित्र का वास्तविक स्पष्टीकरण है। परन्तु दोनो तो एक साथ सही नहीं हो सकते, जबकि दोनो मे से एक अथवा दोनो ही गलत होने चाहियें। क्योंकि यह हो सकता है कि सोवियत् यूनियन सयुक्त राज्य की वैदेशिक नीति को गलत समझता हो या फिर सयुक्त राज्य सोवियत् यूनियन की वैदेशिक नीति को गलत समझता हो, या फिर दोना ही एक दूसरे को गलत समझते हो। इस पहेली का हल, जिसके ऊपर सम्पूर्ण जगत् का भाग्य निर्भर है, उनके विचार पर ही अवलम्बित नही है, वरन् उन तमाम तत्वो के समावेश पर निर्भर है, जोकि किसी राष्ट्र की वैदेशिक नीति को निर्धारित करते हैं। इसके बारे मे हम आगे चलकर बतलायेंगे[7]।

7 दसवाँ भाग देखिये।

आठवाँ अध्याय

राष्ट्रीय शक्ति का तत्व

राष्ट्रीय शक्ति क्या है ?

हम पहले कह चुके हैं कि शक्ति से हमारा तात्पर्य उस शक्ति से है, जिसे मनुष्य अन्य मनुष्यों के मस्तिष्क तथा कार्यों पर प्रयुक्त करते हैं। यह घटना हर उस सन्दर्भ में दृष्टिगोचर होती रहती है, जिसमें मनुष्य एक दूसरे के सामाजिक सम्पर्क में जीवन निर्वाह करते हैं। हमने 'राष्ट्र की शक्ति' अथवा "राष्ट्रीय शक्ति" के बारे में इस प्रकार का विवेचन किया है मानो यह विचार स्वयंसिद्ध हो तथा उस व्याख्या के द्वारा पर्याप्त समझाया जा चुका हो जो शक्ति की साधारण परिभाषा के समय की गयी थी। यह बात तो आसानी से समझ में आ जाती है कि व्यक्ति शक्ति की चाह रखता है। यहां प्रश्न उठता है कि हम उस सामूहिक व्यक्तित्व की शक्ति की चाह को कैसे समझ सकते हैं जिसे राष्ट्र कहा जाता है ? जब हम एक राष्ट्र को भावनाओं तथा कार्यों के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं उस समय हमारा क्या तात्पर्य होता है ?

राष्ट्र स्वयं में एक ठोस वस्तु तो है नहीं जिसका प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सके। वह स्वयं में दृष्टिगोचर तो नहीं हो सकता। जिनको संज्ञाओं द्वारा निर्दिष्ट किया जा सकता है वे तो केवल व्यक्ति ही हैं, जो किसी विशेष राष्ट्र के सदस्य हो सकते हैं। इस प्रकार राष्ट्र उन तमाम व्यक्तियों का अदृश्य अथवा सूक्ष्म रूप है जिनके कुछ लक्षण सामान्य हैं और उन लक्षणों के कारण ही वे सब एक राष्ट्र के सदस्य बनते हैं। एक राष्ट्र की सदस्यता तथा उस सदस्यता की हैसियत से सोचने, विचारने अनुभव करने तथा कार्य करने के अतिरिक्त एक व्यक्ति किसी धार्मिक संस्था, सामाजिक या आर्थिक वर्ग राजनीतिक दल तथा परिवार का भी सदस्य हो सकता है और इन सब की हैसियत से भी सोच-विचार कार्य तथा अनुभव कर सकता है। इसीलिए जब हम व्यावहारिक रूप में किसी राष्ट्र की शक्ति अथवा वैदेशिक नीति के बारे में कहते हैं तो हमारा अर्थ केवल उन विशेष व्यक्तियों की शक्ति अथवा वैदेशिक नीति से होता है, जो उसी राष्ट्र के सदस्य हैं।

परन्तु इससे एक दूसरी कठिनाई पैदा हो जाती है। संयुक्तराज्य की शक्ति तथा वैदेशिक नीति स्पष्ट रूप से उन तमाम व्यक्तियों की शक्ति तथा वैदेशिक

नीति नही है जो सब के सब उस राष्ट्र के सदस्य है जिसे सयुक्तराज्य कहा जाता है। यह तथ्य कि द्वितीय विश्व महायुद्ध के उपरान्त सयुक्तराज्य विश्व म सर्वशक्तिमान राष्ट्र हो कर निकला है अमरीकन जनता के बहुत स व्यक्तियो की शक्ति म कोई परिवतन नही ला सका है। परन्तु उसने उन तमाम व्यक्तियों की शक्ति म परिवतन ला दिया है जो सयुक्तराज्य के वैदेशिक मामलो का नियन्त्रण करत हैं और विशेषकर उन व्यक्तियो की शक्ति मे परिवतन उपस्थित किया है जो सयुक्तराज्य की ओर से बोलते ह अथवा उसका अन्तर्राष्ट्रीय क्षत्र म प्रतिनिधित्व करत हैं। क्योकि कोई राष्ट्र अपनी वैदेशिक नीति का सचालन एक कानूनी सस्था क रूप म करता है, जिसे राज्य कहा जाता है, जिसके प्रतिनिधि राष्ट्र का अन्तराष्ट्रीय मामलो म प्रतिनिधित्व करत है। व उसकी ओर स बोलत हैं उसके नाम से सन्धिया करत है उसके लक्ष्यो की परिभाषा करत है उनको प्राप्त करने के साधन चुनत है और उसकी शक्ति स्थापित परिवर्धित अथवा प्रदर्शन करत रहते ह। य व्यक्ति ही राष्ट्र के प्रतिनिधि के रूप मे अन्तर्राष्ट्रीय क्षत्र म शक्ति का प्रयोग करत हैं और अपने राष्ट्र की नीतियो का अनुसरण करते है। जब कभी भी हम व्यावहारिक रूप म किसी राष्ट की शक्ति अथवा वैदेशिक नीति का प्रसग उठात हैं तब हमारा तात्पर्य इन्ही व्यक्तियों स होता है।

तो फिर यह कैस सभव हो जाता है कि राष्ट्र के व बहु सख्यक जन-सदस्य जिनकी व्यक्तिगत शक्ति राष्ट्रीय शक्ति के भाग्य के उलटफेर से प्रभावित नही होती राष्ट की शक्ति तथा उसकी वैदेशिक नीति स अपना तादात्म्य या ऐक्य स्थापित कर लते हैं तथा उस शक्ति को बिल्कुल अपनी ही अनुभव करत ह और यह सब उस प्ररणा तथा भावनात्मक अनुभूति की गहराई से करत है जिसका लगाव उनकी स्वय का व्यक्तिगत शक्ति की आकाक्षाओ स भी कही अधिक गहरा और परे होता है ? यह प्रश्न उठा कर हम वास्तव म आधुनिक राष्ट्रवाद की समस्या का प्रश्न उठा रहे है। इतिहास के पूर्वयुगो म जिस सामूहिक व्यक्तित्व की शक्ति तथा महत्वाकाक्षाओ से व्यक्ति अपना तादात्म्य अनुभव करता था उसका चरित्र जाति धर्म या एक सामन्त अथवा राजकुमार के प्रति सामान्य राज्य भक्ति द्वारा निर्धारित होता था। हमारे समय मे राष्ट्र की शक्ति व नीतियो के साथ के तादात्म्य न अन्य तादात्म्यो को या तो हटा दिया है अथवा हर हालत मे उनको धूमिल तो कर ही दिया है।

वैदेशिक नीतियो की विचार धाराओ के परीक्षण क उपरान्त हमने देखा था कि प्रत्यक व्यक्ति अन्य लोगो की शक्ति लोलुपता पर अनैतिकता का लाछन लगाता है। इस दृष्टिकोण का एक स्रोत तो शक्ति के चगुल म फसने वाले उस

व्यक्ति की इच्छा है जोकि दूसरे की शक्ति द्वारा प्रस्तुत खतरे से अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करना चाहता है, तथा दूसरा स्रोत समाज की उस सामूहिक इच्छा से उपजता है, जिसके अंतर्गत वह शक्ति की व्यक्तिगत आकांक्षाओं को सीमा-बद्ध रखना चाहता है। समाज ने आचरण के उन नियमों तथा उन संस्थात्मक तरीकों का जाल सा बिछा रखा है, जिनके द्वारा वह व्यक्तिगत शक्ति के लक्ष्यों को नियन्त्रित करता रहता है। ये नियम तथा साधन या तो इन व्यक्तिगत शक्ति-संचय की लालसाओं को उस दिशा में मोड़ देते हैं जिसमें वे समाज को खतरे में नहीं डाल सकते या उन्हें कमजोर कर देते हैं या फिर उन्हें पूर्णरूप से ही समाप्त कर देते हैं। कानून, नीतिशास्त्र, लोक-नीति तथा असंख्य सामाजिक संस्थायें तथा व्यवसाय, जैसे प्रतियोगितात्मक परीक्षायें, चुनाव-सम्बन्धी प्रतिद्वन्द्विताएँ, खेल-कूद की प्रतियोगितायें, सामाजिक क्लब तथा भ्रातृ-समाज संगठन ये सब इसी लक्ष्य की पूर्ति करते हैं।

इसी कारण अधिकतर लोग राष्ट्रीय सम्प्रदाय के भीतर अपनी शक्ति-लोलुपता को शान्त करने में असफल रहते हैं। इस सम्प्रदाय के भीतर मापने की दृष्टि से एक बहुत छोटा वर्ग स्थायी रूप से जनसंख्या के ऊपर शक्ति का उपभोग करता रहता है और उसकी इस शक्ति पर कोई अन्य स्रोत विस्तृत सीमायें या प्रतिबन्ध नहीं लगाता। जनसाधारण का एक बहुत बड़ा समूह बहुत सीमा तक केवल शक्ति का लक्ष्य मात्र रहता है, शक्ति स्वयं उपार्जन करने वाला नहीं होता। अपनी शक्ति-लोलुपता की आकांक्षाओं को राष्ट्रीय परिधि के अन्तर्गत पूर्ण तृप्ति प्रदान करने में सफल न होने के कारण जनता इन असंतुष्ट आकांक्षाओं को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में संक्रमित कर देती है। वहाँ वह राष्ट्र की शक्ति-आकांक्षाओं से तादात्म्य करके अप्रत्यक्ष तृप्ति का अनुभव करती है। जब भी संयुक्त राज्य का नागरिक अपने देश की शक्ति के बारे में सोचता है तो उसे उसी प्रकार की उच्चता का अनुभव होता है, जोकि रोम के नागरिक को रोम तथा उसकी शक्ति से तादात्म्य करने के उपरान्त अनुभव होता होगा और इसी आधार पर वह विदेशियों से घृणा करता होगा। जब हम अपने आप को एक ऐसे शक्तिशाली राष्ट्र का सदस्य अनुभव करते हैं, जिसकी औद्योगिक सामर्थ्य तथा भौतिक वैभव अद्वितीय है तो हमें उच्चता की अनुभूति होती है और हम बहुत गर्व अनुभव करते हैं। ऐसा लगता है कि हम सब व्यक्तिगत तौर पर नहीं, वरन् सामूहिक तौर पर, एक ही राष्ट्र के सदस्य होने के नाते इस महान् शक्ति पर स्वामित्व करते हैं तथा नियन्त्रण भी। जो शक्ति हमारे प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उपभोग करते हैं, वह हमारी अपनी ही प्रतीत होने लगती है, और जो विफलतायें हम राष्ट्रीय सम्प्रदाय के अन्दर अनुभव करते रहते हैं उनकी पूर्ति राष्ट्र की शक्ति के आनन्ददायक उपभोग द्वारा हो जाती है।

राष्ट्र के भीतर व्यक्तियो के मध्य जो ये मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती रहती है वे समाज की सस्थाओ तथा आचरण के नियमो मे ही अपना आधार प्राप्त कर लेती है। समाज व्यक्तिगत शक्ति की लालसाओ पर नियन्त्रण लगाता है। वह उन राष्ट्रीय सम्प्रदायो तथा व्यक्तिगत शक्ति लिप्साओ पर जोकि व्यक्ति की शक्ति की वृद्धि की ओर अग्रसर होती हैं, नियन्त्रण लगा देता है। जब वह अपनी व्यक्तिगत शक्ति लालसाओ मे विफल होकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे राष्ट्र के शक्ति-सचय से अपना तादात्म्य स्थापित करता है, तब वह जनता की इन्हीं प्रवृत्तियो को श्रेयस्कर मानकर प्रोत्साहित करता है। व्यक्ति द्वारा अपने स्वय के हित के लिए शक्ति की चाह को एक हीन वस्तु माना जाता है, जिसे किसी विशेष सीमा तथा स्पष्टीकरण के अन्तर्गत ही सह लिया जाता है। विचार धाराओ मे निहित अथवा राष्ट्र के नाम पर शक्ति की खोज अथवा राष्ट्र के हित के लिए शक्ति लोलुपता को अच्छा मान लिया जाता है, जिसके लिए प्रत्येक नागरिक को प्रयत्न करना चाहिए। राष्ट्रीय प्रतीक, विशेषकर वे जिनका सम्बन्ध सेना अथवा पर-राष्ट्र-सम्बन्धो से है, राष्ट्र की शक्ति से व्यक्ति के तादात्म्य का साधन बन जाते हैं। समाज का आचरण तथा लोक-नीति इस तादात्म्य को आकर्षक बनाने के हेतु पुरस्कार का लोभ तथा दण्ड की धमकी की सभावना रख रहते हैं।

तो फिर यह कोई आकस्मिक घटना मात्र नही हैं कि जनता मे कुछ वर्ग तो अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र मे अपने राष्ट्र की शक्ति की आकाक्षाओ के घोर समर्थक होते है अथवा उसमे कोई भी सम्बन्ध रखने से इन्कार कर देते हैं। वे ये वर्ग हैं जो प्राथमिक तौर पर दूसरो की शक्ति के लक्ष्य मात्र होते हैं और स्वय अपनी शक्ति लालसाओ से पूर्णत वचित रहते है अथवा जो कुछ भी शक्ति उनके पास होती है वह राष्ट्रीय सम्प्रदाय के घेरे के अन्दर अत्यन्त असुरक्षित रहती है। निम्न मध्य-वर्ग, तथा श्रमिक वर्ग का एक बहुत बडा बहुमत राष्ट्रीय शक्ति की आकाक्षाओ से अपना पूर्ण तादात्म्य स्थापित कर लेता है। और यहा पर मुख्य उदाहरण क्रान्तिकारी श्रमिक वर्गों का है विशेष तौर पर यूरोप मे यह वर्ग राष्ट्रीय आकाक्षाओ से तनिक भी तादात्म्य स्थापित नही करता। जबकि सयुक्त राज्य की वैदेशिक नीतियो के सदर्भ मे दूसरे वर्ग (क्रान्तिकारी श्रमिक वर्ग) का महत्त्व अधिक नही रहा है, किन्तु प्रथम वर्ग (निम्न मध्यम वर्ग) का महत्त्व नित्य बढता ही गया है।

इसी सदर्भ मे हम आधुनिक राष्ट्रवाद के मूल स्रोतो का पता लगाना चाहिए तथा सदा बढती हुई भयकरता के जिसके साथ आधुनिक वैदेशिक नीतियाँ सचालित की जाती हैं कारण ढूँढने चाहियें। पाश्चात्य सभ्यता के मध्य विशेषत निम्न वर्गो मे व्यक्ति की सदा बढती हुई असुरक्षा ने तथा पाश्चात्य सभ्यता के परमाणुवीकरण ने व्यक्तिगत शक्ति की आकाक्षाओ के नैराश्य को अपरिमित

परन्तु शक्तिशाली फासिस्टवाद के पक्षपाती बुद्धिजीवी, राजनीतिक तथा सैनिक नेताओं के गुट ने ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस में या तो अपने देश के हित से तादात्म्य स्थापित करने से इन्कार कर दिया था या फिर राष्ट्रीय शत्रु से तादात्म्य स्थापित करने को अच्छा समझा। जिन नेताओं ने इस प्रकार अनुभव किया, वे अपनी शक्तिस्थिति में असुरक्षित थे विशेषकर अपने देश की प्राथमिक राजनीतिक तथा सैनिक कमजोरी के कारण। उस समय सामाजिक स्तूप की चोटी पर कायम रहने के लक्ष्य की पूर्ति केवल शत्रु की सहायता द्वारा प्राप्त होती थी। दूसरी ओर, फ्रांसीसी साम्यवादी जो फ्रांस व सोवियत यूनियन दोनों के प्रति स्वामी-भक्ति रखते थे, अपने राष्ट्र के प्रति पूर्ण तादात्म्य उसी समय प्रदर्शित कर पाये, जब सन् 1941 में सोवियत रूस पर जर्मनी के आक्रमण ने दोनों स्वामी-भक्तियों को मेल के मैदान में उतार दिया। केवल फ्रांस ही के ऊपर किये गये जर्मन-आक्रमण ने उन्हें पूर्ण रूप से आक्रमणकारी के विरोध के लिए प्रेरित नहीं किया, परन्तु सोवियत यूनियन पर किये गये जर्मन आक्रमण ने फ्रांस व सोवियत यूनियन को एक सामान्य ध्येय के अन्तर्गत मित्र-राष्ट्र बना दिया और इसने फ्रांसीसी साम्यवादियों को जर्मन आक्रमणकारियों का विरोध करने को प्रेरित किया, जो अब फ्रांस तथा सोवियत रूस के सामान्य शत्रु थे। फ्रांसीसी साम्यवादियों का फ्रांसीसी राष्ट्रीय नीतियों से तादात्म्य सोवियत नीतियों तथा सोवियत हितों से उन नीतियों के सामंजस्य पर अवलम्बित था। साम्यवादियों की एक वैदेशिक राष्ट्र के हितों तथा नीतियों के प्रति यह आस्था, जोकि राष्ट्रीय आस्था से बढ़कर है, एक विश्वव्यापी मामला है और इसी कारण राष्ट्रीय राज्य के सन्तुलन तथा उसके अस्तित्व के प्रति एक चेतावनी है।

राष्ट्रीय एकता का यह विघटन राष्ट्रवाद से विमुख होना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसके द्वारा अपने राष्ट्र के प्रति स्वामी भक्ति को एक वैदेशिक राष्ट्र के प्रति स्वामी-भक्ति से बदल दिया जाता है। फ्रांसीसी साम्यवादी, जैसाकि हमने देखा, अपने आप को रूसी राष्ट्रवादी में रूपान्तरित कर देता है और रूसी नीतियों का समर्थन करता है। इस नये राष्ट्रवाद की नवीनता का सबसे बड़ा विरोधाभास यह है कि यह एक वैदेशिक राष्ट्र के प्रति जिस तादात्म्य की माँग करता है, वह अन्य राष्ट्रों के अपने ही नागरिकों से राज्य भक्ति के उसी दावे का विरोध करता है। परन्तु द्वितीय विश्व-महायुद्ध के उपरान्त पश्चिमी यूरोपीय एकता के आन्दोलन ने राष्ट्रवाद में एक वास्तविक शिथिलता ला दी है। इस आन्दोलन ने अपने आवरण में तीन ठोस अधि-राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण प्राप्त किया है, जोकि कार्यान्वित हैं—यूरोपीय कोयले तथा लोहे का समुदाय (Coal and Steel Community) साझा बाजार (यूरोपीय आर्थिक सम्प्रदाय)

तथा यूरेटोम (यूरोपीय आणविक शक्ति का सम्प्रदाय)। दो अनुभवों ने यूरोपीय एकता के आन्दोलन को जन्म दिया है। वे हैं द्वितीय विश्व-महायुद्ध की विध्वंसता तथा उसके उपरान्त यूरोप की राजनीतिक सैनिक तथा आर्थिक शक्ति। इन अनुभवों से यूरोपीय साधारण मनुष्य इस निर्णय पर पहुँचने पर मजबूर हो जाता है—खासतौर पर पश्चिमी यूरोप में—कि राष्ट्रीय राज्य एक बेकार किस्म का राजनीतिक संगठन है, जोकि अपने सदस्यों को सुरक्षा तथा शक्ति प्रदान करने के स्थान पर उनको नपुंसक तथा बेकार कर देता है अथवा आपसी प्रतिद्वन्द्विता अथवा अन्य शक्तिशाली बाहरी पड़ौसी द्वारा पूर्ण विनाश की ओर ढकेल दिया जाता है। यह तो केवल भविष्य ही बतला सकेगा कि यह असुरक्षा की भावना न केवल व्यक्तियों ही की वरन् राष्ट्रीय समाजों की भी जिनके वे सदस्य हैं-उस राजनीतिक उत्पादन-शक्ति की ओर अग्रसर होगी, जिसके फलस्वरूप यूरोप की राजनीतिक सैनिक व आर्थिक एकता हासिल हो सके अथवा राजनीतिक नपुंसकता की ओर "निष्पक्षतावाद" के रूप में अग्रसर होगी, अर्थात् एक क्रियाशील वैदेशिक नीति के प्रति पूर्ण वैराग्य अथवा राजनीतिक निराशा की ओर बढ़ेगी जिसके कारण एक विशेष राष्ट्र के प्रति तादात्म्य की भावना में तीव्रता आ सके।

व्यक्तिगत असुरक्षा तथा सामाजिक विघटन

गुणात्मक रूप से एक व्यक्ति की अपने राष्ट्र के प्रति तादात्म्य की भावना की तीव्रता उस समाज के सतुलन के सम्मुख विपरीत अनुपात में रहती है, जो सुरक्षा की भावना उसके सदस्यों द्वारा प्रतिबिम्बित होती है। जितना अधिक उस समाज का स्थायित्व तथा उसके सदस्यों की सुरक्षा की भावना होती है उतनी ही कम उनकी सामूहिक भावनाओं की आक्रमणकारी राष्ट्रवाद के रूप में निकास की संभावना होती है तथा उसके विपरीत भी। अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस की क्रान्तिकारी लड़ाइयाँ तथा 1812–15 के बीच नेपोलियन के विरुद्ध स्वतन्त्रता के युद्ध आधुनिक युग के वे प्रथम उदाहरण हैं, जबकि जनता की सामान्य असुरक्षा की भावना आतरिक व्यवस्था के असन्तुलन के द्वारा प्रेरित होने के कारण उन भावनात्मक विस्फोटों में प्रकट हुई, जिनके द्वारा जनता ने आक्रमणकारी वैदेशिक नीतियों तथा युद्धों में अपना पूर्ण तादात्म्य प्रकट किया। उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान पाश्चात्य सभ्यता में सामाजिक असतुलन अत्यन्त सूक्ष्म हो गया था। बीसवीं शताब्दी में मनुष्य के परम्पराओं, विशेषत: धार्मिक परम्पराओं के बन्धनों, अति तर्कनापरक जीवन तथा आर्थिक संकटों के चक्र के बन्धनों से मुक्त होने के कारण यह असन्तुलन स्थायी बन गया। जिन गुटों की असुरक्षा इन तत्वों द्वारा प्रभावित हुई, उन्हें स्थायी तथा भावनात्मक रूप से बद्ध हुए

राष्ट्रीय तादात्म्य में अपने को आत्म-प्रदर्शित करने का एक मार्ग मिला। जैसे-जैसे पाश्चात्य समाज अधिक असतुलित होता गया, वैसे वैसे असुरक्षा की भावना गहरी होती गयी तथा व्यक्ति की राष्ट्र के प्रति एक प्रतीक के रूप में भावनात्मक आस्था बढती गई। विश्व-व्यापी महायुद्धों क्रान्तियों, आर्थिक राजनीतिक तथा सैनिक शक्ति के एकाग्रचित्त होने तथा बीसवी शताब्दी के आर्थिक सकटों के फलस्वरूप यह एक धर्म निरपेक्ष धर्म (Secular religion) के उन्माद तक पहुँच गया। शक्ति-सघर्ष अब अच्छाई बुराई के मध्य सघर्ष के रूप में तथा सघर्ष के वैचारिक स्तर तक पहुँच गया। वैदेशिक नीतियों ने अपना चोला बदल कर धार्मिक उद्देश्यो का रूप ले लिया। युद्ध एक धर्म-युद्ध के रूप में लड़े जाने लगे जिससे अन्य राष्ट्रों राजनीतिक धर्म जगत् में लाया जा सके।

सामाजिक विश्लेषण, व्यक्तिगत असुरक्षा तथा आधुनिक राष्ट्रीय शक्ति की आकाक्षाओं की भयानकता के आपसी सम्बन्ध का जर्मन फासिस्टवाद के सदर्भ में सबसे उपयोगी अध्ययन किया जा सकता है, क्योंकि वहाँ पर ये तीनो तत्त्व अन्य स्थानो की अपेक्षा कहीं अधिक विकसित रूप ग्रहण कर चुके थे। आधुनिक युग की सामाजिक विघटन की ओर अग्रसर प्रवृत्तिया, राष्ट्रीय चरित्र के कतिपय उन तत्त्वो के साथ मिल जाने पर, जो मध्यम मार्ग से हटकर अतिवादी हो गये थे, अतिवाद की सीमा तक पहुँच गई थी। साथ ही तीन घटनाओं ने जर्मनी की सामाजिक व्यवस्था को इस सीमा तक कमजोर बना दिया था, जिसके कारण वह राष्ट्रीय समाजवाद की विध्वसकारी आग का आसानी से शिकार बन कर रह गया।

इन घटनाओं में सब से पहली तो प्रथम विश्व-महायुद्ध में पराजय थी, जिसके साथ ही वह क्रान्ति हो गई, जोकि न केवल परम्परागत राजनीतिक मूल्यो तथा सस्थाओं के विध्वस के लिए उत्तरदायी ठहरायी गयी, वरन् युद्ध की हार का कारण भी मानी गयी। क्रांति उन लोगो की शक्ति तथा सामाजिक सुरक्षा मे हानि का कारण बनी, जोकि राजतत्र के अन्तर्गत सामाजिक शिखर पर अथवा शिखर के आसपास थे। फिर भी साधारण जनता की सामाजिक परिस्थिति भी उसी प्रकार इस विचार से प्रभावित हुई थी, जिसके द्वारा यह विश्वास प्रबल हो गया कि पराजय व क्रान्ति दोनो ही आन्तरिक तथा वैदेशिक शत्रुओं के षड्यन्त्रो के परिणाम थे, जोकि जर्मनी के विध्वन्स के लिए सक्रिय थे। जर्मनी को केवल वैदेशिक शत्रुओ ने ही नहीं "घेरे" रखा था वरन् उसकी आन्तरिक राजनीतिक व्यवस्था के मध्य में शत्रुओं के वे अदृश्य सगठन वर्तमान थे, जो उसकी शक्ति को क्षीण कर उसका विध्वन्स करने में सलग्न थे।

दूसरी घटना 1920 के लगभग की मुद्रा-स्फीति के कारण घटी, जिसने मध्यवर्ग के एक बहुत बड़े हिस्से को आर्थिक रूप में सर्वहारा होने पर मजबूर कर

कर दिया जिसके कारण आम जनता में परम्परागत ईमानदारी तथा सच्चाई के नैतिक सिद्धान्तों के प्रति आस्था यदि पूर्णतः ध्वस्त नहीं हुई तो कम से कम अवश्य ही क्षीण अवश्य हो गयी। अपनी सर्वहारा आर्थिक परिस्थिति के विरोध में मध्यवर्ग ने सबसे अधिक सर्वहारा विरोधी राष्ट्रवादी विचारधारा अपनायी। मध्यवर्ग के निम्न स्तर के लोग हमेशा ही सर्वहारा की अपेक्षा कुछ उच्चता के अनुभव से सीमित सन्तोष प्राप्त करते रहे थे। यदि वे समाज रूपी स्तूप को पूर्ण रूप से देखने का प्रयत्न करते थे, तो उन्हें नीचे की ओर देखने के स्थान पर ऊपर की ओर कहीं अधिक दूर तक देखना पड़ रहा था। यद्यपि वे सामाजिक स्तूप के आधार पर नहीं थे तथापि वे उसके बहुत ही निकट होने को विवश हो गये थे।

इसी कारण उनका नैराश्य तथा असुरक्षा की भावना सर्वहारा के राष्ट्रवादी तादात्म्य के लिए प्रोत्साहित करती रही। अब मुद्रा स्फीति ने उन्हें नीचे तक धकेल दिया और आम सर्वहारा जनता से तादात्म्य हो जाने की ग्लानि से बचने के तीव्र संघर्ष में उन्हें राष्ट्रीय समाजवाद के सिद्धान्त व व्यवहार में शरण मिली क्योंकि राष्ट्रीय समाजवाद ने उन्हें निम्न जातियों को निरादर की दृष्टि से देखने को प्रेरित किया तथा वैदेशिक शत्रुओं को जीतने तथा उनसे अपने को ऊँचा अनुभव करने का अवसर दिया।

जर्मन में सन् 1929 के आर्थिक संकट ने जर्मन जनता के तमाम वर्गों को वास्तविक अथवा सम्भव सामाजिक स्तर के खो जाने के भय के सामने ला कर खड़ा कर दिया और साथ ही साथ नैतिक व आर्थिक असुरक्षा के भय के सम्मुख भी। मजदूरों को वास्तविक अथवा सम्भव बेकारी का सामना करना पड़ रहा था। मध्यवर्ग के वे वर्ग जो मुद्रा स्फीति की आर्थिक हानियों से बचकर निकल रहे थे अब वे जो कुछ लाभ रूप में स्वयं प्राप्त कर पाये थे उस सब को ही खो बैठे थे। उद्योगपतियों को बढ़ते हुए सामाजिक दायित्व को झेलना पड़ रहा था और साथ ही साथ क्रांति का भय उन्हें भयभीत कर रहा था। राष्ट्रीय समाजवाद ने इन सब आशंकाओं, असुरक्षाओं तथा नैराश्य को दो वैदेशिक शत्रुओं वारसाई संधि व बाल्शेविज्म तथा उनके जाने माने सहायकों में केन्द्रित कर दिया है। उसने उन तमाम अवरुद्ध भावनाओं को एक दृढ़ राष्ट्रवादी कट्टरता की धारा में प्रवाहित कर दिया है। इस प्रकार राष्ट्रीय समाजवाद जर्मन लोगों की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का जर्मन राष्ट्र के शक्ति लक्ष्यों से एक सच्चे समग्रवादी तरीके से तादात्म्य स्थापित करने में सफल हो सका। आधुनिक इतिहास में ऐसे तादात्म्य का इतना पूर्ण उदाहरण और कहीं नहीं मिलता। कहीं पर भी वह क्षेत्र इतना संकीर्ण नहीं हुआ जहां पर व्यक्ति अपनी शक्ति बढ़ाने के लिये शक्ति की खोज करता रहा हो और न ही उस शक्ति की समता करने वाला कोई मिलता है

जिसके भावात्मक वेग द्वारा इस तादात्म्य ने स्वय को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे आक्रमणकारी रूप मे आधुनिक सभ्यता के सन्दर्भ मे परिणत किया था ।

यह तो सच है कि राष्ट्रीय समाजवादी जर्मनी के सम्मुख कोई अन्य व्यक्तिगत नैराश्य का सामूहिक राष्ट्रीय तादात्म्य अपनी व्यापकता और गहराई मे तुलना नही कर सकता। आज के वर्तमान इतिहास मे फिर भी आधुनिक राष्ट्रवाद की जर्मन विभिन्नता केवल स्तर के रूप मे, न कि तत्व के रूप मे, अन्य महान् शक्तियो के राष्ट्रवाद से भिन्न है, जैसे कि सोवियत यूनियन अथवा सयुक्त राज्य। सोवियत यूनियन मे अत्यधिक जन-समूह को गृह-समाज के अन्तर्गत शक्ति की आकाक्षाओ की सतुष्टि का कोई अवसर प्राप्त नही है। सामान्य रूसी मजदूर तथा किसान के सम्मुख कोई और ऐसा नही है, जिसको वह निरादर की दृष्टि से देख सके। साथ ही साथ उनकी असुरक्षा की भावना एक पुलिस राज के कारनामो के कारण और भी प्रबल हो जाती है। यहाँ तक कि उनका जीवन-निर्वाह का स्तर कभी-कभी उस निम्न स्तर तक पहुँच जाता है कि वह शारीरिक बचाव तक के लिये घातक रूप धारण कर लेता है। यहाँ पर भी एक समग्रवादी सरकार इन निराशाओ, असुरक्षाओ तथा भय को अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे निकास के रूप मे प्रतिबिंबित करती है, जहाँ एक व्यक्तिगत रूसी जगत् के सबसे गतिशील देश समाजवाद की पितृ-भूमि से तादात्म्य द्वारा अपनी शक्ति की महत्वाकाक्षाओ की अप्रगाढ सतुष्टि प्राप्त करता है। यह विश्वास जोकि ऐतिहासिक अनुभव की दृष्टि से भी पुष्टि प्राप्त करता है, कि जिस राष्ट्र से वह तादात्म्य स्थापित कर रहा है, वह निरन्तर पूंजीवादी शत्रुओ द्वारा खतरे से घिरा है, उसके व्यक्तिगत भय व असुरक्षाओ को सामूहिक स्तर पर बढाने मे सहायक होता है। इस प्रकार उसके व्यक्तिगत भय राष्ट्र की चिन्ता मे परिवर्तित हो जाते हैं। राष्ट्र से तादात्म्य इस प्रकार दो कार्य सम्पन्न करता है। प्रथम तो व्यक्तिगत शक्ति की आकाक्षाओ की सन्तुष्टि और दूसरे व्यक्तिगत भय-समूह को अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र तक ले जाना।

सयुक्त राज्य मे जिस तरीके से व्यक्ति द्वारा राष्ट्रीय शक्ति प्राप्त की जाती है और अपने निजी रूप म अनुभव की जाती है, वह इस तरीके से प्राय मिलता-जुलता है, जो पाश्चात्य सभ्यता ने उन्नीसवी शताब्दी मे विकसित किया था। व्यक्ति का राष्ट्रीय शक्ति तथा वैदेशिक नीति से तादात्म्य मध्यवर्गीय विशेष प्रकार के नैराश्य तथा असुरक्षाओ के केन्द्र-बिन्दु से प्रारम्भ होता है। फिर भी अमरीकन समाज पाश्चात्य सभ्यता के अन्य समाजो की अपेक्षा अधिक मध्यवर्गीय समाज है। विशेषकर वहाँ जो भी वर्ग-भेद वर्तमान हैं, वे अमरीकी समाज के सामान्य मध्यवर्गीय मूल्याकनो तथा महत्वाकाक्षाओ का सामान्य आधार होने के कारण, यदि पूर्णत: लुप्त नही हो जाते, तो कम से कम न्यूनतम तो हो

ही जाते है। व्यक्ति का राष्ट्र से मध्यवर्गीय असन्तोष तथा महत्वाकांक्षाओं के आधार पर तादात्म्य अमरीकन समाज मे प्राय उतना ही प्रभुत्वकारी है, जितना कि सोवियत यूनियन मे सर्वहारा का अपने राज्य से तादात्म्य। दूसरी ओर सापेक्ष दृष्टि से अमरीकी समाज के कार्यक्षेत्र का अत्यधिक लचीलापन एक बहुत बड़े जन-समूह को सामाजिक व आर्थिक विकास का अवसर प्रदान करता है। इन अवसरो, ने भूतकाल मे कम से कम सामान्य परिस्थितियो मे, इस तादात्म्य की भावनात्मक तीव्रता को सोवियत यूनियन तथा राष्ट्रीय समाजवादी जर्मनी की तुलना मे उसी समय मे अपेक्षाकृत निम्न स्तर पर रखा है[5]।

आधुनिक युग मे, हाल के समय म, प्रत्येक बार न्यूनता की ओर उन्मुख होने वाले आर्थिक सकट का भय विश्व-क्रांति के रूप मे अतर्राष्ट्रीय साम्यवाद का भय, सापेक्ष रूप मे भौगोलिक एकाकीपन की समाप्ति तथा अणु-युद्ध का भय-इन सब रूपो मे नए तत्त्वो का आगमन हो चुका है। इसी कारण बीसवी शताब्दी की छठी दशाब्दी मे तीव्र व्यक्तिगत असुरक्षा तथा चिंताओ के कारण राष्ट्र की शक्ति व वैदेशिक नीतियो के प्रति व्यक्ति का तादात्म्य भी तीव्र रूप धारण कर गया है। इसी लिए यदि आन्तरिक, गृह तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे सदा बढती हुई अस्थिरता की प्रवृत्ति को पलट न दिया गया तो सयुक्त राष्ट्र भी उन्ही आधुनिक संस्कृति की प्रवृतियो को अधिक मात्रा मे अपनाने म प्रवृत्त होता जायेगा, जिनका चरम रूप मे प्रकाशन सोवियत रूस तथा राष्ट्रीय समाजवादी जर्मनी मे हुआ था। ये प्रवृत्तियाँ व्यक्ति का राष्ट्र से अधिक पूर्ण रूप से तादात्म्य निर्धारित करती है। तादात्म्य की इस पूर्णता तथा तीव्रता मे ही आज की वैदेशिक नीतियो की भीषणता तथा निर्दयता का मूल निहित है, जहाँ पर राष्ट्रीय शक्ति की महत्वाकाक्षाएँ एक-दूसरे स टकराती है और प्राय: सम्पूर्ण जनता जिनके पीछे अपना निर्विवाद सहयोग, उत्सर्ग तथा भावनात्मक तीव्रता प्रदान करती है। ऐसी भावनात्मक तीव्रता पिछले युगो मे केवल धार्मिक प्रश्नो के परिणाम स्वरूप ही उत्पन्न हुई थी।

5 सयुक्त राज्य में अति तीव्र राष्ट्रीय तादात्म्य मध्यवर्ग के सबमे असुरक्षित वर्ग द्वारा किसी विरोध जाति के विरोध के रूप में प्रकट हुआ है, जैसे नीग्रो के विरुद्ध अथवा निकट भूत मे सर्वहारा स्थानान्तरित लोगों के आ बसने की लहर के विरुद्ध।

नवाँ अध्याय
राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्व

वे कौन से तत्त्व हैं जो कि एक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्र के प्रति शक्ति निर्मित करते है ? हम जिसे राष्ट्रीय शक्ति कहते हैं, इसके अग क्या हैं ? यदि हम किसी राष्ट्र की शक्ति का निर्धारण करना चाहे तो किन किन तत्त्वो को ध्यान मे रखना होगा ? दो प्रकार के तत्त्वो की विभिन्नता को विशेष रूप से समझना होगा वे तत्त्व जोकि सापेक्ष दृष्टि से स्थायी हैं तथा वे जो निरन्तर परिवर्तन से प्रभावित रहते है ।

भूगोल

सबसे स्थायी तत्त्व, जिसपर एक राष्ट्र की शक्ति अवलम्बित रहती है, वह स्पष्ट रूप से उसकी भौगोलिक स्थिति है । उदाहरणार्थ यह तथ्य कि सयुक्त राज्य का महाद्वीपीय भाग महाद्वीपो से पूर्व मे तीन हजार मील और पश्चिम म छह हजार मील से भी अधिक समुद्री जल द्वारा दूसरे भूभागो मे विभक्त है, एक वह स्थायी तत्त्व है, जोकि सयुक्त राज्य की विश्व मे स्थिति निर्धारित करता है। यह कहना तो सत्य ही होगा कि इस तत्त्व की आज वह महत्ता नही रह गई है, जोकि जार्ज वाशिगटन अथवा प्रेसिडेंट मैकिनले के जमाने मे थी । परन्तु यह सोचना भी त्रुटिपूर्ण होगा, जैसाकि प्राय सोचा जाता है, कि यातायात तथा युद्ध की तकनीकी प्रगति ने समुद्र के पृथक्ता स्थापित करने के महत्त्व को पूर्णत समाप्त कर दिया है। यह तत्त्व आज पचास अथवा सौ वर्षों की पूर्व की स्थिति की तुलना मे बहुत कम महत्त्वपूर्ण है। परन्तु सयुक्तराज्य की शक्ति-स्थिति के दृष्टिकोण से यह बात आज भी काफी अतर स्थापित कर देती है कि सयुक्तराज्य यूरोप व एशिया के महाद्वीपो से चौडे समुद्रो द्वारा पृथक् है, उन देशो से सीधे जुडा हुआ नही है जैसे फ्रास, चीन अथवा रूस । दूसरे शब्दो मे, सयुक्तराज्य की भौगोलिक स्थिति आज भी एक स्थायी महत्त्व का आधारभूत तत्त्व है, जिसे अन्य राष्ट्रो की वैदेशिक नीतियो को अपने दृष्टिकोणो मे सदा वर्तमान रखना होगा, चाहे अन्य ऐतिहासिक युगो की अपेक्षा इस तत्त्व का महत्त्व राजनीतिक निर्णय के लिए कितना ही भिन्न क्यो न हो ।

इसी प्रकार से ब्रिटेन की यूरोपीय महाद्वीप से इगलिश चैनल जैसे छोटे से पानी के जलडमरू मध्य द्वारा पृथकता एक ऐसा तत्त्व था जिसे न तो जूलियस

सीजर, न विजेता विलियम या फिलिप द्वितीय, नेपोलियन अथवा हिटलर भुला सकते थे। अन्य तत्त्वों ने इस तत्त्व की ऐतिहासिक महत्ता को आज पिछले दो हजार वर्षों की अपेक्षा कितना ही क्या न बदल दिया हो, परन्तु फिर भी उन लोगों को जोकि वैदेशिक मामलों के संचालन से सम्बन्धित है इस तत्त्व को आज भी दृष्टि में रखना ही होगा।

जो बात ग्रेट ब्रिटेन की सुरक्षित स्थिति के बारे में सत्य है वह ही इटली की भौगोलिक स्थिति के बारे में भी सत्य है। इटली का प्रायद्वीप शेष यूरोपीय महाद्वीप से ऊँचे बड़े आल्प्स पहाड़ों द्वारा पृथक् है जबकि आल्पस की घाटियां दक्षिण में इटली के उत्तरी मैदान की ओर धीरे-धीरे झुकती चली गई हैं व उत्तर की दिशा में अचानक ही समाप्त हो जाती है। यह भौगोलिक परिस्थिति इटली के फौजी तथा राजनीतिक विचारों का एक अभिन्न अंग बन गई है तथा अन्य देशों के इटली के प्रति दृष्टिकोण को भी प्रभावित करती रही है। क्योंकि जितनी भी युद्ध की परिस्थितियां हमें मालूम हैं, उनके अन्तर्गत इस भौगोलिक परिस्थिति के परिणाम-स्वरूप इटली द्वारा मध्य यूरोप पर हमला करना अत्यन्त कठिन है, जबकि इसके विपरीत इटली पर उत्तर से हमला करना आसान रहा है। इसी कारण इतिहास में इटली पर किए गए आक्रमणों की सूची इटली द्वारा किए गए आक्रमणों से कहीं अधिक रही है। प्यूनिक युद्धों के हैनिबल से लेकर द्वितीय विश्व महायुद्ध के जनरल क्लार्क तक इस स्थायी भौगोलिक तत्त्व ने राजनीतिक व फौजी दावपेचों को निर्धारित किया है।

स्पेन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के लिए पेरेनीज पर्वत-शृंखलाओं ने कुछ भिन्न रूप में, प्रायः उतना ही स्थायी कार्य सम्पन्न किया है। परेनीज पर्वत-शृंखलाओं ने स्पेन को बाहरी जगत् की पहुँच से परे बना कर इस रुकावट के रूप में कार्य सम्पन्न किया है, जिसने स्पेन को बाकी यूरोपीय लोगों की प्रमुख बौद्धिक, सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक धाराओं से पृथक रखा है, जिनके फलस्वरूप शेष यूरोप में विकास व परिवर्तन होता रहा है। इसी प्रकार यूरोप के महान् राजनीतिक व फौजी द्वन्द्वों की लपेट से स्पेन परे रहा है। यूरोपीय महाद्वीपीय राजनीति की परिधि-पर स्पेन का इस प्रकार रहना प्रायः इस पेरेनीज पर्वत शृंखलाओं के बाधक तत्त्वों का परिणाम रहा है।

अन्त में हम सोवियत यूनियन की भौगोलिक परिस्थिति पर विचार करेंगे। सोवियत यूनियन भूमि का वह बड़ा भू-भाग है, जो समस्त भूमण्डल का सातवाँ भाग है और संयुक्तराज्य से ढाई गुना बड़ा है। पश्चिम अटलांटिक समुद्र से पाँच हज़ार मील दूरी पर है कोनिग्सबर्ग जो कि पहले पूर्वी प्रशा की राजधानी था और जिसका अब नाम कालिनग्राड है। बैरेण्ट्स समुद्र पर स्थित मरमान्स्क से लेकर

ईरान के उत्तर मे अश्काबाद तक की दूरी उसकी आधी है। यह क्षेत्रीय विस्तार शक्ति का एक महान् स्रोत रहा है, जिसके कारण उसे किसी भी बाहरी आक्रमण द्वारा विजित करने का हर प्रयत्न असफल रहा है। आक्रमणकारियो द्वारा जीती गई भूमि उस क्षेत्र की अपेक्षा बहुत ही नगण्य रही है, जो जीतने से बचा रहा है।

किसी भी देश की भूमि के एक बड़े क्षेत्र को आक्रमणकारी द्वारा जीत लिये जाने के बाद यदि उसके फिर से वापिस हो जाने की सभावना कम हो जाती है, तो हारे हुए लोगो की विरोध करने की क्षमता प्राय टूट जाती है। सैनिक विजय का राजनीतिक लक्ष्य यही होता है। इसी प्रकार की विजय का लक्ष्य सीमित न होकर रूस के राष्ट्रीय अस्तित्व को उखाड फैकना था, खासतौर पर जैसाकि नैपोलियन तथा हिटलर के सम्बन्ध मे हुआ, किन्तु उसने वास्तव मे रूस की विरोध करने की इच्छा को और भी सुदृढ बना दिया, क्योंकि रूस द्वारा हारे गए हिस्से उस भूमि की तुलना मे फिर भी बहुत कम रहे है, जोकि रूस के हाथ मे अब भी बाकी रही है और साथ ही साथ आक्रमणकारी के लिए इसी कारण हर नया कदम आगे बढाना और भी मुश्किल होता जाता है। उसको एक शत्रु देश के क्षेत्र मे यातायात के लिए अधिक से अधिक फौज का लगाना पड़ता रहा है। इसी कारण रूस का भूगोल विजेता के लिए अनुकूल न होकर हानिकर तत्त्व बना रहा है। इसके स्थान पर कि विजेता भूमि को डकार जाय स्वय भूमि ही विजेता को खा जाती है और इस प्रकार उसकी शक्ति बढने के स्थान पर क्षय होती जाती है।

दूसरा भौगोलिक तत्त्व सोवियत यूनियन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के लिए सबलता तथा दुर्बलता दोनो का ही कारण बन जाता है। हमारा तात्पर्य उस तथ्य मे है जो कि सोवियत यूनियन की पश्चिमी सीमा पर वर्तमान है, जहाँ न तो ऊँची-ऊँची पर्वत शृखलाएँ और न ही बडी बडी सरिताएँ उसे पश्चिमी पडोसियो से पृथक् करती है और पोलैड व पूर्वी जर्मनी के मैदान सोवियत रूस के मैदानो का एक अभिन्न अग बन गए है। इस प्रकार सोवियत यूनियन के पश्चिम की ओर आक्रमण के रास्ते मे कोई प्राकृतिक बाधा वर्तमान नही है, चाहे आक्रमण सोवियत रूस द्वारा किया जाय अथवा उसके ऊपर किया जाय। तथापि चौदहवी शताब्दी से लेकर अब तक श्वेत रूस व रूस का सुदूरवर्ती पश्चिमी हिस्सा लडाई के मैदान मे रूस द्वारा अथवा उसके विरुद्ध किए गए आक्रमणो का क्षेत्र बना रहा है। एक ऐसी प्राकृतिक सीमा की अनुपस्थिति के कारण जैसीकि इटली अथवा स्पेन की पूर्व निर्धारित सीमायें है, रूस व पश्चिम के राष्ट्रो के बीच यह सीमा स्थायी सघर्ष का कारण बनी रही है। इसी प्रकार से ठीक इसके विपरीत फ्रास

व जर्मनी के मध्य राईन नदी के इस प्रकार की सीमा बन जाने की सम्भावना ही उन दोनों देशों के बीच स्थायी संघर्ष का कारण बन गई है क्योंकि फ्रांसीसी सदा से इस सीमा को प्राप्त करने में प्रयत्नशील व महत्वाकांक्षी रहे हैं जबकि रोमवासियों (Romans) के समय में ही अपने इस उद्देश्य की पूर्ति की सम्भवना उनमें कम ही है। रूस के सम्बन्ध में जब वास्तविक वैदेशिक मंत्री विशिन्सकी से यह कहा गया कि वे जार की नीति का अनुसरण कर रहे हैं तो उन्होंने भौगोलिक तत्व की अकाट्य महत्ता का दार्दनल्स के सम्बन्ध में इन शब्दों में व्यक्त किया था "यदि सैनिक सामुद्रिक जहाज कृष्ण-सागर में काल सागर में जाना चाहें तो उन्हें दार्दनल्स में होकर गुजरना होगा चाहे मास्को में जारशाही सरकार हो अथवा साम्यवादी"[1]।

प्राकृतिक साधन

किसी राष्ट्र की अन्य राष्ट्रों से सम्बन्धित राष्ट्रीय शक्ति के संदर्भ में मापक रूप से एक अन्य स्थायी तत्व उसके प्राकृतिक साधन हैं।

अन्न

सबसे पहले इन तत्वों में से सब प्रमुख व आधारभूत तत्व भोज्य पदार्थ का अध्ययन प्रारम्भ करेंगे। एक देश जोकि अन्न के विषय में स्वावलम्बी अथवा प्रायः स्वावलम्बी है उस देश की अपेक्षा लाभपूर्ण परिस्थिति में होगा जोकि इस दृष्टि से स्वावलम्बी नहीं है और जिसे अपने देश के लिए खाद्य पदार्थ आयात करना पड़ता है या फिर वो भूखा मरना हो। इसी कारण ग्रेटब्रिटेन की शक्ति और युद्ध के समय तो उसका जीवन ही इस प्रश्न पर निर्भर रहता था कि वह समुद्री रास्ता को कहां तक यातायात के लिए खुला रख सकता है जिनके द्वारा देश के लिए अन्न बाहर से लाया जा सकता हो क्योंकि द्वितीय विश्व महायुद्ध के पूर्व तक यह सम्पूर्ण द्वीप की आवश्यकता का केवल तीन प्रतिशत अन्न उपजाता रहा था। जब कभी भी इसकी अन्न आयात की शक्ति को चुनौती दी गई जैसाकि दोनों विश्व-महायुद्धों के मध्य पनडुब्बियों के युद्ध तथा हवाई हमलों के द्वारा किया गया था तो वास्तव में वह ग्रेटब्रिटेन की शक्ति को ही चुनौती थी क्योंकि इस चुनौती के फलस्वरूप उसका राष्ट्रीय जीवन स्वयं खतरे में पड़ जाता था।

इन्हीं कारणों से जर्मनी, जिसकी खाद्य सामग्री ग्रेटब्रिटेन की अपेक्षा तो अधिक थी पर अपनी स्वयं की आवश्यकता से कम रही है किसी भी युद्ध से

---

1 Quoted after Denis Healey, Neutrality (London Ltd , 1955) P 36

जीवित निकल जाने के लिए इन तीन लक्ष्यों का अनुसरण करने पर मजबूर रहा है सर्व प्रथम एक लम्बी लड़ाई को टालना ताकि शीघ्र ही विजयी होने से ही सम्भव हो सकता है ताकि उसका जमा किया हुआ अन्न का भण्डार समाप्त न हो जाय दूसरे पूर्वी यूरोप के अन्न पैदा करने वाले बड़े क्षेत्रों पर विजय, तीसरे, ब्रिटिश सामुद्रिक शक्ति का ध्वंस, जो कि जर्मनी को समुद्र पार अन्न के स्रोतों तक पहुंचने के मार्गों को रोक रखती थी। दोनों ही विश्व महायुद्धों में जर्मनी अपने प्रथम तथा तृतीय लक्ष्यों की पूर्ति में असफल रहा था। प्रथम विश्व-महायुद्ध में वह अपने दूसरे लक्ष्य की पूर्ति में बहुत विलम्ब से पहुँचा जिसके कारण उसका परिणाम निर्णयात्मक न हो सका। इसी कारण मित्र राष्ट्रों द्वारा की गई नाकाबन्दी के उपरान्त जर्मन जनता पर जो आर्थिक संकट पड़ा उनसे उसकी विरोध की शक्ति क्षीण हो गई। यह मित्र राष्ट्रों की विजय के कारणों में से एक प्रमुख कारण था। द्वितीय विश्व महायुद्ध में अन्न के विषय में जर्मनी प्रायः पूर्ण स्वावलम्बी बन गया था। परन्तु यह आत्म स्वावलम्बन की स्थिति विजय का परिणाम न होकर जीते हुए क्षेत्रों की जनता को भूखा रख कर तथा करोड़ों व्यक्तियों की हत्या द्वारा प्राप्त की गयी थी।

स्वदेश में उपजाये अन्न की कमी तो ग्रेटब्रिटेन व जर्मनी दोनों ही की कमजोरी का एक स्रोत रही है जिसके ऊपर इन्हें किसी तरह भी काबू पाना है, अन्यथा उन्हें एक महान् शक्ति के स्तर को खो देने की सम्भावना का सामना करना पड़ेगा। सोवियत रूस व संयुक्त राज्य जैसे देशों को अपनी राष्ट्रीय शक्ति व वैदेशिक नीतियों को प्राथमिक लक्ष्यों से हटाना नहीं पड़ता क्योंकि वे अन्न के मामले में स्वावलम्बी हैं। इसी लिए उन्हें इस चिन्ता से भी ग्रस्त होना नहीं पड़ता कि उनकी जनता युद्ध में भूखा मरेगी। क्योंकि वे उस प्रकार की चिन्ता से काफी सीमा तक मुक्त हैं। वे निश्चित नीतियों का अनुसरण बहुत सफलता पूर्वक कर सके हैं जोकि अन्यथा सम्भव न होता। इसी कारण अन्न के क्षेत्र में आत्म-निर्भरता शक्ति का एक बहुत बड़ा स्रोत रहा है।

इसके विपरीत अन्न की स्थायी कमी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्थायी कमजोरी का कारण रही है। इस परीक्षण की सत्यता का वर्तमान समय में भारत प्रमाण उदाहरण है। अन्न की जिस कमी से भारत पीड़ित है उसके दो कारण हैं। पहला तो जन संख्या में वृद्धि जिसकी गति अन्न के साधनों की अपेक्षा अधिक है और दूसरे निर्यात की वह कमी जोकि अन्न के आयात के लिए आवश्यक है, जिससे अन्न की कमी को पूरा किया जा सके। यह दोहरा असन्तुलन जोकि वहाँ की सरकार के लिए व्यापक भुखमरी की समस्या को प्रमुख प्रश्न बनाये रखता है भारत के ऊपर एक ऐसा बोझ बन गया है जो एक

गतिमान वैदेशिक नीति के मार्ग में बाधक का कार्य करता रहता है। राष्ट्रीय शक्ति के अन्य साधनों के होते हुए भी अन्न की यह कमी उसे एक ऐसी वैदेशिक नीति का अनुसरण करने पर मजबूर कर देती है, जिसका आधार शक्ति न होकर दुर्बलता होता है।

अन्न के विषय में स्वावलम्बन अथवा उसका अभाव राष्ट्रीय शक्ति का अपेक्षाकृत एक स्थायी तत्त्व है। परन्तु कभी कभी निर्णायात्मक परिवर्तनों द्वारा इसे बदला जा सकता है। अन्न के पोषक तत्त्वों के विषय में परिवर्तित विचारों के कारण अन्न की खपत में परिवर्तन हो सकता है। उपजाने की तकनीक में परिवर्तन लाने में कृषि की उपज में कमी अथवा वृद्धि हो सकती है। (कृषि की उपज में आए हुए परिवर्तनों का राष्ट्रीय शक्ति पर प्रभाव पड़ता है। इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं निकटवर्ती पूर्वी देश उत्तरी अफ्रीका के देश तथा स्पेन)। उपज में कमी आ जाने के परिवर्तन के कारण ही निकटवर्ती पूर्वी देश तथा उत्तरी अफ्रीका के देश अब शक्ति के केन्द्र नहीं रह गए हैं और स्पेन विश्व की महान शक्ति के स्तर से गिर कर एक तृतीय श्रेणी की शक्ति बनकर रह गया है।

निकट पूर्वी देशों तथा उत्तरी अफ्रीका के क्षेत्र की कृषि-व्यवस्था सिंचाई पर अवलम्बित थी। चाहे यह प्रमाणित करना संभव न भी हो कि बेबीलोन, मिस्र व अरब की राष्ट्रीय शक्ति उनकी सिंचाई व्यवस्था के बिगड़ जाने से क्षीण हुई थी, परन्तु यह तो स्पष्ट है कि उनकी कृषि की व्यवस्था के क्षय के कारण ही उनकी राष्ट्रीय शक्ति की क्षति इतनी अधिक हो गयी कि फिर वह दुबारा उठ न सकीं। (सिंचाई की व्यवस्था के मिट जाने से यहां की उपजाऊ जमीन रेगिस्तान में परिणत हो गई। केवल मिस्र में ही नील नदी द्वारा प्राकृतिक सिंचाई के कारण कुछ उपजाऊ तत्त्व कायम रहे यद्यपि वहां की कृत्रिम सिंचाई व्यवस्था समाप्त हो गयी थी।)

जहां तक स्पेन का प्रश्न है ऐसा प्रायः अनुमान किया जाता है कि उसकी शक्ति की क्षीणता सन 1588 में प्रारंभ हुयी जबकि उसकी नौ सेना को ग्रेटब्रिटेन ने ध्वंस कर दिया था। परन्तु उसका राजनीतिक पतन सत्रहवीं व अठारहवीं सेना से ही उस समय निश्चित हो गया था जबकि वहां के दुःशासन ने अपने कुकर्मों द्वारा वहां के बहुत से उपजाऊ क्षेत्रों को बड़े पैमाने पर जंगलों की समाप्ति के बाद नष्ट हो जाने दिया था। इस कारण स्पेन के बड़े बड़े उत्तरी तथा मध्यवर्ती क्षेत्र प्रायः रेगिस्तान में बदल गए थे।

कच्चा माल

जो बात खाद्य पदार्थ के लिए सत्य है वह ही उन प्राकृतिक साधनों के लिये भी सत्य है जो कि औद्योगिक उत्पादन के लिए महत्वपूर्ण हैं, विशेषकर

जिनका महत्त्व युद्ध संचालन के लिए अधिक है। किसी भी राष्ट्र की शक्ति के लिए प्राकृतिक साधनों का कच्चे माल के रूप में पूर्ण अथवा सापेक्ष महत्त्व उस युग-विशेष में प्रचलित युद्ध पद्धति की तकनीक पर अवलम्बित है। ऊंची स्तर के युद्ध के यन्त्रीकरण के पूर्व जबकि आमने सामने की लड़ाई का तरीका प्रचलित था तो हथियार बनाने के लिए कच्चे माल का पाना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं था, जितना कि अन्य तत्त्व, जैसेकि सिपाही के व्यक्तिगत गुण। इतिहास के इस युग में जोकि सुदूर प्राचीन काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक व्याप्त है, किसी राष्ट्र की शक्ति निर्धारण करने में प्राकृतिक साधनों का महत्त्व कम था। युद्ध-संचालन के बढ़ते हुए यन्त्रीकरण के कारण जोकि औद्योगिक क्रान्ति के साथ ही साथ इतिहास के अन्य युगों के मुकाबिले में कहीं अधिक तेजी से अग्रसर हुआ है, राष्ट्रीय शक्ति युद्ध तथा शांति के समय में कच्चे माल के नियन्त्रण पर अधिक से अधिक अवलम्बित होती चली गई है। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि आज के शक्तिशाली राष्ट्र, संयुक्तराज्य तथा सोवियत यूनियन, आधुनिक औद्योगिक उत्पादन के लिए आवश्यक कच्चे माल के स्वामित्व में प्रायः आत्म-निर्भर है और यदि कुछ कच्चे माल उनके स्वयं के पास नहीं है, तो कम से कम उनके स्रोतों की पहुँच पर उनका नियन्त्रण है।

जैसे-जैसे युद्ध संचालन के यन्त्रीकरण के साथ साथ राष्ट्रीय शक्ति के लिए कच्चे माल के नियन्त्रण का पूर्ण महत्त्व बढ़ता गया है वैसे-वैसे ही कुछ विशेष प्रकार के कच्चे माल का अन्य कच्चे माल के ऊपर महत्त्व बढ़ता गया है। जब जब भी तकनीक में आधारभूत परिवर्तनों के कारण नए कच्चे माल का प्रयोग आवश्यक हो गया है अथवा पुराने कच्चे मालों का अधिक प्रयोग आवश्यक हो गया है, तब तब यही बात देखने में आई है। सन् 1936 में एक सांख्यिविधि विज्ञान के ज्ञाता ने युद्ध के लिये औद्योगिक उत्पादन के आनुपातिक महत्त्व में प्राथमिक पदार्थों के अनुपात को इस प्रकार से निर्धारित किया था: कोयला 40 तेल 20, लोहा 15, तांबा, सीसा, मगनीज, गन्धक 5 में प्रत्येक 4 जस्ता, अलमुनियम, निकल में से प्रत्येक 2।[2] पचास वर्ष पूर्व कोयले का हिस्सा इससे भी कहीं अधिक रहा होगा क्योंकि शक्ति के स्रोत के रूप में यदि उसका मुकाबिला था तो कुछ कुछ पानी व लकड़ी से ही था और तेल से तो बिल्कुल था ही नहीं। यही बात लोहे के विषय सत्य रही होगी क्योंकि उस समय प्लास्टिक जैसे पदार्थों तथा अन्य हल्की धातुओं से उसकी कोई होड़ नहीं थी। अटब्रिटन,

2 Ferdinand Friedensburg Die mineralischen Bodenschatze als weltpolitische und militariche Machtfaktoren (Stuttgard F Enke, 1936) p 175

जोकि कोयले, व लोहे में उस समय आत्म निर्भर था उन्नीसवीं शताब्दी में विश्व की महान् शक्तियों में से एक था।

प्रथम विश्व-महायुद्ध के उपरान्त से उद्योग व युद्ध के लिए शक्ति के स्रोत के रूप में तेल का महत्त्व निरंतर बढ़ता जा रहा है। प्राय: हर यन्त्र चालित गाड़ी तथा हथियार तेल द्वारा चालू होता है। इसी कारण जिन देशों के पास मिट्टी के तेल के कुएं अधिक हैं उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जो प्रभाव प्राप्त कर लिया है यदि पूर्ण रूप में नहीं तो मुख्य रूप से उसकी प्राप्ति के कारण उचित कहा जा सकता है। प्रथम विश्व महायुद्ध के दौरान क्लीमेंस्यू ने कहा था 'मिट्टी के तेल की एक बूंद हमारे सिपाही के खून की एक बूंद के बराबर कीमती है।' कच्चे माल के रूप में अति अनिवार्य रूप में तेल के महत्त्व के बढ़ जाने से राजनीतिक रूप में आगे बढ़े हुए राष्ट्रों की सापेक्ष शक्ति में परिवर्तन आ गया है। संयुक्त राज्य तथा सोवियत यूनियन बहुत अधिक शक्तिशाली हो गये हैं क्योंकि इस सन्दर्भ में वे आत्म निर्भर हैं जबकि ग्रेटब्रिटेन काफी कमजोर हो गया है क्योंकि ब्रिटिश द्वीप में प्राय: मिट्टी के तेल के कुएं हैं ही नहीं।

तीन महाद्वीपों के मध्य में सेतु के रूप में स्थित होने के अलावा निकट पूर्व युद्ध-नीति के दृष्टिकोण से ग्रेट ब्रिटेन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो गया है क्योंकि अरब प्राय द्वीप के मिट्टी के तेल के कुओं ने इस महत्त्व को बढ़ा दिया है। उस पर नियंत्रण शक्ति वितरण के लिए एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व बन गया है क्योंकि जो कोई भी इस को अपने अन्य कच्चे माल के साधनों में जोड़ सकता है वह अपनी शक्ति में उतनी वृद्धि करने के अलावा अपने प्रतिद्वन्द्वी को उसी अनुपात में उससे वंचित करने में सफल हो जाता है। इसी कारण निकट पूर्व के क्षेत्र में ग्रेटब्रिटेन संयुक्तराज्य और कुछ समय से फ्रांस ने उस क्रिया का श्रीगणेश किया है जिसे ठीक ही 'तेल की कूटनीति' कहा जाता है। इसका अर्थ है कि अपने प्रभाव के उन क्षेत्रों का निर्माण करना जिनसे प्राप्त मिट्टी के तेल के कुओं तक पहुँचने वाले मार्गों पर केवल अपना आधिपत्य हो। कभी तो आनुपातिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में जो महत्त्वपूर्ण भूमिका अरब प्रायद्वीप आज निभा रहा है वह उसकी सैनिक शक्ति से मिलती जुलती किसी शक्ति पर निर्भर नहीं है। अफ्रीका व अन्य एशियाई मुल्कों के मुसलमानों से विचित्र एकता तथा अरब प्रायद्वीप की फौजी दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण स्थिति होने के अतिरिक्त अरब राज्यों के महत्त्व का प्रमुख स्रोत मिट्टी के तेल की पहुँच वाले क्षेत्रों पर उनके नियंत्रण का होना है।

कच्चे माल पर नियंत्रण द्वारा राष्ट्रीय शक्ति पर जो प्रभाव पड़ता है और इससे शक्ति वितरण में जो परिवर्तन पैदा हो सकते हैं यूरेनियम के सन्दर्भ में सबसे

महत्त्वपूर्ण व स्पष्ट रूप से समझाये जा सकते हैं। कुछ ही वर्ष पूर्व यूरेनियम पर नियंत्रण या नियंत्रण की अनुपस्थिति किसी भी राष्ट्र की शक्ति के प्रसंग में महत्त्वहीन था। जिस लेखक का हमने अभी ऊपर जिक्र किया है, उसने 1936 में लिखते समय सैनिक दृष्टिकोण से पदार्थों के आनुपातिक महत्त्व का मूल्यांकन करते समय इस पदार्थ का जिक्र तक नहीं किया था[3]। यूरेनियम के अणु से निकली हुई शक्ति और इस अणु शक्ति के युद्ध में प्रयोग ने राष्ट्रों की आनुपातिक शक्ति के स्तर का वास्तविक व सम्भावित रूप में बदल दिया है। जो राष्ट्र यूरेनियम पदार्थ की खानों पर नियंत्रण रखते हैं वे शक्ति की दृष्टि से आगे बढ़ गये हैं जैसे कनाडा, चैकोस्लोवाकिया, सोवियत यूनियन, दक्षिण अफ्रीका संघ तथा संयुक्त राज्य। अन्य राष्ट्र जिनके पास न तो यह पदार्थ है और न ही जो इस पदार्थ की खानों की पहुंच पर नियंत्रण रख सकते हैं वे पिछड़ गये हैं।

औद्योगिक क्षमता

तो फिर यूरेनियम का महत्त्व राष्ट्रीय शक्ति के लिए एक अन्य तत्त्व के महत्त्व का प्रदर्शन करता है वह है औद्योगिक क्षमता। बेल्जियम कांगो में उच्च स्तर के यूरेनियम के बहुतेरे भण्डार प्राप्त होते हैं। फिर जबकि इस तथ्य ने उस उपनिवेश का मूल्य युद्ध के दृष्टिकोण से बढ़ा दिया है और इसी कारण युद्ध नीति के दृष्टिकोण ने भी उसका महत्त्व बढ़ा दिया है फिर भी उसने अन्य राष्ट्रों की तुलना में बेल्जियम की शक्ति को किसी विशेष प्रकार से बढ़ाया नहीं है क्योंकि न तो बेल्जियम अथवा कांगो में ही और न बेल्जियम में ऐसा कोई औद्योगिक कारखाना वर्तमान है जो यूरेनियम के भण्डारों को औद्योगिक तथा सैनिक प्रयोग में ला सके और बेल्जियम कांगो से इतनी दूर पर स्थित है कि लड़ाई छिड़ जाने पर यह पदार्थ आसानी से वहां रासायनिक सफाई के लिए ले जाया भी नहीं जा सकता। दूसरी ओर ग्रेट ब्रिटेन, कनाडा, संयुक्तराज्य तथा चैकोस्लोवाकिया व सोवियत यूनियन के लिए भी यूरेनियम की प्राप्ति उनकी शक्ति में असीम वृद्धि का द्योतक है। इन देशों में औद्योगिक कारखाने वर्तमान हैं अथवा बनाये जा सकते हैं या फिर पड़ौसी देश में उनका आसानी से प्रयोग किया जा सकता है ताकि यूरेनियम को शक्ति में परिणत करके युद्ध तथा शान्ति दोनों में ही प्रयोग में लाया जा सके।

यही परिस्थिति कोयले व लोहे द्वारा प्रदर्शित की जा सकती है। संयुक्त राज्य तथा सोवियत यूनियन ने इन दो कच्चे मालों के स्वामित्व द्वारा असीम राष्ट्रीय शक्ति का संचय किया है क्योंकि उनके पास वे कारखाने हैं जो कि कच्चे

3 सिद्धन नाग बोर्गीज़।

माल का औद्योगिक उत्पादन में परिणित कर सकते हैं। सोवियत यूनियन ने अपने कारखाने बना लिये हैं और वह उन्हें एक बहुत बड़े मानवीय श्रम व पार्थिव त्याग के उपरान्त निर्मित करने में संलग्न है। वह इस त्याग के लिए तैयार है क्योंकि वह जानता है कि बिना इन कारखानों के वह ऐसा फौजी संगठन न तो बना ही सकता है और न सचालित कर सकता है जो उसकी वैदेशिक नीति के योग्य हो। बिना इन कारखानों के सोवियत यूनियन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में वह प्रमुख भूमिका नहीं निभा सकता जो वह निभाना चाहता है।

संयुक्तराज्य व सोवियत यूनियन के बाद भारत कोयले व लोहे के स्वामित्व की दृष्टि से तीसरा प्रमुख देश है। उसके बिहार व उड़ीसा प्रान्तों में निहित लोहे की खानों में दो अरब सत्तर करोड़ टन से अधिक लोहा जमा है और फिर उसकी मैंगनीज की पैदावार सन् 1939 में दस लाख टन थी जो केवल सोवियत यूनियन को छोड़कर समस्त देशों में अधिक थी। याद रहे कि लोहे से इस्पात बनाने में मैंगनीज की अनिवार्य आवश्यकता है। परन्तु इस कच्चे माल की बहुतायत के होते हुए भी जिसके बिना आधुनिक समय में कोई भी राष्ट्र प्रथम पंक्ति में गिना नहीं जा सकता भारत संयुक्तराज्य तथा सोवियत यूनियन की तुलना में क्षीण रूप से भी प्रथम स्तर की शक्ति नहीं गिना जा सकता। इसका कारण शक्ति की संभावना व वास्तविकता के मध्य की खाई है जोकि इस सन्दर्भ में हमारे विवेचन के विषय से सम्बन्धित है अन्य कारणों का जिक्र हम आगे करेंगे। यह खाई कच्चे माल की बहुलता के मुकाबले में वर्तमान औद्योगिक संगठन की कमी के रूप में प्रकट होती है। जबकि भारत कई लोहे के कारखानों के स्वामित्व की डींग हाँक सकता है जैसे टाटा लोहे व इस्पात का कारखाना जोकि वर्तमान युग के सबसे आधुनिक कारखानों में से एक है परन्तु इसके पास पूरे उत्पादन की ऐसी शक्ति नहीं है जिसकी तुलना द्वितीय श्रेणी के औद्योगिक राष्ट्रों से की जा सके। सन् 1939 में केवल तीस लाख व्यक्ति जोकि संपूर्ण आबादी के एक प्रतिशत से भी कम है उद्योग धन्धों में काम करते थे। तो फिर हम देखते हैं कि भारत के पास कुछ मूलभूत कच्चा माल असीम मात्रा में मौजूद है जोकि उन तत्त्वों में से एक तत्त्व है जो राष्ट्रीय शक्ति के निर्माण में योग देता है। वह सम्भावना के रूप में एक महान् शक्ति समझा जा सकता है। वास्तव में वह उस समय तक एक महान् शक्ति नहीं बन सकता जब तक उसके पास उन अन्य तत्त्वों की कमी है जिनके बिना आधुनिक युग में कोई भी राष्ट्र महान् शक्ति का पद ग्रहण नहीं कर सकता। इन तत्त्वों में औद्योगिक क्षमता सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

आधुनिक युद्ध व यातायात की तकनीक ने भारी उद्योग-धन्धों के विकास को राष्ट्रीय शक्ति का एक अभिन्न तत्त्व बना दिया है क्योंकि आधुनिक युद्ध में

विजय सड़क, रेल, भारी ठेले जहाज, हवाई जहाज, टैंक व अस्त्रों की हर प्रकार की किस्मा, ममहगी से लेकर स्वसचालित बन्दूकों व आत्मोजन आवरण, व सचालित प्रक्षेपास्त्र तक की सख्या व गुणा पर अवलम्बित है। राष्ट्रों की शक्ति प्रतिद्वन्द्विता बहुत कुछ बड़े से बड़े अच्छे से अच्छे व अधिक से अधिक युद्ध के अस्त्रों के उत्पादन की प्रतिद्वन्द्विता में परिणत हो जाती है। औद्योगिक कारखानों की पैदा करने की शक्ति व गुणावस्था कारीगरों की कार्य-कुशलता, इजीनियरों में कौशल, वैज्ञानिकों की आविष्कार करने की विलक्षणता तथा व्यवस्थापक की सगठन-क्षमता—ये सभी वे तत्व हैं जिन पर औद्योगिक क्षमता और इसी कारण राष्ट्र की शक्ति अवलम्बित रहती है।

इसी कारण यह आवश्यक है कि आगे बढ़े हुए औद्योगिक राष्ट्र ही महान् शक्ति कहलाते हैं और औद्योगिक स्तर में अच्छे या बुरे के लिए परिवर्तन शक्ति के स्तर में परिवर्तन—या तो साथ ही साथ अथवा बाद में—पैदा कर देता है। जब तक एक औद्योगिक राष्ट्र के रूप में ग्रेटब्रिटेन का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था, तब वह सपूर्ण ससार में सब से शक्तिशाली राष्ट्र था—अकेला वह राष्ट्र जिसे विश्वव्यापी शक्ति की सज्ञा दी जा सकती थी। जर्मनी की तुलना में फ्रांस की शक्ति का पतन, जोकि निस्सन्देह 1870 के बाद स्पष्ट दिखलाई पड़ता था और जिसका बाह्य रूप में प्रथम विश्व महायुद्ध के उपरान्त रोक दिया गया था—वह बहुत कुछ फ्रांस के औद्योगिक पिछड़ेपन व जर्मनी की औद्योगिक प्रतिभा का राजनीतिक व सैनिक प्रदर्शन के रूप में प्रकट होना था, जिसके कारण ही यूरोपीय महाद्वीप में जर्मनी प्रभुत्वकारी शक्ति का रूप धारण कर गया था। जब हम यह कहते हैं कि सयुक्तराज्य आज विश्व के दो परम शक्तिशाली राष्ट्रों में से एक है, तो हम अमरीकन शक्ति की माप उसकी औद्योगिक शक्ति के आधार पर ही करते हैं। लन्दन के "अर्थशास्त्री" ने कहा है

"महान् शक्तियों की किसी भी तुलना में हिटलर के युद्ध के पूर्व ही, साधनों की सभावना की दृष्टि से, सयुक्तराज्य अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा कहीं आगे बढ़ चुका था, चाहे वह पार्थिव शक्ति हो या औद्योगीकरण का विस्तार हो, या साधनों का समूह हो या जीविका स्तर हो या पैदावार व खपत का कोई भी मापदण्ड क्यों न हो। युद्ध के उपरान्त अमरीका की राष्ट्रीय आमदनी दुगनी हो गई, जबकि युद्ध ने अन्य महान् शक्तियों को या तो खत्म ही कर डाला अथवा बहुत क्षति पहुँचाई, जिसके कारण वह अन्तर और भी बढ़ गया है, जिससे कारण सयुक्त राज्य अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा कहीं अधिक उच्च शिखर पर आसीन है। हाथी के कटघरे के अन्दर घुसे हुए चूहों की तरह वे हाथी की

चालढाल को देखते रहते है। यदि वह हाथी अपना बोझ इधर—उधर डालना शुरू कर दें, तो इन के पास बच निकलने का कहाँ अवसर ?—क्या इस हाथी के केवल बैठ ही जाने से खतरे में पड़ सकते हैं[4] ?

सैनिक तैयारी

किसी भी राष्ट्र की शक्ति के लिये वहां के भौगोलिक तथा प्राकृतिक साधनों और औद्योगिक क्षमता के तत्त्वों को, वास्तविक महत्त्व प्रदान करने वाला तत्त्व है वहाँ की सैनिक तैयारी। सैनिक तैयारी पर राष्ट्र की शक्ति की निर्भरता इतनी स्पष्ट है कि उसके स्पष्टीकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। सैनिक तैयारी के अर्थ है उस सैनिक संगठन की तैयारी जाकि वैदेशिक नीति के पालन में सहायता प्रदान करने में सफल हो सके। यह क्षमता हमारे विवेचन के दृष्टिकोण के अनुसार अनेक तत्त्वों पर अवलम्बित है जिन में सबसे महत्त्वपूर्ण हैं तकनीकी आविष्कार, नेतृत्व तथा सेना की गुणावस्था और संख्या।

युद्ध की तकनीक

राष्ट्रों तथा सभ्यताओं का भाग्य युद्ध की तकनीक के अन्तर के कारण बहुधा निर्धारित हुआ है। इसमें नित्य दुर्बल पक्ष के पास अपनी कमी पूरी करने का और कोई साधन नहीं था। पन्द्रहवी शताब्दी से लेकर सोलहवी शताब्दी तक के अपने विकासकाल में यूरोप ने युद्ध तकनीक की दृष्टि से इतनी अधिक प्रगति की कि वह पश्चिमी गोलार्द्ध, अफ्रीका तथा निकटवर्ती तथा सुदूर पूर्व के देशों की अपेक्षा कहीं बढ़कर थी। चौदहवी व पन्द्रहवी शताब्दियों में परम्परागत अस्त्रों में पैदल सेना आग्नेय अस्त्र व तोपखाने के जुड़ जाने से शक्ति के वितरण में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन उस पक्ष के अनुकूल हो गया, जिसने इनका प्रयोग अपने शत्रु से पूर्व प्रारम्भ कर दिया था। स्वतन्त्र शहरों के स्वामी तथा सामन्त लोग जो घुड़सवार सेना तथा दुर्ग पर ही अवलम्बित रहे अब अपनी पहली प्रबल स्थिति को दुर्बल पाने लगे और नये अस्त्रों के शासन शपन को पूर्व स्थिति से विच्छिन्न अनुभव करने लगे। याद रहे कि पहले ये दुर्ग तथा घोड़ों की फौज सीधे सामने के हमले से प्रायः पूर्ण रूप से सुरक्षित मान जाया करते थे।

दो घटनायें जिनके द्वारा मध्यकालीन युग का अन्त व आधुनिक युग का प्रारम्भ विदित होता है शक्ति की इस विच्छिन्नता का नाटकीय रूप में उदाहरण प्रस्तुत करती हैं, प्रथम तो सन् 1315 में मारगारटन तथा सन् 1339 में लाऊपन के युद्धों में स्विस पैदल सेनाओं ने सामन्तवादी घुड़सवार सेनाओं को विध्वंसपूर्ण पराजय प्रदान की थी, जिससे यह स्पष्ट हो गया था कि आम

4 Economist, May 24, 1947 p 785 (Reprinted after permission)

जनता की सगठित पैदल सेना, सामन्तशाही की कीमती घुडसवार सना मे उच्च होती है। दूसरा उदाहरण था 1449 म फास के चाल्स ग्रष्टम द्वारा इटली पर ग्राक्रमण । पैदल सना व तापखाने द्वारा चाल्स अष्टम न उन गर्वोन्मत्त इटालियन नगर राज्यो की शक्ति को ध्वस्त कर दिया था जो उस समय तक दीवारा क पीछ सुरक्षित ग्न्त करत थे। इस नई युद्ध की तकनीक की विध्वसता की जा अमिट छाप उस युग के लोगो पर पडी वह मैक्यावली तथा फलारेंस के नथा उस समय के अन्य लेखको के लेखो म प्रतिबिम्बित होना है[1]।

बीसवी शताब्दी म अभी तक युद्ध की तकनीक म चार महान् नई पद्धतियाँ दृष्टिगोचर हानी है। इनके द्वारा एक पक्ष को विरोधी पक्ष क विरुद्ध कम से कम तात्कालिक लाभ प्राप्त हो गया, क्याकि विरोधी पक्ष या तो उसे पहले प्रयोग मे न ला पाया अथवा उनके विरुद्ध अपना बचाव नही कर पाया। सर्वप्रथम तो प्रथम विश्व-महायुद्ध के दौरान ब्रिटिश जहाजो के विरुद्ध विशेष रूप म प्रयोग की गई जर्मनी की पनडुब्बियाँ थी। इनसे तो ऐसा विदित होने लगा था कि शायद वे जर्मनी के पक्ष म युद्ध के निर्णय का ही कारण बन जायेंगी। किन्तु ग्रटब्रिटेन ने उनके जवाब म सशस्त्र रक्षक जहाजो वडे का आविष्कार कर लिया। दूसरे जर्मनी के मुकाबिले मे ग्रटब्रिटेन न प्रथम विश्वमहायुद्ध के अन्तिम दिना म टैंको का काफी बडी सख्या में तथा केन्द्रित रूप म प्रयोग किया था जिससे मित्र राष्ट्रो को विजय के लिए एक बहुत महत्त्वपूर्ण पूजी प्राप्त हो गई थी। तीसरे भूमि जल तथा हवाई सना का युद्ध सचालन व व्यूह रचना म चातुर्यपूर्ण प्रयोग द्वितीय विश्व महायुद्ध के आरभ म जर्मनी तथा जापान क लिय उच्चता का कारण बन गया था। पर्ल हारबर तथा ब्रिटिश व डच द्वारा सन् 1941 व 1942 मे जापान के हाथो खाई गइ वि वमकारी पराजय एक प्रगतिशील शत्रु के प्रहार के सम्मुख तकनीकी पिछडपन की सजा ही थी। यदि कोइ चर्चिल की पार्लियामेण्ट मे 23 अप्रैल 1942 के गुप्त अधिवेशन म की गयी गम्भीर समीक्षा को पढे तो वह इस बात से प्रभावित हो जायेगा कि भूमि समुद्र व हवा म प्राप्त हुई पराजया म एक बात सामान्य थी। वह थी हवाइ शक्ति द्वारा प्रस्तुत युद्ध के तरीको के प्रति उदासीनता अथवा इस परिवतन के विषय म भ्रान्ति। और अन्त मे, जिन राष्ट्रा क पास अणु शस्त्र तथा उन्हे फैंकने क साधन है व अपन प्रतिद्वन्द्वियो की तुलना म तकनीकी दृष्टि से बहुत लाभपूर्ण स्थिति म है।

1 See the account by Felix Gilbert Machiavelli The Renaissance of the Art of War in Makers of Modern Strategy, edited by Edward Mead Earle (Princeton Princeton University Press 1944) pp 8, 9

2 Winston Churchill's Secret session speeches (Newyork Simon and Schuster, 1946) PP 53 ff

नेतृत्व

तकनीकी आविष्कारों के सामयिक प्रयोग के अलावा युद्ध में सैनिक नेतृत्व ने राष्ट्रीय शक्ति पर सदा से ही निर्णयात्मक प्रभाव डाला है। अठारहवीं शताब्दी में प्रशा की शक्ति वास्तव में फ्रैडरिक महान् की सैनिक योग्यता का विलक्षण गुण व युद्ध-सम्बन्धी व्यूह-रचना की चालों में किए गए नए आविष्कारों की झलक मात्र ही तो थी। फ्रैडरिक महान् की मृत्यु के समय सन् 1786 में लेकर जेना की सन् 1806 की लड़ाई के मध्य युद्ध की कला में परिवर्तन हो गये थे जिनके कारण नेपोलियन ने प्रशा की सेना को ध्वस्त कर दिया था जो उस समय भी उतनी ही अच्छी तथा सबल थी जितनी कि बीस वर्ष पूर्व थी। परन्तु अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि फ्रैडरिक महान् के पक्ष में लड़ने वाले सैन्य-संचालकों में अपेक्षित सैनिक प्रतिभा का अभाव था। दूसरी ओर अपूर्व सैनिक प्रतिभा का नेतृत्व था। वे नये व्यूह तथा नई चालों को युद्ध में प्रयोग कर रहे थे। इस तत्त्व ने अन्त में फ्रांस के पक्ष में युद्ध का निर्णय किया।

फ्रांसीसी जनरलों की दोनों विश्व महायुद्धों के मध्य मैजीनो लाइन की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया त्रुटिपूर्ण युद्ध-नीति के दाव-पेंच का आम शब्द बन कर रह गई है। युद्ध-तकनीक के विकास के कारण जब यातायात और परिवहन के साधनों का प्रचुर प्रयोग हो रहा था, फ्रांस के सेना संचालक प्रथम विश्व-युद्ध की 'खन्दक में से लड़ने' की शब्दावली में सोच रहे थे। दूसरी ओर जर्मन जनरल यन्त्र-चालित युद्ध की व्यूह-कारी सम्भावनाओं की ओर पूर्णरूप से सचेत होकर अपने युद्ध-कार्य-क्रम को पहले की अपेक्षा कहीं आगे अपूर्व गतिशीलता के लक्ष्य से आयोजित कर रहे थे। इन दोनों दृष्टिकोणों की मुठभेड़ में केवल फ्रांस में ही नहीं, वरन् पोलैंड तथा सोवियत् यूनियन में भी जर्मनी की उच्चता "आँधी के झोंके" के रूप में प्रकट हुई, जिसने जर्मन-शक्ति को प्रायः अन्तिम विजय के सन्निकट ला कर खड़ा कर दिया था। पोलैंड की घुड़सवार सेनाओं पर तथा फ्रांस की स्थिर सेना पर किये गये सन् 1934 व सन् 1940 में हिटलर की चक्रव्यूह-भेदी सेनाओं के आक्रमणों तथा गोताखोर बम-वर्षकों ने जो सैनिक व राजनीतिक विनाश उपस्थित किया और जिसके फलस्वरूप पोलैण्ड को बौद्धिक धक्का लगा उसके द्वारा सैनिक इतिहास में उसी प्रकार के एक नये अध्याय का श्रीगणेश हुआ जैसा कि सन् 1494 में चार्ल्स अष्टम द्वारा इटली पर आक्रमण के बाद हुआ था। परन्तु जबकि इटालियन राज्य किसी अन्य शक्ति की ओर झुक कर सहारा नहीं ले सकते थे, जिससे कि अपनी खोई शक्ति फिर से वापिस लेलें, द्वितीय विश्व महायुद्ध के दौरान संयुक्त राज्य की ऊँची तकनीक तथा सोवियत यूनियन की उच्च जन-शक्ति ने हिटलर के आविष्कारों को ही अपनाकर उसके विरुद्ध तख्ता पलट दिया और उसका नाश कर दिया।

सेना की संख्या तथा गुणावस्था

सैनिक दृष्टि से किसी राष्ट्र की शक्ति सैनिकों तथा शस्त्रों की संख्या तथा उनके सैन्य-सगठन के विभिन्न अगों मे वितरण पर निर्भर रहती है। एक राष्ट्र के पास युद्ध-सम्बन्धी नये तकनीकी आविष्कारों की अच्छी समझ होने तथा उसके सैनिक नेतृत्व में युद्ध की नयी तकनीक से सम्बन्धित व्यूह रचना व दाँवपेच में विलक्षण गुण वर्तमान होने पर भी वह राष्ट्र सैनिक रूप से कमजोर हो सकता है, यदि उसके पास ऐसा सैनिक सगठन वर्तमान नहीं, जो अपने सपूर्ण रूप में तथा विभिन्न अगों की शक्ति की दृष्टि से राष्ट्र की आवश्यकता से न तो कम है और न अधिक ही। यदि ऐसा न होगा तो वह राष्ट्र राजनीतिक स्तर पर भी शक्तिहीन हो जायेगा। ताकतवर होने के लिये क्या यह आवश्यक है कि शान्ति-काल में भी उसके पास एक बड़ी सेना वर्तमान हो या फिर अच्छी प्रशिक्षित विशेष प्रकार की सैनिक टुकड़ियाँ ही हों? क्या युद्ध के लिये मुस्तैद सेना *प्रशिक्षित स्थायी सेना की तुलना में अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है? क्या दूर तक* फैली समुद्री सेना अब बेकार हो गई है? क्या हवाई जहाज से जाने वाले पानी के जहाज आज भी कोई अच्छे लक्ष्य की पूर्ति करते हैं? अपने साधनों तथा सकल्पों के लक्ष्य के अन्तर्गत एक राष्ट्र कितने बड़े सैनिक सगठन को कायम रख सकता है? राष्ट्रीय शक्ति के विषय में विचार करते हुए यह अधिक लाभदायक होगा कि शान्तिकाल में ही एक बड़े पैमाने पर हवाई जहाज तथा यत्र चालित हथियारों का उत्पादन किया जाय या फिर तकनीक में होनेवाली हुई तीव्र प्रगतियों को दृष्टि में रखते हुए अधिक व्ययसाध्य शोध-कार्य किया जाय तथा सुधरे हुए अस्त्रों का सीमित संख्या में उत्पादन किया जाय?

इन नाना सम्बन्धी प्रश्नों के सही अथवा गलत उत्तरों का स्पष्ट रूप से किसी राष्ट्र की राष्ट्रीय शक्ति पर प्रभाव पड़ता है। क्या युद्धों का निर्णय एक नये प्रस्त्र द्वारा लादा जा सकता है जैसे कि पन्द्रहवीं शताब्दी के मोड़ पर पैदल सेना के बारे में सोचा गया था? या फिर दोनों विश्व-महायुद्धों के मध्य हवाई सेना के लिए सोचा गया था? या प्रथम विश्व महायुद्ध के समय पनडुब्बियों के बारे में जर्मनी ने सोचा था? या फिर आज के युग में बहुत कुछ लोग अन्तर-महाद्वीपीय प्रक्षेपास्त्र के बारे में सोचते हैं? इन में से कुछ प्रश्नों का गलत जवाब ग्रेटब्रिटेन व फ्रांस के लिये, दोनों विश्व-महायुद्धों के मध्य, परम्परागत सैनिक विचार-धाराओं के आधार पर उनकी शक्ति के वाह्य आकार का स्थिर रूप रहा। परन्तु उन्हीं त्रुटियों के कारण वे द्वितीय विश्व महायुद्ध में पराजय के बिल्कुल निकट पहुँच गए थे, क्योंकि इस युद्ध की तकनीक उन प्रश्नों के विभिन्न उत्तरों की माँग करती थी। अन्य राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों की दृष्टि में इन तथा

अन्य ऐसे ही प्रश्नो के उत्तरो के स्वरूप पर सयुक्तराज्य का भविष्य अवलम्बित है।

जनसंख्या

जब हम भौतिक तथा समन्वित भौतिक तथा मानवीय तत्त्वो से हट कर केवल उन विशुद्ध मानवीय तत्त्वो पर विचार करते है जिनके द्वारा किसी राष्ट्र की शक्ति निर्धारित होती है, तो हमे उनके गुणात्मक तथा मात्रात्मक अगो म भेद समझ लेना चाहिए। गुणात्मक तत्त्व राष्ट्रीय चरित्र, राष्ट्रीय साहस कूटनीति की गुणावस्था तथा सरकार के साधारण गुणो से सम्बन्धित हैं। मात्रा की दृष्टि मे हमे इस तत्त्व को आबादी के आकडा के मापदण्ड से परखना चाहिए।

वितरण

यह कहना तो सही न होगा कि जितनी अधिक किसी देश की आबादी होती है उतना ही शक्तिशाली वह देश हो जाता है क्योकि यदि आबादी के आँकडा व राष्ट्रीय शक्ति मे ऐसा सापक्ष सम्बन्ध होता तो अपनी साढ छियासठ करोड की आबादी स चीन विश्व म सबसे शक्तिशाली देश होता और इकतालीस करोड जनसख्या वाला भारत दूसरे नम्बर पर होता। सोवियत यूनियन इक्कीस करोड की आबादी से तीसरा तथा सयुक्तराज्य अठारह करोड की आबादी से चौथे नम्बर पर होता[7]। किन्तु यह सोचना बिल्कुल सही नही होगा कि यदि एक देश की आबादी अन्य तमाम देशो की तुलना म अधिक है, तो वह देश आवश्यकता वश उनकी तुलना मे अधिक शक्तिशाली होगा ही। परन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि कोई भी ऐसा देश न तो प्रथम श्रेणी का शक्तिशाली देश बन ही सकता है और न बनने पर रह ही सकता है जो ससार के घने आबादी वाले देशो मे से एक नही है। घनी आबादी के बिना यह असभव है कि आधुनिक युद्धो को सफलतापूर्वक सचालित करने के लिय आवश्यक औद्योगिक कारखाने निर्मित तथा सचालित किये जा सकें और न ही यह सभव है कि बडी सख्या मे लन्न वान सिपाहियो की टुकडिया स्थल, जल तथा वायु म लडने के लिये प्रस्तुत की जायें और न ही फौज के अन्य वे कर्मचारी हासिल किय जा सकते हैं, जिनकी सख्या लडाकू सिपाहियो की तुलना मे कही अधिक होती है जो लडाकुओ को खाना यातायात के साधन, पत्र-सदेश, अस्त्र तथा गोला-बारूद इत्यादि पहुँचाते रहते है। इसी कारण साम्राज्यवादी देश अनेक प्रकार के प्रोत्साहन द्वारा जनसख्या बढाने का प्रयत्न करते रहते है, जैसा कि नाजी जर्मनी व फासिस्ट इटली ने किया था। और फिर ये देश इसी आबादी की वृद्धि को अपने साम्राज्यवादी विस्तार का सैद्धान्तिक आधार बना लेते हैं।

---

7 ये सब आकडे सन् 1960 की जन गणना पर आधारित हैं।

संयुक्तराज्य की आबादी की आस्ट्रेलिया व कनाडा की आबादी से तुलना आबादी की मात्रा व राष्ट्रीय शक्ति के सम्बन्ध को स्पष्ट कर देती है। आज आस्ट्रेलिया का क्षेत्रफल तीस लाख वर्गमील से कुछ कम है और आबादी प्रायः एक करोड़ से कुछ अधिक है। जबकि कनाडा का क्षेत्रफल प्राय: पैंतीस लाख वर्ग मील है तथा आबादी एक करोड़ अस्सी लाख से कुछ अधिक है। इसके विपरीत संयुक्तराज्य का क्षेत्रफल कनाडा व आस्ट्रेलिया के बीच का है और उसकी आबादी अठारह करोड़ है, जोकि आस्ट्रेलिया की आबादी का अठारह गुना व कनाडा की आबादी से दस गुना से अधिक है। आस्ट्रेलिया अथवा कनाडा की आबादी के बल पर संयुक्तराज्य कभी भी विश्व का सर्वशक्तिमान राष्ट्र नहीं बन सकता था। उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दी की प्रथम दो शताब्दियों में किये गए देशान्तरण की बड़ी लहरों ने संयुक्तराज्य के पास राष्ट्रीय शक्ति के इस तत्त्व को ला दिया है। यदि सन् 1924 का देशान्तरण का कानून, जिसके अन्तर्गत संयुक्त राज्य में बाहर के देशों से आने वाले लोगों की वार्षिक संख्या एक लाख पचास हजार कर दी गई थी, सौ या फिर पचास वर्ष पूर्व ही लागू किया गया होता, तो कम से कम दो करोड़ सत्तर लाख या फिर तीन करोड़ साठ लाख व्यक्ति संयुक्तराज्य में बसने से वंचित रह जाते, और फिर उनसे तथा उनके वंशजों से संयुक्तराज्य वंचित ही रह जाता।

सन् 1824 में संयुक्तराज्य की आबादी प्राय एक करोड़ दस लाख थी। सन् 1874 तक वह बढ़ कर चार करोड़ चालीस लाख हो गई थी। सन् 1924 में उसकी आबादी ग्यारह करोड़ चालीस लाख हो गई थी। उस शताब्दी के मध्य अमरीका की आबादी के विकास में देशान्तरण का योगदान तीस प्रतिशत था, और सन् 1880 से 1910 के बीच तो वह प्रायः चालीस प्रतिशत हो गया था। दूसरे शब्दों में, अमरीकन आबादी के सबसे विलक्षण विकास का युग ही उसमें बाहर से आने वाले लोगों का युग है। सन् 1824 से लेकर विशेषकर सन् 1874 व 1924 के मध्य का स्वतन्त्र देशान्तरण वहाँ की जन शक्ति का कारण बन गया, जिससे फलस्वरूप संयुक्तराज्य की युद्ध तथा शांति के समय की राष्ट्रीय शक्ति में इतना अधिक योगदान मिला। बिना इस देशान्तरण के यह सम्भव नहीं हो सकता था कि संयुक्त राज्य की आबादी आज की आबादी की आधी भी होती। इसके फलस्वरूप संयुक्तराज्य की राष्ट्रीय शक्ति उस स्तर से कम होती जोकि उसकी अठारह करोड़ जनसंख्या ने आज बना रखा है।

आबादी की मात्रा उन तत्त्वों में से एक तत्त्व है जिस पर राष्ट्रीय शक्ति अवलम्बित रहती है। क्योंकि एक राष्ट्र की शक्ति सदा ही आनुपातिक होती है, अतः उन देशों की जनसंख्या की मात्रा का अनुपात और विशेषकर उसके आनुपातिक विकास की गति अधिक ध्यान देने योग्य है, जो आपस में शक्ति की


समस्त विश्व में औद्योगिकीय विकास
अविकसित क्षेत्र
मध्यवर्ती क्षेत्र
विकसित क्षेत्र

होड़ में एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हैं। एक देश, जिसकी आबादी अपने प्रतिद्वन्द्वी की तुलना में कम है, अपनी जनसंख्या की गिरती हुई रफ्तार से उस समय बहुत चिंतित हो जायेगा, जबकि उसके प्रतिद्वन्द्वी की आबादी अधिक रफ्तार से बढ़ रही हो। यही परिस्थिति सन 1870 से 1940 के मध्य जर्मनी की तुलना में फ्रांस की रही। इस युग में फ्रांस की जनसंख्या चालीस लाख बढ़ी जबकि जर्मनी की वृद्धि दो करोड़ सत्तर लाख रही। सन् 1800 में प्रत्येक सातवाँ यूरोपीय व्यक्ति फ्रांसीसी था, सन् 1930 में प्रत्येक तेरहवाँ व्यक्ति फ्रांसीसी था। सन् 1940 में जर्मनी के पास प्रायः डेढ़ करोड़ मनुष्य सैनिक शिक्षा के लिए प्राप्य थे, जबकि फ्रांस के पास केवल पचास लाख ही थे।

दूसरी ओर सन् 1870 के एकीकरण के उपरान्त से जर्मनी ने सदा सम्मान और कभी-कभी तो सभय से रूस की जनसंख्या को देखा है जो जर्मनी की तुलना में अधिक बढ़ती चली जा रही थी। प्रथम विश्व महायुद्ध के प्रारंभ की परिस्थिति को जनसंख्या की दृष्टि से ही देखते हुए जर्मनी यह अनुभव कर सकता था कि समय रूस के पक्ष में है जबकि फ्रांस यह अनुभव कर रहा था कि समय जर्मनी के पक्ष में है। जबकि अन्य कारणों से जिनकी चर्चा की जा चुकी है, रूस व आस्ट्रिया दोनों यह विश्वास कर रहे थे कि संघर्ष का स्थगित होना शत्रु के पक्ष में होगा। इसी कारण ग्रेटब्रिटेन को छोड़कर सभी प्रतिद्वन्द्वी अपने-अपने कारणों से 1914 में ही युद्ध के लिए आतुर हो चुके थे और शान्तिपूर्ण समझौते के विरुद्ध थे, क्योंकि सभी ऐसे समझौते को स्थायी मानने को तैयार नहीं थे, बल्कि उसे आवश्यक निर्णय की घड़ी को भविष्य में टाल कर बीच में सांस लेने का साधन मात्र मान रहे थे।

जैसा कि यूरोप में आधुनिक इतिहास में शक्ति वितरण जनसंख्या की प्रवृत्तियों के साथ-साथ चला है, उसी प्रकार पाश्चात्य गोलार्ध में संयुक्तराज्य का एक महान् शक्ति के केन्द्र के रूप में उदित होना तथा शक्तियों के मध्य यूरोपीय केन्द्रों को इस स्थान से वंचित कर देना भी इन देशों की जनसंख्या में झलक जाता है। सन 1870 में फ्रांस तथा जर्मनी दोनों ही की आबादी संयुक्तराज्य से अधिक थी, जबकि सन् 1940 तक संयुक्तराज्य की संख्या दस करोड़ बढ़ गयी थी तथा फ्रांस व जर्मनी को मिला कर आबादी उस समय केवल तीन करोड़ तीस लाख बढ़ी थी।

प्रवृत्तियाँ

जो कुछ अब तक कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भविष्य में शक्ति-वितरण के परीक्षण के लिये जनसंख्या के झुकाव को जानना एक आवश्यक तत्त्व होगा। यदि अन्य तत्त्व प्रायः बराबर रहे तो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपने प्रतिद्वन्द्वी

की तुलना मे जिस राष्ट्र की जनसख्या कम होती जा रही है, वह उसी रफ्तार से तुलनात्मक रूप से राष्ट्रीय शक्ति के अनुपात मे क्षीण होता जायेगा, और उसी प्रकार की परिस्थितियो मे, यदि उसकी आबादी काफी बढे तो, राष्ट्रीय शक्ति मे आनुपातिक वृद्धि होगी। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त मे, जब केवल ब्रिटिश साम्राज्य ही अकेली विश्व-शक्ति था, तो उसकी आबादी प्राय: चालीस करोड थी। यह जनसख्या विश्व की जनसख्या की प्राय. एक चौथाई थी। सन् 1946 मे यह आबादी प्राय पचपन करोड के बराबर हो गई, क्योकि भारत की जनसख्या प्राय इकतालीस करोड है। उसकी स्वतत्रता के फलस्वरूप आबादी के दृष्टिकोण से ब्रिटिश राष्ट्रीय शक्ति को जो नुकसान हुआ, वह अत्यधिक था।

यदि युद्ध अथवा प्राकृतिक दुर्घटनाओ का हस्तक्षेप न हो और यदि पूर्व प्रवृत्तियाँ कायम रहे, तो जन-सख्या-विशेषज्ञो के अनुसार सयुक्त राज्य, सोवियत यूनियन, पूर्वी तथा दक्षिणी यूरोप मे आबादी काफी मात्रा मे बढेगी और मध्यवर्ती पश्चिमी यूरोप मे कम।

आबादी के दृष्टिकोण से सयुक्त राज्य की स्थिति पश्चिम यूरोप की तुलना मे पर्याप्त शक्तिशाली प्रतीत होती रहेगी, क्योकि पश्चिमी यूरोप की आबादी मे कम वृद्धि होगी। परन्तु लैटिन अमरीका की तुलना मे, आबादी के झुकाव की दृष्टि से सयुक्त राज्य की स्थिति बिगड जाने की दिशा मे है। विश्व के किसी भी बडे क्षेत्र मे लैटिन अमरीका आबादी बढने की दृष्टि से सबसे तेज गति प्रदर्शित कर रहा है। सन् 1900 मे सयुक्त राज्य की साढे सात करोड आबादी की तुलना मे लैटिन अमरीका की आबादी छह करोड तीस लाख थी। सन् 1948 मे सयुक्त राज्य की साढे चौदह करोड की आबादी की तुलना मे लैटिन अमरीका की आबादी पद्रह करोड तीस लाख थी। केवल अरजनटाइना की आबादी ही सन् 1914 व सन् 1960 के मध्य दुगनी से अधिक हो गई और आज वह प्राय: दो करोड दस लाख के लगभग है। इसी युग मे सयुक्त राज्य की आबादी केवल नौ करोड नब्बे लाख से बढकर अठारह करोड हो पायी है।

जन-सख्या के तत्त्व का राष्ट्रीय शक्ति पर प्रभाव जानने के लिये केवल यह पर्याप्त नही है कि विभिन्न देशो के सपूर्ण आबादी के आँकडे जान लिये जायें। किसी भी जन-सख्या के अन्तर्गत आयु का वितरण शक्ति के हिसाब के लिये अति आवश्यक है। और सब चीजें यदि बराबर हो तो वह राष्ट्र जिसके पास सेना तथा उत्पादन के दृष्टिकोण से क्रियाशील आबादी अधिक है, अर्थात् प्राय बीस से चालीस वर्ष की आयु के लोग उस दूसरे राष्ट्र के मुकाबले मे अधिक लाभदायक स्थिति मे होगा, जहाँ पर आबादी का बडा भाग वृद्धो का हो।

यह इंगित कर देना आवश्यक होगा कि आबादी के झुकाव का मूल्यांकन युद्ध अथवा प्राकृतिक दुर्घटनाओ के हस्तक्षेप के अभाव मे भी खतरे से खाली नहीं

है। सन् उन्नीस सौ चालीस के वर्षो मे सोवियत यूनियन की तुलना म आबादी की दृष्टि से जो आँकडे सयुक्त राज्य मे आँके गये थे, उनकी तस्वीर बहुत ही निराशावादी थी, फिर भी, जन-सख्या के विशेषज्ञो ने सन् 1970 के आन तक सयुक्त राज्य अमरीका की जितनी जनसख्या का अनुमान लगाया था, आज उसकी जन-सख्या उस अनुमानित जनसख्या से कही अधिक हो गई है। उस क्षेत्र म भी जहाँ वैज्ञानिक अचूकता अनुपालन काफी उच्च होती है, राष्ट्रीय शक्ति की भविष्यवाणी अनिश्चितता से भरपूर होती है। परन्तु ये अनिश्चितताये राष्ट्रीय शक्ति के विकास म आबादी के झुकावो के महत्त्व को कम नहीं कर देती और न ही वे राजनीतिज्ञो की अपने राष्ट्रो की आबादी के झुकावो के प्रति जागरूकता को कम करती है।

रोमन साम्राज्य के मुकुटधारी अगस्टस व उसके उत्तराधिकारियो के कथन की प्रतिध्वनि के रूप म ब्रिटिश प्रधान-मन्त्री की हैसियत से सर विन्सटन चर्चिल ने अपने रेडियो-भाषण म सन् 1943 की 22 मार्च को अपनी चिन्ता इन शब्दो मे व्यक्त की थी

"तीस चालीस अथवा पचास वर्ष आगे तक देखने की क्षमता रखने वाले लोगो के लिए गम्भीरतम चिन्ताओ म से एक चिन्ता है सन्तानोत्पत्ति की दिन-प्रतिदिन घटती हुई गति। इस दिशा म कोई भी व्यक्ति आसानी से दूर तक सोच सकता है। बीस वर्षो मे यदि यह झुकाव नही बदला तो युद्ध प्रवीण तथा कार्य-सलग्न एव छोटी जनसख्या अपने से दुगुनी बूढो की सख्या को सहारा देने व उनकी रक्षा करने पर मजबूर हो जायेगी और पचास वर्षों मे तो परिस्थिति उससे भी कही अधिक शोचनीय हो जायेगी। यदि हम देश को विश्व के नेतृत्व मे उच्च स्थान बनाये रखना है और एक ऐसी महान् शक्ति के रूप म जीवित रहना है, जोकि बाहरी दबावो के विरुद्ध अपने आप को स्थिर रख सकती है, तो हमारी जनता को हर साधन द्वारा अपने परिवारो मे वृद्धि करने के लिए जनता को प्रोत्साहित करना होगा।"

राष्ट्रीय चरित्र

राष्ट्रीय चरित्र का अस्तित्व—

गुणात्मक प्रकृति के उन तीन मानवीय तत्त्वो मे से, जिनका प्रभाव राष्ट्रीय शक्ति पर पड़ता है, चरित्र तथा हौसला बौद्धिक दृष्टिकोण से अप्रत्यक्षता के आवरण मे छिपे रहते है। साथ ही साथ ये तत्त्व उस प्रभाव पर जोकि एक राष्ट्र अतर्राष्ट्रीय राजनीति मे प्राप्त कर सकता है निर्णयात्मक रूप से स्वय प्रभाव डालते रहते है। यहाँ हमारा तात्पर्य उन तत्वो की समस्या से नही है जो राष्ट्रीय चरित्र के विकास के लिये उत्तरदायी है। यहा पर हम केवल उस तथ्य से सम्बन्धित विषय का विवेचन कर रहे हैं, जो कि प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण होते हुए

भी प्रतिद्वन्द्विता से परे है। हमारा तात्पर्य विशेषकर उस 'सांस्कृतिक पद्धति' के मानव शास्त्रीय दृष्टिकोण से है जिस के अनुसार कुछ विशेष प्रकार के बौद्धिक व चारित्रिक गुण किसी विशेष राष्ट्र में अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक मूल्यवान समझे जाते हैं। कालरिज के शब्दों में —

———— परन्तु एक अदृश्य आत्मा है, जोकि संपूर्ण जनता की श्वासों में निहित रहती है। वे सभी उसमें भागीदार रहते हैं चाहे वे बराबर के भागीदार हों अथवा न हों। वह आत्मा उनके गुण व दोष दोनों को कोई रंग व चरित्र प्रदान करती है। एक ही कार्य से मेरा तात्पर्य उस कार्य से है, जिसका स्पष्टीकरण सामान्य शब्दों के द्वारा किया जाता है। फिर भी ये शब्द एक स्पेन निवासी के लिये वह अर्थ नहीं रखेंगे, जोकि वे एक फ्रांसीसी के लिये रखते हैं। ऐसा मेरा अकाट्य सत्य के रूप में विश्वास है कि बिना इस सत्य को माने हुए इतिहास एक पहली बन जायेगा और इसी प्रकार से मेरा विश्वास है कि विभिन्न राष्ट्र तथा उनकी आनुपातिक महानता व निम्नता सभी, जो कुछ भी वे हैं अथवा करते हैं किसी एक विशेष समय में नहीं जबकि एक महान् पुरुष के आकस्मिक प्रभाव के अन्तर्गत जैसा कि एर्डनटीपस महान् के नेतृत्व में कारथीगियन्स ने किया था या फिर बाद में अपने ही हैनीबाल के अन्तर्गत किया था। वह सब कुछ भी जो वे संचित करते चलते हैं परिवर्तित व्यक्तियों के उत्तराधिकार के फलीभूत एक राष्ट्रीय व्यक्तित्व के रूप में उस आत्मा का ही परिणाम है।[8]

ये गुण एक राष्ट्र की अन्य राष्ट्रों से पृथकता स्थापित करते हैं। वे परिवर्तन के प्रति ऊँचे स्तर की नमनशीलता का प्रदर्शन करते हैं। इधर उधर से लिये गये कुछ उदाहरण इस तर्क की पुष्टि कर देते हैं।

जैसाकि जान डेवी[9] तथा अन्य व्यक्तियों ने इंगित किया है क्या यह अकाट्य सत्य नहीं है कि काण्ट व हीगल जर्मन दार्शनिक परम्परा के उतने ही सार्थक प्रतिनिधि हैं जितने कि फ्रांस के मन्तिस्क व डेकार्ट व वालटयर या ग्रेट ब्रिटेन में राजनीतिक विचार के लाक व बर्क या बौद्धिक प्रश्नों के प्रति अमरीकन दृष्टिकोण के जेम्स व जान डेवी। और फिर क्या यह अस्वीकार किया जा सकता है कि दार्शनिक विभिन्नतायें वास्तव में उन आधारभूत बौद्धिक तथा नैतिक

8 Samuel Taylor Coleridge, Essays on his own Times (London William Pickering 1850) Vol II pp 668 9

9. German Philosophy and politics (New York G P Putnam's Sons, 1942) passim

प्रवृत्तियों की पृथकता की उच्चतम स्तर के विचारों के एकीकरण की तथा व्यवस्थात्मक तर्कों की अभिव्यक्तियाँ हैं, जोकि विभिन्न राष्ट्रों के विचार तथा कार्य के प्रत्येक स्तर पर निरन्तर प्रकट होती रहती है और जो किसी राष्ट्र को सर्वथा भिन्न निश्चित व्यक्तित्व प्रदान करती है। डेकार्ट के दर्शन की यंत्र चालित बौद्धिकता तथा परिपक्वता कारनीले की मार्मिक ट्रेजिक रचनाओं और रेसिन की लेखनी के विषाद में उसी प्रकार से उतनी ही मात्रा में फिर से प्रकट होती रही है, जितनी कि वह जेकोबिन के ज्वलन्त क्रान्तिकारी सुधारों की बौद्धिकता में प्रकट हुई थी। वे ही प्रवृत्तियाँ उस शैक्षणिक औपचारिकता की निष्फलता के रूप में जोकि फ्रांस के आधुनिक बौद्धिक जीवन का विशेष लक्षण है फिर से प्रकट होती हैं। ये उन सैंकड़ों शान्ति योजनाओं के रूप में फिर से प्रकट हुईं, जिनकी गणना में फ्रांसीसी राज्य दोनों विश्व-महायुद्धों के मध्यान्तर के युग में अन्य राज्यों की तुलना में कहीं आगे था परन्तु जो तर्क के स्तर पर परिपक्व होते हुए भी अव्यावहारिक थीं। दूसरी ओर बौद्धिक कौतूहल की जो प्रवृत्ति जूलियस सीजर ने गाल्स में आंकी थी वह युगों युगों से फ्रांसीसी मस्तिष्क के विशेष स्वरूप का द्योतक रही है।

लाक का दर्शन ब्रिटिश व्यक्तिवाद को उतनी ही अभिव्यक्ति प्रदान करता है जितनी कि मैग्नाकार्टा कानून की सही गति अथवा प्राटैस्टेंट साम्प्रदायिकता। एडमन्ड बर्क के नैतिक सिद्धान्त व राजनीतिक व्यावहारिकता का सहज सम्मिश्रण ब्रिटिश जनता की राजनीतिक बुद्धि प्रखरता का वैसा ही प्रकाशन है जैसे कि उन्नीसवीं शताब्दी के सुधार-कानून अथवा कार्डिनाल वोलसे व कैनिंग की शक्ति-सन्तुलन की नीतियाँ। जर्मन कबीलों के राजनीतिक तथा सैनिक रुझान की विनाशकारी विध्वंसता के विषय में टेसीटस ने जो कुछ कहा था वह फ्रैडरिक बारबरोसा की फौजों के विषय में उतना ही ठीक तरह फिट होगया था जितना कि विलियम द्वितीय अथवा हिटलर के साथ। वह जर्मन कूटनीति की परम्परागत बेहूदगी व दोषपूर्णता के विषय में फिट बैठ गया। जर्मन दर्शन का राष्ट्र प्रेम समष्टिवाद व अधिकारवाद का दूसरा पक्ष है निरंकुश सरकार की परम्परा व निरंकुश शक्ति की उस समय तक निर्विवाद मान्यता जब तक कि उसमें लागू होने की शक्ति व इच्छा विदित हो और उसके साथ ही साथ सामाजिक बहादुरी की कमी, व्यक्तिगत अधिकारों के प्रति उदासीनता तथा राजनीतिक स्वतंत्रता की अनुपस्थिति। अमरीकन राष्ट्रीय चरित्र का वह विवेचन जोकि टोकवेलो की पुस्तक 'डिमाक्रसी इन अमरीका' में मिलता है, सौ वर्ष के हस्तक्षेप के बावजूद भी अपना सामायिक गुण नहीं खोता। अमरीकन यथार्थवाद का एक अदृश्य कट्टर आदर्शवाद तथा सफलता को सत्य का मापदण्ड मानने की अनिश्चितता चार

स्वतन्त्रताओं तथा अटलांटिक चार्टर व डालर कूटनीति के प्रत्यक्ष कार्यों के बीच की अनिश्चयात्मकता में प्रकट होते हैं।

रूसी राष्ट्रीय चरित्र

जहां तक रूस का प्रश्न है दो ऐसे अनुभवों को सटाकर जिनकी तारीखें एक दूसरे से प्रायः सौ वर्ष की अवधि द्वारा पृथक हैं, रूसी बौद्धिक व नैतिक गुणों की स्थिरता का विलक्षण प्रमाण प्राप्त हो जाता है।

अपने संस्मरणों में बिस्मार्क ने लिखा था

सन् 1859 में सेंट पीटर्सबर्ग में मेरे प्रथम निवास में मुझे एक और रूसी अनोखेपन का उदाहरण मिला था। उन दिनों यह परम्परा थी कि जो कोई भी राज दरबार से सम्बन्धित है वह बसन्त के प्रारम्भिक दिनों में समर गार्डन में पॉल के महल से लेकर नेवा तक विहारार्थ चहल कदमी करे। वहां एक घास के मैदान के मध्य में एक बार सम्राट ने एक सन्तरी को खड़े देखा। यह पूछने पर कि वह वहां क्यों खड़ा है संतरी केवल यह उत्तर दे सका "मुझे यह आज्ञा है।" इस पर सम्राट ने अपने एड्स कमचारी को गार्ड रूम में पता लगाने को भेजा परन्तु वह भी कोई स्पष्ट उत्तर नहीं ला पाया सिवाय इसके कि एक सन्तरी को उस स्थान पर जाड़े गर्मी सभी समय सदा तैनात रहना पड़ता है। प्राथमिक आज्ञा का स्रोत इस प्रकार खोजा न जा सका। इस मामले की बातचीत राजदरबार में भी हुई जिससे वह नौकरों के कानों तक भी पहुंची। उनमें से एक जो कि पेन्शन प्राप्त हुआ था आगे आया और उसने बतलाया कि एक बार जब वह समर गार्डन में अपने पिता के साथ घूम रहा था तो उसके पिता ने कहा था "वह खड़ा वहां पर वह आज भी फूल की रक्षा के लिये तैनात खड़ा है। उस स्थान पर एक बार महारानी कैथरीन ने एक सफेद फूल को समय के पूर्व अतिशीघ्र खिलते हुए देखा था और आदेश दिया था कि फूल तोड़ा न जाय।" इस आदेश का पालन उस स्थान पर एक संतरी तैनात करके किया गया था और तभी से वहां एक सन्तरी पूरे वर्ष भर खड़ा रहता है। इस प्रकार की कथाएं हमारी आलोचना व मनोरंजन को उत्तेजित करती हैं परन्तु वास्तव में वे रूसियों के स्वभाव के उन आधारभूत तत्वों की अभिव्यक्ति हैं जिन पर उनकी शक्ति अवलम्बित है और जिनके द्वारा उनका शेष यूरोप के प्रति दृष्टिकोण निर्धारित होता है। इससे हमें सन् 1875 में सेंट पीटर्सबर्ग की बाढ़ के समय की तथा सन् 1877 में शिपका दर्रे के सन्तरियों का ध्यान आता है जो कि

अपनी जगह से हटाये नही गये थे और पहिले जो बाढ़ मे डूब गये थे और दूसरे बर्फ मे जकडे गये परन्तु अपनी जगह से टस से मस नही हुए।[10]

21 अप्रैल सन् 1947 की 'टाइम पत्रिका' मे निम्नलिखित रिपोर्ट अंकित है :—

'पाट्सडैम के बर्लिनस्ट्रासे से बारह दुबले पतले पुरुष लड़खड़ा कर चल रहे थे उनके चेहरो पर सदियो की पीली सिकुड़नदार मुद्रा थी, उनके पीछे ठूंठदार चौड़े मुँह वाला रूसी सिपाही घिसट घिसट कर चल रहा था जिसके दाहिने हाथ मे टामी गन टगी लटकी हुई थी और जिसकी नीली आखो मे विस्तृत मैदान की झलक वर्तमान थी।

स्टाटबान स्टेशन पर पहुँचने पर इस गिरोह की भेट उन स्त्री पुरुषो की कतार से हुई, जोकि दिन भर के काम के बाद अपने अपने घर वापिस जा रहे थे।

एक तिकोने नख-शिख की प्रौढ़ा स्त्री ने तभी अचानक इन बीस आदमियो को देखा। वह अपनी चाल से रुक गई और एक मिनट तक उनकी ओर आखें खोल कर देखती रह गयी। उसने अपना बाजार का जर्जर झोला फेक दिया और भूजेदार कोयले की-सी जलती टब-गाड़ी के सामने से भड़क पार कर के तीसरे कैदी से मुह फाड़कर चिल्लाती हुई जा चिपटी। कैदियो तथा राहगीरो दोनो ही ने जम्हाई ली और मुँह फाड़कर गुमसुम होकर इन दोनो की शक्लो को एक दूसरे की पीठ पर पड़े बोझो को अपनी-अपनी उगलियो से पागलो की तरह सहला-सहला कर चीखते देखने लगे। वे दोनो चिल्ला रहे थे 'वोहिन' 'विसनिख्त' 'वारम' 'विस निख्त''।

धीरे-धीरे रूसी अपनी टुकडी की ओर चल कर आ गया और उस जोड़े के पास पहुँच गया। धीरे धीरे एक खीस उसके चेहरे पर फैल गयी। उसने औरत की पीठ थपथपाई। वह झिली। देखने वालो के चेहरे पर एक कठोर भय की आशका फैल गयी, परन्तु रूसी आश्वासन भरे लहजे मे बड़बड़ाया 'कीन अन्गस्त कीन अन्गस्त (कोई डर नही कोई डर नही)। फिर उसने अपनी टामीगन का मुह कैदी की ओर किया जो प्रवृत्तिवश एक कदम पीछे हट गया और उसने पूछा 'डीन मैन ?

"जा" स्त्री ने उत्तर दिया जिसके गालो से आँसू बह रहे थे।

---

10 Bismarck, the man and statesman, being the Reflections and Reminiscences of Otto, Prince Von Bismarck, translated under the Supervision of A J Butler (New York and London Harper and Brothes, 1899), Vol 1, P 250

गुट गुट अपनी नाक को सिकोड कर रूसी सुअर की तरह गुर्राया। 'निम्मित—मित और उसने भौंचक्के कदी को पटरी का तरफ एक हलका धक्का सा दे दिया।

देखन ालो ने सामूहिक रूप से चन की सास ली। तभी उस जा ने वसुध हो हाथ म हाथ डालकर लडखडान हुए प्रस्थान किया। सडक की भी के साथ साथ ग्यारह कदियो न एक दूसरे से फुसफुसाना शुरु कर दिया। अनिश्चित रूसी अप्रमाणभूत म इह समझ नही सकता म इन रूसिया का नहा जानता

रूसी शात भाव स चरायमान था और अपन पाल दातो क बाच एक लम्बा सिगार दबाय हुए था। तभी उसन अपनी जब म माचिस ढूढना प्रारभ किया। अचानक ही उसके मुह पर बादल से छा गये। उसन टामी गन को अपन हाथा म ऊपर की ओर उठाकर अपनी गन्दी फली हुई आस्तीन म स एक ग न कागज का टुकडा निकाला और उसकी ओर भौं चढाकर देखने लगा। कुछ कदम चलने के बाद उसन कागज का झुकी हुई पीठ की ओर देखा और फिर स्टेशन से आत हुए नए कामगारो के चिंतित चेहरो की ओर खोजपूर्ण नजर डाली

किसी औपचारिकता के बिना रूसी एक नौजवान की ओर बढा जोकि अपनी बगल म एक झोला लिय हुए था और चेहरे पर ग न भूरा हैट कान तक पहिन हए था। उसने आदेश दिया इह दू कम। वह जमन बफ का तरह जमकर रह गया और अपने कधो के ऊपर स डन डरे हुए स्त्री पुरुषो की कतार की ओर भयानक दृष्टि से देखन लगा जो कुछ भी न दखन अथवा सुनन का बहाना कर रह थे। रूसी ने अपनी टामी गन हिला कर होठो को मरोड कर कहा कम। उसने पत्थर का तरह सान अपने नय रगरूट को गन्दे नान म ढकेल दिया।

अब फिर कदियो की सख्या बारह थी। रूसी की मुखाकृति ढीली पडी। अपनी तीसरी जलती हुई माचिस का तीली स उसन अपना सिगार जलाया और उन गभीर जमनो का आर घूमा छोटा जाति उस झुटपुट म नओ स घर वापिस जा रह थ।[1]

इन दोनो घटनाओ के मध्य एक महान क्रान्ति न हस्तक्षप किया था जिसके फलस्वरूप ऐतिहासिक निरन्तरता म विघ्न पड गया था। यह विघ्न राष्ट्रीय जीवन के हर स्तर पर हुआ था। फिर भी उस क्रांति का प्रचण्ड अग्नि की लपटो म स रूसी राष्ट्रीय चरित्र की विभिन्न प्रवत्तियाँ ज्यो की त्यो निकल

11 Time Apr l 21 1947 P 32 (U ed by perm ssion of Time Copyright Time inc 1947)

आयी। सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था, राजनीतिक नेतृत्व व संस्थाओं व जीवन तथा विचारों के इतने परिपक्व परिवर्तन न भी रूसी चरित्र के आधारभूत शक्ति व संकल्प" में परिवर्तन नहीं किया, जिसके बारे में बिस्मार्क ने अनुभव किया था और जो पोट्सडेम के भी रूसी सिपाही में प्रकट होते हैं।

उसी राष्ट्रीय चरित्र की निरन्तरता का उल्लेख एक अमरीकन कूटनीतिज्ञ द्वारा राज्य विभाग को रूस से भेजे गये एक कूटनीतिक संदेश के अंश को देखने से विदित हो जाता है —

'गत वर्ष से यह पर्याप्त मात्रा में स्पष्ट होता जा रहा है कि विदेशियों तथा उनके साम्राज्य के भीतर प्रवेश करने व भ्रमण पर रूसी नीति कठोर होती जा रही है।

मुझे पता लगा है कि पिछली गर्मियों में कई अमरीकन वीसा प्राप्त करने में असमर्थ रहे। इसका स्रोत राजनीतिक मूल्यांकन है और खासतौर पर आम जनता पर वैदेशिक प्रभाव का भय। इसमें यह भी जोड़ा जा सकता है कि रूस में एक विदेश विरोधी दल भी है, जिसकी नीति केवल सामयिक व्यापार को छोड़कर विदेशियों को देश के बाहर रखना होगा।

रूस में एक कूटनीतिज्ञ मन्त्री की स्थिति रुचिकर नहीं है। यह आम राय है कि कोई भी पत्र व्यवहार जोकि जन-समस्या से सम्बन्धित है, वह पोस्ट आफिसों में सुरक्षित नहीं है, बल्कि उसे साधारण तौर पर खोला ही जाता है तथा उसका निरीक्षण किया जाता है। यह भी आम राय है कि मन्त्रियों की एक व्यवस्थित गुप्तचर विभाग द्वारा देखरेख की जाती है। यहाँ तक कि नौकरों तक से यह तलब किया जाता है कि उनके घरों में, बातचीत में तथा मिलने जुलने में क्या क्या घटित हुआ।

रहस्य व गोपनीयता हर चीज का अंग बन गया है। जो कुछ भी जानने योग्य है, जनता को नहीं बतलाया जाता है।

रूसियों में एक विचित्र अन्ध-विश्वास प्रचलित है कि विश्वविजय उनकी भाग्य रेखा में लिखित है। सिपाहियों से ऐसे भाग्यवाद तथा उससे उपजे फल की अपील कभी ही असफल होती है। इसी प्रकार की भावना के कारण ही रूसी सिपाही में अलौकिक सहिष्णुता प्रकट होती है। इसीलिए वह अन्य सिपाहियों की तुलना में सबसे कठिन दुःखों को भी झेलता चला जाता है और अन्य सिपाहियों की अपेक्षा अतिरिक्त झेलने की शक्ति का प्रदर्शन करता है।

पुलिस की कठोरता ही एक नये अमरीकन के यहाँ आने पर पहले-पहल प्रभाव डालती है"।

ये विचार आजकल के वर्षों के राजदूत कनन थोहलन अथवा थोम्पसन के नहीं हैं जैसा कि कोई सोचेगा वरन् सन् 1851 52 में नील एस० ब्राउन के हैं जोकि उस समय रूस में संयुक्तराज्य के कूटनीतिक मंत्री थे।

राष्ट्रीय चरित्र व राष्ट्रीय शक्ति

राष्ट्रीय शक्ति पर राष्ट्रीय चरित्र का अनिवार्यतः प्रभाव पड़ता है, क्योंकि जो कोई भी व्यक्ति युद्ध तथा शांति में राष्ट्र की ओर से कार्य करते हैं, वे ही उसकी नीतियों का निर्धारण कार्य-संचालन व निर्माण करते हैं चुनते हैं अथवा चुने जाते हैं जनमत पर निर्णयात्मक प्रभाव डालते हैं उत्पादन तथा खपत बढ़ाते हैं। ये सभी लोग अधिक या कम स्तर पर उन बौद्धिक तथा नैतिक गुणों की छाप से युक्त रहते हैं जो राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण करते हैं। रूसी मौलिक शक्ति व धैर्य' अमरीकनों की व्यक्तिगत प्रेरणा तथा आविष्कार की क्षमता ब्रिटिश लोगों की कट्टरताहीन साधारण सूझ बूझ जर्मन लोगों का आत्म नियंत्रण तथा संपूर्णता ये गुण हैं जो सदा ही प्रकट होते रहते हैं। जब जब भी किसी विशेष राष्ट्र के सदस्य व्यक्तिगत अथवा सामूहिक कार्यों में लिप्त होते हैं तब तब उनका राष्ट्रीय चरित्र व्यक्त होता चलता है। राष्ट्रीय चरित्र की विभिन्नता के कारण ही जर्मन अथवा रूसी सरकारें जिस प्रकार की वैदेशिक नीतियों का श्री गणेश कर सकीं वैसी नीतियों का अमरीकन तथा ब्रिटिश सरकारें अनुसरण नहीं कर सकीं और ठीक इसके विपरीत जर्मनी रूस की स्थिति रही। सैनिकवाद का विरोध अनिवार्य सैनिक नौकरी तथा स्थायी सेना के प्रति विरक्ति अमरीकन तथा ब्रिटिश राष्ट्रीय चरित्र के स्थायी तत्त्व हैं। जबकि सैकड़ों वर्षों से ये ही संस्थायें तथा कार्य प्रशा के मूल्यों की श्रृंखला में उच्चतम स्थान प्राप्त करते रहे हैं जहाँ से उनकी प्रतिष्ठा तमाम जर्मनी में फैल गई। रूस में सरकार की प्रभुत्वकारी शक्ति की आज्ञापालन की परम्परा तथा विदेशियों के प्रति परम्परागत भय की भावना ने वहाँ की जनता को बड़े स्थायी सैनिक संगठनों को अपना लेने के लिये प्रेरित किया है।

इस प्रकार से जर्मनी तथा रूस के राष्ट्रीय चरित्र ने शक्ति-संघर्ष में उन्हें प्रारंभिक लाभ प्रदान कर रखा है क्योंकि वे शांतिकाल में ही अपने राष्ट्रीय साधनों का एक बड़ा भाग युद्ध के यंत्रों में प्रयुक्त कर सकते हैं। दूसरी ओर, ऐसे परिवर्तन के प्रति ब्रिटिश तथा अमरीकन जनता की उदासीनता विशेषकर राष्ट्रीय संकट के समय को छोड़कर बड़े पैमाने पर मनुष्यों को फौज में भर्ती करने की बात सोचने के प्रति विरक्ति ऐसा दृष्टिकोण है जिसने ब्रिटिश तथा अमरीकन वैदेशिक नीतियों पर एक बहुत बड़ा प्रतिबन्ध लगा रखा है। सैनिकतावादी राष्ट्रों की सरकारें अपने स्वयं के चुने हुए क्षण में युद्ध की योजना बना सकती हैं। उसकी

तैयारी कर सकती हैं और उनको सचालित भी कर सकती है। विशेषकर वे तब ही प्रतिबन्धक युद्ध प्रारभ कर सकती हैं, जब कभी भी ऐसा युद्ध उनके लक्ष्य के सर्वाधिक अनुकूल हो। सयुक्त राज्य जैसे शान्तिप्रिय राष्ट्रों की सरकारें उस प्रसग मे अति अधिक हानिकर परिस्थिति म अपने आप को पाती हैं क्योंकि उनका कार्यक्षेत्र कहीं अधिक कम स्वतत्र है। क्योंकि अपनी जनता की आन्तरिक सैनिकवाद विरोधी प्रवृत्तियों स व बँधी रहती है। उनको वैदेशिक मामलों म कहीं अधिक सुलझे हुए रास्ते का अनुसरण करना पड़ता है। प्राय उस राजनीतिक दायित्व के अनुसार, जोकि राष्ट्रीय हित की जिम्मेदारी उनपर सौंपता है, सैनिक शक्ति उनके पास नहीं होती। दूसरे शब्दों मे अपनी नीतियों के पीछे पर्याप्त मात्रा मे फौजी शक्ति उनके पास नहीं रहती। जब वे युद्ध मे उतरते हैं, तो प्राय वे शत्रु की इच्छा से बाध्य होकर ही उतरते हैं। अतीतकाल में उन्हें राष्ट्रीय चरित्र के अन्य पूरक गुणों तथा अन्य तत्त्वों पर अवलम्बित होना पड़ा, है जैसे कि भौगोलिक स्थिति औद्योगिक क्षमता इत्यादि, जिनके फल स्वरूप प्रारम्भिक कमजोरी व निम्नता की दशाओं को पार कर व अन्तिम विजय की ओर पहुँचे है। राष्ट्रीय चरित्र का प्रभाव अच्छे तथा बुरे रूप म ऐसा ही हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र का वह निरीक्षणकर्ता, जो विभिन्न राष्ट्रों की आनुपातिक शक्ति का मूल्याकन करना चाहता है, उसे राष्ट्रीय चरित्र को अपने हिसाब-किताब में अवश्य रखना होगा, चाहे ऐसे अस्पष्ट तत्त्व का सही मूल्याकन कितना ही कठिन क्यों न हो। ऐसा न कर सकने की असफलता निर्णय व नीति की वैसी ही भूल का कारण बन सकती है जैसी भूल प्रथम विश्व-महायुद्ध के उपरान्त जर्मनी की फिर से शक्ति सचय करने की क्षमता को कम करके आकने से हुई थी, अथवा सन् 1941-42 के मध्य रूस की स्थिर शक्ति के अवमूल्यन मे हुई थी। वारसाई की सधि जर्मनी को राष्ट्रीय शक्ति के अन्य यथा से वंचित कर सकती थी, जैसे भूमि, कच्चे माल के स्रोत औद्योगिक क्षमता तथा सैनिक सगठन। परन्तु वह जर्मनी को उन तमाम चरित्र व बुद्धि के गुणों से वंचित नहीं कर सकती थी जिन के सहारे दो शताब्दियों मे ही उसने वह सब कुछ वापिस कर लिया, जोकि उसने खो दिया था और जगत् म एकाकी रूप से सर्वशक्तिमान राष्ट्र के रूप मे उदित हुआ। प्राय सभी सैनिक विशेषज्ञों की सन् 1942 मे यह सामान्य राय थी कि रूस की प्रतिरोध की शक्ति केवल कुछ महीनों के लिए ही बाकी है। सैनिक व्यूह-रचना, सचालन, औद्योगिक साधन इत्यादि के आधार पर उनकी यह राय सही भी रही हो, परन्तु फिर भी विशेषज्ञों की यह राय स्पष्ट रूप से उस मौलिक शक्ति व दृढ़ता व तत्त्व को आँकने मे बहुत ही भ्रमपूर्ण और गलत प्रमाणित

हुई। इसी तरह को ऊंचे निर्णय ने यूरोप से सम्बन्धित रूसी रुख की शक्ति का स्रोत माना है। सन् 1940 के उस निराशावाद की जड़ें, जिसने ग्रेटब्रिटेन के जीवित रहने की सम्भावना को अस्वीकार किया था, भी ब्रिटिश जनता के राष्ट्रीय चरित्र के प्रति उदासीनता या उसको गलत आंकने में निहित थीं।

हमने एक दूसरे प्रसंग में पहले ही कहा है कि द्वितीय विश्व-महायुद्ध के पूर्व जर्मन लीडर लोग अमरीकन शक्ति को कितनी घृणा की नजर से देखते रहे थे। यह देखना रोचक होगा कि ठीक वही गलती उन्हीं कारणों से जर्मन नेतृत्व ने प्रथम विश्व-महायुद्ध में की थी। तो फिर सन् 1916 के अक्टूबर के महीने में जर्मन के जल-सेना के सचिव ने संयुक्त राज्य के मित्र राष्ट्रों में सम्मिलित होने के महत्त्व को शून्य के बराबर रखा था और उसी काल के एक अन्य जर्मन मंत्री ने वहाँ की संसद में एक भाषण में उस समय कहा था, जबकि संयुक्त राज्य वास्तव में मित्र राष्ट्र की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो गया था, "अमरीकन तैरना नहीं जानते और वे उड़ सकते नहीं—अमरीकन तो फिर कभी भी नहीं आयेंगे।" इन दोनों मामलों में जर्मन नेताओं ने अमरीकन शक्ति का निम्न स्तर पर मूल्यांकन किया था, क्योंकि उन्होंने केवल एक समय विशेष में उसके सैनिक संगठन के गुणों को ध्यान में रखा था या फिर अमरीकी चरित्र की सैनिक-विरोधी विचार-धारा को अथवा भौगोलिक दूरी को ही ध्यान में रखा था। उन्होंने अमरीकन चरित्र के इन गुणों के प्रति पूर्ण उदासीनता प्रदर्शित की जैसे व्यक्तिगत रूप में प्रारंभ करने का कौशल, खाद्य सामग्री को जुटाने की क्षमता तथा निश्चिन्त रूप से निर्माण की क्षमता, तकनीकी कौशल जो अनुकूल परिस्थिति के तथा अन्य भौतिक तत्त्वों के साथ भौगोलिक दूरी व छिन्न भिन्न सैनिक संगठन की अलाभदायक स्थिति से कहीं अधिक भारी है।

दूसरी ओर जर्मनी की अपराजेयता में अनेक विशेषज्ञों का विश्वास कम से कम सन् 1943 की स्टालिनग्रैड की लड़ाई तक भी उन भौतिक तत्त्वों तथा जर्मन राष्ट्रीय चरित्र के उन गुणों की मान्यता में निहित था, जोकि उसे पूर्ण विजय की ओर ले जाते दृष्टिगोचर हो रहे थे। इन विशेषज्ञों ने जर्मन जनता के राष्ट्रीय चरित्र के दूसरे पक्षों पर ध्यान नहीं दिया, जैसे विशेषकर उसमें संयम की कमी की ओर। मध्यकालीन सम्राटों से लेकर तीस वर्ष के युद्ध के लड़ने वाले राजकुमारों तक तथा विलियम द्वितीय व हिटलर तक संयम की यह कमी जर्मन राष्ट्रीय चरित्र की विनाशकारी कमजोरी का कारण बन कर रह गई है। संभावना की परिधि में लक्ष्य व कार्य को बाँध कर रखने की क्षमता की कमी के कारण ही बार-बार जर्मन लोगों ने अन्य भौतिक व मानवीय तत्त्वों पर निर्मित राष्ट्रीय शक्ति को अन्त में विध्वंस कर डाला है।

राष्ट्रीय हौसला

राष्ट्रीय शक्ति पर अन्य प्रभाव डालने वाले तत्वों की तुलना में कहीं अधिक प्रवंचनापूर्ण व अस्थायी परन्तु फिर भी महत्वपूर्ण तत्व वह है जिसे हम राष्ट्रीय हौसला कहेंगे। राष्ट्रीय हौसला निश्चय के उस स्तर को कह सकते हैं जिस स्तर तक एक राष्ट्र युद्ध अथवा शान्ति में अपनी सरकार की नीतियों का समर्थन करने के लिये प्रस्तुत रहता है। यह किसी राष्ट्र के प्रत्येक कार्य में व्याप्त रहता है — उसकी कृषि में, औद्योगिक उत्पादन में, उसके सैनिक संगठन में व उसकी कूटनीति कार्यकारिणी में भी। जनमत के रूप में यह वह अदृश्य तत्व प्रदान करता है जिसके सहारे के बिना कोई भी सरकार चाहे वह प्रजातान्त्रिक हो अथवा निरंकुश, अपनी नीतियों को पूर्ण प्रभाव के साथ कार्यान्वित नहीं कर सकती। उसकी उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति तथा उसके गुण राष्ट्रीय संकट के समय प्रकट होते हैं जबकि या तो राष्ट्र का जीवन ही दांव पर हो और या आधारभूत निर्णय लेने की घड़ी हो जिन पर राष्ट्र का जीवित रहना अवलम्बित हो।

उसकी अस्थिरता

राष्ट्रीय चरित्र के कुछ गुण निःसन्देह किसी विशेष राष्ट्र में एक जनता के राष्ट्रीय हौसले में अपने आपको प्रकट करते हैं जैसे अंग्रेजों की सहज सूझ-बूझ, फ्रांसीसियों का व्यक्तिवाद, रूसियों की [illegible] इत्यादि परन्तु किसी राष्ट्र के चरित्र के आधार पर यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि विशेष परिस्थितियों में किसी राष्ट्र का हौसला क्या होगा। बीसवीं शताब्दी के मध्य में अमरीकन जनता का राष्ट्रीय चरित्र ने किसी विशेष स्तर तक आज की परिस्थिति में एक प्रथम श्रेणी की शक्ति की भूमिका निभाने का गुण प्रदान करता है। फिर भी कोई एक निश्चित स्तर के विश्वास से यह भविष्यवाणी नहीं कर सकता कि कठिनाई व पश्चगति के उस समय में जैसा कि द्वितीय विश्व महायुद्ध के मध्य व उपरान्त एशिया तथा यूरोप के युद्ध ग्रस्त देशों में वर्तमान था अमरीकन जनता कैसा आचरण करेगी? और यह जान लेने का भी कोई रास्ता नहीं है कि द्वितीय विश्व महायुद्ध के अनुभवों के दुबारा घटने पर ब्रिटिश जनता की क्या प्रतिक्रिया होगी। [illegible] तथा वी अस्त्रों के विरुद्ध एक बार वह उठ खड़े हुए थे। क्या उनके विरुद्ध वे दुबारा उठ सकेंगे? और अणु अस्त्रों के बारे में क्या कह सकते हैं? प्रत्येक राष्ट्र के बारे में इसी प्रकार के अनेक प्रश्न किये जा सकते हैं जिनका कोई विवेकपूर्ण उत्तर नहीं दिया जा सकता।

आधुनिक वर्षों में विशेषकर अमरीकन राष्ट्रीय हौसला घर व बाहर दोनों क्षेत्रों में कल्पनापूर्ण खोज का विषय रहा है क्योंकि अमरीकन वैदेशिक नीति जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अमरीकन शक्ति का प्रभाव प्रकट होता

है, एक अनोखे स्तर तक अमरीकन जन-मत पर निर्भर रहती है। यह जनमत काग्रेस की वोट, चुनाव के नतीजा, चुनाव-आकड़ों की गणना इत्यादि मे निरन्तर प्रकट होता रहता है।

क्या सयुक्त राज्य निराशाओं के बावजूद सयुक्त राष्ट्र सघ की सदस्यता स्वीकार कर उसे कायम रखेगा ? क्या काग्रेस यूरोप की आर्थिक तथा सैनिक सहायता की योजना का समर्थन करेगी ? कब तक वह तमाम जगत् को बाहरी मदद के लिये अरबों रुपये की आज्ञा प्रदान करती रहेगी ? किस हद तक अमरीकन जनता दक्षिण कोरिया की सहायता करने को तत्पर थी और किन परिस्थितियों मे वह ऐसा करती रहेगी ? क्या वे अनन्तकाल तक शीत युद्ध मे निहित दायित्व उठाने व निराशाओं को बिना अपने कार्यों मे ढील डाले या उसे एक तीक्ष्ण कदम के द्वारा बिना समाप्त किये झेलते चले जायेंगे ? वह प्रमुख तत्व जिसपर इन प्रश्नों के उत्तर निर्भर है या निर्भर थे, वह है किसी निर्णयात्मक क्षण पर उनके राष्ट्रीय चरित्र की अवस्था।

यह तो स्पष्ट ही है कि किसी भी जनता का राष्ट्रीय हौसला कहीं जाकर तो टूट ही जायेगा। यह टूटने का बिन्दु विभिन्न लोगों के लिये विभिन्न परिस्थितियों मे विभिन्न होगा। कुछ लोग टूटने के बिन्दु तक युद्ध मे भोगे गये अत्यधिक व फिजूल नुकसान के कारण आ जाते है जैसाकि 1917 के नाईवेल आक्रमण के उपरान्त कैम्पेन मे फ्रांसीसियो की दशा हुई थी। अन्य का राष्ट्रीय हौसला एक बड़ी हार के कारण ही पस्त हो सकता है, जैसाकि कैपोरेटो में सन् 1917 मे इटालियन लोगों की हार के उपरान्त हुआ था जिसके फलस्वरूप उनके तीन लाख सिपाही हताहत हुए थे और प्राय उतने ही मैदान छोड़कर भाग गये थे। अन्य लोगों का राष्ट्रीय हौसला युद्ध मे भुगत हुए आदमियों तथा भूमि के भारी नुकसान के साथ साथ एक निरकुश सरकार के कुशासन के परिणाम स्वरूप पस्त हो सकता है जैसाकि सन् 1917 मे रूसियों के साथ हुआ था। दूसरों का राष्ट्रीय हौसला केवल शनै शनै क्षय होगा और वह भी किनारो से। वह सरकारी कुशासन, नुकसान, आक्रमण तथा निराशापूर्ण युद्ध परिस्थिति के होते हुए भी अलौकिक सम्मिश्रण के एक झटके से टूट नहीं जायगा। ऐसा ही द्वितीय विश्व महायुद्ध के अन्तिम काल के समय मे जर्मन लोगों के साथ हुआ था जबकि वहाँ के कई सैनिक नेताओं ने तथा कई पूर्व अधिकारियों ने युद्ध को हारा हुआ मान लिया था, परन्तु वहाँ की आम जनता हिटलर की आत्म-हत्या के अन्तिम क्षण तक लड़ती चली गई थी। सन् 1945 मे इतने बुरे समय व परिस्थिति के बावजूद जर्मन जनता की दृढ़ता सामूहिक प्रतिक्रिया की भविष्यवाणी से परे होने के तथ्य को नाटकीय ढग से प्रदर्शित करती रही। इससे कहीं अधिक सरल

परिस्थितियों की कठिनाइयों के फलस्वरूप सन 1918 की नवम्बर में जर्मन लोगों का राष्ट्रीय हौसला पस्त हो गया था। इस आधार पर तो उन्हें सन् 1944 की गर्मियों में ही पस्त हो जाना चाहिए था जबकि फ्रांस पर मित्र-राष्ट्रों का आक्रमण प्रारंभ हुआ था। अपनी पुस्तक युद्ध व शान्ति में सैनिक सफलता के लिए हौसले के स्वतंत्र महत्त्व का विशिष्ट विश्लेषण टाल्सटाय ने इस प्रकार किया है —

सैनिक विज्ञान यह मान कर चलता है कि फौजों की आनुपातिक शक्ति उनकी संख्या के अनुपात के समानान्तर होती है। सैनिक विज्ञान के अनुसार जितनी ही अधिक सिपाहियों की शक्ति होगी उतनी ही अधिक शक्ति भी होगी।'

यह यंत्र विज्ञान के अनुसार यही कहने के बराबर होगा कि फौज की शक्ति बराबर अथवा कम होगी यदि चलते हुए शरीरों की संख्या बराबर अथवा कम होगी।

शक्ति (गति का परिमाण) गति व आकार का गुणनफल है। युद्धों में सेनाओं की शक्ति उनकी संख्या व एक अज्ञात संख्या का गुणनफल है।

इतिहास में भरे अनेक उदाहरणों को देखते हुए जिनमें सेनाओं की संख्या उनकी शक्ति का निर्धारण नहीं करती और जहां एक छोटी संख्या वाली फौज ने बड़ी विरोधी फौज को पराजित कर दिखाया है सैनिक विज्ञान ने इस अज्ञात तत्त्व के अस्तित्व को अस्पष्ट मान्यता प्रदान की है तथा कभी उसका निवास फौज के चक्र व्यूह में खोजा है या फिर कभी अस्त्रों की उत्तमता में या अधिकतर नेतृत्व के अलौकिक गुणों में। परन्तु इन तत्त्वों से उपजे नतीजे ऐतिहासिक अनुभवों के तथ्यों से मेल नहीं खाते।

यदि हम इस अज्ञात तत्त्व के अस्तित्व व निवास की खोज करना चाहते हैं हमें इतिहास में विशेषतः युद्ध में वीर-पूजा के गायन को त्यागना होगा। यह तत्त्व उस सेना की चेतना — अर्थात् कम या अधिक मात्रा में युद्ध करने की इच्छा तथा खतरों का झेलने की सेना के तमाम लोगों की क्षमता जोकि इस बात पर अवलम्बित नहीं है कि वे अलौकिक गुणों वाले नेतृत्व के अन्तर्गत लड़ रहे हैं या नहीं, भले ही वे मोर्चे से लड़ रहे हों अथवा उस बन्दूक से लड़ रहे हों जोकि एक मिनट में तीस बार चलती हो। जिन लोगों में लड़ने की अधिक चाह है वे लड़ाई के समय भी अपने आप को अधिक लाभदायक परिस्थिति में पाते हैं। तो फिर किसी सेना की चेतना में उसकी संख्या को गुणा करके ही उसकी शक्ति का फल जाना जा सकता है। इस अज्ञात तत्त्व की परिभाषा व स्पष्टीकरण—सेना की चेतना के महत्त्व को प्रदर्शित करना विज्ञान की समस्या है।

समस्या तभी सुलझ सकती है जब हम इस अज्ञात तत्त्व 'अ' का उन परिस्थितियों का रूप मनमाने ढंग से न समझ बैठें, जिनके अन्तर्गत यह प्रकट होता है, जैसे कि जनरक्षा की योजनाएं शस्त्रीकरण इत्यादि बल्कि इस अज्ञात तत्त्व को अर्थात् युद्ध करने की अधिक या कम इच्छा व खतरे के सामना करने की क्षमता को पूर्ण रूप में मान्यता प्रदान करें। ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों के स्पष्टीकरण द्वारा उनके तुलनात्मक अनुपात का गणित की समस्या के आधार पर मूल्यांकन करके हम इस तत्त्व की परिभाषा के निकट पहुँच सकते हैं। दस आदमी अथवा बटालियन अथवा डिवीजन अनुपातन पंद्रह आदमियों अथवा बटालियनों अथवा डिवीजनों के विरोध में विजयी हो जाते हैं अर्थात् वे या तो उन सबको मार डालते हैं अथवा कैदी बना लेते हैं जबकि स्वयं अपनी ओर के केवल चार आदमी इस युद्ध में खो बैठते हैं अर्थात् नुकसान का अनुपात दोनों पक्षों में चार व पंद्रह का है। इसके अर्थ होंगे कि एक पक्ष के चार दूसरे पक्ष के पंद्रह के बराबर होंगे अर्थात् 4 अ = 15 ब या फिर अ/ब — $\frac{15}{4}$। यह समीकरण अज्ञात तत्त्वों के मूल्य का स्पष्टीकरण नहीं करता परन्तु यह उनके मूल्यों के अनुपात को प्रदर्शित कर देता है और अनेक ऐतिहासिक इकाइयों (लड़ाइ, युद्ध क्रम युद्ध-काल) को ऐसे समीकरणों का रूप देकर संख्याओं की उस कतार का निर्माण किया जा सकता है जिसमें ऐतिहासिक सिद्धान्तों की खोज की जा सकती है क्योंकि वे वहां निहित हैं।[12]

निर्णयात्मक तत्त्वों के रूप में सरकार व समाज के गुण

जबकि राष्ट्रीय हौसले की अंतिम परीक्षा युद्ध है, इसका महत्त्व प्रत्येक उस परिस्थिति में प्रकट होता है जबकि किसी राष्ट्र की शक्ति किसी अंतर्राष्ट्रीय समस्या के सम्बन्ध में उपयोग में लायी जाती है। यह इस कारण महत्त्वपूर्ण है क्योंकि पहले तो सैनिक शक्ति पर राष्ट्रीय हौसले के प्रभाव की संभावना ही वर्तमान रहती है और दूसरे राष्ट्रीय हौसला किसी भी सरकार के अपनी वैदेशिक नीतियों के अनुसरण करने के संकल्प पर नित प्रभाव डालता रहता है। जनता का जो कोई भी अंग यदि स्थायी रूप से यह महसूस करता है कि वह अपने अधिकारों व राष्ट्रीय जीवन में पूर्ण रूप से भाग लेने से वंचित है तो उस वर्ग में राष्ट्रीय हौसला उन अन्य अंगों की तुलना में कम होगा, जोकि ऐसे अभावों से ग्रस्त नहीं है। यही उनके लिये भी सत्य होगा जिनकी आधारभूत महत्त्वाकांक्षायें बहुमत अथवा सरकार द्वारा अनुसरण की गई स्थायी नीतियों से दूर हैं। जब कभी भी एक जनता गहरे मतभेदों द्वारा फूट का शिकार होती है तो वैदेशिक नीति के पक्ष में जनता का समर्थन सदा अनिश्चित रहता है। यह समर्थन वास्तव

12 Leo Tolstoy, War and Peace, Part XIV, Chapter II

और भी कम होगा यदि उस वैदेशिक नीति की सफलता अथवा असफलता गृह-संघर्ष की समस्या पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ने वाला हो।

निरंकुश सरकारें, जोकि अपनी नीतियों के निर्माण के समय जनता की इच्छा को दृष्टि में नहीं रखती हैं, अपनी वैदेशिक नीतियों के पक्ष में जनता के सहयोग की आशा नहीं कर सकती हैं। ऐसी ही स्थिति जारशाही रूस अथवा आस्ट्रियन राजतन्त्र जैसे देशों की हुई थी। आस्ट्रिया का उदाहरण विशेषकर शिक्षाप्रद है। उन देशों की अनेक वैदेशिक नीतियाँ विशेषकर स्लाव राष्ट्रों सम्बन्धित नीतियाँ उनको कमजोर करने के लक्ष्य से सञ्चालित होती , ताकि आस्ट्रियन राज्य के अन्तर्गत बसी स्लाव राष्ट्र-जातियों को नियन्त्रण रखा जा सके। इसके परिणामस्वरूप अधिक से अधिक ये स्लाव राष्ट्र-जातियाँ अपनी ही सरकार की वैदेशिक नीतियों के प्रति उदासीन रहती थीं और अपन स्पष्ट रूप से वे स्लाव सरकारों की अपनी ही सरकार के विरुद्ध निर्दिष्ट नीतियों सक्रिय समर्थन करती थीं। तो फिर यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि प्रथम विश्व-महायुद्ध के मध्य आस्ट्रो-हंगेरियन फौज की तमाम स्लाव टुकड़ियाँ शत्रुओं से जा मिली थीं। तत्पश्चात् सरकार ऐसी टुकड़ियों को केवल गैर-स्लाव शत्रुओं के विरुद्ध प्रयोग में लाने की हिम्मत कर सकी, जैसे इटालियन शत्रुओं के विरुद्ध। इन्हीं कारणों से प्रथम विश्व महायुद्ध के मध्य जर्मन सेना ने लेनिनियन टुकड़ियाँ रूसियों के विरुद्ध तथा पोलिश टुकड़ियाँ फ्रांसीसियों के विरुद्ध प्रस्तुत की थीं।

सोवियत यूनियन को द्वितीय विश्व-महायुद्ध के मध्य ऐसे ही हौसले की कमी का अनुभव हुआ था जबकि युक्रेनियनों व टारटार निवासियों की फौजों की बड़ी टुकड़ियाँ बगावत करके जर्मनों से जा मिली थीं। ग्रेट ब्रिटेन को भारत के सम्बन्ध में ऐसा ही अनुभव हुआ था, क्योंकि भारत की राष्ट्रीय शक्ति ने एक वैदेशिक स्वामी की वैदेशिक नीतियों का समर्थन बिना इच्छा के तथा बे-मन से किया था, परन्तु बोस व उनके अनुयायियों की तरह द्वितीय विश्व-महायुद्ध में वैदेशिक स्वामी के शत्रु की क्रियाशील सहायता के लिये भारतीय प्रस्तुत नहीं हुए। नैपोलियन और हिटलर ने खेद के साथ यह खोज की थी कि विजय की लूट के माल में हारे हुए लोगों का विजेता की नीतियों के लिये समर्थन आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिये जो कुछ शक्ति व सहयोग हारे हुए लोगों से हिटलर को प्राप्त हुआ वह उन यूरोपीय लोगों के विशेष राष्ट्रीय हौसले के गुणों के अनुपात की विपरीत दिशा में था।

जिस देश में वर्ग-भेद की खाइयाँ बहुत गहरी हैं, वह देश अपने राष्ट्रीय हौसले को अनिश्चित अवस्था में पावेगा। उन्नीस सौ तीस के वर्षों के

उपरा त से फ्रास की नक्ति इसा कमजोरी का निकार रही है। हिटलर के शक्ति प्राप्त क नने क उपरा न फ्रासीसी सरकारा की एक के बाद एक तेजी स बन्लती हुई द्वन्मुल वदेनिक नीतियो ने जोकि अपनी नामर्थ्य को यथापूव स्थिति का सद्धा तिक जामा पहनानी रही थी पर जिसकी रक्षा की न तो उनमे क्षमता ही थी ग्रोर न इच्छा सपूण फ्रासीसी जनना के र ष्टीय हौसल का क्षीण कर डाला था। सन् 1938 39 क सकट जिसम हर बार युद्ध की नई धौंस के लिये सनिकीकरण ग्रोर फिर उसक बा" हिटलर की सफलताय विसनिकीकरण तथा सदा बढ़ना हुई अनिश्चितना मे भरी नानि न फ्रास के हासन की क्षति म गहरा यागदान दिया था जबकि हर तरफ आम क्षति थी फ्रासीसा समाज के दो ग्रग पूण रूप स वास्तविक विनान क निकार बन रह थ एक अार ता फ्रासीसी समाज क वह उच्च वग था जा काफी सख्य म कानून द्वारा अपना नक्तियाा के सीमित हा जान के कारण उक्ता कर न्स नारे का पुकार का अनुयायी बन गया था कि फ्रासीसी समाजवान्यि से नानाशाह नत्र हिटलर भला। भल ही हिटलर यूराप म फ्रास का स्थिति क लिय खतर था और उसके राष्ट्रीय जावन तक के लिय भी खनरा था य टुकडिया हिटलर क विरोध म सचालित फ्रासीसी वदेनिक नानि का पूण ह्रन्य स समथन व सहयाग प्रनान नहा कर रहा थी फ्रास की हार क उपरा त य हिटलर द्वारा फ्रास के दमन के प त म थी न कि उसकी स्वतन्त्रता क पक्ष म। दूसरी ग्रोर विभिन्न कारणा से प्ररित होकर साम्यवान्यियो न फ्रासीसी राष्ट्राय हासन की जडा का खोन्ना तब तक जारी रखा जब नक हिटलर केवल पू जावादी पश्चिमी राष्ट्रा स लन्ता रहा। जब हिटलर न सावियत रूस पर हमला कर न्यिा नब उ होने आक्रमणकारी के विरा ध म प्रथम पक्ति म लड कर फ्रासीसी राष्ट्रीय हौसल म नया जाविन का यागदान दिया

राष्ट्राय हौसल क गुण विनापकर गहर सकट के क्षणा म भविष्यवाणा के चाह जितन भी परे क्या न हा फिर भा कुछ स्पष्ट परिस्थितिया होती है जिनम राष्ट्राय हौसला ऊचा होन का अधिक सभावना हाना है तथा ग्रन्य भिन्न परिस्थितिया म अन्तगत राष्ट्रीय हौसल के म न हान का अधिक सभावना होनी है। हम साधारणत यह कह सकत है कि जितनी अधिक निकटता से एक जनता अपनी सरकार व कार्यों तथा लक्ष्या—विनापकर उसके वदेनिक मामला से सम्बन्धित लक्ष्या म—एकीकरण स्थापित कर लेता है उतना हा राष्ट्रीय हौसल क ऊचे हान की सभावना है और यदि एसा न हा ता ठीक उसक विपरीत हागा। ता फिर यह कवल उन लागा का आश्चयचकित कर सकता है जाकि गलती से आधुनिक सपूणवान्यि राज्या का ग्रराजकता व उन्नीसवा नताब्दी की

निरंकुशतावादी सरकारों की गाथावली में आवश्यक है कि नाज़ी जर्मनी का राष्ट्रीय हौसला प्रायः अन्त तक ऊँचा रहा था। वह शनैः शनैः गिरता गया था सन् 1918 की नवम्बर की तरह एकदम से ठप नहीं हो गया था। रूसी जनता के अतिरिक्त जापान ने युद्ध व शान्ति की कठिन से कठिन परिस्थितियों में स्थायी रूप से एक ऊँचे स्तर के राष्ट्रीय हौसले का प्रदर्शन किया है।

आधुनिक एकदलीय राज्यों में जनता व सरकार के मध्य की खाई को प्रजातान्त्रिक सफलता से जनमत के पूर्णतावादी नियन्त्रण द्वारा तथा जनता के हित में वास्तविक या अवास्तविक रूप से अनुमानित की गई नीतियों द्वारा पाट दिया है। यह खाई अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी में जनता व सरकार के बीच राजनैतिक सम्बन्धों में विशेषकर वर्तमान रहा करती थी। व्यवहारिक रूप में प्रायः सम्पूर्ण राष्ट्रीय शक्ति सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों से संचालित होती है और व्यक्ति का राज्य में समाविष्टिकरण एकदलीय पद्धति में तथा उसके प्रोत्साहन में धार्मिक प्रेरणा की भावना तक पहुँच जाता है। जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं यह समीकरण आधुनिक राजनीति की एक नवीन घटना है। क्योंकि जब तक कि एकदलीय सरकार सफल रहती है अथवा सफल प्रतीत होती है या कम से कम सफलता की आशा बनाए रख सकती है उस समय तक वे राष्ट्रीय शक्तियों के पक्ष में अपनी जनता का निर्धारित समर्थन प्राप्त करने की आशा कर सकती है।

जो बात एकदलवाद शक्ति और भय तथा राज्य की स्तुति के द्वारा हासिल करने में सफल होता है प्रजातन्त्र को चाहिए कि वह उसे जनता की स्वतन्त्र शक्तियों के समन्वय द्वारा एक सजग और उत्तरदायी सरकार के नेतृत्व में प्राप्त करे। जहाँ पर सरकार विचारों के इस समन्वय को वर्ग, वर्ण व धर्म के झगड़ों में गिर जाने से रोकने में असमर्थ हो जाती है जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय सम्प्रदाय के निरन्तर एक स्तर से शत्रुपूर्ण गुटों में बँट जाने की सम्भावना हो जाती है वहाँ राष्ट्रीय हौसला निम्न श्रेणी या ह्रास की अधिक आशंका हो सकती है। फ्रांस का द्वितीय विश्व महायुद्ध के पूर्व तथा मध्य का इतिहास इस बात की पुष्टि कर देता है। और इसी प्रकार से उन वैदेशिक नीतियों की शान्ति तथा युद्ध के समय की कमजोरियाँ, जिन पर सामन्तवादी कुलीनतन्त्रात्मक अथवा निरंकुश तानाशाह सरकार पर नियन्त्रण रखते हैं और जनता का शोषण करते हैं इस बात की पुष्टि कर देते हैं। ऐसे राष्ट्रों की सरकारें कभी भी अपनी वैदेशिक नीतियों का अनुसरण चाहे इसमें युद्ध की सम्भावना भी क्यों न हो किसी निश्चय की दृढ़ता से नहीं कर सकतीं, क्योंकि उन्हें अपनी ही जनता के समर्थन का कभी भी पूर्ण विश्वास नहीं

हो पाता। उन्हें सदा ही यह भय बना रहता है कि गृह-क्षेत्र में विरोधी तत्व अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र की कठिनाइयों तथा असफलताओं का फायदा उठा कर कहीं शासन का तख्ता ही न उलट दें। जहाँ पर भी सरकार जनता की प्रतिनिधि होती है और जन-इच्छा को कार्यान्वित करती है, वहाँ पर राष्ट्रीय हौसला जनता की प्रेरणाओं तथा सरकार के कार्यों के मध्य समीकरण का द्योतक होता है। जर्मन विजय के बावजूद सन् 1940 से द्वितीय विश्वमहायुद्ध के अन्त तक डेनमार्क का राष्ट्रीय हौसला उतनी ही पूर्ण स्पष्टता से इस कथन की पुष्टि करता है जितनी कि स्टालिनग्राड पर हार खा जाने की घड़ी तक जर्मन लोगों की राष्ट्रीय हौसले की गाथा प्रकट करती है।

अन्तिम विश्लेषण से यह विदित होता है कि राष्ट्रीय हौसले के दृष्टिकोण से किसी भी राष्ट्र की शक्ति उसकी सरकार में निहित रहती है। एक सरकार जो कि न केवल संसदीय बहुमत के आधार पर सचमुच में प्रतिनिधि सरकार है, वरन् जो कि जनता के सरल विश्वासों व महत्वाकांक्षाओं का अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों और लक्ष्यों में परिणत करने में सफल होती है, वह ही इन लक्ष्यों तथा नीतियों के समर्थन में राष्ट्रीय शक्तियों को एकत्रित करने में सबसे अधिक सफल हो सकती है। इस कहावत को कि स्वतंत्र लोग गुलामों से अधिक अच्छी लड़ाई लड़ते हैं यों भी विकसित किया जा सकता है कि जो राष्ट्र अच्छी तरह से शासित हैं, उनका राष्ट्रीय हौसला उन राष्ट्रों से अधिक होगा, जहाँ का शासन बुरा है। जिन तत्त्वों पर राष्ट्रीय शक्ति निर्भर रहती है, उनमें सरकार का गुण—शक्ति अथवा कमजोरी—विशिष्ट महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सरकार जो प्रभाव स्वाभाविक साधनों, औद्योगिक क्षमता तथा सैनिक तैयारी पर डालती रहती है, वह स्वयं महत्त्वपूर्ण होता है। राष्ट्रीय हौसले के गुणों के लिये सरकार के गुण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। जबकि राष्ट्रीय शक्ति पर प्रभाव डालने वाले अन्य तत्त्वों पर इसका प्रभाव वर्तमान रहता है, केवल यह तो अन्य अस्पष्ट तत्त्वों में से एक स्पष्ट तत्त्व है जिसका राष्ट्रीय हौसले पर प्रभाव तो होता ही है, साथ ही जो उसका प्रदर्शन भी करता है। ये सभी तत्त्व प्रायः मानवीय कार्यों द्वारा कार्यरूप में परिणत किये जा सकते हैं। बिना राष्ट्रीय हौसले के राष्ट्रीय शक्ति केवल एक भौतिक शक्ति के अलावा कुछ भी नहीं है अथवा वह एक ऐसी वस्तु है जो सम्भावना के क्षेत्र में लटकी हुई अपने पूर्ण अस्तित्व को प्राप्त करने का असफल प्रयास कर रही है। इसी कारण राष्ट्रीय हौसले को बढ़ाने का एकमात्र साधन सरकार के गुणों को बढ़ाना है। और सब तो केवल आकस्मिक घटनाओं पर अवलम्बित है।

प्राय वुद्धि तथा आत्मा से रहित गोलियाथ 'डेविड' द्वारा मारा गया है जिस के पास मस्तिष्क और आत्मा दोनों ही थे। उत्तम श्रेणी की कूटनीति वैदेशिक नीति के लक्ष्य तथा साधन का राष्ट्रीय शक्ति के प्राप्य साधनों से सामंजस्य स्थापित कर देगी। वह राष्ट्रीय शक्ति के गुप्त स्रोतों की खोज कर लेगी और उन्हें पूर्ण स्थायी रूप से राजनीतिक सत्यताओं में परिणत कर देगी। राष्ट्रीय प्रयत्न को दिशा प्रदान करके वह अपने द्वारा अन्य तत्वों जैसे—औद्योगिक सम्भावनायें सैनिक तैयारी राष्ट्रीय चरित्र तथा राष्ट्रीय हौसला का—प्रभाव बढ़ा देगी। यदि नीति के लक्ष्य तथा साधन स्पष्ट रूप से विन्ति हो तो राष्ट्रीय शक्ति अपनी तमाम सम्भावनाओं का पूरा सम्प्रयोग करके उच्चतम शिखर पर विशेषकर युद्ध के समय पहुँच सकता है।

दोनों विश्व महायुद्धों के मध्य संयुक्त राज्य उस राष्ट्र का उत्तम उदाहरण प्रदान करता है जो कि सम्भावित रूप से शक्तिशाली होने के बावजूद विश्व के मामलों में हलकी भूमिका अदा करता है क्योंकि उसकी वैदेशिक नीति उसकी सम्पूर्ण सम्भावित शक्ति के पूर्ण प्रभाव को अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर केन्द्रित करने से इन्कार कर देती है जहाँ तक अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर संयुक्त राज्य की शक्ति का प्रश्न है उसे उसकी भौगोलिक स्थिति का लाभ प्राकृतिक साधन औद्योगिक सम्भावनायें जनसंख्या व गुण इत्यादि तत्व अस्तित्वहीन प्रतीत होते थे क्योंकि अमरीकन कूटनीति ऐसे संचालित होती थी मानो कि इन सब तत्वों का अस्तित्व हो न हो।

आधुनिक वर्षों में अमरीकन वैदेशिक नीति में जो गम्भीर परिवर्तन हुए हैं उनसे इस प्रश्न का निश्चित उत्तर ज्ञात नहीं होता कि क्या और किस हद तक अमरीकन कूटनीति राष्ट्रीय शक्ति की सम्भावनाओं को राजनीतिक यथार्थ में परिणत करने की इच्छा व क्षमता रखती है। अपने एक लेख में जिसका शीर्षक अभिप्रायपूर्ण साम्राज्यवाद अथवा उदासीनता रखा गया था लन्दन इकनामिस्ट ने हमारे समय के इसी प्रश्न को प्रस्तुत किया है। इन तमाम तत्वों का उल्लेख करने के बाद जो अपने आप में संयुक्त राज्य को संसार का सबसे शक्तिशाली राष्ट्र बना सकते हैं इकनामिस्ट कहता है —

परन्तु भले हो ये चीजें आवश्यक तत्व हों फिर भी ये वह सब कुछ नहीं हैं जिनसे एक महान् शक्ति का निर्माण होता है। राष्ट्रीय नीतियों के समर्थन में आर्थिक साधनों का उपभोग करने की इच्छा व क्षमता दोनों ही होनी चाहिये। सोवियत रूस के शासकों के हाथ में कम से कम एक युग तक तो ऐसे पत्ते (cards) नहीं आ सकते जैसे कि आज अमरीका के हाथ में हैं। परन्तु उनकी व्यवस्था की शक्ति के केन्द्रीकरण की प्रकृति तथा नीति स्वरूप गुप्त निरीक्षण की व्यवस्था

इन्हें एक सफल खेल खेलने की प्रेरणा प्रदान करती है। अमरीकनों के हाथ के सारे पत्ते तुरुप के हैं, पर क्या उनमें से एक पत्ता भी चला जायगा? और किस लक्ष्य के लिए?'

इस बात का उच्चतम उदाहरण कि एक राष्ट्र अन्य पक्षों में बुरी तरह से पिछड़ गया था परन्तु केवल देदीप्यमान कूटनीति के बल पर शक्ति के उच्चतम शिखर पर पहुँच गया, सन् 1890 से 1914 के मध्य का फ्रांस है। सन् 1870 में जर्मनी के द्वारा मान म्लान के उपरान्त फ्रांस एक द्वितीय श्रेणी की शक्ति रह गया था और बिस्मार्क की कूटनीति ने उसे पृथक रख कर बराबर उसी स्थिति में रहने दिया। सन् 1890 में बिस्मार्क के हटाये जाने के उपरान्त जर्मनी की वैदेशिक नीति रूस से दूर होने लगी और ग्रेट ब्रिटेन की शंकाओं के समाधान के लिए अब इच्छुक नहीं रही। जर्मन वैदेशिक नीति की इन त्रुटियों का फ्रांसीसी कूटनीति ने पूरा लाभ उठाया। सन् 1894 में फ्रांस ने रूस से सन् 1891 के राजनीतिक समझौते में सैनिक सन्धि को जोड़ दिया और सन् 1904 तथा 1912 में उसने ग्रेट ब्रिटेन से औपचारिक समझौते किये। सन् 1914 में जबकि फ्रांस ने समृद्धिशाली मित्र राष्ट्रों को अपना मददगार पाया तब जर्मनी के एक मित्र इटली ने तो उसे धोखा ही दे डाला तथा उसके अन्य मित्रों आस्ट्रिया हंगरी, बलगेरिया, टर्की की कमजोरियाँ उसके ऊपर भार बन गईं। यह कार्य फ्रांस के देदीप्यमान कूटनीतिज्ञों की उस कतार का परिणाम था जैसे कैम्बान जैरे। इटली में राजदूत थे अथवा जूल्स कैम्बॉन जो जर्मनी में राजदूत थे या पॉल कैम्बॉन जो ग्रेट ब्रिटेन में राजदूत थे या फिर मौरिस पलिओलाग जो कि रूस में राजदूत थे।

दोनों विश्व महायुद्धों के मध्य अपनी मात्रा की तुलना में कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में जो रूमानिया ने प्रस्तुत की थी उसका मुख्य श्रेय एक व्यक्ति अर्थात् वैदेशिक मन्त्री टिटुलेस्कु का था। इसी प्रकार से इतने छोटे तथा अनिश्चित स्थिति में होने के बावजूद उन्नीसवीं शताब्दी में बेल्जियम ने जो शक्ति हासिल कर ली थी वह उसके दो तीक्ष्ण बुद्धि वाले तथा कुशल राजाओं लिओपोल्ड प्रथम व लिओपोल्ड द्वितीय के व्यक्तित्व के कारण थी। सत्रहवीं शताब्दी में स्पेन की कूटनीति ने तथा उन्नीसवीं शताब्दी में तुर्किस्तान की कूटनीति ने उनके राष्ट्रीय क्षय की खाई को कुछ समय के लिए पाट रखा था। ब्रिटिश शक्ति के उतार चढ़ाव ब्रिटिश कूटनीति की उत्तमता के परिवर्तनों से जुड़े रहे हैं। कार्डिनल वाल्से, कैसलरे तथा कैनिंग ब्रिटिश कूटनीति के उच्चतम शिखर का प्रदर्शन करते हैं जबकि लार्ड नार्थ तथा नेवाईल चैम्बरलेन दोनों ह्रास के द्योतक हैं। बिना रिचैलु मजारिन अथवा टलेरा की कूटनीति के फ्रांस की शक्ति

---

2 Economist, May 24 1947, P 78> (अ , म प्रकाशित)

क्या होती ? और बिना बिस्मार्क के जर्मनी की शक्ति क्या होती ? बिना कैवूर के इटली की शक्ति क्या होती ? और नवीन अमरीकन गणतंत्र अपनी शक्ति के लिए फ्रैंकलिन जफरसन मडीसन जय तथा एडम्स के प्रति क्या ऋणी नहीं है, जो कि उसके राजदूत व राज्य सचिव थे ?

राष्ट्रों को अपनी कूटनीति पर उन विभिन्न तत्वों के उत्प्रेरक के रूप में अवलम्बित रहना चाहिये क्योंकि राष्ट्र की शक्ति के अंग होते हैं। दूसरे शब्दों में, जिस प्रकार से भी ये विभिन्न तत्व कूटनीति द्वारा अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर हावी कराये जाते हैं वही उस क्षेत्र में राष्ट्रीय शक्ति का रूप होता है। इसलिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वैदेशिक कूटनीतिक संगठन सदा उत्तम अवस्था में रहे। और स्थायी उत्तमता परम्पराओं व संस्थाओं पर अवलम्बित होकर ही सबसे अच्छी प्रकार से हासिल की जा सकती है न कि कभी कभी अति कुशल व्यक्तियों के सम्मुख आ जाने से। यह परम्परा के कारण ही था कि ग्रेट ब्रिटेन हेनरी अष्टम से लेकर प्रथम विश्व महायुद्ध तक शक्ति के आनुपातिक स्थायित्व का उपभोग करता रहा। वहां के राजाओं तथा मंत्रियों का चाहे जो कुछ उमगें क्या न रही हों, वहां के शासक वर्ग की परम्परा तथा आधुनिक युग में वहां की परराष्ट्र वैदेशिक कार्यकारिणी ने राष्ट्रीय शक्ति के प्राथमिक साधनों को वास्तविक रूप प्रदान करने की क्षमता प्रदर्शित की है यद्यपि इसमें भी कुछ व्यक्ति विशेष रूप से इस परंपरा से पृथक प्रदर्शित होते रहे हैं। यह कोई इतिहास की आकस्मिक घटना नहीं है कि जिस समय स्टेनले बाल्डीवन तथा नेवाइल चैम्बरलेन की कूटनीति के फलस्वरूप सदियों में जाकर ब्रिटिश शक्ति निम्नतम बिन्दु तक गिर चुकी थी उस समय ब्रिटिश वैदेशिक नीति पर वहां की वैदेशिक कार्यकारिणी का प्रभाव न्यूनतम् था। और जो दो व्यक्ति इसके लिये उत्तरदायी थे वे कौटुम्बिक परम्परा के आधार पर औद्योगिक वर्ग के सदस्य होने के नाते उस कुलीनतन्त्रात्मक वर्ग के नवीन सदस्य थे जिसने सदियों से ग्रेट ब्रिटेन पर शासन किया था। विन्सटन चर्चिल के रूप में जोकि शासक वर्ग के वंशज थे ग्रेट ब्रिटेन की राष्ट्रीय शक्ति पर कुलीनतन्त्रात्मक परम्पराओं का प्रभाव पुनः स्थापित हो गया था। आज ब्रिटिश वैदेशिक कार्यकारिणी की संस्थात्मक श्रेष्ठता उस चतुरता से प्रदर्शित हो रही है, जिसके फलस्वरूप ग्रेटब्रिटेन को भारत छोड़ना पड़ा और उसने अपने विश्वव्यापी उत्तरदायित्वों को अपनी घटी हुई राष्ट्रीय शक्ति के साधनों के अनुसार काट छांट कर के दोनों में समन्वय स्थापित कर दिया।

दूसरी ओर जर्मनी की शक्ति दो व्यक्तियों की दिव्य विलक्षण प्रतिभा के कारण उदित हुई थी। क्योंकि बिस्मार्क के व्यक्तित्व व नीतियों के फलस्वरूप उन परम्पराओं का व संस्थाओं का विकसित होना असंभव हो गया, जिनके द्वारा

जर्मन वैदेशिक नीति का कौशलपूर्ण संचालन स्थायी रह सका। सन् 1890 में उसके राजनीतिक मंच से हट जाने के उपरान्त जर्मन कूटनीति के गुणों में गम्भीर तथा स्थायी गिरावट आ गयी। इसके फलस्वरूप जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की भांति का अन्त उस सैनिक परिस्थिति में हुआ जिसका सामना उसे प्रथम विश्व-महायुद्ध के दौरान करना पड़ा। हिटलर के मामले में जर्मनी की कूटनीति की दृढ़ता व कमजोरी स्वयं फ्यूहरर के मस्तिष्क में निहित थी। सन 1933 से 1940 तक की जर्मन कूटनीति की विजय एक व्यक्ति के मस्तिष्क की विजय का परिणाम थी और उस मस्तिष्क के क्षय के कारण ही नाजी शासन के अन्तिम वर्षों में उस विध्वंसकारी दुर्घटनाओं को झेलना पड़ा था। द्वितीय विश्व महायुद्ध के अन्तिम महीनों में जर्मनी की आत्म हत्या जबकि सैनिक विरोध बेकार का संकेत रह गया था, और जिसके कारण उसे लाखों की जान व शहरों की विध्वंसता की कीमत चुकानी पड़ी, और लड़ाई के अन्तिम अध्याय में स्वयं हिटलर की आत्महत्या दूसरे शब्दों में जर्मनी की राष्ट्रीय शक्ति व उसके नेता का विनाश दोनों ही काम एक व्यक्ति के काम थे। वह व्यक्ति उन परम्पराओं तथा संस्थात्मक बचावों से विमुक्त था जिनके द्वारा स्वस्थ राजनीतिक व्यवस्थायें कूटनीति के गुणों ■ स्थायित्व के तत्व प्रदान करती हैं और जिनके फलस्वरूप ही वे विलक्षण गुणों वाले व्यक्ति की दैदीप्यमान सफलताओं का तथा साथ ही साथ शासन लोगों की मूर्खताओं को भी रोके रहती है।

जहाँ तक वैदेशिक मामलों के संचालन के गुणों के स्थायित्व का प्रश्न है वह संयुक्त राज्य ब्रिटिश कूटनीति के स्थायी उच्चतम गुणों तथा जर्मनी की वैदेशिक नीति की परम्परागत निम्नता के बीच में जिसमें कभी कभी ही अस्थायी समय के लिये विजय प्रकट हुई दृष्टिगोचर होता है। भौतिक तथा मानवीय साधनों की सर्वोच्चता के कारण पश्चिमी गोलार्ध में अमरीकन कूटनीति अपनी वैदेशिक नीति के गुणों-अवगुणों के बावजूद निश्चय ही सफल होने वाली थी। यही बात संयुक्त राज्य के शेष संसार से सम्बन्ध के विषय में निम्न स्तर पर भी सही उतरती है। भौतिक उच्चता के रूप में अमरीकन शक्ति रूपी दण्ड (Big stick) अपनी स्वयं की भाषा बोलता रहा है चाहे अमरीकन कूटनीति सफल अथवा कठोर भाषा का प्रयोग करती रही हो अथवा वह अस्पष्ट या सुलझी भाषा में किसी विशेष लक्ष्य के अन्तर्गत अथवा लक्ष्यहीन रूप से व्यक्त हुई हो। अमरीकन कूटनीति की प्रारम्भिक दशाब्दियों के दैदीप्यमान गुणों के बाद सामान्यतया का यदि उदासीनता का नहीं तो, लम्बा युग चलता रहा जिसके दौरान केवल दो बार गहरे संकट में दो महान् व्यक्तित्वों-वुडोविलसन तथा फ्रैंकलिन डी रूजवेल्ट—के प्रभाव के फलस्वरूप उच्चतम सफलतायें प्राप्त हुई थी। इस प्रकार अमरीकन कूटनीति में

ब्रिटिश मस्थात्मक गुणों की विलक्षणताओं की कमी थी, परन्तु इसके बावजूद उसके पास भौतिक परिस्थितियों के वे लाभ वर्तमान थे जिनका क्षय पिछड़ा हुआ राज्य सचालन भी नहीं कर सकता था और फिर वह उस राष्ट्रीय परम्परा पर अवलम्बित हो सका था जिसका निर्माण वाशिंगटन के विदाई के भाषण में और विशेषकर मनरो सिद्धान्त में हुआ था। इस परम्परा का पथ-प्रदर्शन एक निम्न कूटनीति की विध्वंसकारी त्रुटियों से बचाये रहेगा और एक घटिया कूटनीति को भी वह बाह्य रूप प्रदान करता रहेगा, जोकि उसके वास्तविक चरित्र में भिन्न हो।

शासन के गुण

सर्वोच्च रूप से सोची गई तथा पूर्ण कौशल से सचालित वैदेशिक नीति, जिसके पक्ष में भौतिक तथा मानवीय साधनों की बहुलता भी हो, अब साथ ही साथ अच्छे शासन पर अवलम्बित नहीं होती, तो शून्य में परिणत हो जाती है। राष्ट्रीय शक्ति के स्रोत के रूप में अच्छे शासन के तीन अर्थ होते हैं। सर्वप्रथम तो राष्ट्रीय शक्ति में योग देने वाले भौतिक तथा मानवीय तत्वों का सतुलन। दूसरे, इन तत्वों का वैदेशिक नीति के सचालन में सतुलन, और अन्त में वैदेशिक नीतियों के समर्थन में लोक सम्मति की प्राप्ति।

नीति तथा साधनों के संतुलन की समस्या

तो फिर अच्छे शासन का दो विभिन्न बौद्धिक कार्यों से प्रारंभ करना चाहिये। सर्वप्रथम तो उसे वैदेशिक नीति के लक्ष्यों तथा साधनों को इस दृष्टिकोण से चुनना चाहिये कि वह इन लक्ष्यों तथा साधनों के समर्थन में प्राप्त शक्ति के आधार पर सफलता की अधिक से अधिक सभावना प्राप्त कर सके। एक राष्ट्र यदि अपनी दृष्टि अति निम्न रखता है और उन वैदेशिक नीतियों को छोड़ देता है जो कि उसकी शक्ति की सामर्थ्य के अन्तर्गत है, तो वह राष्ट्रों के मामलों में अपनी सही भूमिका अदा करने में असफल हो जाता है। दोनों विश्व-महायुद्धों के मध्य के समय में सयुक्त राज्य इसी भूल का शिकार था। एक राष्ट्र अपनी दृष्टि अति उच्च भी कर सकता है, जिसके फलस्वरूप वह उन नीतियों का अनुसरण सफलतापूर्वक अपनी प्राप्त शक्ति के आधार पर करने में विफल हो जाता है। यह गलती सयुक्त राज्य ने सन् 1919 के शान्ति-वार्ता के समय की थी। जैसाकि लार्ड्ड जार्ज ने कहा था "ऐसा प्रतीत होता है कि अमरीकियों ने दसों निर्देशों (Ten Commandments) तथा 'सरमन औन दी माऊन्ट' का पूर्ण उत्तरदायित्व ग्रहण कर रखा है, फिर भी जब व्यावहारिक प्रश्नों में सहायता तथा उत्तरदायित्व का प्रश्न उठा तो वे बिल्कुल पीछे हट गये। एक राष्ट्र महान् शक्ति की भूमिका बिना उसकी क्षमता रखे निभाने की महत्वाकांक्षा रख सकता है और इस प्रयास

म सवनाश का भागी बन सकता है जैसा कि दोनो विश्व-महायुद्धो व मध्य पोर्लैण्ड के साथ हुआ था। या फिर महान शक्ति होने के कारण उसे असीमित विजय की नीति का अनुसरण करे जोकि उसकी शक्ति की क्षमता के बाहर हो तो वह असफल विश्व-विजेता बन जायगा। सिकन्दर तथा हिटलर इस बात के उदाहरण है।

इस प्रकार प्राप्त राष्टीय शक्ति वैदेशिक नीति की सीमाय निर्धारित करती है। इस नियम म केवल एक ही अपवाद है और वह है जबकि राष्ट्र का जीवन ही दाव पर हो तब राष्टीय जीवन की नीति राष्ट्रीय शक्ति के विवकपूर्ण म य विचारो के ऊपर हावी हो जाती है और सकटकाल शक्ति के विचार तथा नीति के स्वाभाविक सम्बन्धो को पलट देता है तब तक राष्ट अपने समस्त अन्य हितो का राष्टीय जीवन की रक्षा के दाव पर लगा देता है और ऐसे राष्ट्रीय प्रयत्न भी करता है जोकि साधारण समय म विवक के आधार पर उसके द्वारा सोचे नही जा सकते थे। यही ग्रेट ब्रिटेन ने सन् 1840 41 के शीतकाल म किया था।

साधनो के सतुलन की समस्या

जब एक बार कोई राष्ट्र की वैदेशिक नीति तथा राष्टीय शक्ति मे सतुलन स्थापित करले तो उस राष्ट्र की शक्ति के विभिन्न तत्वा म सतुलन स्थापित करना होगा। एक राष्ट भले ही वह प्राकृतिक साधनो म अति सम्पन हो या उसक पास बहुत बडी आबादी हो या उसने एक बहुत बडे औद्योगिक तथा सैनिक सगठन का निर्माण कर रखा हो अपन आप ही अधिकतम राष्टीय शक्ति प्राप्त नही कर लेता। वह उस उच्चतम सार तक उसी समय पहुच सकता है जबकि उसके पास सही अनुपात म शक्ति के साधन गुण तथा मात्रा दानो म पर्याप्त मात्रा मे वतमान हो। जिस समय ग्रेट ब्रिटेन अपनी शक्ति के शिखर पर था उसके पास राष्ट्रीय शक्ति के अनेक तत्त्वो की कमी थी जैसे प्राकृतिक साधन जन संख्या । मात्रा तथा स्थल सेना फिर भी उसने राष्ट्रीय शक्ति के एक तत्व नौसेना को इतना उत्तम बना दिया था जिसके द्वारा उसके सामुद्रिक विकास की नीति पूर्ण सफलता से सचालित हो सकी थी और जिसके कारण ही विदेश से उन कच्च माला तथा खाद्य पदार्थो का आना जारी रह सका जिसके बिना वह जीवित ही नही रह सकता था। इस नीति के तथा प्राप्त प्राकृतिक साधनो के सदभ म तथा अपनी भौगोलिक स्थिति के सदभ म एक बडी आबादी तथा स्थायी फौज ग्रेटब्रिटेन के लिये पूजी होने के स्थान पर असुविधा ही बन जाते। दूसरी ओर यदि वह महाद्वीपीय विस्तार की नीति अपनाता जैसाकि मध्यकालीन युग मे उसने किया ही था तो उसका इन दोनो तत्त्वा की सदा आवश्यकता रहती।

एक बडी आबादी शक्ति का स्रोत होने के स्थान पर कमजोरी का कारण बन सकती है जैसाकि भारत के बारे में हमने स्पष्ट किया है। सपूर्णवादी निरकुशतापूर्ण साधना द्वारा निर्मित जल्दी जल्दी बनाय गये बडे औद्योगिक तथा सैनिक सगठन राष्ट्रीय शक्ति के कुछ तत्त्व तो अवश्य पैदा कर देते हैं पर उसी कार्य के मध्य में राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्त्व विध्वस हो जाते हैं जैसे राष्ट्रीय हौसला तथा जनता की शारीरिक लचक की क्षमता इत्यादि। पूर्वी यूरोप के रूसी उपनिवेशो की अवस्था इसका स्पष्टीकरण कर देती है। प्राप्त औद्योगिक क्षमता से अधिक बडे सैनिक सगठन की योजना बनाना वास्तव मे राष्ट्रीय शक्ति के लिये नही वरन् राष्ट्रीय कमजोरी के लिये योजना बनाना है क्योंकि ऐसा उसी समय किया जा सकता है जबकि कीमतें तेजी से बढती चली जायें आर्थिक सकट प्रत्यक्ष हो और इनके फलस्वरूप राष्ट्रीय हौसला पस्त हो जाय। उस राष्ट्रीय सकट में जबकि राष्ट्र का जीवन ही दाँव पर हो तो अमरीकन सरकार को अपनी जनता का मक्खन के बजाय बन्दूके देनी चाहिये। परन्तु यदि ऐसे सकट का प्रसग नहीं हो तो सैनिक तथा नागरिक आवश्यकताओ के बीच नागरिक उपभोग के लिये आर्थिक उत्पादन का पर्याप्त हिस्सा देकर उसे सही सतुलन स्थापित करना चाहिए। अन्य सरकार जैसे चीनी तथा कोरियन सरकार नागरिक हितो को चाहे ना अपने दृष्टिकोण मे न रखें। दूसरे शब्दो मे एक सरकार राष्ट्रीय शक्ति का निर्माण करते समय उस राष्ट्र के राष्ट्रीय चरित्र के प्रश्न की ओर उदासीन नही रह सकती जिसके ऊपर वह शासन करती है। एक राष्ट्र उन्हीं कठिनाइयो के विरुद्ध क्रान्ति कर बठेगा जिनको दूसरा राष्ट्र सतोषपूर्वक झेलता चला जायगा। और कभी-कभी एक राष्ट्र अपने हितो तथा जीवन की रक्षा में स्वेच्छापूर्वक झेले गये त्यागो से जगत को चकित कर देगा।

जनता के समर्थन की समस्या

यदि एक आधुनिक सरकार, विशेषकर प्रजातान्त्रिक सरकार, ने ऊपर वर्णन किये गये दो सतुलनो में सफलता प्राप्त कर ली है तो उसने वास्तव में अपने दायित्व का केवल एक अश पूर्ण किया है। एक और कार्य उसके सम्मुख है जोकि शायद सबसे कठिन है। उसे अपनी वैदेशिक नीतियो तथा उनके समर्थन मे राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्वो को जुटाने वाली गृहनीतियो के समर्थन में अपनी जनता की सम्मति प्राप्त करनी चाहिये। यह कार्य इस कारण कठिन है क्योंकि जिन परिस्थितियो के अन्तर्गत वैदेशिक नीति के पक्ष में जन समर्थन प्राप्त किया जा सकता है वे आवश्यकतावश वे परिस्थितियाँ नहीं होतीं, जिनके अतर्गत

एक वैदेशिक नीति सफलतापूर्वक सचालित की जा सकती है। इस सम्बन्ध में संयुक्तराज्य के विशेष सदर्भ में टेकोवेली ने कहा था -

"वैदेशिक राजनीति शायद ही कभी उन गुणों की माँग करती है, जोकि प्रजातत्र के विशेष गुण हैं। इसके ठीक विपरीत वैदेशिक नीति उन गुणों का पूर्ण रूप से प्रयोग चाहती है जिन की प्रजातन्त्र के पास कमी है। राज्य के आन्तरिक साधनों की वृद्धि में प्रजातत्र सहायक होता है। वह धन तथा सुविधाओं को विस्तृत करता है जनता की एकता की भावना को प्रोत्साहन देता है तथा समाज के हर वर्ग के हृदय में कानून के प्रति श्रद्धा का सचार करता है। ये सब व लाभ हैं, जिनका एक राष्ट्र की जनता के अन्य राष्ट्रों के लोगों से सम्बन्धों पर केवल अप्रत्यक्ष प्रभाव होता है। परन्तु किसी महत्त्वपूर्ण कार्य-भार के सूक्ष्म ब्योरों के सचालन को एक प्रजातन्त्र सरकार बहुत कठिनता से व्यवस्थित कर पाती है। और इसी प्रकार प्रजातन्त्र सरकार किसी विशेष प्रयोजन मे जुट कर उसे कार्यान्वित नहीं कर पाती तथा उस कार्य को व्यावहारिक रूप देने मे सफल नहीं हो पाती। वह अपने हथकडो को गुप्त नहीं रख सकती और न ही उनके परिणामों की सन्तोषपूर्वक प्रतीक्षा ही कर सकती है।

प्रजातत्र म यह जो प्रवृत्ति निहित है कि वह दूरदर्शिता की अपेक्षा क्षणिक आवेग की ओर अधिक जल्दी आकृष्ट होता है, परिपक्व परियोजना को तिरस्कृत कर क्षणिक उन्माद के आनन्द को अधिक चाहता है, वह फ्रास की क्रान्ति की प्रतिक्रिया मे अमरीकन प्रजातत्र मे स्पष्ट विदित होती है। यह उस समय भी सर्वसाधारण बुद्धि वाले तक को स्पष्ट था जैसाकि आज भी है कि इस प्रतिद्वंद्विता म जो कि जल्दी ही तमाम यूरोप को खून की नदियों मे डुबो देगी, अमरीकनो को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। परन्तु अमरीकन जनता ने अपनी सहानुभूतियो को फ्रासीसियो के पक्ष मे इतनी उग्रता से व्यक्त किया कि केवल जार्ज वाशिंगटन की कठोरता तथा उसकी अत्यन्त लोकप्रियता ही उन्हें इगलैंड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने से रोक सकी थी। इस पर भी अपने सह नागरिको के उदार परन्तु अदूरदर्शी उन्मादो को सतुलित विवक द्वारा जब उस महान् पुरुष ने दबाया तो उसको प्राय उस एकाकी तृप्ति अर्थात् अपने देश के प्यार से ही हाथ धोने की नौबत आ गई थी - जिसका कि वह न्यायोचित दावा कर सकता था। बहुमत ने उसकी नीति को धिक्कारा परन्तु बाद मे सपूर्ण राष्ट्र ने उसका समर्थन किया[1]।

---

1 Alexis de Tocquevlle, Democracy in America (New York. Alfred A Knops, 1945) Vol I pp 234-35

सफल वैदेशिक नीति के संचालन के लिए जैसी विचारधारा की आवश्यकता होती है वह उन विचारों में कभी-कभी पूर्णतः विपरीत हो सकती है जोकि आम जनता अथवा उनके प्रतिनिधियों को प्रेरित करते हैं। राज्य के कर्णधारों के मस्तिष्क के विशेष गुण सर्वदा ही जनता की प्रतिक्रियाओं को अपने पक्ष में प्राप्त करने में सफल नहीं होते। राजनीतिज्ञ को शक्तियों के मध्य शक्ति के संदर्भ में राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से सोचना चाहिये। जनता का मस्तिष्क राजनीतिक की विचारधाराओं की गूढ़मनाओं की अनभिज्ञता के परिणाम-स्वरूप प्रायः नैतिक अथवा कानूनी शब्दावली में पूर्ण अच्छे अथवा पूर्ण बुरे के मध्य विचरण करता रहता है। राजनीतिज्ञ को दूरदर्शी दृष्टिकोण रखना पड़ता है और चक्करदार मार्ग से शनैः शनैः चलना पड़ता है। बड़े लाभों के लिए छोटे दाम चुकाने पड़ते हैं। समय के साथ चलना होता है और समझौता करके अपने अवसर की बाट जोहनी पड़ती है। जबकि आम जनता परिणाम शीघ्र चाहती है। वह कल के वास्तविक लाभ को आज के दिखावे के लाभ पर बलिदान कर देती है।

अच्छी वैदेशिक नीति तथा उस बुरी नीति के मध्य से उपजी दुविधा में जोकि जनमत की माँग होती है किसी सरकार को दो अज्ञात गुप्त संकटों से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। उसको जनमत की वेदी पर उस अच्छी नीति की बली चढ़ा देने के मोह का विरोध करना चाहिये, जिसको कि वह वास्तव में अच्छी नीति समझती हो। ऐसा करने में वह राष्ट्र के स्थायी हितों को सामयिक राजनीतिक लाभों से अदला बदला कर लेगी अर्थात् अस्थायी लाभों के स्थान पर स्थायी लाभ प्राप्त करेगी। उसको एक अच्छी वैदेशिक नीति की आवश्यकताओं तथा जनमत के रुझानों के मध्य खाई को बढ़ने से भी रोकने का प्रयत्न करना चाहिए। इस खाई को वह उस समय बढ़ा देती है जब जनमत के रुझानों से उचित समझौता करने के बजाय वह उस वैदेशिक नीति के सूक्ष्मतम ब्योरों पर अटी रहती है और उस नीति के आग्रहपूर्ण अनुसरण के समर्थन में जनमत का परित्याग कर देती है।

अपनी वैदेशिक तथा गृह-नीतियों, दोनों ही में किसी भी सरकार को तीन आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए। उसको इस तथ्य को मान्यता देनी चाहिये कि एक अच्छी वैदेशिक नीति की आवश्यकताओं तथा जनमत के रुझानों के मध्य का विरोध स्वाभाविक है और वह कम किया जा सकता है, परन्तु इस खाई को गृह-विरोधी तत्त्वों को छूट देकर पाटा नहीं जा सकता। दूसरे, शासन को यह समझना चाहिए कि वह जनमत का नेता है न कि उसका दास। उसे यह भी समझना होगा कि जनमत कोई ऐसी स्थिर वस्तु

नहीं है, जिसे जनमत-निग्रह-साधनों द्वारा खोजा तथा वर्गीकृत किया जा सकता है, जैसाकि पेड़ पौधों को एक वनस्पति विज्ञान-वेत्ता करता है। इसके विपरीत वह एक गतिमान, परिवर्तनशील तत्व है, जोकि निरन्तर उत्पन्न होता चलता है और जिसे पुनः जन्म देने का दायित्व एक विज्ञ नेतृत्व का है। यह किसी सरकार का ऐतिहासिक उद्देश्य है कि वह इस नेतृत्व के लिए अपने आपको आगे लावे अन्यथा दुर्जनों के नेता इस कार्य को हथिया लेंगे¹। तीसरे उसे अपनी वैदेशिक नीति में उन दोनों तथ्यों में पृथक्ता स्थापित करनी चाहिए, जो एक ओर तो ऐच्छिक और दूसरी ओर अनिवार्य हों। ऐच्छिक तथ्यों पर तो उसे जनमत से समझौता करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिये परन्तु अच्छाई के पक्ष में अपनी वैदेशिक नीति के समर्थन में उसे अपने स्वयं के भाग्य तक को दांव पर रख कर उसके लिए लड़ना चाहिए जिसे कि एक अच्छी वैदेशिक नीति में वह अनिवार्य तत्त्व समझती हो।

एक सरकार को वैदेशिक नीति तथा उसके समर्थन में आवश्यक गृह राजनीति की सही समझ हो सकती है परन्तु यदि वह इन नीतियों के पक्ष में जनमत प्राप्त करने में असमर्थ हो जाती है तो उसका श्रम बेकार हो जायगा और राष्ट्रीय शक्ति के अन्य तत्त्व जिन पर एक राष्ट्र गर्व कर सकता है, पूरी तरह प्रयोग में नहीं लाये जा पायेंगे। इस सत्य को आधुनिक प्रजातांत्रिक सरकारें पुष्ट करती है, संयुक्त राज्य की सरकार भी इसकी पुष्टि करती है²।

गृह-शासन तथा वैदेशिक नीति

फिर भी किसी एक सरकार के लिए यही पर्याप्त नहीं है कि अपनी वैदेशिक नीतियों के समर्थन में राष्ट्रीय जनमत का सहयोग प्राप्त कर ले। उसे अन्य देशों

1 नेवाइल चेम्बरलेन के बारे में अपने संस्मरणों में लार्ड नारविच यह कहते हैं, "मुझे प्रधान मंत्री की दो मुख्य भूलें प्रतीत होती हैं वह उसे ही जनमत मान लेते हैं जो 'टाइम्स' कहता है कि यह जनमत है और वे उसे दक्षिण पंथियों की राय मान लेते हैं जो कि चीफ व्हिप कहता है कि यह है'। इस प्रकार वे सरकार तथा जनमत के सम्बन्ध की आम भूल की ओर संकेत कर रहे हैं। लार्ड नारविच मिस्टर डफ कूपर के रूप में दोनों विश्व-महायुद्धों के मध्य प्रमुख कैबिनेट स्थानों तथा अन्य सरकारी पदों को सुशोभित कर चुके थे। (Old Men Forget, Londen Hart Davis, 1953) निष्क्रिय रूप से यह मान लेना कि जनमत वह है जोकि अमुक कहता है, अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण बात है। दोनों विश्व-महायुद्धों के मध्य इंगलैंड में ही यह स्थिति नहीं थी, वरन् आज अनेक देशों में भी यही पाया जा रहा है जो एक अच्छी वैदेशिक नीति के मार्ग में आज मुख्य रोग बन गया है।

2. हंस जे मोरगनथाऊ ने अपनी पुस्तक "आस्पेक्ट आफ अमरीकन गवर्नमेंट" के "वैदेशिक नीति के संचालन" अध्याय में इस विषय पर विस्तृत विवेचन किया है।

के जनमन का अपनी गृह तथा वैदेशिक नीतियों के पक्ष में सहयोग प्राप्त करना चाहिये। यह आवश्यकता आधुनिक युग की वैदेशिक नीति के चरित्र के परिवर्तनों की द्योतक है। जैसाकि आगे सविस्तार दिग्दर्शित किया जायेगा हमारे समय में वैदेशिक नीति परम्परागत कूटनीति तथा सैनिक शक्ति रूपी अस्त्रों द्वारा ही सचालित नहीं की जा रही है, वरन् उसका सचालन एक नवीन तथा विलक्षण अस्त्र द्वारा किया जा रहा है, जिसे प्रचार कहते हैं। क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आज शक्ति-संघर्ष केवल सैनिक उच्चता तथा राजनीतिक प्रभुत्व ही तक सीमित न रहकर एक विशेष अर्थ में मनुष्यों के मस्तिष्कों पर विजय का प्रश्न बन गया है। तो फिर किसी राष्ट्र की शक्ति न केवल उसकी कूटनीति की चतुरता तथा उसकी सेना की क्षमता पर ही अवलम्बित रहती है, वरन् साथ ही साथ अन्य राष्ट्रों को अपने राजनीतिक दर्शन राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीतिक नीतियों के पक्ष में आकर्षित करने में भी निहित रहती है। यह विशेषकर सयुक्त राज्य तथा सोवियत यूनियन के सदर्भ में सत्य है कि एक दूसरे से न केवल एक अति महान् राजनीतिक व सैनिक शक्ति के रूप में होड करते हैं, वरन् दो विभिन्न राजनीतिक दर्शनों, शासन-व्यवस्थाओं तथा जीवन के तरीकों के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि के रूपों में भी परस्पर प्रतिद्वद्विता रखते हैं।

इसलिये जो कुछ भी ये अति महान् शक्तियाँ करती हैं अथवा नहीं करती हैं, जो कुछ भी वे प्राप्त करती हैं अथवा नहीं करती हैं, अपनी गृह तथा वैदेशिक नीतियों में उसका इस प्रतिनिधित्व पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है और इस कारण उनकी शक्ति पर भी। यही बात अन्य राष्ट्रों पर भी निम्न स्तर पर लागू होती है। उदाहरण के लिये यदि एक राष्ट्र रग-भेद की नीति ग्रहण करता है, तो वह धरती के काले लोगों के मस्तिष्क पर विजय प्राप्त करने के संघर्ष में विफल हो जायेगा। एक कम विकसित राष्ट्र यदि अपनी जनता के स्वास्थ्य, साक्षरता तथा जीवन-स्तर को आश्चर्यजनक रूप से बढाने में सफल हो जाता है, तो वह संसार के अविकसित क्षेत्र में काफी मात्रा में अपनी शक्ति की वृद्धि करने में सफल हो जायेगा।

इस स्तर पर और ऐसे ही अनेक स्तरों पर वैदेशिक तथा गृह-नीतियों की परम्परागत पृथक्ता समाप्त होती दृष्टिगोचर होती है। हम यहाँ तक कहने के लिए प्रस्तुत हो सकते हैं कि सपूर्ण रूप से 'घरेलू मामला' नाम की चीज रह ही नहीं गई है, क्योंकि जो कुछ भी एक राष्ट्र करता है अथवा नहीं करता है वह उसके राजनीतिक दर्शन, शासन-व्यवस्था तथा जीवन के तरीकों का परिचायक माना जाता है। घरेलू सफलता जो कि अन्य राष्ट्रों की महत्वाकांक्षाओं के अन्तर्गत प्रदर्शनीय है, उस राष्ट्र को शक्ति की वृद्धि करने में विफल नहीं हो सकती। इसी प्रकार एक प्रदर्शनीय असफलता उस शक्ति को गिरा देती है।

दसवाँ अध्याय

राष्ट्रीय शक्ति का मूल्यांकन

मूल्यांकन का कार्य

जो लोग किसी राष्ट्र की विदेश नीति के लिये उत्तरदायी हैं और जो अंतर्राष्ट्रीय मामलों के सम्बन्ध में लोकमत का गठन करते हैं उनका यह कार्य है कि वे अपने राष्ट्र की शक्ति और अन्य राष्ट्रों की भी शक्ति पर इन तत्वों के प्रभाव का सही सही मूल्यांकन करें। उनको यह कार्य वर्तमान और भविष्य दोनों को ध्यान में रखकर करना चाहिए। संयुक्तराज्य के सैनिक संस्थापन के स्वरूप पर सशस्त्र सेवाओं के एकीकरण का क्या प्रभाव है? परमाणु शक्ति के प्रयोग का संयुक्तराज्य और दूसरे राष्ट्रों की औद्योगिक क्षमता पर क्या प्रभाव होगा? चीन की औद्योगिक क्षमता, सैनिक शक्ति एवं राष्ट्रीय मनोबल पर साम्यवादी नियन्त्रण का क्या प्रभाव पड़ेगा? भारत के राष्ट्रीय मनोबल को उसकी राजनीतिक स्वाधीनता ने किस प्रकार प्रभावित किया है? जर्मनी की राष्ट्रीय शक्ति के लिए जर्मन सेना के पुनरुज्जीवन का क्या महत्त्व है? क्या पुनर्शिक्षण ने जर्मनी और जापान के राष्ट्रीय चरित्र को परिवर्तित कर दिया है? अर्जेनटायना के लोगों के राष्ट्रीय चरित्र की परा शासन काल (Pero Regime) के राजनीतिक दर्शनों, प्रणालियों और उद्देश्यों पर किस प्रकार की प्रतिक्रिया रही? रूसी प्रभाव क्षेत्र का एल्ब नदी तक विस्तार सोवियत संघ की भौगोलिक स्थिति को कैसे प्रभावित करता है? क्या विदेश विभाग के कर्मचारी वर्ग के किसी प्रकार के पुनर्गठन अथवा परिवर्तन से अमरीकन कूटनीति की स्थिति में सबलता या निर्बलता आयेगी? किसी राष्ट्र की विदेश नीति की सफलता के लिये इन कुछ प्रश्नों के सही सही उत्तर मिलने आवश्यक हैं।

तथापि, किसी एक विशेष तत्त्व में परिवर्तनों से सम्बन्धित ये प्रश्न ही उत्तर देने में सबसे अधिक कठिन नहीं हैं। दूसरे प्रश्न वे हैं जिनका सम्बन्ध एक तत्त्व में आये हुए उन परिवर्तनों से है जो दूसरे तत्त्वों को प्रभावित करते हैं। ऐसी स्थिति में कठिनाइयाँ बढ़ जाती हैं और अड़चनें कई गुनी हो जाती हैं। उदाहरणार्थ संयुक्तराज्य की भौगोलिक स्थिति के लिए युद्ध की आधुनिक यन्त्र विद्या का क्या अभिप्राय है? दूसरे शब्दों में नियन्त्रित प्रक्षेपणास्त्र और जेट वायुयान दूसरे महाद्वीपों से संयुक्त राज्य के भौगोलिक पृथक्करण को किस

प्रकार प्रभावित करते है ? समुद्र पार के आक्रमणो से अपनी परम्परागत अलघनीयता को संयुक्तराज्य किस अंश तक खादेगा और किस अंश तक बनाए रखेगा ? रूसी प्रदेश की भौगोलिक स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए इसी प्रकार की औद्योगिक अभिवृद्धियों का क्या अर्थ होगा ? किस सीमा तक इन तत्वो ने रूसी मैदानों के चौड़े विस्तार को सरक्षण कार्य को ठेस पहुचाई है और इस सरक्षण के सन्दर्भ मे ब्रिटिश इतिहास के प्रारम्भ से ही इगलिश चनेल ने क्या योग दिया है ? ब्राजील चीन और भारत के औद्योगीकरण का इन देशो की सैनिक शक्ति पर क्या प्रभाव होगा ? युद्ध की औद्योगिकी के परिवर्तनो को दृष्टिगत रखते हुए अमरीकी स्थल जल एव वायुसेना का क्या सापेक्ष महत्त्व है ? आगामी दो दशको मे अमरीकी जन-सख्या मे प्रत्याशित वृद्धि की दर का तथा लैटिन अमरीका भारत चीन या सोवियत सघ में जन सख्या की और भी तीव्र वृद्धि का क्रमश इन राष्ट्रो की औद्योगिक क्षमता और सैनिक शक्ति पर क्या प्रभाव पड़ेगा ? औद्योगिक उत्पादन मे उतार चढ़ाव संयुक्तराज्य, सोवियत सघ जर्मनी ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के राष्ट्रीय मनोबल को कैसे प्रभावित करेगा ? क्या ग्रेट ब्रिटेन की औद्योगिक क्षमता आर्थिक सगठन सैनिक शक्ति और भौगोलिक पृथक्करण में हो रहे मूल परिवर्तनो के प्रभाव के अन्तर्गत ब्रिटिश राष्ट्रीय चरित्र अपनी परम्परागत विशेषताओ को सुरक्षित रख सकेगा ?

फिर भी राष्ट्रीय शक्ति के विश्लेषक का कार्य यहा समाप्त नही हो जाता। उसको और भी अधिक जटिल प्रकार के दूसरे प्रश्न समूह का उत्तर देने का प्रयत्न करना चाहिए। ये प्रश्न एक राष्ट्र मे शक्ति-तत्त्व के दूसरे राष्ट्र मे उसी या और दूसरे शक्ति-तत्त्व से तुलना से सम्बन्धित है। दूसरे शब्दो मे इनका सम्बन्ध विभिन्न राष्ट्रो की शक्ति के वैयक्तिक अवयवो में होने वाले परिवर्तनो के सापेक्ष महत्त्व से है, जिसमे विभिन्न राष्ट्रो के व्यापक शक्ति-सम्बन्ध निर्धारित होते है। उदाहरणार्थ यदि कोई संयुक्तराज्य तथा सोवियत सघ की सापेक्ष शक्ति पर किसी विशेष समय मान लीजिये 1960 मे विचार करे, तो इस बात का प्रश्न उठता है कि किस प्रकार किसी एक प्रकार के विभिन्न शक्ति-तत्त्व बढ़ते चले जाते है और किन बातो में किस पक्ष को, शक्ति की दृष्टि से दूसरे पक्ष की अपेक्षा उच्चतर स्थिति प्रदान करते है। संयुक्तराज्य की मात्रात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट औद्योगिक स्थिति किस सीमा तक वहा की व्यापक सैनिक क्षमता की दृष्टि से हीन दशा की क्षतिपूर्ति करने में समर्थ है ? हवाई आक्रमणो के लिये सुगम साथ ही आवागमन की सुविधाओं से युक्त अत्यधिक सघन रूप मे बसी हुई अमरीकी औद्योगिक बस्तियां, तथा दूसरी ओर स्थान तथा स्वरूप की दृष्टि से अनन्त और सुरक्षित, किन्तु

आवागमन की कठिनाइयों का सामना करती है? रूसी शक्ति की क्रमशः क्या सबलतायें और दुर्बलतायें हैं? पूर्व में विचारधारा और सेना के प्रवेश के लिए पश्चिमी यूरोप के सुलभ होने से सोवियत संघ को क्या शक्ति मिलती है? प्रशान्त महासागर की ओर से स्थल एवं सैनिक आक्रमणों के लिए खुला होने से उसमें क्या दुर्बलता आती है? रूसी विदेश नीति से प्रभावित युद्ध की संयुक्तराज्य में होने वाली प्रतिक्रिया और रूसी जनमत की आन्तरिक एकता का कथन शक्ति-स्थिति की दृष्टि से क्या महत्त्व है? सोवियत संघ के समग्रवादी राजनीतिक एवं आर्थिक ढांचे की तुलना में संयुक्तराज्य की लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली और असमग्रवादी आर्थिक व्यवस्था का उनकी राष्ट्रीय शक्ति पर क्या प्रभाव है?

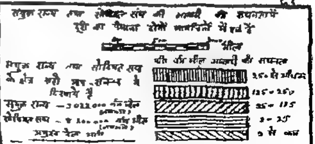
इन और ऐसे दूसरे प्रश्नों के पूछने और उत्तर देने में अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर सक्रिय भाग लेने वाले सभी राष्ट्रों को ध्यान में रखना चाहिए। राष्ट्रीय शक्ति पर विभिन्न तत्त्वों के सापेक्ष प्रभाव का निर्धारण इन सभी राष्ट्रों को ध्यान में रख कर करना चाहिए जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के रंग में परस्पर प्रतियोगी हैं। इस प्रकार लोगों को जानना चाहिए कि क्या फ्रांस इटली से अधिक शक्तिवान है और है तो किन बातों में। लोगों को जानना चाहिए कि विभिन्न शक्ति-सम्बन्धों की दृष्टि से ब्रिटेन और चीन के सोवियत संघ के प्रति, जापान के संयुक्तराज्य के प्रति, अर्जेन्टाइना के चिली के प्रति तथा इसी प्रकार अन्य राष्ट्रों के अन्य राष्ट्रों के प्रति क्या आधार और दायित्व हैं।

शक्ति के मूल्यांकन का कार्य अब भी अधूरा है। विभिन्न राष्ट्रों में शक्ति वितरण का कम से कम सम्भावित सही चित्र पाने के लिए यह आवश्यक है कि इतिहास के किसी विशेष क्षण में शक्ति-सम्बन्ध जिस रूप में भी विद्यमान हैं, उन्हें भविष्य में आरोपित किया जाना चाहिए। यह बात करने के लिए स्वयं में यह पूछना पर्याप्त नहीं है कि 1960 में सोवियत संघ और संयुक्तराज्य के शक्ति-सम्बन्ध क्या हैं और सन् 1965 या 1970 में उनके क्या बन जाने की सम्भावना है? क्योंकि संयुक्तराज्य एवं सोवियत संघ के बीच शक्ति-सम्बन्धों पर आधारित एवं सम्बद्ध अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के निर्णय 1960 1965 या 1970 में ही नहीं वरन् प्रत्येक दिन करने हैं। दिन-प्रतिदिन के ये परिवर्तन प्रारम्भ में तुच्छ और नगण्य भले ही प्रतीत हों किन्तु राष्ट्रीय शक्ति के निर्माणकारी तत्त्वों में जहाँ एक ओर के कुछ शक्ति बढ़ा देते हैं वहाँ दूसरी ओर की शक्ति में कुछ न कुछ कमी ला देते हैं।

भूगोल के सापेक्ष स्थायी आधार पर राष्ट्रीय शक्ति का भवन अस्थायित्व के विभिन्न सोपानों को पार करता हुआ राष्ट्रीय मनोबल के अस्थायी तत्त्व के

रूप में अपनी चोटी तक उठना है। भूगोल को छोड़ कर ये सब तत्व जिनका हम वर्णन कर चुके हैं हमेशा अस्थिर होते हैं व एक दूसरे को प्रभावित करते हैं और बदले में प्रकृति तथा मनुष्य के अदृश्य हस्तक्षेप से प्रभावित होते हैं। वे सब मिलकर राष्ट्रीय शक्ति की उस धारा का निर्माण करते हैं जो कभी धीरे से उठती हुई फिर शताब्दियों तक उच्च धरातल पर प्रवाहित होती है जैसे ग्रेट ब्रिटेन में या जो कभी ऊपर का सीधा उठती हुई ऊंचाई से एक दम नीचे की ओर गिरता है जैसे जर्मनी में या जो सीधी ऊपर को उठती हुई भविष्य की अनिश्चितताओं का सामना करता है जैसे संयुक्त राज्य और सोवियत संघ में। उपयुक्त धारा और उसका निर्माण करने वाली विभिन्न सहायक धाराओं का भार निर्धारित करना और उसकी दिशा तथा गति में आने वाले परिवर्तनों का पहले से ही अनुमान लगाना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रेक्षक का आदर्श कार्य है।

यह आदर्श कार्य है और इस लिए इसे करना कष्ट-साध्य है। यदि किसी राष्ट्र का विदेश नीति के लिए उत्तरदायी लोगों की श्रेष्ठ बुद्धि और निश्चित निर्णय-क्षमता [illegible] और सूचना के पूर्णतम एवं विश्वस्त स्रोत भी सुलभ हों तो भी उनको गर [illegible] कर सकने वाले अनजाने तत्व निकल आयेंगे। राष्ट्रीय मनोबल जैसे [illegible] में तत्त्वों की बात तो दूर रही वे दुर्भिक्ष और महामारी जैसे प्राकृतिक प्रकोप [illegible] और विग्रह जैसी मानवकृत विपत्तियां अनेक आविष्कारों और खोजों [illegible] ढिक सैनिक और राजनीतिक क्षेत्रों में उठ खड़े होने वाले तथा फिर अचानक ही लुप्त हो जाने वाले नेताओं और उनके विचारों तथा कार्यों का भी पहले से अनुमान नहीं लगाया जा सकता। संभव में अधिक से अधिक बुद्धिमान एवं अधिक से अधिक जानकार लोगों को भी इतिहास और प्रकृति की सभी आकस्मिक घटनाओं का सामना करना होगा। वास्तव में फिर भी वृद्धि एवं जानकारी की कल्पित पूर्णता कभी भी प्राप्य नहीं है। वैदेशिक मामलों के निर्णायकों को सूचना देने वाले सभी लोग अच्छे जानकार नहीं होते और न सभी निर्णायक ही बुद्धिमान होते हैं। इस प्रकार राष्ट्रों की सापेक्षिक शक्ति के वर्तमान और भविष्य के लिए परिगणना का कार्य संकेतों की श्रृंखला में विलीन हो जाता है जिनमें से कुछ निश्चय ही गलत निकलेंगे जबकि दूसरे आगामी घटनाओं द्वारा सही सिद्ध हो सकते हैं। किसी देश की विदेश नीति की सफलता या असफलता जहां तक वह इन शक्ति गणनाओं पर निर्भर है उस राष्ट्र की विदेश नीति के विधायकों के सही या गलत अनुमानों के सापेक्षिक महत्त्व तथा दूसरे राष्ट्रों के वैदेशिक मामलों के सूत्रधारों द्वारा निर्धारित होती है। कभी-कभी शक्ति सम्बन्धी परिगणन की एक राष्ट्र के द्वारा की गई भूलों की क्षतिपूर्ति दूसरे राष्ट्र द्वारा की गई भूलों से हो जाती है। इस प्रकार एक राष्ट्र



उत्तरी हिम महा सागर
ओखोटस्क सागर
सखालिन
मंगोलिया
सिंकियांग
संयुक्त राज्य तथा सोवियत संघ की आबादी का घनत्व
मील
प्रति वर्ग मील आबादी का घनत्व
250 से अधिक
125 – 250
25 – 125
2 – 25
2 से कम
न्यूयार्क

की विदेश नीति की सफलता अपनी गणनाओं की परिशुद्धता के कारण कम और दूसरे पक्ष की अधिक बड़ी भूलों के कारण अधिक हो सकती है।

मूल्यांकन की विशेष भूलें

उन सभी भूलों में जो राष्ट्र अपनी शक्ति और दूसरे राष्ट्रों की शक्ति के मूल्यांकन में कर सकते हैं, तीन प्रकार की भूलों की आवृत्ति इतनी अधिक है और उनसे ऐसे मूल्यांकनों में निहित बौद्धिक भ्रान्तियों और व्यावहारिक जोखिमों के उदाहरण इतनी भली प्रकार मिल जाते हैं कि उनकी अधिक विवेचना उपयुक्त मालूम होती है। प्रथम भूल वह है जब एक राष्ट्र स्वयं एक निरकुश शक्ति बन बैठता है और दूसरी शक्तियों के सापेक्ष महत्त्व की अवहेलना करता है। दूसरी भूल वह है जब कोई राष्ट्र अतीत काल में निश्चित रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करने वाले अपने किसी एक शक्ति-तत्त्व को ही स्थायी मान बैठता है और उस गतिमय परिवर्तन की उपेक्षा करता है जो अधिकांश शक्ति-तत्त्वों को शासित करता है। तीसरी भूल तब होती है जब कोई राष्ट्र अपने किसी एक ही शक्ति-तत्त्व को निर्णयात्मक महत्त्व देता है और अन्य शक्ति-तत्त्वों की परवाह नहीं करता। दूसरे शब्दों में, प्रथम भूल, एक राष्ट्र की शक्तियों का अन्य राष्ट्रों की शक्तियों के साथ सामंजस्य स्थापित न करने में निहित है। दूसरी भूल एक समय की वास्तविक शक्ति का भविष्य की सम्भाव्य शक्ति से सामंजस्य स्थापित न करने में है और तीसरी भूल एक ही राष्ट्र के एक शक्ति-तत्त्व का उसी राष्ट्र के अन्य शक्ति-तत्त्वों के साथ सामञ्जस्य न स्थापित करने में है।

शक्ति का निरकुश स्वरूप

जब हम एक राष्ट्र की शक्ति का यह कह कर उल्लेख करते हैं कि यह राष्ट्र बहुत शक्तिशाली है और वह राष्ट्र बहुत निर्बल है तो हमारा अभिप्राय सदैव तुलना से होता है। दूसरे शब्दों में शक्ति की अवधारणा सदैव सापेक्ष होती है। जब हम यह कहते हैं कि संयुक्तराज्य आजकल पृथ्वी के दो सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्रों में से एक है तो हमारा वास्तव में यह अभिप्राय है कि यदि हम संयुक्तराज्य की अन्य सभी राष्ट्रों की वर्तमान शक्ति से तुलना करें तो मालूम होगा कि संयुक्तराज्य एक को छोड़ अन्य सभी से अधिक शक्तिशाली है।

शक्ति के इस सापेक्ष स्वरूप की अवहेलना करना और एक राष्ट्र की शक्ति को निरकुश समझ कर व्यवहार करना अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बहुत ही तात्त्विक एवं बहुधा होने वाली भूलों में से एक है। दो विश्वयुद्धों के बीच फ्रांस की शक्ति का मूल्यांकन इसी का उदाहरण है। प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर सैनिक दृष्टि से फ्रांस पृथ्वी पर सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र था। सन् 1940 की

भयकर पराजय के क्षण तक जिसमे इसकी वास्तविक सैनिक दुर्बलता स्पष्ट हो गयी फ्रास को एसा ही समझा जाता था। सितम्बर 1939 मे द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ से लेकर 1940 के ग्रीष्म मे फ्रास की पराजय के समय तक समाचारपत्रो के दीर्घ लेख फ्रासीसी सैनिक शक्ति के गलत अनुमान की कहानी अत्यधिक वाक्पटुता से कहते रहे है। तथाकथित 'कृत्रिम युद्ध' काल में तो यह माना जाता था कि फ्रास की बनी चली शक्ति के कारण जर्मन सेनाएं उस पर आक्रमण करने का साहस नही करती और अनेक अवसरो पर फ्रासीसियो के बारे मे कहा जाता था कि उन्होने जर्मन पक्तियां तोड डाली हैं। इस गलत धारणा के पीछे यह गलत अनुमान था कि फ्रास की सैनिक शक्ति दूसरे राष्ट्रो की सैनिक शक्ति के बराबर नही थी परन्तु पूर्ण स्वतन्त्र ही थी। अपने आप मे फ्रास की सैनिक शक्ति 1939 मे कम से कम इतनी बनी चढी थी जितनी वह 1919 मे थी इसलिए फ्रास 1939 मे उतना सबल राष्ट्र समझा जाता था, जितना कि वह 1919 मे रह चुका था।

उस मूल्याकन का सबसे अधिक घातक भूल इस तथ्य की जानकारी के अभाव मे है कि 1919 में फ्रास पृथ्वी पर केवल दूसरे राष्ट्रो की तुलना मे सबसे अधिक सबल सैनिक शक्ति थी जिसमे इसका निकटतम प्रतिस्पर्धी जर्मनी पराजित एव निरस्त्र था। दूसरे शब्दो मे एक सैनिक शक्ति के रूप मे फ्रास की सर्वोच्चता फ्रासीसी राष्ट्र की एसी स्वाभाविक विशेषता न थी जिसे कोई एक ही पश्चात सके जैसे वह फ्रासीसी नस्लो के राष्ट्रीय लक्षणो, उनकी भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक साधनो का निश्चयात्मक रूप से जान लेता है। इसके विपरीत वह सर्वोच्चता शक्तियो के एक विचित्र रूप का परिणाम था जिसका भय हुआ एक सैनिक शक्ति के रूप मे फ्रास का दूसरे राष्ट्रो पर तुलनात्मक उत्कृष्टता। फ्रासीसी सेना की गुणावस्था 1919 और 1939 के बीच वास्तव मे घटा न था। सेना तोपखाने वायुयानो की सख्या एव गुणावस्था तथा अधिकारियो के कार्य के हिसाब से फ्रासीसी सैनिक शक्ति का ह्रास नही हुआ था। इस प्रकार सर विंस्टन चर्चिल जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मामलो के चतुर विश्लेषक भी बाद मे तीस वर्षो की फ्रासीसी सेना की सन् 1919 की सेना से तुलना करते हुए यह घोषित कर सके कि फ्रासीसी सेना ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की एक मात्र सरक्षिका है।

विंस्टन चर्चिल और उसके समकालीनो ने सन् 1937 की फ्रासीसी सेना की तुलना उसी वर्ष की जर्मन सेना से न करके सन् 1919 की फ्रासीसी सेना से की जिसने उसी वर्ष अर्थात 1919 की जर्मन सेना की समता प्राप्त करके अपनी प्रतिष्ठा स्थापित की थी। इस तुलना मे स्पष्ट दिखाई पडता है कि 1919 में शक्तियो का जो रूप था वह बाद के तीस वर्षो मे पलट गया जहाँ फ्रासीसी

सेना संस्थापन (Military Establishment) 1937 में भी वैसा ही रहा जैसा कि वह 1919 में था जहाँ अब जर्मन सेनाएँ फ्रान्स की सेनाओं से कहीं अधिक उत्कृष्ट हो गई थीं। वह फ्रांसीसी सैनिक शक्ति जो पूर्ण समझी जाती थी एक मात्र इसी पर ध्यान देने से प्रकट न हो सकी। यदि फ्रांस और जर्मनी की सापेक्ष शक्ति की तुलना की जाती तो यह तभी स्पष्ट हो जाता तथा राजनीतिक और सैनिक भूलों की भयंकर भूलों से बचा जा सकता था।

जो राष्ट्र इतिहास के किसी विशेष क्षण में शक्ति के शिखर पर पहुँच जाता है, वह बहुत आसानी से यह भूल जाता है कि सभी शक्ति सापेक्ष है। वह यह विश्वास सहज ही कर लेता है कि जो उत्कृष्टता इसने प्राप्त की है, वह एक स्वतन्त्र गुण है जिसे मूर्खता अथवा आलस्य की उपेक्षा से ही खोया जा सकता है। ऐसी धारणाओं पर आधारित विदेश नीति का सम्भावित ऐसे खतरों से भरी है, क्योंकि वह इस तथ्य की उपेक्षा करती है कि उस राष्ट्र की उत्कृष्ट शक्ति केवल आंशिक रूप में ही उसके निजी गुणों का सर्वोत्तम रूप है जबकि वह आंशिक रूप में उस राष्ट्र तथा दूसरे राष्ट्रों के गुणों की सापेक्षता का परिणाम है।

नैपोलियन के युद्धों के अन्त से लेकर दूसरे विश्वयुद्ध के प्रारम्भ तक ग्रेट ब्रिटेन की प्रधानता का प्रमुख कारण यह था कि द्वीप पर स्थित होने से वह आक्रमण से सुरक्षित था तथा विश्व के प्रमुख समुद्री रास्तों पर उसका आधा एकाधिकार था। दूसरे शब्दों में इतिहास के उस काल में अन्य राष्ट्रों की तुलना में ग्रेट ब्रिटेन को दो लाभ थे जो किसी दूसरे राष्ट्र को न थे। ग्रेट ब्रिटेन की द्वीपीय स्थिति बदली नहीं है और उसकी जो सेना संयुक्तराज्य अमरिका को छोड़कर किसी भी राष्ट्र से अधिक शक्तिशाली है। परन्तु अन्य राष्ट्रों ने अणु शक्तिकीय बम और नियन्त्रित क्षेपणास्त्र जैसे अस्त्र तथा नये युद्ध विकसित किये हैं जिनसे एक बड़ी सीमा तक वे दोनों लाभ जिनसे ग्रेट ब्रिटेन की शक्ति बढ़ी थी लुप्त हो गये हैं। ग्रेट ब्रिटेन की शक्ति स्थिति में आया हुआ यह परिवर्तन द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व के वर्षों में होने वाली उस दुःखद दुविधा पर प्रकाश डालता है, जिसका नेतृत्व चैम्बरलेन को सामना करना पड़ा। चैम्बरलेन ब्रिटेन की शक्ति की सापेक्षिकता को समझते थे। वे जानते थे कि युद्ध में प्राप्त विजय भी ब्रिटेन के पतन को नहीं टाल सकती। यह चैम्बरलेन के भाग्य की विडम्बना थी कि किसी भी मूल्य पर युद्ध को टालने के उनके प्रयत्नों ने युद्ध को अवश्यम्भावी बना दिया और ब्रिटिश शक्ति को घातक समझकर जिस युद्ध से वे डरते थे उसी युद्ध की घोषणा करने के लिये उन्हें विवश होना पड़ा। तथापि यह ब्रिटिश कूटनीतिज्ञता की सूझ-बूझ का प्रमाण है कि, दूसरे विश्वयुद्ध के अन्त से लेकर ब्रिटिश विदेश नीति दूसरे राष्ट्रों की तुलना में अपनी शक्ति के पतन के प्रति

बहुत हद तक जागरूक रही है। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस तथ्य से अवगत रहे हैं कि ब्रिटिश नौ-सेना, स्वयं मे, उतनी ही शक्तिशाली भले ही हो जितनी वह दस वर्ष पहले थी, चैनल उतनी ही चौड़ी और मुक्त भले ही हो, जितनी सदैव थी, किन्तु दूसरे राष्ट्रों ने अपनी शक्ति इस सीमा तक बढ़ाली है कि ब्रिटेन की उन दोनों सुविधाओं को बहुत हद तक बेकार कर दिया है।

शक्ति का स्थायी स्वरूप

राष्ट्रीय शक्ति के मूल्यांकन में बाधक दूसरी विशेष भूल पहली से सम्बन्धित है, परन्तु वह भिन्न प्रकार की बौद्धिक क्रिया से उत्पन्न होती है। यह भूल तब होती है जब एक राष्ट्र शक्ति की सापेक्षता से भली प्रकार अवगत होते हुए भी अपने अनुमानों को इस मान्यता पर आधारित करते हुए कि अमुक शक्ति-तत्त्व या शक्ति सम्बन्ध परिवर्तनों से मुक्त है एक विशेष शक्ति-तत्त्व या शक्ति सम्बन्ध को विशेष रूप में चुन लेता है।

1940 तक फ्रांस को पृथ्वी पर प्रथम सैनिक शक्ति मानने की मिथ्या गणना की चर्चा करने का अवसर हमें पहले ही मिल चुका है। जो लोग फ्रांस को प्रथम शक्ति मानते थे, वे फ्रांसीसी शक्ति का निरूपण प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के समय अनुभव किये गये उसकी शक्ति के स्वरूप के आधार पर ही करते थे। वे फ्रांस की तत्कालीन शक्ति को उसकी स्थायी विशेषता मान बैठे। उन्हें वह ऐतिहासिक परिवर्तनों से भी मुक्त मालूम हुई। वे यह भूल ही गये कि उन बीस वर्षों में फ्रांस की शक्ति की प्रमुखता तुलना का ही परिणाम थी और 1940 में भी उसकी गुणावस्था का निश्चय तुलना द्वारा की गई जाँच से ही होता। इसके सर्वथा विपरीत, जब फ्रांस की वास्तविक दुर्बलता सैनिक पराजय में प्रकट हुई, तो फ्रांस और दूसरे देशों में यह आशा करने की प्रवृत्ति पनप उठी कि फ्रांस की यह दुर्बलता टिकाऊ रहेगी। फ्रांस के साथ उपेक्षा और तिरस्कार का व्यवहार किया गया, मानो वह हमेशा के लिये दुर्बल बन रहने को ही बाध्य है।

रूसी शक्ति का मूल्यांकन भी इसी पद्धति पर किया जाता रहा है, परन्तु एक विपरीत ऐतिहासिक क्रम में। 1917 से 1943 के स्टालिनग्राड युद्ध तक, सोवियत संघ के साथ इस प्रकार का व्यवहार किया गया, मानो कि इस सदी के प्रथम बीस वर्षों की इसकी दुर्बलता सदा ही बनी रहेगी, दूसरे क्षेत्रों में चाहे जो परिवर्तन क्यों न हो। जर्मनी के साथ युद्ध छिड़ने की सम्भावना को लेकर सन् 1939 के ग्रीष्म में सोवियत संघ के साथ सैनिक मैत्री करने के उद्देश्य से जो ब्रिटिश सैनिक शिष्ट-मण्डल मास्को भेजा गया था उसने अपना काम रूसी शक्ति के विषय में उस धारणा को लेकर शुरू किया जो दस या बीस वर्ष पूर्व औचित्यपूर्ण हो सकती थी। शिष्ट मण्डल की असफलता से यह मिथ्या-गणना

एक महत्वपूर्ण तत्त्व थी। दूसरी ओर, स्टालिनग्राड की विजय के तुरन्त बाद और सोवियत संघ की आक्रामक विदेश नीति के प्रभाव से सोवियत संघ की चिरन्तन अजेयता और यूरोप में उसके स्थायी प्राधान्य के विषय में चारों ओर एक अस्थिर धारणा बन गई।

लैटिन अमरीकी देशों के प्रति हमारे दृष्टिकोण का झुकाव स्पष्ट है उसे समाप्त नहीं किया जा सकता। इसी झुकाव के कारण पश्चिमी गोलार्द्ध की स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से चली आ रही कालावधि की अद्वितीय श्रेष्ठता को हम लगभग एक प्राकृतिक नियम मानने लगे हैं जिसमें जनसंख्या की प्रवृत्तियाँ औद्योगीकरण राजनीतिक और सैनिक विकास किंचित् हेर फेर तो कर सकते हैं, किन्तु मौलिक परिवर्तन नहीं ला सकते। इसी प्रकार क्योंकि शताब्दियों में संसार का राजनीतिक इतिहास गोरी जातियों के लोगों द्वारा निर्धारित हुआ है जब कि काली जातियाँ मुख्य रूप से इस इतिहास का विषय रही हैं सभी जातियों के लोगों के लिए समान रूप से ऐसी स्थिति की कल्पना सर्वथा दुष्कर है गोरी जातियों का प्रभुत्व न रहे और जहाँ, वास्तव में जातियों के आपसी सम्बन्ध पलट जावें। विशेष रूप से वर्तमान अप्रतिहत सैनिक-शक्ति का यह प्रदर्शन सावधानी से विश्लेषण न करने से शीघ्र भविष्यवाणी करने के अभ्यस्त लोगों के मस्तिष्कों पर विचित्र जादू डालता है। इससे उनमें यह विश्वास घर कर जाता है कि इतिहास मानो निश्चल हो गया है और आज की अद्वितीय शक्ति के स्वामी कल और परसों भी इस शक्ति का उपभोग किए बिना नहीं रह सकते। इस प्रकार जब 1940 और 1941 में जर्मनी की शक्ति अपने शिखर पर थी यह चारों ओर समझा जाता था कि यूरोप का नात्सी प्रभुत्व सदैव के लिए स्थापित हो गया है। जब 1943 में सोवियत संघ की गुप्त शक्ति ने संसार को आश्चर्यान्वित कर दिया तो स्टालिन ऐसे पूजा जाता था जैसे मानो वह यूरोप और एशिया का भावी प्रभु हो। अणुबम के अमरीकन एकाधिकार ने युद्धोत्तर वर्षों में 'अमरीकन सदी' अर्थात अद्वितीय शक्ति पर आधारित 'अमरीका के विश्वव्यापी प्रभुत्व' की धारणा को बढ़ावा दिया[1]।

शक्ति के स्वतन्त्र स्वरूप में विश्वास करने या किसी विशेष शक्ति-समाकृति के स्थायित्व को मान कर चलने की इन सभी प्रवृत्तियों का मूल उस विषमता में निहित है जो एक ओर, राष्ट्रों के बीच शक्ति-सम्बन्धों के गतिशील

1 शक्ति के स्थायी स्वरूप की भ्रान्ति का सबसे अधिक अविस्मरणीय समकालीन शिकार जेम्स बर्नहम है George Orwell, 'Second Thoughts on James Burnham' Polemic No 3, May 1946 pp 13 तथा आगे 'James Burnham Rides Again', Antioch Review, Vol 7, No 2, Summer 1947, pp 315 तथा आगे।

सदा परिवर्तित होने वाले स्वरूप और इसकी ओर मानव मस्तिष्क की निश्चित निष्कर्षों के रूप में निश्चितता एवं सुरक्षा की तीव्र लालसा के मध्य पाई जाती है। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की आकस्मिकताओं, सन्दिग्धताओं एवं अनिश्चयों का सामना करते हुए हम उन शक्ति तत्त्वों के विषय में एक निश्चित जानकारी की खोज में रहते हैं और उसी पर हमारी विदेश नीति आधारित होती है। हम सब अपने को महारानी विक्टोरिया की स्थिति में पाते हैं जिन्होंने पामर्स्टन को, जिनकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में अप्रत्याशित गतिविधियों ने उन्हें कुपित कर दिया था, पदच्युत करने के बाद अपने नए प्रधान-मन्त्री जॉन रसल से दूसरी शक्तियों के साथ विभिन्न सम्बन्धों को लेकर चलने वाले व्यवस्थित कार्य क्रम[2] को अपनाने के लिए कहा था। जो उत्तर हमको मिलते हैं वे सदैव इतने बुद्धिपूर्ण नहीं होते जितना कि वह उत्तर जो जॉन रसल ने महारानी विक्टोरिया को दिया था। उन्होंने उत्तर दिया था, "ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन जिनमें बहुधा विचलित न होना पड़े, बड़ा कठिन है।" तथापि गलत मार्ग पर चलाए हुए लोकमत के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि जब भी राजनीतिज्ञ लोग सिद्धान्तों का उल्लंघन करते हैं वह उन पर बिना सोचे समझे दोष मढ़ने लगता है। ऐसा लोकमत शक्ति के वितरण का ध्यान किए बिना भी सिद्धान्तों के पालन को दोष न मानकर गुण ही मान बैठता है।

शक्ति गणना की अपरिहार्य भूलों को न्यूनतम रखने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रेक्षक को जिस बात की आवश्यकता है वह ऐसी रचनात्मक कल्पना है जो उस आवरण से मुक्त रह सके जिसे अतीव प्रभावशाली शक्ति बहुत उत्पन्न करती है, जो इतिहास की अनिवार्य प्रवृत्ति के अन्ध विश्वास से स्वयं को विलग करने में समर्थ हो और जो इतिहास की गतिशीलताओं से आने वाले परिवर्तनों की सम्भावनाओं को ग्रहण करने के लिए तत्पर हो। इस प्रकार की रचनात्मक कल्पना वर्तमान शक्ति-सम्बन्धों की तह में अंकुरित होते हुए भविष्य के विकासों का निश्चय कर सकेगी और महान बौद्धिक सफलता प्राप्त करने में समर्थ होगी। साथ ही वह ऐसा होने की सम्भावना है इस प्रकार के अनुमानों में निहित वास्तविकता की जानकारी को भी सम्मिलित कर सकेगी और सब तथ्यों, लक्षणों और अज्ञात बातों का सार ग्रहण करके सम्भाव्य भविष्य का एक ऐसा चित्र प्रस्तुत कर सकेगी जो भविष्य की वास्तविक घटनाओं से बहुत भिन्न नहीं होगा।

2 Robert W. Seton Watson, Britain in Europe, 1789-1914 (New York: The Macmillan Company, 1937), p. 53.

एक तत्त्व-सम्बन्धी भूल

विभिन्न राष्ट्रों की शक्ति के मूल्यांकन की तीसरी विशेष भूल है अन्य सभी उपादानों की अवहेलना करके किसी एक उपादान को सर्वोपरि महत्त्व देना। आधुनिक समय की तीन अत्यधिक ग्रानयमिक अभिव्यक्तियां भूराजनीति, राष्ट्रवाद तथा सैन्यवाद—से इस प्रकार की भूल के सर्वोत्कृष्ट नमूने प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

भूराजनीति (Geopolitics)

भूराजनीति वह छूट विज्ञान है जिसमें भौगोलिक स्थिति को एक पूर्ण स्वतन्त्र तत्त्व माना जाता है और उस राष्ट्रों की शक्ति और भाग्य का निर्णायक समझा जाता है। इसकी धारणा का मूल आधार भौगोलिक क्षेत्र है। फिर भी जबकि भू-भाग (क्षेत्र) अचल होता है उन भू-भागों में रहने वाली जातियाँ गतिशील होती हैं। भू-राजनीति के अनुसार इतिहास का यह नियम है कि या तो जातियाँ अथवा राष्ट्र भू-भागों को जीतकर अपना विस्तार करें अन्यथा नष्ट हो जायेंगे। राष्ट्रों की सापेक्षिक शक्ति का निर्धारण विजित भू-भागों के पारस्परिक सम्बन्धों द्वारा ही होता है। भूराजनीति की इस मूल अवधारणा की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम सर हाल्फर्ड मैकिण्डर के लेख 'इतिहास की भौगोलिक धुरी' में हुई जो 1904 में रॉयल ज्याग्राफीकल सोसाइटी के सामने पढ़ा गया था। 'जैसे हम इतिहास की इन वृहत्तर धाराओं पर शीघ्रता से दृष्टिपात करते हुए विचार करते हैं क्या इतिहास के साथ भौगोलिक सम्बन्ध का एक निश्चित पुनरावृत्ति स्पष्ट नहीं हो जाती? क्या संसार की राजनीति का केन्द्रीय क्षेत्र यूरो-एशिया का वह वृहद् भू-भाग नहीं है जो जलयानों की पहुँच के बाहर है परन्तु जो प्राचीन काल में घुड़सवार खानाबदोशों के लिए खुला पड़ा था और आज रेलवे के जाल में आच्छादित है? यह संसार की हृदय-भूमि है जो वोल्गा से याङ्त्जी और हिमालय से उत्तर ध्रुवीय महासागर तक फैली है। केन्द्रीय क्षेत्र के बाहर एक वृहत् आन्तरिक अर्धवृत्त में जर्मनी, आस्ट्रिया, टर्की, भारत और चीन हैं और एक बाह्य अर्धवृत्त में ब्रिटेन, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, संयुक्तराज्य, कनाडा और जापान हैं। विश्व द्वीप यूरोप, एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों से मिलकर बना है जिसके चारों ओर विश्व के छोटे-छोटे भू-भागों के समूह स्थित हैं। विश्व के इस भौगोलिक ढाँचे से भूराजनीति के अनुसार यह निष्कर्ष निकलता है कि जो पूर्व यूरोप पर शासन करता है उसका हृदय-क्षेत्र पर आधिपत्य है, जो हृदय-क्षेत्र पर शासन करता है उसका विश्व-द्वीप पर आधिपत्य है और जो विश्व द्वीप पर शासन करता है उसका विश्व पर आधिपत्य है[3]।

3 Sir Halford J Mackinder, Democratic Ideals and Reality (New York Henry Holt and Company, 1919) p 150

इस विश्लेषण के आधार पर मकिन्डर ने रूस या अन्य किसी भी राष्ट्र के अभ्युदय को जो ऊपर लिखे हुए प्रदेश को नियन्त्रित करेगा प्रभावशाली विश्व-शक्ति के रूप में पहले से जान लिया था। नात्सी प्रशासन की शक्ति-गणनाओं और विदेश नीतियों पर एक महत्वपूर्ण प्रभाव डालने वाले जनरल होशोफर के नेतृत्व में जर्मन भू-राजनीतिज्ञों का विशेष महत्वपूर्ण स्थान था। उन्होंने जर्मनी को पृथ्वी पर सबसे अधिक प्रभावशाली शक्ति बनाने के लिए सोवियत संघ के साथ मैत्री स्थापित करने अथवा जर्मनी द्वारा पूर्वी यूरोप को पराजित करने की परिकल्पना की। यह स्पष्ट है कि इस कल्पना तक भूराजनीतिक सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष रूप से नहीं पहुंचा जा सकता। भूराजनीति केवल हमको यह बतलाती है कि कौन सा भू-भाग दूसरे भू भागों से अपनी स्थिति के सम्बन्ध के कारण विश्व के स्वामी को आश्रय देगा। हमको भूराजनीति यह बतलाती है कि किस विशिष्ट राष्ट्र को यह स्वामित्व मिलेगा। इस प्रकार यह दिखलाने के लिए उत्सुक कि विश्व आधिपत्य के भौगोलिक "हृदय-क्षेत्र" को जीतना जर्मन लोगों का प्रमुख लक्ष्य था भूराजनीति की जर्मन शाखा ने भूराजनीतिक सिद्धान्तों को जन संख्या के दबाव के तर्क से सम्बन्धित कर दिया। जर्मन 'भूमिहीन लोग' थे और उन्हें रहने के लिए जिस निर्वाह भूमि की आवश्यकता थी वह पूर्वी यूरोप के मैदानों को पराजित करके ही प्राप्त हो सकती थी।

मकिन्डर और फेयरग्रीव के लेखों में अंकित भूराजनीति ने राष्ट्रीय शक्ति की वास्तविकता के एक पहलू का सही चित्र प्रस्तुत किया था, किन्तु वह चित्र एकान्तिक अतः विकृत भौगोलिक दृष्टिकोण की उपज था। होशोफर और उसके शिष्यों के हाथों में भूराजनीति एक प्रकार की राजनीतिक तत्व मीमांसा में बदल गई थी जिसे जर्मनी की राष्ट्रीय अभिलाषाओं के सैद्धान्तिक शस्त्र के रूप में प्रयोग किया जा सकता था।[4]

राष्ट्रवाद

भूराजनीति राष्ट्रीय शक्ति की समस्या को एकमात्र भौगोलिक दृष्टि से समझने का प्रयत्न है। इस प्रक्रिया में जब भूराजनीति अवैज्ञानिक शब्दावली

4 विलगवाद और पश्चिमी गोलार्ध की ठोस एकता के अर्थ इस दृष्टि से भूराजनीति से सम्बद्ध हैं कि वे विदेश नीति की मान्यता को विकृत अथवा कल्पित भौगोलिक तत्वों पर आधारित करते हैं। विलगवाद के विकृतीकरण का पहले से ही मूलपाठ में संकेत कर दिया गया है, पश्चिमी गोलार्ध की भौगोलिक एकता के कल्पित स्वरूप के लिए देखिये Eugene Staley, "The Myth of the Continents," in Compass of the World, edited by Hans W Weigert and Vilhjalmur Stefansson (New York The Macmillan Company, 1944), pp 89-108

के माध्यम से यह राजनीतिक तत्व मीमांसा का रूप ले लेती है तब उसका अधःपतन हो जाता है। राष्ट्रवाद राष्ट्रीय शक्ति को एकमात्र अथवा कम से कम प्रधानतः राष्ट्रीय चरित्र की दृष्टि से समझाने का प्रयत्न करता है और इस प्रक्रिया में जातिवाद की राजनीतिक तत्व मीमांसा में अधःपतित हो जाता है। जिस प्रकार भौगोलिक स्थिति भूराजनीति के लिए राष्ट्रीय शक्ति का निर्धारक तत्व है, उसी प्रकार एक राष्ट्र की सदस्यता राष्ट्रवाद के लिए निर्धारक तत्व है। एक राष्ट्र की सदस्यता को भाषा, संस्कृति, समान उद्गम, नस्ल और व्यक्ति द्वारा उस राष्ट्र का अपना समझने की दृष्टि से परिभाषा की जा सकती है। राष्ट्रीयता की परिभाषा चाहे जैसे की जाए किन्तु राष्ट्रीयता का मूल तत्व है राष्ट्रीय चरित्र की उन निश्चित विशेषताओं का होना, जो किसी विशेष राष्ट्र के लोगों में सर्वसामान्य रूप में पाई जाती हैं और जिनके आधार पर उस राष्ट्र के सदस्य अन्य राष्ट्रों के सदस्यों से अलग पहचाने जाते हैं। राष्ट्रीय चरित्र को बनाये रखना और मुख्यतः इसकी रचनात्मक शक्तियों का विकास राष्ट्र का सर्वोपरि कार्य है। इस कार्य के सम्पादन के लिए राज्य की शक्ति की आवश्यकता होती है, जो इसकी दूसरे राष्ट्रों से रक्षा करेगी और इसके विकास को प्रोत्साहन देगी। दूसरे शब्दों में, राष्ट्र को एक राज्य की आवश्यकता होती है। "एक राष्ट्र एक राज्य" इस प्रकार राष्ट्रवाद की राजनीतिक मान्यता है, राष्ट्र-राज्य इसका आदर्श है।

यद्यपि राष्ट्र को अपने अस्तित्व एवं विकास के लिए राज्य की शक्ति की आवश्यकता है, राज्य को अपनी शक्ति बनाए रखने और बढ़ाने के लिए राष्ट्रीय समुदाय की आवश्यकता होती है। विशेषतया जर्मनी के राष्ट्रवादी दर्शन में उदाहरणार्थ फिक्टे और हीगल के लेखों में—राष्ट्रीय चरित्र या राष्ट्रीय भावना राष्ट्रीय समुदाय की आत्मा की तरह दिखाई पड़ती है और राज्य का राजनीतिक संगठन शरीरवत् मालूम पड़ता है। राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रीय सम्प्रदायों में अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए दोनों (शरीर और आत्मा) की आवश्यकता पड़ती है। बन्धुत्व की भावना, समान संस्कृति एवं परम्परा में सहभागी, समान भविष्य का बोध आदि राष्ट्रीय भावना और देश प्रेम के ये सब आधारभूत तत्व राष्ट्रवाद के द्वारा एक राजनीतिक रहस्यवाद में रूपान्तरित हो जाते हैं। इस राजनीतिक रहस्यवाद में राष्ट्रीय समुदाय और राज्य अतिमानवीय सत्तायें बन जाती हैं। राष्ट्र और राज्य अपने व्यक्तिगत सदस्यों से अलग और उनसे कहीं अधिक श्रेष्ठ माने जाते हैं। वे इसी प्रकार सम्माननीय बन जाते हैं जिस प्रकार प्राचीन काल में मूर्तियों की व्यक्ति तथा वस्तुओं के बलिदान द्वारा पूजा की जाती थी।

यह रहस्यवाद राष्ट्रीय चरित्र की जातीय उपासना की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। यहाँ राष्ट्र एक जीवधारी के रूप में समझा जाता है। जब तक

राष्ट्र की जाति विशुद्ध रहती है, वह राष्ट्रीय चरित्र को अपनी सभी शक्ति और वैभव के साथ प्रस्तुत करती है, बाह्य तत्त्वों के सम्मिश्रण से उत्पन्न जातीय विनयन राष्ट्र के चरित्र को भ्रष्ट और इस प्रकार राज्य की शक्ति को कम कर देता है। राष्ट्र की सजातीयता और जाति की विशुद्धता इस प्रकार राष्ट्रीय शक्ति के सार-तत्त्व मालूम पड़ते हैं। और राष्ट्रीय शक्ति के निमित्त राष्ट्रीय अल्प-संख्यकों का या तो अनुरूप कर लेना चाहिए या निष्कासन कर देना चाहिये। किसी राष्ट्र का राष्ट्रीय स्वरूप साहस, निष्ठा, अनुशासन, उद्योग, सहनशक्ति बुद्धि एवं नेतृत्व के लिए अपेक्षित कौशल—इन सभी गुणों का संग्रह समझा जाता है। किसी राष्ट्र के पास इन विशेषताओं का होना उसके द्वारा अन्य राष्ट्रों पर महान शक्ति के प्रयोग को उचित ठहराता है, साथ ही ऐसी शक्ति का प्रयोग तभी सम्भव भी है। अपने राष्ट्र के गुणों को बढ़ा-चढ़ाकर मूल्यांकन करना राष्ट्रवाद का सामान्य लक्षण है। यही प्रभु जाति की मान्यता के अनुसार आगे चलकर राष्ट्रीय चरित्र की मूर्तिवत पूजा का रूप ले लेता है। अपने राष्ट्रीय स्वरूप की उत्कृष्ट विशेषताओं के कारण स्वामि-जाति विश्व पर शासन करने वाली होती है। इन गुणों के कारण इसके पास विश्व व्यापी प्रभुत्व चलाने की संभाव्य शक्ति होती है, और यह राजनीतिज्ञता और सैनिक विजय का कार्य है कि उन सोई हुई क्षमताओं को विश्व-साम्राज्य की वास्तविकताओं में बदल दे।

राष्ट्रवाद और राष्ट्रवाद की भ्रष्ट सतान जातिवाद की बौद्धिक तथा राजनीतिक ज्यादतियों ने अराष्ट्रवादी मस्तिष्क को भूराजनीति की ज्यादतियों से भी कहीं बढ़कर बहुत सदमा पहुंचाया है और धक्का दिया है। भूराजनीति की ज्यादतियां तो मुख्यतया जर्मनी तक सीमित रही हैं और बड़ी गूढ़ भाषा में उनको व्यवहार में लाया गया। दूसरी ओर राष्ट्रवाद की ज्यादतियां धर्म-निरपेक्ष धर्म में ही तर्कसंगत रूप से विकसित होती हैं। इस धर्म-निरपेक्ष धर्म ने विनाशकारी धर्म-युद्धों की क्रूरता, दास बनाने की प्रवृत्ति और विश्व विजय की दृष्टि से कुछ विशेष देशों को ही अपने शिकंजे में जकड़ा है, फिर भी अन्य अनेक देशों पर सर्वत्र भारी प्रभाव डाला है। क्योंकि राष्ट्रवाद ने राजनीतिक दर्शन, कार्य-पद्धति और कार्य का मूल आधार एकमात्र राष्ट्रीय चरित्र को ही चुना है, इसलिये आलोचकों तथा प्रश्नकों की प्रवृत्ति अतिवादी दृष्टिकोण अपनाने की रही है। यही कारण है कि उन्होंने दूसरे छोर पर जाते हुए राष्ट्रीय चरित्र के अस्तित्व को ही मूलतः अस्वीकार कर दिया है। वे राष्ट्रवाद के काल्पनिक और व्यक्तिवादी मूल आधार को प्रदर्शित करने के लिये तुले रहे हैं और यह दिखलाने के लिये आतुर रहे हैं कि राष्ट्रवाद का तथाकथित प्रत्यक्ष आधार और राष्ट्रीय चरित्र एक कपोल-कल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

कोई राष्ट्रवाद और जातिवाद के आलोचकों से सहमत हो सकता है कि रक्त अर्थात्, एक विशेष समूह के सदस्यों के सामान्य जीव-वैज्ञानिक लक्षणों के आधार पर राष्ट्रीय चरित्र का तथाकथित अनिवार्य निर्धारण एक सर्वथा तथ्यहीन राजनीतिक प्रपंच है। कोई इस बात से भी सहमत हो सकता है कि एक विशुद्ध जाति के गुणों की स्थिरता से निकली दृढ़ राष्ट्रीय चरित्र की पूर्ण स्थिरता राजनीतिक क्यास-कल्पना की दुनिया से ही सम्बन्धित है। एक ही राष्ट्र के रूप में अनेक संयुक्त राज्यों के अस्तित्व और साथ ही उस राष्ट्र की दूसरों को आत्मसात् करने की शक्तियों को देखकर उपर्युक्त दोनों कथनों की सत्यता का विश्वसनीय प्रमाण मिल जाता है। इससे राष्ट्रीय चरित्र के अस्तित्व का पूर्ण निषेध करना और राष्ट्रीय शक्ति पर उसके प्रभाव को अस्वीकार करना अनुभव की सच्चाई के सर्वथा विपरीत है। इसके कुछ उदाहरण हम ऊपर दे चुके हैं। दूसरे राष्ट्रों की तुलना में किसी राष्ट्र की शक्ति के सही मूल्यांकन के मार्ग में इस प्रकार का निषेधीकरण उस भूल से किसी प्रकार कम नहीं है जो राष्ट्रीय चरित्र के जातिवादी दैवीकरण से होती है।

सैन्यवाद

सैन्यवाद सैनिक तैयारी से सम्बन्धित उसी प्रकार की भूल करता है जो भूराजनीति और राष्ट्रवाद भूगोल और राष्ट्रीय चरित्र के सम्बन्ध में करते हैं। सैन्यवाद की यह अवधारणा है कि एक राष्ट्र की शक्ति यदि पूर्णतया नहीं तो प्रधानतया उसकी सैनिक शक्ति में, विशेषतया शक्ति के परिमाण में निहित होती है। विश्व की सबसे बड़ी सेना, सबसे बड़ी जल सेना, सबसे बड़ी और तेज वायु-सेना राष्ट्रीय शक्ति के एकमात्र नहीं तो प्रबल प्रतीक बन जाते हैं।

जिन राष्ट्रों की सैनिक शक्ति वृहत् एवं स्थायी स्थल सेनाओं में न होकर जल-सेना में है, वे इस बात को समझे बिना कि इन्होंने भी अपना विशेष प्रकार का सैन्यवाद विकसित कर लिया है जर्मनी, रूस या सोवियत संघ के सैन्यवाद की भर्त्सना के साथ चित्रण करने के आदी हैं। महान सैन्य लेखकों से प्रभावित होकर इन राष्ट्रों ने राष्ट्रीय शक्ति के लिए जल-सेना के आकार और गुणावस्था के महत्त्व पर अनुपात से भी कहीं अधिक जोर दिया है। संयुक्त राज्य में सैनिक तैयारी के औद्योगिक पहलुओं जैसे वायुयानों की गति और संचार-व्यवस्था और अस्त्रों की विचित्रता को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने की व्यापक प्रवृत्ति है। औसत जर्मन व्यक्ति की, राजपथ पर चाल चलने वाले सैनिकों के अपार समूह से गलत धारणा बनी। एक औसत रूसी व्यक्ति विस्तृत क्षेत्र और जनसंख्या को विशेषत

मई दिवस का विस्तीर्ण लाल-क्षत्र का आच्छादित करती हुई भारी भीड़ के रूप में दिखलाई पड़ती है के आधार पर रूसी शक्ति की सर्वोच्चता का अनुभव करता है। एक अग्रज एक विशाल आकार वाले ड्रनाट की उपस्थिति में अपना संतुलन को खो दिया करता था। बहुत से अमरीकन अणुबम के रहस्य द्वारा उत्पन्न आकर्षण के वशीभूत हो जाते थे। सैनिक तैयारी के प्रति दिखलाई पड़ने वाली ऐसी सब प्रवृत्तियां समान रूप से यह भ्रामक विश्वास लेकर चलती हैं कि किसी राष्ट्र की शक्ति के लिए सब कुछ या कम से कम बहुत कुछ महत्व सैनिक तत्व का होता है जिसकी धारणा सैनिकों और शस्त्रों की संख्या और गुण के आधार पर हुआ करती है।[5]

सैन्यवादी भूल की चर्चा के बाद राष्ट्रीय शक्ति की भौतिक शक्ति के साथ समीकरण की बात अनिवार्य रूप से चल पड़ती है। थ्योडोर रूजवेल्ट की प्रसिद्ध उक्ति को दोहराते हुए हम कह सकते हैं कि जोर से बोलना और बड़ी छड़ी लेकर चलना वास्तव में सैन्यवादी कूटनीति की प्रिय प्रणाली है। इस प्रणाली के प्रवर्तक इस बात से अनभिज्ञ हैं कि कभी-कभी धीरे से बोलना और बड़ी छड़ी लेकर चलना बुद्धिमानी है और कभी-कभी बड़ी छड़ी का घर छोड़ जाना, जहां से आवश्यकता पड़ने पर वह मिल सके, भी बुद्धिमानी है। सैनिक शक्ति के बारे में ही एक मात्र चिन्तित रहने के कारण सैन्यवाद शक्ति के अमूर्त तत्वों का

---

5 सैन्यवाद का यह पहलू R H Tawney की The Acquisitive Society (New York Harcourt Brace and Company, 1920) p 44 में प्रभावोत्पादक ढंग से वर्णित है सैन्यवाद पर सेना का नहीं, वरन् समाज का लक्षण है इसका मूल तत्व किसी विशेष गुणावस्था या सैनिक तैयारी की मात्रा नहीं है, वरन् एक मन स्थिति है जो तब तक समाप्त नहीं होती जब तक सामाजिक जीवन के एक विशेष तत्व पर जोर इतना देकर उसे इतना ऊपर न उठा दें कि वह बाकी सब का ही निर्णायक बन जाय जिस ध्येय के लिए सैनिक शक्तियां होती हैं, वह भुला दिया जाता है व अपने अधिकार के लिये स्थित समझी जाती हैं और उनके लिये किसी औचित्य की आवश्यकता नहीं समझी जाती एक सम्पूर्ण समाज में आवश्यक साधन समझे जाने के स्थान पर ये सैनिक शक्तियां भ्रम विश्वासपूर्वक पूज्य बन बैठती हैं। मानों कि समाज उनके बिना निर्जन और निर्जीव स्थान हो जायगा। इस प्रकार राजनीतिक संस्था में सामाजिक व्यवस्थायें बुद्धि तथा नैतिकता एवं धर्म एक ही गतिविधि के अनुकूल एक ही सांचे में ढलने के लिए जुड़ने दिये जाते हैं। वास्तव में स्वस्थ समाज में सैनिक शक्ति एक अधीनस्थ साधन है, ठीक उसी प्रकार जैसे पुलिस या जेलों का अनुरक्षण अथवा गन्दी नालियों की सफाई। परन्तु एक सैन्यवादी राज्य में वह स्वयं समाज का एक प्रकार का रहस्यमय मूलतत्व बन जाती है।

सैन्यवाद एक प्रतीक पूजा है जिसमें एक मूर्ति के समक्ष मनुष्यों को कामों को भुकना पड़ता है और मूर्ति को प्रसन्न करने के लिए उनके शरीरों को दुःख भुगतना पड़ता है। (प्रकाशक की अनुमति से पुन मुद्रित)।

निरस्कार की दृष्टि से देखना है। शक्ति के अमूर्त तत्वों के बिना एक शक्तिशाली राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को अपने अधीन बनाने के लिए इरा सकता है अथवा वह बहुत अधिक शक्ति के कारण उन पर विजयी हो सकता है परन्तु इस प्रकार से जीते हुए क्षेत्रों पर वह शासन नहीं कर सकता। क्योंकि उन पर शासन करने के लिए उसे उनकी स्वेच्छापूर्ण स्वीकृति नहीं मिल पाती। अन्त में सैन्यवाद की शक्ति को आत्म-नियन्त्रण से अनुप्राणित उस शक्ति के समक्ष झुकना पड़ता है जो हमेशा राष्ट्रीय शक्ति के प्रभाव को मानते हुए अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग करती है। साम्राज्य निर्माण की रोमन और ब्रिटिश नीतियों की सफलताओं की तुलना में स्पार्टा जर्मनी और जापान के सैन्यवाद की असफलतायें उस बौद्धिक भूल के जिसको हम सैन्यवाद की संज्ञा देते हैं भयंकर व्यावहारिक परिणाम दिखलाती है।

इस प्रकार सैन्यवाद की भूलों से राष्ट्रीय शक्ति के दावे और रूप खोखले में नया ही तीखापन आ जाता है। सैन्यवाद इस विरोधाभास को समझने में असमर्थ है कि भौतिक शक्ति की सर्वोच्चता का अर्थ आवश्यक रूप से व्यापक राष्ट्रीय शक्ति की सर्वोच्चता नहीं है और यही इसकी भूल का सारांश है। जब कोई राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति की तुला पर अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य के द्वारा जुटाई हुई सर्वोच्च भौतिक शक्ति रख देता है तो वह अपने मुकाबले में उन सभी प्रतियोगियों को डटा हुआ पाता है, जो उसकी शक्ति की बराबरी करने अथवा उससे आगे निकल जाने के लिए अधिक से अधिक प्रयत्नशील होते हैं। इससे पता लगता है कि उस राष्ट्र के कोई मित्र नहीं हैं केवल अनुचर और शत्रु हैं। पन्द्रहवीं सदी से आधुनिक राज्य प्रणाली के अभ्युदय से लेकर अब तक कोई भी एक राष्ट्र केवल भौतिक शक्ति मात्र से किसी निश्चित लम्बी अवधि तक शेष संसार द्वारा अपनी इच्छा मनवाने में समर्थ नहीं हुआ है। सैन्यवाद के मार्ग का अनुसरण करने वाला कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के सम्मिलित प्रतिरोध का जिसको इसकी उत्कृष्ट भौतिक शक्ति के भय ने जन्म दिया था, टक्कर लेने में पर्याप्त शक्तिशाली नहीं सिद्ध हुआ।

यदि कोई एक राष्ट्र आधुनिक युग में लगातार प्रमुखता की स्थिति बनाये रख सका है तो इसके लिए वह अपनी अन्तर्निहित शक्ति उस सर्वोच्च शक्ति की स्थापना और उस सर्वोच्च शक्ति के विवेक प्रयोग के अपूर्व सामंजस्य का ऋणी है। इस प्रकार एक ओर ग्रेट ब्रिटेन अपनी उत्कृष्टता के प्रति सभी गम्भीर चुनौतियों का पराजय करने में समर्थ हो सका, क्योंकि आत्म नियन्त्रण के कारण इसको शक्तिशाली मित्र मिल गये जिनके कारण वह वास्तव में उत्कृष्ट बन सका। दूसरी ओर, यह उस चुनौती देने की प्रेरणा को भी न्यूनतम बनाये रहा

मई दिवस का विस्तीर्ण लान-क्षेत्र को आच्छादित करती हुई भारी भीड के रूप में दिखलाई पड़ती है के आधार पर ऐसा शक्ति की सर्वोच्चता का अनुभव करता है। एक अंग्रेज एक विशाल आकार वाले ड्रेडनाट की उपस्थिति में अपना संतुलन को खो दिया करता था। बहुत से अमरीकन अणुबम के रहस्य द्वारा उत्पन्न आकर्षण के वशीभूत हो जाते थे। सैनिक तैयारी के प्रति दिखलाई पडने वाली ऐसी सब प्रवृत्तियां समान रूप से यह भ्रामक विश्वास लेकर चलती हैं कि किसी राष्ट्र की शक्ति के लिए सब कुछ या कम से कम बहुत कुछ महत्व सैनिक तत्व का ही है जिसकी धारणा सैनिकों और शस्त्रों की संख्या और गुण के आधार पर हुआ करती है।[5]

सैन्यवादी भूल की चर्चा के बाद राष्ट्रीय शक्ति की भौतिक शक्ति के साथ समीकरण की बात अनिवार्य रूप से चल पडती है। थियोडोर रूजवेल्ट की प्रसिद्ध उक्ति को दोहराते हुए हम कह सकते हैं कि जोर से बोलना और बडी छडी लेकर चलना वास्तव में सैन्यवादी कूटनीति की प्रिय प्रणाली है। इस प्रणाली के प्रवर्तक इस बात से अनभिज्ञ हैं कि कभी-कभी धीरे से बोलना और छोटी छडी लेकर चलना बुद्धिमानी है और कभी-कभी बडी छडी को घर छोड जाना, जहां से आवश्यकता पडने पर वह मिल सके, भी बुद्धिमानी है। सैनिक शक्ति के बारे में ही एक मात्र चिन्तित रहने के कारण सैन्यवाद शक्ति के अमूर्त तत्वों की

---

5 सैन्यवाद का यह पहलू R H Tawney की The Acquisitive Society (New York Harcourt Brace and Company, 1920) p 44 में प्रभावोत्पादक ढंग से वर्णित है सैन्यवाद एक सेना का नहीं वरन् समाज का लक्षण है। इसका मूल तत्व किसी विशेष गुणावस्था या सैनिक तैयारी की मात्रा नहीं है वरन् एक मन स्थिति है जो तब तक सभी तरह नहीं होती जब तक सामाजिक जीवन के एक विशेष तत्व पर जोर देकर उसे इतना ऊपर न उठा दें कि वह बाकी सब से भी निर्णायक बन जाय। जिस ध्येय के लिए सैनिक शक्तियां होती हैं वह भुला दिया जाता है वे अपने अधिकार के लिए स्थित समझी जाती हैं और उनके लिए किसी औचित्य की आवश्यकता नहीं समझी जाती एक अपूर्ण संसार में आवश्यक साधन समझे जाने के स्थान पर ये सैनिक शक्तियां अविश्वासपूर्वक पूज्य बन बैठती हैं। मानों कि संसार उनके बिना निर्धन और निर्जीव स्थान हो जायगा। इस प्रकार राजनीतिक संस्थाएं, सामाजिक व्यवस्थायें बुद्धि तथा नैतिकता एवं धर्म एक ही गतिविधि के अनुकूल एक ही सांचे में ढलने के लिए कुचल दिए जाते हैं। वास्तव में स्वस्थ समाज में सैनिक शक्ति एक अधीनस्थ साधन है, ठीक उसी प्रकार जैसे पुलिस या जलों का अनुरक्षण अथवा गन्दी नालियों की सफाई। परन्तु एक सैन्यवादी राज्य में वह स्वयं समाज का एक प्रकार का रहस्यमय मूलतत्व बन जाती है।

सैन्यवाद एक प्रतीक पूजा है जिसमें एक मूर्ति के समक्ष मनुष्यों को आत्माओं को भुकना पडता है और मूर्ति को प्रसन्न करने के लिए उनके शरीरों का दुख भुगतना पडता है। (प्रकाशक की अनुमति से पुनः मुद्रित)।

तिरस्कार की दृष्टि से देखता है। शक्ति के अमूर्त तत्वों के बिना एक शक्तिशाली राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को अपने अधीन बनाने के लिए डरा सकता है अथवा वह बहुत अधिक शक्ति के कारण उन पर विजयी हो सकता है परन्तु इस प्रकार से जीते हुए क्षेत्रों पर वह शासन नहीं कर सकता। क्योंकि उन पर शासन करने के लिए उसे उनकी स्वेच्छापूर्ण स्वीकृति नहीं मिल पाती। अन्त में सैन्यवाद की शक्ति का आत्म-नियंत्रण में अनुप्राणित उस शक्ति के समक्ष झुकना पड़ता है जो हमेशा राष्ट्रीय शक्ति के प्रभाव को मानते हुए अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग करती है। साम्राज्य निर्माण की रोमन और ब्रिटिश नीतियों की सफलताओं की तुलना में स्पार्टा, जर्मनी और जापान के सैन्यवाद की असफलतायें उस बौद्धिक भूल के जिसको हम सैन्यवाद की संज्ञा देते हैं भयंकर व्यावहारिक परिणाम दिखलाती हैं।

इस प्रकार सैन्यवाद की भूलों से राष्ट्रीय शक्ति के दांव और रूप रखाओं में नया ही तीखापन आ जाता है। सैन्यवाद इस विरोधाभास को समझने में असमर्थ है कि भौतिक शक्ति की सर्वोच्चता का अर्थ आवश्यक रूप से व्यापक राष्ट्रीय शक्ति की सर्वोच्चता नहीं है और यहां इसकी भूल का सार्रांश है। जब कोई राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति की तुला पर अपनी सम्पूर्ण सामर्थ्य के द्वारा जुटाई हुई सर्वोच्च भौतिक शक्ति रख देता है तो वह अपने मुकाबले में उन सभी प्रतियोगियों को डटा हुआ पाता है जो उसकी शक्ति की बराबरी करने अथवा उससे आगे निकल जाने के लिये अधिक से अधिक प्रयत्नशील होते हैं। उससे पता लगता है कि उस राष्ट्र का कोई मित्र नहीं है केवल अनुचर और शत्रु हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी में आधुनिक राज्य प्रणाली के अभ्युदय से लेकर अब तक कभी भी एक राष्ट्र केवल भौतिक शक्ति मात्र से किसी निश्चित लम्बी अवधि तक सारे संसार द्वारा अपनी इच्छा मनवाने में समर्थ नहीं हुआ है। सैन्यवाद के मार्ग का अनुगमन करने वाला कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के सम्मिलित प्रतिरोध का जिसको इसकी उत्कृष्ट भौतिक शक्ति के भय ने जन्म दिया था टक्कर लेने में पर्याप्त शक्तिशाली नहीं सिद्ध हुआ।

यदि कोई एक राष्ट्र आधुनिक युग में लगातार प्रमुखता की स्थिति बनाये रख सका है तो इसके लिए वह अपनी अन्तर्निहित शक्ति उस सर्वोच्च शक्ति की ख्याति और उस सर्वोच्च शक्ति के विरल प्रयोग के अपूर्व सामंजस्य का ऋणी है। इस प्रकार एक ओर ग्रेट ब्रिटेन अपनी उत्कृष्टता के प्रति सभी गम्भीर चुनौतियों का पराभव करने में समर्थ हो सका, क्योंकि आत्म नियंत्रण के कारण उसका शक्तिशाली मित्र मिल गये जिनके कारण वह वास्तव में उत्कृष्ट बन सका। दूसरी ओर यह उस चुनौती देने की प्रेरणा को भी न्यूनतम बनाये रहा

क्योंकि इसकी उत्कृष्टता ने दूसरे राष्ट्रों के अस्तित्व को कोई भय पैदा नहीं किया। जब ग्रेट ब्रिटेन अपनी सर्वोच्च शक्ति के द्वार पर खड़ा था इसने अपने सबसे बड़े राजनीतिक विचारक की चेतावनी का ध्यान से सुना—वह चेतावनी आज भी उतनी ही समयानुकूल है जितनी यह 1793 में थी जब वह सर्वप्रथम दी गई थी —

महत्वाकांक्षा के विरुद्ध सावधानियों में से एक सावधानी अपनी ही महत्वाकांक्षा के विरुद्ध होना कोई गलत काम नहीं है। मुझे सही प्रकार से कहना चाहिए कि मैं अपनी स्वयं की शक्ति एवं स्वयं अपनी महत्वाकांक्षा से सबसे अधिक डरता हूं। यह कहना हास्यास्पद है कि हम मनुष्य नहीं हैं और मनुष्य होने के नाते हम किसी न किसी साधन द्वारा अपने आप का भाग न बढ़ाना चाहेंगे। क्या हम कह सकते हैं कि इस समय भी हम अप्रिय पैदा करने वाले तरीकों से समृद्ध नहीं हुए हैं। अब भी संसार के सभी वाणिज्य पर हमारा एकाधिकार है। भारत में हमारा साम्राज्य एक भयानक बात है। क्या ही अच्छा हो यदि हम ऐसी स्थिति में हो जाएं कि हम केवल वाणिज्य में ही बढ़ चढ़ न हों वरन् तनिक नियंत्रण के बिना भी अपनी स्वेच्छा से सभी दूसरे राष्ट्रों के वाणिज्य को पूर्णतया आश्रित बनाने में पूर्ण रूप से समर्थ हो और तो भी हम कह सकें कि हम इस अदभुत और अब तक अनसुनी शक्ति का दुरुपयोग नहीं करेंगे। परन्तु प्रत्येक दूसरा राष्ट्र यही सोचेगा कि हम इसका दुरुपयोग करेंगे। यह असम्भव है परन्तु आज नहीं तो कल यह वस्तु स्थिति एक ऐसे सम्मिश्रण को जन्म देगी जिसका अन्त हमारे विनाश में होगा।[6]

6 Edmund Burke Remarks on the Policy of the Allies with Respect to France Works Vol IV (Boston Little Brown and Company 1899) p 457

ग्यारहवाँ अध्याय

शक्ति-संतुलन[1]

विभिन्न राष्ट्रों की शक्ति संचय की अभिलाषा, प्रत्येक की या तो यथापूर्व स्थिति को बनाये रखने या उलटने का प्रयत्न, आवश्यक रूप से एक ऐसी समाकृति को, जो कि शक्ति संतुलन कहलाती है, और उन नीतियों को जिनका उद्देश्य इसको बनाये रखना है, जन्म देता है। ऐसा आवश्यकतावश हम जानबूझ कर कह रहे हैं। हमने "आवश्यक" शब्द का जानबूझ कर प्रयोग किया है। क्योंकि यहाँ हम एसी बुनियादी और संगलन धारणा का सामना करते हैं जिसने अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के समझने में बाधा डाली है और हमें भ्रान्तियों का शिकार बनाया है। यह भ्रान्त धारणा इस आग्रह को लेकर चलती है कि लोगों को यह स्वतन्त्रता है कि वे एक ओर बल प्रयोग पर आधारित राजनीति तथा उससे उत्पन्न पद्धति और दूसरी ओर भिन्न एवं श्रेष्ठतर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में से किसी एक को चुन सकते हैं। इस भ्रान्ति का आग्रह है कि शक्ति संतुलन पर आधारित विदेश-नीति विभिन्न सम्भव विदेश नीतियों में से ही एक है तथा केवल मूर्ख और दुष्ट लोग ही उपयुक्त दोनों विकल्पों में से पहले (अर्थात् बल प्रयोग पर आधारित राजनीति) को चुनते हैं और दूसरे (अर्थात् श्रेष्ठतर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों) को अस्वीकृत कर देते हैं।

आगे के पृष्ठों में यह दिखलाया जायगा कि अंतर्राष्ट्रीय शक्ति-संतुलन एक सामान्य सामाजिक सिद्धान्त की केवल एक विशेष अभिव्यक्ति है जिसके प्रति विभिन्न स्वतन्त्र इकाइयों से बने सभी समाज अपने अवयवों की स्वतन्त्रता के लिए आभारी होते हैं। साथ ही यह भी दिखलाया जायगा कि शक्ति-संतुलन और इसे बनाये रखने का उद्देश्य लेकर चलने वाली नीतियाँ केवल अपरिहार्य ही नहीं हैं वरन् प्रभुता सम्पन्न राष्ट्रों के समाज के अपेक्षित स्थायित्व लाने वाले तत्त्व हैं। आगे

1 शक्ति संतुलन शब्द मूलपाठ में चार विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है —
(1) एक विशेष स्थिति के उद्देश्य पर निर्धारित नीति (2) कोई व्यावहारिक स्थिति (3) लगभग समान शक्ति वितरण (4) शक्ति का किसी भी प्रकार का वितरण
जब कभी इस शब्द का सामान्य रूप में प्रयोग हुआ है तो इसका एक ऐसी व्यावहारिक स्थिति से तात्पर्य है जिसमें शक्ति विभिन्न राष्ट्रों में लगभग समान रूप में वितरित होती है।

यह भी बतलाया जायगा कि अंतर्राष्ट्रीय शक्ति-सतुलन के अस्थायित्व का कारण यह नहीं है कि यह सिद्धात ही दोषपूर्ण है, वरन् इसके लिए वे स्थितियाँ उत्तरदायी है, जिनके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्रो के समाज मे इस सिद्धान्त को लागू किया जाता है।

सामाजिक साम्यावस्था

एक सार्वभौम अवधारणा के रूप मे शक्ति-सतुलन

सतुलन के पर्यायवाची के रूप में साम्यावस्था की अवधारणा का प्रयोग बहुत से विज्ञानो में होता है, जैसे भौतिक-विज्ञान, जीव-विज्ञान अर्थशास्त्र एव राजनीति विज्ञान। सन्तुलन' बहुत सी स्वतन्त्र शक्तियो से निर्मित व्यवस्था के भीतरी स्थायित्व का सूचित करता है। जब कभी यह साम्यावस्था किसी वाह्य शक्ति अथवा इस व्यवस्था के ही किन्ही सघटक तत्वो में परिवर्तन आ जाने से बिगड जाती है तो उस व्यवस्था मे फिर नये सिरे से या तो मौलिक या एक नई साम्यावस्था की स्थापना की प्रवृत्ति दिखलाई पडती है। इस प्रकार साम्यावस्था मानवी शरीर मे विद्यमान रहती है। जब मानवी शरीर विकास की प्रक्रिया मे परिवर्तित होता रहता है, तब भी यह साम्यावस्था उस समय तक बनी रहती है, जब तक शरीर के विभिन्न अवयवो मे होने वाले परिवर्तन शरीर के स्थायित्व को बिगाड नही देते। विशेषतया ऐसा तभी होता है जब विभिन्न अगो मे आये हुए परिमाणात्मक एव गुणात्मक परिवर्तन एक दूसरे के अनुपात मे हो। किन्तु जब शरीर मे कोई घाव हो जाता है या बाह्य हस्तक्षेप के कारण वह अपने किसी अवयव को खो बैठता है अथवा उसके किसी अवयव मे विनाशक तत्वो की वृद्धि हो जाती है या उसमे रोग के लक्षण उभरने लगते है, तो शरीर की साम्यावस्था बिगड जाती है। ऐसी स्थिति मे शरीर या तो पहले जैसी ही अथवा पहले स्तर से भिन्न स्तर की साम्यावस्था पुन स्थापित करके पहली साम्यावस्था मे आये हुए विक्षोभ को प्रभावहीन करने की चेष्टा करता है।

2 उदाहरणार्थ, मानवीय शरीर और समाज के बीच साम्यावस्था की प्रभावोत्पादक तुलना का Walter B Cannon की The Wisdom of the Body (New York W W Norton & Company, 1932) pp 293, 294 पर देखिए।

'प्रारम्भ मे ही यह ध्यान देने योग्य है कि राजकीय ढाचा स्वय ही स्थूल, स्वचालन स्थायित्वकारी शक्तियो के कुछ लक्षणो को प्रकट करता है। पिछले अध्याय मे मैने यह अभिधारणा व्यक्त की थी कि एक पचीदा व्यवस्था मे स्थायित्व की निरन्तरता की एक निश्चित मात्रा हुआ करती है, जो स्वत ही इस बात की

साम्यावस्था की यही अवधारणा सामाजिक विज्ञानों में प्रयुक्त होती है उदाहरण के लिए अर्थशास्त्र के विभिन्न तत्वों जैसे बचत एवं निवेश (Investment) निर्यात एवं आयात, बचत एवं माँग लागत एव मूल्य के बीच सम्बन्धों के सन्दर्भ में। समकालीन पूँजीवाद भी स्वयं एक प्रतिपूरक शक्ति की व्यवस्था कहा गया है। यही बात सम्पूर्ण समाज पर लागू होती है। इस प्रकार हम विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में जैसे पूर्व और पश्चिम उत्तर और दक्षिण तथा विभिन्न प्रकार के क्रियाकलापों में जैसे कृषि और उद्योग भारी एवं हल्के उद्योग, बचत एवं व्यापार उत्पादक एवं उपभोक्ता प्रबन्धक एवं श्रम, और विभिन्न समवायी-वर्ग जैसे नगर एव देहात वृद्ध अथवा एवं युवा आर्थिक एव राजनीतिक वर्ग मध्यवर्ग तथा उच्च एव निम्नवर्ग के मध्य उचित सन्तुलन बनाये रखने की खोज में रहते हैं।

ऐसी सभी साम्यावस्थाओं की बुनियाद में दो धारणायें होती हैं प्रथम यह है कि सतुलित किए जाने वाले सभी तत्त्व समाज के लिए आवश्यक हैं या समाज में कायम रहने के अधिकारी हैं और दूसरी यह है कि उनमें साम्यावस्था

माबी है कि अनेक शक्तियाँ उस निरन्तरता को बनाए रखने [illegible] रही हैं अथवा कार्य करने के लिए तैयार हैं [illegible] पाया जाता है तो वह इसलिए कि [illegible] परिवर्तन विरोधी तत्त्व अथवा शक्तियाँ [illegible] अभाव [illegible] दान तथ्य सिद्ध करते हैं कि [illegible] समाज के लिए अपनी वर्तमान स्थिर दशा में भी [illegible] पुरातनवाद [illegible] प्रगति पर अंकुश [illegible] करने वाले विद्रोह [illegible] परिणाम पुरातनवाद [illegible] पुनरावृत्ति [illegible] निकलता है शिथिल शासन [illegible] शक्ति प्राप्त होती है परन्तु उनकी कठोर [illegible] कठोर शासन में [illegible] हुए और उनमें [illegible] बुद्ध के [illegible] और [illegible] विकासपूर्ण [illegible] कठिनाई [illegible] सहायक [illegible] नारी रूप [illegible] पूर्व [illegible] बैठ [illegible] प्रकाश और उन की पुनरावृत्तियों का अध्ययन [illegible] म भवन [illegible] सामाजिक [illegible] महायक है [illegible] अध्ययन से हम [illegible] सामाजिक [illegible] बहुत [illegible] को यह [illegible] मानव समाज [illegible] भावना [illegible] (प्रकाशकों की अनुमति से पुनर्मुद्रित Walter B Cannon द्वारा 19 2 1939 का [illegible])

3 John K Galbraith American Capitalism the Concept of Countervailing Power (Boston Honvton Mifflin, 1952)

की स्थिति के बिना एक तत्त्व दूसरों पर हावी हो जायेगा उनके हितो एव अधिकारो का अतिक्रमण करेगा और अन्त म उन्हें नष्ट कर सकता है। परिणाम स्वरूप यह ऐसी सभी साम्यावस्थाओ का ध्येय है कि उनके सघटक तत्वो की अनकरूपता को नष्ट किए बिना व्यवस्था के स्थायित्व को बनाय रखा जा सके। यदि लक्ष्य केवल स्थायित्व ही हो तो यह एक तत्त्व द्वारा दूसरे तत्त्वो को नष्ट करने अथवा दबाने के बाद उनके स्थान को लेकर प्राप्त किया जा सकता है। चूँकि लक्ष्य स्थायित्व के साथ व्यवस्था के सभी तत्त्वो के अस्तित्व को बनाये रखना है अत साम्यावस्था का उद्देश्य एक तत्त्व को दूसरे तत्त्वो पर सत्तारूढ होने से रोकना है। साम्यावस्था को बनाये रखने के लिए उपयोग म आने वाला साधन यही है कि *विभिन्न तत्त्वो को अपनी विरोधी प्रवृत्तियो का अनुसरण उस सीमा* बिन्दु तक हो करने दिया जाय जहा तक एक ही प्रवृत्ति इतनी सबल नहीं होती कि दूसरो की प्रवृत्ति को दबाद परन्तु इतनी सबल अवश्य हो कि दूसरो को स्वय को दबाने से रोक सके। लॉर्ड ब्रिजेज के शब्दो म

सतुलन ही हमारा स्थायित्व है और बुद्धिमता अज्ञान के अधिकारपूर्ण प्रशासन म है।

सामाजिक साम्यावस्था के यन्त्र-विज्ञान का कही भी इतनी बुद्धिमता एव साथ ही सादगी से वर्णन नहीं किया गया जितना 'द फैडरालिस्ट' म किया गया है। अमरिकन शासन का निरोध एव सतुलन व्यवस्था के सम्बन्ध म द फैडरेलिस्ट न० 51 का कथन है —

विरोधी प्रतिद्वन्द्वी रुचियो द्वारा उच्चतर उद्देश्यो की कमी की पूर्ति करने की यह नीति व्यक्तिगत एव सावजनिक मानवीय कार्यों की समस्त व्यवस्था म खोजी जा सकती है। यह हम शक्ति के सभी अधीनस्थ वितरणो म विशेषतया दिखलाई पडती है जहा हमेशा यह लक्ष्य रहता है कि विभिन्न पदो का ऐसे ढग से विभाजित एव सयोजित किया जाय ताकि प्रत्येक एक दूसरे पर अकुश बन कर रह सके—ताकि प्रत्येक के व्यक्तिगत हित सावजनिक हितो के सरक्षक बन जायें। इस प्रकार की दूरदर्शिता की बातें राज्य की सर्वोच्च शक्तियो के वितरण म कम आवश्यक नहीं होती।

जॉन रेन्डाल्फ के शब्दो म आप चर्म पत्र की सारत खाला को सीमाओं से भले ही ढाप सकें, परन्तु शक्ति को तो केवल शक्ति ही नियत्रित कर सकती है।[4]

देशीय राजनीति मे शक्ति सतुलन

अन्तराष्ट्रीय क्षेत्र से बाहर साम्यावस्था अथवा सतुलन की अवधारणा का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयोग देशीय (घरेलू) शासन एव राजनीति के क्षेत्र म

4 William Cabell Bruce, John Randolph of Roanoke (New

हुआ है । मसदाय निकायो न बहुधा अपन आप म एक शक्ति सतुलन विकसित कर लिया है । बन्दनीय व्यवस्था विशेष रूप म एस विकास क लिए उपयुक्त है यश या समूह जिनम स प्रत्यक विधान मण्डल क अल्पमत का प्रतिनिधित्व करता है बहुधा एक दूसर का विरोध करन और बहुमत का निर्माण एक तीसर समूह के मता पर निभर होना है । तीसरा समूह दोना म स सम्भाव्य या वास्तविक

5 यह म त [illegible] की आवश्यकता नहीं [illegible] यद्यपि शक्ति सतुलन एक सार्वभौमिक सर्वव्यापि तत्त्व है तथापि इसका कार्य एव परिणाम स्थान (घरेलू) एव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म भिन्न [illegible] स्थानीय राजनीति [illegible] शक्ति सतुलन [illegible] सम्पूर्ण समाज [illegible] शासन स्थायी [illegible] परिचालन [illegible] और [illegible] समाज एक शक्ति [illegible] मर्वैश्वर [illegible] द्वारा [illegible] द्वारा सम्बद्ध रहता है [illegible] समाज [illegible] नाता है तथा [illegible] समाज [illegible] का स्वतन्त्र [illegible] शक्ति सतुलन [illegible] क्रियाशीलता पर निभर [illegible] है [illegible] विवेचन अध्याय 14 म [illegible]

[illegible] J Allen Sm th [illegible] The Gro th and Decadence of Const tutional Government (ew York Henr Holt and Company 1930 pp 241 242 [illegible] अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों [illegible] सा [illegible] नौं की [illegible] करन वाल [illegible] मान्य एव [illegible] अन्य [illegible] किसी प्रकार शुद्ध [illegible] होता है स्वतन्त्र [illegible] विश्व म [illegible] प्रकार [illegible] म अपना [illegible] करन [illegible] की लालसा [illegible] करती है यह [illegible] की गाथा या किसी [illegible] विरुद्ध [illegible] शक्तिशाली [illegible] होना उपयुक्त [illegible] गया और [illegible] गया [illegible] है इससे प्रत्यक्ष [illegible] है कि [illegible] का [illegible] होन पर आवश्यक सहायता [illegible] शक्ति सतुलन बनाए रखन क लिए [illegible] है [illegible] एक राज्य द्वारा [illegible] सतुलन क सिद्धान्तों का अन्तरराष्ट्रीय मामलों म प्रयोग है [illegible] यह बात सही है कि यदि किसी राष्ट्र की प्रबल स्थिति बन जाती है तो शेष संसार क [illegible] एव [illegible] का एक स्पष्ट खतरा पैदा हो जाता है शक्ति [illegible] रूप [illegible] किन्तु [illegible] उस शक्ति का [illegible] शक्तिवान समझना प्रारम्भ कर दता है तभी वह शक्ति अन्तर्राष्ट्रीय [illegible] का खतरा बन जाती है अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति म शक्ति सतुलन बनाए [illegible] म किसी विशेष सामान्य स्वार्थ [illegible] न होन [illegible] आवश्यक [illegible] है परन्तु चूंकि शक्ति सतुलन का विचार आक्रमण [illegible] पर आधारित है और यह मानना है कि प्रत्यक [illegible] युद्ध [illegible] होना चाहिए यह किसी [illegible] म [illegible]

(प्रकाश [illegible] अनुमान [illegible] The Cambridge Modern History Vol X (New York The Macmillan Co 1908) p 276 की पंक्ति ।

रूप मे शक्तिहीन समूह से मिलने की चेष्टा करता है, ताकि अधिक शक्तिशाली पर नियत्रण लगाया जा सके। सयुक्तराज्य अमेरिका की कांग्रस की द्विदलीय व्यवस्था ने उस समय इस निरोध एव सतुलन की प्रक्रिया के विशेष स्वरूप का प्रदर्शन किया जब फ्रेंकलिन डी रूजवेल्ट के शासन के अन्तिम वर्षों और ट्रूमैन के शासन के अधिकांश भाग म दक्षिण के प्रजातन्त्रवादियों ने बहुत से मामलों पर गणतन्त्रवादी अल्पसख्यकों के साथ मतदान करते हुए अपने आपको एक तीसरे दल म शामिल किया। उन्होंने केवल कांग्रेस म लोकतन्त्रवादी बहुमत पर ही प्रतिबन्ध नहीं लगाये, वरन् कार्यकारिणी शाखा पर भी जिस पर लोकतन्त्रवादी दल का ही नियत्रण था[6]।

अमरीकन सरकार एक ऐसी शासन व्यवस्था का उत्कृष्ट आधुनिक उदाहरण है जिसका स्थायित्व उसके सघटक भागों की साम्यावस्था द्वारा कायम है। लाड ब्राइस के शब्दों म

सविधान स्पष्ट रूप से निरोध एव सतुलन के साधन के रूप म रखा गया था। सरकार की प्रत्येक शाखा दूसरी को नियत्रित करने के लिए तथा पूर्ण की साम्यावस्था बनाये रखने के लिए थी। विधान मण्डल कार्यकारिणी तथा न्यायपालिका (Judiciary) दोनों को सतुलित रखने के लिए था। विधान मण्डल के दोनों सदन एक दूसरे को सतुलित रखने के लिए थे। राष्ट्रीय सरकार अपनी सभी शाखाओं के समेत राज्य सरकारों के विरुद्ध सतुलित की गई थी। चूंकि साम्यावस्था एक लिखित सविधान की सरचना म रखी गई थी जोकि स्वय लोगों के अतिरिक्त अन्य किसी के द्वारा परिवर्तित नहीं हो सकता था अत राष्ट्रीय सरकार की कोई भी शाखा अपनी स्वतत्रता को बनाये हुए है और निश्चित सीमाओं म दूसरों की अवज्ञा कर सकती है।

---

6 John Stuart Mill के Considerations on Representative Government (New York Henry Holt and Company, 1882) p 142 पर मामाये ममस्या पर प्रभावशाली विवेचन के साथ तुलना कीजिए (हिन्दी १८८२) पृ० १४२ इस प्रकार सगठित समाज की स्थिति में, यदि प्रतिनिधि व्यवस्था आदर्श रूप मे पूर्ण बनाई जा सके और यदि उस स्थिति म इस को बनाये रखना सभव हो तो, इसका सगठन ऐसा होना चाहिए कि ये दोनों वर्ग शारीरिक श्रम करने वाले और उनके सजातीय एक ओर, श्रमिक के नियोक्ता एव उनके सजातीय दूसरी ओर प्रतिनिधि प्रणाली की व्यवस्था म समान रूप मे सतुलित हों और उन म से प्रत्येक ससद म लगभग आधे मतों को प्रभावित करता हो। यदि हम यह मानें कि प्रत्येक वर्ग का बहुमत आपसी मतभेदों में मुख्यतया अपने वर्ग हितों से ही शासित होगा तब भी ■ प्रत्येक वर्ग में एक अल्पमत ऐसा होगा जो वर्ग हित के विचार को तर्क न्याय एव सर्व हित की भावना से गौण मानेगा ऐसी स्थिति में दोनों वर्गों म से किसी एक वर्ग का यह अल्पमत दूसरे पूरे वर्ग से मिलकर अनुचित और असहनीय मांगें प्रस्तुत करने वाले अपने ही वर्ग के बहुमत का पासा पलट देगा।'

'परन्तु राजनीतिक निकायों एवं पदाधिकारियों (अर्थात् वे लोग जो उन पदों को समय-समय पर भरते हैं) में आवश्यक रूप से एक निरन्तर संघर्ष रहता है—एक वैसा ही जीवन-संघर्ष जिसे श्री डार्विन ने पौधों एवं जीवधारियों में विद्यमान ठहराया है। पौधों एवं पशुओं के अनुरूप ही राजनीतिक क्षेत्र में यह संघर्ष प्रत्येक निकाय अथवा पद को अपने परिरक्षण के लिए अधिकतम शक्ति के प्रयोग करने और किसी भी दिशा में जहां तक सम्भव हो सके अपनी अभिरुचियों का विकास करने के लिए, उद्दीप्त करता है। अमरीकन सरकार की प्रत्येक शाखा ने अपने क्षेत्र तथा अपनी शक्तियों के विस्तार का प्रयास किया है, प्रत्येक ने विशेष दिशाओं में प्रगति की है परन्तु उनकी गति दूसरी दिशाओं में दूसरी शाखाओं के समान अथवा अधिक शक्तिशाली दबाव से रोक दी गई है।'[7]

द फेडरेलिस्ट नं० 51 ने इस गत्यात्मक साम्यावस्था अथवा चार्ल्स ए० बीअर्ड के कथनानुसार शक्ति के गतिशील समानान्तर चतुर्भुज[8] की शक्ति संरचना को सुस्पष्ट किया है: 'कमी को सरकार के आन्तरिक ढांचे की इस प्रकार व्यवस्था करके पूरा करना चाहिए कि इसके ढांचे के विभिन्न भाग अपने पारस्परिक सम्बन्धों द्वारा एक दूसरे को अपने उपयुक्त स्थानों में रखने के साधन बन सकें। ... परन्तु एक ही विभाग में धीरे-धीरे अनेक शक्तियों के केन्द्रीकरण के विरुद्ध बचाव का उपाय यह है कि प्रत्येक विभाग के संचालक को दूसरे विभागों द्वारा सीमोल्लंघन और हस्तक्षेप करने की प्रवृत्ति की रोकथाम के लिए आवश्यक संवैधानिक साधन तथा व्यक्तिगत प्रेरणाएं दी जायें। रक्षा की व्यवस्था इस तथा ऐसे ही दूसरे सभी मामलों में आक्रमण के भय के अनुपात में बनानी चाहिए। महत्वाकांक्षा से ही महत्वाकांक्षा का प्रतिकार कराना चाहिए। मनुष्य के हित को उस स्थान के अधिकारों से सम्बद्ध करना चाहिए ... । इन संवैधानिक व्यवस्थाओं का उद्देश्य समाज के एक भाग की दूसरे भागों के अन्यायों के विरुद्ध रक्षा करना है। नागरिकों के विभिन्न वर्गों के आवश्यक रूप में विभिन्न हित होते हैं। यदि सामान्य हित द्वारा बहुमत पुनः एक हो जाय तो अल्पसंख्यकों के हित अधिक अरक्षित हो जायेंगे।'

लेखक हेमिल्टन अथवा मैडिसन को अल्पसंख्यकों के अधिकारों की सुरक्षा की आशा थी क्योंकि वे समझते थे कि समाज में इतने भिन्न प्रकार के लोग रहते हैं कि पूरे समाज में बहुमत का अन्यायपूर्ण गठन अव्यावहारिक नहीं तो

7 The American Commonwealth (New York: The Macmillan Company, 1891) Vol. I, pp. 390-1.

8 The Republic (New York: The Viking Press, 1944) pp. 190-1.

बन्त कुछ अनश्रोनी मा वात है। समाज नागरिका के अनेक वर्गों हितो और भागा म बटा होगा। इसलिय व्यक्ति अथवा अल्पमस्यको क अधिकारा को बहुमत के स्वाथपूर्ण सम्मिश्रण का कोई खतरा ही नहीं होगा। हिता की विभिन्नता पर सुरक्षा निभर करेगा तथा हिता की सख्या पर सुरक्षा की मात्रा निभर होगी। और चार्स ए बाअड अमरिकन सरकार के तत्त्व निम को सक्षप म इस प्रकार प्रस्तुत करते है — निर्माता समझते थे कि वास्तव सरकार ही शक्ति है। उन्होने मनुष्या का महत्त्वाकाक्षाओं हिता एव शक्तियो का एक दूसरे के विरुद्ध तीन विभागा म इस प्रकार रखने का प्रयत्न किया कि कुछ हा पदाधिकारियों के समूह को सभी शक्ति को हथियाने एव आतकपूर्ण ढग स शक्तिशाली बनने से रोका जा सके। [9]

अमरीकन शासन की सरचना एव गतिशीलता के विश्लेषण म द फेडरलिस्ट लाड ब्राइस तथा चाल्स ए बीअड के द्वारा प्रयुक्त मान्यताओं को यदि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की पारिभाषिक शब्दावली में प्रस्तुत किया जाय तो कुछ ऐसे प्रमुख तत्त्व उभर आते है जो अमरीकन सविधान की निरोध एव सतुलन की व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति सतुलन की व्यवस्था दोनो में समान रूप म पाये जाते है। दूसरे शब्दो म समान प्रेरक शक्तियो ने निरोध एव सतुलन की अमरीकन व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति सतुलन का व्यवस्था को जन्म दिया है। दोनो व्यवस्थायें अपने द्वारा प्रयुक्त साधनो की दृष्टि से तथा अपने उद्देश्य की पूर्ति की मात्रा की दृष्टि से चाहे जितनी भिन्न हो अपने सघटक तत्त्वो की स्वाधीनता और अपने स्थायित्व के लिए एक जैसे कार्यों की पूर्ति करती है। दोनो ही परिवर्तन असन्तुलन तथा एव भिन्न स्तर पर नवीन सतुलन की स्थापना की समान गत्यात्मक प्रक्रियाओं के अधीन होती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति सतुलन के कौन से प्रमुख उदाहरण है व कौन सी विशेष स्थितियाँ हैं जिनमे शक्ति सतुलन का उदय होता है और जिनमें यह क्रियाशील रहता है? शक्ति सतुलन क्या काय करता है? और अर्वाचीन इतिहास म यह किन किन विभिन्न रूपो से होकर गुजरा है?

शक्ति—सतुलन के दो मुख्य प्रतिरूप

अन्तर्राष्ट्रीय समाज के मूल में दो तत्त्व है एक तो इसके तत्त्वो अर्थात् अलग अलग राष्ट्रो की बहुविधता और दूसरा उनका परस्पर विरोध। राष्ट्रो की व्यक्तिगत रूप से शक्ति हथियाने की आकाक्षायें एक दूसरे स टकरा सकती है—

9 पूर्वोक्त The Works of John C Calhoun (Columbia A S Johnston 1851) Vol 1, pp 35 6 38 9 म John Calhoun का A Disquisition on Government देखिए।

और यदि राष्ट्र म स बहुत अधिक नहीं तो कुछ राष्ट्र इतिहास के किसी विशेष क्षण मे दो भिन्न रूपो मे प्रकट होते है। दूसरे शब्दो मे, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र म शक्ति-सघर्ष दो भिन्न रूपो म चालू रखा जा सकता है।

प्रत्यक्ष विरोध का प्रतिरूप

राष्ट्र व के सम्बन्ध म राष्ट्र अ साम्राज्यवादी नीति अगीकार कर सकता है, और राष्ट्र ब उस नीति का यथापूर्व स्थिति की नीति अथवा स्वय अपनी साम्राज्यवादी नीति से प्रतिकार कर सकता है। फ्रास तथा उसके मित्रो का १८१२ में रूस का विरोध करना जापान द्वारा चीन का १९३१ म १९४१ तक विरोध करना १९४१ म सयुक्तराष्ट्र तथा धुरीय (Axis) शक्तियों का विरोध इसी के उदाहरण है। यह राष्ट्रो में प्रत्यक्ष विरोध का उदाहरण है जिसम एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर अपनी शक्ति स्थापित करना चाहता है और दूसरा झुकने म इन्कार कर देता है।

राष्ट्र अ राष्ट्र स के प्रति भी साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण कर सकता है जिसका स या तो प्रतिरोध कर सकता है या उस नीति को मौन सहमति दे सकता है, जबकि राष्ट्र व राष्ट्र स के साथ या तो साम्राज्यवाद की नीति का अनुसरण करता है या एक यथापूर्व स्थिति की नीति का। इस मामले में अ की नीति का लक्ष्य स को अपने अधीन करना है। इसके विपरीत व अ की नीति के विरुद्ध है, क्योकि या तो वह स के साथ यथापूर्व स्थिति बनाये रखना चाहता है, या स को अपने अधीन करना चाहता है। यहा अ और ब के सघर्ष का उदाहरण प्रत्यक्ष विरोध का नही है, वरन् प्रतिस्पर्द्धा का है जिसका उद्देश्य स को अधीन बनाना है। इसी प्रतिस्पर्द्धा के कारण ही शक्ति के लिए अ और ब में सघर्ष होता है। ईरान के आधिपत्य के लिए ग्रेट ब्रिटेन तथा रूस मे होने वाली प्रतिस्पर्द्धा जिसमे दोनो देशो का शक्ति के लिए सघर्ष पिछले सौ वर्षों में अनेक बार प्रकट हुआ है इसी का उदाहरण है। यही बात दूसरे विश्वयुद्ध के उपरान्त जर्मनी को आधिपत्य मे लेने के लिए होने वाली प्रतिस्पर्द्धा में भी स्पष्ट है जिसने फ्रान्स ग्रेट ब्रिटेन सोवियत सघ तथा सयुक्तराज्य के सम्बन्धो को प्रभावित किया है। दक्षिण पूर्व एशिया के देशो के नियत्रण के लिए एक ओर सयुक्तराज्य और दूसरी ओर सोवियत सघ तथा साम्यवादी चीन में होने वाली प्रतिस्पर्द्धा भी इसी का एक और उदाहरण है।

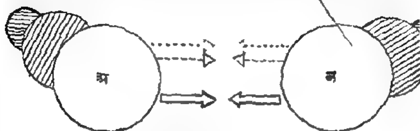
इन जैसी स्थितियो म ही शक्ति सतुलन चलता है और अपने विशिष्ट कार्यों का सम्पादन करता है। प्रत्यक्ष विरोध के उदाहरण के रूप म शक्ति-सतुलन दूसरे राष्ट्रो की नीतियो पर एक राष्ट्र की अपनी नीतियों के हावी होने मे दिखलाई पडता है। अ, व क सम्बन्ध मे अपनी शक्ति इस सीमा तक

बढ़ाना चाहता है कि वह ब के निर्णयों का नियन्त्रण कर सके और इस प्रकार अपनी साम्राज्यवादी नीति को सफल बना सके। ब, दूसरी ओर, इस हद तक अपनी शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करेगा कि वह अ के दबाव का प्रतिरोध कर सके और इस प्रकार अ की नीति को विफल बना सके अथवा सफलता की सम्भावना से स्वयं साम्राज्यवादी नीति को अंगीकार कर ले। दूसरी स्थिति में अ को अपनी ओर से अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिए ताकि वह ब की साम्राज्यवादी नीति का प्रतिरोध कर सके और सफलता के अवसर की ताक में अपनी साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण कर सके। विरोधी शक्तियों का यह सन्तुलन चलता रहेगा। एक राष्ट्र की शक्ति वृद्धि दूसरे की शक्ति में कम से कम आनुपातिक वृद्धि को उस समय तक बनाये रखेगी, जब तक सम्बन्धित राष्ट्र अपनी साम्राज्यवादी नीतियों के उद्देश्य नहीं बदलते—अथवा एक राष्ट्र दूसरे से निश्चित लाभ नहीं प्राप्त कर लेता या ऐसा विश्वास नहीं कर लेता। तब या तो शक्तिहीन शक्तिशाली के समक्ष झुक जाता है या फिर समस्या का निर्णय युद्ध के द्वारा होता है।

जब तक शक्ति-सतुलन ऐसी स्थिति में सफलतापूर्वक चलता है, यह दो कार्य सम्पादित करता है। शक्ति-सतुलन का एक कार्य तो यह है कि यह राष्ट्रों के परस्पर सम्बन्धों में स्थायित्व को जन्म देता है किन्तु ऐसे स्थायित्व के भंग होने का सदैव भय रहता है और इसलिए इसके पुनः स्थापन की सदैव आवश्यकता रहती है। तथापि शक्ति की उपर्युक्त स्थितियों में ऐसा ही स्थायित्व सम्भव हो सकता है क्योंकि हमारे सामने यहाँ शक्ति-सतुलन में निहित ऐसा भीतरी विरोध है जिस पर काबू नहीं पाया जा सकता। शक्ति-सतुलन के दो कार्यों में से एक के द्वारा राष्ट्रों के बीच शक्ति सम्बन्धों में स्थायित्व लाने की सम्भावना की जाती है तथापि ये सम्बन्ध, जैसाकि हम देख चुके है, स्वाभाविक रूप से निरन्तर ही परिवर्तनशील है, वे आवश्यक रूप से अस्थायी है। चूंकि जो बाट पलडे की सापेक्ष स्थिति का निर्धारण करते हैं, निरन्तर *या तो अधिक भारी या अधिक हल्के होने की प्रवृत्ति* के कारण परिवर्तनशील होते है इसलिए जो कुछ स्थायित्व शक्ति-सतुलन प्राप्त कर पाता है, वह अनिश्चित होता है, साथ ही बीच में हस्तक्षेप करने वाले परिवर्तनों के सामञ्जस्य के अधीन और अनुरूप होता है। दूसरा कार्य, जिसको शक्ति का सफल सतुलन इन परिस्थितियों में कर पाता है वह एक राष्ट्र के स्वातन्त्र्य की दूसरे के आधिपत्य से सुरक्षा करना है।

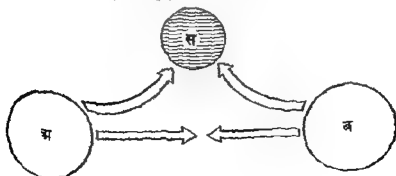
शक्ति-सतुलन आकस्मिक रूप से या केवल थोड़े से समय भर के लिए ही अस्थायी एवं गत्यात्मक नहीं होता है, वरन् स्वभावत: एवं निरन्तर गत्यात्मक

होता है। सतुलन के इस अस्थायी एव गत्यात्मक स्वरूप के कारण सम्बन्धित राष्ट्रो की स्वतन्त्रता भी आवश्यक रूप से अनिश्चित एव खतरे में रहती है। यहा यह उल्लेखनीय है कि सम्बद्ध राष्ट्रो की स्वतन्त्रता का एक-मात्र आधार प्रत्येक राष्ट्र की दूसरे राष्ट्रो की शक्ति से अपनी स्वतन्त्रता के अतिक्रमण की प्रवृत्ति का [illegible] की शक्ति ही है। निम्नाकित रेखाचित्र में यह स्थिति सुस्पष्ट हो जाती है

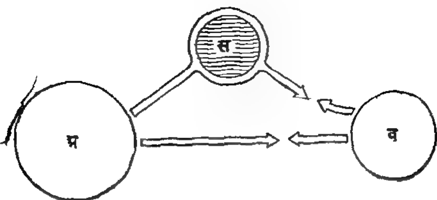


प्रतिस्पर्द्धा का प्रतिरूप

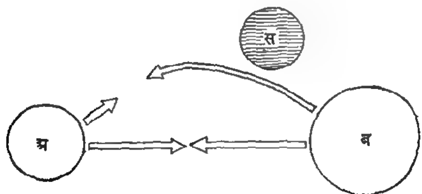
दूसरे प्रतिरूप अर्थात् प्रतिस्पर्द्धा के प्रतिरूप, में शक्ति-सतुलन की यान्त्रिकी उनके समरूप ही है, जिनकी विवेचना हो चुकी है। स के आधिपत्य के लिए आवश्यक अ की शक्ति ब के विरोध से, ब की शक्ति से यदि घट नही जाती तो सतुलित हो जाती है, जबकि, अपनी बारी मे, स पर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए ब की शक्ति यदि अ की शक्ति से घट नही जाती तो सतुलित हो जाती है। तथापि, जिस अतिरिक्त कार्य को सतुलन यहां अ और ब के सम्बन्धो मे एक अनिश्चित स्थायित्व एव सुरक्षा लाने के लिए करता है, वह अ और ब के अतिक्रमण से स की स्वतन्त्रता की रक्षा है। स की स्वतन्त्रता अ और ब के बीच स्थित शक्ति-सम्बन्धो का कार्य-मात्र है।



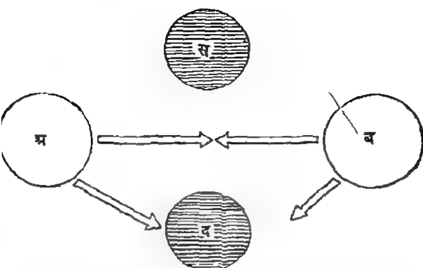
यदि ये सम्बन्ध साम्राज्यवादी राष्ट्र अ के पक्ष में निश्चित मोड लेते है—तो स की स्वतन्त्रता तुरन्त ही सकट में पड जायेगी।



यदि यथापूर्व-स्थिति वाला राष्ट्र जोकि ब है, एक निश्चित एवं स्थायी लाभ प्राप्त कर ले तो उस लाभ के मात्रानुकूल स की स्वतन्त्रता अधिक सुरक्षित होगी।



यदि, अन्त रूप में, साम्राज्यवादी राष्ट्र अ अपनी साम्राज्यवादी नीतियों को पूर्णतया छोड़ दे अथवा स्थायी रूप से उनको स से हटा कर दूसरे लक्ष्य—जोकि, द है—की ओर लगादे, तो स की स्वतन्त्रता स्थायी रूप से सुरक्षित हो जायेगी :



निर्बल राष्ट्रो की स्वतत्रता का बनाये रखने में शक्ति सतुलन के कार्य का प्रत्यक्ष कही भी इतनी मान्यता नही मिली, जितनी एडमन्ड बर्क ने दी है। फ्रासीसी मामलो पर अपने विचार प्रकट करते हुए उसने 1791 में कहा था

जब तक वे दो शासक (प्रशिया का राजा और जर्मनी का सम्राट्) एक दूसरे से अलग अलग है, तब तक जर्मनी की स्वतत्रता सुरक्षित है। परन्तु यदि वे एक दूसरे को यहाँ तक समझने लगें कि यह सोचे कि उनके अधिक प्रत्यक्ष एव निश्चित हितो की वृद्धि आनुपातिक विवधन में है न कि पारस्परिक कटौती में, अर्थात् यदि व यह सोचने लगे कि उनको लूट के बटवारे स अधिक सम्पन्न होने के अवसर मिलेगे न कि उन दोनो में से किसी भी द्वारा दूसरा को न लूट जाने देने की पुरानी नीति द्वारा उत्पन्न सुरक्षा से उसी क्षण से जर्मनी की स्वतत्रता समाप्त हो जायेगी।[1]

छोटे राष्ट्रो की स्वतत्रता सदैव ही या तो शक्ति सतुलन के द्वारा सम्भव रही है (जैसे द्वितीय विश्वयुद्ध न होने तक बेल्जियम और दूसरे बाल्कॉन देशो की), या एक सरक्षक राज्य के गौरव के कारण (जैसे मध्य एव दक्षिण अमेरिका के छोटे राज्य तथा पुर्तगाल की) या साम्राज्यवादी अभिलाषाओ के लिये आकर्षक न होने के कारण (जैसे स्विटजरलैण्ड तथा स्पेन की)। ऐसे छोटे राष्ट्रो की अपनी तटस्थता बनाये रखने की क्षमता इन कारणो में से एक या

1 Works, Vol IV (Boston Little, Brown, and Company, 1889), p 331.

दूसरे कारण से सम्भव रही है, उदाहरणार्थ, नेदरलेंड्स, डेनमार्क और नॉर्वे दूसरे विश्वयुद्ध के विपरीत पहले विश्वयुद्ध में और स्विट्जरलैण्ड और स्वीडन दोनों विश्वयुद्धों में।

ये ही तत्व तथा-कथित अन्तस्थ राज्यों के (निर्बल राज्य जोकि शक्तिशाली राज्यों के समीप स्थित होते हैं तथा उनकी सैनिक सुरक्षा के लिए उपयोगी होते हैं)—अस्तित्व के लिए उत्तरदायी है। एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में अपने इतिहास के प्रारम्भ-काल 1831 से लेकर द्वितीय विश्वयुद्ध तक का बेल्जियम एक अन्तस्थ राज्य का प्रमुख उदाहरण है, जो शक्ति-संतुलन के कारण ही अपना अस्तित्व बनाये रहा। सोवियत संघ की पश्चिमी एवं दक्षिण पश्चिमी सीमाओं पर फिनलैंड से बुल्गेरिया तक तथाकथित रूसी सुरक्षा-क्षेत्र के राष्ट्र अपने प्रभावशाली पड़ौसी की अनुमति से ही रहते हैं, और सैनिक तथा आर्थिक दृष्टि से उसका हित-साधन करते हैं।

कोरिया और शक्ति-संतुलन

इन सभी विभिन्न तत्वों में से कोरिया के भाग्य पर एक के बाद दूसरे का प्रभाव पड़ा है। इसकी भौगोलिक स्थिति चीन के समीप होने के कारण यह अपने लम्बे इतिहास के एक बड़े भाग तक अपने शक्तिशाली पड़ौसी के नियंत्रण अथवा हस्तक्षेप के कारण एक स्वायत्तशासी राज्य के रूप में रहा है। जब कभी चीन की शक्ति कोरिया के स्वायत्तशासन की रक्षा के लिए पर्याप्त नहीं रही, किसी दूसरे राष्ट्र, सामान्यत जापान ने, कोरिया के प्रायद्वीप पर पैर रखने की जगह प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। ईसा के एक शताब्दी पूर्व से, कोरिया का अंतर्राष्ट्रीय स्तर अधिकतया चीन की प्रभुता द्वारा निर्धारित हुआ है, अथवा चीन और जापान के बीच प्रतिद्वन्द्विता द्वारा।

सातवीं शताब्दी में कोरिया का एकीकरण ही स्वयं चीन के हस्तक्षेप का परिणाम था। तेरहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी में चीन की शक्ति के ह्रास के समय तक, कोरिया अपने अधिपति चीन के साथ अधीनस्थ की स्थिति में था और राजनीति एवं संस्कृति में चीन के नेतृत्व को स्वीकार करता था। सोलहवीं शताब्दी के अन्त से जापान, कोरिया पर आक्रमण करने और स्थायी सफलता न मिलने के बाद, चीन के दावे के विरुद्ध इस देश के ऊपर अपने नियंत्रण का दावा करता था। सन् 1894-95 के चीनी-जापानी युद्ध में सफलता के परिणाम-स्वरूप जापान अपने दावे को पूरा कर सका। फिर जापान के कोरिया पर नियंत्रण को रूस ने चुनौती दी तथा 1896 से रूस का प्रभाव प्रबल बन गया। कोरिया पर नियंत्रण को रूस एवं जापान के बीच

प्रतिद्वंद्विता का 1904—05 के रूसी-जापानी युद्ध में रूस की पराजय के साथ अन्त हुआ। कोरिया पर इस प्रकार जापान के सुदृढ रूप से स्थापित नियंत्रण का दूसरे विश्वयुद्ध में जापान की पराजय के साथ अन्त हो गया। तभी से कोरिया के बारे मे रूसी आकांक्षाओं पर नियंत्रण का जापान का स्थान संयुक्तराज्य ने ले लिया। चीन ने कोरियाई युद्ध मे हस्तक्षेप करके कोरिया के नियंत्रण के बारे मे अपनी परम्परागत रुचि पुन प्रकट की। इस प्रकार, दो हजार वर्षों में भी लम्बे समय तक कोरिया का भाग्य या तो किसी एक राष्ट्र के कोरिया पर आधिपत्य द्वारा निर्धारित हुआ है या उसपर नियंत्रण करने के लिये प्रतिस्पर्द्धा करने वाले दो राष्ट्रों के बीच शक्ति-सतुलन द्वारा।



बारहवाँ अध्याय

शक्ति-संतुलन की विभिन्न प्रणालियाँ

सतुलन की प्रक्रिया या तो अधिक भारी पलडे के भार को कम करके या अधिक हल्के पलडे के भार को वढा कर चलाई जा सकती है।

विभाजन करो और शासन करो

पहली प्रणाली की विशुद्ध एव श्रेष्ठ अभिव्यक्ति शान्ति-सन्धियो मे कडे प्रनिवन्ध लगाने एव देश-द्रोह तथा क्रान्ति भडकाने के अतिरिक्त, 'विभाजन करो और शासन करो' के सिद्धान्त मे हुई है। इसका प्रयोग उन राष्ट्रो द्वारा हुआ है जिन्होने अपन प्रनिस्पर्धियो को विभाजित करके अथवा उन्हें विभाजित रख कर निर्बल बनाने अथवा बनाये रखने का प्रयत्न किया है। फास की नीति जर्मनी के साथ, तथा शेप यूरोप के साथ सोवियत सघ की नीति, आधुनिक समय मे, इस प्रकार की सबसे अधिक सगत एव महत्वपूर्ण नीतियाँ है। सत्रहवी शताब्दी से द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त तक, यह फासीसी विदेश नीति का अपरिवर्तनीय सिद्धान्त रहा है कि या तो वह जर्मन साम्राज्य के वहुत से छोटे स्वतत्र राज्यो मे विभाजन का पक्ष ले या एक एकीकृत राष्ट्र के रूप मे एसे राज्यो का सम्मिलन न होने दे। रिश्लू (Richelieu) द्वारा जर्मनी के प्रोटस्टेंट शासको के समर्थन, राइनबन्द (Rhinebund) के नैपोलियन प्रथम द्वारा समर्थन, दक्षिण जर्मनी के शासको का नैपोलियन तृतीय द्वारा समर्थन, प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त पृथक्करण के निष्फल आन्दोलन तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् जर्मनी के एकीकरण के विरोध मे—सब के पीछे—एक ही मूल आधार दिखलाई पडता है। वह समय-समय पर यूरोप मे शक्ति-सतुलन का विचार है, जिसको फास के मतानुसार एक सबल जर्मन राज्य से भारी खतरा था। इसी प्रकार सोवियत सघ ने 1910 से 1929 तक के समय से आज तक निरन्तर यूरोप के एकीकरण की सभी योजनाओं का विरोध इस मान्यता पर किया है कि यूरोपीय राष्ट्रो की विभाजित शक्ति का एक "पाश्चात्य गुट' मे एकत्रीकरण सोवियत सघ के शत्रुओ को इतनी शक्ति दे देगा, जिससे उसकी सुरक्षा को खतरा हो जायेगा।

विभिन्न राष्ट्रो के बीच शक्ति के सतुलन की दूसरी प्रणाली अपेक्षाकृत निर्बल राष्ट्र की शक्ति को बढाना है। इस प्रणाली को दो विभिन्न साधनो द्वारा चलाया जा सकता है या तो ब अपनी शक्ति इतनी पर्याप्त मात्रा मे

कहा सकता है कि अ की शक्ति में यदि आगे नहीं निकल जाता तो उसके कुप्रभाव को रोक तो सके और इसी प्रकार इस स्थिति के विपरीत कहा जा सकता है अथवा, ब अपनी शक्ति का एकीकरण ऐसे सभी दूसरे राज्यों के साथ करदे जो अ के साथ एक प्रकार की नीति का ही व्यवहार करते हैं। ऐसी स्थिति में अ अपनी शक्ति का उन सभी राष्ट्रों के साथ एकीकरण कर लेगा जो ब के साथ ऐसी ही नीति का व्यवहार करते हैं। मुआवजा देने की नीति शस्त्रीकरण की दौड़ तथा निरस्त्रीकरण पहले विकल्प के उदाहरण हैं और सन्धियों की नीति दूसरे विकल्प का उदाहरण है।

क्षतिपूरण

अठारहवीं एवं उन्नीसवीं सदियों में इस शक्ति-सन्तुलन को बनाए रखने के लिए जोकि एक राष्ट्र के प्रादेशिक अर्जनों द्वारा भंग हो चुका था या जिसके भंग होने की सम्भावना थी, प्रादेशिक प्रकार के क्षतिपूरण एक सामान्य युक्ति समझे जाते थे। 1713 की यूट्रेक्ट की सन्धि ने, जिसने स्पेनिश उत्तराधिकार के युद्ध का अन्त किया, प्रथम बार प्रादेशिक क्षतिपूरणों के द्वारा स्पष्टतया शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त को मान्यता दी। इसने स्पेन के बहुत से यूरोपीय तथा औपनिवेशिक क्षेत्रों, हैप्सबर्गों तथा बूरबों में जैसा कि सन्धि में बतलाया गया है 'अड कन्सर-वेन्डम इन यूरोप इक्विलिब्रियम' (यूरोपीय साम्यावस्था बनाए रखने के लिए) वितरण की व्यवस्था की।

पोलैंड के 1772 1793 तथा 1795 के तीनों विभाजन, एक अर्थ में शक्ति-सन्तुलन के विशिष्ट काल के अन्त के सूचक हैं। ये अपने महत्त्व की पुनः पुष्टि क्षतिपूरण के सिद्धान्त के निर्देशन में करते हैं। इनके कारणों की चर्चा हम बाद में करेंगे। चूंकि पोलैंड के मूल्य पर आस्ट्रिया प्रशिया तथा रूस में से किसी एक ही द्वारा किए गए प्रादेशिक अर्जन शक्ति के सन्तुलन को भंग कर देते, तीनों राष्ट्र पोलिश प्रदेश को विभाजित करने पर इस प्रकार सहमत हो गए कि उनमें आपस में शक्ति का वितरण विभाजनों के बाद भी लगभग वही हो, जैसा कि पहले था। यह पोलैंड के प्रादेशिक अर्जन में समान रूप से अभिरुचि रखने वाले राष्ट्रों के मध्य समझौता था। 1772 की आस्ट्रिया और रूस के बीच हुई सन्धि में यह अनुबन्ध भी था कि 'अर्जन पूर्णतया समान होंगे, एक का भाग दूसरे के भाग से अधिक नहीं हो सकता।

भूमि की उर्वरता तथा सम्बद्ध जन-संख्या की गणना एवं गुणावस्था का प्रयोग वस्तुनिष्ठ मापदण्डों के रूप में हुआ। इनसे उस शक्ति में वृद्धि का निर्धारण होता था जिसे व्यक्तिगत रूप से राष्ट्रों ने प्रादेशिक अर्जन में प्राप्त किया था। अठारहवीं शताब्दी में जब यह अपरिष्कृत रूप में प्रयुक्त होता था, वियना

की कांग्रेस ने सन 1815 में एक सांख्यिकीय आयोग की नियुक्ति करके इस नीति को परिपक्व किया। उक्त आयोग को संख्या गुणावस्था तथा जनसंख्या के क्षेत्रों के मूल्यांकन का काम सौंपा गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले भाग तथा बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में क्षतिपूरण का सिद्धान्त फिर जानबूझ कर औपनिवेशिक प्रदेशों के वितरण तथा औपनिवेशिक एवं अर्द्ध-औपनिवेशिक प्रभाव-क्षेत्रों के सीमन्तीकरण में प्रयुक्त हुआ था। उस काल में विशेषतया अफ्रीका बड़ी औपनिवेशिक शक्तियों के लिए प्रभाव-क्षेत्रों का सीमन्तीकरण करने वाली बहुत-सी सन्धियों का विषय था। इस प्रकार फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन तथा इटली में ईथोपिया पर आधिपत्य करने की प्रतिस्पर्द्धा को पोलैंड के विभाजन के अनुरूप, 1906 की सन्धि द्वारा अस्थायी रूप से समाप्त कर दिया गया। सम्बद्ध राष्ट्रों के मध्य उस क्षेत्र में शक्ति-सतुलन बनाये रखने के लिए इसने देश को तीन प्रभाव-क्षेत्रों में विभाजित कर दिया। इसी प्रकार ईरान के सम्बन्ध में ग्रेट ब्रिटेन तथा रूस की प्रतिद्वन्द्विता का परिणाम 1907 की आंग्ल-रूसी सन्धि में निकला। इसने दोनों पक्षों के लिए प्रभाव-क्षेत्रों की एवं ईरान के एकमात्र अधिकार में एक तटस्थ-क्षेत्र की स्थापना की। इस सन्धि में क्षेत्रिक प्रभुसत्ता के पूर्ण विमर्जन द्वारा क्षतिपूरण नहीं किया गया। वरन् इसमें निश्चित क्षेत्रों के किसी विशेष राष्ट्र के एकमात्र लाभ के लिए व्यापारिक शोषण, राजनीतिक एवं सैनिक प्रभाव के विस्तार तथा अन्त में प्रभुसत्ता के स्थापन के लिए आरक्षण द्वारा क्षतिपूरण किया गया है। दूसरे शब्दों में, उस विशेष राष्ट्र को सम्बन्धित क्षेत्र पर पूरा हक न होते हुए भी किसी दूसरे राष्ट्र से प्रतिस्पर्द्धा अथवा विरोध के बिना अपने प्रभाव-क्षेत्र में कार्रवाई का अधिकार है। दूसरे राष्ट्र को अपने प्रभाव-क्षेत्र में पहले राज्य से उसी प्रकार हस्तक्षेप से निवृत्ति का दावा करने का अधिकार है।

वहाँ भी जहाँ क्षतिपूरण का सिद्धान्त जानबूझ कर प्रयुक्त नहीं होता, जैसाकि पूर्वकथित सन्धियों में था, एक शक्ति-सतुलन की व्यवस्था के अन्तर्गत यह क्षतिपूरण क्षेत्रिक अथवा दूसरे प्रकार की राजनीतिक व्यवस्थाओं से कहीं भी अनुपस्थित नहीं है। क्योंकि, ऐसी व्यवस्था में, कोई भी राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को बदले में आनुपातिक लाभों की प्रत्याशा के बिना राजनीतिक लाभ देने के लिए सहमत नहीं होगा। यह प्रत्याशा आधार सहित भी हो सकती है तथा इसके विपरीत भी। राजनीतिक समझौते को जन्म देने वाली राजनयिक वार्ताओं की सौदाबाज़ी भी अपने सामान्यतम रूप में क्षतिपूरण का सिद्धान्त ही है और इस प्रकार यह शक्ति-सन्तुलन का ही एक अंग है।

शस्त्रीकरण

जिन प्रधान साधनो द्वारा एक राष्ट्र अपनी शक्ति से शक्ति-सतुलन बनाये रखने अथवा उसको पुन स्थापित करने का प्रयत्न करता है अस्त्र शस्त्र हैं। अस्त्र-शस्त्रों की दौड, जिसमे राष्ट्र अ पहले राष्ट्र ब के अस्त्र-शस्त्रों के बराबर पहुँचने तथा फिर उससे आगे निकल जाने का प्रयत्न करता है और जिसमे इसके विपरीत ब अ से आगे निकल जाने का प्रयत्न करता है एक अस्थायी गत्यात्मक शक्ति सतुलन का प्रारूपिक उपकरण है। शस्त्रीकरण की दौड का आवश्यक उपसिद्धान्त निरन्तर बढने वाला सैनिक तैयारियो का बोझा है, जिसपर राष्ट्रीय आय-व्यय का अधिकाधिक भाग व्यय होता है और जो सदैव भय, सन्देह तथा अरक्षा का विस्तार करता है। इसका उदाहरण प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व की वह स्थिति है जबकि जर्मनी एव ग्रेट ब्रिटेन के मध्य नौसैनिक प्रतिस्पर्द्धा थी तथा फ्रांसीसी एव जर्मन सैनाओं की प्रतिद्वन्द्विता चल रही थी।

इस प्रकार की स्थितियो को मान्यता देने का ही यह परिणाम है कि नैपोलियन-युद्धों के अन्त से प्रतिस्पर्द्धी राष्ट्रो के आनुपातिक निरस्त्रीकरण द्वारा यदि स्थायी शान्ति नही तो स्थायी शक्ति सतुलन बनाने के लिए बार-बार प्रयत्न हुए है। अस्त्र शस्त्रो की आनुपातिक कटौती द्वारा शक्ति-सतुलन के स्थायीकरण की तकनीक प्रादेशिक क्षतिपूरण की तकनीक से कुछ मिलती जुलती है। क्योंकि दोनों ही तकनीको का उस प्रभाव के मात्रात्मक मूल्याकन की आवश्यकता है जोकि ऐसी व्यवस्था व्यक्तिगत राष्ट्रो की अपनी अपनी शक्ति पर डाल सकती है। ऐसे मात्रात्मक मूल्याकन करने मे आई हुई कठिनाइयाँ, निरस्त्रीकरण के द्वारा स्थायी शक्ति सतुलन के सृजन के बहुत से प्रयत्नो की असफलता के लिये बहुत हद तक उत्तरदायी होती है। उदाहरणार्थ 1932 की फ्रांसीसी सेना की सैनिक शक्ति का जर्मनी की औद्योगिक क्षमता द्वारा निरूपित सैनिक शक्ति के साथ सयोजित करने मे उपस्थित कठिनाइयाँ शक्ति-सतुलन के प्रयत्नो की असफलता में योग देने वाली थी। इस प्रकार की एकमात्र उल्लेखनीय सफलता 1922 की वाशिंगटन नौ-सैनिक सन्धि थी जिसमें ग्रेट ब्रिटेन, सयुक्त-राज्य, जापान फ्रास तथा इटली नौ-सैनिक अस्त्र-शस्त्रों की आनुपातिक कटौती और रोक थाम पर सहमत हो गये। तथापि यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह सन्धि प्रशान्त महासागर में होने वाले एक व्यापक राजनीतिक एव प्रादेशिक बन्दोबस्त का अग थी जिसने उस क्षेत्र के आग्ल-अमरीकी प्रमुत्व के आधार पर शक्ति-सम्बन्धों के स्थायीकरण का प्रयत्न किया।[1]

1 निरस्त्रीकरण की समस्या पर अधिक विस्तार सहित चर्चा अध्याय २३ म होगी।

ऐतिहासिक दृष्टि से शक्ति सतुलन की अत्यधिक महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति दो वियुक्त राष्टो के सतुलन म नही है वरन् यह एक राष्ट अथवा राष्टा क सश्रय तथा एक दूसरे सश्रय के सम्बन्धा म पाई जाती है।

सश्रयो की सामान्य प्रकृति

सश्रय एक बहुल राज्य व्यवस्था म प्रचलित शक्ति सतुलन की आवश्यक क्रिया है। परस्पर प्रतिस्पर्द्धा म लगे हुए राष्ट अ और ब के समक्ष अपनी सापक्ष शक्ति स्थितियो का बनाय रखन तथा सुधारने क तीन विकल्प है। व अपनी निजी शक्ति बढा सकत है व अपनी शक्ति म अन्य राष्टो की शक्ति जोड सकते है अथवा विरोधी राष्ट की शक्ति के साथ दूसरे राष्टो की शक्ति को मिलने स रोक सकते है। जब व प्रथम विकल्प को चुनते है तो वे सश्रयो की नीति का अनुसरण करत हैं।

इसलिए कोई राष्ट सश्रयो की नीति का अनुसरण करेगा अथवा नहीं, यह सिद्धान्त का विषय नही है बल्कि परिस्थितियो पर निर्भर है। यदि किसी राष्ट्र को विश्वास हो कि वह बिना किसी की सहायता के अपन को सुरक्षित रखने म पर्याप्त रूप स समर्थ है अथवा सश्रय से होन वाल दायित्वो का भार प्रत्याशित लाभो स अधिक है तो वह स श्रयो स बचेगा। इन कारणो म स एक या दूसरे या दोनो कारणो के आधार पर ही अपन इतिहास के अधिकाश भाग मे ग्रट ब्रिटन तथा सयुक्त राज्य दूसरे राष्टो के साथ शान्तिकालीन सश्रयो म सम्मिलित होन स दूर रह है।

फिर भी ग्रट ब्रिटन और सयुक्त राज्य भी परस्पर सश्रय करन से बचते रहे है यद्यपि 1823 के मुनरो सिद्धान्त की घोषणा क समय स लकर 1941 म पर्ल हारबर पर हुए आक्रमण तक कम से कम दूसरे यूरोपीय राष्टो के साथ इस प्रकार स काय करते रह है जस कि वे स श्रय बद्ध हो। इस काल म उनक सम्बन्ध न एक दूसरी ऐसा स्थिति का उदाहरण प्रस्तुत किया जिसमें राष्ट सश्रय क बिना काम चला सत है। यह उस समय हुआ जब उनके हित विचारपूर्ण नीतियो एव कार्यो की इतन स्पष्ट रूप स अपेक्षा रखत थ कि इन हितो नीतियो एव कार्यों का स्पष्ट निरूपण एक सश्रय सधि क रूप म अनावश्यक प्रतीत होता था।

ग्रट ब्रिटन और सयुक्तराज्य दोनो की यूरोप महाद्वीप के सम्बन्ध म एक समान दिलचस्पी रही है और वह है यूरोप म शक्ति सतुलन का परिरक्षण। हितो की इस समानता क परिणाम स्वरूप उन्होने वास्तविक आवश्यकताओ अपने आपको ऐस गुट म पाया है जो उस सतुलन का दन वाल राष्ट के विरुद्ध था। और जब ग्रट ब्रिटन ने 1914 तथा 1939 म यूरोपीय शक्ति सतुलन की रक्षा

के लिए युद्ध मे प्रवेश किया तो पहले संयुक्तराज्य ने ग्रेटब्रिटेन की सहायता की जिसमे उस निष्पक्षता का स्पष्ट प्रभाव था जो एक तटस्थ राज्य के लिए शोभनीय होती है और फिर युद्ध स्थल मे उसका साथ दिया। यदि 1914 तथा 1939 मे संयुक्तराज्य ग्रेट ब्रिटेन मे किसी औपचारिक सश्रय सन्धि मे बधा जाता तो उसने कुछ पहले ही युद्ध की घोषणा कर दी होती परन्तु उसकी सामान्य नीतिया तथा ठोस कार्य सार रूप मे उससे भिन्न न होते जैसे कि वे वास्तविक रूप मे थे। यह आवश्यक नहीं है कि समान नीतियो एव कार्यो की अपेक्षा रखने वाली हितो की प्रत्येक समानता एक स्पष्ट सश्रय के रूप मे बँधे सगठन की अपेक्षा करे। तथापि दूसरी ओर एक सश्रय की स्थापना के लिए हितो की समानता आवश्यक रूप मे होनी ही चाहिए। फिर किन स्थितियो मे हितो की उस समानता को एक सश्रय के स्पष्ट रूप से स्थापना की आवश्यकता होती है ? एक सश्रय से राष्ट्रो के वर्तमान हितो मे क्या वृद्धि हो जाती है ?

वर्तमान हितो की समानता सामान्य नीतियो एव उनके पोषक ठोस उपायो मे एक सश्रय विशेषतया परिसीमा के रूप मे सुनिश्चितता ला देता है। राष्ट्रो के सामान्य हित भौगोलिक क्षेत्र वस्तुनिष्ठ एव उचित नीतियो के रूप मे इतने प्राकृतिक ढग से निश्चित एव सीमित नहीं होते जितने कि यूरोपीय शक्ति-सतुलन के परिरक्षण मे अमरीका एव ब्रिटिश रुचि मे दिखलाई पड़ते है। और न ही वे प्रत्याशित सामान्य शत्रु के सम्बन्ध मे सुनिश्चितता एव परिमापन के द्योतन प्रयोग्य ही होते है। क्योकि जबकि एक प्रारूपिक सधि किसी विशिष्ट राष्ट्र अथवा राष्ट्रो के समूह के विरुद्ध निर्दिष्ट होती है आंग्ल अमरीकी हितो की समानता का शत्रु पहले से सहज रूप मे निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता था क्योकि जो कोई भी यूरोपीय शक्ति सतुलन को चुनौती देगा वही शत्रु हो जायेगा। जैसे जैफरसन समय समय शक्ति सन्तुलन को चुनौती के रूप मे प्रतीत होने वाले नैपोलियन तथा ग्रेट ब्रिटेन के मध्य अपनी सहानुभूति कभी हटाता और कभी बढाता रहा। इसी प्रकार नैपोलियनीय युद्धो के उपरान्त ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्त राज्य को सदा परिवर्तित हो सकने वाली परिस्थितियो को ध्यान मे रखते हुए निर्णय करना पड़ा कि किससे शक्ति सतुलन को बडा खतरा था। शत्रु का यह अनिश्चित स्वरूप व्यक्तिगत रूप से निर्धारित न होकर उस कार्य से निर्धारित होता है जिसे वह करता है। इससे सामुद्रिक सुरक्षा के समान

2 सत्रहवीं तथा अठारहवी शताब्दियों की मध्यस्थताओं पर दृष्टिपात करते हुए व्यक्ति उस आश्चर्यजनक अनिश्चितता से विचलित होता है जिससे सेनाओं सामान एव सहायता राशि तथा इसी प्रकार की अन्य वस्तुओं की सीमा निर्दिष्ट होती थी

लक्षण का ध्यान आता है। सामूहिक सुरक्षा भी सूक्ष्म और कल्पित शत्रु के विरुद्ध निर्दिष्ट होता है फिर चाहे वह शत्रु कोई भी क्यों न हो।

वे प्रादेशिक हित जो कि दो राष्ट्रों को तीसरे के विरुद्ध मिलाते हैं, अधिक निश्चित तथा कम निश्चित होते हैं। जहाँ तक शत्रु के निर्धारण का सम्बन्ध है, वे अधिक निश्चित हैं तथा जहाँ तक उद्देश्यों की खोज तथा नीतियों के अनुसरण की बात है वे कम निश्चित हैं। उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दशी में फ्रांस जर्मनी के विरुद्ध था तथा रूस आस्ट्रिया के विरुद्ध था, जबकि आस्ट्रिया जर्मनी से फ्रांस तथा रूस के विरुद्ध सम्बद्ध था। फ्रांस तथा रूस के हित किस प्रकार से नीति का निर्धारण करने वाले तथा कार्य का निर्देशन करने वाले सामान्य आधार पर प्रतिष्ठित किये जा सकते थे? दूसरे शब्दों में, किस प्रकार कैसस फीडरीज की परिभाषा की जा सकती थी जिसमें कि दोनों मित्र तथा शत्रु जान लें कि अपने अलग अलग हितों के सम्बन्ध में किन आकस्मिकताओं में वे क्या प्रत्याशा करें? 1894 की सश्रय-सन्धि में इन कार्यों के सम्पादन की व्यवस्था थी। यदि 1894 की फ्रान्सीसी रूसी सश्रय के उद्देश्य एवं नीतियाँ इतनी स्पष्ट होती जितनी कि यूरोप में आंग्ल अमरीकी सहयोग के उद्देश्य एवं नीतियाँ थीं तो किसी सश्रय-सन्धि की आवश्यकता नहीं होती। यदि शत्रु इतना अनिश्चित होता, तो कोई सश्रय-सन्धि सम्भव नहीं होती।

फिर दो या अधिक राष्ट्रों में सहयोग की माँग करने वाली हितों की समानता यह आवश्यक नहीं ठहराती है कि इस सहयोग की शर्तें किसी सश्रय-सन्धि के वैध अनुबन्धों में उल्लिखित हों। ऐसा केवल उसी समय होता है जबकि समान्य हित नीति एवं क्रिया की दृष्टि में ऐसी आरम्भिक अवस्था में हों कि सश्रय-सन्धि द्वारा उनको स्पष्ट एवं क्रियाशील बनाने की आवश्यकता हो। ये हित तथा इनकी अभिव्यक्ति करने वाले सश्रय एवं उनकी पोषकनीतियों को पाँच विभिन्न प्रकारों में विभक्त किया जा सकता है उनकी आन्तरिक प्रकृति तथा सम्बन्ध, लाभों तथा शक्ति के वितरण सम्बद्ध राष्ट्रों के कुल हितों से सम्बन्धित उनकी व्याप्ति समय के अर्थ में उनकी व्याप्ति और सामान्य नीतियों तथा कार्यों के अर्थ में उनकी क्षमता। परिणामतः हम सश्रयों में अन्तर इस बात को ध्यान में रखकर कर सकते हैं कि वे समरूप, सहायक तथा आदर्शात्मक हितों एवं नीतियों का कार्य कर रहे हैं। हम फिर आगे पारस्परिक तथा एक-तरफा सामान्य तथा सीमित, अस्थायी तथा स्थायी सक्रिय तथा निष्क्रिय सश्रयों में अन्तर कर सकते हैं।

यूरोप से सम्बन्धित आंग्ल अमरीकी सश्रय समरूप हितों की साधना करने वाले सश्रय का श्रेष्ठ उदाहरण है। दोनों साझीदारों का एक ही उद्देश्य है—

यूरोप म शक्ति-सतुलन का परीक्षण। सयुक्त राज्य तथा पाकिस्तान क बीच सश्रय पूरक हितो का साधन करने वाले बहुत म राग सामयिक मश्रयों म मे एक है। सयुक्त राज्य के लिए यह रोकथाम की नीति का क्षत्र विस्तृत करने के प्राथमिक प्रयोजन का काम देता है, पाकिस्तान के लिए यह प्राथमिक रूप से अपने पडोसियों के विरुद्ध राजनीतिक, सैनिक तथा आर्थिक क्षमता म वृद्धि का काम देना है।

एक सैद्धान्तिक सश्रय का विशुद्ध स्वरूप 1815 के धार्मिक सश्रय (होली एलायन्स) तथा 1941 के अटलाटिक चार्टर म निरूपित है। दोनो प्रलेखो न सामान्य नैतिक सिद्धान्त प्रतिपादित किए जिनके पालन करने का हस्ताक्षर-कर्त्ताओ ने वचन दिया। इनमे वे सामान्य लक्ष्य भी थे जिनकी उपलब्धि का उन्होंने वचन दिया। 1941 की अरब-लीग सन्धि प्रधानतया 1948 के इजरायल विरुद्ध युद्ध से लेकर सैद्धान्तिक एकता की अभिव्यक्ति करने वाले सश्रय का समसामायिक उदाहरण है।

एक ही सश्रय-सन्धि मे भौतिक वायदो क साथ सैद्धान्तिक वायदा का योग और अधिक प्रारूपिक होता है।[3] इस प्रकार 1873 के तीन सम्राटों के सघ न आस्ट्रिया, जर्मनी तथा रूस म अपने मे से किसी एक पर आक्रमण होने पर सैनिक सहायता की व्यवस्था की तथा, साथ ही, जनतत्रात्मक विध्वस के विरुद्ध तीनो राजतत्रो के समैक्य पर बल दिया। हमारे समय मे साम्यवादी विध्वस के विरुद्ध सश्रय सन्धियो मे निविष्ट सैद्धान्तिक वचनबद्धता, एक समरूप कार्य सम्पादित करती है। सैद्धान्तिक तत्त्व भौतिक हितो पर आधारित एक सश्रय की राजकीय व्याख्या मे भी अपने आपको प्रकट करता है। ऐसा सश्रय भौतिक हितो पर आधारित होता है किन्तु एक सैद्धान्तिक समैक्य के रूप मे भौतिक हितो की परिसीमाओ का लाभ देता है। सन् 1956 के ब्रिटन के मिस्र पर आक्रमण से पूर्व का आग्ल-अमरीकी सश्रय जो सर्वांगीण एव विश्वव्यापी समझा जाता था और समान सस्कृति, राजनीतिक सस्थाओ और आदर्शों पर आधारित था इसका उदाहरण प्रस्तुत करता है।

जहा तक किसी सश्रय पर इस सैद्धान्तिक तत्त्व क राजनीतिक प्रभाव का सम्बन्ध है, तीन सम्भावनाए स्पष्ट रूप से जान लेनी चाहिये। भौतिक हितो से असम्बद्ध, विशुद्ध रूप से सैद्धान्तिक सश्रय मृतजीवी हुए बिना नहीं रह सकता, यह नीतियों को निर्धारित करने अथवा कार्यों के निर्देशन करने मे असमर्थ रहता

3 यह निर्दिष्ट कर देना चाहिए कि धार्मिक सश्रय तथा अटलाटिक चार्टर दोनो पृथक वैध उपकरणों मे निहित भौतिक वायदों का वास्तव में अनुपूरण करते है।

है तथा जहा कोई राजनीतिक मतैक्य नही होता है, वहा भी उसका प्रदर्शन करके भ्रम मे डालता है। सैद्धान्तिक तत्त्व का जब वास्तविक हितो की समानता पर आरोप किया जाता है तो अपने समर्थन मे नैतिक दृढ संकल्पो एव भावात्मक अभिरुचियों का विन्यास करके वह सन्धय की शक्ति को बढा सकता है। सामान्य हितो की प्रकृति एव सीमाओ को, जिनको कि इस सन्धय द्वारा सुनिश्चित रूप दिये जाने की आशा की जाती थी और भी दुर्बोध बनाकर तथा निश्चित रूप से निराशा मे परिणत होने वाली प्रत्याशाओ को उभार कर सैद्धान्तिक तत्त्व सन्धय की सम्भूत नीतियो और कार्य की सीमा तक दुर्बल भी बना सकता है। इन दोनो सम्भावनाओ के लिये आंग्ल-अमरीकी सन्धय फिर उदाहरण का काम दे सकता है।

एक सन्धय के बीच मे लाभो का वितरण आदर्श रूप मे पूर्ण पारस्परिकता के आधार पर होना चाहिए। यहा दोनो पक्षो द्वारा एक दूसरे के लिए की गई सेवायें, प्राप्त होने वाले लाभो के समान होनी हैं। समान शक्ति वाले तथा समान हितो का साधन करने वाले राष्ट्रो के मध्य हुए सन्धय मे उपर्युक्त आदर्श की प्राप्ति अधिक सम्भव है। यहा सब के समान साधन समान प्रोत्साहनों से प्रेरित होकर एक ही हित का साधन करते हैं। लाभों के वितरण मे दूसरी पराकाष्ठा एक-तरफा वितरण-व्यवस्था है। यह एक सोसाइटस ल्योनिया है जिसमे एक पक्ष लाभो का एक बहुत बडा भाग ले लेता है जबकि दूसरा जिम्मेदारियों का मुख्य भार वहन करता है। जहा तक एक सन्धय का उद्देश्य सम्बन्धित राष्ट्रों की प्रादेशिक एव राजनीतिक अखण्डता का परिरक्षण है, ऐसा सन्धय एक गारन्टी की सन्धि से भिन्न नही माना जा सकता। पूरक हित अत्यधिक सरलता से असमानुपात की स्थिति का रूप ले लेते है क्योकि वे प्रकृति से ही भिन्न तत्त्वों से निर्मित होते हैं और व्यक्ति पर व्याख्या हो उनके तुलनात्मक मूल्यांकन के विकृत होने की सम्भावना रहती है। शक्ति की निश्चित उत्कृष्टता ऐसी वैयक्तिक व्याख्याओं को महत्त्व प्रदान करने मे बाध्य होती है।

नीतियों के निर्धारण के अनुसार एक सन्धय के बीच लाभो के वितरण में शक्ति-वितरण का भी पता चलता है। जहा तक लाभों एव नीतियों का सम्बन्ध है एक बड़ी शक्ति को एक निर्बल सन्धित राष्ट्र के साथ अपनी चलाने का अच्छा अवसर रहता है और इसीलिए मैक्यावली ने निर्बल राष्ट्रो को चेतावनी दी कि शक्तिशाली राष्ट्रो के साथ सन्धय न करें, जब तक कि यह आवश्यक ही न समझा जाये।[4] एक ओर संयुक्तराज्य और दूसरी ओर फारमोसा तथा दक्षिण कोरिया के बीच का सम्बन्ध इस स्थिति का उदाहरण है।

4 The Prince, Chapter 21.

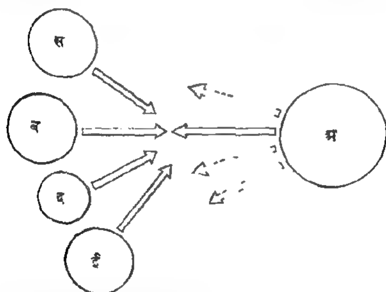
संधियों पर हस्ताक्षर हुए वह व्यक्तिगत राष्ट्रों के ऐसे हितों में निश्चय ही परिणत हो जाता है जो परम्परागत रूप में विलग तथा बहुधा असम्बद्ध होते हैं। दूसरी ओर एक संश्रय के स्थायित्व तथा उसके द्वारा साधित हितों के सीमित स्वरूप के बीच एक सहसम्बन्ध होता है। इसका कारण है कि ऐसे विशिष्ट सीमित हितों में ही एक टिकाऊ संश्रय के लिए आधार प्रदान करने का पर्याप्त समय तक रहने की सम्भावना है। ग्रेट ब्रिटेन तथा पुर्तगाल के बीच 1703 का हुआ संश्रय शताब्दियों तक बना रहा है, क्योंकि ब्रिटिश जहाजी बेड़े द्वारा पुर्तगाल का अपने बन्दरगाहों की सुरक्षा का हित बना रहा है तथा पुर्तगाल की ओर जाने वाले एटलांटिक के मार्गों के नियन्त्रण में ब्रिटिश अभिरुचि भी बना रहा है। तथापि यह एक सामान्य ऐतिहासिक निरीक्षण के रूप में कहा जा सकता है कि संश्रय-संधियाँ सदा के लिए अथवा दस बीस वर्षों की अवधि के लिए होने के कारण बहुधा स्थायी मान्यता प्राप्त कर लेता है किन्तु सामान्य हितों की साधारणतया उन अनिश्चित एवं क्षणिक समाकृतियों के कारण जिनके पोषण के लिए वे की गई थीं वे अधिक टिकाऊ नहीं हो सकतीं। नियमित रूप से वे अस्थायी रहे हैं

निहित हितों की समानता पर संश्रयों की निर्भरता सक्रिय एवं निष्क्रिय संश्रयों के अन्तर के लिए भी उत्तरदायी है। एक संश्रय के सक्रिय अर्थात् अपने सदस्यों की सामान्य नीतियों एवं ठोस उपायों को समन्वित करने में समर्थ होने के लिए आवश्यक है कि सदस्य न केवल सामान्य ध्येयों में सहमत हों वरन् नीतियों एवं उपायों में सहमत हों। बहुत से संश्रय निरर्थक हो रहे हैं, क्योंकि ऐसा कोई समझौता नहीं हो पा रहा था। यह हो इसलिए नहीं पा रहा था क्योंकि हितों की समानता सामान्य हितों के आगे ठोस नीतियों एवं उपायों का रूप ग्रहण नहीं कर पाती थी। 1935 तथा 1944 के फ्रांसीसी-रूसी संश्रय और 1942 के आंग्ल-रूसी संश्रय इसी के उदाहरण हैं। एक संश्रय-संधि का वैध औचित्य तथा उसके प्रचार के लिए की गई प्रशंसा इसके वास्तविक परिचालित मूल्य के विषय में सहज ही भ्रम का बोध में डाल सकते हैं। इस मूल्य के सही निर्धारण के लिए उन ठोस नीतियों एवं उपायों के परीक्षण की आवश्यकता है जिनको संविदाकारी पक्षों ने संश्रय को कार्य रूप देने में प्रयुक्त किया है।

5 तथापि यह सहसम्बन्ध अटल नहीं हो सकता, विशेषतया सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में सीमित संश्रय बहुधा तदर्थ किए जाते थे अर्थात् किसी आक्रमण के प्रतिकार, किसी लूट में लग जाने अथवा किसी विशेष अभियान पर आरोहण के लिए। उस विशिष्ट अवसर के निकलने के साथ जिसको दृष्टि में रखकर संश्रय हुआ था संश्रय स्वयं अपना उद्देश्य खो चुकता था तथा समाप्त हो जाता था।

सश्रय बनाम विश्व-अभिभावन

या तो शक्ति सतुलन शक्ति सघर्ष के एक प्राकृतिक एव अवश्यम्भावी विकास के रूप मे उतना ही पुराना है जितना राजनीतिक इतिहास है। फिर भी सोलहवी शताब्दी मे प्रारम्भ होने वाले तथा अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी मे अपने चरमबिन्दु पर पहुचने वाले क्रमबद्ध सैद्धान्तिक परावर्तनो ने शक्ति-सतुलन की सामान्यतया एक राष्ट्रो के सश्रय की एक सरक्षी युक्ति के रूप मे कल्पना की, जो दूसरे राष्ट्र के विश्व अभिभावन के अभिकल्पो के विरुद्ध थी जिन्हे उस समय सार्वभौमिक राजतन्त्र कहते थे। ब जो अ द्वारा प्रत्यक्ष रूप से धमकाया हुआ है अ के इरादो को विफल बना देने के लिये स द तथा ई से जो अ द्वारा सभाव्य रूप से धमकाये हुए है मिल जाता है। पालीबियस ने इस समाकृति ने



मार ना रोमवासियो कारथेजवालो तथा स्यराकूज के हियरो के पारस्परिक सम्बन्धो के विश्लेषण मे सकेत किया है

कारथेजवासी, सभी ओरो से घिरे होने के कारण अपने सम्मिलित राज्यो से अपील करने को विवश हो गये। हियरो वर्तमान युद्ध की पूरी अवधि मे उनकी प्रार्थना के अनुरूप चलने मे सबसे अधिक तत्पर रहा था। ऐसा वह यह विश्वास करके कर रहा था कि अपने सिसली के प्रदेशो, तथा रोमवासियो के साथ मैत्री,

दोनों को प्राप्त करने के लिए कारथेज का परिरक्षण आवश्यक था। वह यह भी चाहता था कि अधिक सबल राष्ट्र अपने चरम उद्देश्य को पूर्णतया बिना प्रयत्न के प्राप्त करने में समर्थ नहीं होना चाहिए। ऐसा अवसर अब सदैव से अधिक अनुकूल था। इस सम्बन्ध में उसने अत्यन्त बुद्धिमत्ता से तथा विचारपूर्वक तर्क किया, क्योंकि ऐसे मामलों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। यही नहीं, हमको एक राष्ट्र द्वारा ऐसी प्रभावशाली शक्ति को प्राप्त करने में सहायक नहीं बनना चाहिए कि अपने मान्य अधिकारों के लिए भी कोई उससे विवाद न कर सके।"[6]

आधुनिक समय में फ्लोरेंसवासी राजनीतिज्ञों एवं इतिहासकार रुसले तथा ग्वीसीअरडीनी, के बाद फ्रांसिस बेकन सश्रयों द्वारा शक्ति-सतुलन के सार को मान्यता देने वाला पहला व्यक्ति था। अपने लेख 'ग्राफ एम्पायर' में वह कहता है :

"प्रथमतया, पड़ौसियों के वास्ते एक को छोडकर कोई ऐसा सामान्य नियम नहीं बताया जा सकता (अवसर इतने अनिश्चित होते हैं) जो सदैव लागू रहता है। वह यह है कि शासक उचित सतरी रखते हैं, कि उनके पड़ौसियों में से कोई भी इतना अधिक नहीं बढ जाये (क्षत्रीय वृद्धि से, व्यापार के फैलाव से, गमन-मार्गों से, अथवा ऐसी ही किसी बात से), कि वह उनको चिढाने में पहले से अधिक समर्थ हो जाय .... । इग्लैंड के राजा हेनरी अष्टम, फ्रास के फ्रांसिस प्रथम, तथा सम्राट चार्ल्स प्रथम, राजाओं की इस त्रिनर प्रभुत्व के काल में, इतनी अधिक निगरानी रखी जाती थी कि उनमें से कोई भी हथेली बराबर जगह भी नहीं जीत सकता था, जिसको दूसरे दोनों सीधे ही सतुलित न कर देते। वे या तो राज्य मडल द्वारा, या आवश्यकता पडने पर, एक युद्ध के द्वारा ऐसा करने को तत्पर थे। वे किसी भी प्रकार से शान्ति के भरोसे नहीं थे। यही उस सघ ने किया, (जिसे ग्वीसीअरडीनी इटली की सुरक्षा ठहराता है,) जो नेपल्स के राजा फर्डीनेन्डो, फ्लोरेंस के अधिकारी पुरुष लोरमजियस मेडीसी तथा मिलन के अधिकारी-पुरुष लूडोवीकस सोफोरसा के बीच बना था।"

जो सश्रय फ्रांसिस प्रथम ने हेनरी अष्टम तथा तुर्कियों के साथ हैप्सबर्ग के चार्ल्स पंचम को उसके साम्राज्य के स्थापित एव विस्तृत होने से रोकने के लिए किए थे, वे एक वृहत् आधार पर परिचालित शक्ति-सतुलन के प्रथम आधुनिक उदाहरण है। यह शक्ति-सतुलन एक सश्रय तथा एक राष्ट्र में परिचालित होता था, जो सार्वभौमिक राजतत्र की स्थापना पर दृढ-प्रतिज्ञ था। सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रान्स के लुई 14वें ने हैप्सबर्ग ज की भूमिका को

6. Polybius I, 83.

अपनाया तथा यूरोपीय राष्ट्रो मे समान प्रतिक्रिया को जन्म दिया। फ्रान्सीसी अभिभावन से यूरोपीय राष्ट्रों की रक्षा के उद्देश्य से नया फ्रांस और शेष यूरोप के बीच एक नय शक्ति-सतुलन की स्थापना के लिए इग्लैंड तथा नैदरलैंडस के इर्द गिर्द सश्रय किय गय।

1789 के फ्रास तथा नैपोलियन के विरुद्ध किये गये युद्ध उसी परिस्थिति के द्योतक है जो अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिय राष्ट्रो के सम्मिलित गुट द्वारा एक विश्व अभिभावन के लिय उद्यत शक्तिशाली राष्ट्र के विरोध के अवसर पर दिखलाई पडती है। जिस घोषणा पत्र के साथ राष्ट्रों के प्रथम सघ ने 1792 ई. इन युद्धों का प्रारम्भ किया उसका कहना था कि 'यूरोप मे शक्ति-सतुलन बनाये रखने म रुचि लेने वाली कोई भी शक्ति फ्रान्स के साम्राज्य को उदासीनता से नही देख सकती थी। वह जोकि एक समय इस शक्ति-सतुलन की महान् तुला मे एक महत्त्वपूर्ण बाट था, अब गृह उद्वेग तथा अव्यवस्था तथा अराजकता के भयो का शिकार था, जिन्होंने, उसके राजनीतिक अस्तित्व को नष्ट कर दिया था।" जब इन युद्धो की समाप्ति का समय आया, उस समय भी सश्रित राष्ट्रो का 23 अप्रैल, 1814 की उपसन्धि के शब्दो मे यही उद्देश्य था कि यूरोप के क्लेशो का अन्त करें तथा उन राष्ट्रा म जिनसे वह बना है शक्ति के न्यायोचित पुनर्वितरण पर आधारित अपनी समाकृति स्थापित करें'। अर्थात् एक नय शक्ति-सतुलन पर आधारित व्यवस्था बनावे। जिन सयुक्त राष्ट्रो ने जर्मनी तथा जापान के विरुद्ध द्वितीय विश्वयुद्ध लडा, उनके अस्तित्व का श्रेय इन राष्ट्रो के साम्राज्यवाद के भय को है। यह भय उनके सभी सदस्यो के लिए सामान्य था। उन्होंने एक नये शक्ति सतुलन मे अपनी स्वाधीनता के परिरक्षण के उसी लक्ष्य का अनुसरण किया। इसी प्रकार पश्चिमी सश्रय तथा पश्चिमी पुनर्शस्त्रीकरण ने 1945 के उपरान्त एक नय विश्व-शक्ति-सतुलन के माध्यम से सोवियत सघ के साम्राज्यवादी विस्तार को रोकने के उद्देश्य का अनुसरण किया है।

संश्रय बनाम प्रति-संश्रय

एक सम्भाव्य विजेता से अपनी स्वाधीनता की रक्षा करने वाले राष्ट्रो के सश्रय के बीच सघर्ष शक्ति-सतुलन मे उत्पन्न समाकृतियो का सबसे अधिक दर्शनीय उदाहरण है। शक्ति-सतुलन की व्यवस्था मे सबसे अधिक आवृत्ति के साथ होने वाली समाकृति दो सश्रयो का विरोध है। इन मे से एक या दोनो साम्राज्यवादी लक्ष्यो का अनुसरण करने वाले हो सकते हैं तथा दूसरे सहमिलन की साम्राज्यवादी आकाक्षाओ स अपने सदस्यो की स्वाधीनता की रक्षा के लिए प्रयत्नशील हो सकते हैं।

अधिक महत्त्वपूर्ण उदाहरणों में से कुछ की ही चर्चा करते हुए यह कहा जा सकता है कि जिन सहमिलनों ने एक ओर फ्रांस तथा स्वीडन के नेतृत्व में, दूसरी ओर आस्ट्रिया के नेतृत्व में तीस वर्षीय युद्ध लड़ा, उन्होंने विशेषतया स्वीडन तथा आस्ट्रिया की साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं के प्रोत्साहन तथा साथ ही दूसरे पक्ष की महत्त्वाकांक्षाओं पर रोक लगाने का प्रयत्न किया। तीस वर्षीय युद्ध के उपरान्त यूरोप के मामले सुलझाने वाली अनेक सन्धियों ने बाद के उद्देश्य (दूसरे पक्ष की महत्त्वाकांक्षाओं पर रोक लगाना) की प्राप्ति के लिए एक शक्ति-सन्तुलन स्थापित करने का प्रयत्न किया। बहुत से संयुक्त युद्ध जोकि 1713 की यूटरेक्ट की सन्धि तथा 1772 के पोलैण्ड के विभाजन के बीच की अवधि में हुए थे, उनमें सभी ने उस सन्तुलन को बनाये रखने का प्रयत्न किया, जिसे यूटरेक्ट की सन्धि ने स्थापित किया था। इसमें स्वीडन की शक्ति का ह्रास तथा एशिया, रूस, तथा ब्रिटेन की शक्ति का उदय विघ्न डालता प्रतीत होता था। ऐसे समय भी जबकि युद्ध चलना होता था राज्यों में बारबार होने वाले परिवर्तनों ने इतिहासकारों को चकित कर दिया है। इन्ही परिवर्तनों के कारण अठारहवीं शताब्दी विशेषतया सिद्धान्तहीन तथा नैतिक विचारों में हीन प्रतीत होती है। इस प्रकार की विदेश नीति के विरुद्ध ही वाशिंगटन के विदाई संदेश ने अमरीकन जनता को चेतावनी दी थी।

तथापि वह समयावधि, जिसमें वह विदेश नीति सफलीभूत हुई थी, सिद्धान्त तथा व्यवहार में शक्ति सन्तुलन का स्वर्ण-युग था। यह उस समयावधि में ही था कि शक्ति सन्तुलन पर बहुत से साहित्य का प्रकाशन हुआ था तथा यूरोप के शासक वैदेशिक मामलों में अपने व्यवहार के निर्देशक सर्वोच्च सिद्धान्त के रूप में शक्ति की ओर ही देखते थे, जैसा कि फ्रेडरिक महान ने लिखा था :

"यह देखना सरल है कि यूरोप की राजनीतिक निकाय स्वयं को एक प्रचण्ड दशा में पाता है। यदि कहा जाय तो यह अपनी साम्यावस्था को खो चुका है और ऐसी स्थिति में है जिसमें अनेक जोखिमें सहे बिना यह जीवित ही नहीं रह सकता। यह इसके साथ भी है जैसा मानवी शरीर के साथ लागू होता है, जिसका आम्ल एवं क्षार के समान मात्रा में मिश्रण से निर्वाह होता है। जब दोनों पदार्थों में से किसी एक का प्राधान्य हो जाता है, शरीर इसको अपने प्रतिकूल पाता है तथा स्वास्थ्य पर्याप्त मात्रा में प्रभावित होता है। और जब यह पदार्थ और अधिक बढ़ जाता है, यह शारीरिक यन्त्र का पूर्ण विनाश कर सकता है। इस प्रकार जब यूरोप के शासकों की नीति एवं बुद्धिमता प्रबल शक्तियों में न्यायोचित सन्तुलन बनाये रखने का ध्यान नहीं करती, पूर्ण सामाजिक राजनीति का गठन इसको प्रतिकूल पाता है। एक ओर हिंसा पाई जाती है, दूसरी ओर दुर्बलता।

एक मे सब पर आक्रमण करने की इच्छा है दूसरे मे उस गठन की असमर्थता है। सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र विधियो का आरोपित करता है सबसे अधिक दुर्बल भी उसमे योगदान देने के लिए विवश होता है। अन्त मे प्रत्येक बात अव्यवस्था एव भ्रान्ति बढाने मे सहयोग देती है। सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र एक तीव्र प्रचण्ड जल प्रवाह की भाँति अपने किनारो से उमड पडता है सब कुछ अपने साथ ले चलता है तथा इस भाग्यहीन राजनीतिक निकाय को अधिकतम विनाशकारी विद्रोहो के समक्ष अरक्षित छोड देता है।"[7]

यह सच है कि अपने हितो को भाग बढाने के लिए ही शासको ने अपने आपको शक्ति सतुलन द्वारा निर्देशित होने की अनुमति दी। ऐसा करके यह अवश्यम्भावी था कि वे एक पक्ष छोड कर दूसरा पक्ष अपनाये पुराने सन्धियो को छोड दें और जब कभी उनको यह विदित था कि शक्ति-सतुलन भग हो गया है तथा इसके पुन स्थापन के लिए शक्तियो के पुनर्गठन की आवश्यकता है वे नये सन्धिय बनाते। उस युग मे विदेश नीति राजाओ की क्रीडा थी जिसको खेला एव जुए से अधिक गम्भीर समझने की आवश्यकता न थी। यह बहुत ही सीमित स्वार्थो के लिए खेला जाता था तथा किसी भी प्रकार के उच्च सिद्धान्तो से पूर्णतया रहित था। चूकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की ऐसी ही प्रकृति थी कि जो ध्यान से देखने पर विश्वासघात तथा अनैतिक प्रतीत होता था वही उस समय सुन्दर चाल युद्ध-नीति का साहसपूर्ण अश अथवा सूक्ष्मता से रचित युद्ध नीति से कुछ ही अधिक था जिन्ह सभी खेल के नियमो के अनुसार मर्यादित करते थे तथा जिन्हे खिलाडी मान्य समझते थे। उस युग का शक्ति सतुलन अनैतिक न होकर नैतिकताहीन था। राजनीति की कला के तकनीकी नियम ही इसके एक-मात्र मानदण्ड थे। इसका लचीलापन जोकि तकनीकी दृष्टिकोण से इसका विचित्र गुण था सदभाव तथा निष्ठा जैसे नैतिक विचारो के अभाव का परिणाम था। यह एक ऐसी नैतिक कमी थी जो हमको निंदास्पद प्रतीत होती है।

पन्द्रहवी शताब्दी की आधुनिक राज्य-व्यवस्था के प्रारम्भ से 1815 मे नैपोलियन के समय के युद्धो का अन्त तक शक्ति-सतुलन मे क्रियाशील तत्त्व थे। तुर्की एक महत्त्वपूर्ण अपवाद था। सन्धिय और प्रति सन्धिय सतुलन बनाये रखने के लिए अथवा इसे पुन प्राप्त करने के लिए बनाये जाते थे। 1815 से प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ तक की शताब्दी ने यूरोपीय शक्ति सतुलन का एक विश्व-

7 Frederick the Great Considerations on the present state of the political body Europe Oeuvres de Frederic le Grand Vol VIII (Berlin Rudolph Decker 1848), p 24

व्यापी व्यवस्था के रूप मे क्रमिक विस्तार देखा। यह कहा जा सकता है कि यह युग 1823 मे राष्ट्रपति मुनरो के काग्रेस के नाम सन्देश से प्रारम्भ हुआ, जिसे 'मुनरो सिद्धान्त' कहते है। यूरोप तथा पश्चिमी गोलार्ध की पारस्परिक राजनीतिक स्वाधीनता की घोषणा करके, और इस प्रकार ससार को मानो दो राजनीतिक व्यवस्थाओ मे विभाजित करके, राष्ट्रपति मुनरो ने यूरोपीय शक्ति-सतुलन के लिय आगे चलकर विश्व व्यापी शक्ति-सतुलन- व्यवस्था मे रूपान्तरित होने का आधार स्थापित किया।

यह रूपान्तर सर्वप्रथम उस भाषण मे निर्दिष्ट हुआ जिसे जॉर्ज कैनिंग ने 12 दिसम्बर, 1826 को ब्रिटिश विदेश मत्री की हैसियत से दिया था। फ्रान्स के स्पेन पर आक्रमण के द्वारा भग हुए शक्ति-सतुलन की पुन स्थापना के लिए फ्रास के साथ युद्ध न करने के कारण कैनिंग की आलोचना हुई थी। अपने आलोचको को निरस्त्र करने के लिए, उसने एक नया शक्ति-सतुलन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया। उसने नये स्वतत्र हुए लैटिन अमरीकी गणराज्यो को उनकी स्वाधीनता को मान्यता देन के उपकरण द्वारा क्रियाशील तत्त्वो के रूप मे सतुलन मे सम्मिलित किया। उसने इस प्रकार तर्कपूर्ण ढग से कहा

'परन्तु, क्या शक्ति सतुलन की पुन स्थापना के लिए युद्ध के अतिरिक्त अन्य साधन नही थे? क्या शक्ति-सतुलन एक स्थिर और अपरिवर्तनीय मानक है? अथवा क्या यह वह मानक नही है, जोकि सभ्यता के अग्रसर होने के साथ तथा नये राष्ट्रो के अभ्युदय और स्थापित राजनीतिक समुदायो मे अपना स्थान ग्रहण करने के साथ साथ शाश्वत बदलता रहता है? डेढ शताब्दी पूर्व शक्ति-सतुलन का सामजस्य फ्रास तथा स्पेन, नैदरलैंड्स, आस्ट्रिया तथा इग्लैंड के साथ किया जाता था। कुछ वर्ष उपरान्त रूस ने यूरोपीय सभ्यो म उच्च स्थान ग्रहण किया। उसके कुछ वर्ष उपरान्त फिर, प्रशिया केवल सारभूत राजतत्र ही नही वरन् एक प्रभावशाली राजतत्र बन गया। इस प्रकार जबकि शक्ति सतुलन सिद्धान्त रूप म वही रहा, इसके सामजस्य के साधन अधिक विभिन्न एव विस्तृत हो गये। वे विचारणीय राज्यो की बढी हुई सख्या के अनुपात मे विस्तृत हो गए अर्थात् उन बाटो की सख्या के अनुपात मे जोकि एक या दूसरे पलडे म डाले जा सकते थे। क्या फ्रास पर प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण करने अथवा स्पेन की भूमि मे युद्ध करने के अतिरिक्त, प्रतिरोध का कोई अन्य उपाय न था? क्या हो, यदि स्पेन का कब्जा प्रतिद्वन्द्वी हाथो म क्षतिरहित हो जाय तथा जो अधिकार मे रखने वालो के लिए मूल्यहीन हो? क्या अपमान की क्षतिपूर्ति ऐसे साधनो द्वारा सम्भव नही जो आज के समय के अधिक उपयुक्त हो? यदि फ्रास ने स्पेन पर अधिकार कर लिया तो

उस आधिपत्य के परिणामों से बचने के लिए क्या यह आवश्यक था कि हम काडिज की नाकेबन्दी करलें ? नहीं मैंने एक दूसरी ओर देखा—मैंने क्षतिपूरण के लिए सामग्री दूसरे गोलार्ध में देखी। जैसा कि हमारे पूर्वज उसे जानते थे मैंने स्पेन का विचार करके निश्चय किया कि यदि फ्रांस का स्पेन पर अधिकार होता तो, यह स्पेन द्वीप समूहों के साथ नहीं होना। पुराने संसार के सतुलन के निवारण के लिए मैंने नये संसार को अस्तित्व में ला दिया।[8]

सभ्यता एवं प्रति सभ्यता द्वारा परिचालित एक विश्व व्यापी शक्ति-सतुलन की ओर इस विकास की प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ■ निष्पत्ति हुई जिसमें संसार के व्यवहारतया सभी राष्ट्रों ने क्रियात्मक ढंग से एक या दूसरी ओर भाग लिया। उस युद्ध का विश्व युद्ध कह कर पुकारा जाना ही विकास के उदय की ओर सकेत करता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध से भिन्न प्रथम विश्वयुद्ध का प्रारम्भ यूरोपीय शक्ति सतुलन के भंग होने के एकमात्र भय से हुआ। इसका दो भागों में भय था—बल्जियम तथा बाल्कान प्रदेश में। फ्रांस की उत्तर पूर्वी सीमा पर स्थित तथा इंगलिश चैनल के मुहानों की रक्षा करने वाले बल्जियम ने क्रियाशील ढंग से इस प्रतिस्पर्धा में भाग लेने की पर्याप्त शक्ति अर्जित न करने के कारण महान् शक्ति-प्रतिस्पर्धा में अपने को केन्द्र बिन्दु के रूप में पाया। यह तथ्य स्वयंसिद्ध था कि बल्जियम की स्वाधीनता यूरोप में शक्ति सतुलन के लिए आवश्यक थी। यूरोप के राष्ट्रों में से किसी एक के साथ इसका सम्बन्ध उस राष्ट्र को इतना अधिक शक्तिशाली बना देता कि दूसरे राष्ट्रों की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती यह बात उसी समय से मानी जाने लगी थी जब ग्रेट ब्रिटेन आस्ट्रिया रूस प्रशिया तथा फ्रांस की सक्रिय सहायता से बल्जियम ने अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की। इन राष्ट्रों ने लंदन में एक सम्मेलन में एकत्र हो कर 19 फरवरी 1831 को घोषणा की कि "हमें अधिकार था तथा घटनाओं ने यह दायित्व हम पर लाद दिया था कि हम देखें कि अपनी स्वतन्त्रता पाने के बाद बल्जियम प्रान्त सामान्य सुरक्षा तथा यूरोपीय शक्ति सतुलन को खतरे में तो नहीं डाल देते।[9]

उस लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए 1839 में सम्बन्धित राष्ट्रों ने एक सन्धि की जिसमें उन्होंने घोषणा की कि बल्जियम पाँचों हस्ताक्षर-कर्त्ताओं की

8 Speeches of the Right Honourable George Canning (London 1838) Vol VI pp 109 11

9 Protocols of Conferences in London Relative to the Affairs of Belgium (1830–31), p 60

सामूहिक साक्षी में एक स्वतन्त्र एवं शाश्वत रूप से तटस्थ राज्य' होगा। इस घोषणा ने बेल्जियम को सदा के लिए यूरोपीय शक्ति सन्तुलन में एक या दूसरा ओर भाग लेने से रोक दिया। यह जर्मनी द्वारा बेल्जियम की तटस्थता का उल्लंघन ही था जिसने 1914 में जर्मनी द्वारा शक्ति सन्तुलन को दी गई चुनौती को मणि के समान ठोस रूप प्रदान किया। इसी ने फ्रांस, रूस तथा उनके सश्रित राज्यों की ओर से ग्रेट ब्रिटेन के युद्ध में भाग लेने को न्याय सगत सिद्ध कर दिया।

बाल्कान प्रदेशों में शक्ति सन्तुलन के अभिरक्षण में आस्ट्रिया ग्रेट ब्रिटेन तथा रूस की अभिरुचि उस क्षेत्र में तुर्की शक्ति की दुर्बलता की सहवर्ती थी। 1854 56 का क्रीमिया का युद्ध बाल्कान प्रदेशों में शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने के प्रयोजन से लड़ा गया था। इसमें रूस के विरुद्ध फ्रांस ग्रेट ब्रिटेन तथा तुर्की के सश्रय ने भाग लिया। 13 मार्च 1854 की सश्रय सन्धि ने घोषणा की कि अपनी वर्तमान सीमा में ओटोमन साम्राज्य का अस्तित्व यूरोप के राज्यों में शक्ति सन्तुलन बनाये रखने के लिए आवश्यक महत्त्व का है। बाद की प्रतिस्पर्द्धायें तथा युद्ध सब इस भय से आक्रान्त हैं कि मुख्यतया बाल्कान प्रदेशों में अभिरुचि रखने वाले राष्ट्रों में से कोई एक उस क्षेत्र में सम्बन्धित राष्ट्रों से अनुपात में कहीं अधिक शक्ति प्राप्त न कर ले। इनमें विशेषतया वे घटनायें आती हैं जो 1878 की बर्लिन कांग्रेस तथा 1912 तथा 1913 के बाल्कान युद्धों की दिशा में उत्तरदायी है।

प्रथम विश्वयुद्ध से ठीक पहले वर्षों में बाल्कान प्रदेशों में शक्ति सन्तुलन का महत्त्व बढ़ गया। इसका कारण यह है कि आस्ट्रिया, जर्मनी तथा इटली का त्रि-सश्रय (ट्रिपल एलायन्स) फ्रांस रूस तथा ग्रेटब्रिटेन के त्रि सघटना (ट्रिपल एन्तेते) द्वारा लगभग सन्तुलित प्रतीत होता था। जो शक्ति सम्मिलन बाल्कान प्रदेशों में निश्चित लाभ प्राप्त कर लेता वह एक व्यापक यूरोपीय शक्ति सन्तुलन में भी सरलता से निश्चित लाभ प्राप्त कर सकता था। इसी भय के कारण जुलाई 1914 में आस्ट्रिया सर्बिया के साथ अपना हिसाब सदा के लिए तय करने के लिए प्रयत्न करने को अभिप्रेरित हुआ तथा इसने ही जर्मनी को आस्ट्रिया को अनिर्बन्ध सहायता के लिए प्रेरित किया। यह वही भय था जिसने रूस को सर्बिया की सहायता के लिए तथा फ्रांस को रूस की सहायता के लिए ला खड़ा किया। रूस के ज़ार ने जार्ज पंचम के नाम अपने 2 अगस्त 1914 के तार सन्देश में भली प्रकार से स्थिति को स्पष्ट कर रखा। उसने कहा कि सर्बिया पर आस्ट्रिया के प्राधान्य का प्रभाव बाल्कान प्रदेशों में शक्ति सन्तुलन को उलट

पुष्ट करता है, जो मेरे साम्राज्य के लिए तथा उन शक्तियों के लिए जो यूरोप में शक्ति संतुलन बनाये रखना चाहते हैं अत्यधिक प्राणपूर्वक महत्त्व का है। मुझे विश्वास है कि आपका देश यूरोप में शक्ति संतुलन बनाये रखने के लिए फ्रांस तथा रूस की युद्ध में सहायता करने में कमी नहीं करेगा।[10]

प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त फ्रांस ने पोलैंड चेकोस्लोवाकिया युगोस्लाविया और रूमानिया के साथ स्थायी सन्धियाँ बनाये रखीं। उसने 1935 में सोवियत संघ के साथ एक सन्धि भी किया जो कि कार्यान्वित नहीं हुआ। यह नीति एक निरोधक शक्ति सन्तुलन नीति के रूप में समझी जा सकती है। इसने जर्मनी के पुनः उदय की प्रत्याशा की तथा ऐसी सम्भावित घटना के समक्ष यथास्थिति बनाये रखने का प्रयत्न किया। दूसरी ओर 1936 में जर्मनी, इटली तथा जापान के बीच एक समझौता हुआ जिसे धुरी कहते हैं। यह फ्रांस तथा पूर्वी यूरोपीय राष्ट्रों के सन्धि के विरुद्ध सन्तुलन स्थापित करने का था जिसमें सोवियत संघ का नकाब ही इनप्रभ कर देने की भी क्षमता थी।

इस प्रकार दोनों विश्वयुद्धों के बीच की समयावधि वास्तव में सन्धियों तथा प्रतिसन्धियों द्वारा स्थापित शक्ति संतुलन के उत्कृष्ट का काल है। सैद्धान्तिक दृष्टि से भले ही राष्ट्र संघ की संयुक्त सुरक्षा के सिद्धान्त ने शक्ति संतुलन के सिद्धान्त का अतिक्रमण कर लिया हो तथापि वास्तव में जैसा कि आगे चलकर अधिक व्यापक रूप में दिखलाया जायगा[11] सामूहिक सुरक्षा ने शक्ति सन्तुलन को नष्ट नहीं किया। किसी हद तक इसने इस परिकल्पना के आधार पर कि ऐसा सन्धि सदैव आक्रामक को प्रभावहीन कर देगा किसी सम्भाव्य आक्रामक के विरुद्ध एक सार्वभौमिक सन्धि के रूप में इसका पुनः बढ़ना प्रमाण की। तथापि सामूहिक सुरक्षा शक्ति सतुलन से आहचय के सिद्धान्त के आधार पर भी भिन्न होती है। इस माहचय के सिद्धान्त द्वारा ही सन्धि किये जाते हैं। शक्ति-सन्तुलन को ध्येय मान कर चलने वाले सन्धि निश्चित व्यक्तिगत राष्ट्रों द्वारा दूसरे व्यक्तिगत राष्ट्रों अथवा उनके सन्धि के विरुद्ध इस आधार पर बनाये जाते हैं कि व्यक्तिगत राष्ट्र अपने भिन्न राष्ट्रीय हित जिन्हें समझते हैं। सामूहिक सुरक्षा की स्थापना का सिद्धान्त किसी राष्ट्र द्वारा सन्धि में सम्मिलित किसी भी सदस्य पर आक्रमण समझने के नैतिक एवं वैध दायित्व के प्रति सम्मान का भाव है। परिणामतया सामूहिक सुरक्षा से यह आशा की जाती है कि वह स्वतः परिचालित

10 British Documents on the Origins of the War 1898 1914 (London His Majesty's Stationery Office 1926) Vol XI p 276

11 अध्याय 24 देखिए

रहेगी। अर्थात्, आक्रमण के समय तुरन्त ही प्रति सश्रय लागू होने परम आवश्यक हो जाते हैं इसलिए शान्ति एवं सुरक्षा की आशातीत ढंग से रक्षा हो जाती है। दूसरी ओर, एक शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था में सश्रय वास्तविक परिचालन में बहुधा अनिश्चित होते हैं, क्योंकि वे व्यक्तिगत राष्ट्रों के राजनीतिक विचारों पर निर्भर होते हैं। 1915 में त्रिसश्रय से इटली की विमुखता और 1935 तथा 1939 के बीच सश्रयों की फ्रान्सीसी पद्धति का विघटन, शक्ति सन्तुलन की इस दुर्बलता की ओर संकेत करते हैं।

संतुलन का "धारक"

जब कभी शक्ति सन्तुलन सश्रय के द्वारा प्राप्त किया जाना होता है तो इस प्रतिरूप की दो सम्भव विभिन्नताओं में प्रभेद करना आवश्यक है। यह पाश्चात्य संसार के समस्त इतिहास में सामान्यतया ऐसा ही रहा है। तुला के रूपक का प्रयोग करते हुए यह व्यवस्था दो पलड़ों से मिलकर बन सकती है। इनमें से प्रत्येक में यथापूर्व-स्थिति अथवा साम्राज्यवाद की समान नीति से पहचाने जा सकने वाले राष्ट्र मिलेंगे। यूरोपीय महाद्वीप के राष्ट्रों ने सामान्यतया इस ढंग से ही शक्ति-सन्तुलन का परिचालन किया है।

यह व्यवस्था, दो पलड़ों तथा एक तीसरे तत्त्व, सन्तुलन के 'धारक' अथवा सन्तुलनकर्त्ता से मिलकर बन सकती है। सन्तुलनकर्त्ता का किसी एक राष्ट्र अथवा राष्ट्रों के समूह की नीति से स्थायी रूप से तादात्म्य नहीं किया जाता। उन ठोस नीतियों का विचार किए बिना जिनको सन्तुलन लाभ पहुंचायेगा, इसका एकमात्र ध्येय इस व्यवस्था में सन्तुलन बनाये रखना है। परिणामतः सन्तुलन का धारक केवल पलड़ों की सापेक्ष स्थिति के विचार से निर्दिष्ट होकर एक समय अपना भार इस पलड़े में डालेगा और किसी दूसरे समय दूसरे पलड़े में। इस प्रकार वह सर्वैव अपना भार उस पलड़े में डालेगा जो दूसरे से ऊंचा प्रतीत होता है क्योंकि वह हल्का है। इतिहास के सापेक्षतया आशिक विस्तार में सन्तुलनकर्त्ता सभी बड़ी शक्तियों का क्रमागत रूप से मित्र अथवा शत्रु बन सकता है। वे सब क्रमागत रूप से दूसरों पर प्राधान्य प्राप्त करके सन्तुलन का भय पैदा कर देते हैं, और समय पड़ने पर अपनी बारी में ऐसे आधिपत्य को प्राप्त करने वाले राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों से डर जाते हैं। पामर्स्टन के एक कथन का पदान्वय करते हुए कहा जा सकता है कि यदि सन्तुलन के धारक के स्थायी मित्र नहीं होते तो इसके स्थायी शत्रु भी नहीं होते। इसकी एकमात्र रुचि केवल शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने की होती है।

सतुलनकर्त्ता 'भव्य तटस्थता' की स्थिति में रहता है। यह स्वत्ता स वियुक्त रहता है। जब तुला के दानो पलडे सफलता के लिए आवश्यक प्रतिस्थित भार प्राप्त करन के लिए, अपने भार के साथ इसके भार का मिलान के लिए परस्पर प्रतिस्पर्द्धा करें इस दाना म से किसी पक्ष क साथ स्थायी गठबधन नहा करना चाहिए। सतुलन का धारक बीच म जागरूक तटस्थता का दशा म दखन की प्रतीक्षा करता है कि कौन सा पलडा डूबन वाला है। इसका पार्थक्य भव्य है क्योंकि इसकी सहायता अथवा सहायता का अभाव शक्ति के सघष म निर्णायक का काम करता है। यदि इसकी विदेश नीति दक्षतापूर्वक व्यवस्थित हो तो जिनका यह समथन करता है उनसे उच्चतम प्रतिफल प्राप्त कर सकती है। किन्तु चूंकि प्रतिफल की परवाह किये बिना यह सदैव अनिश्चित होना है तथा एक पक्ष स दूसरे की ओर तुला क सचलन के साथ बदलता रहता है इसलिय इसकी नीतियों पर रोष होता है तथा व नैतिक आधारों पर निंदा का विषय बनता है। इस प्रकार आधुनिक समया म प्रमुख सतुलनकर्त्ता ग्रेटब्रिटेन क विषय म कहा गया है कि यह अपने युद्ध दूसरों को करने देता है। यह यूरोप को विभाजित रखता है। ग्रेटब्रिटेन की नीतियों की अस्थिरता ऐसी है कि इसके साथ सधय करना असम्भव है। 'विश्वास घातक अलबियन' उन लोगों के मुख म कहावत बन गई है जो कितने ही कठोर प्रयत्न पर चूकने के बाद ग्रेट ब्रिटेन की सहायता पाने म असमर्थ रहे थे। कुछ व भी थे जो अत्यधिक मूल्य चुका देने पर भी इसकी सहायता स वचित रहे।

तुला का धारक शक्ति-सतुलन व्यवस्था म मध्य स्थिति ग्रहण करता है। इसकी स्थिति शक्ति के लिए सघष के परिणाम का निर्धारण करती है। इसलिए यह इस व्यवस्था का कि कौन जीतेगा तथा कौन हारेगा निर्णय करने वाला मध्यस्थ ठहराया गया है। किसी राष्ट्र अथवा राष्ट्रों के सम्मिलन के लिए दूसरों पर प्राधान्य प्राप्त करना असम्भव बना कर यह अपनी स्वतत्रता तथा अन्य सभी दूसरे राष्ट्रों की स्वतत्रता का परिरक्षण करता है इस प्रकार यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अधिकतम शक्तिशाली तत्त्व है।

तुला का धारक तीन विभिन्न तरीकों स अपनी शक्ति का प्रयोग कर सकता है (1) यह एक या दूसरे राष्ट्र अथवा सधय के साथ अपने सयोग को सतुलन के बनाये रखने अथवा पुन स्थापना के लिए अनुकूल निश्चित शर्तों पर आधारित कर सकता है। (2) यह शान्ति समझौते के अपने समथन को समरूप शर्तों पर निर्भर बना सकता है (3) अन्त म दोनों म स प्रत्येक स्थिति म यह देख सकता है कि शक्ति सतुलन को बनाये रखने के अतिरिक्त दूसरों को शक्ति सन्तुलित करने की प्रक्रिया म इसकी राष्ट्रीय नीति के उद्देश्य भी प्राप्त हो जाते हैं।

लुई चौदहवें के राज्य काल में फ्रांस ने तथा प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व के दस वर्षों में इटली ने यूरोपीय शक्ति सतुलन में सतुलनकर्ता की इस भूमिका को निभाने का प्रयत्न किया। परन्तु फ्रांस यूरोपीय महाद्वीप पर होने वाले शक्ति-संघर्ष में इतनी अधिक गहराई तक निहित था कि वह अपनी भूमिका का सफल निर्वाह करने में असमर्थ था। यहां नहीं वह स्वयं इस शक्ति सतुलन का एक बड़ा भाग था तथा इस भूमिका के सफलतापूर्वक निर्वाह के लिए अपेक्षित प्रभाव पूर्ण ढंग से वंचित था। दूसरी ओर इटली उस पर्याप्त प्रभाव क्षमता में हीन था जो उस शक्ति सतुलन में मुख्य स्थान दे देता। इस कारण इसे केवल नैतिक निंदा ही मिली। वह सम्मान नहीं जिसे समरूप नीतियों ने ग्रेट ब्रिटेन को प्रदान किया था। सोलहवीं शताब्दी में केवल वेनिस तथा हेनरी अष्टम के राज्य के समय में ग्रेट ब्रिटेन उपर कथित तीनों पद्धतियों का अलग-अलग या एक साथ प्रयोग करके, इसे राष्ट्रों में तुला के धारण को अपनी विदेश नीतियों के महत्वपूर्ण आधारों में एक आधार बनाने में सफल हो सके।

सर्व प्रथम यह विचार हंगरी की महारानी मेरी द्वारा चार्ल्स के राजदूत को लिखे पत्र में आया। उन्होंने बतलाया कि इटलीवासियों के लिए फ्रांस के विरोध का समुचित कारण उपस्थित था। परन्तु उन्होंने आगे कहा आप जानते हैं कि वे किस प्रकार दोनों राजाओं (चार्ल्स पंचम तथा फ्रांसिस प्रथम) में से एक तथा दूसरे की शक्ति से डरते हैं तथा वे किस प्रकार अपनी शक्ति संतुलित करने के लिए चिंतित हैं।[12] आगामी वर्षों में फ्रांसीसी राजसमर्थकों ने वेनिस की विदेश नीति का चित्रण तटस्थता के पहलुओं तथा किसी भी पक्ष के साथ सन्धि से विलग रहने के विशेष संदर्भ में इसी प्रकार की शब्दावली में किया। यह उस समय हुआ जब फ्रांस के सन्धि के प्रस्तावों को वेनिस ने अस्वीकार करने से असहमति प्रकट की। उदाहरणार्थ 1554 में वेनिस के राजदूत द्वारा दिए गए संवाद में फ्रांस के हेनरी द्वितीय ने इन असहमतियों की व्याख्या वेनिस के उस भय के आधार पर की जिसमें स्पेन के चार्ल्स पंचम की मृत्यु की स्थिति में स्पेन की फ्रांस से अग्रवर्ती होने की सम्भावना थी। वेनिस, तथापि मामलों को सतुलन में रखने का प्रयत्न करता था (टेनर ए बान स्ट क्वाले सटटा)।" वेनिस के एक दूसरे राजदूत ने 1558 में एक संवाद में कहा था कि फ्रांसीसी वेनिस की विदेश नीति को फ्रांस तथा स्पेन की शक्ति में वृद्धि के भय पर आधारित ठहराते थे। वेनिस 'तुला को किसी एक ओर झुकने से रोकना चाहता था। (क्ल विलांसिया ना पान्स स्कवकूना पार्टे)।' राजदूत ने आगे

12 Papiers d Etat du Cardinal de Granvelle (Paris 1843) Vol IV, pp 121

कहा कि 'चतुर' नागा द्वारा इस नीति की प्रशंसा ही नहीं वरन् सराहना भी हुई है। देन विश्व के समया म रचनो का वनिय के गए राज्य के अतिरिक्त कहीं सरक्षण नहीं मिलता। विशेषतया इसीलिए समस्त रचनावासी उसकी स्वाधीनता चाहते हैं तथा उसके पसत्तीकरण का स्वागत करते हैं।[13]

तथापि सतुलन का विशुद्ध एव श्रेष्ठ उदाहरण ब्रिटेन द्वारा प्रस्तुत किया गया है। यह सूत्र हेनरी अष्टम का माना जाता है सुड ग्न्स प्रयस्ट (वही प्रभिभावी होगा जिसका मैं समर्थन करूँगा)। उसके विषय में यह कहा गया है कि उसने अपने आपको दाहिने हाथ में पूर्ण सतुलन की अवस्था में तुला पकड़े हुए चित्रित किया। इसके एक पलड़े में फ्रास स्पेन में आस्ट्रिया था तथा वह अपने बायें हाथ में एक बाट पकड़े हुए था जोकि किसी भी पलड़े में डाला जा सकता था। एलिजाबेथ प्रथम के शासन काल में इग्लैंड के विषय में कहा जाता था कि माना फ्रांस तथा स्पेन यूरोप की तुला के दो पलड़े थे तथा इग्लैंड उसकी जिह्वा अथवा तुला का धारक।[14] 1624 में फ्रांस का एक पुस्तिका ने राजा जेम्स का एलिजाबेथ तथा हेनरी अष्टम के भव्य उदाहरण का अनुकरण करने के लिए आमंत्रित किया जिससे सम्राट चार्ल्स पचम तथा राजा फ्रांसिस के बीच दोनों के भय एव प्रशंसा का पात्र बनकर तथा दोनों के बीच माना सतुलन रखकर अपनी भूमिका को इतने अच्छे ढग से अदा किया था।

सार्वभौमिक राजतत्र के नये प्रत्याशी के रूप में लुई 14 वें के उपस्थित होने पर हैप्सबर्गो तथा फ्रास को तुला में रखकर यूरोप के मध्यस्थ बनकर रहने का नया जो सिद्धान्त इग्लैंड में तथा अन्यत्र अधिकाधिक मान्य होता चला गया। इसी मानक को चार्ल्स द्वितीय तथा जेम्स द्वितीय के साथ आलोचनात्मक ढग से प्रयुक्त किया गया था जो ब्रिटिश शक्ति के सबसे बड़े प्रतिद्वंद्वी लुई चौदहवें के साथ नैदरलैंन्ड्स के विरुद्ध एकमत हो गए थे तथा विलियम तृतीय की फ्रान्स विरोधी नीति के समर्थन में भी एक थे। स्पेनिश उत्तराधिकार के युद्ध के साथ यह मानक विशेषतया इग्लैंड में एक अन्धविश्वास बन गया। जब तक कि उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य के उपरान्त मैनचेस्टर के उदारपंथियों ने यूरोप महाद्वीप के मामलों से पूर्ण पृथक्ता—अर्थात् अलगाव—को ब्रिटिश राजनीति का सिद्धान्त नहीं बना दिया, यह शक्तियों के नये सम्मिलनों के साथ सदा प्रयुक्त

13 Eugeno Albers Le Relazioni degli Ambasciatori Veneti al Senato Series I (Firenze 1862) Vol II pp 287 464

14 William Camden, Annals of the History of the Most Renowned and Victorious Princess Elizabeth Late Queen of England (London, 1635) p 196

हुआ तथा बिना किसी विरोध के व्यवहार मे आता रहा। ब्रिटिश राजनय की परिपाटी एवं कार्य-प्रणाली के रूप मे विविधता ब्रिटिश शक्ति के ह्रास तथा अमरीकी एवं रूसी शक्ति के विकास के साथ अदृश्य हो गई है। जब यह परिपाटी तथा व्यवहार अदृश्य होने वाले थे, सर विंसटन चर्चिल ने मार्च, 1936 मे विदेशी मामला पर अनुदार सदस्या की समिति के समक्ष एक भाषण मे अत्यधिक वाक्-पटुता से इसका सक्षिप्तीकरण किया था

चार सौ वर्षो स इग्लैंड की विदेश नीति महाद्वीप पर सबसे अधिक शक्तिशाली, सबसे अधिक आक्रामक, सबसे अधिक प्रभिभावी शक्ति का विरोध करने की तथा विशेषतया निचले देशो को ऐसी शक्ति के साथ मे पडने से रोकने की रही है। इतिहास के आलोक मे देखने पर इनन नामो तथा तथ्यो ने परिस्थितियो तथा दशाओ के परिवर्तनो के बीच गठित उद्देश्य की य चार शताब्दियाँ अत्यधिक महत्वपूर्ण घटनाओ की कोटि मे गिनी जानी चाहिये, जिन पर कोई भी जाति, राष्ट्र राज्य तथा लोग गर्व कर सकन है। यही नही सभी अवसरो पर इग्लैंड ने अधिक कठिन मार्ग अपनाया है। विलियम तृतीय तथा मार्लबोरो के अधीनस्थ लुई चौदहवे के विरुद्ध, नैपोलियन के विरुद्ध, तथा जर्मनी के विलियम द्वितीय के विरुद्ध फिलिप द्वितीय का सामना होने पर इग्लैंड के लिये यह आसान रहा होना कि अधिक शक्तिशाली के साथ मिल जाये। साथ ही उसकी विजय के फलो की प्राप्ति मे सहभागी बनना उसे लुभाता भी रहा होगा, तथापि हमने सदैव अधिक कठिन मार्ग अपनाया। हम कम शक्तिशाली शक्तियो के साथ सम्मलित हुए। उनके साथ सम्मिश्रण किया। और, इस प्रकार महाद्वीपीय सैनिक निरकुश शासक को हरा दिया एव विफल कर दिया। फिर चाहे वह कोई हो, चाहे किसी राष्ट्र का, नेतृत्व करना हो। इस प्रकार हमने यूरोप की स्वतत्रताओ का परिरक्षण किया। इसके सजीव एव विभिन्न प्रकार के समाज की रक्षा की। यही नही हम चार भयानक सघर्षो के उपरान्त सदा बढने वाले यश, विस्तृत होने वाले साम्राज्य से सम्पन्न होकर अपनी-अपनी स्वाधीनता मे भली-प्रकार सुरक्षित निचले राज्यो के साथ विकसित हुए। यहा ब्रिटिश विदेश नीति की आश्चर्यजनक अचेतन परम्परा दिखलाई पडती है। हमारे सभी विचार आज उस परम्परा पर निर्भर हैं। मुझे ऐसी किसी घटना का पता नही, जो उस न्याय, बुद्धिमत्ता, शौर्य एव दूर-दर्शिता को बदलने अथवा क्षीण बनाने के लिए घटी है, जिस पर हमारे पूर्वज कार्य करते थे। मैं मानव-प्रकृति की किसी ऐसी बात को नही जानता, जोकि न्यूनतम मात्रा मे भी उनके निर्णयो की वैधता को बदल देती है। मैं ऐसे सैनिक, राजनीतिक, आर्थिक अथवा वैज्ञानिक तथ्य के विषय मे कुछ नही जानता जोकि मुझे यह अनुभव कराये कि हम कम समर्थ है। मैं ऐसा किसी के विषय

मे नही जानता जो मुझे अनुभव करादे कि हम उस मार्ग पर नही चल सकेगे अथवा नही चल सकते है। मैं यह बहुत ही सामान्य कथन आपके समक्ष रखने का साहस करता हूँ। मुझे यह प्रतीत होता है कि यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो अन्य सब कुछ बहुत अधिक सरल हो जावेगा।

'इंग्लैण्ड की नीति इस बात का हिसाब नही रखती कि वह कौन राष्ट्र है जो यूरोप पर शासन की तलाश मे है। यह प्रश्न नही है कि वह स्पेन, अथवा फान्सीसी राजतन्त्र अथवा फ्रान्सीसी साम्राज्य अथवा जर्मन साम्राज्य तथा हिटलर का प्रशासन है। इसका राष्ट्रो के शासको से कोई सम्बन्ध नही है। यह केवल उससे सम्बन्धित है जो कोई सबसे अधिक शक्तिशाली अथवा सम्भाव्य प्रभावी अत्याचारी शासक है। इसलिए हमको फ्रान्सीसी-समर्थक अथवा जर्मन विरोधी कहे जाने से नही डरना चाहिए। यदि परिस्थितिया बदल जाती तो हम समान रूप से जर्मन-समर्थक तथा फ्रान्सीसी-विरोधी भी हो सकते थे। यह सार्वजनिक नीति का नियम है जिसका हम अनुसरण कर रहे है। यह कोई केवल कालोचित बात नही है, जो आकस्मिक परिस्थितियो रुचियो एव अरुचियो अथवा किसी अन्य मनोभाव से शासित हो सकती है।'[15]

15 Winston S Churchill, The Second World War, Vol I, The Gathering Storm (Boston Houghton Mifflin Co, 1948), pp 207–8 (Reprinted by permission of the publisher.)

तेरहवाँ अध्याय

शक्ति-संतुलन की संरचना

अधिभावी (Dominant) तथा आश्रित (Dependent) प्रणालियाँ

अब तक हमने शक्ति-सतुलन की चर्चा इस प्रकार की है मानो यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सक्रिय रूप से सलग्न सभी राष्ट्रों की एक व्यापक प्रणाली हो। तथापि अधिक समीप से देखने पर यह रहस्योद्घाटन हो जाता है कि ऐसी प्रणाली बहुधा ऐसी बहुत-सी उप-प्रणालियों से मिल कर बनती है जो परस्पर सम्बद्ध होती है, परन्तु जो स्वय मे अपना शक्ति-सतुलन बनाये रखती है। विभिन्न प्रणालियों मे परस्पर सम्बन्ध सामान्यतया अधीनता का होता है। यह इस अर्थ मे कि अपने पलडो मे अधिक भार सचित कर लेने से एक अधिभावी हो जाती है, जबकि दूसरी, मानो, उस अधिभावी प्रणाली के पलडो से सलग्न होती है।

इस प्रकार सोलहवी शताब्दी में, फ्रास और हैप्सबर्ग्ज के बीच अधिभावी शक्ति-सतुलन चलता था, जबकि उसी समय एक स्वायत्तशासी प्रणाली ने इटली के राज्यो को साम्यावस्था में रखा। सत्रहवी शताब्दी क उत्तरार्ध में उत्तरी यूरोप मे एक पृथक शक्ति सतुलन का विकास स्वीडन की शक्ति के द्वारा बाल्टिक सागर के निकटवर्ती राष्ट्रों को दी गई एक चुनौती से हुआ। अठारहवी शताब्दी मे प्रशिया के एक प्रथम श्रेणी की शक्ति मे रूपान्तरित होने से एक विशेष जर्मन शक्ति सतुलन का जन्म हुआ जिसके दूसरे पलडे मे मुख्य बाट के रूप म आस्ट्रिया था। "बडे यूरोप मे एक छोटे यूरोप' की यह स्वायत्तशासी प्रणाली केवल 1866 मे इसी वर्ष के प्रशिया एव आस्ट्रिया के युद्ध के परिणामस्वरूप जर्मन राज्य-मण्डल से आस्ट्रिया के निष्कासन के कारण विघटित हो गई। अठारहवी शताब्दी मे रूस की शक्ति के समुन्नत होने के कारण एक पूर्वी शक्ति सतुलन का विकास दिखलाई पडा। क्षतिपूरण के सिद्धान्त के अनुसार रूस, प्रशिया तथा आस्ट्रिया के बीच पोलैंड के विभाजन, उस नई प्रणाली की प्रथम दर्शनीय अभिव्यक्तियाँ हैं।

उन्नीसवी शताब्दी से आज तक, बाल्कन प्रदेशो मे शक्ति-सतुलन यूरोप के राष्ट्रो के लिए चिंता का विषय रहा है। 1790 मे टर्की ने प्रशिया के साथ संधि की, जिसम प्रशिया ने "उस प्रतिकूल प्रभाव के कारण जिसे शत्रु डेन्यूब

पार करने में, स्थानीय तथा प्रादेशिक शक्ति-सन्तुलन की ओर से प्रशा ने आस्ट्रिया तथा रूस के साथ युद्ध लड़ने का निश्चय किया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बर्तानिया के औपनिवेशिक अर्जनों में साम्यावस्था के सन्दर्भ में एक अफ्रीकी शक्ति-सन्तुलन की बातचीत होने लगी। बाद में पाश्चात्य गोलार्ध में प्रशान्त महासागर में तथा सुदूर पूर्व के निकट पूर्व में भी शक्ति-सन्तुलन राजनय की शब्दावली में शामिल हो गए। कभी कभी तो आस्ट्रियाई साम्यावस्था की बात करता था। "अपनी प्रतिरोधी राष्ट्रीयताओं के होते हुए भी आस्ट्रियाई राजतन्त्र के विषय में यह कहा जाता था कि यह आचरण के उन नियमों का अपने प्रति प्रयोग करने के लिए विवश है जिनका यूरोप की शक्तियाँ अपनी परस्पर प्रतिस्पर्द्धाओं के बावजूद एक दूसरे के सम्बन्ध में अनुसरण करती हैं।"[1]

ऐसी स्थानीय शक्ति-सन्तुलन प्रणालियों की स्वाधीनता उतनी ही और अधिक विचारणीय तथा एक अभिभावी प्रणाली के प्रति उनकी अधीनता उतनी ही कम विचारणीय होती है जितनी शक्ति संघर्ष के केन्द्र से वे जितनी अधिक दूर होती हैं तथा जितनी अधिक वे अभिभावी प्रणाली की परिधि राष्ट्रों की पहुँच के बाहर परिचालित होती हैं। किन्तु यह किसी आकस्मिकतावश नहीं है। इस प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी में जब यूरोप के बड़े राष्ट्र दूसरे भागों में व्यस्त थे सापेक्षिक स्वाधीनता में इटली का शक्ति-सन्तुलन विकसित हो सका। पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास के बड़े भाग में एशिया अफ्रीका तथा अमरीका की शक्ति-सन्तुलन प्रणालियाँ यूरोपीय राष्ट्रों की समाकृतियों से इस सीमा तक पूर्णतया स्वतन्त्र थीं कि उनको वे जानती तक नहीं थीं।

पश्चिमी गोलार्ध में दूसरे विश्वयुद्ध तक तथा पूर्वी यूरोप में अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक शक्ति-सन्तुलन के सापेक्षिक स्वतन्त्र विकास का श्रेय इस समय के शक्ति-केन्द्रों की परिधि पर उनकी स्थिति को है। पोलैंड के विभाजन, जिनका रूप पूर्वी यूरोप में शक्ति सन्तुलन का परिरक्षण था प्रधान रूप से इसमें अभिरुचि रखने वाले राष्ट्रों द्वारा दक्षिण अमरीका में शक्ति-सन्तुलन बनाए रखने के ध्येय से अतिक्रमणों के विरुद्ध गए थे। यहाँ किसी अन्य राष्ट्र का हस्तक्षेप का अवसर नहीं मिला था। ब्राज़ील तथा यूराग्वे में 1851 में हुए सन्धि का यूरोपीय शक्ति-सन्तुलन के साथ एक बहुत उत्कर्षी संयोजन था दूसरी ओर एक स्वायत्तगामी अफ्रीकी शक्ति-सन्तुलन के विषय में चर्चा करना अभी हाल ही सम्भव हुआ है। चूँकि अफ्रीका के अपने राष्ट्रों ने अभी हाल में ही दूसरों के साथ तथा गैर-अफ्रीकी राष्ट्रों के साथ शक्ति के लिए प्रतिस्पर्द्धा प्रारम्भ की है अफ्रीका अब अन्यत्र केन्द्रित शक्ति के संघर्ष का ही एक मात्र पात्र नहीं रहा।

1 Albert Sorel L Europe et la revolution francaise (Paris E Plon, 1885), Vol I, p 443

जितने अधिक घनिष्ठ रूप से एक स्थानीय सतुलन अधिभावी सतुलन के साथ सम्बद्ध होता है उसे स्वतन्त्र रूप से परिचालन का उतना ही कम अवसर मिलता है। यही नही अधिभावी शक्ति-सतुलन की केवल सीमित अभिव्यक्ति होने की उतनी ही अधिक प्रवृत्ति होती है। फ्रेडरिक महान् से लेकर 1866 के युद्ध तक जर्मन राज्य-मण्डल मे शक्ति-सतुलन पूर्ण स्वायत्त-शासन तथा पूर्ण एकीकरण के बीच की स्थिति प्रस्तुत करता है। इसमें अधिभावी प्रणाली के अन्तर्गत एक निश्चित मात्रा में स्वायत्त-शासन और एकीकरण का समन्वय हुआ है जबकि जैसा हम देख चुके है, प्रशिया तथा आस्ट्रिया के बीच की साम्यावस्था जर्मन राज्य सघ के सदस्यो की स्वतन्त्रताओ के परिरक्षण की पूर्व-शर्त थी। यह भी है कि यह साम्यावस्था यूरोपीय शक्ति-सतुलन को पूर्ण रूप मे बनाये रखने के लिए अपरिहार्य भी थी।

जर्मन सतुलन ने इस प्रकार दोहरा कार्य किया एक अपने ढाचे मे, तथा दूसरा सामान्य व्यवस्था के लिए, जिसका यह अग था। इसके विपरीत प्रशिया तथा आस्ट्रिया का अस्थायी गठबधन अथवा एक का दूसरे के द्वारा अभिभावन न केवल व्यक्तिगत जर्मन राज्यो की स्वाधीनता का विनाशक होता, वरन् इसने दूसरे जर्मन राष्ट्रो को भी भय उत्पन्न कर दिया होता। जैसा कि एडमन्ड बर्क ने कहा था "यदि यूरोप साम्राज्य की स्वाधीनता तथा साम्यावस्था को यूरोप में शक्ति-सतुलन की व्यवस्था का बिल्कुल सार रूप नही समझता तो दो शताब्दियो से अधिक यूरोप की सभी राजनीतिक गतिविधिया अत्यधिक त्रुटिपूर्ण रही है"। अत प्रशिया तथा आस्ट्रिया के बीच सतुलन की निरन्तरता, न केवल जर्मन राज्य-सघ के दूसरे सदस्यो के वरन् सभी यूरोपीय राष्ट्रो के हित में थी।

जब 1866 के युद्ध के परिणाम-स्वरूप, प्रशिया तथा फिर जर्मनी ने आस्ट्रिया के ऊपर स्थायी लाभ प्राप्त कर लिया, जिसने दोनो राष्ट्रो के बीच के सतुलन को नष्ट कर दिया तथा जर्मनी को यूरोप में प्रबल बना दिया, तो इसके अधिक सबल पडोसी प्रशिया तथा फिर जर्मनी द्वारा अतिक्रमण से आस्ट्रिया की स्वाधीनता की रक्षा यूरोपीय राष्ट्रो के लिए शक्ति-सतुलन के कार्यो मे स एक बन गई। यह उस स्थायी यूरोपीय हित के परिणाम-स्वरूप ही था कि प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त विजेता सम्मिलित राज्यो ने वैध आर्थिक तथा राजनीतिक उपायो से जर्मनी के साथ आस्ट्रिया के इस अस्थायी गठबधन को रोकने का प्रयत्न किया। इसके अतिरिक्त, यह स्थिति के अनुरूप ही था कि हिटलर ने आस्ट्रिया के सयोजन को यूरोपीय शक्ति सतुलन के उलटन के मार्ग में एक आवश्यक सोपान समझा।

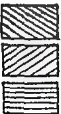
2. Works, Vol IV (Boston . Little, Brown and Co 1889), p. 330

संयुक्त राज्य का प्रभाव क्षेत्र

सोवियत संघ का प्रभाव क्षेत्र

राष्ट्र





उन्नीसवी शताब्दी की अंतिम दशियो मे बाल्कान प्रदेशो मे शक्ति-सतुलन ने इसी प्रकार का कार्य सम्पादित किया है। यहा भी बाल्कान राष्ट्रो म शक्ति-सतुलन यूरोपीय सतुलन क लिए पूर्वकाभित गमभा गया है। जब कभी स्थायी सतुलन को भय उत्पन्न हुआ यूरोप क महान् राष्ट्रो न इसकी पुन स्थापना क लिए हस्तक्षप किया। पूव उद्धृत[2] रूस के जार का प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ में कथन उस सम्बन्ध का स्पष्ट उदाहरण है।

शक्ति-संतुलन मे संरचनात्मक परिवर्तन[3]

हाल के वर्षों मे अधिभावी शक्ति-सतुलन तथा स्थानीय पद्धतियो के बीच के सम्बन्धो में स्थानीय पद्धतियो की स्वायत्तता के ह्रास मे परिवर्तन की उत्तरोत्तर बढती हुई प्रवृत्ति दिखलाई पडती है। इस विकास के कारण उन सरचनात्मक परिवर्तनो में पाये जाते है, जिनमें होकर अधिभावी शक्ति सतुलन प्रथम विश्वयुद्ध से निकल चुका है तथा जो दूसरे विश्वयुद्ध में स्पष्ट हो गय है। हम पहले ही पश्चिमी तथा मध्य यूरोप स लेकर शेष महाद्वीप तथा वहा से दूसर महाद्वीपो तक अधिभावी शक्ति सतुलन व्यवस्था के क्रमिक विस्तार का सकेत कर चुके हैं। यह उस समय तक बढता रहा, जब तक प्रथम विश्वयुद्ध ने पृथ्वी के सभी राष्ट्रो को एक विश्व-व्यापी शक्ति-सतुलन में सक्रिय रूप स भाग लेता हुआ नही देखा।

इस विस्तार क चरमोत्कर्ष के साथ-साथ तुला के मुख्य बाट यूरोप से दूसरे महाद्वीपो की ओर सक्रमित हो गय। 1914 म प्रथम विश्वयुद्ध के आरम्भ में तुला में बाट प्रबल रूप स यूरोपीय थे अर्थात् एक पलडे मे ग्रेट ब्रिटेन फ्रास तथा रूस और दूसर मे जर्मनी तथा आस्ट्रिया थ। द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त म प्रत्यक पलडे में प्रमुख बाट या तो पूर्णतया गैर यूरोपीय थे जैसकि सयुक्तराज्य अमरिका अथवा प्रबल रूप मे गैर-यूरोपीय, जैस सोवियत सघ। परिणामतया विश्व शक्ति सतुलन का समस्त ढाचा ही बदल गया। प्रथम विश्वयुद्ध के अन्त तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ के समय तुला के दोनो पलड कहने के लिए अब भी यूरोप में थे। केवल पलडा क बाट समस्त पृथ्वी स प्राप्त थ। शक्ति-प्रतिरोध क मुख्य प्रतियोगी तथा राजनीतिक दावे जिनके लिए यह युद्ध हुआ, अब भी प्रबल रूप से यूरोपीय थ। पूव उद्धृत जार्ज कैनिंग के श दो की व्याख्या करते हुए कहा जा सकता है कि गैर यूरोपीय शक्तियो का आह्वान केवल यूरोप के शक्ति-सतुलन को सही करन क लिए ही किया गया था। 1940 म व्यक्त चर्चिल के शब्दा में 'नया विश्व अपनी सभी शक्ति तथा सामर्थ्य के साथ पुराने विश्व क बचाव तथा मुक्ति क लिए निकल पडता है।

3 दूसरे सरचनात्मक परिवर्तनों के लिए, अध्याय 21 देखिए

आज यूरोप का शक्ति-सतुलन विश्व राजनीति का केन्द्र नहीं रहा, जिसके चारो ओर स्थानीय सतुलन अपने आपको या तो घनिष्ठ सम्बन्ध के रूप में या छोटे अथवा बड़े स्वायत्तशासन के रूप में सगठित करे। आज वह विश्व व्यापी सतुलन का कार्य-मात्र हो गया है जिसके सयुक्त राज्य तथा सोवियत सघ विरोधी पलडो में स्थित मुख्य बाट है। यूरोप में शक्ति-सतुलन ठोस मामलो में से एक है जिनके ऊपर सयुक्तराज्य तथा सोवियत सघ में शक्ति-सघर्ष चल रहा है।

जो पहले की अधिभावी व्यवस्था के विषय में सत्य है, वह सभी परम्परागत स्थानीय व्यवस्थाओं के विषय में भी सत्य है। निकटवर्ती पूर्व तथा सुदूर पूर्व के समान ही बाल्कान प्रदेशो में शक्ति सतुलन का भाग्य वही रहा है जो सामान्य यूरोपीय व्यवस्था का। ये प्रदेश नये विश्व-व्यापी सतुलन के कार्य-मात्र हो गये हैं, ऐसी रगभूमि मात्र, जहाँ दो प्रतियोगियो के बीच शक्ति-सघर्ष चलता रहता है। यह कहा जा सकता है कि सभी स्थानीय शक्ति-सतुलन-व्यवस्थाओं में, केवल दक्षिण अमरीकी व्यवस्था में सयुक्तराज्य के प्राधान्य से सुरक्षित होने के कारण स्वायत्तता की एक निश्चित मात्रा बनी रही है।

चौदहवां अध्याय

शक्ति-संतुलन का मूल्यांकन

शक्ति-संतुलन की परिवर्तित संरचना पर विशेषतया विचार करते हुए इसका यह निश्चित करना है कि इसका किस प्रकार मूल्यांकन करें तथा आधुनिक संसार में शान्ति एवं सुरक्षा के परिरक्षण में इसकी उपयोगिता क्या है इसका किस प्रकार निर्धारण करें।

इसकी प्रकृति एवं परिचालन की व्याख्या करने में हमने बहुराज्य प्रणाली के साथ इसके अपरिहार्य सम्बन्ध तथा उसके लिए इसके रक्षा कार्य पर बल दिया है। अपने चार सौ वर्षों से अधिक के इतिहास में शक्ति-संतुलन की नीति किसी एक राज्य का सार्वभौमिक स्वामित्व की प्राप्ति में रोकने में सदैव सफल रहा। 1648 में तीस वर्षीय युद्ध की समाप्ति से अठारहवीं शताब्दी के अन्त में पोलैंड के विभाजनों तक यह नीति आधुनिक राज्य व्यवस्था के सभी सदस्यों के अस्तित्व के परिरक्षण में भी सफल रही। तथापि किसी एक राज्य द्वारा सार्वभौमिक स्वामित्व केवल युद्ध द्वारा ही रोका गया। ऐसी स्थिति 1648 से 1815 तक वास्तविक रूप में निरन्तर विद्यमान थी तथा बीसवीं शताब्दी में लगभग समस्त संसार को दो बार अपने शिकंजे में जकड़ चुकी है। स्थायित्व की दो कालावधियों में से एक 1648 में तथा दूसरा 1815 में प्रारम्भ हुई। इसके पूर्व छोटे राज्यों का बड़े आधार पर विलय हो चुका था तथा बीच बीच में पोलैंड के विनाश से लेकर यत्र-तत्र और भी इसी प्रकार के बड़े से कारनामे दिखलाई पड़े।

हमारी चर्चा के लिए यह तथ्य महत्वपूर्ण है कि इन कार्यों की निष्पत्ति भी शक्ति-संतुलन के नाम पर हुई जिसका आधुनिक राज्य व्यवस्था के मूल सिद्धान्त के रूप में यह मुख्य दावा रहा था कि वह व्यक्तिगत राज्यों की स्वाधीनता के परिरक्षण में संलग्न रहेगा। शक्ति-संतुलन न केवल पोलैंड की स्वाधीनता की रक्षा करने में असफल रहा वरन् दूसरे राज्य के प्रादेशिक विस्तार के लिए, प्रत्येक राज्य के प्रादेशिक क्षतिपूरण के सिद्धान्त ने पोलिश राज्य का विनाश ही कर दिया। शक्ति-संतुलन के नाम में पोलैंड का विनाश स्वतन्त्र राज्यों के विभाजनों विलयों एवं विनाशों की श्रेणी में केवल प्रथम तथा सबसे अधिक दर्शनीय उदाहरण था, जो सभी 1815 से अब तक उसी

सिद्धान्त के प्रयोग से सम्पादित हुए हैं। व्यक्तिगत राज्यों के लिए अपने कार्य का पूरा करने की असफलता तथा वास्तविक अथवा सम्भाव्य युद्ध के साधनों को छोड कर किन्ही अन्य साधनों द्वारा समस्त राज्य-व्यवस्था के लिए पूरा करने की असमर्थता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के निर्देशक सिद्धान्त के रूप में शक्ति-संतुलन की तीन प्रमुख कमजोरियों की ओर सकेत करती है इसकी अनिश्चितता, इसकी अवास्तविकता, तथा इसकी अपर्याप्तता।

शक्ति-संतुलन की अनिश्चितता

किसी एक राष्ट्र को दूसरे की स्वाधीनता को भय पैदा करने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली बनने से रोकने के उद्देश्य से राष्ट्रों के समूह में संतुलन का विचार यान्त्रिकी क क्षेत्र से लिया गया रूपक है। सोलहवीं, सत्रहवीं, तथा अठारहवीं शताब्दियों की विचारधारा के लिये यह उपयुक्त था। यह विचारधारा समाज तथा समस्त विश्व को एक विशाल यन्त्र अथवा दैवी घडीसाज द्वारा निर्मित एव चालित घडी के अन्दर के यन्त्र के रूप में ही चित्रित करना चाहती थी। यह विश्वास किया जाता था कि उस यन्त्र-विन्यास में, तथा उसके बनाने वाले दूसरे अधिक छोटे यन्त्र-विन्यासों में व्यक्तिगत भागों के पारस्परिक सम्बन्ध यान्त्रिक गणनाओं द्वारा यथार्थ रूप में निर्धारित होते थे। उसकी क्रियायें तथा प्रतिक्रियायें भी पहले से सही जानी जा सकती थी। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में स्थायित्व तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए दोनों ओर बाटों के समान वितरण द्वारा दो पलडों में सतुलन बनाये रखने के रूपक का उद्‌गम यान्त्रिक दर्शन में है। उस दर्शन की प्रवृत्ति-स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के व्यावहारिक मामलों में यह प्रयुक्त हुआ था।

यान्त्रिक विधि से कल्पित, शक्ति सतुलन को एक सरलता से पहचानने योग्य परिमाणात्मक कसौटी की आवश्यकता है, जिसके द्वारा बहुत से राष्ट्रों की सापेक्षिक शक्ति की माप तथा तुलना हो सकती है। क्योंकि वास्तविक तराजू के पलडों में रखे जाने वाले पौण्ड और औंस के समान कसौटी के आधार पर ही कोई किसी सीमा तक विश्वास के साथ कह सकता है कि अमुक राष्ट्र किसी अन्य से अधिक सबल होना प्रतीत होता है, अथवा वे परस्पर शक्ति-संतुलन बनाये रखते प्रतीत होते है। यही नहीं, यह ऐसी कसौटी के साधनों द्वारा ही सम्भव है कि शक्ति के उतार-चढ़ाव परिमाणात्मक इकाइयों में बदले जा सकते हैं। ये इकाइयाँ सतुलन की पुन स्थापना के लिए एक पलडे से दूसरे पलडे में स्थानान्तरित की जा सकती हैं। जैसाकि हम देख चुके है, शक्ति-सतुलन के सिद्धान्त एव व्यवहार को ऐसी कसौटी, प्रदेश, जन-सख्या तथा अस्त्र-शस्त्रों में मिली। आधुनिक राज्य-व्यवस्था के इतिहास में

क्षतिपूरण तथा प्रतिस्पर्द्धापूर्ण शस्त्रीकरण की नीतियाँ सदैव उस कसौटी के व्यावहारिक रूप में प्रयुक्त हुई है।

परन्तु क्या किसी राष्ट्र की शक्ति वास्तव में प्रदेश के विस्तार पर निर्भर है? क्या एक राष्ट्र अधिक प्रदेश होने से अधिक शक्तिशाली बन जाता है? एक राष्ट्र की शक्ति के निर्माणक तत्त्वों की परीक्षा करने पर यह स्पष्ट हो गया है कि उपर्युक्त प्रश्नों का स्वीकारात्मक उत्तर इतने अधिक प्रतिबन्धों के साथ दिया जा सकता है कि उत्तर का स्वीकारात्मक स्वरूप ही निरर्थक हो जायेगा। फ्रांसीसी प्रादेशिक क्षेत्र लुई 14वें के शासन के अन्त के समय उसके आरम्भ के समय के क्षेत्र से अधिक बड़ा था। परन्तु उसके शासन के आरम्भ की अपेक्षा अन्त में फ्रांस अधिक शक्तिहीन था। प्रादेशिक आकार तथा राष्ट्रीय शक्ति का यही विपरीत सम्बन्ध 1786 में फ्रेडरिक महान् की मृत्यु के समय प्रशिया के प्रदेश एवं शक्ति से दस वर्ष बाद के वैसे ही तत्त्वों के साथ तुलना से स्पष्ट होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक स्पेन तथा टर्की के पास वृहत् प्रदेश थे, जो आकार में किसी भी यूरोपीय राष्ट्र से अधिक थे। परन्तु वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संलग्न सबसे अधिक दुर्बल राष्ट्रों में गिने जाते थे। यद्यपि भूगोल, जिसका प्रादेशिक विस्तार एक भाग है, किसी राष्ट्र की शक्ति के निर्माण में एक सहायक तत्त्व है, किन्तु वह दूसरे तत्त्वों में से केवल एक है। अठारहवीं शताब्दी के अन्त के समय क्षतिपूरण के आदर्श के अनुरूप यदि कोई प्रादेशिक गुणावस्था तथा उसमें रहने वाली जन-संख्या की गुणावस्था तथा मात्रा पर विचार भी करे, तो भी उसका उन सभी तत्त्वों में कम से ही सम्पर्क होता है, जिनसे किसी राष्ट्र की शक्ति का निर्माण होता है। यदि कोई अस्त्र-शस्त्रों की मात्रा तथा गुणावस्था को तुलना का माप-दण्ड बनाये तो भी वही बात सच ठहरती है।

राष्ट्रीय चरित्र तथा, सबके ऊपर, राष्ट्रीय मनोबल तथा सरकार की गुणावस्था, राष्ट्रीय शक्ति के संघटकों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, साथ ही सबसे अधिक भ्रामक भी हैं। यह विशेषतया वैदेशिक सम्बन्धों के संचालन के विषय में कहा जा सकता है। सामयिक स्थिति के प्रेक्षक अथवा भावी प्रवृत्तियों के गवेषक के लिए विभिन्न राष्ट्रों की शक्ति में इन तत्त्वों के सापेक्षिक योगदानों का मूल्यांकन किसी यथार्थता के आधार पर करना भी असम्भव है। यही नहीं, इन योगदानों की गुणावस्था सतत परिवर्तन के अधीन है। जिस समय वास्तव में कोई परिवर्तन होता है, अविचारणीय होता है। वह संकट एवं युद्ध की वास्तविक परीक्षा में प्रकट होता है। अनेक राष्ट्रों की सापेक्षिक

शक्ति की युक्तिसंगत परिगणना, जोकि शक्ति-सतुलन का जीवन-रक्त है, *अटकलबाजियों की एक श्रृंखला बन जाती है, जिनकी सचाई का निश्चय केवल* सूक्ष्म निरीक्षण से ही किया जा सकता है।[1] जैसाकि शक्ति-सतुलन के महान् प्रयोक्ता बोलिंगब्रोक ने कहा है

'वह सही बिन्दु जिस पर शक्ति के पलडे पलट जाते है, सामान्य प्रेक्षक के लिए दुष्कर है तथा, एक मामले की भाँति दूसरे मे परिवर्तन के ज्ञान हेतु मे पूर्व नई दिशा मे कुछ प्रगति हो ही जानी चाहिए। अन्य सभी उदाहरणो के विपरीत, शक्ति के राजनीतिक सतुलन मे, जो पलडा खाली होता है, भुक जाता है, तथा जो भरा होता है, उठ जाता है। जो भुकने वाले पलडे मे होते हैं, वे उत्कृष्ट सम्पत्ति या शक्ति, अथवा कौशल या साहस के स्वभाव-गत पूर्वाग्रहो से *सरलता से नही निकल पाते*, न उस विश्वास से निकल पाते है जिसको वे पूर्वाग्रह प्रेरणा देते है। जो उठने वाले पलडे मे होते हैं, वे तुरन्त ही उसकी शक्ति का अनुभव नही करते[1] न वे उस विश्वास की इसमे कल्पना करते हैं, जिसे सफल अनुभव उन्हे बाद मे प्रदान करता है। जो इस सतुलन के उतार-चढाव को देखने मे सर्वाधिक रुचि रखते है, बहुधा उसी ढग से तथा उन्ही *पूर्वाग्रहों के द्वारा गलत अनुमान लगाते हैं।* वे ऐसी शक्ति से डरते रहते हैं, जो उनको चोट पहुचाने मे अब अधिक समर्थ नही रही है। अथवा वे ऐसी शक्ति से निरन्तर नही डरते रहते, जोकि प्रतिदिन अधिकाधिक भयावह होती जाती है"।[2]

शक्ति सतुलन के एक अठारहवी शताब्दी के विरोधी ने उस समय सामान्य गणनाओ की अर्थहीनता का प्रदर्शन यह पूछ कर किया कि इन दो शासको मे कौन अधिक शक्तिशाली है—एक वह जिसके पास सैनिक शक्ति के तीन पौड, राजमर्मज्ञता के चार पौड, उत्साह के पाच पौड, तथा महत्त्वकाक्षा के दो पौंड हैं, अथवा दूसरा वह जिसके पास सैनिक शक्ति के बारह पौड तथा अन्य सब गुणो का केवल एक पौड है? लेखक पहले शासक की स्थिति अधिक लाभप्रद ठहराता है। परन्तु क्या उसका उत्तर सभी परिस्थितियो मे सही होगा? पहले तो यह बाटो की बात ही बिल्कुल काल्पनिक है। यदि विभिन्न गुणावस्थाओ के सापेक्षिक भार का परिमाणात्मक निर्धारण सम्भव भी होता, तो भी ऐसा कहना निश्चय ही विवादास्पद है।

1 अध्याय १० मे इस समस्या की विस्तृत चर्चा देखिए।

2 "On the Study and Use of History," The Works of Lord Bolingbroke, Vol II (Philadelphia, Carey and Hart, 1841), p 258

शक्ति-परिगणनाओं की यह अनिश्चितता स्वय राष्ट्रीय शक्ति की प्रकृति म अन्तर्निहित है, जिससे यह शक्ति-सतुलन के सबसे अधिक साधारण प्रतिरूप म भी सक्रिय हो उठेगा। ऐसा उस स्थिति म सदैव होता है जब एक राष्ट्र एक दूसरे राष्ट्र का विरोध करता है। तथापि जब एक या दूसरे अथवा दोनो पलडो मे वाद अकेली इकाइयो न होकर सश्रय के होन ह तो यह अनिश्चितता अपरिमित रूप स बढ जाती है। तब यह आवश्यक हो जाता है कि न केवल अपनी वरन् विरोधी की राष्ट्रीय शक्ति की भी गणना की जाय और एक को दूसरे से सह सम्बन्धित किया जाय। साथ ही उसी शल्य क्रिया को अपने सन्धिस्थ राष्ट्रो की राष्ट्रीय शक्ति तथा विरोधी की राष्ट्रीय शक्तियो पर भी लागू किया जाय। जब किसी को अपनी सभ्यता स अलग सभ्यता वाले राष्ट्रों की शक्ति का निर्धारण करना होता है तो अनुमान लगाने का खतरा बहुत अधिक बढ जाता है। ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रास की शक्ति का मूल्यांकन करना बहुत कठिन है। चीन जापान अथवा सोवियत सघ की शक्ति का सही निर्धारण करना और भी कठिन है। तथापि सबसे अधिक अनिश्चितता इस तथ्य के अनिश्चय म है कि कौन स अपने सन्धित राष्ट्र हैं और कौन से विरोधी के हैं। सश्रय-सन्धि के द्वारा हुए मैत्री सम्बन्ध सदैव उन सश्रयो के समरूप नहीं होते जो कि युद्ध के वास्तविक सघर्ष म एक दूसरे का विरोध करते हैं।

शक्ति सतुलन के स्वामियो म से एक फ्रेडरिक महान् थे। उनका स्वय उनके अनुभवो ने बुद्धिमान बना दिया था। अपने उत्तराधिकारी के ध्यान को उन्होने इस समस्या की ओर आकृष्ट किया। उन्होने अपने 1768 के राजनीतिक इच्छापत्र म लिखा था

'बहुधा अटकल की भ्रामक कला बडे राजनीतिक अनुमानो म म बहुत सो के लिए आधार का काम करती है। जिस तत्त्व को कोई सबसे अधिक निश्चित समझता है, उसी को लेकर वह अपने अनुमान-कार्य म आगे बढना प्रारम्भ करता है, और साथ ही इस सुनिश्चित तत्त्व को वह अन्य अपूर्ण रूप स ज्ञात तत्त्वो के साथ बहुत ही अच्छी तरह सयुक्त करके अधिक स अधिक सही परिणाम निकाल लेता है। इसको और अधिक स्पष्ट करने के लिए म एक उदाहरण दूगा। रूस डेनमार्क के राजा की सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वह उस हालस्टीन गोटाप की रियासत देने का वायदा करता है जो रूसी ग्रान्ड ड्यूक महान् की है। इस ढग स वह सदा के लिए डेनमार्क की सहायता प्राप्त करने की आशा करता है। परन्तु डेनमार्क का राजा अस्थिर बुद्धि का है। उस युवा मन म उठने वाले विचारो का कौन पहले स अनुमान लगा सकता है? पक्षपाति, प्रेमिकाय तथा मन्त्रि-गण उसके मस्तिष्क पर अधिकार

जमा लेंगे। वे उसे एक दूसरी शक्ति म लाभ प्रदान कराते दीखेंगे, जोकि उसे रूस से होने वाले लाभों की अपेक्षा अधिक प्रतीत होते है। फिर क्या वे उससे एक सन्धित राज्य के रूप में पक्ष नहीं बदलवा लेंगे? *इसी प्रकार की* अनिश्चितता यद्यपि प्रत्येक बार दूसरे रूप मे दिखलाई पड़ती है, वह विदेश नीति की सभी क्रियाओं को शासित करती है। इसीलिए वृहत् सश्रयों का परिणाम बहुधा अपने सदस्यों द्वारा प्रायोजित परिणामों से विपरीत होता है।"[3]

ये शब्द उस समय कहे गये थे जबकि शक्ति-सतुलन का चिर-प्रतिष्ठित काल समाप्त हो रहा था, किन्तु आधुनिक इतिहास की घटनाओं के आधार पर परीक्षा करके देखें, तो आज भी इन शब्दों की उपयुक्तता समाप्त नहीं हुई है। सश्रयों तथा प्रति सश्रयों का सगठन, जिसका कोई अगस्त 1938 मे, चेकोस्लोवाकिया के सकट के परिणाम के ठीक पहले, पूर्व-अनुमान कर सकता था, उससे निश्चयपूर्वक बिलकुल भिन्न था, जोकि एक वर्ष उपरान्त द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ के समय घटित हुआ। वह उससे भी भिन्न था, जोकि दो वर्षों से अधिक बाद पर्ल हारबर पर आक्रमण के फलस्वरूप विकसित हुआ। कोई भी राजमर्मज्ञ, भले ही उसका ज्ञान, बुद्धि तथा दूरदर्शिता कितने ही विकसित हों परिस्थितियों की इन सब गतिविधियों की प्रत्याशा नहीं कर सकता था। न वह अपनी शक्ति सतुलन की नीतियों को उन पर आधारित ही कर सकता था।

जुलाई 1914 म प्रथम विश्वयुद्ध के प्रारम्भ के ठीक पूर्व यह किसी प्रकार निश्चित नहीं था कि त्रि-सश्रय की सन्धि के अन्तर्गत क्या इटली अपने दायित्वों को पूर्ण करेगा, तथा फ्रास, ग्रेट ब्रिटेन एव रूस के विरुद्ध युद्ध मे जर्मनी तथा आस्ट्रिया स मिल जावेगा या नहीं। क्या वह तटस्थ रहेगा, अथवा दूसरे पक्ष से मिल जावेगा? जर्मनी तथा आस्ट्रिया के जिम्मेदार राज-मर्मज्ञ जुलाई 30, 1914 तक भी निश्चित नहीं थे कि रूस बाल्कान प्रदेश मे शक्ति-सतुलन बनाये रखने के लिए आस्ट्रिया का विरोध करेगा। उस दिन जर्मनी मे ब्रिटिश राजदूत ने इस राज-मर्मज्ञ की राय को अपनी सरकार से बतलाया था "एक सामान्य युद्ध का प्रश्न ही नहीं उठता। रूस न युद्ध करेगा न वह करना ही चाहता था।"[4] ब्रिटिश राजदूत द्वारा दी गई सूचनाओं के अनुसार ऐसा ही विश्वास वियना में किया जाता था।

3 Die politischen Testamente Friedrichs des Grossen (Berlin, 1920), p 192

4 British Documents, on the Origins of the War, 1898-1914 (London His Majesty's Stationery Office, 1926), Vol. XI, p. 361

यह किसी सम्बंधित व्यक्ति को स्पष्ट न था कि ग्रेट ब्रिटेन प्रथम विश्वयुद्ध में फ्रांस तथा रूस के पक्ष में युद्ध में प्रवेश करेगा पहली जून 1914 तक भी ब्रिटेन के विदेश मंत्री ने गत वर्ष प्रधानमंत्री के द्वारा की गई घोषणा की पुष्टि करते हुए लोकसभा में घोषणा की थी कि ग्रेट ब्रिटेन उन किन्हीं भी युद्ध करने के लिए विवश करने वाले संधि में नहीं बंधा है जो संसद तथा जनता को विदित न हो। ब्रिटिश सरकार को यह विश्वास था कि नवम्बर 1911 में हुए विदेश मंत्री तथा फ्रांसीसी राजदूत के बीच में गुप्त पत्र-व्यवहार यूरोप महाद्वीप पर होने वाले युद्ध की स्थिति में इस स्वतंत्रता पर प्रभाव नहीं डालता था। फ्रांसीसी तथा रूसी सरकार इस का निश्चय न होने पर भी ब्रिटिश हस्तक्षेप का भरोसा करती थी ब्रिटिश राजदूत

5 पत्रों के उस विनिमय ने ... वह ... थी नवम्बर 22 नवम्बर 1912 ... विदेश मंत्री सर एडवर्ड ग्रे ... ब्रिटेन ... फ्रांसीसी राजदूत को ... लिखे हुए पत्र को भाषा में ... है वह ... लिखे हुए फ्रांसीसी राजदूत के उत्तर में भी सार रूप में ... गया था

समय समय पर हाल ... में फ्रांसीसी तथा ब्रिटिश ... तथा ... के विशेषज्ञों ने साथ साथ परामर्श किया है ... यह ... समझा जाता रहा है कि ऐसा परामर्श ... से ... की भविष्य में किसी समय कोई निर्णय करने की स्वतंत्रता में बाधक नहीं होगा कि सैनिक शक्ति से अपने राष्ट्र की सहायता करें अथवा नहीं इस सम्बन्ध में ... विशेषज्ञों के बीच ने ऐसा परामर्श है और न ... इस ... समझौता ... न ... जाता है ... किसी सरकार को किसी आकस्मिकता में ... और न जिसके ... न ... की सम्भावना हो ... कार्य करने के लिए वचनबद्ध करता है ... वर्तमान समय में ब्रिटेन तथा फ्रांसीसी ... के ... युद्ध में पारस्परिक सहयोग करने की सहमति पर आधारित नहीं है

तथापि ... कि यदि दोनों ... में से एक सरकार के तीसरी शक्ति द्वारा अनुत्तेजित आक्रमण की प्रत्याशा ... भारी कारण ... यह जानना आवश्यक ... कि क्या उस स्थिति में वह दूसरे शक्ति की सशस्त्र सहायता पर निर्भर है ... था अथवा नहीं ... सहमत हूँ कि यदि दोनों में से किसी सरकार को एक तीसरी शक्ति द्वारा अनुत्तेजित आक्रमण की प्रत्याशा करने का भारी कारण ... ऐसी बात हो जिससे सामान्य शांति के भय उत्पन्न होता हो तो उसे तुरन्त दूसरे के साथ विचार विमर्श करना चाहिए यह मालूम होगा कि ऐसी स्थिति में क्या दोनों सरकारों को आक्रमण रोकने तथा शान्ति के परिरक्षण के लिए साथ साथ ... करना चाहिए या नहीं। यदि ऐसा ही ... तो ... वे उपाय हैं जिन्हें वे मिलकर करने के लिए तैयार होंगे यदि इन उपायों में सैनिक ... तो ... की योजनाओं पर तुरन्त विचार होगा फिर सरकार इस बात का निश्चय करेगी कि उनका किस प्रकार क्रियान्वित किया जाए Collected Diplomatic Documents Relating to the Outbreak of the European War (London H s Majesty s Stationery Office 1915) p 80

ने 30 जुलाई 1914 को बर्लिन से दिये संवाद में कहा था कि फ्रान्सीसी राजदूत इंग्लैंड द्वारा अपने इरादे इतने अस्पष्ट रखे जाने के विषय में मुझे अनवरत चोट रहा है। वह कहता है कि एकमात्र साधन जिससे विश्वयुद्ध रोका जा सकता है यह घोषणा करना है कि इंग्लैंड फ्रान्स तथा रूस की ओर से युद्ध करेगा।[6] केन्द्रीय शक्तियां (सैन्ट्रल पावर्स) युद्ध के प्रारम्भ होने तक इस पत्र व्यवहार से पूर्णतया अनभिज्ञ थीं। इस प्रकार उन्होंने यह मान लिया कि ग्रेट ब्रिटेन तटस्थ रहेगा। बर्लिन में ब्रिटिश राजदूत कहता है अन्तिम क्षण तक वे सोचते थे कि इंग्लैंड युद्ध में प्रवेश नहीं करेगा। इसलिए उन्होंने यह निश्चय किया कि शक्ति सन्तुलन उनके पक्ष में था। इस प्रकार फ्रान्स तथा रूस ने ठीक विपरीत धारणा के साथ प्रारम्भ किया तथा विपरीत परिणाम पर पहुंचे।

ब्रिटेन की फ्रान्स के प्रति वायदा के गुप्त रखने की नीति की इस आधार पर भी व्यापक आलोचना हुई है कि यदि उसे पहले से पता होता कि ग्रेट ब्रिटेन इन शक्तियों से मिल जावेगा तो जर्मनी ने फ्रांस तथा रूस के साथ कभी भी युद्ध नहीं किया होता। अर्थात् यदि उसने अपनी शक्ति-सन्तुलन परिगणनायें नवम्बर 1912 के आंग्ल-फ्रांसीसी समझौते की जानकारी के आधार पर की होती तो विश्वयुद्ध न होता। तथापि न तो ब्रिटिश और न फ्रांसीसी अथवा रूसी सरकारें ही स्वयं पूर्णतया पहले से निश्चित थी कि अगस्त 1914 में शक्ति सन्तुलन के लिए इस समझौते का क्या अर्थ होगा। इसलिए यदि जर्मन सरकार को इस समझौते का पता भी होता तो भी वह इस विषय में निश्चित नहीं होता कि प्रथम विश्वयुद्ध के ठीक पूर्व वास्तविक शक्ति वितरण क्या होगा। संधियां द्वारा संगठित किसी भी शक्ति-सन्तुलन व्यवस्था में अंतर्निहित इस चरम अनिश्चय की दिशा में ही हमको प्रथम विश्वयुद्ध को रोकने में शक्ति सन्तुलन की असफलता के कारण ढूंढने चाहिए। जर्मन उप विदेश मंत्री ने उस अरक्षा के विषय में जिस संधियां तथा प्रति संधियां की व्यवस्था ने उत्पन्न कर दिया था, स्वयं ही कहा। उसने पहली अगस्त 1914 को ब्रिटिश राजदूत से कहा था कि जर्मनी फ्रांस तथा सम्भवतया इंग्लैंड युद्ध में खींच लिए गए थे'। इनमें से कोई भी युद्ध कदापि नहीं चाहता था तथा यह इन संधियां की निर्दिष्ट पद्धति का ही परिणाम था जो कि आधुनिक समय का अभिशाप थे।[8]

---

6 British Documents, Loc cit p 361
7 *Ibid* p 363
8 *Ibid* p 284

शक्ति–सतुलन की अवास्तविकता

सभी शक्ति परिगणनाओं की यह अनिश्चितता न केवल शक्ति सतुलन को व्यावहारिक प्रयोग के लिए अयोग्य बना देती है, वरन् इसके व्यवहार का निषेध भी करती है। चूंकि कोई भी राष्ट्र निश्चित नहीं हो सकता कि शक्ति वितरण में इसकी परिगणनायें इतिहास के उस विशेष क्षण में सही है अथवा नहीं इसलिए उसको कम से कम यह निश्चय कर लेना चाहिए कि वह जो कुछ भी भूल करे, वे राष्ट्र को शक्ति के संघर्ष में कोई हानि न पहुंचा सकें। दूसरे शब्दों में राष्ट्र को कम से कम सुरक्षा प्राप्त करने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए कि मिथ्या गणनाओं के बाद भी इसमें शक्ति सतुलन बनाये रखने की सामर्थ्य रहे। उस परिणाम के लिए शक्ति-संघर्ष में क्रियात्मक ढंग से संलग्न सभी राष्ट्रों को चाहिए कि वास्तव में उनका लक्ष्य शक्ति का सतुलन अर्थात समता न हो वरन् अपने लिए शक्ति की उत्कृष्टता हो। कोई राष्ट्र पहले से नहीं जान सकता कि इसकी मिथ्या गणनायें आकार में कितनी बड़ी होंगी। इसलिए सभी राष्ट्रों को मौजूदा परिस्थितियों में अधिक से अधिक शक्ति की खोज करनी चाहिए। जैसाकि हम देख चुके हैं[1] राष्ट्रों के शक्ति संघर्ष की दौड़ में प्रत्येक राष्ट्र में शक्ति अर्जित करने की असीमित आकांक्षा विद्यमान रहती है। शक्ति सतुलन में यह आकांक्षा अपने को क्रियान्वित रूप देने की बलवती प्रेरणा रखती है।

चूंकि अधिकतम शक्ति को प्राप्त करने की इच्छा सार्वभौमिक है सभी राष्ट्रों को यह भय होना स्वाभाविक है कि उनकी अपनी मिथ्या गणनायें तथा दूसरे राष्ट्रों की शक्ति में वृद्धियां उनको और भी कमजोर बनाती चली जायेंगी। इस कमजोरी को उन्हें सभी प्रकार दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। अतएव सभी राष्ट्र जिनकी स्थिति अपने प्रतिस्पर्द्धियों से प्रत्यक्ष रूप में लाभपूर्ण है उस लाभ को और भी सघन बनाए हुए मालूम होते हैं। वे शक्ति वितरण को स्थायी रूप से अपने पक्ष में बदलने के लिए इसका प्रयोग करते हैं। इस लाभ का प्रयोग दूसरे राष्ट्रों पर *राजनयिक दबाव डाल कर उनको रियायत देने के लिए विवश* करके किया जा सकता है जोकि उस अस्थायी लाभ को स्थायी उत्कृष्टता में घनीभूत कर देगा। यह युद्ध के द्वारा भी किया जा सकता है। शक्ति-सतुलन व्यवस्था में सभी राष्ट्र निरन्तर भय ग्रस्त रहते हैं। वह यह भय है कि प्रथम उपयुक्त क्षण में ही उनके विरोधी उनको उनकी शक्ति स्थिति वंचित न कर दें। इसलिए सभी राष्ट्रों को परिस्थितियों के ऐसे विकास की प्रत्याशा में तथा दूसरों के साथ ऐसा करने में,

---

[1] ऊपर उद्धृत पृ० 291

जैसाकि वे दूसरों द्वारा अपने साथ ही नहीं कराना चाहते, महत्त्वपूर्ण अभिरुचि होती है। बोलिंगब्रोक को पुन उद्धृत करते हुए कहा जा सकता है कि शक्ति-सतुलन के पलडे कभी भी यथावत सतुलित नहीं होंगे। न समता का सही बिन्दु पहचाने जाने योग्य ही होता है, न उसके पहचानने की आवश्यकता ही है। दूसरे मानवी मामला की तरह यहाँ भी यह पर्याप्त है कि विचलन बहुत अधिक न हो। विचलन तो सदा होगे ही। इसलिए ऐसे विचलन का निरन्तर ध्यान रखना आवश्यक है। जब विचलन कम हो, तब उनकी वृद्धि को, आरम्भ मे ध्यानपूर्वक तथा अच्छी नीति द्वारा सुझाई हुई सावधानिया बरत कर सरलता से रोका जा सकता है। परन्तु जब सावधानियो के अभाव मे, अथवा अप्रत्याशित घटनाओ की शक्ति के कारण वे बढ जाती है, तो उन्हे रोकने के लिए अधिक बल-प्रयोग तथा प्रयासो की आवश्यकता होगी। परन्तु ऐसे मामलो मे भी उन सब परिस्थितियो पर अधिक विमर्श की आवश्यकता है कि कहीं *ऐसा न हो कि अनुचित सफलता द्वारा आक्रमण करने से विचलन की पुष्टि हो जाये* और जो विरोधी शक्ति पहले से ही जबरदस्त मालूम पडती थी और भी जबरदस्त बन बैठे। साथ ही, कही ऐसा भी न हो जाये कि अधिक सफलता से आक्रमण करके एक पलडे को तो लूट लिया जाय तथा दूसरे पलडे मे शक्ति का बहुत अधिक भार डाल दिया जाय। ऐसे मामलो मे जिसने पहले युगो के इतिहासो मे समय द्वारा उत्पन्न हुई विचित्र क्रान्तियाँ देखी है तथा सार्वजनिक एव व्यक्तिगत भाग्यो के निरन्तर उतार-चढाव देखे हैं तथा राजपदो, राज्यो और उनके शासको अथवा शासितो पर विचार किया है, वे सोचना चाहेंगे कि एक युद्ध के द्वारा पलडो को, यदि यथावत नही तो समीपतया, उसी बिन्दु पर ले जाया जा सकता है, जहा वे इस बृहत् विचलन से पूर्व थे। शेष बातो को तो आकस्मिक घटनाओ तथा अच्छी नीतियो के प्रयोग से होने वाले लाभ के भरोसे पर छोडा जा सकता है।

निरोधक युद्ध, राजनयिक भाषा मे घृणित, एव लोकतत्रात्मक जनमत के लिए भले ही बीभत्स हो, किन्तु वे वास्तव मे शक्ति-सतुलन की ही स्वाभाविक देन हैं। यहाँ फिर, प्रथम विश्वयुद्ध का कारण बनने वाली घटनाओ से शिक्षा मिलती है। क्योंकि, यह वह अवसर था जबकि वैदेशिक मामले अन्तिम बार शक्ति-सतुलन के चिर-प्रतिष्ठित नियमो के अनुसार सचालित हुए थे। आस्ट्रिया सदा के लिए बाल्कान प्रदेश मे शक्ति सतुलन को अपने पक्ष मे परिवर्तित करने के लिये दृढ-सकल्प था। इसे विश्वास था कि यद्यपि रूस प्रहार के लिए तैयार न था, तथापि उसकी शक्ति बढ रही थी। इसलिए ऐसे समय मे निर्णायक कार्य को स्थगित करने से आस्ट्रिया के लिए शक्ति-वितरण कम अनुकूल हो जायेगा। जर्मनी तथा रूस के बीच शक्ति-सतुलन मे सम्बन्धित इसी प्रकार की गणनायें बर्लिन

मे भी की गई। दूसरी ओर रूस शक्ति-वितरण को अपने पक्ष में बदलने के लिए आस्ट्रिया को सर्बिया के कुचलने की अनुमति न देने पर दृढ़-संकल्प था। रूस ने गणना की कि इसके प्रत्याशित शत्रु की शक्ति में ऐसी तात्कालिक वृद्धि उसकी अपनी शक्ति में होने वाली भावी वृद्धि से अत्यधिक भारी हो जावेगी। यह प्रधानतया इन रूसी गणनाओं का विचार करने का ही परिणाम था कि ग्रेट ब्रिटेन ने फ्रांसीसी-रूसी सख्य के समर्थन की आखिरी क्षण तक स्पष्ट घोषणा नहीं की। जर्मनी स्थित ब्रिटिश राजदूत ने 30 जुलाई 1914 को कहा था "वर्तमान स्थिति में उस बात की घोषणा जर्मनी को युद्ध में प्रवृत्त होने से झिझकने को विवश कर सकती थी। वह समान रूप से रूस को भी प्रबल होने के लिए प्रेरित कर सकती थी। फिर यदि रूस ने आस्ट्रिया पर आक्रमण किया तो जर्मनी को भी युद्ध में सम्मिलित होना पड़ेगा। चाहे उसे ब्रिटिश जहाजों बेड़े से भय हो या नहीं।"[10]

इस दावे को कि अपने स्थायी प्रभाव द्वारा शक्ति-सतुलन ने युद्धों को रोकने में सहायता की है या नहीं सिद्ध अथवा असिद्ध करना सदा असम्भव रहेगा। किसी काल्पनिक स्थिति को प्रस्थान बिन्दु मान कर सोचना प्रारम्भ करके कोई इतिहास की दिशा का पुन रेखांकन नहीं कर सकता। यद्यपि यह कोई व्यक्ति नहीं कह सकता कि शक्ति-सतुलन के प्रभाव में कितने युद्ध हुए होते, परन्तु यह देखना दुष्कर नहीं है कि बहुत से युद्ध जो कि आधुनिक राज्य-प्रणाली के प्रारम्भ से लड़े गये हैं शक्ति-सतुलन से ही उद्भव रहा है। शक्ति-सतुलन की यान्त्रिकी से तीन प्रकार के युद्ध घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं निवारक युद्ध, जिसका पहले सकेत किया जा चुका है जहाँ सामान्यतया दोनों पक्ष साम्राज्यवादी उद्देश्यों का अनुसरण करते हैं साम्राज्यवाद-विरोधी युद्ध, तथा स्वय साम्राज्यवादी युद्ध।

शक्ति-सतुलन की स्थितियों में एक यथापूर्व-स्थिति वाले राज्य अथवा उनके सघय तथा एक साम्राज्यवादी शक्ति अथवा उनके समूह के विरोध मे युद्ध होने की बहुत सम्भावना रहती है। चार्ल्स पचम से हिटलर तथा हिरोहितो तक के बहुत से उदाहरणों में, शक्ति-सतुलन वास्तव मे युद्धों के कारण बने। यथापूर्व-स्थिति वाले राष्ट्र शान्तिपूर्ण प्रयत्नों की ओर सलग्न होते हैं तथा जो उनके पास है, उसको बनाये रखना चाहते हैं। वे उस राष्ट्र को जोकि साम्राज्यवादी विस्तार पर कटिबद्ध है, तथा जिसकी शक्ति में सत्यासन्न तथा तीव्र वृद्धि के लक्षण हैं, कठिनाई से ही मुकाबला कर पावेंगे।

10 British Documents, loc. cit, p 361.

1933 से 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ तक एक ओर ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस और दूसरी ओर जर्मनी की शक्ति में सापेक्ष वृद्धियां यथापूर्व स्थिति वाले राष्ट्र तथा साम्राज्यवादी राष्ट्रों की शक्ति वृद्धि में आने वाले विभिन्न गति तथा गत्यात्मकताओं की ओर स्पष्ट संकेत करती हैं। ऐसी शस्त्रीकरण की दौड़ में यथापूर्व स्थिति वाले राष्ट्र निश्चय ही हार जायेंगे। जितनी अधिक देर तक यह दौड़ चलेगी उनकी सापेक्ष स्थिति में ह्रास भी अधिक तीव्र गति से होगा। समय साम्राज्यवादी राष्ट्रों के साथ है। जैसे समय निकलता जायेगा उनका पलड़ा उनकी शक्ति के साथ बढ़ने वाले भार के नीचे अधिकाधिक झुकता जायगा जबकि यथापूर्व स्थिति वाले राष्ट्रों का पलड़ा अधिकाधिक ऊपर को उठता जायगा। इस प्रकार सतुलन की पुनः प्राप्ति यथापूर्व-स्थिति वाले राष्ट्र के लिए अधिकाधिक कठिन होती जायगी। इसलिए वे यह समझे बिना नहीं रह सकते कि यदि इस प्रवृत्ति को बलपूर्वक नहीं उलटा तो साम्राज्यवादी राष्ट्रों की स्थिति इतनी उत्कर्षपूर्ण हो जायगी कि फिर उन पर आक्रमण करना भी असम्भव हो जायगा। सतुलन की पुनः प्राप्ति के उनके अवसर सदा के लिए चले जायगे। सितम्बर 1939 में ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ऐसी ही स्थिति में थे। ऐसी साम्राज्यवादी राष्ट्रों की शक्ति के पथ में लज्जापूर्ण शोषण की अगणित सम्भावनाओं से युक्त युद्ध ही एकमात्र विकल्प प्रतीत होता है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की गत्यात्मकतायें यथापूर्व स्थिति वाले तथा साम्राज्यवादी राष्ट्रों के साथ खेलती रहती हैं। वे आवश्यकतावश शक्ति के सतुलन में ऐसी गड़बड़ ला देती है कि युद्ध ही एक ऐसा मार्ग दिखलाई पड़ता है जोकि यथापूर्व स्थिति वाले राष्ट्रों को कम से कम अपने पक्ष में शक्ति-सतुलन के निवारण का अवसर देता है।

सतुलन के निवारण का वह कार्य अपने में एक नए विक्षोभ के तत्त्व लेकर चलता है। पहले शक्ति राजनीति की गत्यात्मकतायें इसको अपरिहार्य बना देती हैं। कल का यथापूर्व स्थिति का समर्थक राष्ट्र विजय द्वारा आज के साम्राज्यवादी में परिणत हो जाता है। गत दिवस के पराजित राष्ट्र अगले दिन अपनी पराजय का बदला लेने की घात में रहेंगे। विजेता की महत्त्वाकांक्षा जिसने सतुलन का पुनः प्राप्त करने के लिए हथियार उठाये तथा हारने वाले का रोष जो इसे उलट नहीं पाया नये सतुलन को एक विक्षोभ से दूसरे विक्षोभ के लिए ऐसा संक्रमण बिन्दु बनाते प्रतीत होते हैं जोकि यथार्थ रूप में अदृश्य है। इस प्रकार सतुलन प्रक्रिया ने बहुधा एक दूसरे के लिए सतुलन भंग करके एक प्रबल शक्ति के प्रतिस्थापन को जन्म दिया है। हैप्सबर्ग के चार्ल्स पंचम की सार्वभौमिक राजतंत्र की आकांक्षायें फ्रांस द्वारा निराशा में परिणत करदी गईं। इनका फ्रांस के चौदहवें लुई के प्रयत्न में अन्त हुआ जिसकी समरूप आकांक्षाओं ने उसके

विरुद्ध समस्त यूरोप को एक कर दिया । ज्योंही एक बार चौदहवें लुई के विरुद्ध सतुलन पुन स्थापित होगया, प्रशिया के फ्रेडरिक महान् के रूप में एक नया तत्व उठा । नैपोलियन के शासन-काल में फ्रास द्वारा विश्व पर अधिकार करने का प्रयत्न हुआ । उसके अत्यधिक प्रबल शत्रु आस्ट्रिया तथा रूस के नेतृत्व में धार्मिक सश्रय ने समान प्रयत्न किया । इन राज्यो की पराजय ने जर्मनी में प्रशिया के अभिभावन तथा यूरोप में जर्मनी के आधिपत्य को जन्म दिया । प्रथम विश्वयुद्ध में अपनी हार के बीस वर्ष बाद जर्मनी फिर यूरोप मे प्रबल राष्ट्र बन गया । जापान भी एशिया में उसी प्रकार की स्थिति को प्राप्त कर सका । जिस क्षण ये दोनो राष्ट्र शक्ति सतुलन में क्रियाशील तत्त्वों के रूप में हटा दिए गए, तो एक ओर सयुक्त राज्य तथा दूसरी ओर सोवियत सघ एव साम्यवादी चीन के बीच, एक नय शक्ति-सघर्ष का स्वरूप निर्मित हुआ ।

विचार-धारा के रूप मे शक्ति-सतुलन

हमारा विवेचन इस मान्यता को लेकर आगे बढ़ा है कि शक्ति सतुलन उन राष्ट्रों की आत्मरक्षा की युक्ति म है जिनकी स्वतत्रता एव अस्तित्व को दूसरे राष्ट्रों की शक्ति में असगत वृद्धि से भय है । जो कुछ हमने शक्ति-सतुलन के विषय में कहा है वह केवल इस मान्यता के अन्तगत सत्य है कि शक्ति-सतुलन का प्रयोग विशुद्ध रूप में आत्मरक्षण के स्पष्ट प्रयोजनों के लिए प्रयुक्त होता है । फिर भी हम पहले देख चुके हैं कि किस प्रकार राष्ट्रों की शक्ति की दौड़ आदर्श सिद्धान्तो पर हावी हो जाती है । यही नही वे उन सिद्धान्तो को छिपाने उनको युक्तियुक्त सिद्ध करने, एव स्वय को न्यायसगत सिद्ध करने के लिए उनको विचारधाराओं में रूपान्तरित कर देते है । उन्होंने ऐसा शक्ति-सतुलन के द्वारा किया है । जो कुछ हमने ऊपर सामान्यत्या साम्राज्य विरोधी विचारधाराओं की लोकप्रियता के बारे में कहा है शक्ति सतुलन पर भी लागू होता है ।

साम्राज्य स्थापित करने के लिए उत्सुक राष्ट्र ने बहुधा यही दावा किया है कि वह केवल साम्यावस्था चाहता है । केवल यथापूर्व स्थिति को बनाये रखने के लिए उत्सुक राष्ट्र ने बहुधा यथापूर्व स्थिति मे परिवर्तन का शक्ति-सतुलन पर आक्रमण ठहराया है । जब 1756 में सप्त वर्षीय युद्ध के प्रारम्भ में इग्लैंड तथा फ्रास ने अपने आपको युद्धरत पाया, तो ब्रिटिश लेखकों ने अपने देश की नीति को यूरोपीय शक्ति-सतुलन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए न्याय-सगत ठहराया । उसी समय फ्रान्सीसी विधिवेत्ताओं ने दावा किया कि फ्रास वाणिज्य सतुलन की पुन स्थापना के लिए समुद्र तथा उत्तरी अमरीका पर इग्लैण्ड की सर्वोच्चता का विरोध करने के लिए युद्ध के लिए विवश हुआ था ।

जब 1813 में सम्मिलित शक्तियों ने नैपोलियन के सम्मुख अपनी शान्ति की शर्तें रखीं, तो उन्होंने शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त को स्मरण किया। जब नैपोलियन ने इन शर्तों को ठुकराया तो उसने भी "अधिकारों एवं हितों की साम्यावस्था" की ओर ध्यान दिलाया। जब 1814 के प्रारम्भ में, सम्मिलित राष्ट्रों ने नैपोलियन के प्रतिनिधि का अन्तिम चेतावनी के साथ यह मांग करते हुए सामना किया कि फ्रांस शक्ति सन्तुलन के नाम पर 1792 में हुई सभी विजयों को त्याग दे, तो फ्रांसीसी प्रतिनिधि ने उत्तर दिया था "क्या सम्मिलित राष्ट्र यूरोप में न्यायसंगत सन्तुलन की स्थापना नहीं चाहते? क्या वे यह घोषणा नहीं करते कि वे आज भी शक्ति-सन्तुलन चाहते हैं? फ्रांस की भी एकमात्र वास्तविक इच्छा है कि वह पहले से चली आयी सापेक्ष शक्ति को बनाये रखे। परन्तु यूरोप अब वह नहीं है, जो बीस वर्ष पूर्व था।" और वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि भूगोल एवं युद्ध-नीति की दृष्टिगत रखते हुए फ्रांस द्वारा राइन के बायें किनारे पर अधिकार भी यूरोप में शक्ति-सन्तुलन की पुनः स्थापना के लिए मुश्किल से पर्याप्त होगा। सम्मिलित प्रतिनिधियों ने उत्तर में घोषित किया "1792 की सीमाओं को प्राप्त करके भी फ्रांस अपनी केन्द्रीय स्थिति, अपनी जनसंख्या, अपनी भूमि की सम्पन्नता, अपनी सीमाओं की प्रकृति, अपनी सफलताओं एवं वितरण के कारण, महाद्वीप पर सबसे अधिक प्रबल शक्तियों में से एक बना हुआ है।" इस प्रकार दोनों पक्षों ने शक्ति सन्तुलन के सिद्धान्त का उसी स्थिति में प्रयोग करने का प्रयत्न किया तथा असंगत परिणामों पर पहुंचे। इसका यह प्रभाव हुआ कि युद्ध को समाप्त करने के सभी प्रयत्न विफल हो गये।

चालीस वर्ष के उपरान्त इसी प्रकार के कारणों से एक ऐसी ही स्थिति उठ खड़ी हुई। वियना सम्मेलन में, जिसने 1855 में क्रीमियन युद्ध को समाप्त करने का प्रयत्न किया, रूस अपने विरोधियों के साथ काला सागर में शक्ति-सन्तुलन बनाये रखने को निपटारे का आधार बनाने पर सहमत हो गया। तथापि, रूस ने यह घोषणा की कि "काला सागर में रूस का अधिक प्रभाव यूरोपीय साम्यावस्था के लिए पूर्णतया आवश्यक है।" उसके विरोधियों ने उस अधिक प्रभाव को समाप्त करने का प्रयत्न किया। उनका कहना था कि रूसी जल-सेना "तुर्की बेड़े की तुलना में अब भी अत्यधिक शक्तिशाली" थी। 1856 में बाद की शर्तों पर शान्ति हुई।

राष्ट्रों की सापेक्ष शक्ति-स्थितियों के सही मूल्यांकन की कठिनाइयों ने शक्ति-सन्तुलन की दुहाई को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की प्रिय विचारधाराओं में से एक बना दिया है। इस प्रकार यह सिद्ध होगया है कि इस शब्द का प्रयोग एक अत्यधिक अस्पष्ट और अव्यवस्थित ढंग से हो रहा है। जब कोई राष्ट्र

अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपने कार्यों में से किसी को न्याय-संगत ठहराना चाहेगा तो वह इसका संकेत शक्ति सन्तुलन को बनाए रखने अथवा उसकी पुनर्स्थापना के लिए उपयोगी होने के अर्थ में करेगा। जब कोई राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र के द्वारा अनुसरण की गई किसी नीति को अविश्वासनीय सिद्ध करना चाहेगा तो वह इसे 'शक्ति सन्तुलन के लिए खतरा' कह कर घोषित करेगा। शब्द के सही अर्थ के रूप में यथापूर्व-स्थिति को बनाए रखना, शक्ति-सन्तुलन की अन्तर्निहित प्रवृत्ति है। इसलिए यह शब्द यथापूर्व-स्थिति वाले राष्ट्रों की शब्दावली में, यथापूर्व-स्थिति तथा किसी विशेष क्षणिक स्थिति में किसी शक्ति-वितरण का पर्याय हो गया है। अतएव वर्तमान शक्ति-वितरण में किसी प्रकार के परिवर्तन का 'शक्ति-सन्तुलन के विक्षोभ' के नाम पर विरोध होता है। इस प्रकार निश्चित शक्ति-वितरण के परिरक्षण में रुचि रखने वाला राष्ट्र यह दिखलाने का प्रयत्न करता है कि उसकी रुचि आधुनिक राज्य-व्यवस्था के सार्वभौमिक रूप से मान्य मूल सिद्धान्त पर आधारित है। अतएव, सभी राष्ट्रों के सामान्य हितों के साथ उसका साम्य है। वह राष्ट्र स्वयं यह दिखलाने का ढोंग रचता है कि वह किसी स्वार्थी विशेष सत्ता का पोषक न होकर सामान्य सिद्धान्तों का संरक्षक है। अर्थात्, वह अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय के संरक्षक के रूप में दिखलाई पड़ता है।

उपर्युक्त बातों का उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है। पाश्चात्य गोलार्ध में शक्ति-सन्तुलन की बात वह करता है, जोकि गैर-अमरीकी राष्ट्रों की नीतियों द्वारा विक्षुब्ध हो सकता है। इसी प्रकार भूमध्य सागर में वह शक्ति सन्तुलन की बात करता है जिसकी रूसी पृष्ठभूमि से रक्षा होनी चाहिए। तथापि इन दोनों में से जो जिस बात को चाहता है अथवा जिस बात की पुष्टि करता है वह शक्ति-सन्तुलन नहीं है। वरन् वह शक्ति का एक विशेष वितरण है, जोकि किसी विशेष राष्ट्र अथवा राष्ट्रों के समूह के लिए अनुकूल समझा जाता है। न्यूयार्क टाइम्स ने 1947 में मास्को में विदेश मन्त्रियों के सम्मेलन के अवसर पर अपनी सूचनाओं में से एक में लिखा था "फ्रान्स, ब्रिटेन तथा संयुक्तराज्य की नई एकता—भले ही अस्थाई हो परन्तु यह शक्ति-सन्तुलन को प्रत्यक्ष रूप से उलट देती है।"[3] बात वास्तव में यह थी कि शक्ति सन्तुलन अपने सच्चे अर्थों में नहीं उलटा गया था, बल्कि पहले की अपेक्षा सम्मेलन के बाद का शक्ति-वितरण पाश्चात्य शक्तियों के अधिक अनुकूल हो गया था।

एक विचारधारा के रूप में शक्ति-सन्तुलन का प्रयोग शक्ति-सन्तुलन की यान्त्रिकी में अन्तर्निहित कठिनाइयों पर जोर देता है। तथापि यह ध्यान रखना

3. April 27, 1947 p E 3

चाहिए कि एक विचारधारा के रूप में शक्ति-संतुलन का तात्कालिक प्रयोग कोई आकस्मिक घटना नहीं है। इसके मूल अस्तित्व में यह बात निहित है। दिखावटी स्पष्टता तथा स्पष्टता के वास्तविक अभाव, सन्तुलन के लिये बनावटी इच्छा तथा प्राबल्य की प्राप्ति के वास्तविक लक्ष्य में आकाश-पाताल का अन्तर है। जैसा कि हम देख चुके हैं यह अन्तर शक्ति-संतुलन के मूल स्वरूप में निहित है। शुरू शुरू में यही अन्तर शक्ति संतुलन को एक विचारधारा का रूप प्रदान करता है। इस प्रकार शक्ति-संतुलन ऐसी वास्तविकता और क्रिया का प्रदर्शन करता है जो वास्तव में उसमें नहीं है। इसीलिये इसमें वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को बनावटी रूप देने, युक्तिसंगत सिद्ध करने, तथा न्यायसंगत ठहराने की प्रवृत्ति रहती है।

शक्ति-संतुलन की अपर्याप्तता

सत्रहवी, अठारहवी, तथा उन्नीसवी शताब्दियों में अपने उत्कर्ष के काल में शक्ति-संतुलन ने आधुनिक राज्य व्यवस्था के स्थायित्व के तथा इसके सदस्यों की स्वाधीनता की रक्षा के क्षेत्र में जो योगदान दिया है उसका मूल्यांकन हम कर चुके हैं। तथापि क्या यह केवल शक्ति संतुलन ही था, जिसके ये लाभदायक परिणाम निकले अथवा, इतिहास की उस अवधि में कोई दूसरा तत्व भी क्रियाशील था जिसके बिना शक्ति-संतुलन के ये परिणाम न हुए होते?

नैतिक मतैक्य के अवरोधक प्रभाव

1781 में गिब्बन ने इस तथ्य की ओर एक ऐसे क्षण संकेत किया, जब उसका देश अपने अमरीकन उपनिवेशों, फ्रान्स, स्पेन, तथा हालैंड के साथ एक ऐसा युद्ध लड़ रहा था, जिसमें उसकी पराजय निश्चित थी। उसने उस समय कहा था

'यूरोप को एक महान् गणराज्य के रूप में समझने के लिए, जिसके विभिन्न निवासियों ने सभ्यता एवं तहजीब का लगभग समान स्तर प्राप्त कर लिया है शक्ति संतुलन घटता-बढ़ता रहेगा। तथा हमारी अपनी तथा पड़ोसी राज्यों की सम्पन्नता उन्नतएवं अवनत हो सकती है। किन्तु ये घटनायें आवश्यक रूप से हमारी प्रसन्नता की सामान्य स्थिति, कलाओं की पद्धति, विधियों एवं तरीकों को नुकसान नहीं पहुंचा सकती। ये वे तत्व है जोकि शेष मानव समाज के ऊपर, यूरोपवासियों एवं उनके उपनिवेशों के बीच में अन्तर करते हैं, तथा जिनमें यूरोपवासियों एवं उनके उपनिवेशों की लाभजनक स्थिति है। निरंकुश शासन की बुराइयों पर भय एवं लज्जा के पारस्परिक प्रभाव से रोक लग

जाती है। गणतन्त्रो न व्यवस्था एव स्थायित्व प्राप्त कर लिया है। राजतत्रो ने स्वतत्रता अथवा कम से कम समभाव के सिद्धान्तो का अपना लिया है। अत्यधिक दोषपूर्ण सविधाना म भी समय की सामान्य रीतियो द्वारा सम्मान एव न्याय के भाव प्रविष्ट हो जात है। इतने अधिक क्रियाशील प्रतिद्वन्द्विया की प्रतिस्पर्द्धा से शान्ति-काल मे ज्ञान एव उद्योग की उन्नति शीघ्रता से होने लगती है। युद्ध मे यूरोपीय शक्तिया ऐसी अनिश्चित प्रतिद्वन्द्विताओ द्वारा सचालित होती हैं।"[4] इस उद्धरण पर प्रोफेसर टायनबी की यह आलोचना है

"और फिर भी गिबन का इस घटना म विश्वास सन् 1783 ई० की शान्ति व्यवस्था के आधार पर न्यायसगत था। अमरीकन क्रान्तिकारी युद्ध म विरोधी शक्तियो के बहुत अधिक सख्या म सहमिलन द्वारा ग्रेट ब्रिटेन अन्ततः पराजित हुआ। परन्तु उसके विरोधिया न उसके कुचलने की नही सोची। व साम्राज्यवादी ब्रिटिश शासन से, राज्य प्रतिरोधी उपनिवेशो की स्वतन्त्रता के सीमित एव निश्चित उद्देश्य के लिए लडत रह थ क्योकि उनक लिए तथा उपनिवेशवादियो क फ्रांसीसी मित्रो के लिय भी यह स्वतन्त्रता अपन आप म एक लक्ष्य थी। क्योकि एक परिष्कृत फ्रान्सीसी कूटनीति के अनुमान म तरह अमरीकी उपनिवेशो

---

4 The Decline and Fall of the Roman Empire (The Modern Library Edition) Vol II, pp 93 5 शक्ति सतुलन क लाभदायक परिणामों का एक समान रूप मे उत्कृष्ट विवरण Edinburgh Review, Vol I (जनवरी 1803), पृ० 348 पर किसी अज्ञात लेखक द्वारा लेख म पाया जाता है "यदि विरोधी स्वामियों में स्वस्थ स्पर्द्धा न रखा जाता जिसको आधुनिक राजनीतिज्ञों ने अपनाना सीख लिया है तो युद्धो क स्थान पर विजय एव स्वामित्व में कितने परिवर्तन हुए होते कितने कुछ निकम्मे जीवन नष्ट हुए होते तथा कुछ फालतू धन राशियों का अपव्यय होता महासागर क ऊपर मैदानों पर कुछ सौ नाविकों क हानि रहित ढग म लडने तथा किसी उद्देश्य क लिए अलग निश्चित एक अखाडे मे लडने में कम दशों म कुछ हजार सैनिकों क युद्ध की वैज्ञानिक, नियमित एव शान्त व्यवस्था क स्थान पर भूमडल क कितने सुन्दर भाग जहा राष्ट्रों के झगडे हल हो सकें, रक्तमय हो गये होते? वास्तव में हम पिछली शताब्दी क इतिहास को जातियों क ऐतिहासिक ब्योरों म सबसे अधिक गर्वोन्वित लेखक रूप में देख सकत है। यह युग ज्ञान, चातुर्य उद्योग म तर उन्नत तथा साधारण बुद्धि शासन सुधार, तथा स्वतन्त्रता क समान वितरण, तथा सब क ऊपर, प्रशासन की कलाओं की उस पूर्ण जानकारी क लिए प्रसिद्ध ह जिसने राष्ट्रों म आचरण क कुछ सामान्य नियम स्थापित किय हे इसने साम्राज्यों की उलट पुलट का तथा भयकर पडोसियों क पेट म निर्बल राष्ट्रो का हनन होने से रोका है इसने विजय की बढती हुई गति को नियन्त्रित किया है यही नहीं, इसने तलवार को म्यान से बाहर निकालने को अन्तिम उपाय स्वीकृत किया है, जबकि दूसर समयों में, इसका सदैव प्रथम उपाय क रूप म प्रयोग होता था।

का ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक् होना उस शक्ति सतुलन की पुन स्थापना के लिए पर्याप्त होना जो कि तीन पिछले युद्धों में निरन्तर ब्रिटिश विजयों के कारण ग्रेट ब्रिटेन के पक्ष में अनावश्यक रूप से झुका हुआ था। सन् 1783 ई० में जब लगभग सौ वर्षों में प्रथम बार फिर फ्रांस की विजय हुई तो फ्रांसीसी कूटनीति साधनों की अधिकतम किफायत द्वारा न्यूनतम उद्देश्य की सिद्धि में सतुष्ट थी। पिछली पराजयों की किसी कटु स्मृति ने भी फ्रांसीसी सरकार को पुराने बदले लेने के लिए अनुप्रेरित नहीं किया। फ्रांसीसी शासक कनाडा के विलीनीकरण के लिए भी लड़ने के लिए उत्सुक न थे यद्यपि कनाडा फ्रांसीसी शासन का प्रधान अमरीकी साम्राज्य था। उसे ब्रिटिश शासन ने सप्त-वर्षीय युद्ध में जीता था तथा वह केवल बीस वर्ष पूर्व 1763 ई० की शान्ति व्यवस्था में किंग लुई द्वारा किंग जार्ज को आधिकारिक ढंग से दिया गया था। सन् 1783 ई० की शान्ति-व्यवस्था में विजेता फ्रांस द्वारा कनाडा ब्रिटिश शासन के अधिकार में छोड़ दिया गया तथा ग्रेट ब्रिटेन, अपने तेरह उपनिवेशों को हार कर—गिबन की भाषा में नौका डूबने से बाल-बाल बच रहने पर अपने को बधाई का पात्र समझ सकता था। यह शक्ति-सतुलन में एक ऐसा उतार चढ़ाव था, जिसमें उसे समृद्धि का ह्रास देखना था। परन्तु इस के अन्तर्गत भी एक विनम्र समाज की खुशी को सामान्य अवस्था में कोई अनावश्यक क्षति नहीं हुई थी किंग जार्ज तथा किंग लुई की प्रजा भी सम्मिलित रूप में ऐसी मार्मिक सुख से युक्त सामाजिक दशा को पसन्द करती थी।[5]

उस युग के महान राजनीतिक लेखक इस बौद्धिक एवं नैतिक एकता से अवगत थे जिसकी नींव पर शक्ति-सतुलन निर्भर रहता है और जो इसके लाभकारी संचालन को सम्भव बनाती है। हम इन लेखकों में से केवल तीन फ़ेनेलों, रूसो तथा वटेल का जिक्र करेंगे। लुई 14 वें के शासन के महान् दार्शनिक तथा उसके पौत्र के बुद्धिमान एवं सच्चे परामर्शदाता फ़ैनलों ने सप्लीमैंट्स टू एक्जामिनेशन आफ कांसस एबाउट द ड्यूटीज आफ रायल्टी में लिखा

पड़ौसी राष्ट्रों में एक प्रकार की एकता तथा साम्यावस्था बनाये रखने के लिए की गई यह सावधानी सभी के लिए शान्ति का आश्वासन देता है। इस मामले में, समस्त राष्ट्र जो पड़ौसी हैं तथा जिनके व्यापारिक सम्बन्ध हैं एक महान् निकाय तथा एक प्रकार का समुदाय बनाते हैं। उदाहरणार्थ ईसाई जगत एक प्रकार का सामान्य गणतन्त्र है जिसके अपने सामान्य हित भय एवं सावधानियां

5 Arnold Toyanbee A study of History (London Oxford University Press 1939) Vol IV p 149 (Reprinted by the permission of the publisher)

हैं। सभी सदस्य जो इस महान निकाय को बनाते हैं, सामान्य भलाई के लिए एक दूसरे के प्रति उत्तरदायी हैं। वे राष्ट्रीय सुरक्षा के हित म अपने प्रति भी उत्तरदायी हैं, ताकि किसी सदस्य के ऐसे कार्य की पेशबन्दी करे जो साम्यावस्था को उलट दे तथा उसी निकाय के दूसरे सभी सदस्यों का आवश्यक रूप से विनाश कर सके। जो कुछ यूरोप की इस सामान्य व्यवस्था को बदलता अथवा क्षीण करता है वह अत्यधिक हानिकारक है। वह अपने साथ अनन्त कुरीतियां लाता है।[6]

रूसो ने इसी विषय को यों प्रकट किया है कि यूरोप के राष्ट्र अपने आप मे एक अदृश्य राष्ट्र बनाते हैं। यूरोप की वास्तविक पद्धति म घटना की ठीक वही मात्रा है, जो कि इसको उलट बिना वास्तव आन्दोलन की स्थिति म बनाये हुए है"[7] तथा, अन्तर्राष्ट्रीय विधि पर अठारहवीं शताब्दी के लेखकों में सबसे अधिक प्रभावशाली लेखक वेटल के अनुसार

"यूरोप की एक राजनीतिक व्यवस्था है। वह एक ऐसा निकाय है, जो कि समष्टि रूप मे ससार के इस भाग म उसमे वाले राष्ट्रों के सम्बन्धों एव विभिन्न हितो से सम्बद्ध है। यह एक असम्बद्ध टुकड़ों के पुरातन ढेर की भाति अव्यवस्थित नही है, जिनमें से प्रत्येक अपने को दूसरो के भाग्य से बहुत कम सम्बद्ध समझता हो, और मुश्किल से उन वस्तुओं को मानता हो जो उससे तत्काल सम्बद्ध नही थी। प्रभुओं (sovereigns) का निरन्तर ध्यान यूरोप को एक प्रकार का गणतत्र बना देता है। इसके सदस्य यद्यपि स्वतत्र हैं किन्तु सामान्य हित के सम्बन्ध सूत्रों द्वारा व्यवस्था एव स्वतत्रता के बनाये रखने के लिए एक हुए हैं। अतएव राजनीतिक साम्यावस्था अथवा शक्ति-सतुलन की वह प्रसिद्ध योजना बनी, जिसने वस्तुओं की वह प्रवृत्ति बनाई जिसको कोई भी शक्ति पूर्णतया दबाने मे अथवा दूसरों के विधि द्वारा नियमन मे समर्थ नहीं है।[8]

लेखकों के कथन राजमर्मज्ञों की धारणाओं म भी प्रतिध्वनित होते हैं। 1648 से 1789 की फ्रान्सीसी क्रान्ति तक शासकों तथा उनके सलाहकारों ने यूरोप की नैतिक एव राजनीतिक एकता को मान्य समझ लिया। एक व्यावहारिक विषय की भाति 'यूरोप के गणतत्र' 'ईसाई शासकों का समुदाय' अथवा 'यूरोप की राजनीतिक व्यवस्था' का उन्होंने जिक्र किया। परन्तु नैपोलियन के साम्राज्य की

6 Œuvres (Paris, 1870), Vol III, pp, 349 350
7. Œuvres completes (Brussels Th Lejeune, 1827), Vol 10, pp 172, 179
8 The Law of Nations (Philadelphia, 1829) Book III, chapter III, pp 377 8

चुनौती ने उन नैतिक एवं बौद्धिक आधारों को स्पष्ट बनाने पर विवश कर दिया, जिन पर पुराना शक्ति-सतुलन निर्भर था। धार्मिक सश्रय (होली एलायन्स) तथा यूरोप के समूह-राष्ट्र (कन्सर्ट ऑफ यूरोप), जिन दोनो का आगे सविस्तार वर्णन होगा[9], इन नैतिक एवं बौद्धिक शक्तियों को संस्थागत निर्देशन देने के प्रयत्न हैं, जो शक्ति-सतुलन का जीवन-रक्त था।

26 सितम्बर 1815 की धार्मिक सश्रय सन्धि ने अपने हस्ताक्षर-कर्त्ताओं को, ईसाई सिद्धान्तों के अनुसार एक दूसरे के साथ तथा अपनी प्रजा के साथ व्यवहार करने के अतिरिक्त कुछ अधिक करने को कर्त्तव्य-बद्ध नहीं किया। इन हस्ताक्षर-कर्त्ताओं में तीन को छोड़ कर यूरोप के सभी अधिराट् थे। तथापि उसी वर्ष की अन्य सन्धियाँ, जिन्होंने यूरोप की राजनीतिक व्यवस्था को पुनर्गठित करने का प्रयत्न किया, और जो लोगों में धार्मिक सश्रय के नाम से प्रसिद्ध हैं, किसी भी जगह क्रान्ति की पुनरावृत्ति को रोकने के लिए निर्दिष्ट थीं। वे विशेषतया फ्रान्स की क्रान्ति के रोकने पर बल देती थीं। चूंकि फ्रान्सीसी क्रान्ति वह महान् गत्यात्मक शक्ति थी, जिसने शक्ति सतुलन को नष्ट कर दिया। यह विश्वास किया जाता था कि कोई भी क्रान्ति अपने साथ समान भय को लेकर चलेगी। इस प्रकार वैधता तथा 1815 की सीमाओं की अलघनीयता वे आधार-शिला बन गईं, जिन पर कम से कम आस्ट्रिया, प्रशिया, तथा रूस ने यूरोप के राजनीतिक ढाचे के पुन निर्वाचन का प्रयत्न किया।

जब इटली में सार्डीनिया द्वारा प्राप्त किए गये प्रदेशों में वृद्धि के लिए फ्रांस को सेवाय तथा नीस क्षतिपूर्ण स्वरूप मिले तो इग्लैंड ने 1815 के सिद्धान्तों में से एक का प्रयोग करके हस्तक्षेप किया। यह सन् 1860 की ही बात है। ब्रिटिश विदेश मन्त्री अर्ल रसेल ने फ्रान्स स्थित ब्रिटिश राजदूत को लिखा था। "सम्राज्ञी की सरकार को यह टिप्पणी करने का अधिकार होना चाहिए कि फ्रान्स जैसे शक्तिशाली राज्य के द्वारा पड़ौसी के प्रदेश के परित्याग की माग शक्ति-सतुलन एवं सामान्य शान्ति के बनाए रखने में अभिरुचि रखने वाले प्रत्येक राज्य पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती। थोड़े ही समय पूर्व उसके प्रादेशिक विस्तार की पहली नीति से यूरोप पर अगणित आपदायें आयी थीं।"

यूरोप का सम्मेलन जिसके द्वारा उस समय की राजनीतिक स्थिति के प्रति दी गई सब प्रकार की चुनौतियों का सम्मिलित शक्ति से मुकाबला करने के लिए बड़ी शक्तियों के बीच कूटनीतिक समझौता हुआ, वह साधन था, जिसके द्वारा

9. अध्याय 27 देखिये।

आधुनिक राज्य-पद्धति का नैतिक मतैक्य

यह देखने मे आवेगा कि आधुनिक राज्य-पद्धति के स्थायित्व मे विश्वास जोकि इन सभी घोषणाओ तथा कार्यो स झलकता है, शक्ति सतुलन से नही, वरन् बौद्धिक एव नैतिक प्रकृति के बहुत स तत्त्वो से उत्पन्न होता है। इन पर ही शक्ति-सतुलन तथा आधुनिक राज्य पद्धति का स्थायित्व निर्भर है। जैसा कि जान स्टुअर्ट मिल न कहा है यान्त्रिकी के समान राजनीति म जो शक्ति इजन को चलाय रखती है, उसको मशीनरी के बाहर से तलाश करना चाहिए। यदि वह बाहर से नही आ रहा अथवा उचित प्रत्याशित बाधाओ को परास्त करने म अपर्याप्त है, तो यन्त्र असफल हो जावेगा।[1] उदाहरणार्थ, गिवन ने जिसे विशेष वाग्मिता तथा

1 Considerations on Representative Government (New York Henry Holt and company, 1882), p 21 अधिक पूर्ण विवरण के लिए अध्याय 16 मे देशीय राजनीति में शक्ति सतुलन बनाये रखने के लिए नैतिक तत्त्व के महत्त्व पर मार्मिक टिप्पणियाँ भी देखिए।

जब यह कहा जाता है कि प्रश्न केवल राजनीतिक नैतिकता का है, तो इससे इनका महत्व नहीं घट जाता। सवैधानिक नैतिकता के प्रश्न स्वय सविधान से सम्बद्ध प्रश्नो से कम व्यावहारिक महत्व के नहीं है। कुछ सरकारों का अस्तित्व ही तथा वे तत्त्व जो दूसरों को सह्य होते हैं, सवैधानिक नैतिकता के सिद्धान्तों के व्यावहारिक अनुपालन पर निर्भर हैं। विभिन्न अधिकारियों के मस्तिष्कों की ये पारस्परिक कल्पना यें ही उस प्रयोग को बदल देती हैं, जिसके द्वारा उनकी शक्तियों का उपयोग किया जा सकता है। विशुद्ध राजतन्त्र, विशुद्ध कुलीनतन्त्र, विशुद्ध लोकतन्त्र जैसी असतुलित सरकारों म य सूत्र केवल बाधक हैं, जाकि सरकार को अपनी लाक्षणिक प्रवृत्ति की दिशा में अधिकतम ज्यादतियाँ करने से रोकते हैं। अपूर्ण रूप से सतुलित सरकारों मे, अधिकतम बलशाली शक्ति क ऊपर सवैधानिक परिसीमायें लगाने का कुछ प्रयत्न होता है। परन्तु जहाँ वह शक्ति अल्पकालीन दण्ड से मुक्ति का सीमोल्लघन करने मे कम से कम समर्थ है, वह केवल सवैधानिक नैतिकता के इन सिद्धान्तों मे ही है। वे मत द्वारा पहचाने जाते एव पुष्ट होते हैं। इनके कारण ही सविधान के विरोधों एव परिसीमाओं के प्रति कुछ श्रद्धा रह पाती है। भली प्रकार सतुलित सरकारों मे सर्वोच्च शक्ति विभाजित होती है। वरन प्रत्येक राष्ट्र स्वय भागीदार होने के कारण किसी के द्वारा अनधिकृत रूप में हड़पे जाने मे उचित कानून द्वारा सुरक्षित होता है। उदाहरणार्थ, वह उन सभी शक्तिशाली हथियारों मे सुसज्जित होता है, जिनका कोई दूसरा आक्रमण के लिए प्रयोग कर सकता है। जब तक सरकार शक्ति के किसी अन्य भागीदार के विपरीत आचरण मे उत्तेजित नहीं होती, तब तक वह अपनी चरम शक्तियाँ प्रयोग-समय को देख कर ही करती है और इस विषय में हम कह सकते हैं कि केवल सवैधानिक नैतिकता के सूत्रों का सम्मान करके ही सविधान अस्तित्व में रह पाता है।

इस विषय पर R H Tawney की The Acquisitive Society (New York Harcourt, Brace and Company, 1920), pp 40, 41 में औद्योगिक सघर्ष तथा अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति सतुलन में

अन्तर्दृष्टि के साथ उस ईंधन के रूप में निर्दिष्ट किया है, जो शक्ति-संतुलन के मोटर को चालू रखता है, वह पाश्चात्य सभ्यता का बौद्धिक एवं नैतिक आधार है। यह वह बौद्धिक एवं नैतिक जलवायु है, जिसके अन्तर्गत अठारहवीं शताब्दी के समाज के प्रतियोगी चलते थे तथा जो उनके सभी विचारों एवं कार्यों में प्रविष्ट था। यह लोग यूरोप को "नम्रता एवं सभ्यता के समान स्तरों तथा कलाओं, विधियों एवं रीतियों की सामान्य व्यवस्था" वाले एक महान् गण राज्य के रूप में जानते थे। इन सामान्य स्तरों का सामान्य बोध भय एवं लज्जा के पारस्परिक प्रभाव" से उनकी महत्वाकांक्षाओं को रोकता था उनकी क्रियाओं पर संयम लागू

साम्य भी इसलिए वह व्यय औद्योगिक संघर्ष को, एक खेदजनक घटना के रूप में नहीं, वरन् एक अपरिहार्य परिणाम के रूप में उत्पन्न करता है यह औद्योगिक युद्ध को उत्पन्न करता है, क्योंकि इसमें यह शिक्षा मिलती है कि प्रत्येक व्यक्ति अथवा समूह को अपना भाग्य ग्रहण करने का अधिकार है वह यह नहीं मानता कि बाजार की यान्त्रिकी के अतिरिक्त कोई अन्य सिद्धान्त भी है। वह यान्त्रिकी यह निर्धारित करती है कि उन्हें क्या मिलना चाहिए वितरण के लिए प्राप्य आय सीमित है तथा चूं कि, इस प्रकार, कुछ सीमाओं के पार करने पर जो एक समूह को मिलता है दूसरा खो देता है अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि विभिन्न समूहों की सापेक्षिक आय उनके कार्यों द्वारा निर्धारित नहीं होती, तो पारस्परिक आग्रह के अतिरिक्त कोई अन्य साधन नहीं रहता, जोकि उनके निर्धारण के लिए बच रहता है। वास्तव में स्वार्थ उन्हें अपने दावों के प्रवर्तन में पूर्ण शक्ति के प्रयोग करने से बचने के लिए विवश कर सकता है। और, जहां तक ऐसा होता है उद्योग में शान्ति सुरक्षित है, जैसे कि लोगों ने शक्ति-संतुलन द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में इसे पाने का प्रयत्न किया है। परन्तु ऐसी शान्ति का बना रहना भागीदारों के इस अनुमान पर निर्भर है कि प्रत्यक्ष संघर्ष से खोना अधिक होता है और पाना कम होता है। अपने दावों के समतापूर्ण व्यवस्था के रूप में भी किसी प्रतिफल का स्तर उनकी स्वीकृति का परिणाम नहीं है। अतएव यह अनिश्चित कुटिल एवं अस्थाई होता है यह अनिश्चित है। आय-संवृद्धियों के जोड़ने मात्र से पूर्णता ऐसे ही नहीं आती जैसे वह भौतिक सामग्री की किसी अन्य इच्छा की तुष्टि में नहीं आती जब मांगें पूर्ण हो जाती हैं, तब पुराना संघर्ष एक नये स्तर पर पुनः प्रारम्भ हो जाता है। जब तक लोग केवल प्रतिफल बढ़ा कर इसे समाप्त करना चाहेंगे, या वह सदा पुनः आरम्भ होता रहेगा, तब तक ऐसे पुनरारम्भ को उसे उस समय ही रोका जा सकता है जब ऐसा नियम ढूँढ़ा जाय, जिस पर सभी बड़े छोटे प्रतिफल आधारित हों।

"परन्तु सन्तुलन, चाहे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में हो अथवा उद्योग में, अस्थाई है। यह एक नियम की सामान्य मान्यता पर निर्भर नहीं है, जिसके द्वारा राष्ट्रों एवं व्यक्तियों के दावे सीमित होते हैं। परन्तु वह एक साम्यावस्था को प्राप्त करने के प्रयत्न पर निर्भर है, जोकि असीमित दावों का आग्रह किये बिना एक संघर्ष को दूर कर सके। ऐसी कोई साम्यावस्था नहीं मिल सकती, क्योंकि एक विश्व में जहां सैनिक अथवा औद्योगिक शक्ति बढ़ाने की सम्भावनायें असीमित हैं, ऐसी कोई साम्यावस्था रह ही नहीं सकती।" (प्रकाशक की अनुमति से पुनः मुद्रित)।

करता था तथा उन सभी म सम्मान एव न्याय का कुछ भाव भरता था। परिणामतया अन्तर्राष्ट्रीय दृश्य पर शक्ति के लिए सघर्ष सीमित व्यवहार वाले एव अनिर्णीत प्रतियोगिता के रूप म था।

1648 स नेपोलियनीय युद्धा तथा फिर 1815 से 1914 तक शक्ति सतुलन न केवल राजनीतिक प्रतिरोधा के मिताचार तथा अनिश्चय का केवल कारण है वरन् आलकारिक एव साकेतिक अभिव्यक्ति क साथ साथ सिद्धि का तकनीक भी है। शक्ति सतुलन द्वारा विरोधी शक्तियो की परस्पर यात्रिक प्रतिक्रिया के माध्यम से राष्ट्रा की शक्ति आकाक्षाओ पर अपने प्रतिबन्ध लगा पाने के पूर्व ही प्रतिस्पर्द्धी राष्ट्रा को शक्ति सतुलन की व्यवस्था को अपने प्रयत्ना का सामान्य ढाचा की मानकर अपने पर प्रतिबन्ध लगाने होने थे। यद्यपि वे दोनो पलडा मे बाटो के वितरण का बहुत बदलना चाहते थे उनको एक मूक सविदा म सहमत होना पडा। भले ही सघर्ष का परिणाम कुछ भी हो, अतत दोनो म शक्ति-सतुलन बनाये रखने का प्रयत्न होगा। उनको जानना चाहिए कि एक कितना भी ऊचा क्यो न उठ गया हो और दूसरा कितना ही नीचा क्यो न आ गया हो अन्त म पलडे एक ही डन्डी से लटके होने के कारण समान ही रहगे अर्थात् युद्धमान दोनो राष्ट्रा की स्थिति पूर्ववत् ही रहगी। इस प्रकार जैसाकि बाटो का भावी वितरण निश्चय करेगा वे फिर उठ तथा गिर सकेंगे। यथापूर्व स्थिति म राष्ट्र भले हा कुछ भी परिवर्तन चाह उन सभी को कम से कम एक तत्व को अपरिवर्तनीय मानना पडा। वह था पलडो की सम्बद्धता का अस्तित्व अथवा शक्ति सतुलन की स्वय यथापूर्व स्थिति। तथा जब कभी एक राष्ट्र स्वतन्त्रता तथा स्थायित्व की अपरिहार्य पूर्व शर्त का भूलता प्रतीत होता है अन्य सभी राष्ट्रो का मतैक्य इस अधिक समय तक नहा भूलने देता। यह भूलने का कार्य 1756 मे आस्ट्रिया न प्रशिया के सम्बन्ध मे किया था तथा फ्रास ने 1919 स 1923 तक जर्मनी के सम्बन्ध म किया था।

यह मतैक्य उस युग की बौद्धिक एव नैतिक जलवायु मे उगा। इसको वास्तविक शक्ति-सम्बन्धो से शक्ति मिली, जिसने सामान्य परिस्थितियो म स्वय शक्ति सतुलन की व्यवस्था का उलटन के प्रयत्न को एक निराशाजनक उद्यम बना दिया। अपनी बारी म इस मतैक्य की बौद्धिक एव नैतिक वातावरण तथा शक्ति सम्बन्धो पर इनकी प्रवृत्तियो की परिमितता तथा साम्यावस्था की दशा को सबल बनाने के रूप म प्रतिक्रिया हुई। जैसाकि प्रा० क्विसी राइट ने कहा है

राज्य इस प्रकार सीमाबद्ध एव सगठित थे कि दमन उस समय तक सफल नहा हो सकता था जबतक कि वह इतना परिमित एव निर्दिष्ट न हो कि

शक्तियों का प्रचलित मत इनको स्वीकार न करना हो। ऐसी स्वीकृति सामान्यतया बलवान विद्रोहों को मिली थी। इन विद्रोहों ने धीरे-धीरे टर्की साम्राज्य को छिन्न भिन्न कर दिया। बेल्जियम के विद्रोह ने उस देश को नीदरलैंड्स से अलग कर दिया। प्रशिया तथा सार्डीनिया के दमन ने आधुनिक जर्मनी एवं इटली को एक कर दिया। यही नहीं अफ्रीका, एशिया एवं प्रशान्त महासागर में बहुत से दमन-कार्यों ने यूरोप के साम्राज्यों को बढ़ाया, तथा यूरोपीय सभ्यता को इन क्षेत्रों में फैलाया[2]।

यह मतैक्य ही माना सामान्य नैतिक स्तरों तथा एक सामान्य सभ्यता एवं सामान्य हितों का शिशु एवं पिता दोनों है। जैसाकि हम जानते हैं उसने सभी साम्राज्यवादों में शक्ति की अपरिमित इच्छा को नियन्त्रण में रखा है तथा इसको राजनीतिक यथार्थता बनने से रोका है। जहाँ ऐसी सामान्यावस्था नहीं होती अथवा दुर्बल हो जाती है, तथा अपना विश्वास खो देती है वहाँ शक्ति-संतुलन अन्तर्राष्ट्रीय स्थायित्व तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता के कार्यों को पूरा करने में असमर्थ होता है। यह पोलैंड के विभाजन से प्रारम्भ होने वाली तथा नैपोलियन के समय के युद्धों के साथ समाप्त होने वाली समयावधि में होता है।

ऐसा मतैक्य 1648 से 1772 तक प्रचलित था। पहले समय में राज्य-व्यवस्था शासकों के प्रतियोगी समाज में कुछ अन्तर न थी। उनमें से प्रत्येक शासक राज्य के तर्क को मानता था। अर्थात् कुछ निश्चित नैतिक परिसीमाओं में व्यक्तिगत राज्य शक्ति-व्यवस्था के युक्तिसंगत प्रयत्नों को राज्यों के व्यवहार का अन्तिम स्तर मानता था। प्रत्येक प्रतीक्षा करता था। तथा प्रत्येक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से ऐसी स्तर का भागीदार बनने की आशा करना औचित्यपूर्ण था। धार्मिक युद्धों के भावावेशों ने जागरण के बुद्धिवाद को जन्म दिया। उन्होंने ऐसी सहिष्णुता को भी जन्म दिया जो उस समय अन्य थी। उस सहिष्णु वातावरण में राष्ट्रीय घृणायें तथा सामूहिक वैमनस्य, किसी प्रकार के सिद्धान्तों से पोषित होकर कठिनाई से ही पनप सकते थे। प्रत्येक व्यक्ति यह मानकर चलता था कि जो स्वार्थपरक ध्येय उसके अपने कार्य को प्रेरित करते थे अन्य व्यक्तियों को ऐसे ही कार्य करने के लिए विवश करते थे। उस समय शिखर पर पहुँचना चातुर्य एवं भाग्य का खेल था। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति वास्तव में एक आभिजात्य विनोद बन गयी थी। यह शासकों की क्रीड़ा थी। सभी खेल के सामान्य नियमों को पहचानते थे तथा इन्हीं सीमित दावों पर खेलते थे।

2. "The Balance of Power", in Hans Weigert and Vilhjalmur Stefansson, editors, Compass of the World (New York : The Macmillan Company, 1944), pp 53-4

नैपोलियन के समय के युद्धो के बाद क्रान्ति एव फ्रान्सीसी साम्राज्यवाद के पुन नवीनीकरण के दोहरे भय ने धार्मिक सश्रय की नैतिकता को ईसाई, राजतत्रात्मक, तथा यूरोपियन सिद्धान्तो के सम्मिश्रण के साथ अस्तित्व मे ला दिया। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे यूरोप के सभूत राष्ट्र तथा प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त राष्ट्र सघ ने इस थाती मे राष्ट्र-राज्य का विचार जोड दिया। राष्ट्रीय आत्म निर्णय के रूप मे यह विचार मूल आधारो म से एक बन गया। इसी पर उत्तरोत्तर पीढियो न 1848 की उदार क्रान्तियो से द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ तक, टिकाऊ राजनीतिक ढाचा बनाने का प्रयत्न किया। जो फ्रान्सीसी विदेशमन्त्री डलाबेली ने 1866 मे एक फ्रान्सीसी राजनयिक प्रतिनिधि को लिखा था, वह इतिहास की इस समयावधि की मूल शक्तियो मे से एक बन गया। इसको ही फिर वुडरो विल्सन ने घोषित किया, तथा 1919 की शान्ति-सन्धियो में इसे मानको में से एक बनाया। "सम्राट को—केवल यूरोप के राष्ट्रों की तुष्ट इच्छाओ में ही वास्तविक साम्यावस्था दिखलाई पडती है।"[3]

इस थाती का अब क्या बचा है? द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त की समयावधि में किस प्रकार का मतैक्य विश्व के राष्ट्रों को एक किये हुए है? इस मतैक्य के सावयव तत्वो के परीक्षण पर उस भूमिका का अनुमान निर्भर करेगा जिसके शक्ति सतुलन द्वारा राष्ट्र समुदाय की स्वाधीनता एव स्थायित्व के लिए खेले जाने की आज प्रत्याशा की जा सकती है।

3 छोटे राष्ट्रों की स्वतत्रता के परिरक्षण के लिए नैतिक तत्व क महत्व का भली प्रकार निर्देश Alfred Cobban के National Self Determination (Chicago University of Chicago Press, 1948) पृ० सं० 170,171 में भली प्रकार हुआ है 'परन्तु बडे साम्राज्यों की नीतियाँ भी मत के वातावरण से प्रभावित होती हैं। तथा छोटे स्वाधीन राज्यों के अधिकारों के पक्ष मे लम्बी अवधि से झुकाव रहा है। इस झुकाव के स्रोतों से हमको चिंतित होने की आवश्यकता नहीं। परन्तु इसका अस्तित्व वह तथ्य है, जिसकी अन्तर्राष्ट्रीय मामलों का विद्यार्थी उपेक्षा नहीं कर सकता। जिन विभिन्न तत्वों का हम जिक्र कर चुके हैं, वे सभी निस्सन्देह अपना महत्व रखते हैं। परन्तु हमारी राय में छोटे सत्तापूर्ण राष्ट्रों की सुरक्षा का कारण शक्ति-सन्तुलन के प्रभाव न होकर यह सामान्य मान्यता कि एक स्वाधीन प्रभुसत्ता का विनाश एक आपवादिक तथा सामान्यतया एक अप्रमाण्य, कार्य था। यह वह कार्य था जोकि यूरोप के बहुत मे छोटे राज्यों की अन्तत अधिक बडे राज्यों द्वारा हडपे जाने से रक्षा करता था। इन में से कुछ राज्य एक अकेले नगर से अधिक बडे न थे। अठारहवीं शताब्दी में, जबकि अधिक बडे राज्यों की शक्ति तीव्र गति से बढ रही थी, चिर प्रतिष्ठित नगर-राज्य-आदर्श से प्रभावित होकर समकालीन मत ने छोटे राज्यों को प्रशसा करके ऊपर उठाया। उसने उनकी स्वाधीनता में भी विश्वास किया। उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रवादी आदर्श के विकास ने इस प्रेक्षण की जड़ काटने में बहुत कुछ किया परन्तु, जैसा कि हम देख चुके हैं, 1919 में इसने फिर भी बहुत प्रभाव बनाये रखा।" (यूनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस की अनुमति से पुन मुद्रित)।

पन्द्रहवाँ अध्याय

शक्ति पर अवरोध के रूप में नैतिकता, लोकनीतियाँ, तथा विधि

हम पूर्ववर्ती अध्याय में देख चुके है कि अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर शक्ति प्राप्त करने की आकांक्षाओं के परिसीमन के लिए शक्ति का प्रयोग ऐसी पद्धति है, जो अपरिष्कृत है तथा जिसका भरोसा नहीं किया जा सकता। यदि इस शक्ति-संघर्ष को परिचालित करने वाली प्रेरणायें तथा पद्धतियाँ ही सब कुछ होती तथा उनकी जानकारी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विषय मे आवश्यक होती, तो अन्तर्राष्ट्रीय दृश्य वास्तव मे हॉब्स द्वारा वर्णित 'प्रकृति-अवस्था' से साम्य रखता। उस प्रकृति-अवस्था को उसने प्रत्येक मनुष्य का प्रत्येक मनुष्य के साथ युद्ध[1] कहा है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति राजनीतिक उपयोगिता के केवल उन सूक्ष्म विचारो से शासित होती, जिनका मैक्यावली ने अत्यधिक सूक्ष्म एवं स्पष्ट विवरण दिया है। ऐसे विश्व मे निर्बल बलवानो की दया पर निर्भर होते। वास्तव मे जिसकी लाठी उसीकी भैंस होती।

तथापि, एक ऐसे विश्व का भय जहां पर शक्ति का केवल बोलबाला ही नही है, वरन् वह बिना प्रतिद्वन्द्वी के भी है वास्तव मे शक्ति के विरुद्ध उस विद्रोह को उत्पन्न करता है, जोकि उतना ही सार्वभौमिक है जितनी स्वयं शक्ति की आकांक्षा सार्वभौमिक है। जब शक्ति की प्रेरणा की सही पहचान हो जाती है, तो इस विद्रोह को कुचलने तथा उठने वाले रोष एवं विरोध को शान्त करने के लिए लोग अपने ध्येयो की पूर्ति के लिए विचारधाराओं का प्रयोग करते हैं, जैसा कि हम देख चुके हैं ऐसा वे ही करते है जो शक्ति की खोज मे रहते हैं। वास्तव मे, उस स्थिति मे शक्ति की उच्च आकांक्षा कुछ भिन्न दिखलाई देती है। वह कुछ ऐसी वस्तु प्रतीत होती है जोकि बुद्धि, नैतिकता तथा न्याय के साथ समन्वय रखती हो। वह तत्त्व, जिसकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारधारायें केवल प्रतिबिम्ब मात्र है, नैतिकता, लोकनीतियो, तथा विधि के आदर्शात्मक आदेशो मे पाया जाता है।

1. Leviathan, Chapter XIII

बाईबिल से लेकर नीतिशास्त्र तथा आधुनिक लोकतंत्र की संवैधानिक व्यवस्थाओं तक इन आदर्शात्मक पद्धतियों का मुख्य कार्य शक्ति की आकांक्षाओं का सामाजिक रूप से सहनीय सीमाओं के अन्तर्गत रखना रहा है। पाश्चात्य सभ्यता में अधिकांश समस्त नीतिशास्त्र, लोकनीतियां तथा वैध पद्धतियां शक्ति प्रेरणाओं की सर्व-व्यापकता को पहचानती है तथा उनकी निंदा करती है। इसके विपरीत मैकियावली तथा हॉब्स के राजनीतिक दर्शनों जैसे सिद्धान्त प्रचलित मत द्वारा अमान्य ठहराये गये है। वे शक्ति प्रेरणाओं की सर्वव्यापकता को सामाजिक जीवन में निंदित एवं प्रतिबन्धित होने के स्थान पर स्वीकृत होने योग्य अन्तिम तथ्य मानते हैं। उनमें उस बौद्धिक एवं व्यावहारिक प्रभाव की कमियां रही हैं जिसने सेंट आगस्टाइन तथा लॉक के राजनीतिक दर्शनों को पाश्चात्य सभ्यता में शक्तिशाली बना दिया है।

दूसरी ओर, पाश्चात्य सभ्यता की उस परम्परा का जोकि दुर्बल की रक्षा के लिए बलवान की शक्ति पर रोक लगाने का प्रयत्न करती है, स्त्रैण, भावुकतापूर्ण तथा ह्रासोन्मुख कह कर विरोध हुआ है। वे लोग विरोधी रहे हैं जोकि नीत्से, मुसोलिनी, तथा हिटलर की भांति शक्ति की इच्छा तथा शक्ति के लिए संघर्ष को तात्विक सामाजिक तथ्य ही नहीं मानते हैं, वरन् उनकी निर्बाध अभिव्यक्तियों को गौरव प्रदान करते है। वे नियंत्रण की इस अनुपस्थिति को समाज के आदर्श तथा व्यक्ति के आचरण सम्बन्धी नियम के रूप में मानते हैं। परन्तु आगे चलकर, दर्शन तथा राजनीतिक पद्धतियाँ, जिन्होंने शक्ति की लालसा तथा संघर्ष को अपना आधार बनाया है शक्तिहीन एवं स्वयं-विनाशक सिद्ध हुए है। उनकी दुर्बलता पाश्चात्य परम्परा की शक्ति को प्रमाणित करती है। यदि वह शक्ति-प्रेरणाओं को दूर करने का प्रयत्न नहीं करती, तो कम से कम उनको नियंत्रित एवं अवरुद्ध करने का प्रयत्न करती है। जिसका परिणाम यह होगा कि वह तो समाज को छिन्न विच्छिन्न कर देगी अथवा दुर्बल के जीवन एवं प्रसन्नता को शक्तिशाली की स्वेच्छा पर छोड़ देगी।

इन दो बातों में ही नैतिकता, लोकनीतियों तथा विधि समाज को सुसंगठित रखती है तथा व्यक्ति को विनाश तथा दासता से सुरक्षित रखती हैं। ये आदर्श पद्धतियां अपने आचरण के नियमों से शक्ति-राजनीति के संपूरण का प्रयत्न करती है। ऐसा उस समय होता है जबकि एक समाज अथवा इसके कुछ सदस्य दूसरों की शक्ति-प्रेरणा से अपनी रक्षा स्वयं करने में असमर्थ होते है अथवा दूसरे शब्दों में जबकि शक्ति राजनीति की यांत्रिकियाँ अभावग्रस्त पाई जाती हैं, जैसाकि उनका आगे पीछे आना सुनिश्चित है। यही सन्देश है जिसे आदर्शवादी

पद्धतियाँ बलशालियो एव दुर्बलो को समान रूप से देती है। उत्कृष्ट शक्ति अपनी शक्ति को वह सब कुछ करने का नैतिक अथवा वैध अधिकार नही देती, जिसे वह भौतिक रूप मे करने मे समर्थ है। शक्ति सम्पूर्ण समाज के हित मे तथा इसके व्यक्तिगत सदस्यो के हित मे सीमाबद्ध है। वे शक्ति-सघर्ष की यात्रिकियो के परिणाम नही हैं, वरन् स्वय समाज के सदस्यो की इच्छा से आदर्श एव आचरण के नियमो के रूप मे उस सघर्ष पर आरोपित हैं। सभी उच्चतर समाजो मे तीन प्रकार के आदर्श अथवा आचरण के नियम परिचालित होते है नीतिशास्त्र, लोकनीति, तथा विधि। उनके विशिष्ट लक्षणो पर दर्शन एव न्याय शास्त्र के साहित्य मे पर्याप्त विवाद हुआ है। इस अध्ययन के निमित्त यह निर्दिष्ट करना पर्याप्त है कि प्रत्येक आचरण के नियम के दो तत्त्व होते हैं आदेश एव अनुशासन। किसी भी विशिष्ट आदर्श के लिए कोई पृथक् विशिष्ट आदेश नही है .. — "तू किसी का वध नही करेगा," नीतिशास्त्र, लोकनीतियो अथवा विधि का आदेश हो सकता है। वह अनुशासन ही है जोकि इन तीन प्रकार के चारित्रिक नियमो मे भेद करता है।

"तू किसी का वध नही करेगा" यह नीतिशास्त्र, लोकनीति, अथवा विधि का आदेश है। इसके उल्लघन करने पर, नीतिशास्त्र, लोकनीति अथवा विधि मे उल्लघनकारी को दण्ड देने का विधान है तथा भावी उल्लघनो को रोकने के लिए इस दण्ड व्यवस्था का प्रयोग किया जाता है। यदि अ ब का वध कर देता है, और पीछे हार्दिक पीडा अथवा अनुताप का अनुभव करता है, तो यह नीतिशास्त्र का विशेष अनुशासन है। अतएव हम अपने को एक नैतिक आदर्श के समक्ष पाते हैं। यदि अ ब का वध कर देता है और सगठित समाज अस्वीकृति के रूप मे व्यापारिक बहिष्कार, सामाजिक निष्कासन तथा इसीप्रकार के दूसरे प्रदर्शनो के रूप मे प्रतिक्रिया करता है तो हमारा सम्बन्ध लोकनीतियो के विशेष अनुशासनो से है। अतएव हम लोकनीतियो के आदर्श के समक्ष है। यदि अन्तत. अ ब का वध कर देता है और सगठित समाज पूर्व-निर्धारित पुलिस क्रिया, अभ्यारोपण, परीक्षण, अभिमत तथा दण्ड के साथ एक तर्कपूर्ण क्रिया विधि के सहित प्रतिक्रिया करता है, तो अनुशासन एक वैध प्रकृति का है। इसलिए यह आदर्श विधि की श्रेणी मे आता है।

सभी देशो के समाज इस प्रकार के आचरण के नियमो की पेचीदा भूल भुलैया द्वारा नियन्त्रित होते है। वे ऐसा परस्पर समर्थन अथवा विरोध करते हुए अथवा स्वतन्त्र रूप से परिचालित होते हुए करते हैं। समाज उन हितो तथा मूल्यो की रक्षा का आचरण के नियमो द्वारा प्रयत्न करता है। वह उनको जितना

अधिक आवश्यक समझता है, उतना ही अधिक कठोर अनुशासन होता है, जिनसे वह अपने नियमों के उल्लंघन के लिए सजा की धमकी देता है। समाज के पास अपने उद्दण्ड सदस्यों के विरुद्ध आचरण के नियम लागू करने के लिए उस समय सर्वोत्तम अवसर होते है, जबकि वह सभी प्रकार के उपलब्ध अनुशासना का नियमों की उपेक्षा करने वाले के विरुद्ध एक साथ उपयोग करता है। उसका ऐसी स्थिति मे अधिकतम दबाव होता है। जबकि केवल एक प्रकार की अनुशास्ति ही इसके हितो एवं मूल्यो का समर्थन करती है, वह सबसे अधिक दुर्बल होता है। इसलिए ऐसी स्थिति मे इसकी अनुशास्तियां अत्यधिक प्रभावहीन प्रतीत होती है। जब आचरण के एक नियम को ऐसी कार्यवाही की आवश्यकता होती है जिसकी, आचरण का दूसरा नियम निंदा करता है, तो सम्बन्धित हित अथवा मूल्य का निर्णय परस्पर-विरोधी आदेशो की समर्थक अनुशास्तियो की शक्ति पर निर्भर होता है।

अपने अस्तित्व के विरुद्ध राजद्रोह अथवा क्रांति से होनेवाले भय, अथवा अपने व्यक्तिगत सदस्यो के अस्तित्व के हत्या द्वारा भय के विरुद्ध समाज तीनो प्रकार की अनुशास्तियो का विन्यास करता है। इस प्रकार नैतिकता लोकनीतियाँ तथा विधि एक दूसरे को प्रबल बनाती हैं, तथा समाज के जीवन तथा उन व्यक्तियो के जीवन को जिनसे मिलकर वह समाज बना है, तिहरा रक्षण देती हैं। भावी राज्यद्रोही अथवा हत्यारा अपने अन्त करण के अनुताप के द्वारा, समाज की स्वजात प्रतिक्रियाओ (जैसे निष्कासन तथा विधि द्वारा दण्ड) का भी सामना करता है। इसी प्रकार की स्थिति उस समय प्रचलित होती है, जबकि समाज को अथवा उसके व्यक्तिगत सदस्यो के अस्तित्व को भय न होकर उनकी सम्पत्ति को भय होता है। सम्पत्ति भी नैतिकता लोकनीतियो तथा विधि की तिहरी दीवार से घिरी होती है। भावी चोर तथा ठग और जिस सम्पत्ति पर वह लालायित होता है उसके बीच मे समाज उन सभी अनुशास्तियो द्वारा व्यवधान डालता है, जिनका वह प्रयोग करने मे समर्थ है।

जहा कम मूल्य वाले हितो तथा मानो को खतरा होता है, समाज केवल एक प्रकार की अनुशास्ति का ही प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार व्यापार तथा राजनीति मे कुछ निश्चित प्रकार के प्रतिस्पंद्धा के व्यवहार, जैसे झूठ बोलना, केवल नैतिकता द्वारा ही वर्जित हैं। लोकनीतियाँ केवल चरम परिस्थितियों मे ही प्रकट हुआ करती है, उदाहरणार्थ, केवल उसी समय जब झूठ बोलने की मात्रा उस सीमा से अधिक निकल जाती है, जिसे समाज उचित मानता है। साधारण मिथ्याभाषण के मामले म विधि चुप रहेगी। यदि किसी अन्य कारण से नहीं

तो यह इस कारण बना है कि इसे वर्जित करने वाली कोई भी विधि लागू नहीं की जा सकती। यह केवल सीमित मिथ्याभाषण जैसे कूटसाक्ष्य अथवा छलना के समय ही बोलेगी। यहां केवल सत्य का ही प्रश्न नहीं है। इससे लोगों के हितों एवं मूल्यों को भय उत्पन्न होता है। फैशन के नियम दूसरी ओर केवल लोकनीतियों द्वारा ही प्रवर्तित होते हैं क्योंकि यहां सम्बन्धित विषय नैतिकता अथवा विधि की चिन्ता के उपयुक्त नहीं है। अन्ततः यह केवल विधि ही है, जिसको यातायात और परिवहन के नियमों के उल्लंघन पर विचार करने का अधिकार है। इनके प्रवर्तन में नैतिकता तथा लोकनीतियां भाग नहीं लेती क्योंकि विधि की अनुशास्तियां परिवहन के क्षेत्र में किसी प्रकार की यान्त्रिक व्यवस्था स्थापित करने में सामान्यतया समर्थ है।

विभिन्न निषेधाज्ञाओं की सापेक्ष शक्ति की समस्या उस समय जटिल हो जाती है, जब आचरण के विभिन्न नियमों में द्वन्द्व होता है। न्याय शास्त्र के साहित्य में अत्यधिक विवेचित एक ही वैध व्यवस्था के दो नियमों के द्वन्द्व का विशुद्ध एवं श्रेष्ठ उदाहरण, कुछ यूरोपीय देशों की संहिताओं में मल्ल युद्ध का निषेध है जबकि उन्हीं देशों की सैनिक-संहितायें अधिकारियों से कुछ निश्चित विवादों का निपटारा मल्ल-युद्धों द्वारा कराना आवश्यक ठहराती हैं। नीतिशास्त्र की व्यवस्था हमको मनुष्य के स्थान पर ईश्वर की आज्ञा के पालन का तथा उसी समय जैसे को तैसा करने का आदेश देती है। जब राज्य की विधि ईश्वर के आदेशों में से किसी का विरोध करती है तो एक ममरूप विवाद प्रस्तुत होता है। विशेष रूप से राजनीतिक क्षेत्र में इस प्रकार के द्वन्द्व अनेक होते हैं। एक क्रान्तिकारी सरकार तथा एक वैध सरकार एक निर्वासित सरकार तथा एक विभीषण सरकार जो स्वभावगत प्रतिद्वन्द्वी होती है लोगों के उसी समूह से आज्ञा-पालन की मांग करती है। वे आचरण के नियम जिनके पालन की एक राजनीतिज्ञ से आशा की जाती है, बहुधा, उन आदेशों से भिन्न होते हैं, जोकि समाज के सभी सदस्यों से सम्बन्धित होते हैं। 'अभियान भाषण' तथा सामान्य वायदों जैसे कुछ विशेष कार्यों में सामान्य नैतिकता तथा समाज की लोकनीतियों की तुलना में नीतिशास्त्र तथा राजनीति की लोकनीतियाँ अधिक ढील देने वाली समझी जाती हैं।

आचरण के विभिन्न नियमों के पारस्परिक विरोध उस सापेक्ष दबाव द्वारा निर्णीत होते हैं, जिसे विरोधी नियमों की अनुशास्तियां व्यक्ति की इच्छा पर डालने में समर्थ होती हैं। यदि वह तत्काल उन सभी आदर्शों के पालन में असमर्थ है जिनके पालन की उससे आशा की जाती है तो उसे पालन योग्य अनुशास्तियों को चुन लेना चाहिए, तथा दूसरों का उल्लंघन करना चाहिए।

इन दबावो की सापेक्ष शक्ति सामाजिक शक्तियो की उन सापेक्ष शक्तियो की अभिव्यक्ति है, जोकि दूसरे मानो एव हितो के विरुद्ध अन्य मानो तथा हितो का समर्थन करती है। समाज की आदर्श-व्यवस्था जिसका ध्येय इसके व्यक्तिगत सदस्यो की शक्ति-अभिलाषाओ को समाज द्वारा सहनीय सीमाओ मे रखना है, स्वय एक निश्चित मात्रा मे अपने प्रभाव द्वारा समाज के अभिभावन के लिए परस्पर सघर्ष करने वाली सामाजिक शक्तियो का परिणाम है। उदाहरण के लिए यह प्रभाव विधि-निर्माण अथवा न्यायालय के निर्णयों पर हो सकता है।

अपने आचरण के नियमो के माध्यम से जो दबाव समाज अपने सदस्यो पर डालता है, सामाजिक जीवन उनकी अविच्छिन्न प्रतिक्रियाओ से बहुत अधिक मात्रा मे मिलकर बना है। ये प्रतिक्रियायें बहुत हद तक स्वचालित बन गई हैं। ये आचरण के नियम प्रातःकाल से रात्रि तक, समाज के मानो के अनुरूप कार्यों को ढालते हुए, व्यक्ति पर निगरानी रखते है। यह कहा जा सकता है कि समाज एक भरयात्मक शक्ति के रूप मे अपने सदस्यो पर कार्य के विभिन्न प्रकारो का आरोप करने वाले आचरण के नियमो के पूर्ण योग के अतिरिक्त कुछ और नही है। जिसे हम सभ्यता कहते हैं वह एक अर्थ मे किसी समाज के सदस्यो की आचरण के नियमो की ओर स्वचालित प्रतिक्रियायें हैं। उन आचरण के नियमों के द्वारा यह समाज अपने सदस्यो को निश्चित वस्तुनिष्ठ मानको के अनुरूप बनने, शक्ति के लिए उनकी आकाक्षाओ को नियन्त्रित करने, तथा सामाजिक रूप से आवश्यक सभी मामलो मे अनुरूप बनने, तथा शान्त करने का प्रयत्न करता है। पाश्चात्य सभ्यता, जिससे वास्तव मे हमारा यहा सम्बन्ध है, इस प्रयत्न मे बहुत अधिक हद तक सफल रही है। फिर भी, जैसा कि बहुत से उन्नीसवी तथा बीसवी शताब्दी के लेखक विश्वास करते थे, पाश्चात्य सभ्यता ने देशीय मच से शक्ति के सघर्ष को पूर्णतया निर्वासित नही किया है। न इसके स्थान पर सहयोग, समन्वय, स्थायी शान्ति जैसी भिन्न एव अधिक उत्कृष्ट वस्तु का स्थापन किया है और न ऐसा करने के लिए प्रयत्नशील है। उस भूमिका की मिथ्या धारणा की इस पुस्तक के तीसरे भाग मे चर्चा हुई है, जिसका निर्वाह राजनीति मे आकाक्षाओ तथा शक्ति-सघर्ष को करना होता है।

वह सर्वोत्तम वस्तु जिसे पाश्चात्य सभ्यता प्राप्त करने मे समर्थ हुई है—देशीय मच पर शक्ति के लिए सघर्ष को कम करना तथा इसके साधनो को सभ्य बनाना है। यही नही इसका कार्य उन उद्देश्यो की ओर निर्देश करना रहा है, जोकि यदि प्राप्त हो गये तो, उस सीमा को न्यूनतम कर देते हैं, जहा शक्ति के सघर्ष मे जीवन, स्वतन्त्रता, तथा समाज के व्यक्तिगत सदस्यो की प्रसन्नता के अनुसरण को खतरा होता है। जहा तक हम देख सकते हैं, यह सर्वश्रेष्ठ उद्देश्य

है जिसे कोई भी सभ्यता प्राप्त कर सकती है। अधिक विशेष रूप से वैयक्तिक युद्ध की अपरिष्कृत पद्धति के स्थान पर सामाजिक व्यापारिक तथा व्यावसायिक प्रतियोगिता के परिष्कृत साधन स्थापित हो गये हैं। शक्ति के लिए संघर्ष घातक हथियारों से नहीं लड़ा जा रहा। वरन् यह प्रतियोगी परीक्षाओं सामाजिक प्रभेद के लिए प्रतियोगिताओं सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत पदों के लिए सामयिक निर्वाचनों तथा सबसे ऊपर धन के स्वामित्व तथा पैसे में मापने योग्य वस्तुओं के लिए प्रतियोगिता के माध्यम से लड़ा जा रहा है।

पाश्चात्य सभ्यता के देशीय समाजों में धन का स्वामित्व शक्ति के स्वामित्व का प्रकृष्ट प्रतीक बन गया है। धन के अर्जन की प्रतियोगिता के माध्यम से व्यक्ति की शक्ति की आकांक्षा का समाज द्वारा निर्धारित नियमों के अनुकूल अभिव्यक्ति का सभ्य मार्ग मिल जाता है। मानव वध तथा किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत अथवा सामूहिक हिंसा के विरुद्ध विभिन्न आदेशात्मक निषेधात्मक शक्ति संघर्ष के ऐसे सभ्य पुनर्निर्देशन के लिए आदर्शवादी पूर्व स्थितियां उत्पन्न करने का प्रयत्न करती हैं। समाज की विभिन्न प्रतियोगी युक्तियां के लिए सुसंगत सभी सामाजिक साधन एवं संस्थाएं शक्ति के संघर्ष को दूर करने के लिए ही नहीं वरन् एक असामित एवं अनियमित शक्ति संघर्ष की पाशविक तथा अपरिष्कृत तरीकों के स्थान पर सभ्य तरीके प्रस्तुत करती है।

संक्षिप्त एवं स्थूल रूप रेखा के आधार पर यह ऐसा ही मार्ग है जिससे नीतिशास्त्र लोकनीति तथा विधि पाश्चात्य सभ्य देशों के समाजों में शक्ति संघर्ष को सीमित करते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय समाज के विषय में क्या कहा जाय? ऐसे ही अन्य प्रश्न किए जा सकते हैं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर नैतिकता लोकनीति एवं विधि के कौन से नियम प्रभावकारी होते हैं? उनसे अन्तर्राष्ट्रीय समाज के क्या कार्य सम्पादित होते हैं? विश्व लोकमत के रूप में किस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता अन्तर्राष्ट्रीय लोकनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि होनी चाहिए जो राष्ट्रों में शक्ति संघर्ष को उसी प्रकार परिसीमित नियंत्रित एवं सभ्य बनाए रखे जिस प्रकार किसी देश के समाज के सदस्यों के शक्ति संघर्ष को वहां की सामाजिक आदेशात्मक व्यवस्थाएं बनाए रखती हैं।

सोलहवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता

अन्तराष्ट्रीय राजनीति के विवेचन का दो अतिवादों से बचना चाहिए (१) अन्तराष्ट्रीय राजनीति पर नैतिकता के प्रभाव के अतिमूल्यन से तथा (२) राजनीतिज्ञों और कूटनीतिज्ञों पर भौतिक शक्ति के प्रभाव का अस्वीकार करके नैतिकता के प्रभाव के अवमूल्यन से।

इस विषय में दोहरी भूल यह होती है कि लोगों द्वारा वास्तव में पालन किये जाने वाले नैतिक नियमों का तालमेल उन नियमों के साथ कर दिया जाता है जिनके पालन का वे ढोंग रचते हैं, साथ ही उन्हें लेखकों द्वारा अनुसरणीय घोषित किये गये नियमों के साथ मिला देने की भी भूल की जाती है। प्रोफेसर जान चिपमैन ग्रे ने कहा है "धर्म दर्शन के अतिरिक्त मानव हित के किसी अन्य विषय पर इतना असंगठित लेखन तथा धुंधली परिकल्पना नहीं हुई जितनी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विषय में हुई है।"[1] यही अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के विषय में कहा जाना चाहिए। लेखकों ने नैतिक आदेश प्रस्तुत किए हैं जैसे वायदों का पालन, दूसरों का विश्वास, उचित व्यवहार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रति सम्मान अल्पसंख्यकों की रक्षा एक राष्ट्रीय नीति के अभिकरण के रूप में युद्ध का बहिष्कार। राजममनों को इन्हें याद रखना चाहिए ताकि राष्ट्रों के बीच सम्बन्ध अधिक शान्तिपूर्ण तथा कम अराजक बन सकें। परन्तु उन्होंने अपने आप से शायद ही कभी पूछा है कि ऐसे आदेश स्वयं में कितने ही अभीष्ट क्यों न हों क्या वे मनुष्यों के कार्यों का वास्तव में निर्धारण करते हैं? और यदि करते हैं तो किस सीमा तक? यही नहीं राजममनों तथा राजनयज्ञों का अपने वास्तविक प्रयोजनों की चिन्ता किए बिना अपने कार्यों एवं प्रयोजनों को नैतिक शब्दावली में उचित ठहराने का स्वभाव होता है। अतएव उन स्वार्थहीन एवं शान्तिपूर्ण अभिप्रायों मानवीय ध्येयों तथा अन्तर्राष्ट्रीय आदर्शों के दावों को ज्यों का त्यों सच मान लेना समान रूप से अशुभ होगा। यह पूछना उचित है कि क्या वे दावे कार्यों के सही प्रयोजनों को छिपाने वाली विचारधारायें मात्र हैं अथवा नैतिक मानकों के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों के पालन की यथार्थ चिंता व्यक्त करते हैं।

---

1 Nature and Sources of the Law (New York The Macmillan Company 1927) p 127

दूसरी बात यह है कि शक्ति-राजनीति के पूर्व विवेचित सामान्य अवमूल्यन तथा नैतिक निंदा से सामान्यतया सम्बद्ध एक यह मिथ्या-धारणा है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति इतनी अधिक अनिष्टकारी है कि अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर शक्ति की महत्त्वाकांक्षाओं के विषय में नैतिक परिसीमाओं का ढूँढना व्यर्थ है। फिर भी, यदि हम अपने आप से पूछें कि अपने-अपने राष्ट्रों के शक्ति उद्देश्यों को आगे बढ़ाने में राजममेज्ञ तथा राजनयज्ञ क्या करने में समर्थ हैं, तथा वे व्यवहार में क्या करते हैं, तो हमको मालूम होता है कि वे उससे कम करते हैं, जितना वे कर सकते थे, तथा जितना इतिहास के दूसरे युगों में उन्होंने वास्तव में किया था। वे कुछ आदर्शों का विचार करना तथा कुछ साधनों के प्रयोग करने से या तो पूर्णतया अथवा कुछ परिस्थितियों में मना कर देते हैं। ऐसा इसलिए नहीं है कि कालोचितता के प्रकाश में वे अव्यावहारिक अथवा बुद्धिहीन प्रतीत होते हैं, वरन्, क्योंकि कुछ नैतिक नियम बीच में भारी रुकावट डाल देते हैं। नैतिक नियम कुछ नीतियों पर कालोचितता के दृष्टिकोण से विचार करने की अनुमति नहीं देते। कुछ कार्य नैतिक आधारों पर नहीं हो रहे हैं, यद्यपि उनका करना कालोचित होगा। हमारे समय में विभिन्न स्तरों पर विभिन्न प्रभावों के साथ ऐसी नैतिक बाधायें चलती रहती है। शान्तिकाल में तो, मानव-जीवन की पवित्रता की पुष्टि की दृष्टि से नैतिक प्रतिबन्धों का कार्य प्रत्यक्ष और प्रभावशाली होता है।

मानव-जीवन का संरक्षण

शान्ति में मानव-जीवन का संरक्षण

जैसाकि हम देख चुके हैं, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिभाषा स्वयं अपने राष्ट्र की शक्ति को बनाये रखने तथा बढ़ाने और दूसरे राष्ट्रों की शक्ति को रोकने एवं घटाने के अनवरत प्रयत्न के रूप में की जा सकती है। तथापि, जैसाकि हम संकेत भी कर चुके हैं, राष्ट्रों की सापेक्षिक शक्ति जनसंख्या के आकार एवं गुणावस्था की शब्दावली में मनुष्यों की मात्रा तथा गुणावस्था, सैनिक संस्थापन के आकार एवं गुणावस्था, शासन की तथा अधिक विशेष रूप से, राजनय की गुणावस्था पर निर्भर करती है।

यदि हम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को सैद्धान्तिक आधार पर किये जाने वाले कार्यों की शृंखला के रूप में देखें, तो इसके अन्तर्गत नैतिकता सम्बन्धी प्रश्न उठने ही नहीं हैं। इस दृष्टि से अपने विरोधी राष्ट्र की जनसंख्या, वहां के प्रसिद्धतम सेना-नायकों और राजनीतिक नेताओं तथा योग्यतम कूटनीतिज्ञों में उग्रतापूर्वक कटौती करना, यहाँ तक कि उनका विनाश करना भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का

उचित उद्देश्य होता है। जब नैतिकता के महत्त्व पर ध्यान न देते हुए, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति का सुरक्षित रखने और प्राप्त करने का ही एकमात्र उपकरण समझी जाती थी तब उक्त उपायों का बिना किसी नैतिक संकोच के, एक सामान्य व्यवहार के रूप में प्रयोग हुआ करता था।

अधिकारी अभिलेखों के अनुसार 1415 से 1525 तक वेनिस गणतन्त्र ने अपनी विदेश नीति के उद्देश्य से लगभग दो सौ वधों का आयोजन, अथवा प्रयत्न किया। भविष्य में गोली का शिकार बनने वालों में थे दो सम्राट्, दो फ्रांस के राजा, तथा तीन सुल्तान। प्रलेखों में वेनिस सरकार द्वारा किसी भी वध के निषेध का अभिलेख नहीं मिलता। 1456 से 1472 तक इसने इस समय वेनिस के मुख्य विरोधी सुल्तान महोमत द्वितीय के वध के बीस प्रस्ताव स्वीकार किए। 1514 में जान ऑफ रगुसा ने पन्द्रह सौ डकाट्स के वार्षिक वेतन पर वेनिस सरकार द्वारा चुने हुए किसी भी व्यक्ति को विष देने का प्रस्ताव रखा। वेनिस सरकार ने एक व्यक्ति को परीक्षा की दृष्टि से भाड़े पर रखा, और उसे आदेश दिया कि वह सम्राट् मेक्सीमिलियन के साथ जो भी कर सके, कर दिखलाये। उसी समयावधि में कार्डिनल एक पोप के अभिषेक में आयोजित रात्रि-भोज में अपने सेवकों तथा सुरा को इस भय से साथ लाए कि उनको कोई विष न दे दे। इस प्रथा का मेजमान के बुरा माने बिना रोम में सामान्य होने का विवरण मिलता है।

यह स्पष्ट है कि राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति के ऐसे साधनों का आजकल अधिक प्रयोग नहीं होता। तथापि उनके प्रयोग के राजनीतिक प्रयोजन आजकल भी उसी प्रकार वर्तमान है, जैसे कि उस समय थे, जबकि इस प्रकार के व्यवहार वास्तव में प्रचलित थे। शक्ति की प्रतिस्पर्द्धा में लगे हुए राष्ट्र इस विषय में उदासीन नहीं रह सकते कि उनका प्रतियोगी असाधारण सैनिक या राजनीतिक नेताओं की सेवाओं से लाभ उठा सकता है, अथवा नहीं। इस प्रकार वे आशा कर सकते हैं कि राजनीतिक उथल-पुथल अथवा दौर्बल्य और मृत्यु के द्वारा कोई असाधारण नेता अथवा प्रशासकीय गुट शक्ति की बागडोरों को छोड़ने के लिए विवश हो जायेंगे। हम जानते हैं कि द्वितीय विश्वयुद्ध में ये परिकल्पनायें कि हिटलर तथा मुसोलिनी कब तक जीवित, अथवा, कम से कम, कब तक शक्ति में रहेंगे, संयुक्त राष्ट्र की शक्ति गणनाओं में एक आवश्यक अंग होती थी। राष्ट्रपति रूजवल्ट के निधन के समाचार ने हिटलर की विजय की आशाओं को पुनर्जीवित कर दिया था। शीत युद्ध में सोवियत संघ के बारे में अमरीकन नीति में एक तथ्य, यह प्रत्याशा रही है कि इसके शासकों की स्वयं शक्ति में बने रहने की अक्षमता से सोवियत शासन अन्दर से विघटित हो जावेगा।

हिंसात्मक भावना द्वारा शक्ति से एवं निष्कामता की तकनीकों के निर्धारण द्वारा इतिहास की पिछली शताब्दियों में अधिक कमी नहीं हुई है। एवं निष्कामता [illegible] ही अभीष्ट एवं सदय हैं जितने वे सदैव थे। जो परिवर्तन आ गया है वह केवल सभ्यता के प्रभाव से है। सभ्यता का यह परिवर्तन अभीष्ट एवं सम्बद्ध [illegible] का नैतिक दृष्टि से निन्दनीय और सम्भाव्यता असम्भव बना देता है।

इसी प्रकार की नैतिक परिसीमायें शान्ति काल में न केवल [illegible] व्यक्तियों के जीवन का संरक्षण करती हैं वरन् उन वृहत् समूहों सम्पूर्ण राष्ट्रों का भी संरक्षण करती हैं जिनका विनाश राजनीतिक दृष्टि से अभीष्ट एवं लाभप्रद होता। जैसा कि जर्मनी वालों तथा बाकी [illegible] वालों [illegible] द्वारा देखा गया है, आधुनिक इतिहास अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर नैतिक तत्त्व के प्रभाव का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। बिस्मार्क से हिटलर तक जर्मन इतिहास में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मूल तत्त्व शक्तिशाली राष्ट्रों द्वारा पूर्व तथा पश्चिम में घेराबन्दी रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की जकड़न का विनाश पर जितनी हों निष्ठुर भावना अनैतिक [illegible] बिना चालें रहा था बिस्मार्क काल के इन सूत्र नियमों से कम कम विचलित हुआ था जो अठारहवीं [illegible] राजाओं के समाज में प्रचलित थे। वह एक [illegible] एवं [illegible] था। परन्तु वहां कुछ ऐसी बातें थीं जिन्हें उस कुलीन समाज का कोई भी मनुष्य करने के लिए तैयार नहीं होता। जब बिस्मार्क ने देखा कि राजनीतिक स्थिति की दृष्टि से जर्मनी रूस और फ्रांस से घिरा है तो उसने इस स्थिति को अपरिहार्य तथ्य के रूप में स्वीकार करते हुए रूस के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किये और फ्रांस को पृथक रखकर अपने हित में बदलने का प्रयत्न किया।

दूसरी ओर हिटलर ने उन सामाजिक नियमों को स्वीकार नहीं किया जिनकी परिसीमाओं में तीस वर्षीय युद्ध के अन्त से [illegible] शक्ति के उत्थान-काल तक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति परिचालित हुई थी। वह उन नैतिक संकोचों से मुक्त था जिन्होंने बिस्मार्क को फ्रांस तथा रूस के अस्तित्व को एक एक अनिवार्य तथ्य के रूप में स्वीकार करने के लिए विवश किया जिस पर एक जर्मन विदेश नीति का निर्माण हो सके। हिटलर ने जर्मनी के पूर्वी एवं पश्चिमी पड़ोसियों का भौतिक रूप में विनाश करके उस तथ्य को बदलने का बीड़ा उठाया। नैतिक महत्त्व से हीन एकमात्र राजनीतिक तकनीक के रूप में समझने पर हिटलर का हल बिस्मार्क की अपेक्षा बहुत अधिक दूरगामी एवं राजनीतिक दृष्टि से न्यायोचित था। जहां तक जर्मनी के पूर्वी एवं पश्चिमी पड़ोसियों का सम्बन्ध था, इस समाधान से सदा के लिए जर्मनी की अन्तर्राष्ट्रीय

स्थिति की समस्या को सुलझाने का आश्वासन मिल गया। यही नहीं, स्वय मे हिटलर का सुलझाव इतना सम्मान्य सिद्ध हुआ जितना कि यह बिस्मार्क के समय मे हुआ होता। यदि कुछ ऐसी राजनीतिक एव सैनिक भूलें नही हुई होती जिन्होने हिटलर तथा उसकी नीतियो को विनाश की ओर अग्रसर किया तथा जिन्हे बिस्मार्क की राजनीतिक प्रतिभा ने भली प्रकार बचा लिया होता तो यह सफल रहा होता।

जर्मनी को छोड कर शेष ससार, विशेषत जर्मनी के प्रभुत्व से आतंकित राष्ट्रो के समक्ष जर्मनी की समस्या जिस रूप मे उपस्थित हुई, उसकी अभिव्यक्ति नग्न स्पष्टता के साथ फान्सीसी राजनयज्ञ क्लमासो के उस कथन म हुई जिसम उसने घोषित किया कि दो करोड जर्मन ही आवश्यकता से कही अधिक होते हैं। यह कथन उस अनिवार्य तथ्य की ओर सकेत करता है जिसने 1870 के फ्रासीसी जर्मन युद्ध से यूरोप तथा विश्व को डराए रखा है कि जर्मनी अपनी जन सख्या के आकार तथा गुणावस्था के कारण यूरोप का सबसे अधिक सबल राष्ट्र है। इस तथ्य का दूसरे यूरोपीय राष्ट्रो तथा बचे हुए विश्व की सुरक्षा के साथ मेल बैठाना राजनीतिक पुनर्निर्माण का काय है। यह काय प्रथम विश्वयुद्ध के उपरान्त विश्व के समक्ष था तथा फिर द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त इसके समक्ष है। क्लमासो के समय स जर्मन समस्या सदैव इन्ही शब्दो मे रखी गई है जो दो करोड जर्मन ही आवश्यकता स कही अधिक हैं की पुष्टि करत है। यह शब्द शक्ति के पीछे दौडन पर उन्ही नैतिक परिसीमाओ का प्रकट करते हैं जिन्हे हमने बिस्मार्क की विदेश नीति में पाया तथा जिसे हमन हिटलर की विदेश नीति में नही पाया। क्योकि जर्मन जैसी अन्तराष्ट्रीय राजनीति की समस्या से निपटने के दो मार्ग हैं।

एक वह विधि है जिसके द्वारा रोमवासियो ने सदा के लिए कार्थेज की समस्या का हल किया। यह एक तकनीकी राजनीतिक समस्या को किन्ही महान नैतिक विचारो की चिता किए बिना उचित साधनो के द्वारा हल करने की विधि है। चूकि रोम की शक्ति प्राप्ति की महत्वाकाक्षा के विचार से कार्थेजवासी बहुत अधिक थे इसलिय केटो अपन प्रत्येक भाषण का अन्त यह घोषणा करता हुआ करता था सेटेरमसेसिओ कार्थेजिनियम ऐसे डेलेन्डम (जहा तक शेष का प्रश्न है मेरी यह राय है कि कार्थेज को नष्ट कर देना चाहिए)। इसके विनाश के साथ कार्थेज की समस्या रोम की दृष्टि में सदा के लिए हल हो गई। उस निर्जन स्थल से जहा किसी समय कार्थेज था रोम की सुरक्षा एव महत्वाकाक्षा को फिर कभी कोई भय नही होना था। इसी प्रकार यदि जर्मन अपनी सर्वोपरि योजनाओ में सफल रहे होते और यदि उनके फायर-स्कवाडो तथा उन्मूलन कैम्पो ने अपने कार्यों का समाप्त कर दिया होता तो सम्मिलित सरकारो का भयावह अनुभव जर्मन राजमर्मज्ञो के मस्तिष्को से सदा के लिए दूर हो गया होता।

कोई विदेश नीति, जोकि सामूहिक उन्मूलन की अपने लक्ष्य के साधन के रूप में अनुमति नहीं देती, अपने ऊपर यह परिसीमा राजनीतिक के विचार के कारण लागू नहीं करती। दूसरी ओर कालोचितता एसे पारगामी तथा प्रभावशाली कार्य का परामर्श देती। यह परिसीमन एक पूर्णतया नैतिक सिद्धान्त से निकलता है, जिसका राष्ट्रीय लाभ का विचार किए बिना पालन करना चाहिए। इसलिए इस प्रकार की विदेश नीति राष्ट्रीय हित के अनुसरण द्वारा अपने नैतिक सिद्धान्त की अवज्ञा होने पर वास्तव में राष्ट्रीय हित का बलिदान कर देती है जहां यह नैतिक सिद्धान्त शान्ति काल में सामूहिक हत्या का निषेध हो सकता है। इस विषय पर बहुत बल नहीं दिया जा सकता क्योंकि बहुधा यह मत प्रस्तुत किया जाता है कि मानव जीवन के लिए यह सम्मान दूसरे मनुष्यों को मनावश्यक मृत्यु अथवा कष्ट न देने के दायित्व की उपज है। अर्थात् मृत्यु अथवा कष्ट किसी एसे महान प्रयोजन का प्राप्ति के लिए आवश्यक नहीं है जो सही अथवा गलत तरीके से सामान्य दायित्व की अवज्ञना के लिए न्याय-संगत ठहराया जा सकता है।[2] दूसरी ओर तथ्य यह है कि राष्ट्रीय हित जैसे उच्चतर प्रयोजन" के प्रकाश में एसे आचरण का न्याय-संगत ठहराने की सम्भावना के होते हुए भी राष्ट्र विशेष परिस्थितियों में मृत्यु अथवा कष्ट के आरोप से बचने के नैतिक दायित्व को मानते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की इन दो अवधारणाओं के बीच मूल द्वन्द्व है जिनमें एक नैतिकता के ढांचे के भीतर परिचालित होती है दूसरी नैतिकता के ढांचे से बाहर। इस द्वन्द्व का चित्रात्मक विवरण सर विंस्टन चर्चिल के संस्मरणों में मिलता है। तहरान कान्फ्रेन्स में स्तालिन ने युद्ध के उपरान्त जर्मनी वासियों को दण्ड देने के प्रश्न को उठाया था।

उसने कहा था कि जर्मनी के जनरल स्टाफ को मुक्त कर देना चाहिए। हिटलर की सबल सेनाओं की समस्त शक्ति लगभग पचास हजार अफसरों तथा तकनीशियनों पर निर्भर थी। यदि युद्ध के उपरान्त इनको घेर लिया जाता तथा इन में गोली मार दी जाती तो जर्मनी की सैनिक शक्ति का उन्मूलन हो जाता। इस पर मैंने यह कहना उचित समझा ब्रिटिश संसद तथा जनता सामूहिक बधों को कभी सहन नहीं करेगी। युद्ध के आवेग में उनके आरम्भ को वे अनुमति भी दे दें, किन्तु प्रथम हत्या काण्ड के होने ही वे इस हत्याकाण्ड के लिये उत्तरदायी लोगों के प्रचण्ड रूप में विरोधी हो जायेंगे। इस विषय में सोवियत-निवासियों को कोई भ्रम नहीं होना चाहिए।'

2 E H Carr, The Twenty Years Crisis, 1919 39 (London Macmillan and Company, 1939), p 196

स्तालिन सम्भवतया शरारत म अपने विचार पर जमा रहा । उसने कहा पचास हजार को गोली मार दनी चाहिए। म अत्यधिक क्रुद्ध हुआ। मैंने कहा इसके स्थान पर कि मेरा अपना तथा मेरे देश का सम्मान ऐसी अपकीर्ति से मलिन हो, मै अभी और यहा स्वय बाग म बाहर ले जाया जाना तथा स्वय गोली इसके द्वारा मारा जाना पसद करूगा।[3]

युद्ध मे मानव जीवन का सरक्षण

इसी प्रकार की नतिक परिसीमाय अतराष्ट्रीय नीतियो पर युद्ध काल में लगा दी जाती है। इनका सम्बन्ध नागरिको तथा अ क्षम अथवा अनिच्छुक योधियो स होता है। इतिहास के प्रारम्भ से मध्य युगो के बडे भाग तक युद्धकारियो को नीतिशास्त्र तथा विधि द्वारा सभी शत्रुओ के मारने अथवा जिस प्रकार उचित समझें उसी प्रकार उनके साथ व्यवहार करने क लिए स्वतत्र समझा जाता था। भल ही व सैन्य शक्तियो के सदस्य हो या नही। प्रतिकूल नैतिक प्रतिक्रियाओ को उत्पन्न किए बिना मनुष्य स्त्रियो तथा बच्चे बहुधा तलवार के घाट उतार दिए जाते थ। अथवा व विजेता द्वारा दास बना कर विक्रय कर दिए जाते थे। **प्रान द लाज आफ वार एण्ड पीस** की तीसरी पुस्तक के चौथे अध्याय में एक सार्वजनिक युद्ध म शत्रुओ का वध करने के अधिकार तथा शरीर के विरुद्ध दूसरी हिंसा नामक शीर्षक के अन्तर्गत ह्यूगो ग्रोशियस बिना भेद विभेद के प्राचीन इतिहास में शत्रुओ के विरुद्ध हिंसा के किए गए कार्यो की प्रभावोत्पादक सूची प्रस्तुत करता है। सत्रहवी शताब्दी का तीसरी दशी में लिखते हुए ग्रोशियस स्वय विधि एव नीतिशास्त्र में इनमें से बहुतो को यदि युद्ध न्यायोचित कारण के लिए हुआ हो तो न्याय सगत ठहराता था।[4]

युद्ध में मारने पर नैतिक अवरोधो की अनुपस्थिति स्वय युद्ध की प्रकृति का परिणाम है। उन समयो म युद्ध युद्धकारी राज्यो के प्रदेशो के सभी निवासियो के बीच प्रतिरोध समझा जाता था। जिस शत्रु के साथ लडना था वह व्यक्तियो की वह कुल सख्या थी जोकि किसी निश्चित स्वामी के प्रति निष्ठा रखती थी अथवा किसी निश्चित प्रदेश म रहती थी। व आधुनिक अथ म अमूतरूप में राज्य कहे जाने वाली वैध सशस्त्र सेनायें न थी। इस प्रकार शत्रु राज्य का प्रत्येक नागरिक दूसरे पक्ष के प्रत्यक व्यक्तिगत नागरिक का शत्रु हो जाता था।

3 Winston S Churchill The Second World War, Vol V, Closing the Ring (Boston Houghton Mifflin Co, 1951) pp 373 4 (प्रकाशक की अनुमति से पुन मुद्रित।)

4 विशेषतया अध्याय 3 देखिए।

तीस वर्षीय युद्ध के अन्त से यह धारणा प्रचलित हो गई है कि युद्ध समस्त जन-संख्याओं के मध्य संघर्ष नहीं है वरन् केवल युद्धकारी राज्यों की सेनाओं के बीच है। परिणामतया, युद्ध करने वाले और युद्ध न करने वालों का अन्तर युद्धकारियों के कार्यों को अनुशासित करने वाले मूल वैध तथा नैतिक सिद्धान्तों में एक हो गया है। युद्ध युद्धकारी राज्यों की सशस्त्र सेनाओं के बीच संघर्ष समझा जाता है। चूंकि सशस्त्र संघर्ष में नागरिक जन संख्यायें सक्रिय रूप से भाग नहीं लेती इसलिए उनको इसका लक्ष्य नहीं बनाया जाना चाहिए। इसलिये युद्ध में भाग न लेने वाली नागरिक जन संख्या पर जान बूझ कर आक्रमण न करना न उनको मारना नैतिक एवं वैध कर्त्तव्य समझा जाता है। किसी नगर पर बम वर्षा होने या जनसंख्या वाले क्षेत्र में ही युद्ध के होने जैसी सैनिक कार्यवाहियों से हुई दुर्घटनाओं के रूप में नागरिकों को चोटें सहनी पड़ती है और मृत्यु का मुंह देखना पड़ता है। इसलिए ऐसी दुर्घटनाओं को युद्ध का अनिवार्य परिणाम समझते हुए कभी कभी उन पर खेद प्रकट किया जाता है। तथापि अधिकतम सीमा तक उनको दूर रखना फिर भी एक नैतिक एवं वैध कर्त्तव्य समझा जाता है। 1899 तथा 1907 के स्थल-युद्ध की विधियों एवं रीति रिवाजों से सम्बन्धित हेग उपसंधियों एवं 1949 की जेनेवा उपसन्धि ने उस सिद्धान्त को स्पष्ट एवं वस्तुतः सार्वभौमिक स्वीकृति प्रदान की।

सशस्त्र सेनाओं के उन सदस्यों के सम्बन्ध में जोकि लड़ने के लिए अनिच्छुक अथवा असमर्थ है एक अनुरूप विकास हो चुका है। यह पुरातत्व काल तथा मध्य युगों के बड़े भाग में प्रचलित युद्ध की अवधारणा में उद्भूत है कि विकलांग योद्धाओं के निश्चित वर्गों के लिए सभी शत्रुओं के वध के नैतिक एवं वैध अधिकार का कोई अपवाद नहीं किया जा सकता था। इस प्रकार ग्रोशियस अपने समय के प्रचलित नैतिक एवं वैध विश्वासों के रूप में फिर भी कह सकता था प्रहार करने का अधिकार बंदियों पर भी तथा समय की परिसीमा के बिना भी होता है प्रहार करने का अधिकार उन पर भी लागू होता है जो आत्म समर्पण करना चाहते हैं किन्तु जिनका आत्मसमर्पण स्वीकार नहीं किया जाता।[5]

तथापि सशस्त्र शक्तियों के बीच प्रतिरोध के रूप में युद्ध की अवधारणा के तर्क-संगत विकास का विचार इस प्रकार आगे बढ़ा कि जो सैनिक वास्तव में योग्य हैं तथा युद्ध कार्य में सक्रिय रूप में भाग लेने के लिए तत्पर है वे ही आयोजित सैनिक कार्यवाही के लक्ष्य बनाये जाने चाहिए। जो रुग्णावस्था अथवा घावों के कारण अब युद्ध में संलग्न नहीं रहे थे अथवा जो बन्दी बना लिये गए थे या बन्दी बनाये जाने के लिए इच्छुक थे उनको कोई क्षति नहीं पहुंचानी

5 पूर्वोक्त अध्याय 10 11

चाहिए। युद्ध को मानवीय रूप देने की दिशा मे यह प्रवृत्ति सोलहवी शताब्दी मे प्रारम्भ हुई तथा इसका चर्मोत्कर्ष उन्नीसवी तथा शुरु बीसवी सदियो मे हुई बहुत सी बहुपक्षीय सन्धियो मे हुआ। व्यावहारिक रूप मे सभी राज्य राष्ट्र इन सन्धियो को अपना चुके है। सन् 1581 और 1864 के बीच आहतो एव रोग-ग्रस्तो के जीवन के सरक्षण के लिए 291 अन्तर्राष्ट्रीय समझौते किये गये। 1906, 1929, तथा 1949 मे निलाम्बित 1864 की जनेवा उप-सन्धि ने आहतो, रोगियो, तथा उनके सरक्षक चिकित्सको के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय, इस सम्बन्ध मे नैतिक दृढ-विश्वासो को ठोस एव ब्यौरेवार वैध दायित्वो मे रूपान्तरित कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय रैड क्रास उन नैतिक दृढ-विश्वासो की प्रतीक होने के साथ ही उनकी असाधारण सस्थागत सिद्धि है।

जहा तक युद्ध-बन्दियो का प्रश्न है, उनका भाग्य अठारहवी सदी मे भी दयनीय था। यद्यपि वे नियमानुसार अब मारे नही जाते थे, वरन् अपराधी समझे जाते थे, तथा केवल जमानत पर छोडे जाकर शोषण के साधन के रूप मे प्रयुक्त होते थे। सर्व प्रथम 1785 मे सयुक्त राज्य तथा प्रशिया मे हुई मैत्री की सन्धि का चौबीसवां अनुच्छेद इस विषय में नैतिक दृढ-विश्वासो में आये हुए परिवर्तनो की ओर स्पष्ट सकेत करता है। इस अनुच्छेद के अनुसार युद्ध-बन्दियो का अपराधियो के बन्दीगृहो मे बन्दी बनाना तथा साथ ही उन पर बेडियो का प्रयोग निषिद्ध ठहराया गया तथा उनके साथ सैनिक कर्मचारी-वर्ग जैसे व्यवहार को उचित माना गया। 1899 तथा 1907 की हेग उप सन्धियो तथा 1929 और 1949 की जनेवा उप-सन्धियो ने युद्ध बन्दियो के साथ मानवोचित व्यवहार करने की व्यवस्था करने वाले वैध नियमो की विस्तृत व्यवस्था का प्रतिपादन किया।

युद्ध की विनाशशीलता से अरक्षित मनुष्यो के जीवन एव कष्टो के विषय में उसी मानवीय चिंता से युद्ध-कार्य को मानवोचित बनाने के उद्देश्य को दृष्टिगत रखते हुये मध्य-उन्नीसवी सदी से हुई सभी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो का जन्म हुआ। वे कुछ हथियारो के प्रयोग को निषिद्ध ठहराती है। दूसरो के प्रयोग को नियन्त्रित करती हैं, तटस्थो के अधिकारो एव कर्त्तव्यो की परिभाषा करती हैं। सक्षेप से ये सन्धिया युद्ध-कार्य मे सभी प्रत्याशित प्रतिद्वद्वो की सामान्य मानवता के प्रति आदर एव शिष्टाचार की भावना का सचार करने का प्रयत्न करती हैं। वे युद्ध के लक्ष्य के अनुपात में न्यूनतम हिंसा तक सीमत रहती हैं, अर्थात् शत्रु की प्रतिरोध की इच्छा को तोडने का प्रयत्न करती हैं। 1856 की पेरिस की घोषणा ने सामुद्रिक युद्ध-कार्य को सीमित किया। 1868 की सैंट पीटर्सबर्ग की घोषणा विस्फोटक अथवा ज्वलनशील पदार्थों से युक्त हल्के भार वाले बमो के प्रयोग को बहिष्कृत किया। 1899 की हेग घोषणा ने बढने वाली (डम डम) गोलियो के

प्रयोग का बहिष्कार किया। बहुत सी अन्तर्राष्ट्रीय उप-सन्धियां ने गैस, रसायनिक तथा जीवाणु-विज्ञान सम्बन्धी युद्ध-क्रिया को बहिष्कृत किया। 1899 तथा 1907 को हेग उप-सन्धियों ने पृथ्वी एवं समुद्र पर युद्ध की विधियों एवं तटस्था के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों को संहितावद्ध किया। 1936 के लंदन अभिलेख ने व्यापारिक जहाजों के विरुद्ध पनडुब्बियों के प्रयोग को सीमित किया। और, हमारे समय में अत्यधिक युद्ध-कार्य को सीमित करने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। ये सभी प्रयत्न विदेश नीति के साधनों के रूप में असीमित हिंसा के प्रयोग पर वस्तुतः एक नैतिक अनिच्छा के सार्वभौमिक विकास के साक्षी हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों की पूर्ण उपेक्षा अथवा अवहेलना को ध्यान में रखकर इन सन्धियों के औचित्य तथा प्रभाव के विरुद्ध वैध तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं। फिर भी यह उस नैतिक चेतना के विरुद्ध कोई दलील नहीं है, जो अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में हिंसा अथवा कुछ विशेष प्रकार की हिंसा के उपस्थित होने पर अशान्त अनुभव करती है। एक ओर तो अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के माध्यम द्वारा राज्यों के व्यवहार का नैतिक नियमों के साथ सामंजस्य कराने के प्रयत्नों से ऐसी नैतिक चेतना का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है। दूसरी ओर, इन समझौतों की आरोपित अवज्ञाओं की नैतिक शब्दावली के आश्रय द्वारा प्रतिरक्षा करने वाली सामान्य तर्क-संगतियों एवं बहानेबाजियों के रूप में यह नैतिक चेतना प्रकट होती है। इस प्रकार के वैध समझौतों का सार्वभौमिक रूप से पालन किया जाता है, तथा राष्ट्र कम से कम एक निश्चित मात्रा में उनके अनुकूल रहने का प्रयत्न करते हैं। इसलिये निर्दोषता अथवा नैतिक औचित्य के प्रतिवाद, जिनमें दोषारोपण की प्रवृत्ति सामान्यतः पाई जाती है, कोरी विचारधाराओं से अधिक हुआ करते हैं। वे उन निश्चित नैतिक परिसीमाओं की अप्रत्यक्ष मान्यता है, जिनकी राष्ट्र समय-समय पर पूर्ण अवज्ञा तथा बहुधा उल्लंघन करते हैं।

युद्ध की नैतिक निन्दा

इस शताब्दी के प्रारम्भ से स्वयं युद्ध के प्रति दृष्टिकोण में बहुत से राजमर्मज्ञों की ओर से सदा बढ़ने वाली सतर्कता देखने में आई है। उस चेतना के अन्तर्गत कुछ नैतिक परिसीमायें, विदेश नीति के एक साधन के रूप में, युद्ध के प्रयोग पर रोक लगाती हैं। इतिहास के प्रारम्भ से ही राजमर्मज्ञों ने युद्धों में अपने भाग लेने को आत्मरक्षण अथवा धार्मिक कर्त्तव्य के अर्थों में उचित ठहराया है। स्वयं किसी भी युद्ध का निवारण राज्य-संचालन कला का केवल पिछली अर्ध-शताब्दी में उद्देश्य बना है। 1899 तथा 1907 के दोनों हेग सम्मेलनों तथा 1919 के राष्ट्र-संघ, अत्याचारपूर्ण युद्ध को बहिष्कृत करने वाले 1928 के केलॉग-

ब्रिआ समझौते, तथा हमारे समय के संयुक्त राष्ट्र-संघ, सभी का चरम ध्येय स्वयं युद्ध का निवारण है।

इन तथा अन्य वैध साधनों एवं संगठनों के आधार पर, जिनका इस पुस्तक के आठवें भाग में सविस्तार विवरण दिया जायगा, यह दृढ़ विश्वास है कि युद्ध, और विशेषतया आधुनिक युद्ध, केवल एक भयानक वस्तु ही नहीं है जिसका औचित्य के कारणों से परिहार हो। वरन् वह एक अमंगलकारी वस्तु भी है, जिससे नैतिक आधारों पर भी बचना चाहिए। प्रथम विश्वयुद्ध से सम्बन्धित राजनयिक प्रलेखों के विभिन्न संग्रहों का विद्यार्थी, लगभग सभी समझदार राजमर्मज्ञों को ऐसे पग उठाने में संकोच करते देखकर, जोकि अपरिहार्य रूप से युद्ध की ओर ले जावेंगे, आश्चर्य चकित होता है। इसमें सम्भवतया केवल वियना एवं सैंट पीटर्सबर्ग के राजमर्मज्ञ ही अपवाद स्वरूप हैं। राजमर्मज्ञों में आज यह सकुचाहट तथा युद्ध के अन्ततः अपरिहार्य सिद्ध होने पर उनमें लगभग सामान्य निराशा दिखलाई पड़ती है। यहां उस आयोजित सावधानी से जिससे उन्नीसवीं शताब्दी तक युद्ध आयोजित होते थे, तथा उन घटनाओं से जो इसके प्रारम्भ करने के दोष को दूसरे पक्ष पर मढ़ने के लिए गढ़ी जाती थी, स्पष्ट विषमता पाई जाती है।

द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व के वर्षों में पाश्चात्य शक्तियों की नीतियां किसी भी मूल्य पर युद्ध के निवारण की इच्छा से प्रेरित थी। उनसे उनका भारी राजनीतिक एवं सैनिक अहित हुआ। यह इच्छा राष्ट्रीय नीति के सभी विचारों पर छायी हुई थी। इसी प्रकार बिना अपवाद के सभी महान् शक्तियों की कोरियाई युद्ध को कोरिया प्रायद्वीप तक सीमित रखने और इस प्रकार इसके तीसरे विश्वयुद्ध के रूप में भड़कने से रोकने की चिंता तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त से बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय संकटों के बीच उन सभी के द्वारा दिखलाया गया आत्म-नियंत्रण युद्ध की ओर प्रवृत्ति में मूल परिवर्तन के प्रभावशाली उदाहरण है। राष्ट्रीय हित की दृष्टि से युद्ध के औचित्य की परवाह किये बिना ही आधुनिक युद्ध में पाश्चात्य जगत् ने निवारक युद्धों की सम्भावना पर गम्भीरतापूर्वक सोचने से इन्कार कर दिया है। उनके द्वारा किये गये इस इन्कार से युद्ध की नैतिक भर्त्सना व्यक्त हुई है। अब युद्ध आवे तो इसे प्राकृतिक विपत्ति अथवा दूसरे राष्ट्र के दुष्कृत्य के रूप में आना चाहिए, किसी की अपनी विदेश नीति द्वारा आयोजित उत्कर्ष के रूप में नहीं। कोई भी युद्ध बिल्कुल नहीं होना चाहिए, इस प्रकार के नैतिक आदर्शों के उल्लंघन द्वारा जनित नैतिक संकोचों को, यदि शान्त किया जा सकता है, तो केवल इसी प्रकार शान्त किया जा सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा पूर्णयुद्ध

इस प्रकार, प्राचीन एव मध्य युगो के बड भाग से विपरीत आधुनिक युग वैदेशिक सम्बन्धो के सचालन पर नैतिक परिसीमायें लगा देता है। यह वही तक सम्भव है, जहा तक व व्यक्तियो अथवा व्यक्तियो के समूहा के जीवन को प्रभावित कर सकती हैं। तथापि मानव समाज की वतमान दशा में कुछ आवश्यक तत्व इन नैतिक परिसीमाओ को निश्चयपूवक निबल बनाने की दिशा में सकेत करते हैं। हमको स्मरण रखना चाहिए कि जीवन के विनाश के सम्बन्ध मे परिसीमाओ की अनुपस्थिति युद्ध काय क पूण स्वरूप क साथ सहवर्ती थी। इसमें समस्त जनसख्यायें एक दूसरे का व्यक्तिगत शत्रु के रूप मे सामना करती थी। हमको यह भी स्मरण रखना चाहिए कि युद्ध म वध के शनै शनै परिसीमन स तथा युद्ध क कुछ परिस्थितियो द्वारा शासित होने से सीमित युद्ध का क्रमिक विकास प्रारम्भ हुआ था जिसमें केवल सेनायें एक दूसरे का क्रियाशील विरोधियो के रूप में सामना करती थी। अर्वाचीन समय म युद्ध के अधिकाधिक मात्रा तथा विभिन्न मामलो मे पूणतया निमम स्वरूप ग्रहण करने के कारण, वध करने पर नैतिक रोक का उत्तरोत्तर कम होने वाली मात्रा मे प्रयोग होता है। वास्तव मे राजनीतिक एव सैनिक नेताओ एव साधारण व्यक्तियो के अन्त करणो में इन नैतिक प्रतिबन्धो का अस्तित्व ही अधिकाधिक अनिश्चित होता जाता है। यह भय बना हुआ है कि कहा ये सदा के लिये समाप्त ही न हो जायें।

हमारे समय में युद्ध चार विभिन्न बातो में पूण हो गया है (1) युद्ध के लिए आवश्यक काय कलापो मे सलग्न जन-सख्या के अश के विचार से (2) युद्ध-सचालन से प्रभावित जन सख्या के अश के विचार से (3) अपने दृढ विश्वासो तथा भावनाओ में युद्ध सचालन से पूण एक्य स्थापित करने वाली जन सख्या के अश के विचार स, तथा (4) युद्ध के ध्येय के विचार से।

सिविलियन जन सख्या के बहुमत के उत्पादक प्रयत्न का समथन प्राप्त वृहत सेनाओ ने पिछली शताब्दियो की सापेक्षतया उन छोटी सेनाओ का स्थान ले लिया है जो राष्ट्रीय उत्पादन के केवल एक छोट भाग का उपभोग करती थी। आज युद्ध के परिणाम के लिए सशस्त्र सेनाओ को रसद पहुचाने की सिविलियन जन-सख्या की सफलता उतनी ही महत्वपूण है जितना स्वय सैनिक प्रयत्न। इसलिए सिविलियन जन सख्या की पराजय (इसक उत्पादन के सकल्प तथा उसकी क्षमता को तोडना) उतनी ही महत्वपूण है जितनी सशस्त्र सेनाओ की पराजय (उनके प्रतिरोध की क्षमता एव सकल्प को तोडना)। इस प्रकार एक विशाल औद्योगिक यत्र स अपने शस्त्र लेने क कारण युद्ध का आधुनिक स्वरूप

सैनिक तथा सिविलियन में अन्तर को मिटा देता है। श्रमिक, इन्जीनियर, वैज्ञानिक सशस्त्र सेनाओं के पास खडे-खडे उत्साह बढाने वाले अनजान दर्शक नही हैं। वे सैनिक सगठन के उतने ही आन्तरिक एव अपरिहार्य भाग हैं, जितने सैनिक, नाविक, तथा वायुसैनिक है। इस प्रकार युद्ध में सलग्न एक आधुनिक राष्ट्र को अपने शत्रु की उत्पादक प्रतिक्रियाओं को विघटित तथा नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। युद्ध की वर्तमान औद्योगिकी उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साधन जुटाती है। आधुनिक युद्ध के लिए सिविलियन उत्पादन के महत्व तथा शत्रु उत्पादन को क्षति पहुचाने में रुचि लेने के महत्व को प्रथम विश्वयुद्ध से ही सामान्यतया मान्यता दी जाती रही है। तथापि, उस समय प्रत्यक्ष रूप से सिविलियन उत्पादक प्रतिक्रियाओं को प्रभावित करने वाले औद्योगिकी के साधन केवल अपनी शैशवावस्था में थे। युद्धकारियो को नाकेबन्दियां तथा पनडुब्बी-युद्ध जैसे परोक्ष साधनों के प्रयोग के लिए विवश होना पड़ता था। केवल विरल रूप से तथा अधिक सफलता के बिना ही वायु-आक्रमणों तथा दीर्घकालीन बमबारी के द्वारा उन्होंने सिविलियन जीवन में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप करने का प्रयत्न किया।

द्वितीय विश्वयुद्ध ने प्रत्यक्ष हस्तक्षेप के पिछले साधनों को एक राष्ट्र की उत्पादन-क्षमता के विनाश का अधिकतम प्रभावशाली साधन बनाया है। सिविलियन जीवन तथा सम्पत्ति के सामूहिक विनाश में रुचि का ऐसे सामूहिक विनाश को सम्पन्न करने की क्षमता के साथ ऐक्य हो गया। यह सम्मिश्रण आधुनिक विश्व के नैतिक दृढ विश्वासो के लिए इतना अधिक सबल रहा है कि वे इसकी टक्कर नही ले सकते। शताब्दी की पहली दशियो के नैतिक विश्वासो को व्यक्त करते हुए विदेशमत्री कार्डेल हल ने 11 जून 1938 को जापान द्वारा कैन्टन पर बमबारी के सन्दर्भ में एक घोषणा की। उसका कहना था कि अमरीकन प्रशासन वायुयानो तथा वायुयानो के शस्त्रो के ऐसे देशो को मदद की मनाही करता है जो नागरिक जन-सख्याओ पर बमबारी में सलग्न थे। प्रेजिडेन्ट रूजवेल्ट ने अपने 2 दिसम्बर, 1939 के भाषण में फिनिश नागरिको पर सोवियत सघ की सैनिक कार्यवाहियो को दृष्टि में रखते हुए एक इसी प्रकार की नैतिक प्रतिबन्ध की घोषणा की। कुछ ही वर्षों उपरान्त सभी युद्धकारी इस प्रकार के व्यवहारो में ऐसे निम्न स्तर पर जा पहुचे कि वे कार्यवाहियां जिनकी अमरीकन राजमर्मज्ञो ने नैतिक आधारो पर निंदा की थी, बहुत छोटी प्रतीत होती थी। वारसा तथा रोटरडम, लदन तथा कवन्टरी, कोलोन तथा न्यूरमबर्ग, हिरोशिमा तथा नागासाकी न केवल युद्ध की आधुनिक औद्योगिकी के विकास में सीढियां हैं, वरन् वे युद्ध की आधुनिक नैतिकता के विकास में भी ऐसे ही हैं।

शत्रु की उत्पादकता के विनाश में राष्ट्रीय हित का अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता पर ह्रासोन्मुखी प्रभाव पड़ा है। यह आधुनिक युद्ध के स्वरूप तथा युद्ध की आधुनिक प्रौद्योगिकी के द्वारा उस हित को सन्तुष्ट करने की सम्भावना के कारण है। आधुनिक युद्ध में युद्ध करने वाली विशाल जन-संख्याओं की युद्ध से भावात्मक समरूपता के कारण यह ह्रास और भी अधिक बढ़ जाता है। सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों के धार्मिक युद्धों के बाद सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों के राजाओं के वंश-परम्परागत युद्धों का युग आया, और चूँकि इस बाद के युद्धों ने उन्नीसवीं तथा प्रारम्भिक बीसवीं शताब्दियों के राष्ट्रीय युद्धों को स्थान दिया, इसलिए हमारे समय में युद्ध सैद्धान्तिक स्वरूप धारण करके धार्मिक प्रकार का होता मालूम पड़ता है। आधुनिक युद्धरत राष्ट्र का नागरिक, अपने अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों के पूर्वजों के विपरीत अपने शासक के यश, अथवा अपने राष्ट्र की एकता, अथवा महानता के लिए युद्ध नहीं करता, वरन् वह एक आदर्श, एक सिद्धान्तों के समूह एक जीवन विधि के लिए धर्मयुद्ध करता है, जिस पर वह सत्य और भलाई का एकाधिकार समझता है। परिणाम-स्वरूप वह सबके विरुद्ध जो झूठे और कुत्सित उद्देश्यों या जीवन-विधियों का अनुसरण करते हैं तब तक युद्ध करता रहता है जब तक उनका अन्त न हो, या वे बिना किसी शर्त के समर्पण न करदें। इन झूठे आदर्शों अथवा जीवन विधियों के विरुद्ध वह युद्ध करता है। चाहे उनकी अभिव्यक्ति किन्हीं लोगों में हो। अतएव युद्धकारी एवं भागहीन सैनिकों युद्धकर्ताओं एवं सिविलियनों के भेद, यदि पूर्णतया विलुप्त नहीं होते, तो एक विशेष भेद के अधीनस्थ हो जाते हैं, जोकि वास्तव में प्रभावकारी है, और वह है सही एवं गलत दर्शन तथा जीवन-विधि के प्रतिनिधियों के बीच का अन्तर।

विरोधी पक्ष के घायल, बीमार, निरस्त्र तथा आत्म-समर्पण करने वाले लोगों को मारने से बचाने, तथा जो केवल सीमा पार के होने के कारण ही शत्रु समझे जाते थे, उनका भी मानव के नाते सम्मान करने का नैतिक कर्त्तव्य अब लुप्त होता जा रहा है। अब इसका स्थान इस नैतिक कर्त्तव्य ने ले लिया है कि बुराई का व्यवहार करने वालों तथा बुराई की मान्यता देने वालों का धरती की सतह पर से सफाया किया जाय और उनको दण्ड दिया जाय।

युद्ध-कार्य की धारणा में मूल परिवर्तन के प्रभाव के अन्तर्गत युद्ध में वध करने की जिन नैतिक परिसीमाओं का हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, द्वितीय विश्वयुद्ध में उनका व्यापक रूप से उल्लंघन हुआ। यही नहीं, युद्धकारियों ने नैतिक आधारों पर बन्दी बनाने से इन्कार करने, बन्दियों को मार डालने, तथा सशस्त्र सेनाओं के सदस्य एवं सिविलियनों की अन्धाधुन्ध हत्या को भी

न्यायसंगत ठहराया। इस प्रकार उन्होंने यदि अपने नैतिक सकोनों को पूर्णतया उतार कर फेंक नहीं दिया, तो उनका शमन अवश्य किया है। इस प्रकार जबकि शान्ति-काल में वध करने पर नैतिक परिसीमायें अधिकतया प्रभावशून्य सिद्ध हुई है। इस विवेचन के लिए यह अधिक महत्वपूर्ण है कि युद्ध की मूलतया परिवर्तित धारणा के प्रभाव के अन्तर्गत नैतिक प्रतिबन्धों में आचरण के नियमों के रूप में दुर्बल हो जाने एवं पूर्णतया लुप्त हो जाने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है।

अर्द्ध-शताब्दी से अधिक पूर्व एक सामान्य आशावाद के युग में एक महान् विद्वान ने इस विकास की सम्भावना को भली प्रकार पहले ही समझ लिया था। उसने इसके तत्वों का भी विश्लेषण किया। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में हेवेल प्रोफैसर, जान वेस्टलेक ने 1894 में लिखा :

"यह कहना लगभग स्वयं-सिद्ध है कि युद्ध का परिसीमन युद्धरत पक्षों की इस भावना पर निर्भर है कि क्रमशः अपने कबीलों अथवा राज्यों से अधिक वृहत समष्टि से सम्बन्धित हैं। यह एक ऐसी समष्टि है जिसमें शत्रु भी समाविष्ट है, ताकि उस वृहत्तर नागरिकता से उद्भूत कर्त्तव्य उसके प्रति भी हो। ऐतिहासिक काल के प्रारम्भ से यूरोप में इस मनोभाव की पूर्णतया कभी कमी नहीं रही। परन्तु उस समष्टि की प्रकृति एवं विस्तार में बड़े उतार चढ़ाव रहे हैं, जिनके प्रति अधिक विस्तृत लगाव को महसूस किया जाता था। हमारे अपने समय में एक विश्व-व्यापी मनोभाव है, स्टोइक्स के राष्ट्र-मण्डल के अनुरूप ही मानवता के राष्ट्र-मण्डल में विश्वास है। परन्तु यह कुछ अधिक सबल है क्योंकि ईसाई धर्म तथा उस पारस्परिक सम्मान के द्वारा जो भूमि तैयार हो गई है, जिसकी शक्ति में लगभग समान एवं सभ्यता में समरूप बड़े राज्य एक दूसरे के प्रति सहानुभूति किये बिना नहीं रह सकते। ऐसे युग आये हैं, जिनमें यह स्तर गिर गया है, और ऐसे एक युग का अवलोकन हमारे विषय से सम्बन्ध रखता है। धार्मिक युद्ध जोकि रिफार्मेशन के पश्चात् हुए अत्यधिक भयानकों में से थे। इनमें मनुष्य के भीतर का पशु सीमायें तोड़कर स्वच्छन्द हो उठा। फिर भी ये युद्ध तुलनात्मक दृष्टि से बुद्धिवादी युग में हुए थे। किसी भी उद्देश्य के लिए उत्साह, चाहे उद्देश्य कितना ही उपयुक्त क्यों न हो, सबसे अधिक सबल एवं भयानक उत्तेजक तत्वों में से एक है। इसके अधीन मानवीय भावावेश हैं, और प्रोटेस्टेंट के साथ प्रोटेस्टेंट तथा कैथौलिक के साथ कैथौलिक के गठबन्धन ने एक अधिक व्यापक रूप में दुर्बल हुए बिना राज्य के प्रति सम्बन्धों को अपनाने के स्थान पर उनको विच्छिन्न कर दिया है, और इस प्रकार मनुष्य के भावावेग पर लगे साधारण प्रतिबन्धों को भी दुर्बल बना दिया है। यह उस समय हुआ जबकि उनकी [illegible] आवश्यकता थी। यदि समाजवाद ने एक मैत्रिक मत

की दृढ़ता तथा शक्ति को प्राप्त कर लिया तथा राज्य की वर्तमान सकल्पना को युद्ध-भूमि मे पाया, तो युद्ध के इस अध पतन की पुनरावृत्ति होती रहेगी। यह सम्भव है कि उस समय हमको युद्ध मे वह अनुज्ञापत्र (लाइसेंस) मिल जावे जो अराजकतावाद हमको शान्ति मे दिखलाता है।"[6]

सार्वभौमिक नैतिकता बनाम राष्ट्रवादी सार्वभौमिकतावाद

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का ह्रास, जोकि हाल के वर्षों में जीवन रक्षा से सम्बन्धित दिखलाई पड़ा है, एक सामान्य, एव चर्चा के अभिप्रायो की दृष्टि से नैतिक व्यवस्था के अत्यधिक दूरगामी विघटन का केवल एक विशेष उदाहरण है। यह नैतिक व्यवस्था अतीत काल मे विदेश नीति के दिन-प्रतिदिन के परिचालनो पर नियत्रण रखती थी, किन्तु ऐसा अब अधिक नही करती। दो तत्वो ने यह विघटन ला दिया है। वे दो तत्व हैं—वैदेशिक मामलो मे कुलीनतत्रीय उत्तरदायित्व के स्थान पर लोकतत्रीय उत्तरदायित्व का प्रतिस्थापन, तथा सार्वभौमिक मानको के लिए कार्यवाही के राष्ट्रवादी मानको का प्रतिस्थापन।

कुलीनतत्रीय अन्तर्राष्ट्रीयता की वैयक्तिक नैतिकता

सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दियो मे तथा कुछ कम मात्रा में प्रथम विश्वयुद्ध तक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता एक वैयक्तिक सम्राट् की चिता थी। यह एक निश्चित वैयक्तिक शासक एव उसके उत्तराधिकारियो की तथा कुलीनतत्रीय शासको के एक सापेक्षतया छोटे, सगठित, सजातीय समूह की चिता थी। एक विशेष राष्ट्र के राजा तथा कुलीनतत्रीय शासको का दूसरे राष्ट्रो के राजाओ एव कुलीनतत्रीय शासको के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। वे पारिवारिक सम्बन्ध-सूत्रो से सम्बद्ध थे। वे पारिवारिक सम्बन्ध-सूत्र थे एक सामान्य भाषा (फ्रेंच), सामान्य सास्कृतिक मूल्य, सामान्य जीवन-पद्धति, एव वे सामान्य नैतिक विश्वास, जो एक भद्र पुरुष के स्वदेश या विदेश के भद्र पुरुष के प्रति आचरण के औचित्य और अनौचित्य को निर्धारित करते थे। शक्ति के लिए प्रतियोगी शासक अपने को एक खेल मे प्रतियोगी समझते थे, जिसके नियम सभी दूसरे प्रतियोगियो को मान्य थे। उनकी राजनयिक एव सैनिक सेवाओ के सदस्य अपने को कर्मचारी समझते थे। ये या तो जन्म की आकस्मिकता से (क्योकि ये, सदैव तो नही, किन्तु बहुधा, राजा के प्रति व्यक्तिगत आस्था से सबलित होते थे)। अथवा राजा द्वारा दिये गए वेतन, प्रभाव एव यश के वचन के कारण उसकी सेवा करते थे।

6. Chapters on the Principles of International Law (Cambridge: Cambridge University Press, 1894), pp. 267 ff.

भौतिक लाभ प्राप्ति की इच्छा विशेषतया इस कुलीनतन्त्रीय समाज के लिए सामान्य गठबन्धन प्रदान करती थी, जोकि राजवंशीय अथवा राष्ट्रीय निष्ठा की शृंखलाओं से अधिक सबल था। इस प्रकार एक सरकार के लिए विदेश मन्त्री अथवा राजनयज्ञ को एक अवकाशवृत्ति (पेंशन) अर्थात् उत्कोच देना उचित एवं सामान्य था। ऐलिजाबेथ के मन्त्री लार्ड राबर्ट सेसिल को यह स्पेन से मिली थी। सत्रहवीं शताब्दी में वेनिस स्थित ब्रिटिश राजदूत ने स्पेन से मांगने पर इसे सवोय से स्वीकार किया था। जिन प्रलेखों को 1793 में फ्रांसीसी क्रान्तिकारी सरकार ने प्रकाशित किया था, उनसे प्रकट होता है कि 1757 तथा 1769 के बीच फ्रांस ने आस्ट्रियाई राजमर्मज्ञों की 82,652,479 लिवर्स की राशि से धन-रूप में सहायता की। इसमें से आस्ट्रियाई चान्सलर कानिट्ज को 100,000 मिला। सन्धियों के करने में सहयोग देने के लिए विदेशी राजमर्मज्ञों का आर्थिक मुआवजा भी न तो अनुचित ही समझा जाता था और न अव्यावहारिक समझा जाता था। 1716 में फ्रान्सीसी कार्डिनल डूबआ ने ब्रिटिश-मन्त्री स्टेनहाप को फ्रांस के साथ सन्धि के लिए 600,000 लिवर्स देने का प्रस्ताव किया था। उसने कहा है कि यद्यपि स्टेनहाप ने उस समय प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया, किन्तु उसने बिना रुष्ट हुए इसे अनुग्रहपूर्ण ढंग से सुना। 1795 की बेसिल की सन्धि द्वारा प्रशिया ने फ्रान्स के विरुद्ध युद्ध से अपने को अलग कर लिया। इसके लिए प्रशियन मन्त्री हार्डनबर्ग को 30,000 फ्रैंक की मूल्यवान वस्तुयें मिलीं। फिर भी उसने उपहार की तुच्छता की शिकायत की। 1801 में बेडन के मारग्रेव ने 'राजनयिक उपहारों' के रूप में 500,000 फ्रैंक व्यय किए, जिसमें से फ्रान्सीसी विदेश मन्त्री टलीरां को 150,000 मिले। प्रारम्भ में उसको केवल 100,000 देने का विचार था, परन्तु यह मालूम हो चुकने पर कि उसे प्रशिया से 66,000 फ्रैंक के मूल्य का स्नफबाक्स तथा साथ ही 100,000 फ्रैंक नकद मिला है, इस धन-राशि को बढ़ा दिया गया।

पेरिस-स्थित प्रशियन राजदूत ने इस खेल में मुख्य भूमिका का भली प्रकार निर्वाह किया। उसने 1802 में अपनी सरकार को प्रतिवेदन किया "अनुभव ने प्रत्येक व्यक्ति को, जोकि यहां राजनयिक कार्य पर है, सिखला दिया है कि सौदे के निश्चयपूर्वक बन्द हो चुकने से पहले किसी को कुछ नहीं देना चाहिए। परन्तु यह भी सिद्ध हो चुका है कि लाभ का प्रलोभन बहुधा आश्चर्यजनक कार्य कर देगा।"

ऐसे लेन-देन में भाग लेने वाले राजमर्मज्ञों से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे उस देश के हित में भावावेश के साथ निरत रहेंगे, जिसके हित उनके हाथ में थे। स्पष्टतया उनकी निष्ठायें उनको नियुक्त करने वाले

उस देश के अतिरिक्त एव ऊपर भी थी। इसके अतिरिक्त, सन्धि हो चुकने पर भौतिक लाभ की प्रत्याशा बातचीत को शीघ्र निबटाने के लिए बड़ा प्रोत्साहन थी। ऐसे राजमर्मज्ञो को जिनका सन्धियो के होने में वैयक्तिक लाभ सन्निहित था, रुकावटें, अनिश्चित काल के लिए स्थगन, तथा अधिक समय तक चलने वाले युद्ध प्रिय नही हो सकते थे। इन दो बातो मे राज्य-सचालन कला के सत्रहवी एव अठारहवी शताब्दियो में वाणिज्यीकरण से निश्चयपूर्वक ही आशा की जा सकती थी कि वह अन्तर्राष्ट्रीय विवादो की धारो को कुण्ठित बना देगा, तथा व्यक्तिगत राष्ट्रो की शक्ति की अभिलाषाओ को सापेक्षतया तग सीमाओ में बद्ध कर देगा।

इतिहास के उस काल में फ्रास में आस्ट्रियाई राजदूत अपने सहयोगी अकुलीन देशभक्तो की तुलना में वर्साय के दरबार मे अधिक प्रसन्न अनुभव करता था। सामान्य उद्भव के आस्ट्रियाइयो की तुलना में उसकी फ्रासीसी कुलीनतत्र तथा राजनयिक कोर के अन्य कुलीन सदस्यो के साथ अधिक निकट सामाजिक एव नैतिक सम्बन्ध थे। 1757 में, कोम्ट डस्टेनविल पेरिस में आस्ट्रियाई दूत था, जबकि उसका पुत्र जोकि बाद मे (ड्यूक ड चोआसल के नाम से) लुई 15वें का प्रधान-मत्री बना, वियना के दरबार मे फ्रासीसी राजदूत था। उसी समय दूसरा पुत्र हगरी की क्रोट रेजीमेण्ट में मेजर था। यह आश्चर्य की बात नही कि इन परिस्थितियो मे राजनयिक तथा सैनिक कर्मचारी एक राजकीय स्वामी से दूसरे की ओर पर्याप्त मात्रा मे डावाडोल होते थे। यह दुर्लभ नही था कि एक फ्रासीसी राजनयज्ञ अथवा अधिकारी, स्वार्थ के कारण प्रशिया के राजा की नौकरी में चला जाय। वह फ्रास के विरुद्ध प्रशिया के हित को आगे बढावेगा अथवा प्रशियन सेना मे सम्मिलित होकर युद्ध मे भाग लेगा। उदाहरणार्थ, अठारहवी शताब्दी मे रूसी सरकार की सभी शाखाओ मे जर्मनो का भारी सख्या मे आगमन हुआ। इनमें से बहुतसो को एक प्रकार के शुद्धिकरण में पदच्युत कर दिया गया और वे अपने उद्भव के देशो को लौट आए।

1765 में, सप्तवर्षीय युद्ध के कुछ ही पूर्व, फ्रेडरिक महान ने स्कॉटिश अर्ल मेरीशल को स्पेन के इरादो का पता लगाने के लिए, अपना राजदूत बनाकर स्पेन भेजा। प्रशिया के स्कॉटिश राजदूत का स्पेन मे एक वाल नाम का आयरिश पुरुष मित्र था। वह स्पेन का विदेश-मत्री था। वाल ने मेरीशल को वह सब कुछ बतला दिया, जो भी वह जानना चाहता था। स्कॉट ने इस सूचना को ब्रिटिश प्रधान-मत्री को दिया जिसने इसे प्रशिया के राजा को पहुचा दिया। यहाँ तक कि सन् 1792 तक भी फ्रास के विरुद्ध पहले सहमिलन के युद्ध के प्रारम्भ के कुछ ही पहले, फ्रान्सीसी सरकार ने फ्रान्सीसी सेनाओ के सर्वोच्च

कमान को ड्यूक ग्राफ ब्रून्सविक को सौंपने का प्रस्ताव रखा। फिर भी उसने फ्रांस के विरुद्ध प्रशियन सेना के संचालन के प्रशिया के राजा के प्रस्ताव को स्वीकार करने का निश्चय किया। 1815 तक, वियना सम्मेलन में रूस के अलेक्जेन्डर प्रथम के पास मन्त्रियों एवं वैदेशिक मामलों पर सलाहकारों के रूप में, दो जर्मन, एक यूनानी एक कॉर्सिकन, एक स्विस, एक पोल, तथा एक रूसी था। और फ्रांस का भूतपूर्व प्रधानमंत्री ग्वीजो उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में लिख सका

"यूरोपीय लोक समाज में व्यावसायिक राजनयज्ञ अपना एक निजी समाज बनाते है। यह समाज अपने निजी सिद्धान्तों, रीति-रिवाजों, सामर्थ्यों तथा अभिलाषाओं से जीवित है, और राज्यों में मतभेदों तथा द्वन्द्वों के बीच भी अपनी शान्ति एवं स्थायी एकता बनाये है। राष्ट्रों के पृथक हितों से, न कि उनके पूर्वग्रहों अथवा क्षणिक भावावेगों से, प्रेरित होकर यह राजनयिक संसार उस महान् यूरोपीय समुदाय के सामान्य हितों को पर्याप्त स्पष्टता के साथ भली प्रकार पहचान सकता है। वह मतभेदों पर विजयी बनाने के लिये उसे पर्याप्त शक्ति से भर देता है। ऐसा यह उन लोगों को विजयी बनाने के लिए करता है जिन्होंने अधिक समय तक आपस में झगड़ा किए बिना लम्बे समय तक विभिन्न नीतियों की पुष्टि की है, तथा जिन्होंने उसी नीति की सफलता के लिए निश्छल काम करने के लिए लगभग सदा समान वातावरण एवं स्थितियों में भाग लिया है।"[7]

1862 में रूस-स्थित प्रशियन राजदूत के रूप में अपने प्रत्यावर्तन के अवसर पर बिस्मार्क का अनुभव कुलीनतन्त्र की इस अन्तर्राष्ट्रीय संयुक्तता के आग्रह की दृष्टि से सार्थक है। जब उसने सैंट पीटर्सबर्ग छोड़ने की आवश्यकता पर ज़ार के सम्मुख अपना खेद प्रकट किया तो इस कथन के अभिप्राय को गलत समझ कर ज़ार ने बिस्मार्क से पूछा कि क्या वह रूसी राजनयिक सेवा में सम्मिलित होने के लिए तैयार था। बिस्मार्क ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि उसने इस प्रस्ताव को "नम्रता से"[8] ठुकरा दिया। हमारे विवेचन के उद्देश्य से जो आवश्यक एवं महत्वपूर्ण बात है, वह यह नहीं है कि बिस्मार्क ने प्रस्ताव ठुकरा दिया। ऐसे बहुत प्रस्ताव पहले तथा कुछ उसके बाद भी ठुकराये गये हैं। किन्तु यह महत्वपूर्ण है कि उसने यह कार्य नम्रता से किया, तथा घटना के तीस वर्ष

7 Mémoires (Brussels, 1858 67), Vol II, pp 266-67,

8 Bismarck, the Man and Statesman, being the Reflections and Reminiscences of Otto, Prince von Bismarck (New York and London : Harper and Brothers, 1899), Vol. I, p. 341.

बाद दिये गये उसके विवरण में नैतिक रोष लेशमात्र भी नहीं दिखाई पड़ता। अर्द्ध-शताब्दी से कुछ ही अधिक पूर्व जब एक राजनयिक के समक्ष जो कि हाल ही प्रधान-मन्त्री नियुक्त हुआ था अपनी निष्ठा को एक राज्य से दूसरे की ओर बदलने के लिए प्रस्ताव रखा गया, तो उसने इसे एक व्यावसायिक प्रस्ताव के रूप में ही समझा। ऐसे कार्य को नैतिक मानकों के उल्लंघन का उकसाने वाला बिल्कुल भी नहीं समझा गया।

यदि हम कल्पना करें कि हमारे समय में एक ऐसा ही प्रस्ताव रूसी प्रधान-मन्त्री की ओर से अमरीकी राजदूत अथवा अमरीकन राष्ट्रपति द्वारा वाशिंगटन में प्रस्थापित किसी राजनयज्ञ के समक्ष रखा गया होता तो ऐसी घटना के बाद सम्बद्ध व्यक्ति को कितना वैयक्तिक खेद तथा सार्वजनिक रोष सहना पड़ता। इसकी कल्पना करें तो हमको आधुनिक समयों में विदेश नीति की नैतिकता में कायापलट करने वाले परिवर्तन की गम्भीरता का अनुमान हो जाता है। आज ऐसा प्रस्ताव देश-द्रोह का निमंत्रण समझा जावेगा, अर्थात्, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में नैतिक दायित्वों में सबसे अधिक मूलभूत दायित्व अपने देश के प्रति निष्ठा का उल्लंघन होगा। उन्नीसवीं शताब्दी के समाप्त होने से कुछ ही पूर्व यह होना था। जब इसका विवरण मिलता था, उस समय यह ऐसा प्रस्ताव समझा जाता था, जिसको किसी नैतिक औचित्य के अभाव का ध्यान किए बिना, अपने गुणानुसार स्वीकृत अथवा अस्वीकृत किया जा सकता था।

आचरण के नैतिक मानक जिनके अनुरूप अन्तर्राष्ट्रीय कुलीन वर्ग व्यवहार करता था आवश्यक रूप से अनिराष्ट्रीय स्वरूप वाले होते थे। वे सभी प्रशियनों, आस्ट्रियाइयों, अथवा फ्रान्सीसियों के लिए ही प्रयुक्त नहीं होते थे, वरन् सभी मनुष्यों के लिए, जोकि अपने जन्म एवं शिक्षा के कारण उनको समझने में तथा उनके अनुसार कार्य करने में समर्थ थे। यह प्राकृतिक विधि की अवधारणा एवं नियमों में ही था कि इस सार्वदेशीय समाज को अपनी नैतिकता के आदेशों का स्रोत मिल गया। इसलिए समाज के व्यक्तिगत सदस्य आचरण के नैतिक नियमों के पालन के लिए, अपने आपको व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी समझते थे। इस नैतिक संहिता के अनुपालन की प्रत्याशा व्यक्ति होने के नाते अथवा बौद्धिक प्राणियों के रूप में ही की जाती थी। जब लुई 15वें को यह सुझाव दिया गया कि वह बैंक आफ इंग्लैंड के बिलों को कूटकरण करे, तो राजा ने ऐसे प्रस्ताव को जिस पर "यहां केवल उन सभी उचित घृणा एवं भय के साथ विचार किया जा सकता था" ठुकरा दिया। जब लुई 16वें को बचाने के लिए एक इसी प्रकार का प्रस्ताव 1782 में फ्रान्सीसी मुद्रा के सम्बन्ध में किया गया तो आस्ट्रिया के सम्राट फ्रान्सिस द्वितीय ने घोषणा की थी कि "ऐसी लज्जाजनक योजना स्वीकृत नहीं की जा सकती"।

दूसरे देशों मे विदेश नीति के सरक्षको की अपने सहयोगियो के प्रति एक उच्च व्यक्तिगत नैतिक दायित्व की भावना रही है। यह भावना इस बात को स्पष्ट करती है जिसके कारण सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दियो के लेखक राजा को अपने "सम्मान" तथा अपनी "ख्याति" की अत्यधिक मूल्यवान सम्पत्ति के रूप में रक्षा करने का सशक्त शब्दो मे परामर्श देते थे। अन्तर्राष्ट्रीय मच पर जो कार्य लुई 15वाँ करता था, वह उसका व्यक्तिगत कार्य था, जिसमे उसके नैतिक उत्तरदायित्व की व्यक्तिगत भावना अपने आपको प्रकट करती थी। इसलिए इसमे इसका, व्यक्तिगत सम्मान सम्मिलित था। अपने सहयोगी सम्राटो द्वारा मान्य अपने नैतिक दायित्वो का उल्लघन उसकी अपनी ही चेतना को विचलित नही करता वरन् कुलीनतन्त्रीय समाज की रचना भाविक प्रतिक्रियाओ को भी विचलित कर देता, जिसका मूल्य उसे अपनी प्रतिष्ठा की हानि के रूप मे चुकाना पड़ता और उसका अर्थ होता शक्ति की हानि।

अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का विनाश

उन्नीसवी शताब्दी में सरकारी अधिकारियो के लोकतत्रीय चुनाव एव उत्तरदायित्व ने कुलीन वर्ग के शासन का स्थान प्राप्त किया। तब से अन्तर्राष्ट्रीय समाज तथा, इसके साथ अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के ढाँचे मे एक मूल परिवर्तन हो गया। वस्तुत उन्नीसवी शताब्दी के अन्त तक, कुलीनतत्रीय शासक बहुत से देशो मे वैदेशिक मामलो के सचालन के लिए उत्तरदायी थे। नए युग में वर्ग-भेदो की चिन्ता न करके उनका स्थान निर्वाचित अथवा नियुक्त अधिकारियो द्वारा ले लिया गया है। ये अधिकारी अपने पद-सम्बन्धी कार्यों के लिए राजा (अर्थात्, एक विशिष्ट व्यक्ति) के प्रति उत्तरदायी नही है, वरन्, वे एक सामूहिकता (अर्थात्, ससदीय बहुमत अथवा समस्त जनता) के प्रति उत्तरदायी हैं। लोकमत में कोई आवश्यक परिवर्तन विदेश नीति के बनाने वाले अधिकारियो में सरलता से परिवर्तन ला सकता है। उस समय प्रबल जन-सख्या के किसी भी समूह से लिए गए व्यक्तियो का समूह उनका स्थान लेगा।

सरकारी अधिकारी अब केवल कुलीनवर्गीय समूहो से ही नही लिए जाते, वरन् वस्तुत समस्त जनसख्या से लिए जाते हैं। वास्तव में, सयुक्तराज्य की परम्परा रही है, तथापि, यह ग्रेटब्रिटेन तथा सोवियत सघ जैसे देशो में अद्वितीय है। यातायात तथा सामान्य श्रमिको के जनसघ के भूतपूर्व महामन्त्री मिस्टर बेविन 1945 में ब्रिटिश विदेश-मत्री होगए। एक भूतपूर्व व्यावसायिक क्रान्तिकारी मिस्टर मोलोतोव बहुत वर्षों तक रूसी विदेश नीति के लिए उत्तरदायी थे।

ग्रेटब्रिटेन, फ्रान्स, अथवा इटली जैसे देशो में पद पर रहने के लिए सरकार को ससद के बहुमत के समर्थन की आवश्यकता है। वहा ससदीय बहुमत

में कोई भी परिवर्तन सरकार के सगठन में परिवर्तन को आवश्यक बना देता है। संयुक्त राज्य जैसे देश में भी, जहा कांग्रेस के स्थान पर केवल आम चुनाव ही किसी प्रशासन को पदस्थ अथवा अपदस्थ कर सकते हैं विदेश विभाग में नीति निर्धारकों में बहुत उलट-फेर हुआ है। जुलाई 1945 से जनवरी 1947 तक अठारह महीनों के भीतर संयुक्तराज्य में तीन विदेश मंत्री हुए। विदेश विभाग के सभी नीति-निर्धारक अधिकारियों में जो अक्तूबर 1945 में पद पर थे, कोई भी दो वर्ष उपरान्त पद पर न था। इन अधिकारियों में उपमंत्री तथा सहायक मंत्री भी थे। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में नीति-निर्धारकों के उलटफेर का तथा एक सामूहिक सत्ता के प्रति उनके उत्तरदायित्व का एक अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक व्यवस्था की प्रभावोत्पादकता पर ही नहीं, उसके अस्तित्व भर के लिए भी महत्वपूर्ण परिणाम निकलता है।

व्यक्तिगत राष्ट्रों की कायापलट ने अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता को नैतिक अवरोधों की व्यवस्था के रूप में वास्तविकता से केवलमात्र एक आलंकारिक रूप में बदल दिया है। जब हम कहते हैं कि इग्लैंड के जार्ज तृतीय, फ्रान्स के लुई सोलहवें, अथवा रूस की कैथराइन महान के साथ, अपने सम्बन्धों में कुछ नैतिक अवरोधों के अधीन थे, तो हम किसी वास्तविक वस्तु की ओर संकेत कर रहे हैं। यह कुछ वस्तु है, जिसका कुछ विशिष्ट व्यक्तियों की सदाचार की भावना तथा कार्यों में समानता की जा सकती है। जब हम कहते हैं कि ब्रिटिश राष्ट्रमंडल, अथवा अकेले ग्रेटब्रिटेन के भी संयुक्तराज्य अथवा फ्रांस के प्रति नैतिक दायित्व हैं, तो हम एक कल्पना का प्रयोग कर रहे हैं। इस कल्पना के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विधि राष्ट्रों के साथ ऐसे व्यवहार करती है, मानो वे अलग अलग व्यक्ति हों। परन्तु नैतिक दायित्व के क्षेत्र में ऐसी नैतिक विचारधारा के कुछ भी अनुरूप नहीं है। जो कुछ ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल तथा ग्रेट ब्रिटेन के संविधानी प्रधान के रूप में राजा की अन्तश्चेतना ग्रेट ब्रिटेन तथा राष्ट्रमंडल के वैदेशिक मामलों के संचालन के विषय में आवश्यक समझती है वह उन मामलों के संचालन के लिए असंगत होता है। कारण यह है कि राजा उन मामलों के लिए उत्तरदायी नहीं होता है, तथा इसका उन पर कोई वास्तविक प्रभाव नहीं होता है। ग्रेट ब्रिटेन तथा इसके साम्राज्यों के प्रधानमंत्रियों तथा विदेशमंत्रियों के विषय में क्या कहा जाय? वे केवल मंत्रि-परिषद् के सदस्य होते हैं, जोकि सामूहिक निकाय के रूप में किसी अन्य नीति की भांति विदेश नीति का साधारण बहुमत से निर्धारण करते हैं। मंत्रि-परिषद् सामूहिक रूप से बहुमत दल के प्रति राजनैतिक रूप से उत्तरदायी होती है। यह मंत्रि-परिषद् बहुमत दल के निर्णयों को राजनीतिक कार्य के रूप में परिणत करती है। यह वैध रूप से संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। संविधानी ढंग से कहा जाय तो यह केवल उसकी एक समिति है। तथापि, संसद मतदाताओं के प्रति उत्तरदायी

होती है। इनसे ही इसको शासन करने का आदेश मिला है तथा इनसे ही इसके व्यक्तिगत सदस्य अगले आम चुनाव में आदेश पाने की आशा करते हैं।

यह हो सकता है कि मतदाता-वर्ग के व्यक्तिगत सदस्यों के, अन्तर्राष्ट्रीय प्रकार के दृढ़ नैतिक विश्वास तनिक भी न हो, ये नैतिक विश्वास निर्वाचन के दिनों के दौरान उनके कार्यों को निर्धारित करते हैं। यदि उनके ऐसे दृढ़ विश्वास हुए भी तो वे बहुत ही विषम और भिन्न-भिन्न होंगे। दूसरे शब्दों में, वहां व दृढ़ विश्वास होंगे जोकि उस नैतिक सूत्र के अनुसार कार्य करते हैं, जोकि "ठीक या गलत—मेरा देश है"। वहां दृढ़ विश्वास होंगे जो अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के सम्बन्ध में अपने कार्यों के लिए तथा सरकार के कार्यों के लिए ईसाई नीति-शास्त्र के मानक का प्रयोग करते हैं। वहां कुछ दृढ़ विश्वास होंगे जोकि संयुक्त राष्ट्र के, अथवा विश्व सरकार के, अथवा मानवतावादी नीतिशास्त्र के मान का प्रयोग करते हैं। नीति निर्धारण करने वाले समूह के घटते-बढ़ते सदस्य अथवा विदेश-मन्त्रालय की स्थाई नौकरशाही मत के इन, और इनके अनुरूप भागों को प्रतिबिम्बित कर सकें अथवा भले ही न कर सके। किसी भी मामले में, आचरण के नैतिक नियम को एक वैयक्तिक अन्तर्विवेक की आवश्यकता है, जिससे यह उद्भूत होना है कि वहां कोई ऐसा वैयक्तिक अन्तर्विवेक नहीं है, जिससे वह नैतिकता उद्भूत हो सके, जिसे हम ग्रेट ब्रिटेन की अथवा किसी अन्य राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता कहते हैं।

विदेश नीति के अपने संचालन में कोई राजमर्मज्ञ अपने अन्तर्विवेक के आदेशों का अनुसरण कर सकता है। यदि वह ऐसा करता है तो एक व्यक्ति के नाते ही ये नैतिक दृढ़ विश्वास उसके साथ जोड़े जाते हैं। यह उस राष्ट्र के नहीं ठहराये जा सकते जिससे वह सम्बन्ध रखता है, तथा जिसके नाम में वह वास्तव में बोलता भी है। इस प्रकार, जब लार्ड मॉरले तथा जॉन बर्न्स ने अनुभव किया कि प्रथम विश्वयुद्ध में ग्रेटब्रिटेन का भाग लेना उनके नैतिक दृढ़-विश्वासों से मेल नहीं खाता है, तो उन्होंने ब्रिटिश मन्त्रि-परिषद् से त्यागपत्र दे दिया। यह उनका वैयक्तिक कार्य था तथा वे उनके वैयक्तिक दृढ़ विश्वास थे। उसी समय जब जर्मन चान्सलर ने जर्मन सरकार के प्रधान के रूप में बेल्जियम की तटस्थता के उल्लंघन की अवैधता एवं अनैतिकता स्वीकार की, जो आवश्यकतावश न्याय-संगत भी ठहरती थी, तो वह केवल अपनी ओर से ही बोलता था। उसके अन्तःकरण की आवाज का सम्पूर्ण जर्मनी में ऐसा साम्य किया ही गया था। जिन नैतिक सिद्धान्तों से द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी-समर्थक विदेशी शासन के विदेश-मन्त्री एवं प्रधान-मन्त्री के रूप में उसने मार्ग-निर्देशन किया, वे उसके सिद्धान्त थे, फ्रान्स के नहीं। कोई भी इस बात का झूठा दिखावा नहीं करता था कि बाद की बात सही थी।

नैतिक नियम व्यक्तिगत मनुष्यों के अन्त करणों में क्रियाशील रहते हैं। स्पष्ट रूप से शिनाख्त होने योग्य मनुष्यों द्वारा शासन, इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता की प्रभावशील व्यवस्था के अस्तित्व के लिए पूर्वशर्त है। ऐसे लोग अपने कार्यों के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी ठहराये जा सकते हैं। जहां शासन का उत्तरदायित्व अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में नैतिक दृष्टि से क्या आवश्यक है इसकी भिन्न धारणाओं वाले अथवा ऐसी धारणाओं से पूर्णतया रहित बहुत-से व्यक्तियों के बीच वितरित होता है, वहाँ अन्तर्राष्ट्रीय नीति पर प्रभावकारी अवरोधों के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता असम्भव हो जाती है। यह इसी कारणवश है कि डीन रास्को पाउन्ड 1923 जितने पहले कह सका "यह दिखावटी ढंग से मान्य ठहराया जा सकता है कि एक नैतिक-व्यवस्था का राज्यों में प्राप्त होना अठारहवीं शताब्दी के मध्य में आज की तुलना में अधिक सम्भव था।"[9]

अन्तर्राष्ट्रीय समाज का विनाश

जबकि लोकतन्त्रीय चयन तथा सरकारी अधिकारियों ने अवरोधों की एक प्रभावशाली व्यवस्था के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता का विनाश किया, राष्ट्रवाद ने स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय समाज को नष्ट कर दिया। इस समाज में होकर नैतिकता परिचालित हुई थी। 1789 की फ्रांसीसी क्रान्ति इतिहास के नये युग का प्रारम्भ करती है, जोकि सार्वदेशीय कुलीनतन्त्रीय समाज तथा विदेश नीति पर इसकी नैतिकता के प्रतिबन्धक प्रभाव के क्रमिक पतन का साक्षी है। प्रो० जी० पी० गूच ने कहा है :

"जबकि देशप्रेम उतना ही पुरातन है जितनी मानव की पारस्परिक साहचर्य की प्रवृत्ति, राष्ट्रवाद एक स्पष्ट मत के रूप में फ्रांसीसी विद्रोह के ज्वालामुखी की लपटों से निकला है। युद्ध का ज्वार वामी (Valmy) में पलट गया, और भिड़न्त के पश्चात् सध्या को गटे ने ऐतिहासिक शब्दों में अपने मत देने के अनुरोध के उत्तर में कहा "आज से एक नया युग प्रारम्भ होता है, और आप यह कह सकेंगे कि हम इसके जन्म के समय उपस्थित थे।"[10]

पुरानी व्यवस्था के साहसपूर्वक प्रतिरोध के साथ, यह विनाश की मन्द प्रक्रिया थी। यह धार्मिक सश्रय तथा ऊपर विवेचित 1862 जितने हाल की रूसी जार द्वारा बिस्मार्क को रूसी राजनयिक सेवा में प्रवेश करने के लिए आमन्त्रित

9 "Philosophical Theory and International Law" Bibliotheca Visseriana, Vol I (Leyden 1923), p 74.

10. Studies in Diplomacy and Statecraft (London, New York, Toronto Longmans, Green and Company, 1942), pp. 300, 301

करने की घटना जैसी अन्य घटनाओं द्वारा निर्देशित है। तथापि जिस अन्तर्राष्ट्रीय समाज तथा ईसाई जगत के राजाओं तथा कुलीन वर्ग को सगठित कर दिया था, उसका पतन उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में सुस्पष्ट है। यह पतन अन्यत्र कहीं भी इतना कष्टपूर्ण नहीं हुआ, जितना कि इसको रोकने की दिशा में विलियम द्वितीय के मौखिक प्रयत्नों के नाटकीय खोखलेपन में हुआ था। फ्रांसीसियों के सम्बन्ध में उसने 1895 में रूसी जार को लिखा था :

"गणतन्त्रवादी स्वभाव से ही क्रान्तिकारी हैं। सम्राट एव सम्राज्ञी की हत्या का पाप उस देश पर अब भी है। क्या यह तब से कभी फिर प्रसन्न अथवा शान्त रहा है ? क्या यह रक्तपात से रक्तपात की ओर मारामारा नहीं फिरा है ? निकी, मेरा विश्वास है कि ईश्वर का प्रकोप सदैव के लिए इस राष्ट्र पर आ गया है। हम ईसाई राजाओं तथा सम्राटों पर ईश्वर द्वारा एक पवित्र कर्त्तव्य आरोपित किया गया है, वह ईश्वर के अनुग्रह के सिद्धान्त की रक्षा करना है।"

अमरीकी गणतन्त्र के विरुद्ध स्पेनिश राजतन्त्र के समर्थन में यूरोपीय शक्तियों के एकीकरण की विलियम द्वितीय द्वारा स्पेनिश-अमरीकी युद्ध के ठीक पूर्व सोची गई—मृतजात योजनाओं के काल-दोष ने उसके परामर्शदाताओं को निराश कर दिया।

परन्तु 1914 में भी प्रथम विश्वयुद्ध के ठीक पूर्व, राजमर्मज्ञों तथा राजनयज्ञों के बहुत से कथनों तथा राजमर्मज्ञों एव राजनयज्ञों के प्रेषणों में भी खेद का एक विषादपूर्ण स्वर निहित है। वह यह है कि जिन व्यक्तियों में इतना सब कुछ सामान्य था, उन्हें अब अलग होने के लिए तथा सीमाओं के विभिन्न और युद्धकारी समूहों के साथ अपने को एकान्वित करने के लिए विवश होना पड़ रहा था। तथापि यह केवल एक क्षीण सस्मृति थी, जिसमें मनुष्यों के कार्यों को प्रभावित करने की शक्ति अब और नहीं बची थी। अब, इन लोगों का क्रमश उन लोगों की अपेक्षा आपस में प्रकृति की दृष्टि से कम साम्य था, जिन लोगों के बीच से वे शक्ति की ऊचाइयों पर पहुचे थे, तथा जिनकी इच्छा एव हितों का दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों में प्रतिनिधित्व करते थे। फ्रान्सीसी विदेश मत्री को बर्लिन में जर्मन विदेश-मत्री से अलग करने वाले तत्व से अधिक आवश्यक वह तत्व था जो उन्हें एक करता था। इसके विपरीत यों कह सकते हैं कि जो फ्रान्सीसी विदेशमत्री को फ्रान्सीसी राष्ट्र के साथ एक किए था, वह उससे बहुत अधिक आवश्यक था, जोकि उसको इससे अलग कर सकता था। जिससे सभी विभिन्न युद्धकारी समूह सम्बन्ध रखते थे, तथा जो विभिन्न राष्ट्रीय समाजों को एक सामान्य ढाचा प्रस्तुत करता था, उस अतर्राष्ट्रीय समाज का स्थान स्वय राष्ट्रीय समाजों ने ले लिया था। राष्ट्रीय समाज अतर्राष्ट्रीय मच पर अपने प्रतिनिधियों

को वे आचरण के मानक देता था, जिन्हे अन्तर्राष्ट्रीय समाज पहले प्रस्तुत कर चुका था।

उन्नीसवी शताब्दी के दौरान मे कुलीनतन्त्रीय अन्तर्राष्ट्रीय समाज का अपने राष्ट्रीय खण्डो मे विभक्त होने का कार्य अपनी निष्पत्ति की ओर भली-भाति चल रहा था। तब राष्ट्रवाद के प्रनियोगियो को विश्वास था कि यह विकास अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता के बन्धनो को दुर्बल बनाने के स्थान पर सबल बना देगा। उन्हे विश्वास था कि ज्योही स्वाधीन किए गए लोगो की अभिलाषाये पूर्ण हो गई तथा कुलीनतन्त्रीय शासन का स्थान लोकतन्त्रीय शासन ने ले लिया, पृथ्वी के राष्ट्रो को कोई विभाजित नही कर सकता था। वे एक ही मानवता के सदस्य होने के विषय मे सचेत होने के कारण तथा स्वतन्त्रता, सहनशीलता, शान्ति से एकरसता के साथ अपने राष्ट्रीय भाग्यो का अनुगमन करेगे। वास्तव मे एक बार अपने राष्ट्रीय राज्यो मे सफल हो जाने पर यह राष्ट्रवाद की भावना सार्वभौमिक तथा मानवतावादी प्रतीत नही होनी थी। इसके विपरीत वह विशिष्टतापूर्ण तथा पृथक् प्रतीत होती थी। जब सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दियो का अन्तर्राष्ट्रीय समाज नष्ट हो गया, तो यह स्पष्ट हो गया कि उस एकीकृत करने तथा अवरोध लगाने वाले तत्व का, जोकि विशिष्ट राष्ट्रीय समाजो पर अध्यारोपित एक वास्तविक समाज रहा था, स्थान लेने वाला कोई नही था। समाजवाद के झडे के नीचे श्रमिक वर्ग का अतर्राष्ट्रीय मतैक्य एक भ्रम सिद्ध हुआ। सगठित धर्म राष्ट्रीय राज्य के स्तर से ऊपर उठने के स्थान पर उसके साथ ऐक्य स्थापित करता प्रतीत होता था। इस प्रकार व्यक्ति की निष्ठा के सम्बन्ध मे राष्ट्र चरम-बिन्दु बन गया। यही नही, विभिन्न राष्ट्रो के सभी सदस्यो की निष्ठा के अपने विशेष प्रयोजन थे।

हमको लार्ड कीन्स के क्लेमासो के शब्दो मे राष्ट्रवाद की इस नई नैतिकता का सजीव एव विशद चित्रण मिलता है

"वह फ्रान्स के विषय मे वही अनुभव करता था जो पेरीक्लीज ऐथेंस के विषय मे करता था। उसके लिए फ्रान्स का अनन्य मूल्य था, किसी अन्य वस्तु का कोई महत्व नही था। उसका एक भ्रम था--फ्रान्स, तथा एक थी मानवजाति, जिसमे फ्रान्सीसी तथा उसके साथी भी कुछ कम शामिल नही थे। राष्ट्र वास्तविक वस्तुयें है, जिनमे से आप एक को चाहते है तथा शेष के लिए उदासीनता अथवा घृणा का अनुभव करते हैं। जिस राष्ट्र को आप प्रेम करते है उसका यश एक वांछनीय लक्ष्य है। परन्तु इस लक्ष्य को सामान्यतया आपके पडोसी के मूल्य पर ही प्राप्त किया जा सकता है। मूर्ख अमरीकियो तथा दम्भपूर्ण अग्रेजो के 'आदर्शो' के विषय मे, दूरदर्शिता मुह-देखी प्रशसा आवश्यक ठहराती थी।

परन्तु यह विश्वास करना निपट मूर्खता होगी कि राष्ट्रसंघ जैसे विषयों के लिए मौजूदा विश्व में कोई स्थान है। यही आत्म-निर्धारण के सिद्धान्त के विषय में कहा जा सकता है। यदि कोई स्थान है, तो अपने निजी हितों में शक्ति के सतुलन के पुन विन्यास के लिए एक विदग्ध सूत्र के रूप में ही है।"[11]

एक पूर्ववर्ती सगठित अन्तर्राष्ट्रीय समाज का उन आत्म-निर्भर राष्ट्रीय समुदायों में विभाजन जिन्होंने नैतिक आदेशों के एक सामान्य ढांचे में कार्य करना बन्द कर दिया है, आधुनिक समय में उस गम्भीर परिवर्तन का केवल वाह्य लक्षण है। इसने सार्वभौमिक नैतिक आदेशों तथा राष्ट्रीय नीति-शास्त्रों की विशिष्ट व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में रूपान्तर कर दिया है। यह रूपान्तर दो विभिन्न मार्गों से होकर चला है। इसने आचरण के सार्वभौमिक अधिराष्ट्रीय नैतिक नियमों को प्रभावहीनता की सीमा तक दुर्बल बना दिया है। राष्ट्रवाद के युग के पूर्व व्यक्तिगत राष्ट्रों की विदेश नीतियों पर परिसीमाओं की इन्होंने एक व्यवस्था आरोपित की थी, भले ही वह अनिश्चित एवं असम्बद्ध हो। इसके विपरीत इसने व्यक्तिगत राष्ट्रों की अपने नीतिशास्त्र की विशिष्ट राष्ट्रीय व्यवस्थाओं को सार्वभौमिक मान्यता प्रदान करने की प्रवृत्ति को अधिक सबल बनाया है।

अन्तर्राष्ट्रीयता पर राष्ट्रवाद की विजय

किसी नैतिक व्यवस्था की जीवन-शक्ति की निर्णायक परीक्षा उस समय होती है जब मनुष्यों के अन्त करणों एवं कार्यों पर उसके नियन्त्रण को नैतिकता की एक दूसरी व्यवस्था के द्वारा चुनौती दी जाती है। इस प्रकार सरमन मान द माउन्ट की विनम्रता एवं आत्म-त्याग, तथा आधुनिक पाश्चात्य समाज की आत्मोन्नति एवं शक्ति का सापेक्ष बल, उस सीमा से निर्धारित होता है, जिसके प्रति नैतिकता की कोई भी पद्धति अपने आदेशों के अनुकूल मनुष्यों के कार्यों अथवा कम से कम अन्तर्विवेकों को ढालने में समर्थ है। प्रत्येक व्यक्ति को जहां तक वह नैतिक अधीनों के प्रति सजग रहता है, समय-समय पर मानसिक द्वन्द्व का सामना करना होता है। यह द्वन्द्व विरोधी नैतिक आदेशों की सापेक्षिक शक्ति का परीक्षण करता है, तथा ईसाई धर्म के इसी प्रकार के परीक्षण को विदेश-नीति के सचालन के सम्बन्ध में अधिराष्ट्रीय नीतिशास्त्र तथा राष्ट्रवाद के नीति-शास्त्र की सापेक्षिक शक्ति का निर्धारण करना चाहिए। समय न प्रचलित भाषा सार्वदेशीय, मानवतावादी, तथा ईसाई धर्म के तत्वों से सगठित अधिराष्ट्रीय

11 The Economic Consequences of the Peace (New York, Harcourt, Brace and Company, 1920), pp 32 33.

नीतिशास्त्र को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करती है, तथा बहुत से लेखक अपने लेखों में इसको मान्यता प्रदान करते है। परन्तु पिछली डेढ़ शताब्दी में सम्पूर्ण विश्व में राष्ट्रवाद की नीति उत्तरोत्तर बढ़ती रही है।

यह वास्तव मे सच है कि राष्ट्रवाद के उस सत्तारोहण के पूर्व भी, राष्ट्रीय नीति-शास्त्र ने द्वन्द्व की बहुत सी स्थितियों में स्वय को आचरण के सार्वभौमिक नैतिक नियमों से उत्कृष्ट सिद्ध किया है। उदाहरण के लिए सत्रहवीं तथा अठारहवी शताब्दियों मे राज्य के आधारभूत सिद्धान्तो के दर्शन मे ऐसी व्यवस्था थी। यह बहुत सी तात्विक तथा बहुत सी इस प्रकार की द्वन्द्वात्मक स्थितियों के के विचार से स्पष्ट है। इनमे से एक 'तू किसी का वध नहीं करेगा" के सार्वभौमिक नैतिक आदेश तथा विशेष राष्ट्रीय नीतिशास्त्र के आदेश "तू कुछ निश्चित परिस्थितियों मे अपने देश के शत्रुओं का वध करेगा' के बीच की स्थिति है। जिस व्यक्ति के प्रति आचरण के ये दोनो नियम निर्दिष्ट होते है, उसका सामना सम्पूर्ण मानवता के प्रति निष्ठा तथा किसी के बीच म होने वाले द्वन्द्व से होता है। सम्पूर्ण मानवता के प्रति निष्ठा वह है, जिसमे राष्ट्रीयता तथा किसी अन्य विशिष्ट लक्षण की चिंता किए बिना मानव-जीवन की रक्षा मे अभिव्यक्ति होती है। विशेष राष्ट्र के प्रति निष्ठा मे दूसरे राष्ट्र के सदस्यो के प्राणों के मूल्य पर उस राष्ट्र के हितों के प्रोत्साहन की माग की जाती है। पस्कल के शब्दो मे

"आप मुझे क्यों जान से मारते है ? ऐं ! क्या आप पानी की दूसरी ओर नही रहते ? मेरे मित्र, यदि आप इस ओर रहे होते तो, मैं हत्यारा होता, तथा आपका इस प्रकार वध करना, अनुचित रहा होता। किन्तु चूकि आप दूसरी ओर रहते हैं, मैं एक नायक हू, और यह न्याय-सगत है। अक्षांश की तीन डिग्रियां सभी न्यायशास्त्र को उलट देती है, एक मध्याह्न रेखा सत्य का निर्णय करती है" एक नदी के द्वारा सीमाबद्ध यह एक विचित्र न्याय है। पिरेनीज के इस ओर सत्य है, दूसरी ओर भ्रान्ति है।"[12]

बहुत से व्यक्तियों ने आज तथा समस्त आधुनिक इतिहास के दौरान अधिराष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय नीतिशास्त्र के इस द्वन्द्व का समाधान राष्ट्र के प्रति निष्ठा के पक्ष मे किया है। तथापि, इस मामले मे, तीन तत्व वर्तमान युग को पिछले युगों से अलग करते हैं।

प्रथम, राष्ट्रीय राज्य मे अपने सदस्यों पर नैतिक दबाव डालने की बहुत अधिक बढ़ी-चढ़ी क्षमता होती है। यह क्षमता अज्ञात हमारे समय मे राज्य के

12 Pensées, translated by W F Trotter, Modern Library (New York : Random House, Inc , 1941), Section V (प्रकाशक की अनुमति से पुन मुद्रित)।

द्वारा उपभोग की जाने वाली लगभग दैवी प्रतिष्ठा का परिणाम है। अंशतया पर लोकमत का गठन करने वाले साधनों के नियत्रण का परिणाम है। इन साधनों को राज्य की सेवा में आर्थिक एवं औद्योगिकीय विकासों ने प्रस्तुत कर दिया है।

द्वितीय, वह सीमा है, जहाँ तक राष्ट्र के प्रति निष्ठा व्यक्ति से आचरण के सार्वभौमिक नैतिक नियमों के उल्लंघन की माग करती है। युद्ध की आधुनिक प्रौद्योगिकी ने व्यक्ति को सामूहिक विनाश के वे अवसर दिये है जो पहले युगों में अज्ञात थे। आज एक राष्ट्र किसी एक व्यक्ति को न्यूक्लीय वार-हैड की मिसाइल फायर करके लाखों व्यक्तियों के जीवन के विनाश का आदेश दे सकता है। ऐसे वृहत परिणामों की माग की पूर्ति अधिराष्ट्रीय नीतिशास्त्र की दुर्बलता को उन आचरण के सार्वभौमिक नैतिक मानकों के सीमित उल्लंघनों की अपेक्षा, अधिक प्रभावशाली ढग से प्रदर्शित करती है। ये उल्लंघन परमाणु-युग से पूर्व किए जाते थे।

अन्ततः दूसरे दोनों तत्वों के परिणाम-स्वरूप जब वे राष्ट्र की नैतिक मांगों के विरुद्ध हो तो व्यक्ति के लिए अधिराष्ट्रीय नीतिशास्त्र के प्रति निष्ठावान होने का बहुत कम अवसर है। व्यक्ति से राष्ट्र के नाम पर जिन असह्य कार्यों के करने की माग की जाती है तथा जिस नैतिक दबाव के अत्यधिक भार के साथ उनको राष्ट्र उस पर थोपता है, उसके सामने इन मांगों का प्रतिरोध करने के लिए लगभग अतिमानवीय नैतिक शक्ति की आवश्यकता होगी। राष्ट्र के नाम पर हुए सार्वभौमिक नीतिशास्त्र के अतिक्रमणों तथा उनके पक्ष में डाले गए दबाव का वृहत्ताकार, नीतिशास्त्र की दोनों पद्धतियों के गुणात्मक सम्बन्ध को प्रभावित करता है। राष्ट्र की नैतिकता के साथ द्वन्द्व में यह सार्वभौमिक नीतिशास्त्र की हताश दुर्बलता पर बल देती है, तथा इस द्वन्द्व के वास्तव में प्रारम्भ होने के पूर्व, राष्ट्र के पक्ष में उसका निर्णय कर देती है।

राष्ट्रवाद का रूपान्तरण

नैतिकता की अधिराष्ट्रीय तथा राष्ट्रीय पद्धतियों के सम्बन्धों में महत्वपूर्ण एव दूरगामी परिवर्तन लाने में सार्वभौमिक नीतिशास्त्र की शक्तिहीनता एक आवश्यक तत्व बन जाती है। यह उन तत्वों में से एक है जिसके आगे चलकर दोनों का ऐक्य हो जाता है। व्यक्ति समझने लगता है कि नैतिकता के सार्वभौमिक मानकों की अवज्ञा थोड़े से दुष्ट पुरुषों का ही काम नहीं है, वरन् वह उन परिस्थितियों का अपरिहार्य परिणाम है, जिनमें राष्ट्रों का अस्तित्व है, तथा जिनमें वे अपने उद्देश्यों का अनुगमन करते हैं। स्वयं अपने अन्तर्विवेक में वह अन्तर्राष्ट्रीय

मच पर मनुष्यो के कार्यों को प्रेरित करने वाली शक्तियो के रूप मे सार्वभौमिक मानको की क्षीणता तथा राष्ट्रीय नैतिकता की प्रबलता का अनुभव करता है। उसका अन्तःकरण बेचैन हुए बिना नहीं रहता।

यद्यपि निरन्तर अशान्त अन्त करण की सतत बेचैनी उसके लिए अत्यधिक असह्नीय हो जाती है, तथापि वह सार्वभौमिक नीतिशास्त्र की धारणा से इतने प्रबल रूप मे सम्बद्ध होता है कि इसको पूर्णतया छोड नहीं सकता। इसलिए वह अपनी राष्ट्रीय नैतिकता का अधिराष्ट्रीय नैतिकता के आदेशो के साथ ऐक्य स्थापित करता है। मानो वह अपनी राष्ट्रीय नैतिकता की अन्तर्वस्तुओ को सार्वभौमिक नीतिशास्त्र की अब लगभग रिक्त बोतल मे उडेल देता है। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र को फिर एक सार्वभौमिक नैतिकता का पता लगता है। यह सार्वभौमिक नैतिकता प्रत्येक राष्ट्र की अपनी नैतिकता होती है। वह चाहता है कि इसको प्रत्येक राष्ट्र अपना मानकर स्वीकार करें। नीतिशास्त्र की सार्वभौमिकता का, जिसका सभी राष्ट्र अनुसरण करते हैं स्थान राष्ट्रीय नीतिशास्त्र की एक देशीयता ले लेती है। यह राष्ट्रीय नीति सहिता सार्वभौमिक मान्यता के अधिकार का दावा करती है, तथा उसे प्राप्त करने के लिये आकाक्षा रखती है। उस समय वहा सम्भाव्य रूप मे नीति-शास्त्र की इतनी सहितायें सार्वभौमिकता का दावा करने वाली होती हैं, जितने वहा राजनीतिक दृष्टि से गत्यात्मक राष्ट्र होते हैं।

सयुक्त विश्वासो एव सामान्य मूल्यो के ढाचे मे विरोध शक्ति-सघर्ष के उद्देश्यों एव साधनो पर प्रभावशाली परिसीमायें लगाता है। राष्ट्र, वेस्टफेलिया की सन्धि से नैपोलियन के समय के युद्धो तथा फिर पिछले युद्धो के अन्त से प्रथम विश्वयुद्ध तक इसी ढाचे मे परस्पर विरोध करते थे। वे अब ऐसा और नहीं करते। वे अब नैतिक पद्धतियो के ध्वज-धारको के रूप मे एक दूसरे का विरोध करते है। इनमें से प्रत्येक का राष्ट्रीय उद्गम है। उनमे से प्रयेक नैतिक मानको का अधिराष्ट्रीय दावा प्रस्तुत करता है जिसे अन्य सभी राष्ट्रो को स्वीकार करना चाहिए तथा जिनमे होकर उनकी विदश नीति को परिचालित होना चाहिए। एक राष्ट्र की नैतिक सहिता अपने सार्वभौमिक दावे की चुनौती दूसरे को देती है, जोकि उसी प्रकार का अदल-बदल करती है। जो समझौता पुरानी राजनय के लिए गुण था, नई राजनय के लिए देशद्रोह हो जाता है। नैतिक मानको के सामान्य ढाचे मे सम्भव अथवा वैध, विरोधी दावो का परस्पर समायोजन आत्म सम्मर्पण के तुल्य है। ऐसा उस समय होता है, जब स्वय नैतिक मानक विरोध के दाव पर होते हैं। इस प्रकार राष्ट्रो मे प्रतिरोध के लिए एक मच बन जाता है। अब सभी के द्वारा स्वीकृत राजनीतिक एव नैतिक पद्धतियो

ने उनकी सापेक्ष स्थितियां दाव पर नहीं होती। वरन् विजेता राष्ट्र के राजनीतिक एवं नैतिक दृढ़ विश्वासों के प्रतिबिम्ब में पुन निर्मित एक नई सार्वभौमिक राजनीतिक एवं नैतिक पद्धति को दूसरे प्रतियोगियों पर आरोपित करने की क्षमता दाव पर होती है।

विशुद्ध रूप में सार्वभौमिक पद्धति से सार्वभौमिकता का दावा करने वाले तथा प्रतिस्पर्द्धी पृथक नैतिक व्यवस्थाओं के बाहुल्य की ओर विकास का प्रथम संकेत नैपोलियन तथा उसके विरुद्ध सम्मिलित राष्ट्रों के प्रतिरोध में देखा जा सकता है। दोनों ओर यह प्रतिरोध सार्वभौमिक वैधता की माँग करने वाले विशेष सिद्धान्तों के नाम से लड़ा गया। एक ओर फ्रान्सीसी विद्रोह के सिद्धान्त थे, दूसरी ओर वैधता के। परन्तु नैपोलियन की पराजय तथा उठते हुए राष्ट्रवाद के आन्दोलन के साथ प्रतियोगिता में अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करने में धार्मिक संश्रय असफल रहा। उसकी असफलता के साथ, नीतिशास्त्र की विशिष्ट संहिता को सार्वभौमिक रूप देने का प्रयत्न समाप्त हो गया। इस प्रकार यह प्रयत्न केवल एक ऐतिहासिक मध्यान्तर रह गया।

इतिहास के वर्तमान काल का प्रारम्भ वुडरो विल्सन के विश्व को लोकतन्त्र के लिए सुरक्षित बनाने के युद्ध से होता है। इसमें सामान्यतया ऐसा प्रतीत होता है कि आचरण के स्थायी रूप से सार्वभौमिक नैतिक नियम विशिष्ट नियमों से पुनर्स्थापित हो जाते हैं। यह आकस्मिकतावश नहीं है तथा इसका गहरा महत्व है कि जिनका विल्सन के दर्शन में विश्वास था, वे सोचते थे कि युद्ध लोकतन्त्र के लिए धर्म-युद्ध था। विल्सन के दृष्टिकोण से देखने पर, प्रथम विश्व-युद्ध में मध्य युगों के धर्म-युद्धों के साथ यह वास्तव में सर्वनिष्ठ है। वह यह तथ्य है कि यह एक समूह द्वारा, एक नैतिक पद्धति के शेष संसार में प्रचलित कराने के अभिप्राय से लड़ा गया था। राबर्ट सी० बिकले के शब्दों मे

"विश्वयुद्ध न केवल चोटी के राजमर्मज्ञों को ले आया, जोकि दार्शनिक थे, वह व्यावसायिक दार्शनिकों को भी उनके बौद्धिक सिंहासनों से नीचे ले आया। प्रत्येक देश मे इन लोगों ने अपने उच्च बुद्धि वैभवों का प्रयोग युद्ध के परिणाम को विश्वव्यापी महत्व देने में किया। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि विरोधी का अन्याय एक राष्ट्रीय दर्शन तथा संस्कृति के अभिप्रायों के रूप में सदैव उपस्थित रहा था। उनके दल की विजय विश्व की नैतिक योजना मे आवश्यक थी। युद्ध के प्रारम्भ होने पर तुरन्त ही, बर्गसन ने खोज की कि युद्ध 'जीवन" तथा "पदार्थ" के बीच एक द्वन्द्व था। समहित (एन्तेंते) शक्तियां जीवन की ओर संयोजित थी, तथा केन्द्रीय शक्तियां पदार्थ की रक्षा कर रही थी। शेलर ने घोषणा की कि अंग्रेजी दर्शन तथा आचरण समान रूप से लोक-भाषा की अभिव्यक्तियां थे। संटयाना ने 'जर्मन

दर्शन में अहंवाद" के विषय में लिखा। यही नहीं किन्तु जोसिया रायस ने स्वयं हीगल का बहुत अधिक ऋणी था इस निर्णय पर पहुँचा कि जर्मनी मानव जाति को जान-बूझ कर बना हुआ प्रत्यक्ष शत्रु था। जो कोई इस शत्रुता में भागीदार है उसे दर्शन-समर्थन होने का मार्ग खुला है, दार्शनिक एवं राजनीतिक द्वन्द्व-भाव का एक बड़ा भेद खड़ा कर रहे थे। फिर, दार्शनिक कथा की पुनरावृत्ति का स्थायी अभिलेख बनाने के निमित्त, मित्र सरकारों ने अपनी सेनाओं में प्रत्येक सैनिक को एक कांस्य का पदक दिया। उस पर 'सभ्यता के लिए महान युद्ध' लिखा था।"[13]

इस लोकतन्त्रात्मक धर्मयुद्ध के प्रारम्भ होने के कुछ ही महीनों के उपरान्त, अक्टूबर 1927 में, रूस में एक अन्य नैतिक एवं राजनीतिक दावे की नींव पड़ी। यद्यपि इसे मानवता के एक अंश द्वारा ही स्वीकृति प्राप्त थी। परन्तु इस पर यह दावा किया जाता था कि यह वह सामान्य सरकार प्रस्तुत करेगा जिसके नीचे सभी मानव अन्त में न्याय एवं शान्ति के साथ रहेंगे। 1920 से 1929 के काल में इस दावे को अपर्याप्त शक्ति का समर्थन प्राप्त था। अतएव यह एक सैद्धान्तिक अभिधारणा से कुछ ही अधिक था। फिर भी लोकतन्त्रात्मक सार्वभौमिकतावाद ने सक्रिय राजनीति के दृश्य से अवकाश ग्रहण किया तथा अलगाववाद ने उसका स्थान ले लिया। केवल सैद्धान्तिक चुनौती के रूप ही में नव मार्क्सवादी सार्वभौमिकतावाद के पुजारियों ने लोकतन्त्रात्मक विश्व के सामने इसे फेंका। यह नैतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक निष्कासन में ही था, जिसके साथ दूसरों ने उस चुनौति का सामना किया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में उस समय दो सार्वभौमिकतावादों में द्वन्द्व ने अपने आप का अनुभव कराया।

एक विशिष्ट राष्ट्र की भूमि में जाकर 1930 से 1939 की समयावधि में, नात्सीवाद का दर्शन एक नवीन नैतिक संहिता के रूप में घोषित किया गया। इसका दावा था कि वह वास्तविकता के दूषित मत तथा लोकतन्त्र की ह्रासोन्मुख नैतिकता का पुनः स्थापन करेगा तथा मानवों पर अपने आपको आरोपित करेगा। हमारे वर्तमान विवेचन के प्रकाश में देखने पर, द्वितीय विश्वयुद्ध ने नात्सीवाद की सार्वभौमिकता के दावे की वैधता का एक सशस्त्र द्वन्द्व के रूप में परीक्षण किया, तथा नात्सीवाद की इस परीक्षण में हार हुई। तथापि, संयुक्तराष्ट्र के पक्ष में बहुत लोगों के मस्तिष्कों में अटलांटिक चार्टर तथा यान्त्रा की धारणा के सिद्धान्तों ने द्वितीय विश्वयुद्ध को सार्वभौमिक लोकतन्त्र के लिए भी प्रतिरोध बना दिया। इस परीक्षण में लोकतन्त्र की भी हार रही। द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त से,

13. Selected Papers of Robert C Binkley, edited by Max H Fish (Cambridge Harvard University Press, 1948), p 328.

सार्वभौमिक वैधता का दावा करने वाली दोनों बची हुई नैतिक एवं राजनीतिक पद्धतियाँ विश्व के आधिपत्य के लिए क्रियात्मक प्रतियोगिता मे प्रवेश कर चुकी हैं। अब वही स्थिति है जिसमे हम आज अपने आप को पाते है।

धर्म-युद्धो के अन्त से प्रथम विश्वयुद्ध मे सयुक्तराज्य अमेरिका के प्रवेश तक आधुनिक राज्य-प्रणाली की स्थिति एव दशा मे एक अन्तर विद्यमान है। इस अन्तर को नजर-अन्दाज करना अथवा इसकी गहराई को कम करना सबसे अधिक खतरनाक भ्रान्ति होगी। उस अन्तर के महत्व को समझने के लिए, किसी को नैपोलियन के समय के युद्धो को छोडकर, उस समयावधि मे होने वाले किसी भी द्वन्द्व को बिना सोच विचार के उठाने भर की आवश्यकता है। उसे उन द्वन्द्वो के साथ तुलना करने की भी आवश्यकता है, जिन्होने पिछली तीन दशियो मे विश्व को विदीर्ण कर अलग रख दिया है।

अब हम अपने समय के अन्तर्राष्ट्रीय मामलो के साथ उन मसलो की तुलना करें, जिन्होने सोलहवी शताब्दी के आरम्भ से अठारहवी शताब्दी के मध्य तक फ्रान्स तथा हैप्सबर्ग वालो को लगभग निरन्तर विरोध मे ला दिया, अथवा, जिसने ग्रेट ब्रिटेन तथा प्रशिया को अठारहवी शताब्दी मे फ्रान्स के विरुद्ध खडा कर दिया। ये मामले क्षेत्रीय विस्तार तथा राजवशीय प्रतियोगिता के रूप मे थे। उस समय यह, सम्पत्ति तथा शक्ति की वृद्धि अथवा कमी को ही जोखिम समझा जाता था। न आस्ट्रियाई, न ब्रिटिश न फ्रान्सीसी, न प्रशियन जीवन-विधि अर्थात्, विश्वासो, तथा नैतिक दृढ विश्वासो की उनकी पद्धति को कोई जोखिम थी। आज ठीक यही खतरे मे हैं। सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दियो मे अन्तर्राष्ट्रीय दृश्य पर कोई भी प्रतियोगी नीतिशास्त्र की किसी अपनी विशिष्ट पद्धति को, यदि कोई हो तो, दूसरी पर आरोपित करने के लिए उत्सुक न था। ऐसी उत्कट आकांक्षा की सम्भावना ही उनके सामने कभी नही आई। कारण यह है कि वे केवल एक सार्वभौमिक नैतिक सहिता से परिचित थे, जिसके प्रति उन सब की दृढ निष्ठा थी।

"कलाओ, विधियो, तथा व्यवहारो की" वह सामान्य "पद्धति", "नम्रता तथा सस्कृति का सामान स्तर", तथा "सम्मान तथा न्याय की भावना" जिनको गिबन ने "समयो की सामान्य रीतियो" मे पहचाना था, तथा जोकि फैनलो रूसो तथा वेटेल के भूतकाल तथा वर्तमान की जीवित वास्तविकता थी, तथा जिनके राजनीतिक परिणामो को प्रोफेसर टायनबी ने नोट किया है कि अब मुख्य रूप से ऐतिहासिक सस्मरण बन गये है। विद्वत्तापूर्ण लेखो, काल्पनिक क्षेत्रो, तथा राजनयिक प्रलेखो मे वे बहुत समय से रटे हैं, परन्तु मनुष्यो को कार्य करने के लिए प्रेरित करने मे वे अब अधिक समर्थ नही हैं। अब इस अधिराष्ट्रीय नैतिकता की

पद्धति के केवल चिथडे एव टुकडे बच रहे हैं। जैसाकि हम देख चुके है यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे अपना अवरोधी प्रभाव यत्र तत्र कुछ ही उदाहरणों मे जैसे कि शान्ति काल तथा निरोधक युद्ध म, डालती है। जहा तक उस अधिराष्ट्रीय नैतिकता की पद्धति के अन्तर्राष्ट्रीय दृश्य पर, अभिनेताओ के अन्त करण पर प्रभाव की बात है, यह उस सूय की जोकि पहले ही डूब चुका है, उन क्षीण किरणो की तरह है जो चेतना की परिधि के ऊपर दिखलाई भर ही पड़ती हैं। प्रथम विश्वयुद्ध से अन्तर्राष्ट्रीय अखाडे म प्रतियोगियो म से प्रत्यक सदा बढने वाली तीव्रता तथा सामान्यता के साथ अपनी 'जीवन विधि' मे नैतिकता तथा राजनीति की पूर्ण सचाई होने का दावा करता है। इस दाव को दूसरे अपने को प्रतिसकट मे डाल कर ही ठुकरा सकत हे। भयानक अनन्यता के साथ, सभी प्रतियोगी नैतिकता की अपनी राष्ट्रीय अवधारणाओ को उससे समीकृत करते हैं। इसको सभी मनुष्यो को स्वीकार करना चाहिए तथा इसके अनुरूप रहना चाहिए। इसमे अतर्राष्ट्रीय राजनीति की नैतिकता, कबीलेवाद, धम अभियाना तथा धार्मिक युद्धो की राजनीति तथा नैतिकता की ओर रुख बदलनी है।[14]

आज के राष्ट्रवादी सार्वभौमिकतावाद की नैनिकता की अतर्वस्तुयें तथा ध्येय आदिकालीन कबीला म अथवा तीम वर्षीय युद्धो की अतर्वस्तुओ तथा ध्येयो से कितने ही अधिक भिन्न हो, किन्तु उस कार्य म जिसे वे अन्तर्राष्टीय राजनीति के लिए सम्पन्न करत हैं तथा उस नैतिक जलवायु में जिसका निर्माण करते हैं,

14 जिस सीमा तक नैतिकता मे सिद्धान्तों की सार्वभौमिकता की घोषणायें क्रिया की अत्यधिक भ्रष्टता के साथ साथ चल सकती है, स्पष्ट रूप से तैमूर, विश्व के भावी विजेता व मगल में सिद्ध होता है उसने चोदहवीं शताब्दी में दक्षिण एशिया तथा एशिया माइनर को विजय किया तथा नष्ट कर दिया। लाखों लोगों को मार चुकने क बाद दिसम्बर 12, 1938 को देहली क सामने उसने एक लाख हिन्दू बन्दियों का वध "खुदा" तथा मोहम्मदवाद के गोरव क लिए किया। विजित अलप्पो के प्रतिनिधी से उसने कहा 'मैं रक्तपात का हामी व्यक्ति नहीं हू। खुदा मेरा साक्षी है कि अपने सभी युद्धों में मे अत्याचारी कभी नहीं रहा। मेरे शत्रु ही सदा अपनी आपदा क निर्माता रहे हैं।'

गिबन, आकि इस कथन को प्रस्तुत करता है, आगे कहता है इस शांतिपूर्ण वार्ता के बीच अलप्पो की सड़कों पर रक्त की नदिया बह रही थीं, तथा मा और बच्चों क रोदन से, बलात्कार की हुई कुमारियों की चीखों से पुन प्रतिध्वनित होती थीं। जो भारी लूट खसोट उसने सैनिकों क लिए छोड रखी गई वह उनक लोभ को प्रोत्साहित कर सकती थी परन्तु उनकी निर्दयता पर्याप्त सख्या में उन सिरों को जुटाने क अन्न आदेश की पूर्ति मे थी, जिनका उसक रिवाज के अनुसार स्तम्भों तथा पिरामिडों में आश्चर्यजनक ढग से ढेर किया जाता था।

The Decline and Fall of the Roman Empire (Modern Library Edition), Vol II, p 1243

भिन्न नहीं हैं। किसी विशिष्ट समूह की नैतिकता, अन्तर्राष्ट्रीय दृश्य पर शक्ति के संघर्ष को सीमित करने के स्थान पर उस संघर्ष को एक निर्दयता एवं तीव्रता प्रदान करती है। वह दूसरे युगों को अज्ञात है। क्योंकि सार्वभौमिकतवाद का दावा जोकि एक विशिष्ट समूह की नैतिक संहिता को प्रेरित करता है, एक दूसरे समूह के समरूप दावे से सर्वथा भिन्न है। विश्व में केवल एक के लिए स्थान है, तथा दूसरे को या तो हार मान लेनी चाहिए, या नष्ट हो जाना चाहिए। इस प्रकार, अपने सामने अपनी मूर्तियों को लेकर, हमारे समय के राष्ट्रवादी जन-समूह अन्तर्राष्ट्रीय अखाड़े में मिलते हैं। प्रत्येक समूह यह विश्वास लेकर कि वह इतिहास के आदेश का पालन करता है, कि यह मानवता के लिए वही करता है, जोकि अपने लिए करता दीख पड़ता है और कि यह ईश्वर द्वारा व्यवस्थित पवित्र मिशन की जो भले ही सीमित है, पूर्ति करता है।

यह वह कम ही जानते हैं कि वे एक सूने आकाश के नीचे मिलते हैं, जहाँ से देवता अलग हो चुके हैं।

सत्रहवाँ अध्याय

विश्व लोकमत

विश्व लोकमत के विषय में ऐसा कुछ कम ही कहने की आवश्यकता है जोकि पिछले अध्याय के विवेचन में पहले ही नहीं कहा जा चुका है। तथापि जिस चेतावनी के साथ हमने अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता पर विवेचन प्रारम्भ किया था उसे यहां विशेष बल देकर दोहराना चाहिए। हमारा विश्व लोकमत की वास्तविकता से सम्बन्ध है। हम जानना चाहते हैं कि यह किससे मिलकर बनता है? यह अपने आपको कैसे अभिव्यक्त करता है? अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के लिए यह क्या कार्य करता है? किन ढंगों से यह अन्तर्राष्ट्रीय दृश्य पर शक्ति संघर्ष पर अवरोध आरोपित करता है? परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मामलों के आधुनिक साहित्य में मुश्किल से ही ऐसी अवधारणा होगी जो पिछली चार दशियों में राजममज्ञों एवं लेखकों द्वारा विश्व लोकमत की अवधारणा की तुलना में इतने अनिश्चय तथा इतना कम विश्लेषणात्मक सूक्ष्मता के साथ प्रयुक्त हुई हो।

विश्व लोकमत राष्ट्रसंघ के लिए आधार समझा जाता था। इसको ब्रिआ केलॉग समझौते, स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सामान्य रूप में अन्तर्राष्ट्रीय विधि को स्थापित करने वाली शक्ति होना था। 21 जुलाई 1919 को लोकसभा में लार्ड राबर्ट सेसिल ने घोषणा की 'जिस महान् अस्त्र पर हम निर्भर हैं, वह लोकमत है। और यदि इस विषय में हम गलत हैं तो सब कुछ गलत है।'[1] द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ होने से पांच महीनों से कम पहले 17 अप्रैल 1939 जितने हाल की बात है जबकि अमरीकी विदेश सचिव कारडल हल ने ठहराया कि 'शान्ति की सभी शक्तियां में सबसे प्रबल एक लोकमत समस्त विश्व में अधिक शक्ति के साथ विकसित हो रहा है।'[2] आज हम सुनते हैं कि विश्व लोकमत एक अभिकरण के रूप में संयुक्त राष्ट्र का प्रयोग करेगा अथवा इसके विपरीत की स्थिति होगी। संयुक्त राष्ट्र की महासभा विशेष रूप से विश्व का खुला

---

1 The Parliamentary Debates Official Report Fifth Series, Vol 118 House of Commons p 992

2 New York Times April 18 1939, p 2

अन्त करण"[3] कही जाती है। न्यूयॉर्क टाइम्स यह तथ्य घोषित करता है कि सयुक्त राष्ट्र की महासभा की चार्टर मे बहुत आरक्षित शक्तियाँ हैं. .। कम से कम विश्व लोकमत के गठन की सीमा तक तो वह, अपने अन्तिम विश्लेषण मे, अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-सतुलन निर्धारित करती है।"[4]

इससे पूर्व कि इन तथा असख्य समरूप सशक्त कथनो तथा अपीलो के अर्थ को निश्चित रूप से जाना जाय, दो अत्यावश्यक प्रश्नो के उत्तर दिये जाने चाहिए जब हम विश्व लोकमत की बात करते हैं, तो हमारा क्या अभिप्राय होता है ? तथा मध्य बीसवी शताब्दी की नैतिक एव सामाजिक परिस्थितियो के अन्तर्गत किस प्रकार से यह विश्व लोकमत अपने आपको अभिव्यक्त करता है ?

स्पष्टतया विश्व लोकमत वह लोकमत है जोकि राष्ट्रीय सीमाओ को पार कर लेता है। वह विभिन्न राष्ट्रो के सदस्यो को कम से कम कुछ मूल अन्तर्राष्ट्रीय मामलो के सम्बन्ध मे एक मतैक्य मे एकीकृत कर देता है। समस्त विश्व मे अन्तर्राष्ट्रीय शतरज की बिसात् पर, जो कोई चाल इस मतैक्य द्वारा अस्वीकृत की जाती है उसके विरुद्ध यह मतैक्य स्वचालित प्रतिक्रियाओ मे अपना अनुभव करा देता है। जब कभी किसी राष्ट्र की सरकार एक निश्चित नीति की घोषणा करती है अथवा अन्तर्राष्ट्रीय दृश्य पर कोई ऐसा कार्य करती है, जोकि मानव-मत का उल्लघन करता है, तो मानवता, राष्ट्रीय सम्बन्धो की चिन्ता किए बिना, उठ पडेगी। यही नही, वह मानव-मत का उल्लघन करने वाली सरकार पर स्वचालित अनुशास्तियो के माध्यम से अपनी इच्छा का आरोप करने का कम से कम प्रयत्न तो करेगी ही। इस प्रकार वह सरकार फिर स्वय को लगभग उसी स्थिति मे पाती है, जैसेकि एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियो का समूह, जिसने अपने राष्ट्रीय समाज अथवा इसके उपविभागो मे किसी एक की लोकनीतियो की अवज्ञा की है। समाज या तो उनको अपने मानको के अनुरूप बनने के लिए विवश कर देगा, अथवा अनुरूपता के अभाव मे उसका निष्कासन कर देगा।

यदि विश्व लोकमत के सामान्य सदर्भो का ऐसा अर्थ है, तो क्या आजकल ऐसा विश्व लोकमत अस्तित्व मे है ? और क्या यह राष्ट्रीय सरकार की विदेश नीतियो पर अवरोधक प्रभाव डालता है ? उत्तर निश्चय ही नकारात्मक होगा। आधुनिक इतिहास मे अधिराष्ट्रीय लोकमत की स्वचालित प्रतिक्रिया के द्वारा किसी सरकार के अपनी विदेश नीति से रुकने के किसी दृष्टान्त का अभिलेख

3. Leland M Goodrich and Edward Hambro, Charter of the United Nations (Boston : World Peace Foundation, 1949), p. 151.
4. November 15, 1947, p. 16.

नहीं है। हाल के इतिहास में एक निश्चित सरकार की विदेश नीति के विरुद्ध विश्व लोकमत के संगठन के प्रयत्न हुए हैं—1920 से लेकर 1930 तक चीन के विरुद्ध जापानी अत्याचार, 1935 से जर्मन विदेश नीतियो, 1936 में इथियोपिया के विरुद्ध इटली का आक्रमण 1956 में हंगरी की क्रान्ति का रूसी दमन इसके ही दृष्टान्त हैं। तथापि, यदि कोई तर्क के लिए मान भी ले कि ये प्रयत्न एक निश्चित मात्रा में सफल रहे, तथा विश्व लोकमत उन दृष्टान्तों में वास्तव में विद्यमान था, फिर भी इसको निश्चय ही उन नीतियों पर कोई अवरोधी प्रभाव न था, जिनका यह विरोध कर रहा था। परन्तु, जैसाकि हम देखेंगे इस मान्यता की तथ्यों द्वारा पुष्टि नहीं होती।

तब, क्या कारण है कि इन प्रश्नों का बहुधा स्वीकारात्मक उत्तर दिया जाता है? इसका कारण अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में दो तथ्यों की भ्रमपूर्ण व्याख्या में पाया जावेगा, जोकि एक विश्व लोकमत के सम्भव विकास की ओर तथा एक तीसरे की उपेक्षा की ओर संकेत करते हैं। इससे आजकल ऐसा विश्वास असम्भव बन जाता है। दोनों तथ्य, जिनसे विश्व लोकमत के अस्तित्व में भ्रमपूर्ण विश्वास का आविर्भाव होता है, कुछ मनोवैज्ञानिक लक्षणों तथा तात्विक उच्चाकांक्षाओं के सामान्य अनुभव, जोकि समस्त मानव-जाति को एकीकृत रखते हैं, तथा विश्व के प्रौद्योगिकी विषयक एकीकरण हैं। जिस तथ्य की उपेक्षा हुई है, वह यह है कि, विश्व में सर्वत्र अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से सम्बन्धित लोकमत राष्ट्रीय नीतियों के अभिकरणों के द्वारा ढाला जाता है। ये अभिकरण जैसाकि पहले से निर्दिष्ट हुआ है, नैतिकता की अपनी अवधारणाओं के लिए अधिराष्ट्रीय अथवा, सार्वभौमिक मान्यता का दावा करते मालूम होते हैं।

विश्व की मनोवैज्ञानिक एकता

सभी राजनीतिक तर्कों एवं विरोधों के नीचे मनोवैज्ञानिक लक्षणों एवं उच्चाकांक्षाओं का एक निश्चित न्यूनतम होता है। उस पर सभी मानव जाति का सम्मिलित कब्ज़ा है। सभी मनुष्य जीवित रहना चाहते हैं, और तदर्थ, जीवन के लिए आवश्यक वस्तुएं चाहते हैं। सभी मनुष्य स्वतन्त्र होना चाहते हैं, और इसलिए, आत्म-अभिव्यक्ति तथा आत्म-विकास के वे अवसर चाहते हैं, जिनको उनकी विशिष्ट संस्कृति वांछनीय समझती है। सभी मनुष्य शक्ति की खोज में रहते हैं और, इसलिए, फिर अपनी संस्कृति के विशिष्ट प्रतिरूप से विभिन्न सामाजिक प्रभेदों की खोज करते हैं, जोकि उनको अपने साथी लोगों से आगे तथा उनके ऊपर स्थित करते हैं।

सभी मनुष्यो के लिए समान, इस मनोवैज्ञानिक आधार पर दार्शनिक दृढ़-विश्वासो, नैतिक अभिधारणाओ, तथा, राजनैतिक उच्चाकाक्षाओ का एक भवन खडा होता है। इनमे वे भी सभी मनुष्य विशेष परिस्थितियो मे सहभागी रह सकते है। परन्तु वास्तव म ये ऐसे होते नही। सभी मनुष्य उनमे तभी सहभागी हो सकते है, जब जिन परिस्थितियो के अन्तर्गत मनुष्य रहने, स्वतन्त्र होने, तथा शक्ति रखने की अपनी इच्छा सन्तुष्ट कर सकते हैं, समस्त विश्व में एकसी होती। इसके अतिरिक्त जिन परिस्थितियो में इस प्रकार सन्तुष्ट होना रोका जाता है, तथा जिनके लिए सघर्ष होना चाहिए वे भी सर्वत्र समरूप होती। मनुष्य क्या खोजते है, क्या पाने मे समर्थ है? उनको किसकी मना हो जाती है तथा किसके लिए सघर्ष करना चाहिए? सभी मनुष्यो का सम्मिलित अनुभव वास्तव में दृढ़-विश्वासो, अभिधारणाओ तथा उत्कृष्टाकाक्षाओ का ऐसा समुदाय बना देता, जोकि विश्व लोकमत के लिए मूल्याकन के सामान्य मानक प्रदान करता। इस विश्व लोकमत के मानको की कोई अवज्ञा, मानवता की ओर से स्वचालित प्रतिक्रियाओ की माग करती। ऐसी स्थिति मे सभी परिस्थितियो की कल्पनात्मक समरूपता के समय, सभी मनुष्यो को भय होता कि जो एक समूह के साथ है, वह किसी समूह के साथ हो सकता है।

परन्तु वास्तविकता, समस्त विश्व मे परिस्थितियो की समरूपता की हमारी धारणा के अनुरूप नही है। रहन सहन के स्तर मे उतार-चढाव सामूहिक भुखमरी से लेकर अत्यन्त समृद्धि तक अन्तर वाले हो सकते हैं। स्वतन्त्रता मे, निरकुश शासन से लोकतन्त्र तक, आर्थिक दासता से समता तक उतार चढाव हो सकता है। शक्ति मे उतार-चढाव, चरम असमानताओं, तथा एक व्यक्ति के अनियन्त्रित शासन से सविधानी परिसीमाओ से बद्ध शक्ति के विस्तृत वितरण तक हो सकता है। यह राष्ट्र स्वतन्त्रता का उपभोग करता है, किन्तु भूखा मरता है। उस राष्ट्र का पेट भरा हुआ है, किन्तु उसे स्वतन्त्रता की उत्कण्ठा है। एक अन्य, जीवन की सुरक्षा तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता का उपभोग करता है, किन्तु एक एकतन्त्रीय शासन के नीचे दु ख पाता है। परिणाम-स्वरूप, दार्शनिक दृष्टि से मानवता की समरूपता समस्त विश्व मे बहुत है। बहुत से राजनीतिक दर्शन अपनी सामान्य भलाई, विधि, शान्ति एव सुव्यवस्था, जीवन, स्वतत्रता, तथा प्रसन्नता के मूल्याकन मे सहमत हैं। फिर भी नैतिक निर्णय तथा राजनीतिक मूल्याकन मे भारी भेद दिखलाई पडता है। समान नैतिक एव राजनीतिक अवधारणायें विभिन्न वातावरणो म विभिन्न अर्थ लगाती हैं। न्याय तथा लोकतन्त्र का यहा एक अर्थ रहा, वहा यह बिल्कुल भिन्न रहा। अन्तर्राष्ट्रीय दृश्य पर एक समूह के द्वारा अनैतिक तथा अन्यायपूर्ण ठहराई हुई चाल को, इसके विपरीत एक दूसरे के

द्वारा प्रशंसा होती है। एक ओर तो, मनोवैज्ञानिक लक्षणों एवं तात्विक उच्चाकांक्षाओं का अन्तर है, तथा दूसरी ओर सहभागित राजनीतिक अनुभवों सार्वभौमिक नैतिक दृढ़ विश्वासों एवं सामान्य राजनीतिक उत्कृष्टाकांक्षाओं की अनुपस्थिति है। यह जैसी कि मानवता हमारे युग में संगठित है विश्व लोकमत के अस्तित्व के लिए इसकी असम्भवना निरूपित करती है।

औद्योगिक एकीकरण की संदिग्धता

यह समरूप युग, एक ऐसे विकास का साक्षी है जिसने यदि वास्तव में विश्व के औद्योगिक एकीकरण को नहीं बनाया है तो विश्व लोकमत को इसकी सिद्धि के समीप अवश्य ला दिया है। जब हम कहते हैं कि यह "एक विश्व" है तो हमारा केवल यह अर्थ नहीं होता कि संचार के आधुनिक विकास ने भौतिक सम्पर्कों तथा मानव जाति के सदस्यों के बीच सूचना एवं विचारों की भौगोलिक दूरियों को वस्तुतः मिटा दिया है। हमारा यह भी अभिप्राय है कि भौतिक एवं मानवता को समेट कर चलने वाले अनुभव के साम्य को जन्म दिया है। इससे एक विश्व लोकमत पनप सकता है। यद्यपि वह परिणाम तथ्यों द्वारा सिद्ध नहीं होता। दो विचार दिखलाते हैं कि नैतिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में ऐसा कुछ नहीं है, जो कि विश्व के औद्योगिक एकीकरण के अनुरूप है। इसके बिल्कुल विपरीत, आज विश्व नैतिक एवं राजनीतिक एकीकरण से उससे भी दूर है, जितना कि वह और भी कम अनुकूल औद्योगिक परिस्थितियों में था।

सर्वप्रथम, विभिन्न देशों में संचार की बहुत अधिक सुविधायें जुटाते हुए, आधुनिक औद्योगिक ने अपनी सरकारों तथा वैयक्तिक अभिकरणों को ऐसे संचार असम्भव बनाने के लिए अपूर्व शक्ति दी है। आज की अपेक्षा दो सौ वर्ष पूर्व, एक शिक्षित रूसी के लिए फ्रांसीसी राजनीतिक दर्शन एवं कार्य पद्धति सीखना अधिक सरल था। एक अंग्रेज को, जो उस समय अपने राजनीतिक विचारों को फ्रांसीसियों में फैलाना चाहता था, आज से अधिक अच्छा अवसर था। उस समय एक स्पेनवासी के लिए उत्तरी अमरीकी महाद्वीप में प्रवास, अथवा यात्रा भी आज की अपेक्षा अधिक सरल थी, क्योंकि आधुनिक औद्योगिकी ने व्यक्तियों के लिए भौगोलिक दूरियों की चिन्ता किए बिना दूसरे व्यक्तियों के साथ संचार न केवल औद्योगिक रूप में सम्भव बना दिया है इसने सरकारी तथा संचार के प्रशासकीय अधिकरणों के लिए औद्योगिकीय ढंग से ऐसे संचार को पूर्णतया काट फेंकना भी सम्भव बना दिया है। यह इस बात पर निर्भर है कि क्या वे उसे उचित मानते हैं। व्यक्तियों में संचार अधिकांशतः तकनीकी सम्भावना के क्षेत्र में ही रहे हैं। किन्तु

सरकारी तथा वैयक्तिक नियन्त्रण एक तकनीकी एवं राजनीतिक वास्तविकता बन गया है।

पचास वर्ष पूर्व, अमरीकन नागरिक को, जो विदेश घूमने जाना चाहता था, वहां जाने के लिए केवल यातायात के साधन पर अधिकार की आवश्यकता थी। आज, औद्योगिकी के एक विश्व में उसे ऐसा करने का कोई अवसर नहीं मिलेगा, यदि उसके पास उन सरकारी कागजों में से एक की भी कमी है, जिसके बिना कोई भी मनुष्य सीमा पार करने में समर्थ नहीं है। तथापि, केवल 1914 में, पिछड़ेपन का, तथा लगभग बर्बरता का कलंक केवल उन दो बड़े देशों के रूप में रूस तथा टर्की के साथ लगा था। केवल उनके राष्ट्रीय प्रदेश को छोड़ने तथा उसमें प्रदेश के लिए पासपोर्ट की आवश्यकता थी। हमको यह नहीं भूलना चाहिए कि यह आधुनिक औद्योगिकी ही है, जिसने समग्रवादी सरकारों को अपने नागरिकों को नैतिक तथा बौद्धिक आहार पर रखकर, उनमें निश्चित विचारों एवं सूचना का सम्भरण करके दूसरों से अलग रखना सम्भव बना दिया है। यह आधुनिक औद्योगिकी ही है, जिसने समाचारों एवं विचारों के संग्रह एवं प्रसार को एक बड़ा व्यापार बना दिया है। इसमें पूँजी के अधिक संचय की आवश्यकता है।

औद्योगिकी की दृष्टि से आदिकालीन युग में, जब मुद्रण हाथ से होता था, साधारण साधनों का कोई व्यक्ति अपनी पुस्तक, पुस्तिका, अथवा समाचार-पत्र का अपने व्यय पर मुद्रण एवं वितरण करा कर लोगों के समीप पहुंच सकता था। आज लोगों के वृहत समूह का कहीं भी अभिव्यक्ति के साधनों पर प्रभाव नहीं है। कुछ अपवादों को छोड़कर, केवल बहुत साधनों वाले मनुष्य एवं संगठन तथा वे जो उनके द्वारा स्वीकृत मत रखते हैं, लोकमत के अखाड़े में सुनवाई करा सकते हैं। वस्तुत सभी देशों में इन मतों का काफी भाग उसका समर्थन करता है, जिसे क्रमशः राष्ट्रीय सरकारें विदेशी सरकारों के साथ अपने सम्बन्धों में राष्ट्रीय हित समझती हैं। राष्ट्रीय दृष्टिकोण के प्रतिकूल कम सूचना तथा कुछ विचारों को ही लोगों तक पहुंचने की अनुमति मिलती है। ये इन उक्तियां इतनी सुस्पष्ट हैं कि इनके लिए विस्तृत विवेचन की आवश्यकता नहीं है। यह वास्तव में औद्योगिकी की दृष्टि से "एक विश्व" है। यह इस कारण से नहीं है कि यह नैतिक अथवा राजनीतिक दृष्टि से एक विश्व है अथवा ऐसा हो जायेगा। तकनीकी ढंग से औद्योगिकी का जो विश्व सम्भव है, उसका जिन वास्तविक परिस्थितियों में विभिन्न राष्ट्र के सदस्यों में सूचना तथा विचारों का विनिमय होता है, उनमें कोई प्रतिरूप नहीं है।

तथापि, यदि भू-मण्डल पर सूचना एवं विचारों को स्वतन्त्र रूप से इधर-उधर होने की आज्ञा होती, तो भी विश्व-लोकमत का अस्तित्व किसी भी कारणवश आश्वस्त न होता। जिनका विश्वास है कि विश्व लोकमत समाचारों के उन्मुक्त बहाव का प्रत्यक्ष परिणाम है, वे सचरण की तकनीकी प्रक्रिया तथा सचरित होने वाली वस्तु के बीच अन्तर करने में असफल रहते हैं। वे केवल सचरण-क्रिया के साथ व्यवहार रखते हैं, तथा सचरित होने वाली वस्तु की उपेक्षा करते हैं। सचरित होने वाली सूचना तथा विचार उन अनुभवों के प्रतिबिम्ब हैं जिन्होंने विभिन्न लोगों के दर्शनों, नीतिशास्त्रों तथा राजनैतिक धारणाओं को ढाला है। यदि वे अनुभव तथा उनकी बौद्धिक व्युत्पत्तियाँ समस्त मानवता में समरूप होती है, तो सूचना एवं विचारों का मुक्त बहाव स्वत एक विश्व मत का निर्माण हो जाता। वास्तव में, जैसाकि हमने देखा है, मनुष्यों में सामान्य तात्विक उच्च आकांक्षाओं के ऊपर मानवता का एकीकरण करने वाले अनुभव की कोई पहिचान नहीं है। चूँकि यह ऐसा है, अमरीकन, भारतीय, रूसी में से प्रत्येक उसी समाचार-विषय को अपने विशेष दार्शनिक, नैतिक तथा राजनीतिक दृष्टिकोण से देखेगा, तथा विभिन्न दृष्टिकोण समाचार को विभिन्न रंग देंगे। कोरियाई युद्ध अथवा 1956 की हंगरी की क्रान्ति एक सूचना-योग्य विषय के रूप में उस पर कोई मत निश्चित करने के अतिरिक्त, विभिन्न प्रेक्षकों की दृष्टि में विभिन्न महत्व रखेंगे।

विभिन्न, दृष्टिकोण, न केवल सूचना के उसी भाग को रंग देंगे, परन्तु वे विश्व भर की दैनिक घटनाओं से क्या सूचना-योग्य है, उस चयन को भी प्रभावित करेंगे। "मुद्रित होने योग्य सभी समाचारों का न्यूयार्क टाइम्स के लिए एक दूसरा, तथा हिन्दुस्तान टाइम्स के लिए कुछ और अर्थ है। उन विभिन्न समाचार-पत्रों की वास्तविक विषय-सामग्री की किसी विशेष दिन तुलना इस तर्क को सिद्ध कर देती है। जब दर्शन, नैतिकता तथा राजनीति के प्रकाश में समाचारों के अर्थ का प्रश्न आता है, तो वह भेद, जोकि विभिन्न राष्ट्रों के सदस्यों को एक दूसरे से पृथक करते हैं, पूर्णतया अभिव्यक्त हो जाते हैं। सूचना की वे ही मद तथा वे ही विचार एक अमरीकन, एक रूसी, तथा एक भारतीय के लिए कुछ विभिन्न अर्थ रखते हैं। कारण यह है कि सूचना की वह मद तथा वह विचार जिन मस्तिष्कों के द्वारा समझे जाते, आत्मसात तथा परिष्कृत होते हैं, उनपर विभिन्न अनुभवों का प्रभाव होता है। क्या सत्य, अच्छा, तथा राजनीतिक दृष्टि से वाञ्छनीय एवं कालोचित है, यह विभिन्न अवधारणाओं से ढाला जाता है।

इस प्रकार, यदि हम एक विश्व मे भी रहे होते जो वास्तव में राष्ट्रीय सीमाओ की चिंता किए बिना मुक्त रूप से घूमने वाले लोगो, समाचारो, एव विचारो के साथ आधुनिक औद्योगिकी के द्वारा एकीभूत होता, तो भी हमारे समक्ष विश्व लोकमन नही होता। क्योकि, यदि मनुष्यो के मस्तिष्क राजनीतिक अडचनो के बिना परस्पर आदान-प्रदान करने मे समर्थ होते, तो भी वे मिले न होते। यदि अमरीकन, रूसी तथा भारतीय एक दूसरे के साथ बोल सकते तो वे विभिन्न भाषाओ मे बोलते। यदि उन्होने एक से ही शब्द कहे होते तो उन शब्दो के उनमे से प्रत्येक के लिए विभिन्न लक्ष्य, मूल्य एव आकाक्षायें होती। यही लोकतत्र, स्वतत्रता, सुरक्षा जैसी अवधारणाओ के साथ है। वे प्रत्याशित सहानुभूतिपूर्ण प्रत्युत्तर को पाये बिना उन्ही शब्दो का सचार करने वाले हैं, जिनमे अधिकतम दृढता से रखे गये उनके दृढ विश्वास, गूढतम मनोभाव तथा अधिकतम तीक्ष्ण उच्च आकाक्षायें है। विभिन्न रूप से निर्मित मस्तिष्को की भ्रम-मुक्ति के, विभिन्न राष्ट्रो के सदस्यो को एकीकृत करने के स्थान पर और भी अलग कर दिया है। विश्व के लोकमत मे विलय करने के स्थान पर इसने विभिन्न राष्ट्रीय लोकमतो की कोर को कडा बना दिया है, तथा उनके अनन्यता के दावो को अधिक सबल बनाया है।

राष्ट्रवाद की अड़चन

इन पिछले पृष्ठो मे किये गये प्रेक्षण के महत्व के निदर्शन के लिए हम वुड्रो विल्सन के चौदह सूत्रो पर विचार करें। प्रथम विश्वयुद्ध के पिछले महीनो में, राष्ट्रीय सीमाओ एव युद्धकारी कैम्पो में से एक अथवा दूसरे की ओर निष्ठा की चिंता किए बिना ये चौदह सूत्र, एक न्यायसगत एव टिकाऊ शाति-समझौता करने के लिए आवश्यक समझे जाते थे। वे मानवता के इतने बडे भाग के द्वारा स्वीकृत हुए कि वास्तव में उनके समर्थन मे एक विश्व-लोकमत का अस्तित्व मालूम होता था। तथापि, जैसाकि मिस्टर वाल्टर लिपमेन के चौदह सूत्रो के समर्थन में लोकमत के उत्कृष्ट विश्लेषण ने स्पष्ट किया है .

"यह मानना भूल होगी कि प्रत्यक्ष रूप से सब लोगो के जिस कार्य-क्रम पर सहमति प्रकट करता था, प्रत्येक व्यक्ति को उसमें थे कुछ मिलता प्रतीत होता था, जिसको वह चाहता था, तथा केवल पहलू अथवा विस्तार का अन्तर था। परन्तु कोई विचार-विमर्श की जोखिम उठाने के लिए तैयार न था। सभ्य विश्व मे निहित द्वन्द्वो से इस प्रकार परिपूर्ण वाक्याशो को स्वीकार किया। वे विरोधी विचारो के प्रतीक थे। परन्तु वे एक सामान्य मनोभाव को उत्पन्न करते थे। और उस सीमा तक उन्होने युद्ध के उन दस महीनो तक पाश्चात्य लोगो को एकत्र

करने में अपनी भूमिका का निर्वाह किया, जिनको उन्हें अब भी हस्तान्तरित करना था।

"जब नए चौदह सूत्रों ने युद्ध के संताप के समाप्त हो चुकने के बाद उस धुंधले एवं सुखद भविष्य का जिक्र किया, अर्थ निर्णय के वास्तविक द्वन्द्व अभिव्यक्त नहीं हुए। वे एक पूर्णतया अदृश्य वातावरण के निश्चय के लिए योजनायें थीं। और क्योंकि ये योजनायें सभी समूहों में से प्रत्येक को अपनी व्यक्तिगत आशा से प्रेरित करती थीं, सभी आशायें एक साथ एक सार्वजनिक आशा बन कर दौड़ती थीं। जैसे जैसे आप अधिकाधिक गुटों को सम्मिलित करने के लिए पदसोपान पर चढ़ते जाते हैं, आप कुछ समय के लिए भावात्मक सम्बन्धों का भले ही परिरक्षण कर सकें, किन्तु आप बौद्धिक सम्बन्धों को खो बैठते हैं। परन्तु मनोभाव भी अधिक दुर्बल हो जाता है। जैसे जैसे ही आप अनुभव से और अधिक दूर जाते हैं, आप सामान्यीकरण अथवा सूक्ष्मता में और ऊपर उठ जाते हैं। जैसे कि आप गुब्बारे में ऊपर उठते हैं, आप बहुत से मूर्त पदार्थों को नीचे फेंकते जाते हैं। जब आप कुछ वाक्यांशों, जैसे मानवता के अधिकार अथवा लोकतन्त्र के लिए सुरक्षित बनाये हुए विश्व के आदेशों के साथ चोटी पर पहुंच चुकते हैं तो आप दूर-दूर तक देखते हैं, परन्तु आपको बहुत कम दिखलाई पड़ता है। तथापि जिन लोगों के मनोभाव इस प्रकार सवार होते हैं, वे निष्क्रिय नहीं रहते। जैसे जैसे सार्वजनिक अपील सभी मनुष्यों के लिए सब कुछ होती जाती है, जैसे-जैसे मनोभाव विलोडित होता जाता है, उसके प्रयत्न ही व्यक्तिगत अर्थों का एक सार्वभौमिक प्रयोग होता है। उसका पहला अर्थ तितर-बितर हो जाता है। जिसकी आपको बुरी तरह से आवश्यकता है, वे मानवता के अधिकार हैं। क्योंकि और भी रिक्त तथा लगभग सब कुछ अर्थ लगा सकने वाला वाक्यांश कुछ समय में लगभग सभी अर्थ देने लगता है। मिस्टर विल्सन के वाक्यांश पृथ्वी के प्रत्येक कोने में अनन्त रूप में विभिन्न रूपों में समझे जाते थे। और इसलिए, जब समझौते का समय आया तो प्रत्येक व्यक्ति सब कुछ चाहता था। सन्धि के यूरोपीय निर्माताओं के पास एक बड़ा विकल्प था। उन्होंने उन प्रत्याशाओं की पूर्ति को पसन्द किया, जो उनके उन देशवासियों को प्रिय थीं। ये देशवासी देश में अधिकतम शक्ति का उपभोग करते थे।

'वे मानवता के अधिकारों से, फ्रांस, ब्रिटेन तथा इटली के अधिकारों की ओर उतरते आते थे। उन्होंने प्रतीकों का प्रयोग नहीं छोड़ा। उन्होंने केवल उन्हीं प्रतीकों को छोड़ा, जिनकी युद्ध के उपरान्त उनके घटकों की कल्पना में कोई स्थाई जड़ें नहीं थीं। उन्होंने प्रतीकवाद का प्रयोग करके फ्रांस की एकता का परिरक्षण किया। परन्तु वे यूरोपीय एकता के लिए कोई जोखिम उठाने को तैयार न थे।

फ्रास के प्रतीक के साथ लोगो का गहरा सम्बन्ध था। किन्तु यूरोप के प्रतीक का केवल हाल का ही इतिहास था।"[5]

विल्सन के चौदह सूत्रो के समर्थन मे मिस्टर लिपमेन का प्रत्यक्ष विश्व-लोकमत का विश्लेषण समस्या-गुत्थी को खोल देता है। वह उन मानवता के दृढ विश्वासो तथा उत्कृष्टाकाक्षाग्रो और विश्व-व्यापी मामलो के बीच अपने सभी बौद्धिक, नैतिक एव राजनीतिक सहवर्तियो के साथ राष्ट्रवाद का अन्त स्थापन है। इन मामलो का मनुष्यो को सर्वत्र सामना करना पडता है। मनुष्यो ने चौदह सूत्रो के शब्दो के साथ सर्वत्र-अभिज्ञान किया। किन्तु यह विशेष राष्ट्रवाद ही थे जोकि मनुष्यो के मस्तिष्को को ढालते हुए तथा मार्ग-निर्देशन करते हुए, विशेष रग से उन्हे चित्रित करते थे। वे उनको अपनी विशेष उच्च आकाक्षाग्रो का प्रतीक भी बनाते थे।

तथापि राष्ट्रवाद का उन विषयो पर वही प्रभाव है जिनके सम्बन्ध मे मानवता ने न केवल सामान्य शाब्दिक अभिव्यक्तियो, • वरन् मामले के अस्तित्व पर प्रभाव रखने वाले एक मतैक्य का विकास भी कर लिया है। ये अभिव्यक्तिया चौदह सूत्र, लोकतत्र, स्वतत्रता तथा सुरक्षा आदि हैं। समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे विश्व मे कही भी युद्ध की वीभत्सता इसके विरोध तथा इसको दूर करने की इच्छा से अधिक व्यापकता-प्राप्त कोई मत नही है। जब वे युद्ध के विषय मे इस सदर्भ मे सोचने तथा बोलते हैं, तो वाशिगटन, मास्को, पीकिंग नई देहली, लदन, पेरिस तथा मेड्रिड की सडको हर मनुष्यो के मस्तिष्क मे वही बात होती है। यह है सामूहिक विनाश के आधुनिक साधनो द्वारा लडा जाने वाला युद्ध। युद्ध के विषय मे एक विशुद्ध विश्व-लोकमत का अस्तित्व दिखलाई पडता है। परन्तु यहा फिर, दिखावटें भ्रामक हैं। जहा तक वह विरोध अपने आपको दार्शनिक शब्दो, नैतिक अभिधारणाग्रो, तथा अमूर्त राजनीतिक आकाक्षाग्रो मे अभिव्यक्त करता है, मानवता युद्ध के अपने विरोध मे सगठित है। यह है स्वन युद्ध के विषय मे, युद्ध के अमूर्त स्वरूप के सम्बन्ध। परन्तु इस प्रकार सयुक्त मानवता अपनी नपुसकता प्रगट कर देती है, तथा प्रत्यक्ष विश्व लोकमत अपने राष्ट्रीय अवयवो म खडित हो जाता है। जबकि समस्या अमूर्त रूप मे न होकर एक विशिष्ट युद्ध के रूप मे है। यह विशिष्ट युद्ध, कोई अन्य युद्ध नही है, वरन् यहा पर और अभी होने वाला युद्ध है।

जब हमारे समय मे वास्तविक युद्ध की सम्भावना प्रबल होती है, मानवता स्वय युद्ध के भय मे तथा विरोध में एक रहती है। यही स्थिति 1938-39 के

5 Walter Lippmann, Public Opinion, pp 914 ff. Copyright 1922, by The Macmillan Company and used with their permission.

सकट के समय थी। परन्तु मनुष्य युद्ध के विरुद्ध इस अमूर्त विरोध का रूपान्तर करने मे असमर्थ है। मानव जाति के अधिकतम सदस्य मानव जाति के सदस्य होने के नाते मध्य-बीसवी शताब्दी की परिस्थितियो से युद्ध को एक पाप मानते हैं। यह युद्ध विजेता को विजित से कुछ ही कम दु खी बनायेगा। किन्तु मानव जाति के अधिकतम सदस्य, अमरीकन, चीनी, अग्रेज तथा रूसी एक विशिष्ट युद्ध को अपने विशेष राष्ट्रो के दृष्टिकोण से देखते हैं। ऐसा उन्होने सदैव किया है। वे उन युद्धो का विरोध करते है, जोकि उन पर प्रभाव नही डालते, जिसे वे अपना राष्ट्रीय हित समझते हैं, जैसेकि इथियोपिया के विरुद्ध इटली का युद्ध। तथापि वे ऐसे कार्यों के करने अथवा समर्थन मे असहमत है, जोकि युद्ध के निवारण अथवा समाप्त करने मे प्रभावकारी हो। क्योकि यदि इसको प्रभावकारी होना है, तो ऐसा कार्य सशक्त होना चाहिए, जिसमे राष्ट्रीय हित को हानियाँ तथा जोखिमे भी उठानी पड सकती है। राष्ट्रीय उद्देश्यो के अतिरिक्त दूसरे उद्देश्यो के लिए युद्ध की जोखिम उठानी पड सकती है और वे राष्ट्रीय उद्देश्य स्वय इस प्रकार आपत्ति मे पड सकते है।

इथियोपिया पर आक्रमण कर चुकने के बाद, इटली के विरुद्ध सहमतिया तथाकथित विश्व लोकमत की प्रकृति का विशुद्ध एव श्रेष्ठ उदाहरण है। यहा लोकमत के द्वारा युद्ध की व्यापक निन्दा तथा राष्ट्रीय हित मे कृत्रिम रूप से अनावश्यक प्रभावकारी कार्यवाही करने की अनिच्छा स्पष्ट दिखलाई पडती है। चर्चिल ने अमूर्त रूप मे युद्ध की निन्दा तथा मूर्त स्थिति मे प्रभावकारी ढग से कार्यवाही करने की अनिच्छा की द्विविधा का तीव्रता से वर्णन किया। उन्होने विश्व लोकमत के त्रिदिश क्षत्र के प्रतिनिधि के विषय मे कहा "पहले प्रधानमत्री ने घोषणा की थी कि सहमतियो का अर्थ युद्ध था। दूसरी ओर, उसने दृढ निश्चय कर लिया था कि युद्ध नही होना चाहिए। तीसरी ओर, उसने सहमतियो का निश्चय भी किया। इन तीनो शर्तों की पूर्ति करना प्रत्यक्ष रूप मे असम्भव था।"[6]

जब कभी किसी युद्ध का भय होता है अथवा उसका प्रारम्भ हो जाता है, तो विश्व-लोकमत जोकि राष्ट्रो के हितो को प्रभावित करता है, एक सयुक्त शक्ति के रूप परिचालित होना बन्द कर देता है। ऐसी परिस्थितियो म युद्ध की सार्वभौमिक निदा के केन्द्र मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो जाता है। इस प्रकार युद्ध का विरोध उस राष्ट्र के विरोध मे रूपान्तरित हो जाता है जोकि किसी विशेष युद्ध के प्रारम्भ की धमकी देता है अथवा जिसने युद्ध प्रारम्भ कर दिया है। यह राष्ट्र

6. London Evening Standard, June 26, 1936.

सदैव राष्ट्रीय शत्रु के समरूप होना है, जिसकी युद्धकारी प्रवृत्ति राष्ट्रीय हित को भय उत्पन्न करती है। इसलिए, एक युद्धोत्तेजक के रूप से इसका विरोध होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, युद्ध की सार्वभौमिक निंदा की सामान्य भूमि में से निंदा की विशिष्ट कार्यवाहियां उत्पन्न होती हैं। वे उसके विरुद्ध निर्दिष्ट होती हैं जो कोई युद्ध के माध्यम से विशिष्ट राष्ट्रों के हितों को खतरा उत्पन्न करता है। फिर जितने युद्ध के माध्यम से दूसरों के हितों को भय उत्पन्न करने वाले राष्ट्र हैं, उतने ही राष्ट्रीय लोकमतों द्वारा निंदित युद्ध छेड़ने वाले राष्ट्र होंगे।

इस विषय में, 1938 से समस्त विश्व में परिस्थिति शिक्षाप्रद है। इतिहास के उस काल में सभी राष्ट्र समान रूप से युद्ध के सामान्य रूप में विरुद्ध रहे हैं। तथापि, जब एक क्रियाशील लोकमत के गठन का प्रश्न उठा जोकि किसी विशेष युद्ध के निवारण अथवा उसके विरोध में कार्यवाही करेगा, तो जो रेखायें खींची गईं, वे विशेष स्थिति में निहित राष्ट्रीय हितों के अनुसार थीं। इस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन तथा फ्रांस के लोकमत ने उस समस्त समयावधि में, जर्मनी की युद्ध के एक संभाव्य अथवा वास्तविक अधिकर्त्ता के रूप में निंदा की। तथापि इसने इस आधार पर सोवियत संघ की केवल अगस्त 1939 से जून 1941 तक निंदा की। अर्थात् ऐसा रूसी-जर्मन समझौते के समय में हुआ। 1945 के अन्त से, इन दोनों देशों में लोकमत विश्व-शान्ति के लिए भय के रूप में सोवियत संघ की विदेश नीतियों के फिर विरुद्ध रहा है।

दूसरी ओर, रूसी लोकमत ने अगस्त 1939 में जर्मनी के साथ समझौता न होने तक, जर्मनी का शान्ति के लिए मुख्य संकट के रूप में विरोध किया। तब से जून 1941 में सोवियत संघ के विरुद्ध जर्मन आक्रमण न होने तक, पाश्चात्य लोकतंत्र युद्धोत्तेजक के रूप में समझे जाते थे। जर्मनी के आक्रमण ने रूसी मत को जर्मनी के विरुद्ध विचलित कर दिया। यही नहीं 1945 व लगभग अन्त तक रूसी जनता के मस्तिष्क में शान्ति के लिए भय के रूप में जर्मनी ने अपना पहला स्थान फिर ले लिया। 1945 के अन्त से रूसी लोकमत उत्तरोत्तर हुए रूप में, संयुक्त राज्य को शान्ति के लिए मुख्य खतरे के रूप में समझने लगा है। अमरीकन 1945 के अन्त तक ब्रिटिश तथा फ्रान्सीसी दृष्टिकोण के साथ तीव्रता की विभिन्न मात्राओं में अनुरूप हो गया। फिर रूसी अभिनन्दन के प्रत्युत्तर में अमरीका ने सोवियत संघ को शान्ति के लिए प्रधान खतरा समझना प्रारम्भ कर दिया। संयुक्त राज्य में इस मत की तीव्रता सोवियत संघ में मत की उठती हुई तीव्रता के समानान्तर ही थी।

कोरियाई युद्ध के प्रति विभिन्न राष्ट्रों की प्रवृत्ति इस विश्लेषण का औचित्य सिद्ध करती है। कोरियाई युद्ध की सार्वभौमिक आधार पर 'विश्व लोकमत' द्वारा

निंदा हुई। तथापि, जबकि सोवियत संघ तथा इसके समर्थकों ने इसके लिए संयुक्त राज्य तथा इसके संश्रित राष्ट्रों को दोषी ठहराया संयुक्तराज्य तथा इसके संश्रित राष्ट्रों ने सोवियत संघ का समर्थन पाने वाले उत्तरी कोरिया तथा चीन को अत्याचारी माना, तथा भारत जैसे तटस्थों ने दोनों कैम्पों को दोषी ठहराया। इस युद्ध मे विभिन्न राष्ट्रों का वास्तविक रूप मे भाग लेना इसी प्रकार इनकी राष्ट्र हित की अवधारणाओं द्वारा निर्धारित हुआ। चीन तथा संयुक्त राज्य जैसे राष्ट्रों ने, जिनके हित प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित हुए तथा जिनके पास उनकी रक्षा करने की शक्ति थी, युद्ध का मुख्य भार उठाया। फ्रान्स जैसे अन्य राष्ट्रों ने केवल सीमित हितों एवं साधनों के साथ, इस युद्ध मे सीमित रूप मे ही भाग लिया। डेनमार्क जैसे दूसरों ने जिनका न हित था न साधन थे, तथा भारत ने, जिसका दूर रहने मे निश्चय ही हित था, कोई सक्रिय भाग कदापि नही लिया।

इस प्रकार, जब कभी शान्ति के लिए किसी ठोस खतरे का विकास होता है, तो युद्ध का केवल एक विश्व लोकमत के द्वारा ही नही, वरन् उन राष्ट्रों के लोकमतो के द्वारा भी विरोध होता है, जिनके हितों को उस युद्ध के द्वारा भय उत्पन्न होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि विश्व मे शान्ति के परिरक्षण की अपनी आशाओं को एक विश्व लोकमत पर आधारित करना स्पष्ट रूप से निरर्थक है। यह आजकल प्रत्याशित युद्ध के निवारण मे समर्थ कार्यवाही के स्रोत के रूप मे संगठित न होकर केवल सामान्य मनोभाव के रूप मे संगठित है।

जब कभी कोई लोकप्रिय वाक्य रचना की सतह मे झाक कर देखता है तो उसे पता लगता है कि राष्ट्रीय सरकार की विदेश नीतियों मे रुकावट डालने वाले विश्व लोकमत का कोई अस्तित्व नही है। विश्व लोकमत की प्रकृति का अन्तिम सामान्य विचार समाज की लोकरीतियों मे क्रियाशील होता है। यह स्पष्ट प्रकट करता है कि वर्तमान विश्व-परिस्थितियों मे यह इससे भिन्न नही हो सकता है। एक सक्रिय लोकमत के बिना कोई एक समाज की कल्पना कर सकता है और वहा ऐसे एक-राष्ट्रीय समाज निस्सन्देह रहे भी है तथा अब भी रहते है, जिनका लोकमत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे सक्रिय शक्ति के रूप मे परिचालित नही होता। किन्तु यह स्पष्ट है कि बिना समाज के किसी भी लोकमत का अस्तित्व नही हो सकता। तथापि, समाज का अर्थ है निश्चित मूलभूत नैतिक एवं सामाजिक मामलों से सम्बन्धित मतैक्य। जब समाज की लोकरीतिया राजनीतिक मामलों से सम्बन्ध रखती है तो इस मतैक्य का स्वरूप प्रबल रूप से नैतिक होता है। दूसरे शब्दो मे, जब लोकमत किसी विशिष्ट राजनीतिक समस्या के सम्बन्ध मे लोक-रीतियों के रूप मे क्रियाशील हो जाता है, तो लोग सामान्यतया अपने नैतिक मानकों का प्रभाव उस समस्या पर डालते हैं। यही

नही वे उन मानको के अनुसार उनका हल भी कराते है। राजनीतिक कार्यवाही पर अपना नियन्त्रणकारी प्रभाव डालने मे समर्थ लोकमत किसी समाज तथा सामान्य नैनिकता को मानकर चलता है। इससे इसे अपने कार्यवाही के मानक प्राप्त होते है। इस प्रकार के विश्व लोकमत के लिए एक विश्व समाज तथा एक नैतिकता की आवश्यकता होती है, जिसके द्वारा सम्पूर्ण मानवता अन्तर्राष्ट्रीय मच पर राजनीतिक कार्यवाहियो का निर्णय करती है।[7]

जैसाकि हम देख चुके है, ऐसे विश्व समाज तथा ऐसी सार्वभौमिक नैनिकता का कोई अस्तित्व नही है। एक ओर जीवन की तात्विक आकांक्षायें, स्वतन्त्रता, तथा शक्ति है जोकि मानवो का एकीकरण करती है, और जोकि विश्व समाज तथा सार्वभौमिक नैतिकता के लिए जडें प्रस्तुत करने मे समर्थ हैं। दूसरी ओर मानव जाति के सदस्यो द्वारा वास्तव मे अपनाये हुऐ राजनीतिक दर्शन, नीति शास्त्र तथा ध्येय है। इनके बीच राष्ट्र का हस्तक्षेप होता है। राष्ट्र सर्वत्र मनुष्यो के मस्तिष्को एव हृदयो को विशेष अनुभवो से भरता है। यही नही, वह उनको व्युत्पन्न राजनीतिक दर्शन की विशेष धारणाओ, राजनीतिक नैतिकता के विशेष मानको, तथा राजनीतिक कार्यवाही के विशेष लक्ष्यो से भी भर देता है। फिर, अनिवार्य रूप से, मानव जाति के सदस्य सार्वभौमिक नैतिकता के मानको का प्रयोग करने वाले एक विश्व समाज के सदस्यो के नाते नही, वरन् नैतिकता के अपने-अपने राष्ट्रीय मानको द्वारा निर्देशित अपने-अपने राष्ट्रीय समाजो के सदस्यो के नाते, राजनीतिक ढग से रहते तथा कार्य करते है। राजनीति मे अन्तिम तथ्य राष्ट्र है, मानवता नही है। 1779 मे एक आयरिश पत्रिका लेखक ने लिखा था "राष्ट्रो मे अपने लिए प्रेम है। एक दूसरे के लिए यह प्रेम कदापि भी नही है। राजनीतिक सगठन के हृदय नही होता। राजनीतिक मानवता जैसी वहा कोई वस्तु नही है।"[8] निश्चय ही, फिर, जो कुछ वास्तविक है वह विभिन्न राष्ट्रो के राजनीतिक दर्शनो, नीतिशास्त्रो तथा आकांक्षाओ के प्रतिबिम्ब मे गठित राष्ट्रीय लोकमत है। राष्ट्रीय सरकारो की अन्तर्राष्ट्रीय नीतियो के

7. जब सयुक्तराष्ट्र महा सभा में सरकारें मतों के वितरण के विषय में उसी प्रकार चिन्तित होती हैं, जैसीकि भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्तियाँ नियमित रूप से होती हैं तो जिसके विषय में वे वास्तव में चिंतित होती हैं, वह अस्तित्वहीन विश्व लोकमत नहीं है वरन् दूसरी सरकारों के साथ उनकी प्रतिष्ठा है, जो एक विपरीत मत के द्वारा यह दिखलाकर कि ऐसी भूतपूर्व औपनिवेशिक शक्ति के पास कितने कम समर्थक हैं, प्रभावित हो सकती है।

8 वालोचितता पर विचार आदि। (Dublin, 1779), quoted after L.B. Namier, England in the Age of the American Revolution (London . Macmillan and Co , 1930) p 42

अवरोधी के रूप में विश्व-लोकमत केवल एक अभिधारणा है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों की वास्तविकता ने अभी तक कठिनाई से ही विश्व लोकमत का कोई लक्षण प्रकट किया है।

जब कोई राष्ट्र अपने को तथा दूसरे राष्ट्रों को विश्वास दिलाने के लिए, कि इसकी विदेश नीतियां सम्पूर्ण मानवता द्वारा सर्वत्र सहभागित मानकों के अनुरूप हैं, "विश्व लोकमत" अथवा "मानवता के अन्तःकरण" का आह्वान करता है, तो इसका किसी वास्तविकता से सम्बन्ध नहीं होता। यह राष्ट्र केवल नैतिकता की विशेष कल्पना को सभी मानकों पर लागू होने वाली सार्वभौमिक विधियों की प्रतिष्ठा तक उठाने की सामान्य प्रवृत्ति से हार मानता है। इसका हम पहले ज़िक्र कर चुके हैं। जिस विश्वास के साथ अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े में सभी प्रतिरोधी विश्व लोकमत द्वारा बिल्कुल उसी मामले में अपने समर्थन का विश्वास करते हैं। वह उस अगील के अविवेकीपन पर ज़ोर देता है। जैसाकि हम देख चुके हैं, हमारी शताब्दी में, लोग विश्वास करना चाहते हैं कि वे केवल एकमात्र, अथवा सम्भवतया मुख्य रूप से, अपने राष्ट्रीय हितों का ही नहीं, वरन मानवता के विचारों का भी समर्थन करते हैं। एक वैज्ञानिक सभ्यता के लिए, जिसको लोग क्या सोचते हैं, इसकी बहुत कुछ सूचना लोकमताकनों से मिलती हैं, विश्व लोकमत एक काल्पनिक मध्यस्थ बन जाता है। यह वह है जिस पर अपनी निजी तथा प्रत्येक दूसरे की आकांक्षाओं तथा कार्यवाहियों के समर्थन का भरोसा किया जा सकता है। अधिक दार्शनिक प्रवृत्ति रखने वाले लोगों के लिए, 'इतिहास का निर्णय' एक समान कार्य सम्पन्न करता है। धर्मपरायणों के लिए, उनके उद्देश्य के समर्थन के लिए 'ईश्वर की इच्छा' होती है। तथा धर्मानुयायी धर्म अधिकारियों के माध्यम से, एक ही ईश्वर द्वारा, युद्ध की रेखा के दोनों ओर शस्त्रों को आशीष देने तथा दोनों सेनाओं को उपयुक्त विजय अथवा पराजय की ओर ले जाने का अनुपयुक्त दृश्य देखते हैं। यह दृश्य विलक्षण है तथा विचित्र ढंग से धर्म-निंदक है।

अठारहवाँ अध्याय

अंतर्राष्ट्रीय विधि की प्रमुख समस्यायें

अंतर्राष्ट्रीय विधि की सामान्य प्रकृति

पराकाष्ठाओं के विरुद्ध जिस चेतावनी के साथ हमने अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा विश्व लोकमत के विवेचन का प्रारम्भ किया था, उस चेतावनी का अंतर्राष्ट्रीय विधि के विवेचन में भी प्रयोग होना चाहिए। अधिकाधिक संख्या में लेखक यह मत अभिव्यक्त करते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय विधि जैसी कोई वस्तु नहीं है। घटती हुई संख्या में प्रेक्षकों का विचार है कि यदि अंतर्राष्ट्रीय विधि को उचित प्रकार से संहिताबद्ध किया जाय एवं राज्यों के राजनीतिक सम्बन्धों के नियमन के लिए विस्तृत किया जाय, तो वह अपनी आंतरिक शक्ति के द्वारा, अंतर्राष्ट्रीय मंच पर शक्ति-संघर्ष के लिए यदि स्थानापन्न का काम नहीं करेगी तो कम से कम अवरोधक प्रभाव अवश्य डालेगी। जैसाकि प्रोफेसर ब्रायर्ले कहते हैं

"सामान्यतया इसके स्वरूप एवं इसके इतिहास पर गम्भीरता से विचार किए बिना, बहुत से लोगों की धारणा है कि अंतर्राष्ट्रीय विधि मिथ्या है तथा वह सर्वंव मिथ्या ही रही है। दूसरे सोचते प्रतीत होते हैं कि यह अपने अंतर्निहित बल से युक्त एक शक्ति है। यदि हममें विधिज्ञों को राष्ट्रों के लिए एक व्यापक संहिता का प्रारूप बनाने के लिए कार्यरत कराने की बुद्धि होती, तो हम शान्ति से साथ-साथ रह पाते और विश्व में सब कुछ यथाविधि रहा होता। छिद्रान्वेषी अथवा अल्पज्ञानी में कौन कम सहायक है, कहना कठिन है। परन्तु वे दोनों एक जैसी भूल करते हैं। वे दोनों मानते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय विधि एक विषय है, जिस पर कोई भी सम्बद्ध तथ्यों को खोजने का कष्ट किए बिना अपने मत, अर्न्तज्ञान के अनुसार निर्धारित कर सकता है। यह अन्य विषयों के साथ सम्भव नहीं है।[1]

1. J L Brierly, The Outlook for International Law (Oxford. The Clarendon Press, 1944), pp. 1, 2. (Reprinted by permission of the publisher)

अंतर्राष्ट्रीय विधि की आधुनिक प्रणाली उस महान राजनीतिक रूपान्तरण का परिणाम है जिसने मध्य युगों से इतिहास के आधुनिक युग की ओर संक्रमण को अंकित किया। इसे संक्षेप में सामन्तीय प्रणाली का प्रादेशिक राज्य में रूपान्तरण समझा जा सकता है। अपने पूर्वाधिकारी सामन्तीय प्रणाली से प्रादेशिक राज्य प्रणाली को भिन्न करने वाला प्रमुख लक्षण राज्य के प्रदेश में सरकार द्वारा सर्वोच्च शक्ति का धारण करना है। राजा अब राज्य के प्रदेश में, रहने वाले सामन्तों के साथ और अधिक समय तक सहभागी नहीं रहा। इसका वह वास्तविक प्रधान न होकर अधिकांशतः नाम मात्र प्रधान रहा था। न वह इसका चर्च के साथ ही सहभागी था जोकि समस्त मध्य युगों में ईसाई जगत में सर्वोच्च शक्ति का दावा करता था। जब सोलहवीं शताब्दी में इस रूपान्तरण की निष्पत्ति हुई राजनीतिक जगत कुछ राज्यों से बना था। ये राज्य वैध आधार पर किसी धर्म निरपेक्ष शक्ति को अपने ऊपर न मानते हुए एक दूसरे से पूर्ण स्वतन्त्र थे। संक्षेप में वे पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न थे।

अपने प्रदेशों में सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न तथा परस्पर निरन्तर सम्पर्क रखने वाले सत्ताधारियों के परस्पर सम्बन्धों में यदि शांति एवं सुव्यवस्था की कुछ निश्चित मात्रा होती तो यह अनिवार्य था कि कुछ वैध नियमों को उनके सम्बन्धों को नियमित करने अर्थात् पहले से सुनिश्चित कुछ आचरण के नियम होने आवश्यक थे। इनकी अवज्ञा के लिए पहले से ही कुछ स्वीकृतियां आवश्यक लेना होता तथा इनकी प्रकृति और प्रयोग की शर्तें भली प्रकार स्पष्ट होतीं। उदाहरणार्थ, राज्यों को मालूम होना चाहिए कि उनके प्रदेश की स्थल एवं जल परिसीमाएं कहां है। उनको जानना चाहिए कि किन परिस्थितियों में बिल्कुल किसी के भी स्वामित्व में न होने वाले प्रदेश पर वे वैध अधिकार प्राप्त कर सकते हैं (जैसाकि खोज के मामले में) अथवा उस पर जिसपर किसी अन्य राज्य का स्वामित्व है (जैसा कि अर्पण अथवा समामेलन के मामले में)। उनको जानना चाहिए कि उनके प्रदेश में रहने वाले विदेशी नागरिकों पर तथा विदेशों में रहने वाले अपने नागरिकों पर उनकी क्या सत्ता है। जब अ राज्य का झण्डा फहरानेवाला वाणिज्यपोत ब राज्य के किसी बन्दरगाह में प्रविष्ट होता है, तो ब राज्य के उस जलयान पर क्या अधिकार है और यदि वह जलयान एक युद्धपोत है तो क्या स्थिति होगी? एक विदेशी सरकार के विश्वास पर रखे गए राजनयिक प्रतिनिधियों के क्या अधिकार हैं तथा एक राज्य के प्रधान के वैदेशिक भूमि पर क्या अधिकार हैं? एक राज्य का सामुद्रिक अथवा स्थल-युद्ध में लड़ाकुओं सिविलियनों, बन्दियों, तटस्थों के साथ क्या करने की अनुमति है अथवा उनके लिए क्या करना अनिवार्य है? किन परिस्थितियों में दो या अधिक राज्यों में

कोई सन्धि अनिवार्य है। किन परिस्थितियों में यह अपनी अनिवार्यता को खो देती है? और यदि किसी संधि अथवा अंतर्राष्ट्रीय विधि के उल्लघन का दावा किया जाता है तो उल्लघन को अभिनिश्चित करने का किसे अधिकार है? किस-किस प्रकार के तथा किन परिस्थितियों में प्रवर्तन कार्य करने का अधिकार है? ये तथा समरूप प्रकृति के बहुत से अन्य मामले सपूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के सम्बन्धों में आवश्यकतावश उत्पन्न होते हैं। यदि अराजकता तथा हिंसा को दैनिक कार्य-क्रम नहीं बन जाना, तो ऐसी स्थितियों में वैध नियमों का परस्पर अधिकारों तथा दायित्वों का निर्धारण करना चाहिए।

परस्पर सम्बन्धों में राज्यों के अधिकारों एव कर्त्तव्यों को निश्चित करने वाले अंतर्राष्ट्रीय विधि के नियमों का प्रमुख भाग पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दियों में विकसित हुआ। अंतर्राष्ट्रीय विधि के ये नियम 1948 में निश्चक रूप से स्थापित हो गए। यह उस समय था जब वेस्टफेलिया की संधि ने धार्मिक युद्धों का अंत कर दिया तथा प्रादेशिक राज्य को आधुनिक राज्य प्रणाली का महत्वपूर्ण आधार बनाया। ह्यूगो ग्रोशियस का 1628 में प्रकाशित हुआ ऑन द ला ऑफ वॉर एण्ड पीस नामक ग्रंथ अंतर्राष्ट्रीय विधि का उस प्रारम्भिक प्रणाली का विशुद्ध एवं श्रेष्ठ संहिताकरण है। इसकी नीव पर अठारहवीं तथा विशेषतया उन्नीसवीं तथा बीसवीं शताब्दियों ने हजारों संधियों, अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरणों के सैंकड़ो निर्णयों, तथा देशीय न्यायालयों के असख्य निर्णयों से मिलाकर एक भव्य भवन बनाया। ये सधियां तथा निर्णय, बहुधा सूक्ष्म ब्योरे में अंतर्राष्ट्रीय सम्पर्कों की बहुलता तथा विविधता द्वारा जनित राष्ट्रों के बीच के उन सम्बन्धों का नियमन करते हैं जो आधुनिक सचार, वस्तुओं तथा सेवाओं के अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय तथा अंतर्राष्ट्रीय सगठनों के परिणाम हैं। ये वे परिणाम हैं जिनमे अपने सम्मिलित हितों के प्रोत्साहन के लिए अधिकतम राष्ट्रों ने सहयोग किया है। ऐसे सगठनों में अंतर्राष्ट्रीय रेड क्रास, अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय, सयुक्त राष्ट्र के विशिष्ट अभिकरण, जैसे अंतर्राष्ट्रीय श्रम सगठन (आइ० ऐल० ओ०), विश्व स्वास्थ्य सगठन (डब्ल्यू० एच० ओ०), सयुक्तराष्ट्र शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक सगठन (यूनेस्को) सार्वभौमिक डाक सघ, अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक निधि तथा बहुत से अन्य हैं।

इस सम्बन्ध में व्यापक रूप से प्रचलित मिथ्या-धारणा के कारण, यह भी कहना चाहिए कि इसके अस्तित्व के चार सौ वर्षों में बहुत से उदाहरणों में अंतर्राष्ट्रीय विधि को स्वेच्छापूर्वक ढग से निभाया गया है। तथापि, जब इसे

नियमो मे से एक का उल्लघन होता था, तो सदैव उसका प्रवर्तन नही होता था। जब इसके प्रवर्तन के लिए कार्यवाही की जाती थी, तो सदैव प्रभावकारी नही होती थी। तथापि, अतर्राष्ट्रीय विधि के अस्तित्व को अनिवार्य वैध नियमो की एक प्रणाली के रूप मे मानने से इन्कार करना सभी साक्ष्यो के विपरीत है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अस्तित्व के विषय में यह मिथ्या धारणा आशिक रूप म उन असन्तुलित सावधानी का परिणाम है, जिसे लोकमत ने अन्तर्राष्ट्रीय विधि के मुख्य शरीर की उपेक्षा करके एक छोटे भाग के लिये बरता है। लोकमत मुख्यतया अन्तर्राष्ट्रीय विधि के ऐसे अधिदर्शनीय साधनो से सम्बन्धित रहा है, जैसे ब्रिआ-कैलॉग समझौता, राष्ट्रसघ का प्रसविदा, तथा सयुक्तराष्ट्र का चार्टर। ये साधन वास्तव मे सदिग्ध प्रभाव के हैं (अर्थात, उनका बहुधा उल्लघन होता रहता है), और कभी कभी सदिग्ध वैधता के भी है (अर्थात उनको अवज्ञा के मामलो म बहुधा लागू नही किया जाता) तथापि वे अतर्राष्ट्रीय विधि के परम्परागत नियमो, जैसे प्रादेशिक क्षेत्राधिकार की परिसीमाओ, विदेशी समुद्रो म जलयानों के, अधिकार तथा राजनयिक प्रतिनिधियो के स्तर से सम्बन्धित है।

अतर्राष्ट्रीय विधि के अस्तित्व को मानने का यह अर्थ नही है कि यह उतनी प्रभावकारी विधि-प्रणाली है, जितनी राष्ट्रीय विधि-प्रणालियाँ है। विशेषतया इसका यह भी अर्थ नही है, कि यह अतर्राष्ट्रीय मच पर शक्ति सघर्ष के नियमन एव अवरोध मे समर्थ है। अतर्राष्ट्रीय विधि एक आदिकालीन विधि है। जोकि उस विधि के समरूप है, जोकि कुछ अ-शिक्षित समाजो मे प्रचलित है, जैसे कि आस्ट्रेलिया की आदिमवासी जातियो तथा उत्तर केरोलिना के यूराक।[2] यह प्रधानतया एक आदिकालीन विधि है, क्योकि यह लगभग पूर्णतया विकेन्द्रित विधि है।

अतर्राष्ट्रीय विधि की विकेन्द्रित प्रकृति अतर्राष्ट्रीय समाज की विकेन्द्रित प्रकृति का अनिवार्य परिणाम है। देशीय विधि उस समूह के द्वारा आरोपित किया जा सकता है, जो सगठित शक्ति पर एकाधिकार किए है, अर्थात राज्य के अधिकारी। पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न राज्यो से सगठित, यह अतर्राष्ट्रीय समाज का आवश्यक लक्षण है कि वहा ऐसी कोई केन्द्रीय विधि-निर्माणकारी एव विधि-प्रवर्तक सत्ता नहीं रह सकती। सिद्धान्तत ये राज्य अपने प्रदेशो मे सर्वोच्च वैध अधिकारी हैं। अतर्राष्ट्रीय विधि के अस्तित्व एव परिचालन के लिए दो तत्त्व

2. See A R Radcliffe-Brown, "Primitive Law," Encyclopedia of the Social Sciences, Vol IX, pp 203 4 , for Literature, see p 262

उत्तरदायी है, जोकि दोनों विकन्द्रित स्वरूप वाले हैं। ये हैं व्यक्तिगत राज्यों के समरूप अथवा सपूरक हित तथा उनमें शक्ति-वितरण। जहा न हितो का साम्य है, न शक्ति-सतुलन वहाँ कोई अतर्राष्ट्रीय विधि नही होती। जबकि देशीय विधि राज्य के साधनो की स्वच्छन्दता मे उत्पन्न होती है तथा उसके द्वारा प्रवर्तित हो सकती है, अन्तर्राष्ट्रीय विधि बहुत अधिक मात्रा मे वस्तुनिष्ठ सामाजिक शक्तियों का परिणाम है।

शक्ति-सतुलन एक ऐसी महान् सामाजिक शक्ति है, यह अतर्राष्ट्रीय विधि के सर्वप्रमुख आधुनिक अध्यापको मे से एक के द्वारा मान्य ठहराया गया था। प्रोफेसर ओपनहायम शक्ति सतुलन को अतर्राष्ट्रीय विधि के अस्तित्व की अपरिहार्य शर्त[3] मानते है। उनका कथन है कि "छ शिक्षायें" अतर्राष्ट्रीय विधि के विकास के इतिहास से ग्रहण की जा सकती है। प्रथम तथा प्रमुख शिक्षा यह है कि अतर्राष्ट्रीय विधि का अस्तित्व केवल तभी सम्भव है, जब कि वहा राष्ट्रो के परिवार के सदस्या म एक साम्यावस्था अथवा शक्ति-सतुलन हो। यदि शक्तिया एक दूसरे पर निरोध नही रख सकती, तो विधि के किन्ही नियमो म शक्ति नही हो सकती। कारण यह है कि एक अत्यधिक शक्तिशाली राज्य स्वभावत स्वविवेक के अनुसार कार्य करने एव विधि की अवज्ञा करने का प्रयत्न करेगा। पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यो के ऊपर न तो केन्द्रीय राजनीतिक सत्ता है और न कभी हो सकती है जोकि अतर्राष्ट्रीय विधि के नियमो का प्रवर्तन कर सके। इसलिए शक्ति सतुलन को चाहिए कि वह राष्ट्रो के परिवार के किसी सदस्य को सर्व शक्तिमान बनने से रोके।[4]

एक विकेन्द्रीकारक शक्ति के रूप मे शक्ति सतुलन अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उल्लघनो के विरुद्ध सामान्य निवारक के रूप मे तथा अपवाद-स्वरूप मामलो मे ही परिचालित होता है। यह उसी समय होता है जब अतर्राष्ट्रीय विधि का उल्लघन विधि प्रवर्तन क्रिया की माँग करता है। दूसरी ओर, विकेन्द्रीकारक साधनो के रूप मे समरूप एव सपूरक हित सदैव कार्यरत होते हैं। वे अतर्राष्ट्रीय विधि के जीवन-रक्त ही है। वे अपना विकेन्द्रीकारक प्रभाव उन तीन मूल कार्यों पर डालते हैं जिनको किसी भी विधि-प्रणाली को पूरा करना चाहिए। ये कार्य हैं विधि निर्माण, अधिनिर्णयन, तथा प्रवर्तन।

3 L Oppenheim, International Law, 2nd ed (London Longmans Green, and Company, 1912), Vol I p 193 दर देखने योग्य है कि शक्ति-सतुलन के इस तथा परवर्ती सदर्भ को सम्पादक ने बाद के सस्करणों से निकाल दिया है।

4 *Ibid*, p 80.

अंतर्राष्ट्रीय विधि में विधायी कार्य

इसका विकेन्द्रित स्वरूप

हमारे समकालीन देशीय समाजों में विधि के सबसे अधिक आवश्यक नियम विधायकों एवं न्यायालयों द्वारा बनाए जाते हैं। अर्थात् वे उन केन्द्रित अधिकरणों द्वारा बनाये जाते हैं जो या तो राष्ट्रीय लोकसमाज के सभी सदस्यों के लिए विधि-निर्माण करते हैं जैसा कि संयुक्तराज्य की कांग्रेस तथा सर्वोच्च न्यायालय अथवा कुछ क्षेत्रीय समूहों के लिए, जैसा कि राज्य के विधानमण्डल नगर-परिषदें तथा क्षेत्रीय एवं स्थानीय न्यायालय करते हैं। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में केवल दो विधि-निर्माणकारी शक्तियां हैं आवश्यकता तथा परस्पर सहमति। उदाहरणार्थ अंतर्राष्ट्रीय विधि में कुछ कम संख्या में नियम भी हैं जैसे राष्ट्रीय प्रभुता की परिसीमायें, स्वयं अपने नियमों की व्याख्या तथा इसी प्रकार की अन्य बातें जो उन राष्ट्रों की सहमति की चिंता न करते हुए व्यक्तिगत राज्यों पर बंधनकारी हैं। इन नियमों के बिना कोई व्यवस्था हो ही नहीं सकती अथवा कम से कम एक बहु-राज्य प्रणाली को नियमित करने वाली कोई विधि-व्यवस्था हो ही नहीं सकती। इन थोड़े से नियमों के अतिरिक्त जिनको सामान्य तथा आवश्यक अंतर्राष्ट्रीय विधि कहा जा सकता है अंतर्राष्ट्रीय विधि के नियमों के प्रमुख समूह के अस्तित्व का श्रेय स्वयं अंतर्राष्ट्रीय विधि के व्यक्तिगत सदस्यों अर्थात् राष्ट्रों की परस्पर सहमति को है। प्रत्येक राष्ट्र अंतर्राष्ट्रीय विधि से केवल इन्हीं नियमों द्वारा बद्ध है, जिनको उसने अपनी सहमति दी है।

जिस प्रधान साधन के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण होता है, वह अंतर्राष्ट्रीय संधि है। अंतर्राष्ट्रीय संधि उन्हीं राष्ट्रों के लिए अंतर्राष्ट्रीय विधि बनाती है जोकि इसके पक्ष हैं। अमरीकन राष्ट्रों में हुई एक संधि केवल उन्हीं के लिए बंधनकारी है तथा अन्य किसी राष्ट्र के लिए नहीं है। सोवियत संघ तथा ईरान में हुई एक सन्धि बहुधा किसी तीसरे राष्ट्र के लिए कोई प्रभाव नहीं रखती। अतएव जिन परिस्थितियों में अंतर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र में विधायी कार्य परिचालित होता है, वह उसका स्वरूप होता है, जोकि देशीय मंच पर स्थित होगा, यदि निर्णीत नियमों का अनुसरण करने अर्थात् दृष्टान्तों से बद्ध नियम के अंतर्गत परिचालित होने वाले विधान-मण्डलों तथा न्यायालयों के स्थान पर संयुक्तराज्य में विधायी कार्य व्यक्तिगत संविदाओं के रूप में स्वयं व्यक्तिगत नागरिकों के द्वारा सम्पन्न होता। शहर से मल बाहर निकालने के नियमन की नगर विधि अथवा नगर-पालिका में खण्डों में विभाजन के स्थान पर इन मामलों की देख रेख विभिन्न सड़कों के निवासियों में हुए बहुत से वैयक्तिक समझौतों द्वारा होती। नगर-

पालिका के तब उतने ही विनियम होते, जितनी सड़कें होतीं। दूसरी ओर, जब कभी सभी सबधित पक्षो की सहमति प्राप्त न हो रही होती, तो ऐसे विधि-निर्माण का अनिवार्य परिणाम वैध नियमन का पूर्णतया अभाव रहा होता। दूसरी ओर, किसी विशेष मामले मे वास्तव मे क्या विधि थी उसके विषय मे अनिश्चितता होती तथा विभिन्न व्यक्तियो के साथ उन्ही परिस्थितियों मे नियमन करने वाले नियमो के विभिन्न वर्गो मे अतरविरोध होता। यही स्थिति, अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे उपस्थित है। अन्तर यह है कि लगभग नब्बे प्रभुता-सम्पन्न राष्ट्रों की अपेक्षाकृत लघु सख्या से, जोकि आपस मे सधियां करके अतर्राष्ट्रीय विधि का निर्माण कर सकते हैं यह हल्की हो जाती है।

विधायी कार्य के इस विकेन्द्रित स्वरूप से अतर्राष्ट्रीय विधि के लिए दो परिणाम निकलते है। एक ओर तो, अतर्राष्ट्रीय सबन्धो पर प्रभाव रखने वाले बहुत से मामले, जैसे स्थानान्तरण तथा आर्थिक नीतियों के बहुत से पहलू अतर्राष्ट्रीय विधि द्वारा नियमित नही होते। इन मामलो मे विभिन्न राष्ट्रो के हित इतने भिन्न हैं कि वे वैध नियमो पर सहमत होने मे असमर्थ हैं। दूसरी ओर जिन मामलो के विषय मे समझौता सम्भव था उनमे बहुधा अरक्षा एव भ्रान्ति का बोलबाला है। यदि कोई जानना चाहता है कि सयुक्तराज्य अतर्राष्ट्रीय विधि के किन नियमो को अपने ऊपर बधनकारी मानता है, तो उसे सयुक्तराज्य द्वारा कभी भी की गई सधियो में परीक्षण के समय यह निर्धारण करने के उपरान्त कि कौन सी अब भी व्यवहार में हैं, सभी को देखना चाहिए। फिर उसको, उन मामलो में, जिनमें सयुक्त राज्य एक पक्ष रहा है, अतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरणो के निर्णयो तथा अतर्राष्ट्रीय विधि के नियमो का प्रयोग करने वाले अमरीकन न्यायालयो के निर्णयो का परीक्षण करना चाहिए। अन्तत उसे उन राजनयिक प्रलेखो का अध्ययन करना चाहिए, जिनमे अतर्राष्ट्रीय वार्ता मे सयुक्तराज्य के प्रतिनिधियो ने अतर्राष्ट्रीय मामलों मे सयुक्तराज्य के आचरण के लिए अतर्राष्ट्रीय विधि के कुछ नियमो को मान्य ठहराया है। इन सभी नियमो का पूर्ण योग, जैसा कि प्रोफेसर चार्ल्स सी० हाइड ने कहा है प्रधानतया सयुक्तराज्य के द्वारा व्याख्यायित एव प्रयुक्त अतर्राष्ट्रीय विधि है।[5]

इसी के समान जटिल प्रक्रिया से, दूसरे राष्ट्रों के द्वारा मान्य अतर्राष्ट्रीय विधि के नियम भी सकलित हुए हैं। इतिहास के किसी विशेष युग में, समस्त विश्व मे मान्य अतर्राष्ट्रीय विधि के नियमो के पूर्ण योग को जानने के लिए, सैद्धान्तिक दृष्टि से विश्व के सभी राष्ट्रो से सबधित ऐसे ही सदनन आवश्यक होंगे। यदि ऐसा कार्य वास्तव मे उठाया जाय तो इसके परिणाम

5. 2 vols. (Boston: Little, Brown, and Company. 1946)

सामान्य सिद्धान्तों तथा विशिष्ट नियमों के संबंध में अधिक भिन्नतायें दिखलायेंगे। अंतर्राष्ट्रीय विधि के सीमित क्षेत्रों में विश्व-व्यापी संकलन गतैक्य के इस अभाव का प्रदर्शन करते हैं। बहुत से लेखक आंग्ल-अमरीकी अन्तर्राष्ट्रीय विधि दोनों अमेरिकाओं की अंतर्राष्ट्रीय विधि और रूस की अंतर्राष्ट्रीय विधि के सम्बन्ध में मान्यताओं के विरुद्ध महाद्वीपीय अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लेख करते हैं।[6]

एक विशिष्ट उदाहरण के रूप में समुद्री तटवर्ती क्षेत्र की चौड़ाई को लीजिये इस प्रश्न के विषय में कि समुद्र में कितनी दूर तक निकटवर्ती राज्य का प्रादेशिक क्षेत्राधिकार हो सकता है। विभिन्न राष्ट्रों द्वारा मान्य अंतर्राष्ट्रीय विधि के नियम बहुत भिन्न हैं। जहां कुछ राष्ट्र तीन-मील की सीमा के सिद्धान्त को मानते हैं, फिनलैंड, नॉरवे तथा स्वीडन, दूसरे राज्यों की आपत्तियों के विरुद्ध समुद्री तटवर्ती क्षेत्र के लिए चार मील की चौड़ाई का दावा करते हैं। इटली, स्पेन, यूगोस्लेविया, तथा भारत, उदाहरण के लिए छ मील का दावा करते हैं। मेक्सिको नौ मील का दावा करता है। अल्बानिया दस का, ईक्वेडर, आइसलैंड, इन्डोनेशिया, सोवियत संघ, संयुक्त अरब गणराज्य तथा दूसरे, बारह मील का दावा करते हैं। दूसरे राष्ट्र जैसे जर्मनी, बेल्जियम, फ्रांस तथा पोलैंड विशुद्ध तटवर्ती समुद्र के आगे रक्षात्मक अभिप्रायों के लिए तथाकथित निकटवर्ती प्रदेश का दावा करते हैं। दूसरे राष्ट्र, जैसे ग्रेट ब्रिटेन, इन राष्ट्रों का निकटवर्ती प्रदेश का दावा रद्द करते हुए, मानते हैं कि कुछ परिस्थितियों में एक राष्ट्र को अपने क्षेत्राधिकार को तीन मील के आगे बढ़ाने तथा विदेशी राष्ट्रों के वाणिज्य-पोतों पर कुछ मात्रा में नियंत्रण रखने का अधिकार है।

विधाई कार्य के विकेन्द्रित स्वरूप के कारण तथा एक पक्षीय दावों की आमक भीड़ के परिणाम-स्वरूप, सुनिश्चितता का यह अभाव अंतर्राष्ट्रीय विधि के बहुत से क्षेत्रों में संक्रमण करता है। तथापि सरकारें अपनी विदेश नीतियों पर अंतर्राष्ट्रीय विधि के प्रतिरोधक प्रभाव को दूर करने के लिए, वरन अन्तर्राष्ट्रीय विधि को अपने राष्ट्रीय हितों में प्रयुक्त करने के लिए उत्सुक हैं। वे उन वैध दायित्वों से बचने के लिए सदैव उत्सुक हैं जो उनके लिए हानिप्रद हैं। इस अन्तर्राष्ट्रीय विधि की अनिश्चितता का उन्होंने अपने हितों को आगे बढ़ाने के

6 अंतर्राष्ट्रीय विधि की भिन्न-भिन्न कल्पनाओं तथा उनसे संबन्धित साहित्य पर देखिए L. Oppenheim and H. Lauterpacht, International Law, 8th ed. (London: Longmans, Green and Company, 1955), Vol., I pp. 48ff.

लिए तैयार औजार के रूप में प्रयोग किया है। उन्होंने ऐसा असमर्थित वैध दावों तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सामान्यतया मान्य सिद्धान्तों के अर्थ की मिथ्या व्याख्या करके किया है। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विधि की विकेन्द्रित प्रकृति में अन्तर्निहित निश्चितता का अभाव अधिकाधिक अनिश्चितता को जन्म दे रहा है। यही नहीं जो दुर्बल कराने वाली बुराई उसके जन्म के समय उपस्थित थी, अब भी इसकी शक्ति के सार को कम कर रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि की केवल वे शाखायें, जोकि सामान्य समझौतों में संहिताबद्ध हैं एक निश्चित मात्रा में इस दुर्बलता से बच निकलती हैं।[7] यह शाखायें सामान्यतया तकनीकी अथवा मानवतावादी हैं। क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का संहिताकरण अपने वैध प्रभावों में इस अर्थ में अन्तर्राष्ट्रीय विधि-निर्माण की विशुद्ध इकाई के बराबर है कि यह सबके लिए अथवा अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सम्भवतया सभी आश्रितों के लिए बंधनकारी है। विधि निर्माण की लोकतन्त्रात्मक प्रक्रिया द्वारा ठहराये गए बहुमत नियम से भिन्न– इसे केवल इसके द्वारा आबद्ध सभी लोगों की सहमति की आवश्यकता है, जोकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के संहिताकरण को विशुद्ध विधि-निर्माण से पृथक कर देती है।

व्याख्या तथा बंधनकारी शक्ति

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सभी आश्रितों की सर्व सहमत सहमति के प्रतिस्थापन की आवश्यकता एक अन्य प्रकार की जटिलता को जन्म देती है, जोकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि के लिए विशिष्ट है। यह अन्तर्राष्ट्रीय संधियों के उपबन्धों— जिन अधिकारों को वे प्रदान करती हैं, जिन दायित्वों का वे आरोप करती हैं– के अर्थों के अभिनिश्चय की समस्या है। देशीय क्षेत्र में यह समस्या स्वयं विधायी निकायों द्वारा सुलझा दी जाती हैं जोकि उन वैध नियमों को जिन्हें वे बनाते हैं, अधिक से अधिक स्पष्ट बनाने का प्रयत्न करती है। यह उन न्यायालयों के द्वारा भी सुलझाई जाती है जोकि उन्हें मूर्त मामलों में प्रयुक्त करके विधियों की व्याख्या के कार्य में निरन्तर लगे हुए हैं। तथा यह उन कार्यकारी एवं प्रशासकीय अभिकरणों के द्वारा सुलझाई जाती है जोकि उन्हीं कार्यों का सम्पादन करते हुए, आदेश जारी करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय वैध प्रलेख, जैसे कि संयुक्तराज्य का चार्टर तथा विशुद्ध तकनीकी स्वरूप के अन्य बहुत से प्रलेख अस्पष्ट तथा संदिग्ध आकस्मिकतावश नहीं है, अथवा अमरीकन संविधान की

7 संचार के क्षेत्र में संहिताकरण, जैसे 1874 की सामान्य डाक उपसंधि, 1944 की अन्तर्राष्ट्रीय सिविल विमानन उपसंधि, तथा बहुत सी दूसरी संधियाँ साथ ही पृष्ठ 239 और आगे निर्दिष्ट वे सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौते, जोकि युद्धकार्य को मानवीय बनाने की खोज में हैं, इसके उदाहरण हैं।

भाति, विशेष एव आपवादिक कारणो से नही है। वरन वे नियमित रूप से एव आवश्यकतावश हैं। क्योकि विधि के सभी आश्रितो की सहमति, जोकि उनके वैध शक्ति प्राप्त करने के लिए आवश्यक है, पाने के लिए, ऐसे प्रलेखो को उन सभी विभिन्न राष्ट्रीय हितो का प्रज्ञान होना चाहिए, जोकि निर्मित होने वाले नियमो से प्रभावित होगे अथवा हो सकते हैं। एक समान आधार पाने के लिए जिस पर वे सभी भिन्न राष्ट्रीय हित समन्वित हो सकते, सामान्य सधियो मे समाविष्ट अन्तर्राष्ट्रीय विधि नियम बहुधा अस्पष्ट एव सदिग्ध होने चाहिए, ताकि सभी हस्ताक्षर-कर्ता स्वीकृत वैध मूलपाठ मे अपने राष्ट्रीय हितो की मान्यता देख सकें। यदि ऐसा देशीय क्षेत्र मे हो, जैसाकि वास्तव मे बडी मात्रा मे सयुक्तराज्य के सविधान के सम्बन्ध मे हुआ है, तो कोई अधिकारिक निर्णय विधि के अस्पष्ट एव सदिग्ध उपबन्धो को मूर्त अर्थ दे देगा। यह निर्णय चाहे सयुक्तराज्य मे सर्वोच्च न्यायालय का हो अथवा ग्रट ब्रिटेन की भाति ससद का हो।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे, विधि के आश्रित राष्ट्रो को ही यह अधिकार है जोकि न केवल अपने लिए विधि-निर्माण करते हैं, वरन अर्थनिर्वचन तथा अपने विधायी अधिनियमनो को मूर्त अर्थ देने मे सर्वोच्च सत्ताधारी है। स्वभावतया वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उपबन्धो की व्याख्या तथा प्रयोग राष्ट्रीय हित की अपनी विशिष्ट एव भिन्न कल्पनाओ के प्रकाश मे करेंगे। स्वभावतया वे उनकी व्याख्या अपनी विशिष्ट अन्तर्राष्ट्रीय नीतियो के समर्थन मे करेंगे और इस प्रकार जो कुछ भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के इन सभी नियमो मे उनकी अनिश्चितता एव सदिग्धता के वाद भी सबके साथ प्रयुक्त होने वाली अवरोधक शक्ति होगी, उसको इस प्रकार नष्ट कर देंगे। जीन रे ने इस स्थिति का भली प्रकार विश्लेषण किया, जब उसने राष्ट्र-सघ के प्रसविदा के सम्बन्ध में कहा 'परन्तु खतरा सुस्पष्ट है। यदि व्यक्तियो के नाते राष्ट्र-सघ के सदस्यो को व्याख्या के विषय मे अन्तिम सत्ता प्राप्त है, तो भिन्न व्याख्यायें जोकि समान रूप से आधिकारिक है, स्वय स्थायी स्थान बना लेती है। जब कभी दो राष्ट्रो के द्वन्द्व मे एक सदिग्ध मूलपाठ का आह्वान होना है, तो गतिरोध अवश्यम्भावी हैं।''[8] यह राष्ट्रसघ के इतिहास मे बार-बार हुआ है, तथा सयुक्त-राष्ट्र के इतिहास मे इसी प्रकार के हमको बहुत से दृष्टान्त दिए हैं।[9]

अन्त मे, वहा एक अन्य कठिनाई है, जोकि विधायी दृष्टिकोण से अन्तर्राष्ट्रीय विधि की दुर्बलता में योगदान करती है। यह कठिनाई वह अनिश्चितता

8 Commentaire du Pacte de la Societe des Nations (Paris. Sirly, 1930), p, 44

9 इस स्थिति का उपचार करने के लिए, सयुक्त राष्ट्र की महासभा ने 14 नवम्बर, 1947 को अपने द्वितीय अधिवेशन में यह सर्वोपरि महत्त्व का घोषित करते हुए

है कि उचित प्रकार से हस्ताक्षर की हुई तथा समर्थित हुई किसी अन्तर्राष्ट्रीय संधि मे पूर्ण या अंश रूप मे, हस्ताक्षरकर्त्ताओं के लिए मान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के वैध नियम हैं अथवा नहीं। ऐसा प्रश्न देशीय विधि-निर्माण के विषय में संयुक्त राज्य में कठिनाई से ही उठ सकता था। क्योंकि संघीय विधि या तो संविधानी आवश्यकता के अनुसार कांग्रेस द्वारा पारित किया जाता है तथा राष्ट्रपति द्वारा हस्ताक्षर किये जाते हैं अथवा ऐसा नहीं किया जाता। इसको या तो सर्वोच्च न्यायालय अवैध घोषित कर देता है या नहीं करता। इसकी संवैधानिकता अथवा व्याख्या के विषय में जब तक सर्वोच्च न्यायालय अन्तिम अधिकार के साथ नहीं बोल चुकता, तभी तक अनिश्चितता हो सकती है, परन्तु एक वैध विधि के नियम के अस्तित्व के विषय में ऐसी अनिश्चितता नहीं हो सकती। उचित प्रकार से, सम्भवतया अन्तर्राष्ट्रीय लोकसमाज के सभी सदस्यों के द्वारा हस्ताक्षर हुए अनुसमर्थित कुछ मूल नियमों के अस्तित्व के विषय में यह अनिश्चितता ही है, जोकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि की नींव ही हिला देती है।

आइये, हम इस प्रकार के अंतर्राष्ट्रीय विधि के सब से अधिक दर्शनीय उदाहरण, १९२६ मे ब्रिया-कैलाग समझौते पर विचार करें। इसमे वस्तुतः सभी राष्ट्रों ने, "परस्पर सम्बन्धो में राष्ट्रीय नीति के साधन के रूप मे युद्ध को त्यागने का" समझौता किया। क्या यह समझौता प्रारम्भ से ही सभी हस्ताक्षरकर्त्ताओं पर बाध्य अतर्राष्ट्रीय विधि का नियम रहा है, अथवा वैध प्रभाव से हीन नैतिक सिद्धान्त का कथन-मात्र रहा है? क्या न्यूरमबर्ग परीक्षणों की अंतर्राष्ट्रीय विधि ने, जिसके अनुसार अत्याचारपूर्ण युद्ध की तैयारी तथा उसका लड़ना अंतर्राष्ट्रीय अपराध है पूर्व स्थित कैलॉग-ब्रियां का ही प्रयोग किया है, अथवा इसने ऐसी अतर्राष्ट्रीय विधि को जन्म दिया है जो पहले न थी[15] तथा क्या इसने इनमे से कोई कार्य केवल न्यूरमबर्ग मे निर्णीत विशिष्ट मामलों मे ही किया है, अथवा ऐसे ही दूसरे मामलों मे भी जोकि भविष्य में उठ सकें? विभिन्न विचार-धाराओं की शाखाओं ने इन प्रश्नों का उत्तर विभिन्न प्रकार से दिया है। यह विवाद मे पड़ने का स्थान नहीं है। इस विवेचन के संदर्भ में जो देखना आवश्यक है, वह वैध प्रणाली की दुर्बलता है।

प्रस्ताव पास किया कि चार्टर तथा विशिष्ट साधनों की व्याख्या को अंतर्राष्ट्रीय विधि के मान्य सिद्धान्तों पर आधारित किया जाय। प्रस्ताव ने विशिष्ट रूप से संयुक्तराष्ट्र के अभिकरणों से मांग की कि वे अपनी कार्यवाहियों के दौरान में उठने वाले विधि के मामलों पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सलाहकारी मतों को प्राप्त करें (United Nations Documents A/459) महासभा के अनुरोध पर न्यायालय ने चार्टर तथा अन्य अंतर्राष्ट्रीय संधियों के अर्थनिर्वचन सम्बन्धी बहुत से परामर्श मत दिए हैं।

यह प्रणाली ऐसे मूल प्रश्न का उत्तर देने मे भी असमर्थ है कि यह कुछ प्रयोजनो के लिए हिंसा के सामूहिक कार्यो का निषेध करती है अथवा नही। इस प्रकार आजकल किसी मात्रा मे अधिकार के साथ यह कहने का कोई मार्ग नही है कि क्या 1929 के उपरान्त युद्ध लडने वाले किसी राष्ट्र ने अपनी राष्ट्रीय नीतियो के अनुसरण मे अतर्राष्ट्रीय विधि के किसी नियम का उल्लघन किया है तथा इसके उल्लघन के लिए अतर्राष्ट्रीय विधि के समक्ष उत्तरदायी है अथवा नही? यही नही क्या इस प्रकार केवल वे व्यक्ति ही द्वितीय विश्व युद्ध की तैयारियो एव प्रारम्भ करने के लिए उत्तरदायी हैं अथवा क्या सभी राष्ट्र तथा व्यक्ति, जोकि भविष्य मे अत्याचारपूर्ण युद्ध की तैयारियाँ करेंगे तथा लडेंगे, इस प्रकार उत्तरदायी होगे?

1899 तथा 1907 की स्थल-युद्ध की विधियो एव रीति-रिवाजो की उपसन्धि की वैध मान्यता तथा द्वितीय विश्व युद्ध मे एव भावी युद्ध मे इसके हस्ताक्षर-कर्ताओ पर बधनकारी प्रभाव के सम्बन्ध मे क्या कहा जा सकता है? यह उप सधि जिसका प्रथम विश्व-युद्ध मे भली प्रकार अनुपालन हुआ तथा जिसके उल्लघन नियमित रूप से निर्दिष्ट किए जाते थे, द्वितीय विश्व युद्ध मे, जैसाकि हम देख चुके हैं, नियमित रूप से तथा एक बडे पैमाने पर उल्लघित होनी थी। क्या इन उल्लघनो ने जिनका न तो विरोध हुआ और न जिनके कारण दण्ड दिया गया, इस उपसधि के बधनकारी प्रभाव को समाप्त कर दिया है? अथवा क्या यह उपसधि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भी एक वैध उपकरण के रूप मे बनी रहेगी जिसका आह्वान किया जा सकता है, प्रवर्तन किया जा सकता है, तथा जिसको एक भावी युद्ध मे कार्यवाही का मानक बनाया जा सकता है? और जल-युद्ध विषयक नियमो से सबन्धित समरूप प्रश्नो के विषय मे क्या कहा जा सकता है, जिनका द्वितीय विश्व युद्ध मे मुश्किल से प्रवर्तन के किसी प्रयत्न को किए बिना सामान्यतया उल्लघन हुआ था? धुरी शक्तियो ने शत्रु के जलयानो को अन्धाधुन्ध तथा बिना चेतावनी दिए हुए डुबोया। यही सश्रित राज्यो न भी किया था। दोनो पक्षो ने युद्ध के नियमो के इन उल्लघनो का औचित्य सैनिक आवश्यकतावश ठहराया। यदि अतर्राष्ट्रीय विधि के नियमो का निरन्तर उल्लघन होता है तथा विधि के सभी आश्रितो के द्वारा उल्लघन स्वाभाविक घटनायें समझी जाती हैं—यदि, इसलिए जिन वैध नियमों के द्वारा उनका प्रवर्तन करना चाहिए, इस प्रकार व्यवहृत होते हैं, मानो कि वे थे ही नही, तो प्रश्न उठता है क्या वे बधनकारी वैध नियमों के रूप मे आज भी स्थित हैं? इस क्षण इन प्रश्नो का कोई उत्तर नही दिया जा सकता। परन्तु, युद्ध की औद्योगिकी एव अतर्राष्ट्रीय नैतिकता के सम्भव विकास को दृष्टि मे रखने

हुए, आसार ऐसे दिखलाई पडते है कि ये नियम अधिक समय तक चल नही सकेंगे।

1936 मे इटली के विरुद्ध राष्ट्र-संघ की सहमतियाँ असफल रही तथा बाद के वर्षो मे प्रसंविदा के सब से अधिक आवश्यक उपबन्धो की ओर सभी सबन्धित सरकारो के द्वारा उदासीनता का व्यवहार हुआ। उस समय समस्त राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा तथा उसके कुछ अनुबन्धो के विषय मे समान प्रश्न उठाये गए। सरकारें इस प्रकार व्यवहार करती थी, मानो वे उपबन्ध अपने बन्धनकारी प्रभाव को खो चुके थे। परन्तु क्या उन्होने वास्तव मे इसे खो दिया था, अथवा क्या उनकी वैध मान्यता 1936 से 1939 की अवधि मे तथा द्वितीय विश्व युद्ध के सकट से निकल कर 1946 मे राष्ट्र संघ के औपचारिक विघटन के साथ समाप्त हो गई ? न इन प्रश्नो का सुस्पष्ट एव निश्चित उत्तर उस समय मिल पा रहा था, जब वे सर्व-प्रथम उठाये गए, और न कोई उत्तर आज ही हो सकता है। इस विषय मे सन्देह की गुंजायश नही कि जो चार्टर चाहता था उससे बिल्कुल भिन्न रूप मे वैध नियमो की सहवर्ती उपेक्षा के साथ संयुक्त राष्ट्र का रूपान्तरण प्रेक्षको के सामने ऐसे ही प्रश्न पैदा करेगा। उसका उत्तर केवल अनिश्चित सदिग्ध एव अस्थायी ही हो सकता है। इतने आवश्यक एव मूल प्रश्नो के उत्तरों का अपूर्ण स्वरूप फिर विधायी दृष्टिकोण से अंतर्राष्ट्रीय विधि के अभाव का मापक है।

अंतर्राष्ट्रीय विधि में न्यायिक कार्य

विधायी कार्य के विकेन्द्रित स्वरूप की इन कमियो के बाद भी एक विधि व्यवस्था अपने आश्रित राष्ट्रो की शक्ति-आकाक्षाओ को फिर भी नियन्त्रण में रख सकती है। यदि ऐसे न्यायिक अधिकरण उपस्थित हो, जोकि एक वैध नियम के अस्तित्व अथवा आशय के विषय मे जब कभी मतभेद उत्पन्न हो, तो अधिकार के साथ बोल सकें, तो यह सम्भव है। इस प्रकार अमरीकन संविधान की सदिग्धतायें तथा सामान्यतायें सविधानी व्याख्या के मामलो मे सर्वोच्च न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार द्वारा अधिकांशत निर्दोष बना दी गई है। विशेषतया, आग्ल सामान्य विधि को निश्चितता एव परिशुद्धता प्राथमिक रूप से न्यायालयों के निर्णयो से मिली है। यह केवल छोटी मात्रा मे औपचारिक विधायी अधिनियमों से मिली है। न्यायिक अधिकरणो का एक सोपानात्मक सगठन सभी विकसित विधि-व्यवस्थाओ मे अधिकारिक ढग से एव निर्णयात्मक रूप से विधि के आश्रितों के अधिकारो एव कर्त्तव्यो के निर्धारण का कार्य करता है।

यदि सयुक्तराज्य का एक व्यक्तिगत नागरिक दूसरे अमरीकन नागरिक के विरुद्ध दावा करता है कि एक सघीय सविधि या तो सविधानी बाधियों के

कारण अथवा स्वय सविधि के अर्थ को दृष्टि मे रखते हुए, उस पर लागू नही होती तो ऐसी स्थिति म दोनो मे से कोई निश्चित काय-विधिक परिस्थितियो के अतर्गत, अपने दावे को मामले के अधिकारिक निर्णय के लिए एक सघीय न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत कर सकता है। जब दावा दोनो मे से किसी पक्ष के द्वारा होता है, तो न्यायालय का क्षेत्राधिकार निश्चित होता है। यह दूसरे पक्ष की सहमति पर निर्भर नही होता। दूसरे शब्दो मे, एक अमरीकी नागरिक एक न्यायालय के समक्ष एक दूसरे नागरिक का अपने वैध सम्बन्धो को आधिकारिक ढग से निर्धारित कराने के लिए बुला सकता है। इस प्रकार वह अपनी एक पक्षीय क्रिया से न्यायालय के क्षेत्राधिकार की स्थापना म समर्थ है। जो पक्ष निर्णय से असतुष्ट है वह अधिक-बडे न्यायालय मे अपील कर सकता है, जब तक कि सर्वोच्च न्यायालय, अन्तिम न्यायालय की हैसियत म अन्तिमता के साथ नही कह देता कि उस मामले मे विधि क्या कहती है। उस निर्णय मे निर्णीतानुसरण के नियम के अनुसार, इस अर्थ मे विधायी क्रिया की गुणावस्था विद्यमान होती है कि यह विधि का निर्माण न केवल उन पक्षो के बीच तथा किसी विशिष्ट मामले मे ही, करता है, वरन् सभी भावी मनुष्यो तथा स्थितियो के सम्बन्ध मे भी करता है जिनमे निर्णय की युक्ति प्रयुक्त होती है।

अनिवार्य क्षेत्राधिकार

अतर्राष्ट्रीय न्यायालयो के लिए क्षेत्राधिकार का एकमात्र स्रोत निर्णय के लिए झगडे प्रस्तुत करने वाले राज्यो की इच्छा है। यह अतर्राष्ट्रीय विधि मे स्वय सिद्ध है कि दूसरे राज्य के साथ प्रतिरोध रखने वाले किसी भी राज्य को उसकी इच्छा के विरुद्ध अतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए विवश नही किया जा सकता। दूसरे शब्दो मे, सम्बन्धित राष्ट्रो की सहमति के बिना अतर्राष्ट्रीय विवादो पर किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार नही है। स्थायी अतर्राष्टीय न्यायालय ने पूर्वी करेलिआ के मामले मे कहा था कि "यह अतर्राष्ट्रीय विधि मे सुनिश्चित है, कि किसी राज्य को उसकी सहमति के बिना दूसरे राज्यो के साथ अपने प्रतिरोधो को मध्यस्थता अथवा विचारण अथवा किसी अन्य प्रकार के शान्तिपूर्ण समझौते के लिए प्रस्तुत करने के लिए विवश नही किया जा सकता। ऐसी सहमति केवल सदा के लिए स्वतन्त्रतापूर्वक लिए गए दायित्व के रूप मे दी जा सकती है, परन्तु दूसरी ओर, उपस्थित दायित्व के अतिरिक्त भी यह सहमति विशेष विषय मे दी जा सकती है।"[10]

10 P. C I J Series B, No. 5, p 27.

तथाकथित तटस्थ विवाचन[11] के विषय में यह सिद्धान्त न्यायालय के क्षेत्राधिकार की स्थापना करने वाले पक्षों में संविदागत दायित्व की आवश्यकता में साधारणतया प्रकट हो जाता है। यह उस समय होता है जबकि पक्ष एक व्यक्तिगत झगड़े के होने के बाद उसको एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के प्रस्तुत करने के लिए सहमत हैं। इस प्रकार, जब संयुक्त राज्य तथा ग्रेट ब्रिटेन गृह-युद्ध से उत्पन्न होने वाले अलाबामा दावों को राजनयिक वार्ताओं के द्वारा सुलझाने में असमर्थ रहे तो वे एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण को यह झगड़ा सौंपने के लिये सहमत हो गए। इस विशिष्ट मामले में निर्णय दे चुकने के बाद, यह न्यायाधिकरण विघटित हो गया। संयुक्तराज्य तथा ग्रेट ब्रिटेन में संधि द्वारा बने इस न्यायाधिकरण का क्षेत्राधिकार इस अकेले मामले के निर्णय के साथ ही समाप्त हो गया। यदि संयुक्तराज्य तथा ग्रेट ब्रिटेन में अंतर्राष्ट्रीय अधिनिर्णयन के लिए कोई दूसरा झगड़ा उठ खड़ा हो, तो एक अन्य संधि करने की तथा समान प्रक्रिया के अनुसरण की आवश्यकता होगी। यदि झगड़े के निर्धारण, न्यायाधिकरण के संगठन तथा प्रक्रिया, तथा प्रयुक्त होने वाले वैध नियमों पर पक्षों में कोई समझौता नहीं हो पावेगा, तो कोई न्यायिक समझौता सम्भव न होगा।

तथाकथित संस्थागत विवाचन के विषय में—अर्थात्, जब विवादों के एक पूर्ण वर्ग को (उदाहरण के लिए, वैध स्वरूप के, अथवा वे जोकि एक शान्ति अथवा व्यापारिक संधि से उत्पन्न हुए हैं) एक सामान्य समझौते के द्वारा उनके उठने से पूर्व ही अंतर्राष्ट्रीय अधिनिर्णयन के लिए प्रस्तुत किया जाता है तो इनमें पक्षों की सहमति की कार्यवाही की सामान्यतया अवस्थाओं में आवश्यकता पड़ती है। प्रथम, सामान्य सहमति के लिए यह आवश्यक है कि विवादों के कुछ वर्गों को एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार में प्रस्तुत करें। द्वितीय, किसी विशिष्ट विवाद के हो चुकने के बाद यह एक विशिष्ट समझौते के लिए आवश्यक है। इसमें पक्ष घोषणा करते हैं कि यह विशिष्ट विवाद उस वर्ग से सम्बन्धित है जिसके लिए सामान्य समझौता अंतर्राष्ट्रीय अधिनिर्णयन की व्यवस्था करता है, उदाहरणार्थ, जब दो राष्ट्रों के बीच की विवाचन संधि यह व्यवस्था करती है कि भविष्य में उत्पन्न होने वाले सभी वैध विवाद एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण को सौंपे जावेंगे, तो किसी राज्य को साधारणतया इस विशिष्ट वैध विवाद को

11 हम "विवाचन" तथा "अधिनिर्णयन" शब्दों का प्रयोग बिना प्रभेद के कर रहे हैं। जबकि प्रथम शब्द का प्रयोग स्थायी अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के स्थापन से पूर्व प्राथमिक रूप में उन न्यायिक अधिकरणों के लिए होता है, जोकि द्विपक्षीय समझौतों के द्वारा संगठित हुए थे, "अधिनिर्णयन" शब्द का प्रयोग उनके स्थापन विधि की चिंता किए बिना सामान्यतया अब सभी न्यायिक अधिकरणों के लिए प्रयुक्त होता है।

अधिनिर्णयन के लिए प्रस्तुत करके एक पक्षीय ढग से न्यायालय के क्षेत्राधिकार के स्थापन का अधिकार नही है । न्यायालय के क्षेत्राधिकार के स्थापन के लिए इस विशिष्ट विवाद से सम्बद्ध एक विशिष्ट समझौते की आवश्यकता है ।

जिस सावधानी के साथ राज्य अतर्राष्ट्रीय न्यायालयो के क्षेत्राधिकार के साविदिक स्वरूप की रक्षा करते है, यह सर एच लाटरपेक्ट के द्वारा निर्दिष्ट होता है ।

स्थायी अतर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा अधिकाश तथाकथित "क्षेत्राधिकार के तर्क से सम्बद्ध रहा है । यह सम्बद्ध विवाचन के समझौतो के दुरुह एव सदिग्ध अर्थनिर्वचन का समर्थन एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष के निष्पक्ष अधिनिर्णयन के अधिकार को, अस्वीकृत कर प्राप्त होता है । इस अधिनिर्णयन के अधिकार को हाब्स प्राकृतिक अवस्था मे भी तात्विक मानता था । नियमवत यह इसलिए नही हुआ कि कोई अन्य अतर्राष्ट्रीय अभिकरण इस मामले के निर्णय मे समर्थ था । बरन् यह इस आधार पर हुआ कि सम्बद्ध राज्य न्यायिक निर्णय के किसी वचन-बधन से बद्ध नही था ।

लेखक आगे कहता है कि "जब अधिनिर्णयन के लिए सम्प्रेषण का प्राथमिक कर्तव्य स्वीकृत भी हो जाता है (अर्थात्, एक सामान्य समझौते मे) तो भी यह व्यवहार मे विस्तृत आरक्षणो से घिरा है । ये आरक्षण इसे केवल एक सूत्र मे बदल देते हैं, जो कि किसी भी वैध दायित्व से रहित होता है ।"[12]

वैकल्पिक धारा

यह स्पष्ट है कि ऐसी परिस्थितियो मे विवादो के होने से पूर्व ही उनको न्यायिक निर्णय के लिए राष्ट्रो द्वारा सौपने के सामान्य दायित्व की बात कठिनाई से सम्भव है । अधिनिर्णयन के लिए आए किसी विवाद से सम्बद्ध विशेष समझौते की आवश्यकता तथा सामान्य समझौते का आरक्षणो द्वारा समीकरण वस्तुत: अनिवार्य विवाद की सम्भावना को दूर कर देता है । वे यदि कोई राष्ट्र चाहे तो उसे प्राथमिक कार्यवाही की सभी अवस्थाओ मे अपनी क्रिया की स्वतत्रता के परिरक्षण की अनुमति देते हैं । यह कम से कम कुछ वर्गो के विवादो मे अतर्राष्ट्रीय न्यायिक कार्य के देशीय व्यवहार की कठोर बाध्यता के साथ आत्मीकरण के प्रयोजन के सम्बन्ध मे कहा जा सकता है । स्थायी अतर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि के 36वें अनुच्छेद ने तथाकथित 'देशीय धारा" का निर्माण भी इस ध्येय

12 H Lauterpacht, The Function of Law in the International Community (Oxford : The Clarendon Press, 1933), p 427. (Reprinted by permission of the publisher)

से किया है। यह प्रतिभापूर्ण युक्ति स्थायी अतर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि के 36 वें अनुच्छेद म बिना परिवर्तन के समाविष्ट है। यह उपबन्ध सविधि के हस्ताक्षर कर्त्ताओं को "समान दायित्व को स्वीकार करने वाले किसी अन्य राष्ट्र के सम्बन्ध म सभी विधायी विवादा मे उन्ही दायित्व को स्वत तथा बिना विशेष समझौते के अनिवार्य मानने" का अवसर देता है।

पुराने न्यायालय के अस्तित्व के समय यह धारा आगे-पीछे लगभग पचास राज्यो के लिए मान्य थी। नई सविधि मे 1959 के अन्त तक हस्ताक्षर कर्त्ताओं की सख्या उन्तालीस थी। तथापि, बहुत कम राष्ट्रो ने बिना आरक्षण के हस्ताक्षर किए हैं।

अतर्राष्ट्रीय न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार को स्वीकार करने वाली 14 अगस्त, 1946 की घोषणा ऐसी स्वीकृति का प्रारूप है, जो दूरगामी आरक्षणों से इतना दुर्बल हो जाता है कि ठीक वैध दायित्व समाप्तप्राय हो जाता है। इसकी शर्तों के अनुसार

" यह घोषणा इन मामलो मे प्रयुक्त नहीं होगी (अ) वे विवाद जिनके निर्णय को पक्ष पहले से हुए अथवा भविष्य मे होने वाले समझौतो के कारण दूसरे न्यायाधिकरणो को सौंप देंगे, अथवा (ब) उन मामलो से सबधित विवाद जोकि आवश्यक रूप मे सयुक्त राज्य अमरीका के द्वारा निर्धारित, सयुक्त राज्य अमरीका के देशीय क्षेत्राधिकार मे है, अथवा (स) बहुपक्षीय सधि के अतर्गत उठने वाले विवाद, जब तक (1) निर्णय से प्रभावित सधि के सभी पक्ष न्यायालय के समक्ष उपस्थित मामले मे भी पक्ष नही है, अथवा (2) सयुक्तराज्य अमरीका विशेष रूप से क्षेत्राधिकार से सहमत नही हो जाता ।"[13]

यद्यपि आरक्षण अ कम महत्त्व का है फिर भी एक ऐसे अतर्राष्ट्रीय विवाद की कल्पना कठिन है, कि इसकी इस ढग से व्याख्या न हो सके, जिसमे आरक्षण ब अथवा स का समावेश न हो सके। अतर्राष्ट्रीय विवाद के विषय बनने योग्य ऐसे मामले कम होगे, जिनके साथ सम्बन्धित राज्यो के देशीय क्षेत्राधिकार का कुछ सम्बन्ध न हो। क्या सयुक्तराज्य तथा एक विदेशी राज्य मे होने वाला व्यापारिक समझौता नियमन करने वाले विषयो को उन विषयो की श्रेणी से अलग कर देता है, जो कि "आवश्यक रूप मे सयुक्त-राज्य के देशीय क्षत्राधिकार मे है" विदेश-गमन, वैदेशिक ऋण, अस्त्र-शस्त्रो के परिसीमन से सम्बन्धित अतर्राष्ट्रीय

13 Document United States/International Court of Justice/5. Department of State Bulletin, Vol 15, No 375 (Sept 8, 1946), p 452

सधियो के विषय मे क्या कहा जाय ? इस प्रकार अतर्राष्ट्रीय विधि द्वारा नियमित मामले निश्चय ही अब और अधिक समय तक सयुक्त राज्य क देशीय क्षेत्राधिकार मे नही हैं। परन्तु वे कब उस क्षेत्राधिकार मे "आवश्यक रूप म" होना समाप्त कर देते हैं ? स्पष्टतया, जब सयुक्तराज्य की ऐसे मामलो म न्यायिक नियत्रण स अपनी और अधिक समय तक स्वतत्रता के अभिरक्षण मे रुचि नहीं होती। सयुक्तराज्य के देशीय क्षेत्राधिकार मे क्या आवश्यक रूप म है, क्या नही है, यह राजनीतिक मत बिना अपील के इस विषय का निर्णय करेगा अतएव यदि ऐसा चाहे तो, सयुक्तराज्य केवल आरक्षण ब क द्वारा ही उन बहुत स विवादो को दूर रख सकेगा, जिनम यह कोई पक्ष है। यदि इस विषय म सयुक्तराज्य का मत स्पष्टतया अभीष्ट तथा तथ्यपूर्ण आधार स रहित हो तो भी घोषणा की शर्तें सयुक्तराज्य को इस विषय म अतिम निर्णायक बना देती हैं।

जो कुछ आरक्षण ब ने न्यायालय म अनिवार्य क्षेत्राधिकार म छोड रखा हो, उसकी व्यवस्था आरक्षण स कर देता है। आधुनिक समयो ने बहुत सी आवश्यक अतर्राष्ट्रीय सधियाँ, विशेषतया उनके अतर्राष्ट्रीय राजनीति पर प्रभाव के कारण, बहुपक्षीय हैं। इनम सर्व-अमरीकी सधिया, सयुक्तराष्ट्र का चार्टर तथा द्वितीय युद्ध को समाप्त करने वाली शान्ति सधिया हैं। वैकल्पिक धारा के अनुसरणो की सीमित सख्या पर विचार करते हुए तथा आरक्षणो की सहायता से अपहरण की सम्भावनाओ पर विचार करके, यह सम्भव नहीं है कि ऐसी सधि के अतगत होने वाले विवाद मे, सधि के सभी हस्ताक्षरकर्ता, न्यायालय के समक्ष एक साथ ही पक्ष बनाये जा सकते हैं। ये बहुधा बीसियो की सख्या म होते हैं। फिर, बहुत से ऐसे मामलो म भी जहा कि न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार की स्वीकृति का प्रश्न है, सयुक्तराज्य को बहुपक्षीय सधियो के सम्बन्ध म, कार्यवाही की स्वतत्रता बनाये रखने की सम्भावना है।

इस प्रकार, अन्त मे, वैकल्पिक धारा के अतर्गत अनिवार्य क्षेत्राधिकार के विकास का मामला वही लौट आता है, जहाँ यह प्रारम्भ हुआ था। यह बडी मात्रा म तथा सबसे अधिक आवश्यक विवादो मे अतर्राष्ट्रीय न्यायालयो के क्षेत्राधिकार से सम्बन्धित क्रिया की राष्ट्रीय स्वतत्रता का अभिरक्षण है। वैकल्पिक धारा के प्रभाव से उस स्वतत्रता के अभिरक्षण के लिए निर्मित बँध उपकरण अधिक परिशुद्ध हो गये हैं। व अभिनिर्णयन स विवादो के अत्यधिक आवश्यक वर्गो को स्पष्टतया वियुक्त नही करते। इसके स्थान पर व अब प्राथमिक रूप मे, अनिवार्य क्षेत्राधिकार के शाब्दिक अनुसरण एव इसको स्वीकृत करने की वास्तविक असहमति मे वैषम्य पर पर्दा डालने का कार्य करते हैं। इसलिए आश्चर्य नही है कि स्थायी अतर्राष्ट्रीय न्यायालय, मुख्य रूप म अतर्राष्ट्रीय मच पर शक्ति-सघर्ष

के परिसीमन से ही सम्बद्ध नहीं था वरन् यह उस प्रारम्भिक प्रश्न से भी सम्बद्ध था कि क्या सभी पक्ष न्यायालय के क्षेत्रधिकार मे मामले को सौंपने के लिए बाध्य थे। केवल एक बार स्थायी अतर्राष्ट्रीय न्यायालय को एक राज्य की शक्ति की आकाक्षा की समस्या का सीधा-सीधा सामना करना पडा। वह जर्मनी-*आस्ट्रिया के सीमाकर-सघ के विषय मे था।*[14] *वहां न्यायालय का क्षेत्राधिकार* पक्षो के स्वतत्र रूप से किए गए समझौतो पर आधारित न था वरन् वह राष्ट्र-सघ की परिषद् को न्यायालय से परामर्शीय मतो के लेने का अधिकार देने वाले राष्ट्र सघ क प्रसविदा के 14 वें अनुच्छेद पर आधारित था। यह भी ध्यान देने योग्य है कि यद्यपि द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त से, राष्ट्रों का समुदाय विभिन्न प्रकार क बहुत से विवादो के कारण अलग हो गया है, अतर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपने अस्तित्व क पहले चौदह वर्षो मे पद्रह मामलो से अधिक के निर्णय नही किये हैं।

सभी सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक विचार इस परिणाम की ओर सकेत करते हैं कि वैकल्पिक धारा ने अनिवार्य क्षेत्राधिकार की समस्या के सार को वही छोड दिया है, जहा से उठाया था। विधायी क्षेत्र की अपेक्षा केवल कुछ ही कम अधिनिर्णयन के क्षेत्र मे, कार्यवाहियो की सभी अवस्थाओ मे व्यक्तिगत राष्ट्रो की अपनी इच्छा ही निर्णायक है। अतएव, अतर्राष्ट्रीय मच पर शक्ति-सघर्ष पर प्रभावकारी अवरोध लगाने म अतर्राष्ट्रीय अधिनिर्णयन असमर्थ है। मुकदमें को सौंपने के सामान्य कर्त्तव्य के असम्बद्ध एव सदिग्ध निरूपणो तथा, विशेषतया *अनिश्चित एव व्यापक आरक्षणो की बडी विविधता सभी राज्यो की अपनी इच्छा* के विरुद्ध किसी विशिष्ट विवाद के अतर्राष्ट्रीय मुकदमे से रक्षा करती है। अतएव कम से कम आवश्यक विरोधो मे अनिवार्य क्षेत्राधिकार के सम्बन्ध मे न्यायिक कार्य का पूर्ण विकेन्द्रीकरण है। यह वैध सूत्रो मे छिपा हुआ है जोकि अपनी बारी मे आरक्षणो द्वारा निरर्थक हो जाते हैं। जैसा कि 1951 मे अपनी रिपोर्ट मे महासचिव हेमरशोल्ड ने कहा था " मैं इस सम्भावना पर अपनी चिंता व्यक्त किए बिना नही रह सकता कि यदि वर्तमान प्रवृत्ति को शीघ्र ही नही रोका गया, तो यह अनिवार्य क्षेत्राधिकार की पूरी व्यवस्था को वस्तुत भ्रामक बना सकती है।"

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

चूँकि कोई विधि-व्यवस्था अपने आश्रित राष्ट्रो के विवादो पर अनिवार्य क्षेत्राधिकार के बिना उनकी क्रियाओ के परिसीमन मे प्रभावकारी नही हो सकती, अधिनिर्णयन की दो अन्य मूल समस्यायें कम महत्व की हैं। ये मूल समस्यायें

14. P.C I J. Series A/B, No. 41.

न्यायिक अभिकरणो का सगठन तथा उनके निर्णयो के परिणाम है स्थायी अतर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा उसके उत्तराधिकारी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र मे कार्यो के केन्द्रीकरण की ओर एक आवश्यक पग है। सम्भवतया यह सब से अधिक आवश्यक पग है। 1920 म स्थायी न्यायालय की स्थापना तक, अतर्राष्ट्रीय क्षेत्र म न्यायिक सगठन पूर्णतया विकेन्द्रित था। अर्थात्, जब कभी किसी विशिष्ट विवाद के न्यायिक निपटारे के लिए दो राज्य सहमत होते थे, वे किसी विशेष व्यक्ति जैसे कि पोप, किसी राजा, किसी विख्यात अतर्राष्ट्रीय विधिज्ञ अथवा इस विशिष्ट मामल के निर्णय के लिए न्यायाधिकरण का कार्य करने के लिए व्यक्तियो के किसी समूह पर सहमत हो जाते थे। इस विवाद के निपटारे के साथ ही इस न्यायाधिकरण का न्यायिक कार्य स्वत समाप्त हो जाता था। किसी अन्य विवाद के न्यायिक निर्णय के लिए अन्य न्यायाधिकरण की स्थापना की आवश्यकता थी। जनेवा का न्यायाधिकरण जिसने 1872 मे ऊपर निर्दिष्ट अलाबामा मामले का निर्णय किया, इस स्थिति का निदर्शन प्रस्तुत करता है।

1899 तथा 1907 के अतर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण समझौते की हग उप-सधियो ने तथाकथित विवाचन के स्थायी न्यायालय निर्माण करके न्यायिक सगठन के इस विकेन्द्रीकरण पर काबू पाने का प्रयत्न किया। यह उपसधि के विभिन्न हस्ताक्षरकर्त्ताओ द्वारा नियुक्त केवल 120 न्यायाधीशो के पेनल द्वारा मिलकर बना है। इस पेनल मे से किसी विशिष्ट विवाद के पक्ष उस विशिष्ट विवाद के अधिनिर्णयन के लिए किसी न्यायालय के सदस्यो का चयन कर सकते हैं। इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि यह सस्था न स्थायी है न न्यायालय है। तथाकथित न्यायालय का एक निकाय के रूप म अस्तित्व नही है। अतएव यह न्यायिक अथवा कोई अन्य कार्य नही करता। वास्तव म "उच्चतम नैतिक प्रतिष्ठा के उपभोगी अतर्राष्ट्रीय विधि के प्रश्नो म मान्यता प्राप्त क्षमता वाले[15] व्यक्तियो की सूची से यह कुछ अधिक नही है। यह किसी विशिष्ट विवाद के अधिनिर्णयन के लिए सगठित किए जाने वाले विशिष्ट न्यायालयो मे से किसी एक के लिए न्यायाधीशो का चयन सम्भव बनाना है। तथाकथित विवाचन के स्थायी न्यायालय ने किसी मामले मे कभी निर्णय नही किया है, केवल पनल के व्यक्तिगत सदस्यो ने किया है। यह अतर्राष्ट्रीय क्षत्र मे न्यायिक सगठन के विकेन्द्रीकरण को चिरस्थायी बनाता है। यद्यपि इसके नाम से भ्रम होता है कि यह केन्द्रित न्यायिक सत्ता की आवश्यकता मे विश्वास करता है।

15 Article 44 of the Convention

वास्तविक रूप मे स्थायी अतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना मे प्रधान रुकावट ऐसे न्यायालय का सगठन था। राष्ट्र प्रत्येक किसी मामले मे न्यायाधीशो के चयन करने की क्रिया की स्वतत्रता के अभिरक्षण मे उतने ही उत्सुक थे, जितने कि वे प्रत्येक विशिष्ट विवाद को अधिनिर्णयन के लिए प्रस्तुत करने की अपनी स्वतत्रता को बनाये रखने मे उत्सुक थे। विशेषतया राष्ट्र एक ऐसे अतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के द्वारा एक विवाद का निर्णय किए जाने की अनुमति के लिए अनिच्छुक थे, जिसमे उनके नागरिको मे से और उनके दृष्टिकोण का कोई प्रतिनिधि सदस्य न हो। राष्ट्रो की सीमित सख्या से अधिक पर जिसका क्षेत्राधिकार हो ऐसा कोई भी न्यायालय ऐसी आवश्यकता की औपचारिकता पूरी नही कर सकता था। एक विश्व-न्यायालय के क्षेत्राधिकार के अधीन राष्ट्रो की सख्या न्यायाधीशो की सख्या से अवश्य ही अधिक होगी। विशेषतया, छोटे राष्ट्रो को भय था कि इन परिस्थितियो मे उनमे से स्थायी रूप से ऐसे न्यायालय मे प्रतिनिधित्व से वचित रहेगे। इस प्रकार ऐसा न्यायालय सहज ही बडी शक्तियो का अधिकरण बन सकता था।

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा इसके उत्तराधिकारी अतर्राष्ट्रीय न्यायालय की सविधि ने इस समस्या का हल कर दिया है। न्यायालय पद्रह सदस्यो से मिलकर बना है, जिनमे दो एक ही राज्य के नागरिक नही हो सकते (अनुच्छेद 3) दूसरी ओर, "निर्वाचक ध्यान रखेंगे—कि समस्त निकाय में विश्व की प्रमुख प्रकारो की सभ्यता तथा प्रधान विधि-प्रणालियो का प्रतिनिधित्व निश्चय ही होना चाहिए" (अनुच्छेद 19) न्यायालय के सदस्यो का चयन एव निर्वाचन बहुत ही विदग्ध युक्तियों से होता है, ताकि उच्च व्यवसायी स्तर तथा सविधि की 19 वी धारा के पालन के निश्चय की व्यवस्था हो सके। राष्ट्रीय समूहो में सगठित विवाचन के स्थायी न्यायालय के सदस्यो द्वारा अथवा अपनी-अपनी सरकारों के द्वारा नियुक्त राष्ट्रीय समूहा द्वारा (अनुच्छेद 4, 5, 6) इसके लिए मनोनीत किए जाते हैं। *सयुक्त राष्ट्र की महासभा तथा सुरक्षा-परिषद् के सदस्यों* के पूर्ण बहुमत के द्वारा निर्वाचन होता है। ये दोनो निकाय अलग-अलग मतदान करती हैं। (अनुच्छेद 8-12) सविधि का 31वा अनुच्छेद विशिष्ट राष्ट्रीय न्यायाधीशों की व्यवस्था की अतिरिक्त रियायत प्रदान करता है। यह उन पक्षो के द्वारा चुने जा सकते हैं जिनकी राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व न्यायालय के सदस्यो मे नही होता।

एक सच्चे न्यायिक अभिकरण के रूप में यह न्यायालय, स्वय अपने अस्तित्व मे अतर्राष्ट्रीय लोक समाज के लिए दो आवश्यक कार्यों की पूर्ति करता है। एक ओर तो यह न्यायालय स्थायी रूप से स्थापित होने के कारण तथा किसी

ऐसे विवाद पर आधारित न होने के कारण जोकि अधिनिर्णयन के लिए आया है अधिनिर्णयन के द्वारा राष्ट्रों के अपने मतभेदों के निराकरण के लिए सदैव उपलब्ध है। विवादों के न्यायिक निर्णय के मार्ग में चाहे अन्य कुछ भी बाधक हो, परन्तु न्यायाधिकरण की स्थापना इसके सदस्यों के चयन, इसकी प्रक्रिया तथा सारभूत विधि की समस्यायें न्यायालय की संविधि के द्वारा सदा के लिए हल हो गई हैं। अधिनिर्णयन के प्रत्येक व्यक्तिगत मामले के हल में नए सिरे से होने वाली जिन कठिनाइयों को इन समस्याओं ने 1920 के पूर्व उठाया हो वे अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की सफल व्यवस्था के मार्ग में अब और अधिक बाधक नहीं हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सदस्य नौ वर्षों की अवधि के लिए निर्वाचित होते हैं, तथा वे पुनः निर्वाचित हो सकते हैं। यह इसके न्यायिक कार्य के सम्पादन में स्थायित्व प्रदान करता है। यह गुणावस्था आवश्यक रूप में ऐसे न्यायाधिकरण से अनुपस्थित रहती है, जो एक विशिष्ट विवाद के निर्णय के लिए आयोजित होता है तथा निर्णय देने के बाद जिसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। एक न्यायालय जिसकी सदस्यता बहुत वर्षों तक लगभग समरूप रही है एक अपनी परम्परा विकसित किए बिना नहीं रह सकता जिसको यह अपने उत्तरोत्तर सदस्यों को सङ्क्रमित जिसकी निरन्तरता पर भावी पक्ष विश्वास कर सकते हैं। न्यायाधीशों के नौ वर्षों की अवधि के लिए निर्वाचित होने के कारण यह यहां निश्चित है। यह परिकलन एवं स्थायित्व का तत्त्व जोकि इस प्रकार एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण के परिचालनों में प्रविष्ट किया जाता है वह प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व विवाचक न्यायालयों की प्रारम्भिक ऊलजलूल कार्यवाहियों से तीव्र विरोध में है। यह न्यायालय को एक विश्वास के वातावरण से घेर लेता है जोकि अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के इतिहास में बिल्कुल अनूठा है।

न्यायिक निर्णयों का प्रभाव

यह स्थायित्व तथा परिकलन न्यायालय के न्यायिक परिचालनों के न होकर एक स्थायी संगठन के मनोवैज्ञानिक परिणाम हैं। न्यायालय के न्यायिक निर्णयों के वैध प्रभाव के सम्बन्ध में संविधि, अनुच्छेद 59 में व्यवस्था करती है कि "विवाद पक्षों में तथा उस विशिष्ट मामले के अतिरिक्त न्यायालय के निर्णय का कोई बंधनकारी प्रभाव नहीं है।" यह वास्तव में विकेन्द्रीकरण के सिद्धांत का सहायक है। एक संगठन में उन्हीं व्यक्तियों के निरन्तर बने रहने का सामाजिक तथ्य न्यायालय के न्यायशास्त्र में एकरूपता तथा परम्परा के विकास में सहायक है। किन्तु यह आँग्ल-अमरीकी न्यायालयों की भांति, निर्णीतानुसरण के वैध दायित्व तथा दृष्टान्त के अनुसार अपने निर्णयों को न्यायोचित ठहराने के लिए बाध्य नहीं

है। तथापि, ऊपर विवेचित एक रूपता के सामाजिक दबाव कारण अपने अस्तित्व की पहली तीन दशियों में, यदि न्यायालय वास्तव में निर्णीतानुसरण के नियम से बाध्य होता, तो न्यायालय का न्यायशास्त्र कठिनाई से ही भिन्न होना। तथापि, यदि चाहे तो न्यायालय अपने पूर्व निर्णय की उपेक्षा करने में स्वतंत्र है। ऐसी स्थितियाँ उठ सकती हैं, जहां कि निर्णीतानुसरण के सिद्धान्त से बाध्य न्यायालय अपने पूर्व-निर्णयों की उपेक्षा से हिचकिचायेगा। किन्तु अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय ऐसा नहीं करेगा।

फिर भी स्वयं अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायशास्त्र में अनिश्चितता का यह तत्व उसकी तुलना में कम है जोकि संविधि के अनुच्छेद 59 के अंतर्गत न्यायालय तथा अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में परिचालित अन्य बहुत से विषम न्यायिक अभिकरणों के बीच सम्बन्धों को प्रभावित करता है। व्यक्तिगत नागरिकों की क्रियाओं पर सफल प्रतिबन्ध लगाने वाले साधन के रूप में अधिनिर्णयन की राष्ट्रीय प्रणालियों की शक्ति उस न्यायिक प्रणाली की सोपानात्मक प्रकृति से बड़े अंश में प्राप्त होती हैं। व्यक्तिगत नागरिक चाहे कुछ कार्य करे, न्यायालय यह कहने के लिए तत्पर रहता है कि कार्य विधि की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है, अथवा नहीं। जब ये न्यायालय निर्णय कर चुकते हैं, तो किसी उच्चतर न्यायालय में निचले न्यायालय के निर्णय स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने के लिए अपील की जा सकती है। तथा, अन्त में, इस विषय में एक सर्वोच्च न्यायालय अन्तिम सत्ता के साथ कहेगा। चूंकि ये सब न्यायालय निर्णीतानुसरण नियम के अंतर्गत परिचालित होते हैं, उनके निर्णय तार्किक रूप में न केवल उसी न्यायालय में, वरन न्यायालय की सम्पूर्ण प्रणाली के अंतर्गत संगत होते हैं। उनके सम्बन्धों का सोपानात्मक स्वरूप प्रणाली में समस्त निर्णयों की एकरूपता की गारंटी करता है[16]। सोपानात्मक संगठन तथा निर्णीतानुसरण के नियम का सम्मिश्रण, फिर, समस्त न्यायिक प्रणाली में न्यायशास्त्र

16. यह केवल आदर्श रूप में ही सत्य है। देशीय न्यायिक प्रणालियों के वास्तविक परिचालन में इसके अपवाद हैं। उदाहरणार्थ, संघीय न्यायिक प्रणाली में, विभिन्न संघीय न्यायालयों के निर्णयों की तार्किक संगति केवल वहीं तक सुनिश्चित है, जहां तक सर्वोच्च न्यायालय का अपीलों के उच्चतम न्यायालय की हैसियत में क्षेत्राधिकार है तथा उसका वह प्रयोग करता है। जहां, या तो विधिवत, अथवा क्योंकि सर्वोच्च न्यायालय एक अपील सुनने में मनाही कर देता है, अनेक अपीलों के अभिसत्र न्यायालय समरूप मामलों का निर्णय बिना उच्चतर न्यायाधिकारियों के उपचार के करते हैं। उनके द्वारा समरूप मामलों में प्रयुक्त वैध नियम एक दूसरे से भिन्न हो सकते हैं, तथा बहुधा होते हैं। फिर, इस सीमा तक, संघीय, न्यायिक प्रणाली में एक आपवादिक स्थिति होती है, जोकि अन्तर्राष्ट्रीय अधिनिर्णयन के क्षेत्र में स्वाभाविक ही है।

की एक प्रणाली को जन्म देता है। यह एक ममक्त विधि है जोकि जिस किसी को विधि के संरक्षण की आवश्यकता हो, उसकी प्रार्थना पर क्रियाशील होने के लिए तत्पर रहती है।

अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस स्थिति के समान कुछ भी नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय एक वह न्यायालय है, जिसका संभाव्य रूप में विश्वव्यापी क्षेत्राधिकार है। परन्तु विशेष पक्षों के लिए, विशेष प्रकार के विवादों के लिए, अथवा विशिष्ट अकेले मामलों के लिए विशिष्ट संधियों द्वारा निर्मित बहुत से अन्य न्यायालयों का न तो एक दूसरे के साथ कोई वैध सम्बन्ध है अथवा न अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के साथ कोई सम्बन्ध है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय किसी अर्थ में विश्व का सर्वोच्च न्यायालय नहीं है, जाकि अन्तिम सत्ता के साथ, दूसरे अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णयों की अपीलों का निर्णय कर सके। यह बहुत से दूसरे न्यायालयों के मध्य केवल एक न्यायालय है जिसकी अपन संगठन के स्थायित्व, क्षेत्राधिकार की सम्भाव्य पहुच तथा इसके निर्णयों की सामान्यतया उच्च वैध गुणावस्था के कारण विशिष्ट स्थिति है। तथापि यह किसी भी अर्थ में दूसरे अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयों के ऊपर सोपानात्मक रूप से अध्यारोपित नहीं है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय, अपने व्यवसायी उत्कृष्टता के कारण, अन्य अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णयों पर अपनी छाप भले ही छोड़ सकें, परन्तु, चूंकि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय निर्णीतानुसरण के नियम द्वारा बाध्य नहीं हैं, अत दूसरे अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय अपने निर्णयों को अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों के साथ संगत बनाए रखने के लिए स्वयं अपने निर्णयों को एक दूसरे के साथ संगत बनाए रखने वैध दायित्व की अपेक्षा अधिक बाध्य नहीं है। यहा फिर, विकेन्द्रीकरण न्यायिक कार्य का पहचान-चिन्ह है।

अंतर्राष्ट्रीय विधि का प्रवर्तन

इसका विकेन्द्रित स्वरूप

विधायी एवं न्यायिक कार्यों के लिए जिसके विस्तृत प्रमाण की आवश्यकता थी, वही कार्यकारिणी सम्बन्धी कार्य के विषय में सबके देखने के लिए सुस्पष्ट है। यह इसका पूर्ण तथा अवाक्य विकेन्द्रीकरण है। अंतर्राष्ट्रीय विधि इसके प्रवर्तन के प्रयोजन के लिए राष्ट्रीय सरकारों के अभिकरणों एवं उपकरणिकाओं के अतिरिक्त अन्य अभिकरणों एवं उपकरणिकाओं की भी व्यवस्था नहीं करती। प्रोफेसर ब्रायरले इस स्थिति का वर्णन इस प्रकार करते हैं:

"अंतर्राष्ट्रीय वैध अधिकारों के प्रवर्तन के लिए अंतर्राष्ट्रीय प्रणाली के पास कोई केन्द्रीय निकाय नहीं है, तथा अनुशास्तियों की किसी सामान्य योजना के सृजन के आजकल कोई निकट भविष्य में आसार भी नहीं हैं। इस कार्यपालिका

शक्ति की अनुपस्थिति का अर्थ है कि प्रत्येक राज्य अपने निजी अधिकारों के प्रवर्तन के लिए ऐसी कार्यवाही करेगा जैसे कि यह उचित समझता है। यदि इस सबका प्रयोग विधि के पालन के साधन जुटाने के उचित अर्थ में किया जाता है, तो इसका यह अर्थ नहीं कि अंतर्राष्ट्रीय विधि की कोई अनुशास्ति नहीं है। परन्तु यह सत्य है कि जो अनुशास्तियां इस के पास हैं, वे व्यवस्थित अथवा केन्द्र द्वारा निर्दिशत नहीं हैं और इस प्रकार वे अपने परिचालन में अनिश्चित हैं। व्यवस्था की यह कमी स्पष्टतया असन्तोषजनक है। विशेषतया यह उन राज्यों के लिये असंतोषजनक है जोकि अपने अधिकारों को प्रभावकारी ढंग से मनवाने में दूसरों से कम समर्थ हैं।"[17]

उसी अर्थ में जिस में व्यक्तिगत राष्ट्र स्वयं अपना विधायक है तथा अपने न्यायाधिकरणों एवं अपने क्षेत्राधिकार का निर्माता है यह भी अपना संरक्षक तथा पुलिस कर्मचारी भी है। जब राष्ट्रीय लोक समाज में व्यक्ति अ व्यक्ति ब के अधिकारों का उल्लंघन करता है, तब इस राज्य की विधि-प्रवर्तक क्रियायें हस्तक्षेप करेंगी, तथा अ के विरुद्ध ब का संरक्षण करेंगी तथा अ को विधि के अनुसार ब को सन्तुष्ट करने के लिए विवश करेंगी। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ऐसा कुछ नहीं है। यदि राज्य अ राज्य ब के अधिकारों का उल्लंघन करता है, तो कोई भी प्रवर्तक अधिकरण ब की सहायता के लिए नहीं आवेगा। ब को स्वयं अपनी सहायता करने का अधिकार है, यदि वह ऐसा करने में समर्थ है अर्थात्, यदि वह अ की तुलना में अपनी प्रवर्तक क्रियाओं से अपने अधिकारों में हस्तक्षेप का सामना करने में पर्याप्त रूप से समर्थ है। देशीय विधि, केवल बहुत ही आपवादिक एवं संकुचित परिस्थितियों में, आत्म-सहायता तथा आत्म-रक्षण के रूप में विधि के शिकार को विधि को अपने साथ में लेने तथा इसके उल्लंघनकारी के विरुद्ध प्रवर्तन का अधिकार है।

विधि-प्रवर्तन की इससे अधिक आदिकालीन तथा शक्तिहीन कोई प्रणाली नहीं हो सकती। यह प्रणाली विधि के प्रवर्तन को विधि के उल्लंघन-कर्ता तथा उल्लंघन के शिकार के बीच में शक्ति के वितरण के उलट-फेर पर छोड़ देती है। यह बलवान के लिए विधि की अवज्ञा तथा इसके प्रवर्तन, दोनों, को सरल बना देती है, और परिणामतया दुर्बल के अधिकारों को संकट में डाल देती है। एक बड़ी शक्ति एक छोटे राष्ट्र के अधिकारों का उल्लंघन उसकी ओर से प्रभावकारी अनुशास्तियों के भय के बिना कर सकती है। इस बात की चिंता किये बिना कि क्या अन्तर्राष्ट्रीय विधि की कथित अवज्ञा वास्तव में हो चुकी है अथवा क्या

17. The Law of Nations, pp 92, 93 (Reprinted by permission of The Clarenden Press, Oxford)

इसकी गम्भीरता प्रतिकार-स्वरूप उठाये गये कदमों की कठोरता की दृष्टि से न्याय-संगत है अथवा नहीं, अपने अधिकारों के अतिक्रमण के बहाने बलवान राष्ट्र छोटे राष्ट्र के विरुद्ध प्रवर्तन के उपायों के साथ अग्रसर हो जाता है।

छोटे राष्ट्र को अपने अधिकारों के सरक्षण के लिए शक्तिशाली मित्रों की सहायता खोजनी चाहिए। केवल इस प्रकार यह अपने अधिकारों के उल्लंघन के प्रयत्न की सफलता की सभावना के विरोध की आशा कर सकता है। क्या ऐसी सहायता मिल पावेगी, यह अंतर्राष्ट्रीय विधि का प्रश्न नहीं है। वरन व्यक्तिगत राष्ट्रों द्वारा अनुमानित राष्ट्रीय हित का है। उनको निश्चय करना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय लोक समाज के दुर्बल सदस्य की सहायता करें अथवा नहीं। दूसरे शब्दों में, क्या अंतर्राष्ट्रीय विधि के प्रवर्तन का प्रयत्न किया जायेगा अथवा नहीं, तथा क्या प्रयत्न सफल होगा, अथवा नहीं प्राथमिक रूप में वैध विचारों तथा विधि-प्रवर्तन की यांत्रिकियों के निस्वार्थ परिचालनों पर निर्भर नहीं करता। प्रयत्न तथा सफलता, दोनों, राजनीतिक विचारों तथा किसी विशेष मामले में शक्ति के वास्तविक वितरण पर निर्भर करेंगे। एक सबल राष्ट्र के द्वारा डराये हुए किसी दुर्बल राज्य के अधिकारों का सरक्षण फिर ऐसे शक्ति-सतुलन द्वारा निर्धारित होता है, जैसाकि यह उस विशिष्ट स्थिति में परिचालित होता है। यही 1914 में जर्मनी के द्वारा बेल्जियम के अधिकारों के उल्लंघन के विरुद्ध हुआ, क्योंकि उन अधिकारों का सरक्षण शक्तिशाली पड़ौसी राज्यों के राष्ट्रीय हितों द्वारा आवश्यक प्रतीत होता था। यही उस समय हुआ जब 1950 में उत्तर कोरिया के द्वारा दक्षिण कोरिया पर आक्रमण किया गया। सुदूर पूर्व में शक्ति-सतुलन के बनाये रखने तथा एशिया भर में प्रादेशिक स्थायित्व में उनकी अभिरुचि ने संयुक्तराज्य तथा इसके साथ सबधित राज्यों में से कुछ, जैसे फ्रान्स तथा ग्रेट ब्रिटेन को, दक्षिण कोरिया की सहायतार्थ आने के लिए प्रोत्साहित किया। दूसरी ओर जब संयुक्तराज्य ने 1903 में उस क्रांति का समर्थन किया, जिससे पनामा गणराज्य की स्थापना हुई, तो कोलम्बिया के अधिकारों का बिना हानि के, तथा 1939 में सोवियत संघ द्वारा आक्रमण किए जाने पर फिनलैंड के अधिकारों का प्रभावकारी अनुशास्तियों के हस्तक्षेप के बिना उल्लंघन हुआ। कोई ऐसा शक्ति सतुलन न था, जोकि इन राष्ट्रों का सरक्षण कर पाता।

तथापि यह बता देना चाहिए कि वास्तविक स्थिति उतनी खेदजनक नहीं है, जैसी कि उपर्युक्त विश्लेषण से प्रतीत होती है। अंतर्राष्ट्रीय विधि के नियमों के भारी बहुमत का पालन समान रूप से सभी राष्ट्रों के द्वारा वास्तविक दबाव के बिना होता है, क्योंकि यह सामान्यतया सभी सम्बन्धित राष्ट्रों के हित में है कि वे अंतर्राष्ट्रीय विधि के अंतर्गत अपने दायित्वों का निर्वाह करें। अपनी

राजधानी मे रहने वाले विदेशी राजनयज्ञों के अधिकारों का अतिक्रमण करने में कोई भी राष्ट्र सकोच करेगा, क्योंकि अतर्राष्ट्रीय विधि के उन नियमो के पालन में प्रत्येक राष्ट्र का अन्य सभी राष्ट्रों के हितो क समान हित है, क्योंकि विदेशी राजधानियो मे अपने राजनयिक प्रतिनिधियो, तथा साथ ही अपनी राजधानी में विदेशी राजनयज्ञों को अपनी सुरक्षा प्रदान करते हैं। इसी प्रकार कोई राष्ट्र एक व्यापारिक सधि के अतर्गत अपने दायित्वों की उपेक्षा करने में सकोच करेगा, क्योंकि जिन लाभो की वह सधि के पालन द्वारा दूसरे सविदाकारी पक्षो से प्रत्याशा करता है, वे दूसरो क द्वारा पूर्वानुमानित लाभो के सपूरक है। इस प्रकार सौदे के अपने भाग की पूर्ति न करने में लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना है। ऐसा विशेषतया आगे चलकर होता है। ऐसा राष्ट्र जो अपने व्यापारिक दायित्वो की अवहेलना करने के लिए विख्यात हो जाता है, अपने लिए लाभकारी व्यापारिक सधियो को कठिनाई से कर पावेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के बहुत से नियम वैध शर्तों मे ऐसे ही समान तथा सपूरक हितो का निरूपण करते हैं। यही कारण है कि वे सामान्यतया अपने आपको मानो स्वय प्रवर्तन करते हैं। सामान्यतया वहा किसी विशिष्ट प्रवर्तक क्रिया की आवश्यकता नही होती। जिन बहुत से मामलो मे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के ऐसे नियमो का उल्लघन वास्तव मे निहित हितो के समूह के होते हुए भी होता है, वहा हानि-ग्रस्त पक्ष को या तो स्वेच्छा से या अधिनिर्णयन के परिणाम-स्वरूप, सतुष्टि की जाती है। यह ध्यान देने योग्य है कि पिछली डेढ शताब्दी मे दिये गए ऐसे हजारो निर्णयो म, हारने वाले पक्ष ने दस से भी कम मामलो मे स्वत कार्यवाही करना अस्वीकृत किया है।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय विधि के नियमो का भारी बहुमत इस प्रवर्तन-प्रणाली की दुर्बलता से सामान्यतया अप्रभावित रहता है, क्योंकि स्वैच्छिक पालन, प्रवर्तन की समस्या को उठने से बिलकुल रोक देता है। तथापि आवश्यक एव सामान्यतया अधिदर्शनीय मामलो की अल्पसख्या मे प्रवर्तन की यह समस्या तीव्र हो जाती है। यह विशेषतया हमारे विवाचन के सदर्भ मे आवश्यक है, जिसमें अन्तर्राष्ट्रीय विधि का पालन तथा प्रवर्तन सबन्धित राष्ट्रों की सापेक्ष शक्ति पर प्रत्यक्ष प्रभाव रखते हैं। जैसाकि हम देख चुके हैं, उन मामलो मे विधि की अपेक्षा शक्ति-सचय, विचार, अनुपालन एव प्रवर्तन का निर्धारण करते हैं। इस स्थिति के उपचार तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि मे कार्यकारिणी सम्बन्धी *कार्य को कम से कम वस्तुनिष्ठता एव केन्द्रीयकरण का आभास देने के लिए* दो प्रयत्न हुए हैं। दोनों प्रयत्न विफल रहे है। एक ही जैसे कारणों से गारटी-सधियो के रूप मे, एक प्रयत्न आधुनिक राज्य-प्रणाली के प्रारम्भ मे ढूढा जा

सकता है। दूसरा प्रयत्न सामूहिक सुरक्षा के सम्बन्धो मे है जोकि सर्वप्रथम राष्ट्रसघ के सविदा मे किया गया था।

गारंटी की संधियाँ

निराशाप्रद अनुभव से यह शिक्षा मिली है कि सधियो के प्रति निष्ठा का पवित्र एव अलघनीय कर्त्तव्य सदैव इसका पूर्ण आश्वासन नही है कि उनका पालन होता रहेगा। इसलिए लोगो ने विश्वासघात के विरुद्ध आश्वासन प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। यह सविदाकारी राज्यो के सद्भाव से स्वतत्र अनुपालन के प्रवर्तक साधनो को प्राप्त करने मे है। जब शान्ति-सधि अथवा किसी अन्य सधि के करने वालो को इसके सदैव अनुपालन का विश्वास नही होता तो वे एक शक्तिशाली सम्राट् से इसकी गारटी कराने की माग करते है। गारटीकर्त्ता सधि की शर्तों की रक्षा तथा उनके अनुपालन कराने का वचन देता है। यदि सविदाकारी राज्यो मे से कोई अपने वायदो की पूर्ति से बचना चाहे, तो गारटीकर्त्ता को शक्ति के प्रयोग के लिए विवश होना पडेगा। इसलिए गारटीकर्त्ता की स्थिति ऐसी है, जिसको कोई भी सम्राट् आसानी से अथवा उचित कारणो के बिना पसन्द नही करेगा। यदि उनका सधि के पालन मे अप्रत्यक्ष *हित नही होता, अथवा मैत्री के प्रयोजनो से अभिप्रेरित नही होते, तो शासक ऐसा* मुश्किल से ही करते है।[18] अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अठारहवी शताब्दी के सबसे बडे विद्वान वेटेल का यह कथन गारटी की सधियो के प्रयोजनो एव वैध विषय की भली-भाँति परिभाषा करता है तथा एक वास्तविक केन्द्रित सस्था के स्थानापन्न के रूप मे उनकी समस्यात्मक प्रकृति की ओर सकेत करने मे नही चूकता है।

सबसे अधिक सरल प्रकार की गारटी की सधि का उदाहरण इग्लैड के द्वारा गारटी की गई फ्रान्स तथा आरगान के बीच की 1505 की ब्लोइ की सधि मे मिलता है। यह सामान्यतया आधुनिक इतिहास मे ऐसी सबसे प्रारम्भिक सधि समझी जाती है। इस गारटी का यह महत्व था कि इग्लैड ने यह वचन दिया कि दोनो पक्ष इसकी ओर निष्ठावान बने रहेगे। इस सधि के निष्पादन के लिए उसने पुलिस कर्मचारी के दायित्व को अपने ऊपर ले लिया।

उदाहरणार्थ, एक अधिक अग्रगामी प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय गारटी, 1856 की पेरिस की सधि तथा 1878 की बर्लिन की सधि के हस्ताक्षरकर्त्ताओ द्वारा टर्की की प्रादेशिक सत्यनिष्ठा की गारटी मे, तथा क्रमश 1831, 1839 तथा 1867 की परस्पर गारटी की सधियो के हस्ताक्षरकर्त्ताओ के द्वारा बेल्जियम तथा

18 Emmerich de Vattel, The Law of Nations (Washington Carnegie Institution, 1916), Book II, § 235, P 193.

लुक्ज़मबर्ग की तटस्थता की गारटी में मिलती है। अक्तूबर, 1925 की परस्पर गारन्टी की सधि म ग्रेट-ब्रिटेन, बेल्जियम, फ्रान्स, जर्मनी तथा इटली "जर्मनी तथा बेल्जियम, तथा जर्मनी एव फ्रान्स के बीच सीमान्तो के परिणाम-स्वरूप यथापूर्व-स्थिति के अनुरक्षण तथाकथित सीमान्तो की अलघनीयता की सामूहिक रूप से एव अलग-अलग गारटी करते हैं।" यह सधि तथाकथित लोकार्नो समझौते का अग है। इस प्रकार की गारटी की सधि मे, केवल एक नही, वरन् राष्ट्रो का समूह, इस बात की चिंता किए बिना कि उल्लघनकारी कौन है, किसी भी उल्लघनकारी के विरुद्ध गारटी किए गये वैध उपबन्धो के प्रवर्तन के लिए या तो अलग-अलग या सामूहिक रूप से, अपना वचन देता है। इस राष्ट्रो के समूह में सभी महान राष्ट्र नही, तो अधिकाश सम्मिलित हैं।

केन्द्रित कार्यकारी अभिकरणो के स्थानापन्न के रूप मे अपने कार्य के सम्पादन मे समर्थ होने के लिए, दोनो प्रकार की सधियो को दो पूर्व आवश्यकताओ की पूर्ति करनी चाहिए उनको अपने निष्पादन मे सफल होना चाहिए, तथा निष्पादन स्वचालित होना चाहिए। निष्पादन की सफलता, तथापि, शक्ति-सतुलन द्वारा ही हो सकती है। अर्थात्, यह गारटीकर्त्ता राष्ट्र तथा विधि के उल्लघनकर्त्ता के बीच में शक्ति के वितरण पर निर्भर है। शक्ति का वितरण गारटीकर्त्ता राष्ट्रो के अनुकूल हो सकता है, विशेषतया सामूहिक गारटी के मामले मे, परन्तु ऐसा सदैव नही होता। विशेषतया युद्धकार्य की आधुनिक परिस्थितियो मे ऐसी स्थितियो की सरलता से कल्पना की जा सकती है, जिनमे विधि की उल्लघनकारी बडी शक्ति अकेली ही विधि-पालक गारटी करने वाले राष्ट्रो की बडी सख्या के सयुक्त दबाव का सामना करने में समर्थ होगी।

तथापि, गारटी के प्रयोग का यह अनिश्चय इसकी प्रभावकारिता को पूर्णतया निष्फल कर देता है। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रामाणिक मूलपाठ ने उन बहुत से छिद्रो की ओर भली प्रकार सकेत किया है, जिसमें होकर एक गारटीकर्त्ता उल्लघन किए बिना, सधि के निष्पादन से बचने में समर्थ है। हम ओपन हायम-लाटरपेक्ट में पढते हैं

"परन्तु गारटीकर्त्ताओ का राज्य के प्रति वायदा की गई सहायता देने का कर्त्तव्य बहुत सी शर्तों एव परिस्थितियो पर निर्भर है। इस प्रकार सर्वप्रथम, गारटी दिये गए राज्य को गारटीकर्त्ता से सहायता देने की प्रार्थना करनी चाहिए, दूसरे, सकटकाल मे गारन्टीकर्त्ता को आवश्यक सहायता देने में समर्थ होना चाहिए। जब, उदाहरणार्थ, किसी तीसरे राज्य के साथ युद्ध करने में इसके हाथ बधे हुए हैं, अथवा जब यह आन्तरिक झगडों अथवा अन्य कारणों से इतना अशक्त है कि इसका हस्तक्षेप इसको गम्भीर सकट में डाल देगा, यह सहायता की प्रार्थना

पूरी करने के लिए बाध्य नहीं है। यही नहीं यदि गारंटी दिए गए राज्य ने गारंटीकर्त्ता के व्यवहार की विधि के पूर्व परामर्श का अनुपालन नहीं किया ना सहायता देने का गारंटीकर्त्ता का कर्त्तव्य नहीं है।[19]

दूसरे शब्दों में प्रवर्तक क्रियाओं के माध्यम से अन्तराष्ट्रीय विधि के अनुपालन की गारंटी का दायित्व एक अन्तराष्ट्रीय न्यायालय के द्वारा अधिनिर्णयन के लिए विवादों का सौंपने के दायित्व से अधिक कठोर नहीं है। यह सम्भवतया कम ही कठोर है। दोनों मामलों में दायित्व सभी सम्भव आकस्मिकताओं का ध्यान में रखने वाली परिसीमाओं, आरक्षणों तथा अपवादों के द्वारा वस्तुतः मूल्यहीन हो जाता है। गारंटी की संधियाँ सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए कार्यकारिणी सम्बन्धी अन्तराष्ट्रीय मंत्र में इतना विकेन्द्रित कर देता है, जितना विकेन्द्रित यह उनके बिना होता।

सामूहिक सुरक्षा

विधि प्रवर्तन की पूर्णतया विकेन्द्रित प्रणाली की कमियों को परास्त करने के अभिलेख में सामूहिक सुरक्षा सबसे अधिक दूरगामी प्रयत्न है। जबकि पारम्परिक अन्तर्राष्ट्रीय विधि नियमों के प्रवर्तन को हानिग्रस्त राष्ट्र पर छोड़ देती है सामूहिक सुरक्षा अन्तराष्ट्रीय विधि के नियमों के अन्तराष्ट्रीय लोकसमाज के सभी सदस्यों के द्वारा प्रवर्तन की व्यवस्था करते है। चाहे उन्होंने उस विशिष्ट मामले में क्षति उठाई हो अथवा नहीं। फिर भावी विधि की अवज्ञा करने वाले को अन्तराष्ट्रीय विधि की रक्षा के लिए स्वचालित रूप से सामूहिक क्रिया द्वारा, सभी राष्ट्रों के सम्मिलित विरोध के लिए तैयार रहना चाहिए। एक आदर्श के रूप में सामूहिक सुरक्षा दोषरहित है। प्रभुता सम्पन्न राष्ट्रों के एक लोकसमाज में यह वास्तव में विधि प्रवर्तन की समस्या के आदर्श समाधान को प्रस्तुत करती है। परन्तु सामूहिक सुरक्षा के विचार को व्यवहार में लाने के दोनों प्रयत्न राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा का सोलहवां अनुच्छेद तथा संयुक्तराष्ट्र के चार्टर का अध्याय 7 आदर्श से बहुत नीचे हैं। अपनी बारी में, इन दोनों संगठनों के सदस्यों का वास्तविक व्यवहार इन दो प्रलेखों द्वारा अधिकृत सामूहिक उपायों से बहुत कम रहा है।

राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा का अनुच्छेद 16

जबकि आज राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा का केवल ऐतिहासिक महत्त्व है, इसके

19 International Law, Vol I p 966 (Reprinted by permission of Longmans, Green and Co , Inc)

अनुच्छेद 16[20] के प्रथम तीन पैराग्राफो में सामूहिक सुरक्षा की एक प्रणाली को व्यवहार में रखने के प्रारम्भिक प्रयत्न निहित हैं। इन तीन पैराग्राफो मे दी गई सामूहिक सुरक्षा की प्रणाली प्रारम्भ से ही अतर्राष्ट्रीय विधि के उल्लघन तक सीमित है। अर्थात् यह प्रसविदा के 12, 13 तथा 15 अनुच्छेदो मे दिए गए अतर्राष्ट्रीय विवादो पर शान्तिपूर्ण समझौतो के उपबन्धो की अवज्ञा मे युद्ध की तैयारी है।[21] अतर्राष्ट्रीय विधि के अन्य सभी उल्लघनो के लिए सामान्य अतर्राष्ट्रीय विधि द्वारा प्रदत्त प्रवर्तन की केवल व्यक्तिगत, विकेन्द्रित प्रणाली प्राप्त है।

---

20 राष्ट्रसघ के प्रसविदा का अनुच्छेद 16 कहता है

1 यदि राष्ट्रसघ का कोई सदस्य अनुच्छेद 12, 13 अथवा 15 के अन्तर्गत प्रसविदाओं की उपेक्षा करके युद्ध का अनुसरण करे, तो स्वत यह समझा जावेगा कि उसने राष्ट्रसघ के सभी दूसरे सदस्यों के विरुद्ध युद्ध कार्य किया है। इसके द्वारा तुरन्त ही वे इसके साथ सभी व्यापारिक अथवा वित्तीय सम्बन्धों का विच्छेद, अपने नागरिकों एव प्रसविदा के उल्लघनकारी राज्यों के नागरिकों तथा किसी अन्य राज्य के नागरिकों के बीच सभी वित्तीय, व्यापारिक अथवा वैयक्तिक समागम के निवारण का कार्य करते हैं ऐसा राज्य भले ही राष्ट्रसघ का सदस्य हो अथवा न हो।

2 राष्ट्रसघ की परिषद् का ऐसे मामलों में यह कर्तव्य होगा कि विविध सम्बद्ध राष्ट्रों को बतलाये कि सघ के प्रसविदाओं के सरक्षण में प्रयुक्त होने के लिए प्रभावकारी सैनिक नौसैनिक अथवा वायु सैनिक शक्ति का वे अलग अलग क्या योगदान देंगे।

3 राष्ट्रसघ के सदस्य फिर सहमत हैं कि उपर्युक्त उपायों से होने वाली हानि तथा असुविधा को न्यूनतम करने के लिए इस अनुच्छेद के अन्तर्गत लिए जाने वाले वित्तीय एव आर्थिक उपायों में वे एक दूसरे का परस्पर समर्थन करेंगे। यही नहीं, सविदा के उल्लघनकारी राज्य के द्वारा उनमें से किसी एक के विरुद्ध निर्दिष्ट विशिष्ट उपायों के प्रतिरोध करने में वे परस्पर एक दूसरे की सहायता करेंगे। वे राष्ट्रसघ के प्रसविदाओं के सरक्षण में राष्ट्रसघ के सहकारी सदस्यों की सेनाओं को अपने प्रदेश में निकलने का मार्ग देने के लिए भी आवश्यक व्यवस्था करेंगे।

4 राष्ट्रसघ के उस सदस्य को जिसने सघ के किसी प्रसविदा का उल्लघन किया है परिषद् के मत द्वारा राष्ट्रसघ की सदस्यता से अलग किया जा सकता है। ऐसे मत को राष्ट्रसघ के अन्य सभी सदस्यों का समर्थन प्राप्त होना चाहिए।

21 अनुच्छेद 12, 13, तथा 15 कहते हैं

अनुच्छेद 12

1 राष्ट्रसंघ के सदस्य सहमत हैं कि यदि उनके बीच में कोई विवाद उठ खड़ा हो, जिससे उनमें किसी विच्छेद की सम्भावना हो तो वे उस विषय को विवाचन अथवा न्यायिक निर्णय के अथवा परिषद् द्वारा परीक्षण के लिए सौंप देंगे वे इस बात पर भी सहमत हैं कि विवाचक के विवाचन अथवा न्यायिक निर्णय अथवा परिषद् की रिपोर्ट के तीन महीनों में पूर्व किसी भी स्थिति में वे युद्ध का अनुसरण नहीं करेंगे।

2 किसी भी स्थिति में इस अनुच्छेद के अन्तर्गत विवाचकों का विवाचन अथवा न्यायिक निर्णय उचित समय में किया जावेगा, तथा परिषद् की रिपोर्ट विवाद के सामने के छः महीनों के अन्तर्गत आ जावेगी।

अनुच्छेद 13

1 राष्ट्रसंघ के सदस्य सहमत हैं कि जब कभी उनमें कोई विवाद उठ खड़ा होगा, जिसे वे विवाचन, अथवा न्यायिक निर्णय के उपयुक्त समझते हैं तथा जो राजनयिक के द्वारा संतोषजनक ढंग से हल नहीं किया जा सकता, तो वे समस्त विषय को विवाचन अथवा न्यायिक निर्णय के लिए सौंप देंगे।

2 किसी संधि की व्याख्या, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के किसी प्रश्न, किसी ऐसे तथ्य के अस्तित्व जो सिद्ध होने पर अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व का उल्लंघन ठहराया जावेगा, अथवा ऐसे किसी उल्लंघन के लिए होने वाली क्षतिपूर्ति के विवादों की उन विषयों में गणना की जावेगी, जोकि सामान्यतया विवाचन अथवा न्यायिक निर्णय के सौंपने के लिए सामान्यतया उपयुक्त हैं।

3 ऐसे किसी विवाद पर विचार के लिए, जिस न्यायालय का मामला सौंपा जावेगा, वह अनुच्छेद 14 के अनुसार स्थापित स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है अथवा विवाद के पक्षों द्वारा सहमत अथवा उनमें स्थित किसी उपसंधि में अनुबद्ध कोई न्यायाधिकरण होगा

4 राष्ट्रसंघ के सदस्य सहमत हैं कि वे पूर्ण सद्भाव के साथ किए जाने वाले परिनिर्णय अथवा निर्णय का अनुपालन करेंगे। यही नहीं वे राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य के विरुद्ध युद्ध नहीं करेंगे, जोकि उसका पालन करता है। ऐसे परिनिर्णय अथवा निर्णय के अनुपालन की किसी असफलता की स्थिति में परिषद् इस बात का निश्चय करेगी कि उसको व्यवहार में लाने के लिए क्या कार्यवाही होनी चाहिए।

अनुच्छेद 15

1 यदि राष्ट्रसंघ के सदस्यों में कोई ऐसा विवाद उठ खड़ा हो, जिसमें किसी विच्छेद के होने की सम्भावना हो तथा जो अनुच्छेद 13 के अनुसार विवेचन अथवा न्यायिक निर्णय के लिए नहीं रखा जाता तो राष्ट्रसंघ के सदस्य सहमत हैं कि वे इस मामले को परिषद् को सौंप देंगे। विवाद का कोई पक्ष महासचिव को इसके अस्तित्व की सूचना देकर सौंपने का कार्य कर सकता है। महासचिव उसकी जाँच तथा उस विचार के सभी आवश्यक प्रबन्ध करेगा।

---

2 इस प्रयोजन के लिए विवाद के पक्ष महासचिव को शीघ्रातिशीघ्र सभी सगत तथ्यों के म थ अपने विवाद के विवरणों की सूचना देंगे, तथा परिषद् उनके तुरन्त प्रकाशन का निर्देश कर सकती है।

3 परिषद् [illegible] निपटारे का प्रयत्न करेगी, और यदि वे प्रयत्न सफल हो जाते हैं तो उस विवाद तथा निर्णय की शर्तों से सम्बन्धित उन तथ्यों की विज्ञप्ति को [illegible] परिषद् उचित समझती है।

4 [illegible] इस प्रकार निपटारा नहीं होता तो परिषद् या तो सर्वसम्मति से अथवा बहुमत से विवाद के तथ्यों से सम्बन्धित एक रिपोर्ट तथा वे सिफारिशें [illegible] तथा प्रकाशित करेगी जोकि उस सदर्भ में न्याय सगत एव उचित प्रतीत [illegible] हैं

5 राष्ट्रसंघ का कोई सदस्य जो परिषद् का सदस्य है, विवाद के तथ्यों तथा तत्सम्बन्धित निष्कर्षों को सार्वजनिक बना सकता है।

6 यदि परिषद् की रिपोर्ट विवाद के एक या अधिक पक्षों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त उसके अन्य सभी सदस्यों द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकृत हो जाती है, तो राष्ट्रसंघ के सदस्य सहमत है कि वे विवाद में उस पक्ष के साथ युद्ध नहीं करेंगे, जोकि रिपोर्ट की सिफारिशों के साथ सहमत हैं।

7. यदि परिषद् कोई ऐसी रिपोर्ट करने में असमर्थ है, जोकि उसके सदस्यों के द्वारा विवाद के एक या एक से अधिक पक्षों के प्रतिनिधियों को छोड़कर, सर्वसम्मति से स्वीकृत है, तो राष्ट्रसंघ के सदस्यों को यह अधिकार बना रहेगा कि औचित्य एव न्याय को बनाए रखने के लिए वे सभी कार्यवाही करेंगे, जिसको वे आवश्यक समझते हैं

8 यदि विवाद के पक्षों में से एक के द्वारा दावा किया जाता है, तथा परिषद् सहमत होती है कि वह उस विषय से सम्बद्ध है, जोकि अतर्राष्ट्रीय विधि के द्वारा पूर्णतया उस पक्ष के देशीय क्षेत्राधिकार मे है, तो परिषद् ऐसी रिपोर्ट करेगी, तथा इसके निपटारे के सम्बन्ध में कोई सिफारिश नहीं करेगी।

9 इस अनुच्छेद के अतर्गत किसी भी मामले में परिषद् किसी भी विवाद को सभा को भेज सकती है। यदि ऐसी प्रार्थना परिषद् को विवाद सौंपने के चौदह दिनों के भीतर होती है तो विवाद के किसी एक पक्ष की प्रार्थना पर विवाद को इस प्रकार भेजा जावेगा।

10 सभा को भेजे गए किसी भी मामले में परिषद् की कार्यवाही तथा शक्तियों से सम्बन्धित इस अनुच्छेद तथा अनुच्छेद 12 के सभी उपबन्ध सभा की क्रियाओं तथा शक्तियों में प्रयुक्त होंगे। वह उस समय होगा जब सभा के द्वारा की गई रिपोर्ट का प्रत्येक मामले में विवाद के पक्षों के प्रतिनिधियों को छोड़कर, राष्ट्रसंघ की परिषद् के प्रतिनिधियों तथा राष्ट्रसंघ के अन्य सदस्यों के बहुमत का समर्थन होगा। इसका वही प्रभाव होगा, जोकि विवाद के एक या अधिक पक्षों के प्रतिनिधियों को छोड़कर, परिषद् के अन्य सभी सदस्यों द्वारा सहमत परिषद् की रिपोर्ट का होगा।

अंतर्राष्ट्रीय विधि के उल्लघन, जोकि अनुच्छेद 16 के प्रथम तीन पैराग्राफो को परिचालित करते हैं, निम्नलिखित चार प्रभाव उत्पन्न करते हैं: (1) विधि के अवज्ञाकारी राष्ट्र से "यह समझा जाता है कि इसने राष्ट्रसघ के अन्य सभी सदस्यो के विरुद्ध कार्य किया है"। (2) इनका यह वैध दायित्व हो जाता है कि पूर्ण बहिष्कार के माध्यम से, विधि के उल्लघनकारी राष्ट्र को राष्ट्रो के समुदाय के किसी भी अन्य सदस्य के साथ किसी भी प्रकार के ससर्ग से दूर रखें। (3) प्रसविदा के उल्लघन किये हुए उपबन्धो की रक्षा के लिए उनके द्वारा क्या सैनिक योगदान किया जाना है, इसकी सिफारिश का राष्ट्रसघ का वैध दायित्व है। (4) सामूहिक कार्यवाही के निष्पादन म राष्ट्रसघ के सदस्य एक दूसरे को सभी आर्थिक एव सैनिक सहायता देने के वैध दायित्व के अतर्गत है।

इन उपबन्धो का शाब्दिक मूलपाठ (1), (2) तथा (4) पाइटो के सम्बन्ध मे एक सामूहिक स्वरूप के स्वचालित दायित्वो का निर्माण करता प्रतीत होता है। परन्तु पाइट (3) के सम्बन्ध मे, जोकि स्पष्टतया सबसे अधिक आवश्यक है, यह अपने आपको सदस्य राष्टो की सिफारिशो तक परिसीमित कर देता है। इन्हे सदस्य-राष्ट्र अपने विवेक के अनुसार स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने मे स्वतत्र होने चाहिए। तथापि, पाइन्ट (1), (2), तथा (4) के रूप भ्रान्तिजनक है। राष्ट्रसघ की सभा के द्वारा 1921 मे स्वीकृत तथा, यदि विधि मे नही तो तथ्य मे सामान्यतया, अधिकारिक समझे जाने वाली, व्याख्या के प्रस्तावो ने अनुच्छेद 16 के अनिवार्य एव स्वचालित तत्वो को वस्तुत: निष्कासित कर दिया है। इसने मूलपाठ के प्रत्यक्ष दायित्वो को केवल उन सिफारिशो के रूप मे परिवर्तित कर दिया है, जिनको राष्ट्रसघ की परिषद् की नैतिक सत्ता के अतिरिक्त अन्य कोई समर्थन प्राप्त नही है।[22]

---

22 सम्बद्ध प्रस्ताव निम्नांकित है

3 दोषी राष्ट्र की एकपक्षीय क्रिया युद्ध की स्थिति नहीं बना सकती। यह केवल राष्ट्रसघ के अन्य सदस्यों को युद्ध की कार्यवाहिया अथवा प्रसविदा के उल्लघनकारी राज्य के साथ युद्धकी अवस्था होने की घोषणा करने का अधिकार देती है। परन्तु यह प्रसविदा की भावना के अनुकूल ही है कि राष्ट्रसघ को, कम से कम, प्रारम्भ ही में युद्ध से बचने तथा आर्थिक दबाव से शान्ति की पुन स्थापना का प्रयत्न करना चाहिए।

4 यह राष्ट्रसघ के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने लिए यह निर्णय करे कि क्या प्रसविदा का उल्लघन हो गया है अनुच्छेद 16 के अन्तर्गत प्रसविदा की स्पष्ट शर्तों मे राष्ट्रसघ के सदस्यों द्वारा अपने कर्त्तव्यों का पालन आवश्यक ठहराया गया है, और वे अपनी सधि के दायित्वों की अवज्ञा किए बिना, उनकी उपेक्षा नही कर सकते।

सर्वप्रथम, अनुच्छेद 16 के प्रत्यक्ष अभिप्राय के विपरीत, यह प्रस्ताव राष्ट्र-संघ की अनुशास्तियों के व्यक्तिगत, विकेन्द्रित स्वरूप की स्थापना करते हैं। यह इस बात की घोषणा करके होता है कि यह प्रत्येक व्यक्तिगत राष्ट्र का कर्तव्य है कि यह इस बात का निर्णय करे कि क्या अंतर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन हो गया है और इसलिए क्या अनुच्छेद 16 का प्रयोग होना चाहिए अथवा नहीं। यही नहीं, प्रस्तावों की व्याख्या के अनुसार पाइन्ट (1) राष्ट्रसंघ के सदस्यों को विधि के उल्लंघनकारी राज्य के साथ युद्ध करने का अधिकार देता है। परन्तु जैसाकि शाब्दिक अर्थ से ज्ञात होगा यह इस सम्बन्ध में किसी वैध दायित्व को उत्पन्न नहीं करता। जहा तक पाइन्ट (2) तथा (4) का सम्बन्ध है, सम्बन्धित

---

9 जहा तक आर्थिक दबाव के उपायों के प्रयोग का सम्बन्ध है, निम्नांकित अपवादों सहित सभी राज्यों के साथ समान व्यवहार करना चाहिए।

(अ) कुछ राज्यों के द्वारा विशेष उपायों के निष्पादन की सिफारिश करना आवश्यक हो सकता है।

(ब) यदि अनुच्छेद 16 में दी गई आर्थिक अनुशास्तियों के प्रभावकारी प्रयोग का स्थगन, पूर्णतया अथवा अंश रूप में, वाछनीय समझा जाता है, तो इस स्थगन की अनुमति नहीं मिलेगी, सिवाय उस स्थिति में जब यह कार्यवाही की सम्मिलित योजना की सफलता के लिए वाछनीय है, अथवा उन हानियों एवं क्लेशों को घटा कर न्यूनतम कर देता है, जोकि राष्ट्रसंघ के कुछ सदस्यों के मामले में अनुशास्तियों के प्रयोग द्वारा अनुक्रम-बद्ध है।

10 प्रत्येक मामले में आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्तीय प्रकृति के उन विभिन्न उपायों के विषय में, जहा आर्थिक दबाव का प्रयोग किया जाना है, पहले से, तथा सविस्तार निर्णय करना सम्भव नहीं है। जब अवसर आवेगा, परिषद् राष्ट्रसंघ के सदस्यों को संयुक्त कार्यवाही की सिफारिश करेगी

11 प्रथमतया, राजनयिक सम्बन्धों का अवरोध दूतावासों के प्रधानों के परावर्तन तक सीमित रहेगा

12 कोन्सली सम्बन्ध सम्भवतया बनाये रखे जा सकते हैं।

13. प्रसंविदा के उल्लंघनकारी राज्य के लोगों तथा राष्ट्र संघ के दूसरे राज्यों के लोगों के बीच सम्बन्धों के विच्छेद के प्रयोजनों के लिए आधार निवास होगा, राष्ट्रीयता नहीं होगी।

14 आर्थिक दबाव के दीर्घकालीन प्रयोग के मामलों में, अधिकाधिक कठोरता की कार्यवाहियां की जा सकती हैं। दोषी राज्य की नागरिक जनसंख्या के खाद्य-संभरण की कटौती एक अत्यधिक कठोर कार्यवाही समझी जावेगी। इसका प्रयोग केवल उस समय होगा जब प्राप्त उपाय स्पष्ट रूप से अपर्याप्त हों।

15 पत्र-व्यवहार तथा संचार के अन्य सभी तरीके विशेष विनियमों के अधीन होंगे।

16 मानवतावादी सम्बन्ध बनाये रखे जावेंगे।

मूलपाठ के लिए, देखिए League of Nations Official Journal, Special Supplement No 6 (October 1921), pp 24 ff

प्रस्ताव, इस बात का निर्णय कि वे विधि के उल्लंघनकारी के विरुद्ध तथा एक दूसरे के समर्थन से क्या उपाय करना चाहते हैं, व्यक्तिगत राष्ट्रों पर छोड़ देते हैं। इन सिफारिशों को करने की शक्ति के साथ कि उपाय क्या हो किस समय किए जाय तथा किन राष्ट्रों के द्वारा होने चाहिए, परिषद् केवल समन्वयकारी अभिकरण के रूप में कार्य करती है। उसके पास व्यक्तिगत राष्ट्रों को उनकी इच्छा के विरुद्ध बाध्य करने वाली शक्ति नहीं है।

कुल मिलाकर, जब कि अनुच्छेद 16 के अन्तर्गत कार्य करने का दायित्व विकेन्द्रित बना हुआ है, व्यक्तिगत राष्ट्रों द्वारा निर्णीत कार्य राष्ट्रसंघ की परिषद् के केन्द्रित निदर्शन में सम्पन्न होंगे। व्यक्तिगत राष्ट्रों के समूह के द्वारा निश्चित प्रवर्तन कार्य की तकनीक के केन्द्रीकरण में प्रस्ताव एक अगला पग उठाते हैं। परन्तु, प्रवर्तन-कार्य के अनिवार्य एवं स्वचालित स्वरूप के सम्बन्ध में वे वही कार्य करते हैं। जिसे आरक्षण अनिवार्य अधिनिर्णयन के लिए करते हैं तथा अपवाद एवं परिसीमन गारंटी की सन्धियों के लिए करते हैं। जिसका प्रयोजन एक वैध दायित्व में है, उसके अनिवार्य स्वरूप को वे लुप्तप्राय कर देते हैं।

सभा के प्रस्तावों के द्वारा अनुच्छेद 16 का पुनर्निरूपण विधि के प्रवर्तन के विकेन्द्रित स्वरूप के प्रतिदान के तुल्य है। अनुच्छेद 16 के पुनर्निरूपण द्वारा प्रस्तुत अनुशास्तियों के केन्द्रित निष्पादन के सीमित अवसरों से लाभ उठाने के प्रति भी, राष्ट्रसंघ का व्यवहार सदस्य राष्ट्रों की अनिच्छा का प्रदर्शन करता है। अनुच्छेद 16 के अन्तर्गत प्रवर्तन के सामूहिक उपाय पांच मामलों में से केवल एक में प्रयुक्त हुए। इनमें निस्सन्देह राष्ट्रसंघ के एक सदस्य ने प्रसंविदा की उपेक्षा करके युद्ध का आश्रय लिया। 1931 में प्रारम्भ हुए चीनी-जापानी द्वन्द्व में, राष्ट्रसंघ की सभा ने सर्वसम्मति से यह अनुभव किया कि "बिना युद्ध की कोई घोषणा किए, चीनी प्रदेश का भाग बलपूर्वक जापानी सेनाओं ने छीन लिया है एवं उस पर अधिकार कर लिया है"[23], तथा जापान द्वारा प्रारम्भ हुए दूरवर्ती शत्रुता के कार्यों ने चीनी तथा जापानी सरकार की सेनाओं में युद्ध का स्वरूप ग्रहण कर लिया था। तथापि, सभा ने यह भी देखा कि प्रसंविदा की *अवज्ञा करके जापान ने युद्ध आरम्भ किया था। इसलिए, अनुच्छेद 16 यहां* प्रयुक्त नहीं किया जा सकता था।

1932-35 के चाको युद्ध के बीच, 1934 में, जब परागुए ने प्रसंविदा की अवज्ञा करके बोलिविया के विरुद्ध युद्ध-कार्य चलाए रखा, तो राष्ट्रसंघ के बहुत

23 "League of Nations Assembly Report on the Sino-Japanese Dispute," American Journal of International Law, Vol 27 (1933), Supplement, p 146

से सदस्यों ने दोनों युद्धकारियों के विरुद्ध लगाए गए शस्त्रों के निषेध को, परागुए तक ही सीमित कर दिया। यह एक भेदमूलक कार्यवाही थी, जोकि अनुच्छेद 16 के प्रथम पैराग्राफ की भाषा एवं भावना के विरुद्ध थी। जब जापान ने 1937 म, राष्ट्रसंघ से त्यागपत्र दे चुकने पर चीन पर आक्रमण किया, तो सभा ने देखा कि जापान ने नौशक्तियों की संधि, ब्रिआं कैलॉग समझौते का उल्लंघन किया था। उसका यह भी मत था कि अनुच्छेद 16 वहां लागू होता था तथा उस अनुबन्ध के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ के सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से प्रवर्तन के उपाय के प्रयोग का अधिकार था। ऐसे उपाय कभी नहीं किए गये। जब 1939 में सोवियत संघ ने फिनलैंड के साथ युद्ध किया, तो इसको अनुच्छेद 16, पैराग्राफ 4 के अन्तर्गत राष्ट्रसंघ से निष्कासित कर दिया गया, परन्तु इसके विरुद्ध प्रवर्तन की कोई सामूहिक कार्यवाही नहीं हुई।

इन मामलों के विपरीत, 1935 म सभा ने देखा कि इटली द्वारा ईथियोपिया पर आक्रमण प्रसंविदा के अर्थ एवं उसकी अवज्ञा की दृष्टि से युद्ध का अनुसरण था। इसलिए, अनुच्छेद 16, पैराग्राफ 1 प्रयुक्त होना था। परिणामतया, इटली के विरुद्ध सामूहिक आर्थिक अनुशास्तियों का निर्णय एवं प्रयोग किया गया। तथापि, अनुच्छेद, 16, पैराग्राफ 1 द्वारा प्रस्तावित दोनों उपाय नहीं किये गये, जोकि उन परिस्थितियों में अंतर्राष्ट्रीय विधि की सफलता का सर्वोत्तम अवसर प्रस्तुत करते थे तथा जिन्होंने सम्भवतया इटली को ईथियोपिया पर अपने आक्रमण से रोका होता। अर्थात् इटली के तेल के पोत लदान पर प्रतिबन्ध तथा स्वेज नहर के बन्द करने का कार्य नहीं किया गया जैसा कि सर एच० लाटरपेक्ट ने कहा है, "यद्यपि अनुच्छेद 16, पैराग्राफ 1 की अनुशास्तियों को औपचारिक रूप से परिचालित किया गया तथा उनके उत्तरोत्तर एवं क्रमिक प्रवर्तन के लिए एक विस्तृत यंत्र को जुटाया गया, तथापि की गई क्रिया की प्रकृति ऐसी थी जिससे यह विदित होता था कि दमनकारी कार्यवाहियां अवपीडन के प्रभावकारी साधनों के रूप म प्रयुक्त न की जाकर नैतिक अस्वीकृति की अभिव्यक्ति के रूप में की जा रही थी।"[24]

इसलिए प्रसंविदा के अनुच्छेद 16 के अंतर्गत विधि-प्रवर्तन की केन्द्रित प्रणाली की स्थापना के प्रयत्न का कोई यह कह कर तात्पर्य कर सकता है कि बहुत से मामलों म जिनमें अनुशास्तियों का प्रयोग न्यायोचित ठहराया जा सकता था, वहां इनका प्रयोग बिल्कुल भी नहीं हुआ। जिस एकमात्र मामले में इनका

24 Oppenheim-Lauterpacht, International Law (6th ed , 1944), Vol II, pp 139-40 (Reprinted by permission of Longmans, Green and Co , Inc)

प्रयोग हुआ, वह इस प्रभावहीन ढग से हुआ, जिसमे उनकी असफलता तथा उपेक्षक राज्य की सफलता वस्तुत सुनिश्चित थी।

संयुक्तराष्ट्र के चार्टर का अध्याय 7

सयुक्त राष्ट्र के चार्टर मे अनुच्छेद 39 से 51 तक सयोजित अध्याय 7 अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रवर्तन की विकेन्द्रित प्रणाली की कमी को दूर करने के प्रयत्न के रूप मे, राष्ट्रसघ के प्रसविदा के अनुच्छेद 16 का प्रतिरूप है। इस प्रकार, यह एक केन्द्रित विधि प्रवर्तन अभिकरण की स्थापना की दिशा मे एक लम्बा पग है। चार्टर के अनुच्छेद 39, 41 तथा 42, जोकि सयुक्तराष्ट्र की विधि-प्रवर्तन प्रणाली के प्राण हैं, उससे बहुत आगे जाते है, जिसकी राष्ट्रसघ के प्रसविदा अथवा अतर्राष्ट्रीय विधि क किसी अन्य उपबन्ध ने कल्पना की है। तथापि, वे तीन आवश्यक परिसीमाओ तथा अपवादो के अधीन है। जैसाकि हम देखेंगे वे विधि प्रवर्तन के केन्द्रीकरण को परिसीमित करते है तथा कुछ परिस्थितियो मे निष्फल भी कर देते है। इसके लिए उन अनुच्छेदो के मूलपाठ में व्यवस्था है।

राष्ट्रसघ का प्रसविदा यह निश्चय व्यक्तिगत राष्ट्रो पर छोड देता है कि क्या प्रसविदा का उल्लघन हुआ है अथवा नही ? प्रसविदा के अनुच्छेद 16 की व्याख्या करने वाला प्रस्ताव 4 इस प्रकार है यह निर्णय करने का कर्त्तव्य स्वय प्रत्येक राष्ट्र का है कि क्या प्रसविदा का उल्लघन हो गया है ?" प्रस्ताव 6 के अनुसार राष्ट्रसघ की परिषद् इस विषय में कोई निर्णय नही देती। वरन् यह एक सिफारिश करती है जिसमें नैतिक सत्ता से कुछ अधिक नही है। इसके विरोध मे, चार्टर का अनुच्छेद 39 कहता है—"सुरक्षा परिषद् शान्ति के लिए किसी भय के अस्तित्व शान्ति की अवज्ञा तथा अत्यचार की क्रिया का निर्धारण करेगी तथा यह निर्णय करेगी कि अनुच्छेद 41 तथा 42 के अनुसार अतर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा की पुनर्स्थापना के लिए वह क्या उपाय करे।" यह सुरक्षा-परिषद् है, न कि व्यक्तिगत सदस्य-राज्य जोकि आधिकारिक ढग से निर्णय करती है कि किन स्थितियो में प्रवर्तन की कार्यवाही आवश्यक है। ऐसा निर्णय कोई सिफारिश नही है। वरन् यह उन राज्यो पर बधनकारी है, जोकि चार्टर के अनुच्छेद 25 मे 'सुरक्षा-परिषद् के निर्णयो को वर्तमान चार्टर के अनुसार स्वीकार करने एव व्यवहार रूप देने को सहमत हैं।"

उसी प्रकार का बधन, सुरक्षा-परिषद् की ओर से अधिकारपूर्ण निर्णय का है। यह किसी विशेष मामले मे प्रयुक्त होने वाली प्रवर्तन-क्रिया का निर्धारण करता है। यहा फिर, व्यक्तिगत सदस्य-राज्यो का स्वनिर्णय तनिक भी दृष्टिगत नही होता। अनुच्छेद 41 मे निर्दिष्ट आर्थिक अनुशास्तियो के सम्बन्ध मे,

सुरक्षा-परिषद् "निर्णय" कर सकती है तथा सदस्यो से अपने निर्णयो के अनुपालन की माग कर सकती है। अनुच्छेद 42 मे व्यवस्थित, सनिक अनुशास्तियो के सम्बन्ध मे सुरक्षा-परिषद्" कार्यवाही कर सकती है। सुरक्षा-परिषद् की ओर से सैनिक कार्यवाही सम्भव बनाने के लिए, अनुच्छेद 43 सदस्य राज्यो पर इस दायित्व का आरोप करता है कि व "सुरक्षा परिषद् की अतर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा को बनाए रखने के प्रयोजन के लिए आवश्यक सशस्त्र सेनायें, सहायता, तथा सुविधायें जुटायें"। अनुच्छेद 45 मिश्रित प्रवर्तन क्रिया के लिए" विशेषतया वायु सैनिक टुकडियो के सम्बन्ध मे इस दायित्व पर बल देता है। इन दायित्वो का निर्वाह सदस्य-राज्यो एव सुरक्षा-परिषद् के बीच समझौतो के द्वारा होता है। ये समझौते "सेनाओ की सख्या एव किस्म उनकी तैयारी की मात्रा एव सामान्य स्थिति तथा दी जाने वाली सुविधाओ एव सहायता की प्रकृति" का निश्चय करेंगे।

ये समझौते चार्टर के अध्याय 7 की प्रवर्तन-योजना मे एकमात्र विकेन्द्रित तत्व को प्रस्तुत करते हैं। सुरक्षा परिषद् के सैनिक प्रयत्न मे मामूली योगदान से अधिक देने के लिये असहमति प्रकट करके, कोई राष्ट्र सुरक्षा-परिषद् के निर्णयो के अतर्गत अपने अनुवर्ती दायित्वो को समान रूप से परिसीमित करने मे समर्थ है। अथवा, स्वीकृति को पूर्णतया वापिस लेकर, यह सुरक्षा-परिषद् के द्वारा निर्णीत सैनिक पवर्तन-क्रिया मे भाग लेने के दायित्व से पूर्णतया बच सकता है। दूसरे शब्दो मे, अध्याय 7 के प्रवर्तन-यान्त्रिकी का सैनिक तत्व केवल इस शर्त पर अस्तित्व मे है एव परिचालित किया जा सकता है कि व्यक्तिगत सदस्य-राज्य वैयक्तिक रूप से इसके अस्तित्व एव परिचालन की अनुमति से सहमत हैं। एक बार व्यक्तिगत समझौतो से सैनिक टुकडिया बन गई, फिर सुरक्षा-परिषद् का उन पर सर्वोच्च अधिकार हो जाता है तथा असविदाकारी राष्ट्रो की विवेक सम्बन्धी शक्ति, कम से कम चार्टर की विधि की परिसीमाओ के अन्तर्गत, समाप्त हो जाती है।

वास्तव मे, समझौतो के होने के बाद भी, अनुच्छेद 43 के अतर्गत सदस्य-राज्य अपने दायित्व की अवज्ञा करके, सुरक्षा-परिषद् की "माग" की सुनवाई तथा सहमत हुई टुकडियो एव सैनिक सुविधायें जुटाने को मना कर सकता है। वे इस प्रकार सुरक्षा-परिषद् को शक्तिहीन बना सकते हैं। तथापि, यह एक प्रकार का "सैनिक विद्रोह" होगा तथा इस प्रकार एक अवैध कार्य होगा, जिसकी सम्भावना का सभी सैनिक सस्थापनो को ध्यान रखना चाहिए। तथापि, अन्य सैनिक सस्थापनों के विपरीत यदि विधि के आश्रित ऐच्छिक समझौतो के द्वारा इसको अस्तित्व मे लाने का कार्य, अपने ऊपर नही लेते, तो सयुक्तराज्य के सैनिक सस्थापन के अस्तित्व मे आने की ही सम्भावना नही है।

विधि-प्रवर्तन की सैनिक कार्यवाहियों से सम्बन्ध रखने वाले चार्टर के अनुबन्ध अब तक प्रभावहीन रहे हैं। क्योंकि अनुच्छेद 43 के अन्तर्गत कोई समझौता नहीं हुआ है। परिणामस्वरूप, चार्टर का अनुच्छेद 106 प्रचलित है। यह अनुच्छेद व्यवस्था करता है कि ऐसे समझौतों के प्रभाव में संयुक्तराज्य, ग्रेट-ब्रिटेन, सोवियतसंघ, चीन तथा फ्रान्स संघ की ओर से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के बनाए रखने के प्रयोजन के लिए आवश्यक ऐसी संयुक्त क्रिया के लिए एक दूसरे के साथ तथा अवसर द्वारा आवश्यक ठहराए जाने पर संयुक्त राष्ट्र के अन्य सदस्यों के साथ परामर्श करेंगे। इनके साथ संयुक्तराष्ट्र का चार्टर राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा के अनुच्छेद 16 में तथा सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि में पाये जाने वाले शक्ति के प्रयोग के विकेन्द्रीकरण की ओर प्रत्यावर्तित होता है। इस प्रकार व्यक्तिगत राज्यों की इच्छा—अर्थात्, विकेन्द्रीकरण—जिसको हमने विधि-निर्माण एवं व्याख्या के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय विधि की बुनियाद में पाया था, आज भी विधि-प्रवर्तन का सार है। यह एसा वहां तक है, जहां तक संयुक्तराष्ट्र के सैनिक संस्थापन के अस्तित्व तथा उसकी अनुपस्थिति में, चार्टर की रक्षा में बल-प्रयोग का सम्बन्ध है।

संयुक्तराष्ट्र के चार्टर के अध्याय 7 की प्रवर्तन-प्रणाली का यह परिसीमन आवश्यक रूप में मात्रव प्रकृति का नहीं है। जैसे ही जिन समझौतों की अनुच्छेद 43 बात करता है, कर लिए जा चुकेंगे, यह स्वतः निष्क्रिय हो जावेगा। चार्टर में, तथापि, भिन्न प्रकार के, दो अनुबन्ध हैं। उनका प्रवर्तन ऐसी आकस्मिकता पर निर्भर नहीं है जिसकी अनुच्छेद 16 में व्यवस्था की गई है। वे अनुबन्ध अध्याय 7 की प्रवर्तन-प्रणाली के परिचालन को आवश्यक तथा स्थायी रूप में परिसीमित कर देते हैं। इनमें से एक तो अनुच्छेद 51 है, तथा दूसरा अनुच्छेद 27, पैराग्राफ 3 में पाया जाता है।

अनुच्छेद 51 व्यवस्था करता है कि "यदि संयुक्तराष्ट्र के एक सदस्य के विरुद्ध एक सशस्त्र आक्रमण होता है, तो चार्टर में कोई भी अनुबन्ध व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आत्म-रक्षा के अन्तर्निहित अधिकार को क्षीण नहीं करेगा।" राज्य के विधि-प्रवर्तक अभिकर्त्ता की अनुपस्थिति में, व्यक्तिगत आत्म-रक्षा, तुल्य शक्ति के साथ एक आक्रमण का सामना करने के रूप में सभी देशीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय वैध प्रणालियों में केन्द्रीय विधि-प्रवर्तन का अपवाद है। यद्यपि यह अनुच्छेद 51 के द्वारा स्पष्ट रूप से मान्य नहीं है, यह संयुक्तराष्ट्र की विधि-प्रवर्तक मशिनरी को परिसीमित कर देगा। दूसरी ओर, सामूहिक आत्म-रक्षा वैध शब्दावली के लिए एक नया प्रयोग है। इसके शब्दों का परस्पर विरोधी भी समझा जा सकता है। जिसको अनुच्छेद 51 प्रकट रूप में लक्ष्य बनाता है, वह किसी राष्ट्र

के जिस पर प्रत्यक्ष रूप में आक्रमण किया गया है अथवा नहीं, ऐसे राष्ट्र की सहायतार्थ आने के अधिकार की मान्यता है, जिस पर आक्रमण हुआ है। तथापि, यह सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के पारस्परिक सिद्धान्त की पुन अभिपुष्टि करने के समान है। यह हानिग्रस्त राष्ट्र के लिए है कि वह विधि के उल्लंघनकारी के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रवर्तन करे, और वह राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रचलन के लिए केवल दूसरे राष्ट्र के स्वत सहयोग पर विश्वास कर सकता है। जहाँकि अन्तर्राष्ट्रीय विधि का उल्लंघन एक सशस्त्र आक्रमण का स्वरूप ग्रहण करता है, अनुच्छेद 51 न केवल तत्काल हानिग्रस्त राष्ट्र के लिए, वरन् अन्य सभी राष्ट्रों के लिए भी विधि-प्रवर्तन की पुन अभिपुष्टि करता है।

यह सत्य है कि अनुच्छेद 51 इस पुनराभिपुष्टि को तीन परिसीमाओं के अधीन करता है। तथापि, वे सारभूत प्रकृति के न होकर शाब्दिक प्रकृति के हैं। प्रथम, सामूहिक आत्म-रक्षा का अधिकार उस समय तक अक्षुण्य रहेगा, "जब तक सुरक्षा-परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा के बनाए रखने के लिए आवश्यक उपाय नहीं करती।" द्वितीय, सामूहिक आत्म-रक्षा में किए गए उपाय तुरन्त ही सुरक्षा परिषद् को सूचित करते हैं। तथा, तृतीय, ऐसे उपाय सुरक्षा-परिषद् की स्वय उपयुक्त कार्यवाही करने की सत्ता एव उत्तरदायित्व को प्रभावित नहीं करेंगे।

द्वितीय आवश्यकता स्पष्टतया अतिरिक्त है, क्योंकि इसके द्वारा सूचना को दोहराना ही होगा, जिसको सुरक्षा-परिषद् ने समाचार-पत्र, रेडियो तथा सामान्य राजनयिक मार्गों से पहले ही प्राप्त कर लिया होगा। अन्य दोनों आवश्यकतायें, उत्पन्न होने वाली स्थितियों को ध्यान में रखते हुए, वस्तुत व्यावहारिक महत्त्व से रहित है। ब के विरुद्ध अ का सशस्त्र आक्रमण जिसकी सहायता के लिए स, द, तथा ई अपनी वायु, स्थल, एव जल सेनाओं के साथ आते हैं, सुरक्षा-परिषद् के समक्ष विशेषतया आधुनिक युद्धकार्य की परिस्थितियों में एक ऐसे सम्पन्न हुए कार्य को प्रस्तुत करता है, जिसके अनुरूप इसको प्रवर्तन के उपाय बनाने चाहिए। वायु-आक्रमण निष्पादित हो चुके होंगे। युद्ध लड़े जा चुके होंगे। प्रदेशों पर अधिकार किया जा चुका होगा। उस युद्ध को रोकने तथा इसके स्थान पर स्वय अपने प्रवर्तक उपायों के प्रतिस्थापन में समर्थ होने से दूर, सुरक्षा परिषद् इसमें केवल उन शर्तों पर सहभागी हो सकती है जोकि पूर्णयुद्ध में पहले से लगे हुए व्यक्तिगत युद्धकारी राज्यों की युद्धनीति के आवश्यक रूप में अधीन होंगी। एक बार सामूहिक आत्म-रक्षा के रूप में प्रारम्भ हुए एक सयुक्त युद्ध को सयुक्तराष्ट्र ने वैध एव राजनीतिक कृपा-प्रसाद तथा उसके सक्रिय समर्थन की आवश्यकता हो सकती है। परन्तु यह कठिनाई से अपना प्रारम्भिक स्वरूप खो सकेगा तथा

कठिनाई से ही सुरक्षा-परिषद् के वास्तविक निर्देशन मे एक प्रवर्तन-क्रिया का स्वरूप ग्रहण करेगा।

वीटो

अध्याय 7 के उपबन्धो के अतर्गत सुरक्षा-परिषद् के द्वारा की जाने वाली प्रत्येक क्रिया को प्रभावित करने वाली सयुक्तराष्ट्र की प्रवर्तन-प्रणाली की वास्तविक समस्या, चार्टर का अनुच्छेद 27, पैराग्राफ 3 है। यह कहता है कि "सुरक्षा परिषद् के निर्णय · स्थायी सदस्यो की सहमति के साथ सात सदस्यो के स्वीकारात्मक मत के द्वारा किए जावेंगे।" अनुच्छेद 23 के अनुसार, स्थायी सदस्य चीन, फ्रान्स, ग्रेटब्रिटेन, सोवियतसघ तथा सयुक्तराज्य हैं। इसका अर्थ है कि पाचो स्थायी सदस्यो मे सभी की स्वीकृति, अध्याय 7 के प्रवर्तक यत्र के व्यवहार मे लागू करने के लिए आवश्यक है। जबकि सुरक्षा-परिषद् के दस सदस्यो मे से सभी ने सहमति दे दी है, एक भी स्थायी सदस्य की असहमति, किसी प्रवर्तक उपाय के निष्पादन को असम्भव बनाने के लिए पर्याप्त है। दूसरे शब्दो मे, चार्टर के अध्याय 7 के अनुसार किसी भी प्रवर्तक कार्य के लिए, प्रत्येक स्थायी सदस्य के पास वीटो है।

इस प्रकार वीटो-व्यवस्था का परिचालन स्थायी सदस्यो मे से प्रत्येक की इच्छा पर निर्भर बनाकर सयुक्तराष्ट्र की विधि-प्रवर्तन प्रणाली मे विकेन्द्रीकरण के सिद्धात का पुन प्रवेश करता है। अध्याय 7 के उपबन्ध, जोकि, जैसाकि हम देख चुके हैं, स्वय मे विधि-प्रवर्तन के केन्द्रीकरण की ओर एक आवश्यक पग है, अनुच्छेद 27, पैराग्राफ 3 के प्रकाश मे पढने चाहिए। यह पैराग्राफ केन्द्रीकरण करने वाले बहुत से प्रभाव से उनको उस कार्य के सम्पादन के अयोग्य बना देता है, जिसका हमारे साथ सर्वोपरि सम्बन्ध है। अर्थात्, यह अतर्राष्ट्रीय मच पर शक्ति के लिए सघर्ष पर प्रभावकारी अवरोधो का आरोपण है। इस सम्बन्ध मे वीटो के तीन परिणाम विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं।

सर्वप्रथम, वीटो विधि-प्रवर्तन के केन्द्रित उपायो के किसी भी स्थायी सदस्य के विरुद्ध प्रयोग की सम्भावना का निष्कासन कर देता है। ऐसी प्रवर्तक कार्यवाहियो का भावी शिकार एक स्थायी सदस्य, अनुच्छेद 39 द्वारा सुरक्षा परिषद् के लिए आवश्यक निर्धारण मे कि शान्ति के लिए किसी भय, शान्ति के उल्लघन अथवा अत्याचार के कार्य की स्थिति है, तथा, इसलिए प्रवर्तक कार्यवाहियो के लिए कोई वैध आधार है, इसका सरलता से वीटो कर देगा। ऐसे मामले के उठाने पर भी इस प्रकार रोक लग जावेगी।

द्वितीय, यदि अनुच्छेद 27, पैराग्राफ 3 को दृष्टि में रखते हुए, सुरक्षा-परिषद् चार्टर के प्रवर्तक यन्त्र को परिचालित करने में समर्थ है तो भी यह केवल लघु एवं मध्यम शक्तियों के साथ ही कर सकती है, अर्थात् जोकि सुरक्षा-परिषद् की स्थायी सदस्य नहीं हैं, और, इसलिए वीटो के द्वारा केन्द्रित प्रवर्तन उपायों को असम्भव नहीं बना सकती। तथापि, बड़ी शक्तियों के निषेध को दृष्टिगत रखते हुए, ऐसे उपाय लघु एवं मध्यम शक्तियों के विरुद्ध भी असाधारण परिस्थितियों में ही प्रयुक्त होंगे। जैसा आज की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का गठन है, लघु एवं मध्यम शक्तियों में से बहुत सी एक या दूसरी बड़ी शक्ति के साथ, जोकि अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर छाई हुई हैं, घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, चार्टर के अध्याय 7 के अन्तर्गत प्रवर्तक उपायों की माँग करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय विधि के उल्लंघन की सम्भावना नहीं है। ऐसे गठबन्धन के बिना भी, विश्व में कहीं भी दो छोटे राष्ट्रों के मध्य यथापूर्व-स्थिति में किसी प्रकार के परिवर्तन बड़ी शक्तियों की, जोकि सुरक्षा-परिषद् की स्थायी सदस्य हैं, सापेक्ष स्थिति पर प्रत्यक्ष प्रतिघात करेंगे। हमारे समय की गोलार्धीय राजनीतिक एवं सैनिक युद्ध-नीति इसे अनिवार्य बना देती है।

इसलिए यह बात कि स्थायी सदस्य किसी मध्यम अथवा लघु राष्ट्र के विरुद्ध प्रवर्तक उपायों को अपनी सर्वसम्मति देंगे या नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रश्नों पर इतनी निर्भर नहीं होगी, जितनी स्थायी सदस्यों के शक्ति-सम्बन्धों पर होगी। यदि वे वास्तविक शक्ति-संघर्षों में एक दूसरे के विरुद्ध नहीं जुटे हैं तो केन्द्रित प्रवर्तन-उपायों पर सहमत हो सकते हैं। क्योंकि, तब, वे सापेक्ष समभाव के साथ, दो विवाद-ग्रस्त राष्ट्रों के बीच शक्ति-सम्बन्धों में किसी भावी परिवर्तन को सामने रख सकते हैं। जब कभी, दूसरी ओर, दो या अधिक स्थायी सदस्य, शक्ति की प्रतियोगिता में सक्रिय रूप से लगे हुए होते हैं, और इसलिये जब इन प्रवर्तक उपायों का उनकी स्थितियों पर प्रत्यक्ष प्रभाव होगा तो स्थायी सदस्यों की सर्वसम्मति मिलना असम्भव हो जायेगा। प्रवर्तक उपायों को सहमति देकर, कम से कम स्थायी सदस्य अपने मित्र एवं आश्रित राष्ट्र की शक्ति स्थिति दुर्बल बना कर अपनी शक्ति-स्थिति को दुर्बल बना देगा। यही प्रवर्तन-उपायों का भावी अभिप्राय है। उस स्थायी सदस्य को, यह जिसे अपना राष्ट्रीय हित समझता है, उसके विरुद्ध खड़ा होना होगा। ऐसी घटितमता की वास्तव में कम ही सम्भावना होनी चाहिए। किसी भी स्थिति में, अध्याय 7 के केन्द्रित प्रवर्तक उपायों का परिचालन, व्यक्तिगत रूप से कार्यवाही करते हुए, सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यों के निजी विवेक पर निर्भर है। अध्याय 7 के द्वारा बड़ी मात्रा में प्राप्त, विधि-प्रवर्तन का केन्द्रीकरण

इसलिए अनुच्छेद 27, पैराग्राफ 3 के द्वारा बड़ी मात्रा में निष्फल हो जाता है।

अन्त में, वीटो सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए उन परिसीमाओं का निष्कासन करता है, जिनके द्वारा अनुच्छेद 51 सामूहिक आत्म-रक्षा को अध्याय 7 की केन्द्रित प्रवर्तक प्रणाली के अधीन करने का प्रयत्न करता है। क्योंकि कुछ राष्ट्रों के द्वारा एक सामूहिक सैनिक कार्यवाही की कल्पना करना, जिनमें सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यों में एक भी एक या दूसरे पक्ष में अन्तर्ग्रस्त नहीं है, कठिन है। तथापि, ऐसी परिस्थितियों में, अनुच्छेद 27, पैराग्राफ 3 के अनुसार स्थायी सदस्यों की सर्वसम्मति की आवश्यकता, या तो सुरक्षा-परिषद् को किसी कार्यवाही के करने से रोकती है, अथवा किए गए विकेन्द्रित उपायों की सुरक्षा-परिषद् द्वारा स्वीकृति की पुष्टि करती है। पहली स्थिति में आत्म-रक्षा के विकेन्द्रित उपाय प्रचलित होंगे मानो की सुरक्षा-परिषद् का अस्तित्व ही न था। उनके प्रयोग की दोनों में से किसी भी स्थिति में, पहले से किए गए विकेन्द्रित उपायों के समक्ष सुरक्षा-परिषद् के लिए स्वतन्त्र केन्द्रित प्रवर्तक कार्यवाहियाँ करना असम्भव बन जावेगा।

इसलिए जिस चित्र को संयुक्त राष्ट्र का चार्टर प्रस्तुत करता है, वह केवल अपनी वैध सम्भाव्यताओं में सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि से भिन्न है, किन्तु अपनी विधि-प्रवर्तन की वास्तविक परिचालन-प्रणाली से भिन्न नहीं है। वर्तमान परिस्थितियों में इन सम्भाव्यताओं को कठिनाई से ही प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी किसी प्रणाली का सबसे अधिक आवश्यक कार्य शक्ति-संघर्ष पर प्रभावकारी अवरोधों का आरोपण है। इस कार्य के सम्पादन में, जहां इसके सम्पादन की आवश्यकता सर्वाधिक है, संयुक्तराष्ट्र असमर्थ है। यह आवश्यकता बड़ी शक्तियों के सम्बन्ध में है क्योंकि चार्टर का अनुच्छेद 27, पैराग्राफ 3 चार्टर में की जाने वाली प्रवर्तक क्रिया की पहुंच से बड़ी शक्तियों को बाहर रखता है। जहां तक राष्ट्रों का सम्बन्ध है, अनुच्छेद 39, 41, तथा 42 के अन्तर्गत सामान्य दायित्वों पर चार्टर के अनुच्छेद 51 तथा 106 दूरगामी आरक्षणों के रूप में परिचालित होते हैं। सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों के सम्बन्धों को प्रभावित करने के कारण अनुच्छेद 27 पैराग्राफ 3 के साथ सामान्य राजनीतिक स्थिति, विधि-प्रवर्तन के क्षेत्र में सुरक्षा-परिषद् असमर्थ बना देती है।

'शान्ति के लिए संयुक्तीकरण' प्रस्ताव

संयुक्तराष्ट्र की सामूहिक सुरक्षा प्रणाली की ये दुर्बलतायें जून 1950 में दक्षिण कोरिया के विरुद्ध उत्तर कोरिया के अत्याचार में व्यावहारिक रूप में स्पष्ट दिखलाई पड़ीं। सुरक्षा-परिषद् उत्तर कोरिया के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा के उपबन्धों के प्रयोग में केवल इसलिए सफल हो सकी कि इस निकाय से

सोवियत संघ अल्पकाल के लिए अनुपस्थित हो गया था और, इसलिए सम्बद्ध प्रस्तावों का वीटो नहीं कर सका। सुरक्षा-परिषद् में सोवियत संघ के लौटने के साथ संयुक्त राष्ट्र की सामूहिक क्रिया के संगठन के भार को उठाने के लिए महासभा को आमंत्रित किया गया। सामूहिक सुरक्षा के उपायों के सम्बन्ध में महासभा के कार्य चार्टर के अनुच्छेद 10 तथा 18 के द्वारा सदस्य-राज्यों को दो-तिहाई बहुमत से सिफारिशें करने तक सीमित हैं। यह सिफारिश की प्रकृति है कि जिससे की जाय उसके विवेक पर छोड़ दे कि वह इसके अनुसार चलना चाहता है अथवा नहीं। अतएव ऐसी सिफारिशों के द्वारा की गई सामूहिक सुरक्षा की कार्यवाहियां पूर्णतया विकेन्द्रित है।

कोरिया के युद्ध के अनुभव ने संयुक्तराष्ट्र के बहुत से सदस्यों को सुरक्षा-परिषद् की सामूहिक सुरक्षा के अभिकरण के रूप में अपने कार्य सम्पादित करने में शक्तिहीनता के प्रति सचेत कर दिया। यह शक्तिहीनता वर्तमान विश्व-स्थितियों में चिरस्थायी है। भविष्य में जो कुछ सामूहिक सुरक्षा की कार्यवाहियां संयुक्तराष्ट्र कर सकेगा महासभा के द्वारा ही की जा सकेंगी। परिणामतया, नवम्बर 1950 में महासभा ने तथाकथित 'शान्ति के लिए संयुक्तीकरण' प्रस्ताव पारित किया। यह सामूहिक सुरक्षा के प्रधान अभिकरण के रूप में महासभा को शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करता है। इसके पांच प्रमुख लक्षण ये हैं

(1) एक उपबन्ध यह है कि यदि सुरक्षा-परिषद् वीटो के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिए अपने प्राथमिक दायित्व के निर्वाह में अवरुद्ध हो जाती है, तो महासभा की बैठक चौबीस घंटों के भीतर हो सकती है।

(2) एक उपबन्ध यह है कि ऐसे मामलों में महासभा सदस्य राज्यों से सशस्त्र सेनाओं के प्रयोग के साथ सामूहिक कार्यवाहियों की मांग कर सकती है।

(3) एक सिफारिश यह है कि प्रत्येक सदस्य राज्य अपनी राष्ट्रीय सशस्त्र सेनाओं में ऐसे तत्त्वों को बनाए रखे जोकि संयुक्तराष्ट्र की इकाइयों के रूप में सम्भाव्य सेना के लिए तुरन्त प्राप्त हो सकें।

(4) किसी क्षेत्र में, जहां अंतर्राष्ट्रीय तनाव विद्यमान है, प्रेक्षण तथा प्रतिवेदन के लिए एक शान्ति प्रेक्षण आयोग की स्थापना हो।

(5) संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अनुकूल अंतर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को सबल बनाने के उपाय और साधनों के अध्ययन एवं उनके प्रतिवेदन के लिए सामूहिक कार्यवाही-समिति की स्थापना हो।

सामूहिक कार्यवाही समिति ने समय-समय पर महासभा को प्रतिवेदन किया है, जिसने अपनी बारी में समिति के कार्य को स्वीकृत करते हुए तथा इसकी ओर सदस्य राज्यों का ध्यान आकृष्ट करते हुए प्रस्ताव पारित किए हैं।

महासभा को सदस्य राज्यों को केवल सिफारिश करने का अधिकार है, परन्तु उनको कार्यवाही के आदेश देने का अधिकार नहीं है। इसलिए यदि महासभा ऐसी कार्यवाही की सिफारिश करे तो "शान्ति के लिए संयुक्तीकरण" का प्रस्ताव तथा सामूहिक कार्यवाही समिति सदस्य राज्यों की तेज एवं सफल कार्यवाही करने की इच्छा एवं योग्यता के सबल बनाने के प्रयोजन में ही काम आ सकती है। इस प्रकार यह स्वाभाविक है कि सामूहिक कार्यवाही समिति ने स्वयं को प्राथमिक रूप से व्यक्तिगत सदस्य-राज्यों द्वारा उपायों की प्रेरणा, ऐसे उपायों के समन्वय, तथा संयुक्तराष्ट्र के विशिष्ट अभिकरण द्वारा परामर्श एवं सपूरक उपायों के साथ उनके समर्थन से अपने आपको सम्बन्धित किया है।

फिर उस शक्तिशाली परिसीमन को ध्यान में रखते हुए जिसके अन्तर्गत, शान्ति के लिए संयुक्तीकरण प्रस्ताव तथा सामूहिक कार्यवाही समिति परिचालित होते हैं वे उन विधि प्रवर्तक उपायों के विकेन्द्रित स्वरूप को बदलने का प्रयत्न नहीं कर सकते, जिनकी महासभा सदस्य राज्यों को सिफारिश कर सकती है। जैसा वे उचित समझते हैं इन सिफारिशों के अनुपालन करने अथवा अनुपालन न करने में सदस्य-राज्य उतने ही स्वतन्त्र बने रहते हैं, जितने वे कभी थे। यह विकेन्द्रीकरण उस शक्तिशाली आधार का निर्माण करता है जिस पर शान्ति के लिए संयुक्तीकरण प्रस्ताव आधारित है तथा जिस पर सामूहिक कार्यवाही समिति परिचालित होती है। उस विकेन्द्रित प्रवर्तन को इतना प्रभावकारी बनाने के लिए जितनी ये विकेन्द्रित क्रियायें बना सकती है, मानो ये प्रस्ताव तथा समिति उस विकेन्द्रीकरण एवं प्रबन्ध का अनुमोदन करते हैं।

इसलिए, वास्तविकता में अन्तर्राष्ट्रीय विधि का प्रवर्तन संयुक्तराष्ट्र के चार्टर के अन्तर्गत ठीक उतना ही विकेन्द्रित बना हुआ है, जितना इसने इसको राष्ट्रसंघ के प्रसंविदा तथा सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि में पाया था। जब कभी अन्तर्राष्ट्रीय विधि को एक केन्द्रित वैध प्रणाली की प्रभावपूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न हुआ है उन आरक्षण, परिसीमन तथा सामान्य राजनीतिक स्थितियों ने जिनके अन्तर्गत राष्ट्रों को आधुनिक राज्य-प्रणाली में कार्य करना चाहिए, केन्द्रित कार्यों की स्थापना के प्रयोजन के लिए प्रविष्ट हुए वैध दायित्वों का निष्फल कर दिया है।

अतर्राष्ट्रीय विधि के विधायी कार्य के सुधार के लिए कोई सभूत प्रयत्न नही हुए हैं । परन्तु न्यायिक तथा कार्यकारिणी-सम्बन्धी कार्य के सुधारने के उत्तरोत्तर प्रयत्न हुए है। ऐसे प्रत्येक प्रयत्न के विरुद्ध अतर्राष्ट्रीय विधि के विकेन्द्रित स्वरुप ने रुकावट डाली है। उस समय विकेन्द्रीकरण स्वय अतर्राष्ट्रीय विधि का सार मालूम होता है। और वह मूल सिद्धान्त जोकि विकेन्द्रीकरण को अनिवार्य बना देता है, प्रभुसत्ता क सिद्धान्त म पाया जाता है।



उन्नीसवाँ अध्याय

प्रभुसत्ता

प्रभुसत्ता की सामान्य प्रकृति

प्रभुसत्ता के सिद्धान्त की प्रकृति तथा आधुनिक राज्य-प्रणाली के लिए इसके द्वारा सम्पन्न होने वाले कार्यों को समझने के गम्भीर प्रयत्न की अपेक्षा, उसकी निंदा की आवृत्ति ही अधिक हुई है। ऐसा प्रभुसत्ता तथा अतर्राष्ट्रीय विधि की विकेन्द्रित प्रणाली मे घनिष्ठ सम्बध समझने वालो ने किया है। कुछ प्रकृष्ट विद्वानो के उत्कृष्ट प्रयत्नो के बाद भी, इस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध मे बहुत भ्रान्ति है। किसी विशिष्ट राष्ट्र की प्रभुसत्ता मे क्या सगत है, क्या सगत नही है, यह बडी भ्रान्ति का विषय है।

प्रभुसत्ता की आधुनिक अवधारणा का सर्वप्रथम निरूपण प्रादेशिक राज्य के नवीन तत्त्व के सदर्भ मे, सोलहवी शताब्दी के पिछले भाग मे हुआ था। वैध भाषा मे इसका सकेत उस युग के तात्विक राजनीतिक तथ्यो की ओर था। यह एक केन्द्रित शक्ति की उपस्थिति थी, जोकि अपनी विधि-निर्माणकारी एव विधि-प्रवर्तक सत्ता का प्रयोग किसी निश्चित प्रदेश मे करती थी। उस समय आवश्यक रूप से निहित न होकर, यह शक्ति प्राथमिक रूप से एक निरकुश शासक मे निहित थी। यह उन शक्तियो से अधिक उत्कृष्ट थी, जोकि उस प्रदेश मे सबल बनी हुई थी। एक शताब्दी के अन्तर्गत ही यह प्रदेश के भीतर या बाहर से इतनी सशक्त बन गई कि इसे कोई चुनौती नही दे सकता। दूसरे शब्दो मे यह सर्वोच्च बन गई।

तीस वर्षीय युद्ध की समाप्ति तक, एक ओर तो सम्राट तथा पोप की सार्वभौमिक सत्ता पर तथा दूसरी ओर सामन्तीय शिष्टजनो की विशिष्ट आकाक्षाओ पर प्रभुसत्ता एक राजनीतिक तथ्य हो गई। एक निश्चित प्रदेश पर एक सर्वोच्च शक्ति के रूप मे यह प्रादेशिक शासको की विजय का सूचक थी। फ्रान्स के निवासियो ने देखा कि राजकीय शक्ति के अतिरिक्त कोई अन्य शक्ति उनको आदेश नही दे सकती थी, न कोई उन आदेशो का प्रवर्तन ही कर सकती थी। व्यक्तिगत फ्रान्सीसी नागरिक का यह अनुभव इग्लैंड के राजा अथवा स्पेन के राजा द्वारा भी दोहराया गया। अर्थात्, फ्रासीसी प्रदेश मे फ्रान्स के राजा की अनुमति

के बिना अथवा उसको युद्ध मे पराजित किए बिना, दूसरो को अपनी किसी सत्ता के प्रयोग के प्रयास से अलग रखती थी। परन्तु यदि इंग्लैंड के राजा और स्पेन के राजा को फ्रान्स मे कोई शक्ति नही थी, तो उनकी अपने प्रदेशो मे तो अनन्य शक्ति थी।

समकालीन अनुभव म उपस्थित ये राजनीतिक तथ्य राज्य के मध्यकालीन सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट नही किए जा सकते थे। प्रभुसत्ता के सिद्धान्त ने इन राजनीतिक तथ्यो को एक वैध सिद्धान्त के रूप मे उपस्थित किया और इस प्रकार इसको नैतिक अनुमोदन तथा एक वैध आवश्यकता के दोनो रूप प्रदान किए। राजा अब अपने प्रदेश मे, न केवल राजनीतिक तथ्य के रूप मे, वरन् विधिवत, सर्वोच्च था। वह मनुष्य-कृत विधि का—अर्थात्, सभी सकारात्मक विधि का—एकमात्र स्रोत था। परन्तु वह स्वय इसके आधीन नही था। वह विधि के ऊपर, (लेजिबस सोलूटस) था। तथापि, उसकी शक्ति असीमित नही थी, क्योंकि वह दैवी विधि से बाध्य बना हुआ था। यह शक्ति इसी प्रकार उसके अंर्तविवेक मे स्वय प्रवट होती थी, तथा प्राकृतिक विधि के रूप मे मानवी विवेक मे अभिव्यक्त होती थी।

प्रभुसत्ता के सिद्धान्त ने इतिहास के आधुनिक युग मे अपना महत्त्व निरन्तर बनाए रखा है। यही नही, जनता की प्रभुसत्ता की अवधारणा मे इसने राष्ट्रीय लोकतन्त्रीय राज्य के लिए एक सबल राजनीतिक शस्त्र की व्यवस्था की है। तथापि, विशेषतया, अतर्राष्ट्रीय विधि के क्षेत्र मे यह पुन व्याख्याओ, परिशोधनो तथा आक्रमणो का विषय रहा है। इन आक्रमणो एव कठिनाइयो का स्रोत दो मान्यताओं की प्रत्यक्ष तार्किक असगति मे पाया जाता है। ये मान्यतायें आधुनिक अतर्राष्ट्रीय विधि के सार रूप हैं। एक मान्यता तो यह है कि अतर्राष्ट्रीय विधि व्यक्तिगत राष्ट्रो पर वैध नियन्त्रणो को आरोपित करती है, दूसरी मान्यता यह है कि स्वय य ही राष्ट्र सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न - अर्थात, सर्वोच्च विधि-निर्माणकारी एव विधि-प्रवर्तक सत्तायें है, किन्तु स्वय वैध अवरोधो के अधीन नही है। वास्तव मे, प्रभुसत्ता केन्द्रित होने के कारण केवल अर्न्तराष्ट्रीय विधि की एक सबल एव प्रभावकारी प्रणाली के साथ असगत है। यह विकेन्द्रित, और इसलिए दुर्बल एव प्रभावहीन अन्तर्राष्ट्रीय वैध व्यवस्था के साथ तनिक भी असगत नही है। क्योंकि, राष्ट्रीय प्रभुसत्ता इस विकेन्द्रीकरण, दुर्बलता एव प्रभावहीनता का स्वय स्रोत है।

अन्तर्राष्ट्रीय विधि दोहरे अर्थ मे विकेन्द्रित प्रणाली है। प्रथमतया, इसके नियम सिद्धान्तत केवल उन्ही राष्ट्रो पर बधनकारी हैं, जिन्होने कि उनको सहमति दी है। दूसरे, इस प्रकार दी गई सहमति के कारण जो नियम बधनकारी

हैं, उनमे से अनेक अस्पष्ट तथा संदिग्ध है तथा शर्तों एवं आरक्षणो से परिसीमित हैं। यहां तक कि जब कभी अतर्राष्टीय विधि के किसी नियम के अनुपालन की उनसे माग की जाती है व्यक्तिगत राष्टो को एक बहुत अधिक मात्रा मे अभिक्रिया की स्वतन्त्रता बनी रहती है। जबकि पिछले प्रकार का विकेन्द्रीकरण अतर्राष्टीय विधि के न्यायिक एव कायकारिणी सम्बन्धी कार्यो पर अपनी छाप लगाता है पहला, विधि निर्माण के क्षेत्र म सर्वोपरि महत्व रखता है।

सापेक्ष रूप म अतर्राष्टीय विधि के नियमो की केवल छोटी सख्या के अस्तित्व का श्रेय अतर्राष्टीय लोक समाज के सदस्यो की सहमति को नही है। या तो वे किसी विधि प्रणाली के अस्तित्व के लिए तक सगत पूव गत है जैसे कि व्याख्या के नियम तथा अनुशास्तियो की व्यवस्था करने वाले नियम। अथवा वे बहु राज्य प्रणाली के अस्तित्व के लिए तक सगत पूव गत है जैसेकि व्यक्तिगत राज्यो के क्षत्राधिकार के परिसीमन करने वाले नियम। उनकी सहमति की चिता किए बिना इस प्रकार के नियम सभी राज्यो पर बाध्य है। वे सामान्य अथवा आवश्यक अतर्राष्टीय विधि अर्थात् आधुनिक राज्य प्रणाली के आवश्यक तत्व (जस नेसेसेरियम) कह जा सकते है। उनका बधनकारी प्रभाव व्यक्तिगत राष्टो की प्रभुसत्ता को प्रभावित नही करता। यथाथ रूप मे, यह प्रभुसत्ता का वैध अवधारणा के रूप मे सम्भव बना देता है, क्योकि व्यक्तिगत राष्ट के प्रादेशिक क्षत्राधिकार के परस्पर सम्मान के बिना तथा उस सम्मान के वैध प्रवतन के बिना अतर्राष्टीय विधि तथा उस पर आधारित एक राज्य प्रणाली स्पष्टतया अस्तित्व मे नही रह सकती थी

जहा तक अतर्राष्टीय विधि के नियमो के इन पर बाध्य होने का सम्बन्ध है, प्रत्येक व्यक्तिगत राष्ट उच्चतम विधि निर्माणकारी सत्ता है। केवल अतर्राष्टीय विधि के कुछ सामान्य एव आवश्यक नियम ही इसके अपवाद हैं। जिन नियमो का इसने अपनी सहमति द्वारा अपने लिए निर्माण किया है उनके अतिरिक्त इस पर अतर्राष्टीय विधि के कोई भी नियम बाध्य नही है। इसके ऊपर कोई विधि निर्माणकारी सत्ता नही है। कारण यह कि कोई ऐसा राज्य अथवा राज्यो का समूह नही है, जोकि इसके लिए विधि निर्माण कर सके। इसलिए अतर्राष्टीय विधि म विधायी काय का विकेन्द्रीकरण विधि निर्माण की समस्या मे प्रयुक्त प्रभुसत्ता के अतिरिक्त कुछ और नही है।

अभी बतलाई गई एक परिसीमा के साथ जो विधायी काय के विषय मे सत्य है, वह न्यायिक एव कायकारिणी सम्बन्धी कार्यों म भी पूर्ण रूप से प्रयुक्त होता है। यह निर्णय करने के लिए कि क्या एव किन स्थितियो म अन्तर्राष्टीय अधिनिर्णयन के लिए विवाद को भेजा जाय व्यक्तिगत राष्ट्र सर्वोच्च सत्ता बना

हुआ है। कोई भी दूसरा राष्ट्र, इसको इसकी सहमति के बिना एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख नहीं बुला सकता। जहां ऐसी सहमति सामान्य रूप में दी गई है, आरक्षण, एक ठोस मामले में एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय को इसके क्षेत्राधिकार से वंचित रखने को सामान्यतया सम्भव बना देते हैं। यह अंतर्राष्ट्रीय विधि की अवज्ञा किए बिना हो जाता है। यहां फिर, न्यायिक कार्य के सम्बन्ध में, अंतर्राष्ट्रीय अधिनिर्णयन का विकेन्द्रीकरण, राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के लिए केवल एक पर्याय है।

विधि प्रवर्तन के क्षेत्र में प्रभुसत्ता का विवेचन करते समय दो स्थितियों को पृथक्-पृथक् समझ लेना चाहिये। विधि-प्रवर्तक अभिकर्ता के रूप में राष्ट्र की प्रभुसत्ता न्यायिक क्षेत्र में प्रभुसत्ता के साथ समरूप है। अर्थात् क्या विधि-प्रवर्तक क्रिया में लगा जावे, और यदि लगा जावे तो किस प्रकार से, इसका अन्तिम निर्णय व्यक्तिगत राष्ट्र पर है। दूसरी ओर, विधि-प्रवर्तक क्रिया के अभिप्रेत उद्देश्य के रूप में राष्ट्र की प्रभुसत्ता राष्ट्र की 'अभेद्यता' में स्वयं को अभिव्यक्त करती है। यह इसी बात को कहने का दूसरा ढंग है कि एक निश्चित प्रदेश में केवल एक राष्ट्र की प्रभुसत्ता——सर्वोच्च सत्ता——हो सकती है। किसी अन्य राज्य को इसके प्रदेश में बिना इसकी अनुमति के सरकारी कार्यों के करने का अधिकार नहीं है। परिणामस्वरूप, अंतर्राष्ट्रीय विधि द्वारा, युद्ध को छोड़कर सभी प्रवर्तन-कार्य विपरीतगामी सरकारों पर दबाव डालने तक सीमित हैं। ये दबाव राजनयिक विरोध, हस्तक्षेप, प्रतिशोध, अवरोध के रूप में होते हैं। इनमें से सभी विधि के उल्लंघनकारी राष्ट्र की प्रादेशिक प्रभुसत्ता को अविकल बनाए रखते हैं। अंतर्राष्ट्रीय विधि में विधि-प्रवर्तन के चरम स्वरूप में युद्ध ही इस नियम का एकमात्र अपवाद है, क्योंकि, स्वयं अपनी अभेद्यता का रक्षण करते हुए, शत्रु के प्रदेश का भेदन ही युद्ध का मूल है। अंतर्राष्ट्रीय विधि कब्जा करने वाले राष्ट्र को अपनी सैनिक शक्ति के द्वारा अधिकृत विदेशी प्रदेश पर सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न अधिकारों के प्रयोग की अनुमति भी देता है।

विधायी, न्यायिक, तथा कार्यकारिणी-सम्बन्धी कार्यों के पूर्ण विकेन्द्रीकरण प्रभुसत्ता की अनेक अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं। ऐसे ही अंतर्राष्ट्रीय विधि के तीन अन्य सिद्धान्त प्रभुसत्ता की अवधारणा के समानार्थक हैं। वे, वास्तव में, उस अवधारणा की उपज हैं। ये सिद्धान्त स्वतन्त्रता, समता, एवं सर्वसम्मति हैं।

प्रभुसत्ता के पर्याय : स्वतंत्रता, समता, सर्वसम्मति

स्वतन्त्रता व्यक्तिगत राष्ट्र की सर्वोच्च सत्ता के विशेष पहलू का सूचक है, जोकि किसी अन्य राष्ट्र की सत्ता के अपवर्जन से मिलता है। इस कथन का कि

राष्ट्र सर्वोच्च सत्ता है, यह अर्थ है कि वह एक निश्चित प्रदेश में सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न है। यह तार्किक ढंग से संकेत करता है कि वह स्वतंत्र है तथा इसके ऊपर कोई सत्ता नहीं है। परिणामस्वरूप प्रत्येक राष्ट्र अपने आन्तरिक एवं बाह्य मामलों को अपने विवेक के अनुसार व्यवस्था करने में स्वतंत्र है। यह वहीं तक सम्भव है जहां तक वह सन्धि अथवा आवश्यक अन्तर्राष्ट्रीय विधि से परिसीमित नहीं है। प्रत्येक राष्ट्र के स्वयं किसी भी संविधान को अपनाने, अपने नागरिकों पर उनके प्रभाव की चिन्ता किए बिना मनचाही विधियों को पारित करने, तथा प्रशासन की किसी भी प्रणाली को पसन्द करने का अधिकार है। अपनी विदेश-नीति के प्रयोजनों के लिए जिस किसी प्रकार का सैनिक संस्थापन यह आवश्यक समझता है, बनाने के लिए स्वतंत्र है। इसके निर्धारण में फिर उसे जैसा उचित समझे वैसा करने की स्वतंत्रता है। चूंकि विपरीत संधि-अनुबन्धों की अनुपस्थिति में स्वतंत्रता सभी राष्ट्रों की आवश्यक गुणावस्था है, उस स्वतंत्रता के आदर करने का कर्त्तव्य अंतर्राष्ट्रीय विधि का एक आवश्यक नियम है। जब तक यह सन्धियों द्वारा निराकृत नहीं हो जाता, हस्तक्षेप का निषेध करने वाला यह नियम सभी राष्ट्रों के लिए है। 1931 में राष्ट्र-संघ ने जर्मनी एवं आस्ट्रिया के बीच सीमाकर-संघ स्थापित करने वाली संधि के विरुद्ध हस्तक्षेप किया। यह हस्तक्षेप केवल कुछ संधि अनुबंधों के द्वारा न्यायोचित ठहराया जा सकता था। इनमें आस्ट्रिया ने ऐसा कुछ न करने का निश्चय किया था, जिससे इसकी स्वतंत्रता आपत्ति में पड़ जायेगी। ऐसे विशेष दायित्वों के अभाव में जिनके द्वारा आस्ट्रिया ने अपनी कार्यवाही की स्वतन्त्रता को स्वयं परिसीमित किया था, यह चाहे जिन राष्ट्रों के साथ चाह जैसी संधि करने में स्वतंत्र रहा होता। हमारे विवेचन के प्रयोजनों को ध्यान में रखते हुए, सामान्य अंतर्राष्ट्रीय विधि में, न केवल व्यक्तिगत राष्ट्रों की विदेशी नीतियों पर किन्हीं परिसीमाओं का अभाव मानना आवश्यक है, वरन्, सामान्य अंतर्राष्ट्रीय विधि द्वारा सभी राष्ट्रों पर आरोपित अन्य सभी राष्ट्रों के वैदेशिक मामलों के संचालन में हस्तक्षेप न करने का स्पष्ट कर्तव्य भी मानना आवश्यक है।

समता भी प्रभुसत्ता का पर्याय है। यह प्रभुसत्ता के एक विशेष पहलू की ओर संकेत करती है। यदि सभी राष्ट्रों के पास अपने प्रदेशों में सर्वोच्च सत्ता है, तो उस सत्ता के प्रयोग में कोई भी किसी अन्य के अधीन नहीं किया जा सकता। विपरीत सन्धि दायित्वों के अभाव में किसी भी राष्ट्र को, किसी अन्य राष्ट्र के प्रदेश में निर्माण एवं प्रवर्तन तो दूर रहा, उससे यह कहने का भी अधिकार नहीं है कि उसको किन विधियों का निर्माण तथा प्रवर्तन करना चाहिए। सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न होने के नाते राष्ट्र, अपने प्रदेश में परिचालित

होने वाली विधि-निर्माणकारी अथवा विधि-प्रवर्तक शक्ति के अधीन नहीं हो सकते। अन्तर्राष्ट्रीय विधि समवर्गीय सत्ताओं में विधि है, न कि अधीनस्थों में। राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अधीन हैं, किन्तु वे एक दूसरे के अधीन नहीं हैं। अर्थात्, वे समान हैं। इसलिए, जब संयुक्तराष्ट्र के चार्टर का अनुच्छेद २ घोषणा करता है कि 'संघ अपने सभी सदस्यों की सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न समता पर आधारित है,' इसकी अतिरंजित भाषा उस महत्त्व पर बल देती है जिसका श्रेय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त तथा समता के तर्कसंगत उप-सिद्धान्त को है।

समता के सिद्धान्त से अन्तर्राष्ट्रीय विधि का एक मूल नियम सर्वसम्मति का नियम निकलता है। यह नियम विधायी तथा कुछ मात्रा में, विधि-प्रवर्तक कार्य के विकेन्द्रीकरण के लिए उत्तरदायी है। यह बतलाता है कि विधायी कार्य के संदर्भ में, उनके आकार, जनसंख्या तथा शक्ति की चिंता किए बिना सभी राष्ट्र समान हैं। किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अन्तर्राष्ट्रीय लोकसमाज के लिए नई विधि का निर्माण करने में पनामा के मत का उतना ही मूल्य है, जितना कि संयुक्तराज्य के मत का। अन्तर्राष्ट्रीय विधि के दोनों पर बाध्य होने के लिए दोनों के मतों की आवश्यकता है। यदि ऐसा न होता, तो एक विशाल एवं शक्तिशाली राष्ट्र प्रतिनिधित्व में वास्तविक प्रबलता के कारण एक दुर्बल एवं छोटे राष्ट्र पर बिना उसकी सहमति के वैध दायित्वों के आरोपण में समर्थ होता। इस प्रकार शक्तिशाली राष्ट्र छोटे राष्ट्र के प्रदेश में उसकी प्रभुसत्ता को नष्ट करके, अपनी सत्ता को सर्वोच्च बना लेता। सभी परिस्थितियों में, सर्वसम्मति का नियम, विमर्श में सहभागी, प्रत्येक राष्ट्र को अपने लिये यह निर्णय करने का अधिकार देता है कि क्या वह उस निर्णय से बाध्य होना चाहता है। जब कभी निर्णय को वैध मान्यता देने के लिए सभी सहभागी राष्ट्रों की सहमति की आवश्यकता होती है, प्रत्येक राष्ट्र को निर्णय के विरुद्ध मत देकर अथवा अपनी सहमति न देकर निर्णय को पूर्णतया वीटो करने का अधिकार है।

फिर, सर्वसम्मति के कठोर नियम के विरुद्ध, वीटो को न केवल असहमत राष्ट्र को निर्णय के अंतर्गत किसी वैध दायित्व से स्वतंत्र करने का अधिकार है, वरन् विधि-निर्माण अथवा विधि-प्रवर्तन प्रक्रिया को पूर्णतया रोकने का भी अधिकार है। सर्वसम्मति का नियम प्रभुसत्ता का तर्कसंगत परिणाम है। किन्तु यह वीटो के विषय में नहीं कहा जा सकता। सर्वसम्मति का नियम कहता है: मेरी सहमति के बिना आपका निर्णय मुझे बाध्य नहीं है। वीटो घोषणा करता है मेरी सहमति के बिना कोई भी निर्णय होना ही नहीं। दूसरे शब्दों में, वीटो विमर्श में सहभागी राष्ट्रों के समक्ष या तो सभी को मान्य सामूहिक निर्णय, अथवा, किसी भी निर्णय के न होने का विकल्प रखता है। एक साथ ही

विनाशकारी तथा रचनात्मक इस दोहरे कार्य के सम्बन्ध मे, वीटो प्रभुसत्ता की अभिव्यक्ति-मात्र से अधिक है। इस विषय मे और अधिक बाद मे कहा जावेगा।[1]

प्रभुसत्ता क्या नहीं है

यह जानकारी प्राप्त कर चुकने के पश्चात् कि प्रभुसत्ता क्या है, अब हम इस विवेचन की ओर मुडते है कि प्रभुसत्ता क्या नही, किन्तु बहुधा, समझी जाती है।

1 प्रभुसत्ता वैध अवरोध से स्वतत्रता नही है। इस प्रकार जिन वैध दायित्वो मे एक राष्ट्र अपनी स्वतन्त्रता परिसीमित करता है, उनकी मात्रा इसकी प्रभुसत्ता को प्रभावित नही करती। बहुधा सुना हुआ तर्क कि कोई सधि एक राष्ट्र पर इतने दुर्भर दायित्वो का आरोप कर सकती है, जिससे उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो सके इसलिए निरर्थक है। यह वैध नियत्रण की मात्रा नही, जोकि प्रभुसत्ता को प्रभावित करती है, परन्तु यह उसकी गुणावस्था है। एक राष्ट्र अपने ऊपर किसी भी मात्रा मे वैध अवरोध लगा सकता है। यदि वे वैध अवरोध इसकी सर्वोच्च विधि-निर्माणकारी एव विधि-प्रवर्तक शक्ति के रूप मे इसकी गुणावस्था को प्रभावित नही करते तो वह फिर भी सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न रह सकता है। परन्तु उस सत्ता को प्रभावित करने वाला केवल एक वैध अनुबन्ध उस राष्ट्र की प्रभुसत्ता को नष्ट करने मे स्वय पर्याप्त नही है।

2. प्रभुसत्ता अतर्राष्ट्रीय विधि द्वारा उन सभी मामलो के नियमन से स्वतन्त्रता नही है, जोकि पारम्परिक रूप मे व्यक्तिगत राष्ट्रो के विवेक पर छोड दिए जाते है। अथवा वे मामले जो राष्ट्र-सघ के प्रसविदा के अनुच्छेद 15, पैराग्राफ 8 तथा सयुक्तराष्ट्र के चार्टर के पैराग्राफ 7 मे व्यक्तिगत राष्ट्र के देशीय क्षेत्राधिकार मे आते है। जिन मामलो का अतर्राष्ट्रीय विधि नियमन करता है, तथा जिनके साथ यह अपने आपको सम्बन्धित नही करता, उनका सम्बन्ध तरल है। यह व्यक्तिगत राष्ट्र द्वारा अनुसरण की गई नीतियो एव अतर्राष्ट्रीय विधि के विकास पर निर्भर है। इसलिए, उदाहरणार्थ, यह कहना भ्रामक है कि व्यक्तिगत राष्ट्रों की विदेश-गमन से सम्बन्धित नीतियो का अतर्राष्ट्रीय नियमन उनकी प्रभुसत्ता के साथ असगत है। यह केवल उन अतर्राष्ट्रीय नियमो के सम्बन्ध मे सत्य होगा जिनको सम्बद्ध राष्ट्रो ने पहले से सहमति नही दी थी। विदेश-गमन सम्बन्धी मामलो से सम्बन्धित अतर्राष्ट्रीय सधिया करना सविदाकारी राष्ट्र की प्रभुसत्ता को प्रभावित नही करेगा।

1. अध्याय 27, 30 देखिए।

3 प्रभुसत्ता अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अंतर्गत अधिकारों एवं दायित्वों की समता नहीं है। प्रभुसत्ता के साथ-साथ इन मामलों में भारी असमानतायें हो सकती हैं। शान्ति-संधियाँ बहुधा विजितों पर सैनिक संस्थापन, अस्त्र-शस्त्र, किलेबन्दी क्षतिपूरण तथा सामान्य रूप में विदेशी सम्बन्धों के संचालन के आकार एवं गुणावस्था के सम्बन्ध में भारी दायित्वों का आरोप करती हैं। विजित राष्ट्र इसके फलस्वरूप अपनी प्रभुसत्ता से वंचित नहीं हो जाता। इन एक पक्षीय वैध दायित्वों के बाद भी जिसके द्वारा 1919 की शान्ति-संधियों ने उन पर भार डाला, जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी तथा बुल्गेरिया सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्र बने रहे। उन्हीं शान्ति-संधियों ने चेकोस्लोवाकिया, पोलैंड तथा रूमानिया जैसे अन्य राष्ट्रों को अपनी प्रजा में कुछ जातीय एवं धार्मिक अल्प संख्यकों के साथ व्यवहार से सम्बन्धित विशेष दायित्वों के लिए बाँटा। ऐसे अंतर्राष्ट्रीय दायित्व बुल्गेरिया, मोन्टेनीग्रो तथा सर्बिया के साथ रूमानिया पर उसी सन्धि द्वारा लगाए गए, जिसने 1878 में इसको एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्र ठहराया। जिनसे दूसरे राष्ट्र मुक्त थे, उन वैध दायित्वों के अनुपालन के लिए विवश राष्ट्रों ने बहुधा, इन वैध भारों के निष्कासन के लिए, प्रभुसत्ता तथा समता के सिद्धान्तों का आह्वान किया है। इन सभी मामलों का विषय सदैव संधियों का परिशोधन रहा है, न कि प्रभुसत्ता।

4. प्रभुसत्ता राजनीतिक, सैनिक, आर्थिक, अथवा औद्योगिक मामलों में वास्तविक स्वतंत्रता नहीं है। इन मामलों में राष्ट्रों का वास्तविक रूप में अन्योन्याश्रय तथा दूसरों पर कुछ राष्ट्रों की वास्तविक राजनीतिक, सैनिक एवं आर्थिक निर्भरता उन राष्ट्रों के लिए स्वतंत्र देशीय तथा विदेश नीतियों का अनुसरण कठिन अथवा असम्भव बना सकते हैं। किन्तु यह उनके अपने प्रदेशों में विधि-निर्माणकारी एवं विधि-प्रवर्तक सत्ता को साधारणतया प्रभावित नहीं करता। यह उनकी प्रभुसत्ता है। प्रचलित वास्तविक परिस्थितियों के कारण, वे उन प्रकारों की विधियों के निर्माण एवं प्रवर्तन में जिनको वे चाहते हैं असमर्थ हो सकते हैं। अधिक शक्तिशाली राष्ट्र ही इनका निर्माण तथा प्रवर्तन करने में समर्थ हैं। परन्तु अंतर्राष्ट्रीय विधि के अंतर्गत अपने दायित्वों की सीमाओं में जिन विधियों को वे चाहें है, उनके निर्माण एवं प्रवर्तन की सत्ता, उनके द्वारा निराकृत नहीं होती। राष्ट्रों की वास्तविक असमानता तथा उनकी एक दूसरे पर निर्भरता की उस वैध स्तर में कोई संगति नहीं है, जिसे प्रभुसत्ता कहते हैं। पनामा उतना ही सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्र है, जितना संयुक्तराज्य है। यद्यपि यह सच है कि वह अपनी नीतियों एवं विधियों के चयन में संयुक्तराज्य की अपेक्षा बहुत अधिक सीमित है।

प्रभुसत्ता किस प्रकार लुप्त होती है।

फिर, किन परिस्थितियों में एक राष्ट्र अपनी प्रभुसत्ता को खो देता है? अंतर्राष्ट्रीय विधि के कौन से नियम तथा उनके द्वारा निर्मित किस प्रकार की अंतर्राष्ट्रीय संस्थायें वास्तव में प्रभुसत्ता के साथ असंगत हैं? जो प्रभुसत्ता को अविकल छोड़ देती है उन वैध एवं वास्तविक असमानताओं, तथा जो एक राष्ट्र की स्वतंत्रता को नष्ट कर देती है, उस सत्ता की क्षीणता के बीच रेखा कहां खींची जा सकती है?

सैद्धान्तिक भाषा में इन प्रश्नों का उत्तर किसी कठिनाई को प्रस्तुत नहीं करता। प्रभुसत्ता एक निश्चित प्रदेश में विधि के निर्माण एवं प्रवर्तन के लिए राष्ट्र की सर्वोच्च वैध सत्ता है। फलतः यह किसी अन्य राष्ट्र की सत्ता से स्वतंत्र है, तथा अंतर्राष्ट्रीय विधि में उसके साथ समान है। अतएव, जब कोई राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र की सत्ता के अंतर्गत होता है, वह अपनी प्रभुसत्ता खो देता है। इसलिए दूसरा राष्ट्र पहले राष्ट्र के प्रदेश में विधियों के निर्माण एवं प्रवर्तन की सर्वोच्च शक्ति का प्रयोग करता है। इस प्रकार प्रभुसत्ता दो भिन्न ढंगों से खोई जा सकती है।

एक राष्ट्र अपने ऊपर ऐसे वैध दायित्व ले सकता है जिनसे किसी अन्य राष्ट्र को इसकी विधि-निर्माण एवं विधि-प्रवर्तक क्रियाओं पर अन्तिम सत्ता मिल जाती है। अपने संविधानी अधिकारियों द्वारा निर्मित विधान अथवा अपने कार्य-कारणी-सम्बन्धी उपायों द्वारा सम्पन्न होने वाले विधि प्रवर्तन के किसी कार्य के वीटो का अधिकार राष्ट्र ब को सौंप कर राष्ट्र अ अपनी प्रभुसत्ता खो देगा। इस मामले में, अ की सरकार अ के प्रदेश के अंतर्गत वास्तव में कार्य करने वाली एकमात्र विधि-निर्माणकारी एवं विधि-प्रवर्तक सत्ता है। परन्तु, चूँकि यह अपनी बारी में, ब की सरकार के नियंत्रण के अधीन है यह अब और अधिक समय तक सर्वोच्च नहीं है। उस नियंत्रण के प्रयोग के माध्यम से, ब की सरकार सर्वोच्च सत्ता बन जाती है। अतएव वह अ के प्रदेश में सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न है।

एक अन्य विधि जिसमें प्रभुसत्ता लुप्त हो सकती है, उस तत्व में है, जिसको हमने राष्ट्रीय प्रदेश की अभेद्यता कहा है। यहां अ की सरकार ब की सरकार की विधि-निर्माणकारी एवं विधि-प्रवर्तक सत्ता के द्वारा अतिक्रान्त हो जाती है। यह वह सत्ता है जोकि, स्वयं अपने अभिकर्त्ताओं के माध्यम से, अ के प्रदेश में विधि-निर्माणकारी एवं विधि-प्रवर्तक कार्यों को सम्पन्न करती है। अपने प्रदेश में पूर्णतया सत्ता खो चुकने पर अ की सरकार केवल नाम तथा देखने में जीवित

रहती है। उसकी सरकार के वास्तविक कार्य ब के अभिकर्त्ताओं के द्वारा सम्पन्न होते हैं।

तथापि वास्तविक स्थितियों एवं ठोस मामलों में अमूर्त मानकों के प्रयोग के बीच बड़ी कठिनाइयां आती हैं। प्रभुसत्ता के ह्रास की समस्या के साथ उद्विग्नतायें आती हैं। *समकालीन वैध एवं राजनीतिक सिद्धान्त* में इन उद्विग्नताओं के पीछे राजनीतिक वास्तविकता से प्रभुसत्ता की अवधारणा का विच्छेद है। इसी राजनीतिक वास्तविकता को इस अवधारणा द्वारा वैध अभिव्यक्ति मिलने की सम्भावना है।

प्रभुसत्ता जब सर्वप्रथम सोलहवीं शताब्दी में विकसित हुई थी उस समय की भांति आज भी एक राजनीतिक तथ्य की ओर कुछ कम संकेत नहीं करती। वह तथ्य एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह का अस्तित्व है। वे एक निश्चित प्रदेश की सीमाओं में किसी अन्य प्रतियोगी व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह से अधिक शक्तिशाली हैं। अधिक समय तक बनी रहने के लिए इनकी शक्ति संस्थापित होनी चाहिए। उस प्रदेश में वैध नियमों के निर्माण एवं प्रवर्तन के लिए यह शक्ति सर्वोच्च शक्ति के रूप में अपने आपको अभिव्यक्त कर देनी है। इस प्रकार सोलहवीं तथा बाद की शताब्दियों का निरंकुश शासक उस प्रदेश में सर्वोच्च सत्ता था—अर्थात्, वह सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न था। यह एक सैद्धान्तिक परिकल्पना अथवा वैध व्याख्या के रूप में नहीं किन्तु एक राजनीतिक तथ्य के रूप में था। वह एक ओर पोप तथा सम्राट से अधिक शक्तिशाली था, तथा, दूसरी ओर सामन्तीय शिष्टजनों से। इसलिए वह विधियों के निर्माण एवं प्रवर्तन में, उनमें से किसी के भी हस्तक्षेप के बिना, समर्थ था।

इसी प्रकार, संयुक्त राज्य के प्रदेश में संघ-सरकार आज सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न है। वहां कोई अन्तिराष्ट्रीय सत्ता नहीं है, जोकि इसकी शक्ति को चुनौती दे सके। न उसके प्रदेश में वर्गीय अथवा कार्यात्मक सत्तायें हैं, जोकि ऐसा करने की सोच सकें। सोलहवीं शताब्दी में फ्रांसीसी राजतन्त्र की भांति ही यह प्रभुसत्ता राज्य में शक्ति के वास्तविक वितरण का परिणाम है। इसलिए, यह प्राथमिक रूप में गृह-युद्ध में राज्य-संघ पर संघ की विजय का परिणाम है। यदि संयुक्तराज्य के प्रदेश में संघ सरकार की सर्वोच्च सत्ता शनैः शनैः घट जाती, तो उस स्थिति में समरूप स्थिति हो सकती थी, जोकि पवित्र रोमन साम्राज्य में सम्राट के सामने आई। यह उस समय की बात है जब मध्य युगों के अन्त में प्रादेशिक राज्यों ने उसकी सर्वोच्च सत्ता के स्थान पर अपनी सत्ता का प्रतिस्थापन कर लिया था। सर्वोच्च सत्ता की यह घटना उन राजनीतिक एवं धार्मिक संगठनों द्वारा सम्भव होती, जोकि संघ सरकार की ओर से प्रभावकारी नियन्त्रणों

के बिना अपने लिए विधि-निर्माण एव विधियो के प्रवर्तन मे पर्याप्त रूप से सफल होती। सयुक्तराज्य फिर प्रभुत्व-सम्पन्न अनेक प्रादेशिक अथवा क्रियात्मक इकाइयो मे बट जाता जोकि वास्तव में सम्पूर्ण होती। सघीय सरकार भले ही कुछ समय के लिए सम्राट की तरह सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न शक्ति के वैध गुण तथा प्रतिष्ठा को बनाए रख सकती।

उपर्युक्त विवेचन से चार निष्कर्ष निकलते हैं

1 प्रभुसत्ता की स्थिति एक दुहरे परीक्षण पर निर्भर है (अ) किन बातो में एक राज्य की सरकार दूसरी सरकार के द्वारा वैध रूप में नियन्त्रित होती है ? तथा

(ब) राज्य के प्रदेश में कौन सी सरकार वास्तव में सरकारी कार्यों को करती है ?

2 प्रभुसत्ता की स्थिति राजनीतिक निर्णय के साथ-साथ वैध व्याख्या का विषय है।[2]

3 यदि किसी प्रदेश में वास्तविक वितरण अनिर्णीत बना रहता है तो प्रभुसत्ता की स्थिति अस्थायी हो सकती है।

4 एक ही प्रदेश पर प्रभुसत्ता दो विभिन्न सत्ताओं में एक साथ निवास नही कर सकती। अर्थात प्रभुसत्ता अविभाज्य है।

इन चार निर्णयो के प्रकाश में अनेक ऐतिहासिक स्थितियों का इन पृष्ठो में किया गया विश्लेषण प्रभुसत्ता की अवधारणा की उपयोगिता के लिए एक परीक्षण प्रस्तुत करेगा। यह परीक्षण अति-आवश्यक प्रश्नो कि कौन से अतर्राष्ट्रीय दायित्व प्रभुसत्ता के साथ सगत हैं और कौन से नहीं हैं इनको दृष्टि में रख कर किया गया है।

1 1947 में भारतीय स्वाधीनता की घोषणा के पूर्व भारतीय राज्यो तथा ग्रेटब्रिटेन के बीच सम्बन्ध सधियो द्वारा नियमित होते थे। इन राज्यो की आन्तरिक स्वतन्त्रता की गारटी करते हुए इन सन्धियो ने ग्रेटब्रिटेन को अत्याचार के विरुद्ध उनके सरक्षण उनके वैदेशिक मामलों के संचालन तथा उनके आन्तरिक प्रशासन के पर्यवेक्षण का अधिकार दिया। इनमें से बहुत सी सरकारो का अपने प्रदेशो में वस्तुत पूर्ण नियत्रण था। फिर भी वे अपनी बारी में, ब्रिटिश

2 Cf Mr Justice Holmes in American Banana Company vs United Fruit Co, 213 U S 347 at 358 (1909) "sovereignty is pure fact", and in The Western Maid, 257 U S 419 at 432 (1921) 'Sovereignty is a question of power, and no human power is unlimited"

सरकार द्वारा पूर्णतया नियंत्रित होनी थी, और इसलिए, वे राज्य सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न न थे। ब्रिटिश तथा भारतीय दोनों न्यायालयों ने ऐसा निर्णय किया है।

2 1901 की संयुक्तराज्य तथा क्यूबा के बीच हुई हवाना की सन्धि में समाविष्ट तथाकथित प्लैट संशोधन के साथ इस स्थिति का वैषम्य देखना शिक्षाप्रद है। संशोधन ने क्यूबा को किसी ऐसी अंतर्राष्ट्रीय संधि न करने के लिए बाध्य किया, जिससे इसकी स्वतन्त्रता को क्षति पहुंचे अथवा किसी विदेशी शक्ति का क्यूबा के प्रदेश के किसी भाग पर नियन्त्रण हो। क्यूबा कोई ऐसा सार्वजनिक ऋण नहीं ले सकता था जिसका भुगतान इसके साधारण राजस्व से न हो सके। महामारी तथा संक्रामक रोगों के निवारण के लिए इसको अपने नगरों की स्वच्छता की व्यवस्था करनी थी। तथा संयुक्तराज्य अमेरिका के राष्ट्रपति के साथ सहमत स्थानों पर इसको संयुक्तराज्य को कोयले तथा जलसेना के स्टेशनों के लिए आवश्यक भूमि को बेचना अथवा पट्टे पर देना था। इन व्यवस्थाओं ने क्यूबा सरकार के आत्मनिर्णय को विदेशी तथा देशीय मामलों में असाधारण मात्रा में नियंत्रित किया तथा क्यूबा के प्रदेश के कुछ भागों पर अपनी प्रभुसत्ता के समर्पण करने के लिए भी क्यूबा सरकार को बाध्य किया। परन्तु, चूंकि उन्होंने बचे हुए क्यूबा के प्रदेश में सर्वोच्च विधायी तथा विधि-प्रवर्तक सत्ता के रूप में क्यूबा सरकार के लिए अमरीकी सरकार का प्रतिस्थापन नहीं किया, इसलिए इन उपबन्धों ने इस प्रकार क्यूबा की प्रभुसत्ता को प्रभावित नहीं किया।

हवाना की संधि के तीसरे अनुच्छेद के विषय में स्थिति इतनी सरल नहीं है। यह अनुच्छेद इस प्रकार है " क्यूबा सरकार सहमत है कि क्यूबा की स्वतंत्रता के परिरक्षण, जीवन, धन तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के संरक्षण के लिए पर्याप्त शासन बनाये रखने के लिए संयुक्तराज्य हस्तक्षेप करने के अधिकार का प्रयोग कर सकता है।" इस उपबन्ध ने संयुक्तराज्य की सरकार को क्यूबा का शासन अपने हाथ में लेने तथा इस प्रकार क्यूबा की प्रभुसत्ता को ऐसी परिस्थितियों में नष्ट करने का अधिकार दिया, जिससे संयुक्तराज्य का आत्मनिर्णय वस्तुत असीमित बना रहता है। यदि संयुक्तराज्य की सरकार ने इस अधिकार का पूर्णतम मात्रा में प्रयोग किया होता तथा क्यूबा सरकार पर अपना स्थायी नियन्त्रण कर लिया होता, तो क्यूबा ब्रिटिश आधिपत्य में स्थित भारतीय राज्यों की अपेक्षा अधिक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं होता। दूसरी ओर, यदि संयुक्तराज्य की सरकार ने हवाना की सन्धि में अनुबन्धित इस अधिकार का कभी प्रयोग न किया होता, तो क्यूबा की प्रभुसत्ता अविकल रही होती। कारण यह है कि उस समय क्यूबा की सरकार, अपने विधि निर्माण एवं विधि प्रवर्तन के कार्य में विदेशी नियन्त्रण से

स्थायी रूप म मुक्त रही होती। विदेशी नियत्रण की वैध सम्भावना की चिंता किए बिना, राष्ट्रीय प्रदेश मे यह सत्ता सर्वोच्च रही होती।

तथापि, यथार्थ रूप मे, सयुक्तराज्य ने हवाना की सन्धि के अनुच्छेद 3 के अतर्गत इस अधिकार का लाभ उठाया तथा क्यूबा के प्रदेश को 1906 से 1909 तक सैनिक अधिकार म रखा। उस समयावधि मे, क्यूबा के प्रदेश मे सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग क्यूबा की सरकार द्वारा न होकर, सयुक्तराज्य की सशस्त्र सेनाओ द्वारा हुआ। इसलिए क्यूबा की सरकार अब सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न न रही। 1909 मे अमरीकी सेनाओ के हटने के तुरन्त बाद क्यूबा की सरकार को प्रभुसत्ता पुन प्राप्त हुई अथवा नही, यह ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर क्यूबा के सम्बन्ध मे सयुक्तराज्य के भावी राजनीतिक आशयो पर निर्भर था। यदि सयुक्तराज्य की सरकार ने 1909 मे स्पष्ट किया होता कि यह भविष्य मे हवाना की सन्धि के अनुच्छेद 3 का प्रयोग नही करेगी, तो इसका स्वीकारात्मक उत्तर बिना शर्त दिया जा सकता था। भावी आशयो की ऐसी स्पष्टता की अनुपस्थिति मे हमारे प्रश्न का उत्तर 1909 मे केवल सकेतो से मिल सकता था कि सयुक्तराज्य की नीति की क्या सम्भावना थी। क्या क्यूबा के मामलो मे हस्तक्षेप करने के सविधागत अधिकार के होते हुए भी, सयुक्तराज्य के बच कर रहने की नीति के अनुसरण की सम्भावना थी? फिर प्रभुसत्ता क्यूबा सरकार की ओर प्रत्यावर्तित हो गई होती। दूसरी ओर, अपने तथा क्यूबा के बीच के कम से कम सभी महत्वपूर्ण मतभेदो का अपने अनुकूल निर्णय करने के लिए क्या सयुक्तराज्य से अनुच्छेद 3 के प्रयोग की प्रत्याशा की जा सकती थी? उस स्थिति मे क्यूबा के प्रदेश की सर्वोच्च सत्ता सयुक्तराज्य के पास पहुच गई होती। इस प्रश्न का उत्तर निश्चयपूर्वक केवल 31 मई 1934 की सन्धि मे दिया गया। इस सन्धि ने हवाना की सन्धि के अनुच्छेद 3 को निराकृत कर दिया तथा क्यूबा सरकार की प्रभुसत्ता को असदिग्ध रूप से पुन स्थापित किया।

वैध भाषा मे परिभाषित तथा परिसीमित, प्रभुसत्ता का प्रयोग इस प्रकार एक राजनीतिक तथ्य है। एक सरकार से दूसरी को ओर राजनीतिक शक्ति के *प्रयोग के क्रमिक खिसकने पर ही इसका निर्धारण निर्भर हो सकता है।* वैध मूलपाठो की व्याख्या के स्थान पर राजनीतिक स्थिति के मूल्य-निर्धारण से इसका पता लगता है।[3]

---

3 मूलपाठ में विकसित इस कसौटी के मूल्य का परिरचय ब्रिटिश डोमिनियनों, मिश्र तथा फिलीपाइन्स जैसे देशों के स्तर के इतिहास के विभिन्न युगों में विश्लेषण द्वारा किया जा सकता है।

हम ऊपर संकेत कर चुके हैं कि वैध दायित्वों की वह मात्रा जिसके द्वारा एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों के साथ सम्बन्धों में अपने आपको बांधता है, इस प्रकार इसकी प्रभुसत्ता को प्रभावित नहीं कर सकती। उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में इस कथन के विशद विवेचन की आवश्यकता है। यह सत्य है कि एक राष्ट्र बहुत सी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियों के माध्यम से अपनी क्रिया की स्वतन्त्रता परिसीमित करके अपनी प्रभुसत्ता नहीं खो सकता। फिर भी यदि इसकी क्रिया की स्वतन्त्रता का उन मूल विधि-निर्माणकारी एवं विधि-प्रवर्तक कार्यों तक विस्तार नहीं है, जिनके बिना कोई भी सरकार समकालीन स्थितियों में राष्ट्रीय प्रदेश पर अपनी सत्ता नहीं बनाए रख सकती तो यह अपनी प्रभुसत्ता को खो देता है। दूसरे शब्दों में, यह वैध वायदों की मात्रा नहीं है, परन्तु सरकार के राजनीतिक नियंत्रण की गुणावस्था पर उनका प्रभाव है, जोकि प्रभुसत्ता के मामले का निर्धारण करता है।

वास्तविक सैनिक एवं प्रत्याशित आर्थिक तथा सामाजिक महत्व को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि अणुवीय शक्ति का प्रभावकारी अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण, अपने परिचालन के प्रदेश में नियन्त्रण लगाने वाले अभिकरण की शक्ति को सर्वोपरि बना देगा। राजनीतिक तथ्य से सम्बन्धित *मामले में ऐसा अभिकरण सम्बन्धित प्रदेश में अन्तर्राष्ट्रीय न होकर अधि-राष्ट्रीय* होगा। अन्य सभी क्षेत्रों में उनकी स्वायत्तता कितनी ही अधिक क्यों न हो, परमाणवीय शक्ति का छोड़ कर राष्ट्रीय सरकारों ने अपनी प्रभुसत्ता खो दी होती।

दो ऐतिहासिक उदाहरण इस मामले को स्पष्ट बना देंगे : सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यों तथा संयुक्तराष्ट्र के दूसरे सदस्य-राज्यों के बीच का सम्बन्ध, तथा, सुरक्षा-परिषद् को छोड़ कर दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों के सर्वसम्मति के सिद्धान्त से विचलन।

अंतर्राष्ट्रीय संगठनों में बहुमत

संयुक्तराष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 27, पैराग्राफ 3 को ध्यान में रखते हुए यह बहुधा कहा गया है कि जबकि सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यों की प्रभुसत्ता बनी रही है, संयुक्तराष्ट्र के दूसरे सदस्यों ने अपनी प्रभुसत्ता को खो दिया है। अनुच्छेद 27 पैराग्राफ 3 का मूलपाठ ऐसी व्याख्या के लिए उपयुक्त है। जहां तक सुरक्षा परिषद् के स्थायी एवं अस्थायी सदस्यों तथा सुरक्षा-परिषद् के सदस्यों एवं संयुक्तराष्ट्र के अन्य सदस्यों के सम्बन्धों की बात है, बहुमत सिद्धान्त सर्वसम्मति के सिद्धान्त का स्थान ले लेता है। दूसरे शब्दों में सुरक्षा-परिषद् में "स्थायी सदस्यों के सम्मतिपूर्ण मतों के साथ सात सदस्यों का स्वीकारात्मक मत" सुरक्षा-परिषद् के साथ-साथ संयुक्तराष्ट्र के सभी सदस्यों पर बन्धनकारी है।

यदि ऐसा बहुमत व्यक्तिगत राष्ट्रो के विधि-प्रवर्तन साधनो को किन्ही उपेक्षक सदस्यो के विरुद्ध प्रयुक्त होने के लिए सयुक्तराष्ट्र पर छोड देता, तो सुरक्षा-परिषद् की वास्तव में, उन सदस्य-राज्यों पर, जो सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्य नही हैं, सर्वोच्च सत्ता रही होती। उन राज्यों की सरकार के स्थान पर, यह सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न रही होती। यह परिणाम चार्टर के अनुच्छेद 39, 41, 42 के साथ अनुच्छेद 27, पैराग्राफ 3 के द्वारा वैध रूप मे सम्भव है। किन्तु इसकी वास्तविक सिद्धि तीन राजनीतिक तथ्यो पर निर्भर है। इनमे कोई भी आज उपस्थित नही है। न निकट भविष्य में तीनो के सहअस्तित्व की भी सम्भावना ही है।

प्रथम, एक परिचालक विधि-प्रवर्तक अधिकरण के रूप में सुरक्षा-परिषद् का अस्तित्व बना रहे, इसके लिए सुरक्षा-परिषद् के पाचो स्थायी सदस्यो मे राजनीतिक समन्वय की वैध अभिव्यक्ति के रूप में एक मत होना चाहिए। द्वितीय, जिन सैन्य शक्तियो को, 43 और आगे के अनुच्छेदो के अनुसार, सदस्य-राज्य सुरक्षा-परिषद् की स्वेच्छा पर छोडने के लिए सहमत है, इतनी पर्याप्त होनी चाहिए कि किसी विशेष क्षण उपलब्ध सयुक्तराष्ट्र की शक्तियो को अराजकता की शक्तियो पर असदिग्ध रूप मे उत्कृष्टता मिल सके। दूसरे शब्दो में, विश्व की सैनिक शक्तियाँ इस प्रकार वितरित होनी चाहिए कि सयुक्तराष्ट्र की सैनिक शक्तियाँ किसी अकेले राष्ट्र अथवा राष्ट्रो के किसी सम्भव मिश्रण की राष्ट्रीय शक्तियो से अधिक सबल हो सकें। तृतीय, प्रत्येक सदस्यराज्य को चार्टर के अन्तर्गत और विशेषतया सैनिक समझौतो के अन्तर्गत सद्भाव के साथ अपने दायित्वो का निर्वाह करना चाहिए। सुरक्षा-परिषद् द्वारा निर्धारित ढग से इसको अपने राष्ट्रीय हितो को सयुक्तराष्ट्र की सम्मिलित भलाई के लिए बलिदान कर देना चाहिए। यदि ये तीन शर्ते आज पूर्ण हो जाती अथवा निकट भविष्य मे पूर्ण होने मे समर्थ होती, तो वास्तव मे कहा जा सकता था कि सयुक्तराष्ट्र के चार्टर ने उन सदस्य-राज्यो की राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का निरसन कर दिया था, अथवा निरसन करने वाला था।

इसी प्रकार, बहुधा तर्क किया जाता है कि असमान प्रतिनिधित्व तथा बहुमत-निर्णय अतर्राष्ट्रीय अभिकरणो मे सम्बन्धित राष्ट्रो की प्रभुसत्ता के साथ, असगत है। यही तर्क था जिसने दो हेग शान्ति-सम्मेलनो मे एक विशुद्ध अतर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना के सभी प्रस्तावो को परास्त कर दिया। सयुक्तराज्य के राष्ट्रसघ तथा स्थायी अतर्राष्ट्रीय न्यायालय मे सम्मिलित होने के विरुद्ध भी इसका व्यापक रूप मे प्रयोग हुआ था। यहा फिर ऐसे सदिग्ध कथन के राजनीतिक प्रभेदो द्वारा परिसीमन की आवश्यकता है। इन प्रभेदो के प्रकाश

मे, असमान प्रतिनिधित्व तथा बहुमत-शासन प्रभुसत्ता के साथ असगत भी हो सकता है, नही भी हो सकता है। उत्तर इस बात पर निर्भर करेगा कि क्या सर्वसम्मिलिन के नियम से यह विचलन सर्वोच्च सत्ता का राष्ट्रीय सरकारो से एक अतर्राष्ट्रीय अधिकरण की ओर स्थानातरण कर देता है, जैसाकि हम देख चुके हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मे सर्वसम्मति के सिद्धान्त की सिद्धि असम्भव है। इससे अलग विधायी, प्रशासकीय तथा कार्यकारिणी-सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करने वाले अतर्राष्ट्रीय अधिकरण बडी सख्या मे समान प्रतिनिधित्व तथा सर्वसम्मति के सिद्धान्त से विचलित होते हैं। यूरोपीय समुदायो ने असमान प्रतिनिधित्व तथा बडी मात्रा मे विभिन्न प्रकार के बहुमत की व्यवस्था की है। अनेक अतर्राष्ट्रीय सगठन अपने सदस्यों के मतो की शक्ति उनके वित्तीय योगदान के आधार पर करते हैं। उस आधार पर अतर्राष्ट्रीय कृषि के सस्थान स्थापित करने वाली उपसन्धि ने ग्रेट-ब्रिटेन को बाईस, सयुक्तराज्य को इक्कीस तथा फ्रास को उन्नीस, इसी प्रकार, मत दिए। अतर्राष्ट्रीय मुद्रा-निधि तथा पुनर्निर्माण एव विकास का अतर्राष्ट्रीय बैंक, मत-शक्ति का वित्तीय योगदान से सह-सम्बन्ध स्थापित करते हैं। परिणामस्वरूप, दोनो सगठनो मे सयुक्तराज्य के न्यूनतम मतदान वाले राज्य से सौ गुने से भी अधिक मत है। बहुमत नियम की सीधी व्यवस्था सार्वभौमिक डाक सघ, अतर्राष्ट्रीय डेन्यूब आयोग, खाद्य एव कृषि सघ, अतर्राष्ट्रीय सिविल विमानन सघ, सयुक्तराष्ट्र की आर्थिक एव सामाजिक परिषद्, तथा न्यास-परिषद् (ट्रस्टीशिप काउन्सिल) मे पाया जाता है। सयुक्तराष्ट्र के चार्टर के अनुच्छेद 18 के अनुसार महासभा के प्रत्येक सदस्य का एक मत होगा। इसका निर्णय उपस्थित एव मतदान करने वाले सदस्यो के बहुमत से होगा। जिन्हे अनुच्छेद 18 पैराग्राफ 2 "आवश्यक प्रश्न" ठहराता है, उनके लिये दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता है।

अपने सगठन तथा मतदान-प्रक्रिया मे सुरक्षा-परिषद् समान प्रतिनिधित्व सिद्धान्त से भिन्न है। अनुच्छेद 27 के अनुसार, सुरक्षा-परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक मत होगा तथा प्रक्रिया-सम्बन्धी मामलो मे इसके निर्णय ग्यारह सदस्यो मे से सात के स्वीकारात्मक मतो के द्वारा होंगे। परन्तु अनुच्छेद 23 के अनुसार उनका स्थायी प्रतिनिधित्व चीन, फ्रास, ग्रेटब्रिटेन, सोवियतसघ, तथा सयुक्तराज्य को सुरक्षा-परिषद् के निर्णयो में छः अस्थायी सदस्यों की तुलना में स्वत ही प्रबलता प्रदान करता है। ये अस्थायी सदस्य महासभा द्वारा समय-समय पर निर्वाचित होते है। सुरक्षा-परिषद् के सारभूत विषयो पर निर्णयो को अनुच्छेद 27, पैराग्राफ 3 के अनुसार स्थायी सदस्यो के वोटो करने से यह प्रबलता बहुत अधिक बढ़ जाती है।

समान प्रतिनिधित्व के सिद्धान्तो के विचलनो के सम्बद्ध राष्ट्रो की प्रभुसत्ता पर प्रभाव का मूल्यांकन जिस कसौटी द्वारा निर्दिष्ट होना चाहिए वह यह है कि इन विचलनो के परिणामस्वरूप इन राष्ट्रो के प्रदेशो में सर्वोच्च विधायी एव विधि-प्रवर्तक सत्ता कहा स्थित है। इस विषय मे जो निर्णायक तत्त्व है वह यह नही है कि किस प्रकार तथा कितने विभिन्न मामलो एव सगठनो मे एक राष्ट्र दूसरो के द्वारा अधिक मत-सख्या से हराया जाता है। वरन् यह है कि उसको किन प्रकार के मामलो म हराया जाता है। यहा भी, परीक्षण परिमाणात्मक न होकर गुणात्मक है। यह तथ्य कि अतर्राष्ट्रीय यातायात म पत्रो पर डाक-टिकट के सम्बन्ध में एक राष्ट्र एक अतर्राष्ट्रीय सगठन के बहुमत-निर्णय के निष्पादन के वैध दायित्व के अतर्गत है, राष्ट्रीय प्रदेश मे सर्वोच्च विधायी सत्ता के रूप में इसकी गुणावस्था को प्रभावित नही करता। उस राष्ट्र ने क्रिया की स्वतत्रता वहा खो बैठने की सहमति दे दी है। प्रभुसत्ता के नाते, उसकी सहमति के बिना क्रिया की स्वतत्रता बनी रहनी। परन्तु इस स्थिति में इसने अपनी प्रभुसत्ता त्यागी नही है।

यदि इस राष्ट्र ने एक परिचालक अतर्राष्ट्रीय अभिकरण के बहुमत निर्णय पर युद्ध की घोषणा तथा शान्ति की स्थापना की सहमति दे दी होती, अथवा सैनिक शक्तियो के आकार, सगठन तथा कार्यवाहियो, सरकार के सगठनो तथा वित्तीय नीतियो को छोड़ने की सहमति देदी होती, तो इस राष्ट्र ने अपनी प्रभुसत्ता को खो दिया होता। तब, बहुमत नियम की स्थापना करने वाले अतर्राष्ट्रीय समझौते के द्वारा, निर्णायक राजनीतिक शक्ति राष्ट्रीय सरकार से अतर्राष्ट्रीय अभिकरण की ओर विचलित हो गई होती। जिसके पास सर्वोच्च शक्ति होगी, वह राष्ट्रीय प्रदेश में सर्वोच्च विधायी एव विधि-प्रवर्तक शक्ति का प्रयोग करेगा। अतएव वह फिर राष्ट्रीय सरकार नही होगी, वरन् अतर्राष्ट्रीय अभिकरण होगा।

जो कुछ कहा जा चुका है, उससे स्पष्ट होना चाहिए कि अतर्राष्ट्रीय मच पर सर्वसम्मति के नियम से कही भी विचलन व्यक्तिगत राज्य की प्रभुसत्ता को प्रभावित नही करते। अतर्राष्ट्रीय अधिनिर्णयन उन विस्तृत आरक्षणो से घिरा हुआ है जोकि राजनीतिक महत्व के मामलो को एक अतर्राष्ट्रीय न्यायालय के बहुमत निर्णय से रोकते हैं। अतर्राष्ट्रीय प्रशासकीय सगठनो में बहुमत केवल तकनीकी मामलो को निपटाने में समर्थ है। ये वे ही मामले है जिनका राष्ट्रीय सरकारो अथवा राष्ट्रीय सरकारो तथा अतर्राष्ट्रीय अभिकरणो के बीच शक्ति-वितरण के लिए कोई महत्व नही है। सयुक्त राज्य की महासभा मे बहुमत एक सिफारिश की प्रकृति का है, और, इसलिए सदस्यो के लिए बधनकारी नही है। चार्टर के अनुच्छेद 27, पैराग्राफ 2 के अनुसार सुरक्षा-परिषद् के साधारण बहुमत

द्वारा निर्णय केवल प्रक्रिया-विषयक मामलों से सम्बन्ध रखता है। इनका अपने प्रदेशों में सदस्य-राज्यों की सर्वोच्च सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं है। सुरक्षा-परिषद् की प्रभुसत्ता से राष्ट्रीय प्रभुसत्ताओं के अतिक्रमण की सम्भावनायें, जैसाकि दिखलाया गया है, वर्तमान अथवा निकट भविष्य में सफल होने में असमर्थ हैं। ये सम्भावनायें अनुच्छेद 27 पैराग्राफ 3 में वैध रूप से अन्तर्हित हैं।

क्या प्रभुसत्ता अविभाज्य है ?

हमारे विवेचन ने आधुनिक विश्व में प्रभुसत्ता की समस्या को दुर्बोध बनाने वाली सभी भ्रान्तियों में सम्भवतया सबसे अन्तिम तथा सबसे अधिक महत्वपूर्ण भ्रान्ति हमारे सामने उपस्थित करदी है। वह भ्रान्ति यह विश्वास है कि प्रभुसत्ता अविभाज्य है। इस भ्रान्ति का स्पष्टीकरण हमको प्रभुसत्ता के तथा समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सामान्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि के कार्य के मूल्यांकन में सहायता कर सकता है। हम बार-बार यही इस बात को सुन चुके हैं कि विश्व-शान्ति के लिए हमको अपनी "प्रभुसत्ता का एक भाग समर्पण कर देना चाहिए"। हमको ऐसे संगठन के साथ अपनी प्रभुसत्ता को "सहभागित" भी करना चाहिए ताकि उसकी "सीमित प्रभुसत्ता" रहे, जबकि इसका सार हमारे पास रहे अथवा इसकी विपरीत स्थिति हो। ऐसे भी राज्य है जो "प्रभुसत्ता-सम्पन्न" तथा "अर्ध-प्रभुसत्ता-सम्पन्न" हैं। हम यह दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि एक विभाज्य प्रभुसत्ता की अवधारणा तर्क-विरुद्ध, तथा राजनीतिक दृष्टि से असम्भव है। परन्तु यह आधुनिक राज्य-प्रणाली में अन्तर्राष्ट्रीय विधि एवं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्थित वास्तविक एवं बनावटी सम्बन्धों के बीच असंगति का सार्थक लक्षण है।

यदि प्रभुसत्ता का अर्थ सर्वोच्च सत्ता है तो यह तर्क-संगत ही है कि दो या अधिक सत्तायें एक ही समय अथवा स्थान में सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं हो सकती। ये सत्तायें व्यक्तियों के समूह अथवा साधन हो सकते हैं। वह जोकि सर्वोच्च है, तर्क-संगत आवश्यकता के अनुसार प्रत्येक दूसरे से उत्कृष्ट है। उसके ऊपर कोई उत्कृष्ट अथवा समान नहीं हो सकता। यदि संयुक्तराज्य का राष्ट्रपति सशस्त्र सेनाओं का प्रधान सेनापति है, तो यह कहना कि परिरक्षा-सचिव उसके साथ सशस्त्र सेनाओं पर सर्वोच्च सत्ता में सहभागी है, तार्किक दृष्टि से अर्थहीन है। संविधान ने इस सर्वोच्च सत्ता को कार्यात्मक आधार पर दो अधिकारियों में विभाजित कर दिया होता। उदाहरण के लिए मध्यकालीन सिद्धान्त के अनुसार सर्वोच्च सत्ता सम्राट तथा पोप में विभाजित कर दी गई थी। फिर, राष्ट्रपति की संगठन एवं रसद पर, तथा परिरक्षा-मन्त्री की, उनके सैनिक परिधानों पर सर्वोच्च सत्ता होगी। यदि यह सत्ता का वास्तविक विभाजन एवं कार्यों का

वास्तविक वितरण होता, तो कोई प्रधान सेनापति न होता, क्योंकि सशस्त्र सेनाओ पर किसी की भी सर्वोच्च व्यापक सत्ता नही होती। प्रधान सेनापति का पद तर्कसगत ढग से रह ही नही सकता था। या तो राष्ट्रपति अन्तिम सत्ता के साथ सशस्त्र सेनाओ को आदेश देता है अथवा, कोई अन्य व्यक्ति देता है, अथवा कोई भी नही देता। ये विकल्प तर्क-सगत रूप मे कल्पना-योग्य हैं। तथापि, जैसाकि हम देखेंगे, उनमे से सभी राजनीतिक दृष्टि से सम्भव नही हैं। परन्तु राष्ट्रपति तथा उसके अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति अन्तिम सत्ता के साथ सशस्त्र सेनाओ को एक ही समय मे आदेश दे, यह तर्कयुक्त ढग से अमान्य एव राजनीतिक दृष्टि से अशक्य भी है।

राज्य के अतर्गत सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न सत्ता द्वारा किए जाने वाले वास्तविक कार्यों पर विचार इसे स्पष्ट कर देगा कि राजनीतिक वास्तविकता मे प्रभुसत्ता अविभाज्य है। प्रभुसत्ता का अभिप्राय है सर्वोच्च विधायी एव विधि-प्रवर्तन-सत्ता। दूसरे शब्दो मे राज्य के भीतर वह सत्ता सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न है जिसको विभिन्न विधि-निर्माणकारी तत्वो म मतभेदो के मामले मे अन्तिम बधनकारी निर्णय करने का अधिकार है। इसका विधि-प्रवर्तन की सकटकालीन स्थिति जैसे क्राति अथवा गृह-युद्ध मे, देश की विधियो के प्रवर्तन का अन्तिम उत्तरदायित्व है। वह उत्तरदायित्व या तो किसी का होना चाहिए—अथवा किसी का भी नही। परन्तु वह एक साथ यहा तथा वहा दोनो जगह नही हो सकता। जैसाकि न्यायाधीश सदरलैंड ने **यूनाइटेड स्टेट्स वर्सेस कर्टिस राइट एक्सपोर्ट कारपोरेशन** मे कहा था "राजनीतिक प्रभुसत्ता कही सर्वोच्च इच्छा के बिना नही रह सकती। प्रभुसत्ता कही भी असमजस मे नही रखी जा सकती।"[4] यदि प्रभुसत्ता कही स्थित नही है, और चतुर्थ फ्रान्सीसी गणतत्र के सविधान जैसे सविधान हैं, जोकि इसको कोई स्थान देते प्रतीत नही होते थे, तो ऐसी स्थिति मे सविधानी सकट-स्थिति के समय सविधानी सत्ताओ मे से कोई एक उस उत्तरदायित्व को हड़प लेगी। ऐसा फ्रान्सीसी सेना ने 1958 मे किया था। अथवा क्रान्ति किसी नेपोलियन तथा जनता के कमिसार्स की परिषद् (काउसिल आफ पीपुल्स कमिसार्स) की दुर्व्यवस्था को समाप्त करने तथा शान्ति एव सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए सर्वोच्च सत्ता प्रदान कर देगी। यदि प्रभुसत्ता प्रसुप्तावस्था मे रहती प्रतीत होती है, तो सर्वोच्च सत्ता के अधिकारी का रूप भरने वालो के बीच, राजनीतिक अथवा सैनिक सघर्ष एक या दूसरे पक्ष मे प्रश्न का निर्णय कर देगा। कारण यह है कि सविधान के उस भाग पर कितनी ही व्याख्याओ की सम्भावना है। जिसने सघीय सरकार के पक्ष मे निर्णय किया, उस गृह-युद्ध मे

4. 299 U S 304 at 316, 317 (1936)

उद्‌भूत हमारी संघीय सरकार तथा राज्यों के बीच का संघर्ष, इस स्थिति का विशुद्ध एवं श्रेष्ठ उदाहरण है।

एक विभाजित प्रभुसत्ता तर्क की दृष्टि से अर्थहीन तथा राजनीतिक दृष्टि से असम्भव है। यह सरल सत्य 1787 के संविधान-सम्मेलन के सदस्यों में से एक को छोड़कर शेष सभी द्वारा कभी भी संदेह की दृष्टि से नहीं देखा गया।[5] जो विश्वास करते थे कि प्रभुसत्ता राज्यों में निहित होनी चाहिए तथा जो इसको केन्द्रीय सरकार में स्थित चाहते थे, उनको यह दृढ़ विश्वास था कि इसे या तो यहां या वहां रहना चाहिए, परन्तु यह दोनों के बीच विभाजित नहीं हो सकती थी। 8 अप्रैल, 1787 को मेडिसन ने रैंडाल्फ को लिखा था, "मैं इसे मूल तथ्य मानता हूँ कि राज्यों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता समस्त प्रभुसत्ता के विचार से पूर्णतया असंगत है।"[6] जेम्स विल्सन ने सम्मेलन में घोषणा की थी, "हमको बतलाया गया है कि प्रत्येक राज्य के सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न होने के कारण, सभी राज्य समान हैं। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य वास्तव में अपने ऊपर सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न है, और इसलिए सभी मनुष्य प्राकृतिक रूप में समान हैं। जब वह सिविल सरकार का सदस्य बन जाता है तो क्या वह अपनी क्षमता को बनाये रख सकता है? वह ऐसा कदापि नहीं कर सकता। जब वह संघ-सरकार का सदस्य बन जाता है तो इतना ही कम एक सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य कर सकता है। यदि न्यूजर्सी अपनी प्रभुसत्ता नहीं छोड़ना चाहता, तो सरकार की बात करना व्यर्थ है।"[7] हैमिल्टन के शब्दों में "एक ही सीमाओं में दो प्रभुसत्ताओं का सह-अस्तित्व नहीं हो सकता।"[8]

एकमात्र मेडिसन ने ही सन्धि दायित्वों के "लगभग" के विरुद्ध राजनीतिक सत्ता के गुणात्मक तत्व की ओर संकेत किया। सरकार की प्रभुसत्ता के विशिष्ट लक्षण और इसप्रकार इसके अधीनस्थों की प्रभुसत्ता के साथ असंगत होने पर भी उसने बल दिया। 28 जून, 1787 को सम्मेलन में मेडिसन ने घोषणा की :

'संविदाओं के निर्माण में सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों की समता से लिए गए तर्क का यह दोष केवल सन्धियों के साथ सकरण करने में था। इन संधियों में कुछ

5 अनुवाद डा० विलियम पैस० जानसन हैं। देखिए, Debates on the Adopting of the Federal Constitution, Vol V of Elliot's Debates (Washington, 1845), p 221.

6 पूर्वोक्त, पृ० 107.

7. पूर्वोक्त, पृ० 177.

8. पूर्वोक्त, पृ० 202, पृ० 199 भी। यही संकेत डॉ० जानसन ने किया है, जिन्होंने टिप्पणी 8 में निर्दिष्ट अपनी टिप्पणियों के विपरीत कहा कि प्रभुसत्ता "एक लोक समाज में केवल एक ही [illegible] सकती है"। (पूर्वोक्त, पृ० 448)।

कर्त्तव्य उल्लिखित थे जिनके प्रति दोनो पक्ष बाध्य होते थ । कुछ नियम ऐसे भी थे, जिनके द्वारा उनकी प्रजा पर अपने समागम मे परस्पर नियत्रण होता था । सविदा के द्वारा पक्षो के ऊपर एक सत्ता का निर्माण होता था, जिसे उनके शासन के लिए विधि निर्माण का अधिकार था । यदि फ्रास, इग्लैंड तथा स्पेन वाणिज्य आदि के नियमन के लिए मोनेको के शासक तथा यूरोप के चार या पाच अन्य सबसे छोटे सम्राटो के साथ कोई सन्धि करत, तो वे समानता का व्यवहार करने मे तथा परिनियमो को पूर्णतया परस्पर बनाने म, सकोच नही करते । परन्तु यदि प्रत्येक राज्य के उपनियुक्तो की एक परिषद् बनानी हो, जिसे धन एकत्र करने सेना का उद्ग्रहण करने, तथा सिक्के का मूल्य निर्धारित करने जैसे अन्य काय करने की सत्ता तथा स्वनिणय होता तो क्या वही बात होगी ?[9]

लोकतन्त्रात्मक सविधानो ने, तथा विशेषतया निरोध एव सतुलन प्रणाली से बने हुए सविधानो ने, प्रभुसत्ता की समस्या को जान बूझकर दुर्बोध बना रखा है । इन्होने सम्पूण प्रभुत्व-सम्पन्न शक्ति की सुनिश्चित स्थिति को ढक कर रखा है । जबकि इन सविधानो का मुख्य काय वैयक्तिक शक्ति के परिसीमन एव नियत्रण के लिए युक्तियो की रचना है एक सुनिश्चित रूप म स्थित प्रभुसत्ता का स्पष्टतम उदाहरण हाब्स के लेवायथन की मुक्त सत्ता है । यह सत्ता केवल विधि का ही स्रोत नही है, वरन् नैतिकता एव लोकनीतियो का भी स्रोत है । इस प्रकार लोकप्रिय सविधानी सिद्धान्तो ने सम्पूण प्रभाव सत्ता के वैध नियत्रणो एव राजनीतिक अवरोधो के प्रति अधीनता का उस सत्ता के विलोपन के साथ सकरण किया । ऐसा उन्होने निरकुश राजतत्र की असीमित शक्ति तथा वैयक्तिक शासन मे उचित रूप मे भयभीत होकर किया था । लोकतत्र को "मनुष्यो का न होकर विधियो का शासन' बनाने के अपने प्रयत्न मे वे भूल गए कि किसी भी राज्य मे कोई व्यक्ति तथा व्यक्तियो का समूह होना चाहिए जोकि राजनीतिक सत्ता के प्रयोग के लिए अन्तिम रूप से उत्तरदायी हो । यह राज्य चाहे लोकतन्त्रात्मक हो अथवा अन्य प्रकार का । एक लोकतत्र मे वह उत्तरदायित्व साधारण समयो मे प्रसुप्त बना रहता है, जाकि सविधानी क्रियाओं एव वैध नियमो के जाल मे केवल दिखलाई ही पडता है । इसलिए यह व्यापक रूप मे विश्वास किया जाता है कि इसका कोई अस्तित्व नही है । यही नही सर्वोच्च विधि-निर्माण एव विधि प्रवतन की सत्ता, जो केवल एक व्यक्ति राजा, का उत्तरदायित्व था अब सरकार के विभिन्न सवम अभिकरणो मे वितरित है ।

---

9 पूर्वोक्त पृ० 250 पेटरसन के साथ तुलना कीजिये, पूर्वोक्त पृ० 194

परिणामतया, उनमें से कोई भी सर्वोच्च नहीं है। या फिर, वह सत्ता समस्त जनता में निहित समझी जाती है जोकि, वास्तव में, इस रूप में कार्य नहीं कर सकती। तथापि संकट एवं युद्ध के समयों में वह अन्तिम सत्ता अपना दृढ़तापूर्वक प्रभाव डालती है। ऐसा ही इब्राहम लिंकन, विल्सन, तथा दोनों रूजवेल्टों के राष्ट्रपति-काल में किया था। यह सत्ता घटना के उपरान्त तर्क द्वारा निराकृत करने का कार्य संविधानी सिद्धान्तों पर छोड़ देती है।

राजतन्त्रात्मक अथवा लोकतन्त्रात्मक, सभी संघीय राज्यों, में व्यक्तिगत राज्यों को यह सैद्धान्तिक सन्तोष होना चाहिए कि एक बार सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न रह चुकने पर अब ऐसे नहीं हैं। फिर भी वे ऐसा स्वीकार करना नहीं चाहते। उस उद्देश्य के निमित्त राजनीतिक व्यवहार संविधानी चाटुकारिताओं की एक पूर्ण प्रणाली विकसित कर लेना है, जिसके द्वारा वह व्यक्तिगत राज्यों के अधिकारियों एवं प्रतीकों पर सम्मान प्रदान करता है। इनके सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्र अधिकारी हैं। यह उन अवधारणाओं एवं संविधानी युक्तियों का भी प्रयोग करता है, जिनका सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्रों के संदर्भ में भी अर्थ है।[10] यह कहना कि संघीय सरकार सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं है, संविधानी एवं राजनीतिक दृष्टि से असम्भव है। यह स्वीकार करना कि व्यक्तिगत राज्य अब सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न नहीं है, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असम्भव है। इस प्रकार राजनीतिक वास्तविकताओं का राजनीतिक अधिमान अभिरुचियों के साथ समाधान करने का प्रयत्न करते हुए, संविधानी सिद्धान्त सरलता से प्रभुसत्ता को संघीय सरकार एवं राज्यों में विभाजित कर देता है। ऐसा ही हुआ, जब कि हैमिल्टन तथा मेडिसन जिन्होंने 1787 के सम्मेलन में प्रभुसत्ता की अविभाज्यता की ओर देकर घोषणा की थी। वे प्रभुसत्ता की विभाज्यता पर उतना ही जोर देकर आग्रह कर रहे थे, जब उन्होंने एक वर्ष उपरान्त "द फैडरलिस्ट" में राज्यों को पुनराश्वासन का प्रयत्न किया। अब उनका कहना था कि यद्यपि वे नए संविधान में व्यवस्थित सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न शक्तियाँ संघीय सरकार को दे रहे थे, फिर भी वे अपनी प्रभुसत्ता को बनाए रख सकते थे।[11]

राजनीतिक वास्तविकताओं तथा राजनीतिक अधिमान अभिरुचियों में एक सैद्धान्तिक सम्बन्ध बनाने की समान आवश्यकता के कारण, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में

10 संयुक्तराज्य, सोवियतसंघ तथा 1871 के संविधान के अन्तर्गत जर्मनी की संविधानी रीतियाँ इस बात को निदर्शित करती हैं

11 तुलना कीजिए, C E. Merriam, History of the Theory of Sovereignty since Rousseau (New York - Columbia University Press, 1900), p 161 · "इसलिए संविधान ने राजनीतिक तथ्यों तथा स्थानीय एवं केन्द्रीय शक्तियों के बीच अपने निश्चित शक्ति के विभाजन को प्रतिबिंबित किया।

क्षेत्र मे विभाजित प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को व्यापक मान्यता मिली है। एक ओर तो, सदैव पहले से अधिक मात्रा मे व्यक्ति के नैतिक एव वैध मूल्याकनो तथा उसकी धर्म-निरपेक्ष निष्ठाओ का अन्तिम सदर्भ-बिन्दु राष्ट्र-राज्य है। परिणाम-स्वरूप, दूसरे राष्ट्रो मे इसकी शक्ति तथा इसकी प्रभुसत्ता का परिरक्षण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो म व्यक्ति की सर्वप्रथम राजनीतिक अभिरुचिया हैं, दूसरी ओर, यह वही शक्ति एव प्रभुसत्ता है, जोकि उस सभ्यता तथा, इसके साथ, स्वय राष्ट्र-राज्यो के अस्तित्व को खतरे मे डाल देती है। आधुनिक सभ्यता की परिस्थितियो मे यह दूसरे राष्ट्रो की शक्ति एव प्रभुसत्ता से विरोध करने वाली है।

इस प्रकार नैपोलियन के समय के युद्धो के अन्त से, मानवतावादियो तथा राजमर्मज्ञो ने अधिकाधिक आवृत्ति एव तीव्रता के साथ आत्मविनाशक युद्धो के निवारण के साधनो की खोज की है। इन साधनो को राष्ट्रो में शक्ति-सघर्ष बढावा देता है। तथापि, विशेषतया हाल के वर्षों मे यह अधिकाधिक स्पष्ट हो गया है कि जिस मुख्य अवरोधी पत्थर ने अभी तक अतर्राष्ट्रीय दृश्य पर शक्ति-सघर्ष के अवरोध के सभी प्रयत्न निष्फल किए हैं, वह स्वय राष्ट्रीय प्रभुसत्ता है। जब तक सर्वोच्च विधि-निर्माण एव विधि-प्रवर्तन की सत्ता राष्ट्रीय सरकारो में निहित रहती है, युद्ध का भय, विशेषतया हमारे युग की नैतिक, राजनीतिक तथा औद्योगिकीय परिस्थितियो मे अपरिहार्य कहा जा सकता है। इसप्रकार आत्म-विनाशक युद्ध की सम्भावना की राजनीतिक वास्तविकता राजनीतिक अभिमान अभिरुचि का सामना करती है। ऐसा राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के परिरक्षण

यही नहीं, उसने सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न शक्ति के अन्तिम स्रोत को साफ-साफ एवं स्पष्ट रूप से निश्चित करने की असफलता में राजनीतिक तथ्यों एव सामयिक राजनीतिक सिद्धान्त को भी परावर्तित किया।"

प्रभुसत्ता के सिद्धान्तों तथा प्रभुसत्ता की राजनीतिक वास्तविकता में असगति के सामान्य तत्व के लिए अर्नेस्ट बार्कर के Essays on Government को देखिए (ऑक्सफोर्ड ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रैस, 1945), पृ० स० 88, 89 "यह एक विरोधाभास स्वरूप कहा जा सकता है कि राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के सिद्धान्त को मानने वाला फ्रान्स, वास्तव में ससद की प्रभुसत्ता की प्रणाली का प्रयोग करता है, जबकि, ससद की प्रभुसत्ता माननेवाला ग्रेटब्रिटेन, वास्तव में वस्तुत मन्त्रि-परिषद् की प्रभुसत्ता का प्रयोग करता है। दोनों में से कोई देश जो मानता है, उस पर व्यवहार नहीं करता। परन्तु दोनों में प्रत्येक देश दूसरे से कुछ पृथक कार्य ही करता है ग्रेट ब्रिटेन के पास ससद पर नियन्त्रण का प्रयत्न करने वाली प्रबल मन्त्रि-परिषद् है। वहा फ्रास के पास एक प्रबल संसद है, जोकि मन्त्रि परिषदों की एक सीरीज का प्रतिस्थापन, निष्कासन, तथा नियन्त्रण करती है।"

के लिए है। जबकि सर्वत्र लोग युद्ध के भय से अपने आपको मुक्त करने के लिए उत्सुक हैं, वे अपने-अपने राष्ट्रों की प्रभुसत्ता के परिरक्षण के लिए भी उत्सुक हैं। तथापि, यदि युद्ध का मूल्य सम्पूर्ण प्रभुसत्ता का त्याग न होकर एक अंश का त्याग है, यदि युद्ध की सम्भावना को कम करने के लिए राष्ट्र-राज्य के लिए केवल एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन के साथ प्रभुसत्ता को पूर्णतया त्याग देने के स्थान पर इसकी सहभागिता आवश्यक है, तो एक ही समय में शान्ति एवं राष्ट्रीय प्रभुसत्ता दोनों रह सकते हैं।

1947 के बसन्त में की गई जनमत गणना में 75 प्रतिशत लोगों ने इस प्रश्न का उत्तर दिया कि "क्या आप संयुक्तराज्य को, विश्व-शान्ति के बनाए रखने के लिए, एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस बल की स्थापना के आन्दोलन में सम्मिलित देखना चाहेंगे ?" स्वीकारात्मक उत्तर दिया। तथापि, कुछ जन-संख्या का केवल 15 प्रतिशत तथा अंतर्राष्ट्रीय पुलिस बल के समर्थकों के 17 प्रतिशत इस बात पर अपनी सहमति देने के लिए तैयार थे कि संयुक्तराज्य की सशस्त्र सेनायें अंतर्राष्ट्रीय पुलिस बल से कम हों। कुछ लोगों के केवल 13 प्रतिशत संयुक्तराज्य को एक अंतर्राष्ट्रीय पुलिस बल में सम्मलित होने तथा इस देश की सशस्त्र सेनाओं से इस पुलिस बल की संख्या में बहुत अधिक हो जाने देने के लिए भी सहमत हैं।[12] "दूसरे शब्दों में, अमरीकी जनता का एक भारी बहुमत युद्ध के निवारण में समर्थ एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन का समर्थक है। किन्तु ऐसे संगठन के समर्थकों का केवल एक छोटा अल्पमत (तथा कुल जनता का भी) सर्वोच्च विधि-प्रवर्तक सत्ता—अर्थात्, प्रभुसत्ता—के संयुक्तराज्य से एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की ओर स्थानान्तरण के लिए सहमत है। लोगों का बहुमत इसे दोनों ओर चाहता है। वे प्रभुसत्ता को "विभाजित" करना चाहते हैं। यह इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है कि जबकि एक अंतर्राष्ट्रीय पुलिस बल के समर्थकों का 32 प्रतिशत अमरीकी सेनाओं को अंतर्राष्ट्रीय पुलिस बल से बड़ा चाहता है, 41 प्रतिशत, जोकि इस विषय में अपने मत की अभिव्यक्ति करने वाला सबसे बड़ा समूह है, उनका समान आकार चाहता है। वे 50 प्रतिशत को संयुक्तराज्य के पास छोड़कर तथा 50 प्रतिशत को एक अंतर्राष्ट्रीय

12 UNESCO and Public Opinion Today (Chicago National Opinion Research Center, 1947), Report No 35, pp 12 ff इस देश में तथा ग्रेटब्रिटेन में द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरान्त लिए गए दूसरे अनेक मतांकनों के भी समान परस्पर-विरोधी परिणाम निकले हैं। तुलना कीजिए, विशेषतया Peace and the Public A Study by Mass-Observation (London, New York, Toronto . Longmans, Green & Co , 1947)

सगठन को देकर प्रभुसत्ता को उचित एवं सामयिक रूप में "विभाजित" करना चाहते है।

एक विभाज्य प्रभुसत्ता में विश्वास राजनीतिक वास्तविकता तथा राजनीतिक अभिमान अभिरुचि के बीच इस विरोधाभास का सैद्धान्तिक अभिव्यक्तिकरण है। विभाज्य प्रभुसत्ता का सिद्धान्त न केवल बौद्धिक दृष्टि से उसे सम्भव बनाता है, जिसे तर्क असगत ठहराता है—वरन उसको भी, जिसको अनुभव आधुनिक सभ्यता की परिस्थितियो में असगत ठहराता है। एक प्रभुसत्ता को रखते हुए भी त्याग देना है, दूसरा राष्ट्रीय प्रभुसत्ता तथा अतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का सह-अस्तित्व है। शान्ति के परिरक्षण के लिए राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के एक भाग को छोड देने का परामर्श सैद्धान्तिक सत्य की अभिव्यक्ति अथवा राजनीतिक अनुभव की वास्तविकता के विचार से दूर है। यह अपने नेत्र बन्द करने तथा यह स्वप्न देखने के बराबर है कि कोई अपनी रोटी खा सकता है, तथा रख भी सकता है।



बीसवाँ अध्याय

राष्ट्रवादी सर्वार्थवाद की नयी नैतिक शक्ति

राष्ट्रीयता—पुरानी तथा नवीन

अब हमें इस प्रश्न का उत्तर देने के योग्य होना चाहिए जो उस समय पूछा था जब कि हमने पाश्चात्य संसार की बौद्धिक और नैतिक परम्परा की ओर एक ऐसी शक्ति के रूप में संकेत किया, जिसने शक्ति-संतुलन के द्वारा आधुनिक राज्य-प्रणाली को धार्मिक युद्धों के अन्त काल से लेकर प्रथम महायुद्ध तक सुरक्षित रखा। हमने तब पूछा आज इस विरासत से क्या बचा? दूसरे महायुद्ध के पश्चात् किस प्रकार की अनुकूलता ने संसार के राष्ट्रों को इकट्ठा रखा?

इसका केवल यही उत्तर हो सकता है कि आधुनिक राज्य-प्रणाली के इतिहास के किसी समय की अपेक्षा आज अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में शक्ति-संघर्ष के ऊपर नैतिक प्रतिबन्ध दुर्बल है। सत्तरहवीं और अठारहवीं शताब्दी के एक अन्तर्राष्ट्रीय समाज का स्थान अनेक-राष्ट्रीय समाजों ने लिया है, जो अपने सदस्यों के लिए सर्वोच्च मात्रा में एकीकरण प्रदान करते हैं। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, जिसने पूर्व शताब्दियों में व्यक्तिगत राष्ट्रों की शक्ति-आकांक्षाओं को विशेष सीमा में रखा था, आज कुछ बिखरे हुए प्रतिबन्धों को छोड़ कर व्यक्तिगत राष्ट्रों की नैतिकता के आगे झुक गई है। यह नैतिकता न केवल नैतिक बन्धनों को अपने से पृथक स्वीकार नहीं करती, प्रत्युत सारे संसार से विश्वव्यापी स्वीकृति की माँग करती है। विश्व-जनमत एक सैद्धान्तिक प्रतिबिम्ब है, जो सामूहिक मूल्यों और प्रतिक्रियाओं के तत्त्व से रहित है, जिस में दूसरे समयों में कम से कम अन्तर्राष्ट्रीय कुलीनतन्त्र ने भाग लिया था। अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों की मुख्यमात्रा का अस्तित्व व्यक्तिगत राष्ट्रों की समप्रभुता के कारण है। उस प्रभुसत्ता को कानूनी रक्षा प्रदान करनी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों का एक मुख्य कार्य है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून, व्यक्तिगत राष्ट्रों की शक्ति-आकांक्षा को सीमित करने की बात तो दूर रही, इस चीज का भी ध्यान करते हैं कि व्यक्तिगत राष्ट्रों की शक्ति-स्वतन्त्रता पर उन कानूनी बन्धनों से, जो वे दूसरे राष्ट्रों से सम्बन्ध जोड़ते समय अपने ऊपर लगाते हैं, प्रभाव न पड़े। कानूनी शब्दावली में समप्रभुता राष्ट्र के प्रति परम

लोक-निष्ठा के पात्र के रूप में एक बलिष्ट सामाजिक शक्ति के रूप मे और एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में सम्बन्धित होती है, जोकि व्यक्तिगत नागरिकों को कानून देने के साथ ही उन कानूनों को इन पर लागू भी करती है।

अधिराष्ट्रीय शक्तियाँ, जैसे विश्वव्यापी धर्म, मानवतावाद, सार्वदेशीयता और दूसरे व्यक्तिगत सम्बन्ध, संस्थाएं और संगठन, जोकि राष्ट्रीय सीमाओं के पार के मनुष्यों को संगठित करते हैं आज उन शक्तियों से बहुत दुर्बल हैं, जो राष्ट्रीय सीमाओं के अन्दर लोगों को संगठित करती हैं और उन्हें शेष मानवता से पृथक् करती हैं। इस अधिराष्ट्रीय शक्ति का दुर्बल पड़ना, जिसे राष्ट्रों की विदेश-नीति पर प्रभावशाली प्रतिबन्ध लगाने के लिए सबल होना चाहिये, हमारे समय की राजनतिक स्थिति को निर्धारित करने वाली महान् निश्चित शक्ति-राष्ट्रीयतावाद—की नकारात्मक गौण उपज है। राष्ट्रीयतावाद को तो, जो व्यक्तिगत राष्ट्रों की विदेश-नीतियों पर प्रतिबन्ध लगाने में असमर्थ होता है, स्वयं प्रतिबन्ध की आवश्यकता रहती है। इस राष्ट्रीयतावाद ने पूर्ववर्ती युगों से परम्परागत रूप मे आये हुए प्रतिबन्धों को, यदि पूर्णतया विनष्ट नहीं कर दिया है तो बुरी तरह दुर्बल अवश्य बना दिया है। इतना ही नहीं, इसने व्यक्तिगत राष्ट्रों की शक्ति-संचय की आकांक्षाओं को शुभ चेतना और मिथ्या धार्मिक उत्साह भी प्रदान किया है। इसने व्यक्तिगत राष्ट्रों को विश्वव्यापी साम्राज्य की स्थापना की लालसा और सामर्थ्य के सहित प्रेरित किया है। उन्नीसवीं शताब्दी का राष्ट्रीयतावाद इसे जानता तक नहीं था।

बीसवीं शताब्दी के मध्य की राष्ट्रीयता पारम्परिक राष्ट्रीयता से मौलिक रूप में भिन्न है और उस राष्ट्रीयता से भी भिन्न है जो उन्नीसवीं शताब्दी के राष्ट्रीय आन्दोलन और राष्ट्रीय राज्य के रूप में चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई थी। पारम्परिक राष्ट्रीयता ने राष्ट्र को विदेशी शासन से मुक्त कराने और स्वराज्य बनाने की चेष्टा की थी। यह उद्देश्य न केवल एक राष्ट्र के लिए बल्कि सब राष्ट्रों के लिए ठीक समझा गया। ज्यों ही एक बार एक राष्ट्र ने अपने सदस्यों को एक राज्य मे संगठित किया, तब राष्ट्रीय आकांक्षाएँ सन्तुष्ट हुईं और जितने ही राष्ट्र अपने राज्य को स्थापित और सुरक्षित रखना चाहते थे, उतनी ही संख्या मे राष्ट्रीयतायें थीं।

अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े, जिनमे उन्नीसवीं शताब्दी की राष्ट्रीयता ग्रस्त थी, दो प्रकार के थे—एक वे झगड़े जोकि एक जाति और विदेशी शासक में होते थे, जैसे बलकान राष्ट्र और तुर्की, डेन्यूब नदी की घाटी के स्लाव राष्ट्र और आस्ट्रिया-हंगरी का राज्यतंत्र, पोल और रूस के मध्य के झगड़े। दूसरे प्रकार के झगड़े भिन्न-भिन्न जातियों में अपने-अपने शासन की सीमाओं के सम्बन्ध में होते

थे जैसे कि जर्मन, पोल और फ्रांस इत्यादि के बीच संघर्ष। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े या तो राष्ट्रीय नियमों की व्याख्याओं की भिन्नता पर होते थे या उनको पहले ही अस्वीकृत करने पर होते थे। इस बात की प्रथम महायुद्ध के बाद आशा की गई कि जब एक बार तमाम राष्ट्रों की आकांक्षाएँ पूरी हो जाएंगी, तब सन्तुष्ट राष्ट्रों का समाज राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के परिरक्षण के साधना के लिए कानूनी और नैतिक रूप धारण करेगा।

जिस वस्तु ने सताई हुई व प्रतियोगी जातियों को उत्तेजित किया और जिसने उन्नीसवीं शताब्दी की महाशक्तियों को घातक युद्ध की ओर प्रेरित किया, उसको राष्ट्रीयता का नाम देना उस मौलिक परिवर्तन पर पर्दा डालना है, जो इस काल को बीते काल से पृथक् करता है। आज की राष्ट्रीयता जो वास्तविक रूप में एक राष्ट्रवादी सर्वार्थवाद है, उन्नीसवीं शताब्दी की राष्ट्रीयता से एक रूप में मेल खाती है वह यह कि राष्ट्र ही वह बिन्दु है, जिससे राजनीतिक निष्ठाओं और क्रियाओं का अन्तिम रूप में सम्बन्ध होता है। परन्तु यहां समानता समाप्त हो जाती है, क्योंकि उन्नीसवीं शताब्दी की राष्ट्रीयता में राष्ट्र ही राजनीतिक क्रिया का अन्तिम लक्ष्य था, वह ही राजनीतिक विकास का चरम बिन्दु था, जिसके आगे दूसरी राष्ट्रीयता अपने ऐसे ही औचित्यपूर्ण उद्देश्यों के सहित उपस्थित होती थी। लेकिन बीसवीं शताब्दी के मध्य के राष्ट्रवादी सर्वार्थवाद के लिए राष्ट्र केवल अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य का प्रारम्भ-बिन्दु है, जिसका अन्तिम उद्देश्य संसार की सीमाओं तक पहुँचना है, जबकि राष्ट्रीयता एक राष्ट्र के लिए एक राज्य चाहती है और कुछ नहीं। परन्तु हमारे समय का राष्ट्रवादी सर्वार्थवाद एक राष्ट्र और एक राज्य के लिए यह अधिकार माँगता है कि वह अपने मूल्यांकनों व कार्य के मानदण्डों को दूसरे राष्ट्रों पर थोपे।

यदि अनेक राष्ट्र अधि-राष्ट्रीय संघ में मिल जाएँ, तो यह बुराई निश्चय ही घटेगी नहीं, बल्कि और गम्भीर रूप धारण कर लेगी। उदाहरणतया, पश्चिम योरुप के राष्ट्र इतने दुर्बल हैं कि वे अकेले अपने आप को नवीन राष्ट्रवादी सर्वार्थवाद का प्रभावशाली अगुआ नहीं बना सकते। वह समय बीत गया है जबकि फ्रांसीसी या जर्मन संसार को अपने ही मन के साँचे में ढालने का स्वप्न ले सकते थे, तथापि यदि पश्चिमी योरुप के राष्ट्र संगठित होने तथा नया महान् शक्तिशाली राजनीतिक व सैनिक गुट बनाने के योग्य हो जाएँ तो वे एक नई धर्मयुद्धीय भावना के लिए आधारभूत शक्ति प्राप्त कर लेंगे, जो कि समूचे पश्चिमी योरुप की सम्मिलित शक्ति होगी और जो दूसरे राष्ट्रों के राष्ट्रवादी

सर्वार्थवाद का मुकाबला कर सकेगी। यह बात स्पष्ट है कि समकालीन जगत् की यान्त्रिक और सैनिक परिस्थितियो मे पारम्परिक राष्ट्र-राज्य का युग बीत चुका है, अब जबकि इसका स्थान एक बडा सगठन ले रहा है, जोकि इन परिस्थितियो के लिए कही अधिक अनुकूल होगा, इस बात मे सावधान रहना चाहिए कि इसका स्थान कोई ऐसा अधिक निपुण साधन ही न ले ले जो हमारे युग की धर्मयुद्धीय राष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हो।

इस राष्ट्रवादी सर्वार्थवाद की जो अपने अन्तर्राष्ट्रीय चरित्र और आकाक्षाओ के विपरीत होता है, एक विशेषता यह है कि यद्यपि वह राष्ट्र से सबधित होता है, लेकिन यह किसी एक विशेष राष्ट्र से सबधित नही होता। वास्तव मे, सोवियत सघ एक ऐसा वाहन रहा है, जिसके द्वारा साम्यवाद ने ससार को जीतने का यत्न किया है। लेकिन कौन कह सकता है कि कल, कम से कम एशिया मे, इस सम्बन्ध मे सोवियत यूनियन का स्थान चीन या दूसरा राष्ट्र नही लेंगे? उन्नीसवी शताब्दी की राष्ट्रीयता का जन्म वास्तव मे, एक विशेष राष्ट्र के विशेष चरित्र और आकाक्षाओ से हुआ और यह राष्ट्रीयता अपना सार और कार्य खोए बिना इससे पृथक् नही हो सकती थी। हमारे समय का राष्ट्रवादी सर्वार्थवाद इस सम्बन्ध मे भिन्न है। यह एक लौकिक धर्म है जो मानव-भाग्य और मानव-प्रकृति की व्याख्या करने तथा मानव मात्र को मोक्ष-प्राप्ति का वचन देने की दृष्टि से विश्वव्यापी है। एक विशेष समय पर एक विशेष राष्ट्र इसकी मशाल उठाता है, परन्तु सिद्धान्तत यह कोई भी राष्ट्र हो सकता है। इस प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय शासन का अधिकार, नई धर्मयुद्धीय राष्ट्रीयता के नाम मे, भावना और शक्ति की स्थितियो के अनुसार एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र को हस्तान्तरित हो सकता है।

मानव-मन के लिए संघर्ष

राष्ट्रवादी सर्वार्थवाद की नई नैतिक शक्ति ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ढाँचे को एक नया विस्तार प्रदान किया है और वह है मनोवैज्ञानिक युद्ध या प्रचार। सम्भवत, विदेश-नीति के कार्यों के लिए प्रचार का प्रयोग कोई नई चीज नही है। अतीत काल से लगातार राजनीतिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिये छोटे पैमाने पर प्रचार का प्रयोग होता रहा है। यूनानी और इटली के नगर-राज्यो मे प्रधान गुट अपने राजनीतिक युद्धो को जीतने के लिए और अपनी विदेश नीतियो का समर्थन प्राप्त करने के लिए विदेशी सहानुभूति को अपने राजनीतिक दर्शनो द्वारा प्राप्त करते थे, और विदेशी लोगो मे अपने भक्त पैदा करते थे। सोलहवी और सत्तरहवी शताब्दी ने धार्मिक सघर्षों मे और

क्रान्तिकारी फ्रांस के युद्धों में प्रचार को राजनीतिक सैनिक युद्धों का एक शक्तिशाली यन्त्र बनाया गया। इसके द्वारा विदेशियों में धार्मिक और दार्शनिक सहानुभूति उत्पन्न की जाती थी तथा धार्मिक और दार्शनिक अनुचिन्त पैदा किए जाते थे। प्रोटेस्टेण्ट राजकुमार, जो अपनी विरोधी कैथोलिक जनता को अपने धर्म में परिवर्तित करने में समर्थ था या जो अपने राजनीतिक तथा सैनिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रोटेस्टेण्ट अल्पसंख्यकों की धार्मिक सहानुभूति को अर्जित कर सकता था, युद्ध का तो कहना ही क्या, बिना गोली चलाये ही एक लड़ाई जीत सकता था। फ्रांसीसी क्रान्ति के विचारों को अपनाना एक प्रकार से क्रान्तिकारी फ्रांस की विदेशी नीतियों के लिए एक सक्रिय समर्थक बनना था।

समकालीन प्रचार, मात्रा और गुण की दृष्टि से भूतकाल के प्रचार से भिन्न है। दूसरे महायुद्ध से यह अपने क्षेत्र और प्रभाव में आधुनिक यन्त्रों के कारण बढ़ गया है। यह विदेशी नीति का स्वतन्त्र साधन बन गया है और इसका समन्वय राजनीतिक और सैनिक शक्ति के पारस्परिक साधनों के साथ हुआ है। इस प्रकार से युगोस्लेविया को अपवाद रूप में छोड़ कर, हर स्थान पर एक साम्यवादी सोवियत संघ की विदेशी नीतियों का अनुमोदन करेगा और इसी प्रकार प्रजातन्त्रवाद का एक समर्थक यदि संयुक्त राज्य की नीतियों का सक्रिय पोषक न भी हो तो भी कम से कम सोवियत संघ की विदेश नीतियों का विरोध अवश्य करेगा। जहाँ कहीं साम्यवादी अधिक होंगे वहाँ सोवियत संघ की विदेशी नीतियों का समर्थन अधिक सबल होगा और संयुक्त राज्य की विदेशी नीतियों की अधिकांश सफलता संसार में प्रजातान्त्रिक शक्तियों और विचारधारा के बल और प्रसार पर निर्भर होगी। एक चुनाव या गृह-युद्ध का परिणाम एक राष्ट्र की विदेशी नीति के मार्ग को निर्धारित कर सकता है। यदि साम्यवादी दल विजयी होता है तो वह देश सोवियत संघ का साथ देगा और यदि प्रजातान्त्रिक दल जीतते हैं तो वह देश या तो तटस्थ रहेगा या संयुक्त राज्य का समर्थन करेगा। इसीलिए दूसरे राष्ट्रों की घरेलू शक्तियों के वितरण में प्रतिकूल विकास को रोकना और अनुकूल विकास को बढ़ावा देना उन प्रतिरोधियों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि मनुष्यों की निष्ठाओं को प्राप्त करने के लिए राजनीतिक दर्शनों के संघर्ष में जुटे हुए हैं।

मनोवैज्ञानिक युद्ध या प्रचार ने राजनय और सैनिक शक्ति से मिल कर तीसरे यन्त्र का रूप लिया है, जिसके द्वारा विदेशी नीति अपना उद्देश्य प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। प्रयोग में लाए जाने वाले साधनों का ध्यान न रखते हुए विदेश नीति का अन्तिम उद्देश्य हमेशा एक जैसा रहा है और वह है विरोधियों के भावों को परिवर्तित करते हुए अपने हितों का बढ़ाना। इस उद्देश्य

की पूर्ति के लिय राजनय विरोधियो के हितो को सन्तुष्ट या नष्ट करने के बारे मे फुसलाने वाले वचनो या धमकियो का प्रयोग करती है। सैनिक शक्ति से विरोधियो के विशेष हितो के अनुसरण की योग्यता पर वास्तविक हिंसा का शारीरिक प्रभाव डाला जाता है। प्रचार से बौद्धिक शक्तिया, नैतिक मूल्याकनो और भावमय अभिरुचियो के प्रयोग द्वारा अपने हितो का समर्थन प्राप्त होता है। सब समूची विदेश नीति मानव-हृदय के लिए सघर्ष है परन्तु प्रचार का विशिष्ट अभिप्राय यह है कि वह हितो के हेर फेर या शारीरिक हिंसा के माध्यम की अपेक्षा मनुष्य के हृदय को प्रत्यक्ष रूप मे ढालने का यत्न करता है।

राजनय और युद्ध का एक लम्बा और क्रमबद्ध इतिहास है, अतएव इनके प्रमुख नियमो का सैद्धान्तिक ज्ञान बहुत विकसित है। विदेश नीति के एक स्वतन्त्र यन्त्र के रूप मे प्रचार एक नवीन वस्तु है। इसके सिद्धान्त और व्यवहार के विषय मे अभी अनुभवो का अभाव है।

प्रचार के तीन सिद्धान्त

वे कौन से मौलिक सिद्धा त हैं जो प्रचार के शस्त्रो से लडे जाने वाले मानसिक सघर्ष के लिए मार्ग प्रदर्शित करते है ? तीन समस्याएँ है, जो सिद्धान्त मे अस्पष्ट हैं और व्यवहार म अव्यवस्थित है। उनके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है। पहली प्रचार की विषय सामग्री और इसके प्रभाव के मध्य सम्बन्ध। दूसरी, प्रचार और उन लोगो के अनुभवो और हितो के मध्य सम्बन्ध जिनके पास प्रचार पहुँचने का प्रयत्न करता है। तीसरी, प्रचार और उस विदेश नीति के मध्य सम्बन्ध प्रचार जिसका साधन बनता है।

(१) भूतकाल के महान् दर्शन जिन्होने लोगो की कल्पना को आकृष्ट किया और जिन्होने उन्हे अमरीकन और फ्रासीसी क्रान्तियो और बोल्शेविक वाद और फासिस्टवाद के नारो जैसी राजनीतिक क्रियाओ के लिए प्रेरित किया, इस लिए सफल नही हुए कि वे सत्य थे बल्कि इसलिए सफल हुए कि वे सत्य माने गए, क्योकि जनता को उनमे वह मिला जिसकी वह ज्ञान और क्रिया के रूप मे प्रतीक्षा कर रही थी। इसमे किसी को सन्देह नहीं हो सकता कि नाजियो के जातिवादी सिद्धान्त पूर्णरूप से मिथ्या है फिर भी लोक-हृदय पर शासन करने वाले इन सिद्धा तो के साथ सघर्ष मे मानव विज्ञानियो के सभी तर्क विफल हो गये। साम्राज्यवाद और युद्ध की आर्थिक व्याख्या स्पष्ट रूप से ज्ञात तथ्यो से विपरीत है तथापि इससे लौकिक विश्वास का उन्मूलन नही किया जा सकता।

इन सिद्धान्तो के सरासर झूठ होने का इनकी सफलता या असफलता के साथ कोई सम्बन्ध नही था। जो कुछ उनकी सफलता के लिए निर्णायक था वह

स्थायी झगड़े का कारण बन जाता है ...परिवेश की साधारण परिस्थितियों में, सामान्य राजनीतिक वृद्धि कभी कभी चमत्कार का काम करती है। संयुक्त राज्य की प्रधानता बिना किसी विरोध के अटलांटिक से लेकर शान्तमहासागर तक दक्षिणी अमेरिका के पार तक फैल सकती है, रूस की प्रधानता बाल्टिक से लेकर शान्तमहासागर तक एशिया पार स्थापित हो सकती है, जबकि ऐसे युग में फ्रांस या जर्मनी का सर्वोत्तम राजनीतिज्ञ इस योग्य नहीं कि वह एलेसेस या पोसान को बिना विरोध के प्राप्त कर सके।"[2]

1870 में जर्मनी के एकीकरण के साथ बड़े राष्ट्र राज्यों का संगठन समाप्त हो चुका था और योरुप में प्रादेशिक लाभ इसके बाद महान् शक्तियों या उनके मित्र राष्ट्रों के मूल्य पर प्राप्त हो सकता था। इसके बाद चार दशाब्दियों से ज्यादा तक विश्व-राजनीति के मुख्य विषय का सम्बन्ध अफ्रीकी नामों से सम्बन्धित रहा अर्थात् मिस्र, ट्यूनिस, मराको, काग़ो, दक्षिणी अफ्रीका और जीर्ण एशियाई चीनी और ईरानी साम्राज्यों के साथ जुड़ा रहा। स्थानीय युद्ध इन विषयों के परिणाम थे उदाहरणतया 1899-1902 का बोर युद्ध (*Boer war*) जो इंग्लैण्ड और बोर गणराज्यों में लड़ा गया, 1904-1905 का रूसी जापानी युद्ध, 1877 का रूसी तुर्की युद्ध और 1911-12 का इटली टर्की का युद्ध। लेकिन यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इन तमाम युद्धों में एक महान् शक्ति घेरे की शक्तियों के खिलाफ लड़ी, वह शक्ति या तो घेरे की शक्तियों के विस्तार का लक्ष्य थी या विशेष अवस्था में जापान की तरह बाहरी प्रतियोगी शक्ति थी। किसी परिस्थिति में एक महान् शक्ति को यह आवश्यकता अनुभव न हुई कि वह अफ्रीका और एशिया के राजनीतिक खाली स्थानों में विस्तार के लिए दूसरी महान् शक्ति के विरुद्ध हथियार उठाए।

यहाँ संपूर्ति की नीति अधिकतम सफलता से काम कर सकी, क्योंकि वहाँ की अधिकतर भूमि किसी के अधिकार में नहीं थी, जिससे प्रत्येक अपने को और दूसरों को संपूर्ति प्रदान कर सकता था। अपने महत्त्वपूर्ण हितों के साथ समझौता किए बग़ैर समझौते की सम्भावना थी, जिससे पीछे हट कर ध्यान हटा कर और टाल कर अपना मान बचाया जा सकता था। 1870 से 1914 तक का एक ऐसा काल था जिसके बीच दूसरे लोगों के प्रदेशों के लिए राजनीतिक सौदा-बाज़ी और घटिया काम किया जाता, जिससे झगड़ों को स्थगित किया गया और अन्य विषयों को टाला गया, साथ ही यह काल बड़ी शक्तियों में निरन्तर शान्ति का काल था।

2 Arnold Toynbee, A Study of History (London, New York, Toronto : Oxford University Press, 1934) Vol III, p. 302.

यह बात महत्त्वपूर्ण है कि उस काल की बहुत आग्रही और विस्फोटक समस्यायें महान् शक्तियो के घेरे पर स्थित होते हुए भी इसके भौगोलिक रूप से बहुत निकट थी और प्रत्यक्ष रूप से इनका ज्यादा भार राजनीतिक और सैनिक शक्ति के वितरण पर उस काल के दूसरे महान् विषया से अधिक पडा। यह मामला, जिस पूर्वी या वलकान का मामला कहा जाता है यह था कि किस प्रकार तुर्की साम्राज्य से प्राप्त योरुपीय भाग का बटवारा किया जाए। इस विषय स प्रथम महायुद्ध की चिनगारी भडकी। बलकान प्रश्न उस समय के दूसरे मामलो की अपेक्षा महान् शक्तियों को खुले सघर्ष की ओर ले जाने की अधिक सम्भावना रखता था, विशेषकर इसलिए कि उनमे स आस्ट्रिया के महत्त्वपूण हित प्रत्यक्ष रूप मे सरबिया की राष्ट्रीय आकाक्षाओ से प्रभावित होते थ। तो भी यह सदेहात्मक है कि क्या यह परिणाम अनिवार्य था। सम्भवत यह विचार किया जाता है कि यदि दूसरी महान् शक्तियाँ, विशेषकर जर्मनी, 1914 मे बलकान प्रश्न को उसी तरह हल करती जैसकि 1878 मे बर्लिन काग्रेस के अवसर पर सफलतापूर्वक किया गया था—अर्थात् अपने परिधि सम्बन्धी क स्वरूप की स्वीकृति—तब पहला महायुद्ध भली भाति टाला जा सकता था।

1876[3] मे जब बिस्मार्क ने यह घोषणा की कि जहाँ तक जमनी का सम्बन्ध है, बलकान का मूल्य इतना नही कि किसी एक भी व्यक्ति को बलिदान किया जाए तब उसने बलकान प्रश्न की परिधि सम्बन्धी स्वरूप पर जमनी मे राजनीतिक और सैनिक हिता के सम्बन्ध म पूरा जोर डाला। जुलाई 1914 म जब जमन सरकार ने आस्ट्रिया को सरबिया के विरुद्ध प्रत्यक्ष कार्य म समर्थन का वचन दिया तब इसने बिना कारण बिस्माक की स्थिति के विरुद्ध काय किया। जर्मनी ने आस्ट्रिया के साथ सरबिया के नाश के लिए ऐसा ऐक्य स्थापित किया जैसे यह अपना हा जबकि रूस न सरबिया की रक्षा के साथ ऐसा ऐक्य स्थापित किया जैसेकि वह अपनी स्वतन्त्रता के लिए कर रहा हो। इस प्रकार योरुपीय राज्य-प्रणाली की परिधि का क्रमश एक ऐसे सघष म परिवर्तित हा गया, जिस से इस प्रणाली के अन्दर सम्पूर्ण शक्ति-वितरण पर प्रतिक्रिया का काफी डर बना रहा।

सौदाबाजी असम्भव होती, यदि प्रत्येक के महत्त्वपूण हितो का सौदा न हुआ होता। दूसरो की कीमत पर रिआयतें नही दी जा सकती थी, क्योकि छोट राष्ट्रो के हितो के साथ अपन हितो को मिलाने से दूसरो के मूल्यो पर दिखलाई पडने वाली रिआयतें वास्तव मे अपने मूल्य पर हाती थी। झगडे स्थगित नही हो सकत थ, जैसा कि हमने देखा है, क्योकि बडी शक्तियो को

3 In the Session of the German Reichstag of Dec 5, 1876.

यह डर रहता था कि स्थगित करने से दूसरे की शक्ति सशस्त्र अनिवार्य झगडे के लिए और अधिक बढ जाएगी। यदि एक बार मामले परिधि से हटा कर बडी शक्तियों के चक्र के केन्द्र में लाए जाते, तो उनको हटाने का कोई रास्ता नहीं था और न ही कोई ऐसा खाली स्थान था जिसमे पदार्पण करके मामले से छुटकारा पाया जाता। रूस के सामने आस्ट्रिया और जर्मनी का प्रटल सकल्प था, जिससे वह सरबिया की समस्या को आस्ट्रिया की शर्तों के प्राधार पर हल करना चाहते थे। फलस्वरूप फ्रास को रूस की सहायता फ्रासीसी-रूसी सधि के अधीन लेनी पडी, जर्मनी को उस सधि की सक्रियता का मुकाबला करना पडा और इग्लैण्ड को बैलजियम पर खतरे का। इन समस्याओं को किसी तरीके से हटाने का इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नही था कि प्रत्येक राष्ट्र अपने महत्वपूर्ण हितो को त्यागे और झुकने के रूप मे मूल्य अदा करे।

जुलाई 1914 मे जो घटना राजनयिक गलती से घटित हुई थी वह आज शक्ति-सतुलन के सरचनात्मक परिवर्तन का एक अनिवार्य परिणाम है। पहले महायुद्ध के पूर्व काल मे बडी शक्तियो के लिए यह सम्भव था कि वे अपने प्रतिरोध को अपनी पारस्परिक सीमा से हटा कर परिधि और राजनीतिक दृष्टि से शून्य स्थानो की ओर ले जाएँ, क्योकि जैसा हमने देखा है कि शक्ति-सतुलन मे सक्रिय भाग लेने वाले वास्तव मे योरुपीय राष्ट्र थे और इसके अतिरिक्त सतुलन के मुख्य भाग योरुप मे स्थित थे। यह कहना कि उस काल मे राजनीतिक दृष्टि से की परिधि थी, विपरीत ढग से इस आशय को प्रकट करना शून्य स्थानो होगा कि उस काल का शक्ति-सतुलन मात्रात्मक और गुणात्मक दृष्टिकोण से भौगोलिक सीमाओ से घिरा था। जैसे-जैसे शक्ति-सतुलन, जिसका मुख्य भार तीन महाद्वीपो है, मे विश्वव्यापी रूप ले रहा है, उसी तरह एक ओर महान् शक्तियो के चक्र और उसके केन्द्र के बीच तथा दूसरी ओर इसकी परिधि और उसके पार खाली स्थानो के बीच द्विघात्व अनिवार्य रूप से लुप्त होना चाहिये। शक्ति-सतुलन की परिधि आज पृथ्वी की तमाम सीमाओ से मेल खा रही है।

औपनिवेशिक क्रान्ति

इस प्रकार जो वस्तु विश्व-राजनीति की पहले परिधि थी, अब एक केन्द्र बन रही है तथा एक ऐसा महान् रगमच बन रही है, जहाँ दो सर्वश्रेष्ठ शक्तियो के बीच भूमि-नियन्त्रण और मनुष्य-हृदय को जीतने के लिए सघर्ष किया जा रहा है। इस परिवर्तन के लिए दो तत्त्व जिम्मेदार हैं, एक औपनिवेशिक और अर्ध-औपनिवेशिक देशो की अपने पूर्वकालीन स्वामियो के विरुद्ध क्रान्ति और दूसरे, वह वृत्ति जो द्विमुखी प्रणाली को दो गुटो मे परिवर्तित करने की चेष्टा करती है।

औपनिवेशिक सीमान्त के लोप अथवा औपनिवेशिक विस्तार की सपूर्ति के तुरन्त बाद एक प्रतिकूल आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ, जिसके द्वारा औपनिवेशिक विस्तार के उद्देश्य अपनी स्वतन्त्रता को पुन प्राप्त करने का यत्न करते है और गोरी और काली जातियो के सम्बन्ध मे मौलिक परिवर्तन प्राप्त करना चाहते है। जिस प्रकार ज्वार भाटा समुद्र क अग्रिम उभार की अन्तिम अवस्था का सूचक होता है और उसके बाद पीछे हटने की प्रथम अवस्था आ जाती है, इसी प्रकार औपनिवेशिक विस्तार की सपूर्ति उपनिवेशवाद के अन्त के प्रारम्भ को लक्षित करती है। जब महान् औपनिवेशिक शक्तियाँ अपने विस्तार की सीमा पर पहुँच जाती है तब वे विश्व म सर्वश्रेष्ठ शक्ति की सीमा का अनुभव करती हैं। विशेषकर योरुप के राष्ट्रो का राजनीतिक और सैनिक पतन औपनिवेशिक क्रान्ति का कारण और बाद म अधिकतर अशो मे इसका परिणाम भी था।

यदि औपनिवेशिक सिद्धान्त का लोप योरुप के एक विश्व केन्द्र के रूप मे पतन के साथ मेल न खाता, तब विश्व इतिहास क इस मोड पर औपनिवेशिक क्रान्ति अनुदर्शी रूप म पूर्वकालीन क्रान्तियो की तरह असफल विद्रोह के नाम से सम्बोधित की जाती। तथापि मुख्य योरुपीय शक्तियो के स्पष्ट पतन ने, जिसका विशेष निदर्शन दूसरे महायुद्ध मे जापान के हाथो उनकी हार से मिलता है, औपनिवेशिक क्रान्ति को निमन्त्रण दिया और इसे या तो सफल बनाया या सम्भावित भविष्य म इसकी सफलता को अनिवार्य बना दिया। इस तरह जो बात दूसरे महायुद्ध के अन्त मे सोची नही जा सकती थी, वह बात 15 वर्ष पश्चात् वास्तविकता बन गई। इग्लैण्ड का बर्मा लका, भारत पाकिस्तान मलाया, सिंगापुर और मिस्र से स्वेच्छापूर्वक पीछे हट जाना और ईरान ईराक तथा सारडन से निकाला जाना इडोनेशिया से हालैण्ड का विवश होकर पीछे हटना और हिन्द चीनी से फ्रास का निकलना बैलजियन अग्रजी और फ्रासीसी साम्राज्यो का अफ्रीका म लुप्त होना और उनका स्वतन्त्र राष्ट्रो म बदला जाना इसके प्रमाण है।

योरुप की दुर्बलता से उत्पन्न इस औपनिवेशिक क्रान्ति न योरुप को और भी दुर्बल बना दिया है। आधुनिक समय मे योरुप को राजनीतिक प्रभुता मुख्य रूप मे काली जातियो पर प्रभुता का परिणाम थी। योरुप के गोरे आदमी और अफ्रीका और एशिया के काल आदमियो के बीच औद्योगिक आर्थिक और सैनिक अन्तर ने योरुप को विश्व-प्रधानता को प्राप्त और स्थापित करन योग्य बनाया। इसके लुप्त होने से सैनिक आर्थिक और राजनीतिक शक्ति का मुख्य स्रोत सूख गया है और इसी के आधार पर ही योरुपीय राष्ट्र सख्या, स्थान और प्राकृतिक साधनो क अभाव को पूरा कर सकते थे।

जबकि योरुपीय शक्ति के पतन ने औपनिवेशिक क्रान्ति को सफल बनने का अवसर दिया, तो भी इसने इसे तीव्र गति न दी। दूसरी वास्तविक क्रान्तियों की तरह औपनिवेशिक क्रान्ति भी नैतिक चुनौती से पैदा हुई है, जिसने विश्व को पुकारा, विशेषकर यह एशिया की क्रान्ति के प्रति सत्य है, जो इसका अधिक प्रौढ़ निदर्शन है।

एशिया से उठने वाली यह नैतिक चुनौती तात्त्विक दृष्टि से पश्चिमी नैतिक विचारों की विजय की सूचक है। यह दो नैतिक सिद्धान्तों—राष्ट्रीय आत्मनिर्णय और सामाजिक न्याय के झंडे के नीचे अग्रसर हो रही है। इन विचारों ने एक शताब्दी से अधिक तक या तो पश्चिम का घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों में नेतृत्व किया है या इन्हें राजनीतिक क्रिया के लिए न्यायसंगत ठहराया है। अपनी विजयों के साथ योरुप एशिया में न केवल अपनी यान्त्रिकी और राजनीतिक संस्थाएं लाया, वरन् राजनीतिक नैतिकता के सिद्धान्त भी लाया। पश्चिमी राष्ट्रों ने अपने उदाहरण से एशिया के लोगों को यह सिखाया कि व्यक्ति की शक्तियों का पूर्ण विकास इस योग्यता पर निर्भर है कि जिस राष्ट्र से वह व्यक्ति सम्बन्धित है वह राष्ट्र अपने राजनीतिक और सांस्कृतिक भाग्य को स्वयं निर्धारित करने वाला हो और इस राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये उसे संघर्ष करना चाहिये, इस पाठ को एशिया के लोगों ने सीखा। एशिया के लोगों को पश्चिम ने यह भी सिखाया कि गरीबी और क्लेश दैवी शाप नहीं, जिसे मनुष्य चुपचाप स्वीकार करता है, वरन् यह अधिकतर मनुष्य का ही निर्माण है और मनुष्य द्वारा इनका इलाज किया जा सकता है इस पाठ को भी एशिया की बहुत सी जातियों ने ग्रहण किया। आज ये ही राष्ट्रीय आत्म-निर्माण और सामाजिक न्याय के सिद्धान्त हैं, जिनको लेकर एशिया पश्चिम के खिलाफ लड़ रहा है और पश्चिम के नैतिक मानदण्डों के आधार पर ही पश्चिमी राजनीतिक और आर्थिक नीतियों की निन्दा कर रहा है और इसके विरुद्ध विद्रोह कर रहा है।

द्विध्रुवी प्रणाली की शक्तियाँ

औपनिवेशिक क्रान्ति ने एक ओर अमेरिका और एशिया और दूसरी ओर बाकी विश्व के नैतिक, सैनिक, और राजनीतिक सम्बन्धों को व्यापक रूप से परिवर्तित किया है। आधुनिक विश्व-राजनीति के द्विध्रुवी दृष्टिकोण से नैतिक सैनिक और राजनीतिक शून्यता उत्पन्न हो गई है। पूर्ण और निश्चल रूप से तटस्थ ये नए राष्ट्र क्या साम्यवाद या प्रजातन्त्रवाद को अपनायेंगे और क्या वे राजनीतिक और सैनिक तौर पर मास्को या वाशिंगटन का साथ देंगे ? इस चुनौती के साथ संसार के तटस्थ राष्ट्र दो सर्वश्रेष्ठ शक्तियों का मुकाबला कर रहे हैं।

इन दोनो सक्तियो ने इस चुनौती को स्वीकार करने मे कोई विलम्ब नही किया, क्योंकि द्विध्रुवी राजनीतिक प्रणाली मे अपने आपको दो गुटो मे परिवर्तित करने की प्रमुख प्रवृत्ति होती है। बहुध्रुवी प्रणाली के लचकीलेपन के समाप्त होने और मित्र राष्ट्रो के अपने प्रत्येक घेरे मे चले जाने के साथ ये दो सर्वश्रेष्ठ शक्तियाँ तटस्थ राष्ट्रो को अपने घेरे मे लाकर अपनी भूमि, जनसख्या और प्राकृतिक साधनो की शक्ति मे वृद्धि कर रही हैं। इन भूमिखडो मे लचकीलापन पैदा किया जाता है, जिन्होने स्थायी रूप से एक या दूसरे घेरे मे प्रवेश नही किया या सैनिक अधिकार के वशीभूत होकर इस मे प्रवेश किया है। यहाँ सर्वश्रेष्ठ शक्तियाँ अभी तक भी आगे बढ और पीछे हट सकती है, सौदाबाजी कर सकती हैं "और चतुर चाल भी चल सकती है"। यहाँ अब भी नैतिक, सैनिक और राजनीतिक विजय प्राप्त करने के अवसर उपलब्ध हैं। यदि कोई सर्वश्रेष्ठ शक्ति भारत या सगठित जर्मनी को अपने साथ मिला ले, वह पूर्व और पश्चिम के सघर्ष मे निर्णयात्मक विजय प्राप्त कर लेगी। इस तरह दोनो सर्वश्रेष्ठ शक्तियाँ तटस्थ स्थानो मे अपनी सम्पूर्ण नैतिक आर्थिक, सैनिक और राजनीतिक शक्तियो के साधन प्रयोग मे ला रही है और प्रयत्नशील हैं कि इन स्थानो को दो महागुटो मे बदल दें, जो एक-दूसरे के पास स्थित हो और परस्पर विरोधी हो।

इस के खण्डित होने की सम्भावना

तथापि द्विध्रुवी प्रणाली को दो गुटो मे बदलने का अवसर जो सर्वश्रेष्ठ शक्तियो के आकर्षण का विषय है, वह तटस्थ राष्ट्रो और सोवियत सघ की शक्ति द्वारा बाधित पिछलग्गुओ के लिए, विकर्षण का विषय है। इस परिवर्तन का विरोध जो द्विध्रुवी प्रणाली की शक्ति मे निहित है एक दूसरी शक्ति की माँग करता है।

एशियाई राष्ट्रो, विशेषकर चीन मे, क्रान्ति की योजना अन्त मे शेष ससार के लिये गम्भीर अर्थो से गर्भित सिद्ध हो सकती है। यहाँ पर इन राष्ट्रो ने जिन के पास स्थान, प्राकृतिक साधन और विशाल जनसख्या है अभी-अभी राजनीतिक शक्ति, आधुनिक यान्त्रिकी और आधुनिक नैतिक विचारों का प्रयोग अपने उद्देश्यो के लिए आरम्भ कर दिया है। दस खरब की सख्या से अधिक लोगो ने, जिनमे 70 करोड चीनी शामिल नही हैं, और जो अब तक दूसरो की नीतियो के लक्ष्य बने हुए थे, अब सतर्क रूप से विश्व-राजनीति मे भाग लेना शुरू कर दिया है। यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यह जागृत जनता शीघ्र ही नियन्त्रण तथा नाश के आधुनिक यान्त्रिक साधनो विशेषकर परमाणुक्षेत्र के यन्त्रो पर अधिकार प्राप्त कर लेगी, जो अभी तक एक मात्र पश्चिम की वास्तविक सम्पत्ति बने हुए थे।

शक्ति-वितरण में परिवर्तन का ऐसा विकास विश्व-इतिहास की महानता की दृष्टि से दूसरे नत्त्रा से ऊपर निकल जायेगा। इस का अर्थ यह भी हो सकता है कि वाशिंगटन और मास्को में स्थित द्विध्रुवता, जिसने अपनी छाप विश्व-राजनीति पर डाली है, का अन्त हो जाए। फिर भी यदि सोवियत संघ अभी तक साम्यवाद का राजनीतिक औद्योगिक और नैतिक नेता है, परन्तु संख्या और बल के दृष्टिकोण से चीन संसार में बड़ा साम्यवादी देश है।

अन्त में, द्विध्रुवी प्रणाली के अन्त होने की सम्भावना इस प्रणाली में निहित शक्ति में प्रतीत होती है। तटस्थ और बाधित राष्ट्रों का द्विध्रुवी प्रणाली के प्रति विरोध उस दशा में है, जिस दशा में बाधित राष्ट्र जैसे संयुक्त-राज्य के सहकारी मित्रों की पृथक इच्छाएं हैं जिस के द्वारा यदि हो सके, वे इस से दूर होना चाहते हैं। इन राष्ट्रों का परमाणु अस्त्रों द्वारा सुसज्जित स्वतन्त्र शक्ति-केन्द्र में परिणत होना द्विध्रुवी प्रणाली के लिए मृत्यु का संदेश लाएगा।

द्विध्रुवी प्रणाली के अन्दर दो प्रतिकूल शक्तियाँ निहित होती हैं। एक वह प्रवृत्ति है, जिस के द्वारा इसका प्रसार संसार के तटस्थ राष्ट्रों को ग्रस्त कर के दो गुटों का रूप धारण कर लेगा, और दूसरी प्रवृत्ति यह है कि इसकी आन्तरिक अपकेन्द्रीय शक्तियाँ इस का नाश कर देंगी, और आन्तरिक या बाहरी नवीन शक्ति-केन्द्र से आकर्षित होगी।

शीतयुद्ध की निरन्तरता

दूरवर्ती सम्भावनाओं से हट कर यदि निकटवर्ती सम्भावनाओं पर विचार करें, तो हम देखते हैं कि दो सर्वश्रेष्ठ शक्तियों पर अवलम्बित दो गुट विश्व-राजनीति के रंगमंच पर छाए रहेंगे। ये दो दल छोटी और तंग गली में दो लड़ाकों की तरह एक दूसरे का सामना कर रहे हैं, ये अग्रसर हो कर और टकरा कर युद्ध कर सकते हैं या वे पीछे हटें और दूसरे पक्ष को आगे बढ़ने में मूल्यवान स्थान ग्रहण करने दें। ये सब बातें अब बीते काल की हो चुकी हैं, जब अनेक और बहुवर्षी चालों के द्वारा शक्ति-संतुलन सशस्त्र झगड़े को पूर्ण रूप से रोकने या कम से कम उन को संक्षिप्त निर्णयात्मक परन्तु सीमित रखने का प्रयत्न करते थे, समझौते और प्रति-समझौते हुआ करते थे, उनमें चुनौती का सामना करने के लिये तथा अच्छे अवसर का लाभ उठाने के लिये परिवर्तन किया जाता था, मामलों को टाला और स्थगित किया जाता और प्रतिरोधों को खुले क्षेत्र से हटा कर औपनिवेशिक पृष्ठभूमि में फेंका जाता था। इनके साथ यह शिष्टता और मस्तिष्क की सूक्ष्मता गणना में निपुण और चपल बुद्धि, दृढ़ परन्तु संयमित निर्णय समाप्त हो चुके हैं, जिनकी आवश्यकता उस खेल के खिलाड़ियों को पड़ती थी। और

उन कार्य-पद्धतियों और बौद्धिक दृष्टिकोणों के खत्म होने के साथ वह आत्म-सयम का लचकीलापन और विशुद्ध शक्ति-सम्बन्धों की ओर लौटने की या नए सम्बन्ध स्थापन की प्रवृत्ति का भी अन्त हो गया है, जिस का वर्णन हम पहले कर चुके हैं।

इन दो दानवों के लिए जो विश्व-सम्बन्धों का मार्ग निर्धारित करते हैं, केवल एक नीति रह गई है और वह यह है कि वे अपनी और अपने मित्र राष्ट्रों की शक्ति को बढ़ायें। हर मूल्यवान खिलाडी ने पक्ष ग्रहण कर लिया है और निकट भविष्य में पासा बदलने की कोई सम्भावना नहीं, क्योंकि हर जगह यह मामला विचारणीय है कि या तो उन महत्त्वपूर्ण हित के स्थानों से पीछे हटा जाए या आगे बढ़ा जाए इसलिए स्थान पर दृढ रहना ही चाहिए और लेने देने का समझौता हर उस पक्ष के लिए दुर्बलता लाता है, जो भी इसे अपनाएगा। युद्ध के विषय में विचार करने वाले जर्मन दार्शनिक क्लाजविट्स की शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार युद्ध को दूसरे साधनों द्वारा एक राजनय का क्रम समझा जाता था, अब राजनय युद्ध-कला की भिन्नताओं में परिवर्तित हो गई है। इसका मतलब यह है कि हम शीतयुद्ध काल में रहते हैं जहां अब युद्ध के उद्देश्यों को हिंसा के अतिरिक्त साधनों द्वारा प्राप्त किया जा रहा है। इस अवस्था में राजनयिक मस्तिष्क के विशेष गुण व्यर्थ प्रतीत होते हैं और फलस्वरूप इसका स्थान सैनिक विचारधारा ले रही है। एक बार विक्षुब्ध हुए शक्ति-सतुलन को केवल दुर्बल पक्ष की ताकत बढ़ा कर पुनर्स्थापित किया जा सकता है, क्योंकि दो दानवों की निहित शक्ति के अतिरिक्त प्रत्यक्षतः और महत्त्वपूर्ण विभिन्न शक्तियां नहीं हैं, इसलिए प्रत्येक पक्ष को यह भय रहता है कि अस्थाई रूप से अधिक बलवान प्रतिरोधी अपनी सर्वश्रेष्ठता के घातक सैनिक और आर्थिक दबाव से या सहारपूर्ण युद्ध के द्वारा दूसरे पक्ष की चुनौती को समाप्त करेगा।

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति ने प्रारम्भिक दृश्य का रूप ले लिया है, जिसमें दो दानव एक दूसरे को सशय के चौकन्ने नेत्रों से देखते हैं। वे अपनी सैनिक शक्तियां अधिकतम बढ़ाना चाहते हैं क्योंकि यह ही उन का पूर्ण अधिकार है। दोनों ही प्रथम वार करने की तैयारी में है, क्योंकि यदि एक ने पहले वार न किया तो दूसरा करेगा। इस प्रकार सयुक्त करना या सयुक्त होना, विजयी होना, पराजित करना, नाश करना या नष्ट होना, नवीन राजनय के नारे हैं।

ससार की ऐसी राजनीतिक अवस्था ने अनिवार्य रूप में नवीन शक्ति-सतुलन के परिवर्तित ढांचे में, यदि दो प्रतिरोधी दानव दलों के विरोध को अनिवार्य नहीं तो सम्भव बना दिया है। इसके विपरीत नवीन शक्ति-सतुलन एक ऐसा यन्त्र है, जिसके अन्दर अपूर्व अच्छी बातें मिलती हैं और अनुपम बुराइयां भी। इनमें से किसकी शक्तियां सम्पन्न हो पाएगी, यह चीज़ केवल

शक्ति-सतुलन पर ही आधारित नही, बल्कि उन नैतिक और भौतिक शक्तियो पर भी हैं, जो उस यन्त्र का अपने उद्देश्यो के लिए प्रयोग करती हैं।

शान्ति-पूर्ण सह-अस्तित्त्व

फ्रासीसी दार्शनिक फेनेलोन (Fenelon) ने अपने पोते चौदहवें लुईस को, जिससे पहले ही उद्धरण दे चुके है, परामर्श देते हुए अनेक प्रकार के शक्ति-सतुलन का वर्णन किया है। उनके गुणो और अवगुणो का मूल्य स्थिर करते हुए, उसने सब से अधिक प्रशसा दो सम-शक्तिशाली राज्यो के विरोध की है, जिसको उसने सम्पूर्ण शक्ति-सतुलन बताया है। उसने कहा, "चौथी प्रणाली उस शक्ति की है, जो दूसरी के बराबर है और जो जन-रक्षा के लिए दूसरी शक्ति को सतुलन मे रखती है। वास्तव मे, अधिकतम बुद्धिमत्ता और अधिकतम प्रसन्नता की अवस्था राज्य के लिए वह है, जिससे वह ऐसी परिस्थिति मे भी रहे और कोई ऐसी आकाक्षा भी न करे, जिसे त्यागने की उसे इच्छा हो। तुम सामूहिक मध्यस्थ हो। तुम्हारे सब पडोसी तुम्हारे मित्र हैं और जो नही हैं वे इस बात के कारण दूसरो के लिए सशय-पात्र बने हैं। तुम ऐसा कुछ नही करते जिससे यह प्रतीत न हो कि वह बात तुम्हारे पडोसियो के लिए और तुम्हारे अपने लोगो के लिए नही की गई। तुम प्रत्येक दिन अधिक बलवान बनते हो और यदि तुम बुद्धिमत्ता की नीति के फलस्वरूप अपने प्रतिरोधी की अपेक्षा अधिक आन्तरिक शक्ति सचित करने और सधिया करने मे सफलता प्राप्त करते हो, तब तुम्हे अधिक से अधिक उस बुद्धिपूर्वक सयम का पालन करना चाहिये, जिसके द्वारा तुम्हे सन्तुलन और सामूहिक रक्षा की व्यवस्था बनाए रखने के लिए मर्यादित रखा है। उन अवगुणो को सर्वदा याद रखना चाहिये, जिनके कारण एक राज्य को अपनी महान् विजयो के लिए आन्तरिक या बाहरी कीमत अदा करनी पड़ती है। यह बात याद रखनी चाहिये कि ऐसी विजय कोई फल नही लाती, और उसको प्राप्त करने के कई खतरे हैं और अन्त मे यह महान् साम्राज्य कितने निस्सार, कितने व्यर्थ और कितने अल्पजीवी होते हैं और पतन के साथ कितने उपद्रव लाते हैं।

तथापि यह आशा नही की जाती कि एक सर्वश्रेष्ठ शक्ति बहुत जल्दी अपनी सर्वश्रेष्ठता का दुरुपयोग नही करेगी। एक बुद्धिमान और सच्चे राजकुमार को अपने जैसे उत्तराधिकारी के लिए जो प्रत्यक्ष रूप मे ही उस से कम सयमी है, सर्वश्रेष्ठता के हमेशा के हिंसापूर्ण आकर्षण नही छोड जाना चाहिए। अपने उत्तराधिकारियो और अपने लोगो की भलाई के लिये उसे अपने आप को एक प्रकार की समता तक सीमित रहना चाहिये।[4]

4. Œuvres (Paris, 1870), Vol. III, pp 349-50,

फेनलोन ने जिस शक्ति वितरण पर विचार किया है, वह सयुक्त-राज्य और सोवियत-सघ के बीच स्थित शक्ति-वितरण से स्पष्ट रूप मे मेल खाता है। इस शक्ति सतुलन का आज अधिक झुकाव सयुक्त-राज्य की ओर है। जिन लाभदायक परिणामो पर फ्रासीसी दार्शनिक ने विचारा है वे सयुक्त राज्य और सोवियत-सघ के बीच के सन्तुलन मे उपस्थित नही है और न ही निकट भविष्य मे उनके उपस्थित होने की सम्भावना है। इसका कारण आधुनिक युद्ध के स्वरूप मे मिलता है, जिसमे राष्ट्रवादी सर्वायवादी और आधुनिक यान्त्रिकी के प्रभाव से क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए है। यहाँ हम महत्त्वपूर्ण परिवतनो के अन्त पाते हैं जो बीसवी शताब्दी की राजनीति को पूर्व युगो की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति से भिन्न करते हैं।



बाईसवाँ अध्याय

सम्पूर्ण युद्ध

हम पहले भी यह बता चुके हैं कि हमारे समय मे युद्ध चार रूपो मे सम्पूर्ण बन चुका है। पहला यह कि जनसंख्या का भाग भाव और विश्वास की दृष्टि से राष्ट्रीय युद्धो के साथ तादात्म्य स्थापित कर चुका है। दूसरा यह कि जनसख्या का यह भाग युद्ध मे भाग ले रहा है, तीसरा यह कि जनसख्या के इस भाग पर युद्ध का प्रभाव पडता है और चौथा युद्ध का उद्देश्य है। जब फिनलोन ने चौदहवी शताब्दी के शुरू मे लिखा था तब युद्ध इन दृष्टियो से सीमित था और तब से लेकर आधुनिक राज्य प्रणाली के शुरू तक इस प्रकार सीमित रहा।

इस प्रकार के सीमित युद्ध का ज्वलन्त उदाहरण हमे चौदहवी तथा पन्द्रहवी शताब्दी के युद्धो से मिलता है। यह युद्ध प्रमुख रूप मे पैसे के टट्टुओ द्वारा लडे गये, जिनके हित अधिकतर आर्थिक थे और जो लडाई मे न तो मरने के लिए इच्छुक थे और न ही अपने शत्रुओ को मारने का खतरा लेना चाहते थे। इसके अतिरिक्त काण्डोटयरी (Condottieri) अर्थात् प्रतिरोधी सेना के नेता भी अपने सैनिको को बलि करने की रुचि नही रखते थे—उन्होने अपनी सेना मे पैसा लगाया था और वे इसे चालू धन्धा रखना चाहते थे। न ही प्रतिरोधी सेना के नेता (काण्डोटयरी) अधिक शत्रु सैनिको को मारना चाहते थे, क्योकि युद्धबदी के नाते उनको निरन्तर रूप मे बेचा जा सकता था या अपनी सेना के लिए उन्हें वे किराये पर ले सकते थे। लेकिन उनके मारने से कोई वित्तीय लाभ नही होता था। काण्डोटयरी न तो निर्णयात्मक युद्धो मे और न ही हिंसात्मक युद्धो मे रुचि रखते थे, क्योकि युद्ध और शत्रु के अभाव मे उनका कोई काम ही नही रह जाता था। फलस्वरूप इटली के युद्धो मे चतुर चालो और सामरिक युक्तियो से काम लिया जाता था, ताकि शत्रु को अपनी जगह छोडने और पीछे हटने पर बाधित किया जाय और वे मृतक या घायलो के स्थान पर बदी छोड जाएँ।[1]

1 Sir Charles Oman, 'A History of the Art of War in the Middle Ages' (London · Methuen and Co Ltd , 1924) Vol II p 304 प्रतिरोधियों में कोई पारस्परिक राष्ट्रीय या धार्मिक घृणा नहीं थी और न ही कोई व्यक्तिगत। यद्यपि काण्डोटयरी एक दूसरे के प्रति ईर्ष्या और पुराने अपमानों और विश्वासघात के लिए वैर रखते थे फिर भी सशस्त्र सैनिकों अधिकतर वे लोग थे, जो बारी बारी छह बार प्रतिरोधी सेना से लड़ चुके थे, क्योंकि वे नए मालिकों की

इस प्रकार मैकियावेली पन्द्रहवीं शताब्दी की अनेक लड़ाइयों का वर्णन कर सकता है जिन में कुछ का ऐतिहासिक महत्त्व है जिसमें या तो कोई व्यक्ति नहीं मरा या यदि कोई मरा तो केवल एक और वह भी घोड़े पर से गिर कर, शत्रु के हाथों से नहीं।

मैकियावली के विवरण में अतिशयोक्ति हो सकती है, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे युद्ध सीमित युद्ध के निदर्शन थे, जो धार्मिक युद्धों और नेपोलियन के युद्धों को छोड़ कर प्रथम महायुद्ध तक आधुनिक इतिहास में प्रचलित रहे। सेक्स के मार्शल (Marshal of Saxe) ने युद्ध के उन नियमों को घोषित किया, जिन्होंने चौदहवीं और पन्द्रहवीं शताब्दी के काण्डोटयरी (Condottieri) का नेतृत्व किया था। उसने कहा, "मैं विशेषकर युद्ध के आरम्भ में लड़ाइयों के पक्ष में नहीं, मेरा अब भी यह मत है कि एक योग्य सेनापति जीवन-पर्यन्त लड़ाई में प्रत्यक्षत संलग्न हुए बिना भी युद्ध कर सकता है[2]। डेनियल डीफो (Daniel Defoe) ने उस शताब्दी के अन्त में यह कहा, "आजकल प्राय पचास हज़ार आदमियों की सेना दूसरे पक्ष को देखकर तैयार रखी जाती है और सारा आन्दोलन एक दूसरे से बचने में लग जाता है या एक दूसरे के निरीक्षण के बाद फिर अपने शीतकालीन निवास को लौटना होता है।[3] 12 जनवरी 1757 को चैस्टरफील्ड के अर्ल ने अपने पुत्र को पत्र लिखते हुए अपने समय के युद्धों को इन शब्दों में व्यक्त किया —

सेवा में अदल-बदल करते थे। एक दूसरे के प्रति अनुदार होते हुए भी वे पारस्परिक मित्र थे यदि ऐसा न भी होता तो भी सशस्त्र सेना में सब पैसे के टट्टू लगभग भाई थे और आतंकवादी या सामन्ती लोगों को, जो उन्हें पैसा देता था, तिरस्कार की दृष्टि से देखते थे इसके अतिरिक्त एक बंदी अपने घोड़े और शस्त्र के बदले में छुटकारा पा सकता था। जबकि मृतक का कोई मूल्य नहीं था। अतएव विजय एक उपहासजनक वस्तु बन गई। एक युद्ध में आहत व्यक्ति भागने का प्रयत्न नहीं कर सकता था, क्योंकि समर्पण करने में पैसे को छोड़कर कोई और हानि नहीं होती थी और इस बात की भी सम्भावना थी कि विजयी उन्हें अपनी सेना में शामिल होने का अवसर दे, जिस हालत में बंदी को घोड़े व शस्त्र न छोड़ने पड़ें।

2 समकालिक समीक्षक अच्छे और बुरे युद्धों में अन्तर करते हैं। पहले का सम्बन्ध पुस्तक में विवेचित युद्ध से और दूसरे का सम्बन्ध स्विस की क्रूरता से है जो उन्होंने जर्मन लाण्डस्नैक्ट्स (Landsknechts) के प्रति दिखाई और जिसका उस रूप में उन्हें बदला भी मिला।

3 Quoted after John U Nef "Limited warfare and the progress of European civilization 1640–1740," The Review of Politics, Vol [illegible] (July 1944), p 277

इस ह्रास-युग मे युद्ध भी क्षुद्रता से लडे जाते है, स्थान छोडे जाते हैं, कस्बे अधिकार मे किये जाते है और लोगो को भी छोडा जाता है और यहाँ तक कि घमासान युद्ध मे भी कोई स्त्री किसी के द्वारा भगा ले जाने का लाभ नही उठा पाती।

इसके विपरीत जब सीमित युद्ध का काल खत्म होने को था मार्शल फोश ने फ्रांसिसी युद्ध-महाविद्यालय के समक्ष 1917 मे व्याख्यान करते हुए युद्ध की प्राचीन और नूतन पद्धतियो को साराश मे बतलाया, "सचमुच एक नया युग शुरु हो चुका था, जिसमे राष्ट्रीय युद्ध मे राष्ट्र के समूचे साधनो को संघर्ष में लगाया गया, जिनका उद्देश्य पारिवारिक हित नही और न ही किसी प्रान्त को कब्जे में लेना या जीतना था, परन्तु दार्शनिक विचारो की रक्षा या प्रसार था। प्रथम स्वतन्त्रता और एकता के सिद्धान्त थे और बाद में अनेक प्रकार के निष्प्रयोजन लाभ। इनका उद्देश्य प्रत्येक सैनिक की रुचि और सामर्थ्य का प्रयोग करना था, साथ ही उनके उन भावो और लालसाओ का लाभ उठाना था जो पहले कभी शक्ति के तत्त्व स्वीकार नही किए गए थे।" दूसरी ओर मानव की ज्वलित भावनाओ का तीव्र प्रयोग करना था, जो समाज की प्रत्येक क्रिया और प्रणाली के महत्त्वपूर्ण अगो की आवश्यकताओ को अपने अनुकूल बनाती है जैसे किलाबदी, रसद, स्थल का प्रयोग, शस्त्रीकरण, शिविर इत्यादि।

दूसरी ओर अठारहवी शताब्दी में इन प्रयोजनीय भागो का विधिपूर्वक और व्यवस्थित प्रयोग है जो अनेक प्रणालियो की नीव बन चुका है, जो समय के अनुसार भिन्न है परन्तु सेना के प्रयोग पर नियन्त्रण स्थापित करता है ताकि सम्राट् की सम्पत्ति और सेना सुरक्षित रहे, जो लडाई के उद्देश्यो के प्रति उदासीन होते हुए भी सैनिक चेतना और परम्परा के व्यावसायिक गुणो से वंचित नही।[5]

इस प्रसग में यह बात महत्त्वपूर्ण है जो फीनीलोन ने अठारहवी शताब्दी के शुरु में धार्मिक युद्धो की विशेषता बतलाते हुए कही थी, "या तुम विजयी हो या पराजित।" यह बीसवी शताब्दी के नवीन सम्पूर्ण युद्धो की विशेषता भी प्रतीत होती है।

"शस्त्रो द्वारा निर्णय ही केवल ऐसा निर्णय है, जिसका कोई मूल्य है, क्योकि यही केवल एक ऐसा है, जो विजयी और पराजित बनाता है, केवल इसके द्वारा

4. Charles Strachey, editor, The Letters of the Earl of Chesterfield to his son (New York. G. P. Putnam's sons, 1901) Vol II, p 321.
5. Ferdinand Foch, The Principles of War, translated by J de Morinni (New York: H. K Fly, 1918), pp 31-2.

विरोधियो की सम्बन्धित अवस्थाओ को परिवर्तित किया जा सकता है। एक तो अपनी इच्छा का स्वामी होता है, जबकि दूसरा पक्ष अपने प्रतिरोधी की दया पर जीवित रहता है—यदि पराजित पक्ष वाद विवाद का मार्ग न होने के कारण संधि करता है तो इसका उद्देश्य उस विवाद को नष्ट करना है।[6]

सम्पूर्ण जनसंख्या का युद्ध

युद्ध के इस नए युग मे नागरिको का समूह उन युद्धो के साथ अपने आप को पूर्णत समरूप कर देता है, जिनमे उनका देश फँसा हुआ होता है और यह चीज दो बातो से स्पष्ट होती है। (1) नैतिक और (2) प्रयोगात्मक। नैतिक तत्व का पुनर्जागरण बीसवी शताब्दी में उचित युद्ध का सिद्धान्त है। दूसरे शब्दो मे, युद्धो मे, नैतिकता और कानून के आधार पर युद्ध मे भाग लेने पर भेद रखा जाता है, जिसके द्वारा एक को सुसगत ठहराया जाता है और दूसरे को कानूनी और नैतिक दृष्टि से स्वीकार नही किया जाता। मध्यकाल मे इस सिद्धान्त का बोलबाला था, परन्तु आधुनिक राज्य प्रणाली के उत्थान के साथ इसका पूर्ण लोप हो गया। सोलहवी शताब्दी मे इस सिद्धान्त के विकास के सम्बन्ध मे प्रोफेसर बैलिस ने कहा है 'मध्यकालीन उचित युद्ध की विचारधारा जो एक पक्ष को अपराध और दूसरे को सच्चा ठहराती है, वास्तव मे समाप्त हो चुकी है। इसका स्थान उस विचार ने लिया जिसके अनुसार समप्रभु युद्ध करते हुए अभियोक्ता का काम भी करता है। फलस्वरूप नया सिद्धान्त ऐसे व्यर्थ के अवसरो द्वारा व्यापक हो गया है, जिसमे वास्तव में किसी प्रकार के युद्ध को भी उचित ठहराया जाता है।"[7]

सीमित युद्ध के पूरे काल मे उचित और अनुचित युद्ध का भेद अधिकतम अस्पष्ट रहा और अन्त मे उन्नीसवी शताब्दी मे इसको समाप्त किया गया, जबकि युद्ध को केवल एक वास्तविकता के रूप मे स्वीकार किया गया और इसके व्यवहार को कुछ नैतिक और कानूनी नियमो के अधीन कर दिया गया, जिसके अनुसार सभी राज्य अपनी इच्छा से लाभ उठाने का कानूनी और नैतिक अधिकार रखते थे। इस मत के अनुसार युद्ध एक राष्ट्रीय तथा इससे भी कहीं अधिक राज परिवारो से सम्बन्धित नीतियो का एक माध्यम था, जिसका प्रयोग राजनय के साथ-साथ अथवा क्रमिक रूप मे सरकार की इच्छा के अनुसार होता था।

---

6 Ibid pp. 39, 42 43

7 William Ballis, The Legal Position of war Changes in its Practice and Theory from plato to Vattel (The Hague Nijhoff, 1937), pp 102-3

जनसमूह के लिए अपने आपको ऐसे युद्ध के साथ मिलाना असम्भव था। ऐसी समरूपता के लिए यह आवश्यक था कि वह नैतिक विषय सामने रखा जाए, जिसकी रक्षा या प्राप्ति के लिए युद्ध छेड़ा जाता। दूसरे शब्दों में, एक पक्ष के लिए युद्ध उचित होना और शत्रु के लिए अनुचित, ताकि अपने उद्देश्य के लिए नैतिक उत्साह उभारा जाए और शत्रु के विरुद्ध प्रतिरोधी भावना उत्पन्न की जाए। शायद पैसे के टट्टुओं और पेशावर लोगों के लिए अपनी जान देने के लिए ऐसी औचित्य सिद्धि की आवश्यकता नहीं थी, परन्तु सशस्त्र नागरिकों के लिए ऐसा आवश्यक था। नोपोलियन के युद्धों की राष्ट्रीयता, और उन्नीसवीं शताब्दी में जर्मन और इटली के एकीकरण के युद्ध और बीसवीं शताब्दी के दो महायुद्धों के राष्ट्रवादी सर्वार्थवाद ने उस औचित्य के सिद्धान्त को उत्पन्न किया और उसके साथ भावावेश और उत्साह को भी जिसके द्वारा सैनिकों के समूह में विजय करने की इच्छा उत्पन्न होती है।

जिस साधन को अपनाकर राष्ट्रीयता और राष्ट्रवादी सर्वार्थवादी विचार विजयी हुए वह है अनिवार्य भर्ती द्वारा सर्वव्यापी सैनिक सेवा। उन्नीसवीं शताब्दी से पहले सीमित युद्ध के काल में या तो पैसे के टट्टू या एरा-गैरा या अपहृत अच्छे लोग, जो सेना में प्रविष्ट किए जाते थे, उनसे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे नैतिक और आदर्श विचारों से प्रेरित हों। लड़ाई को टालना व जीवित रहने की मुख्य इच्छा उनके नेताओं की इच्छाओं से मेल खाती थी, जिसके अनुसार वे अपने पैसे की खपत को सीमित रखना चाहते थे और लड़ने के बजाय युक्तियों के द्वारा युद्ध जीत कर कम खतरा लेना चाहते थे। फ्रैडरिक महान् के अधीन पुरशिया की सेना में दो तिहाई विदेशी पैसे के टट्टू थे। एक तिहाई पुरशिया की सेना जिसने 1792 में फ्रांसिसी क्रान्ति का मुकाबला किया और जो पैसे के टट्टुओं से भरी हुई थी, युद्ध टालना ही इसका प्राथमिक उद्देश्य था। यह बात इसके सिपाहियों की भावना को भली भाँति व्यक्त करती है कि वे नहीं जानते थे कि वे क्यों लड़ रहे हैं और किस के विरुद्ध लड़ रहे हैं ? उस काल की फ्रांसिसी और अंग्रेजी सेना का उल्लेख करते हुए वालिंगटन के ड्यूक ने कहा कि "फ्रांसिसी अनिवार्य भर्ती की प्रणाली के द्वारा तमाम वर्गों के उत्तम व्यक्ति इकट्ठे हुए हैं और हमारी सेना तो मिट्टी का झाग है केवल मिट्टी का झाग"।

सीमित युद्ध के काल में व्यक्तिगत और सामूहिक रूप में सेना से भाग जाना साधारण था। एक पैसे का टट्टू या पैसे के टट्टुओं की सेना बसन्त ऋतु में एक स्वामी की सेवा म रहती और उसके बाद दूसरे की सेवा में। यह सब प्रत्याशित लाभों के अनुसार होता था। यदि उसका ठेका एक लड़ने की ऋतु

के लिए होता तो यह क्रम पूर्णत विधिवत् था, तथापि वह अपने ठेको की शर्तों पर बिना विचार किये ही ऐसा करने मे सकोच न करता, यदि उसे अपने पुराने स्वामी के दामो और कार्य-अवस्था से असतुष्टि होती ।

यह बात विशेषकर ऐसे झगडो मे प्रभावशाली होती, जब युद्ध या मोर्चा शुरू होने से पहले पैसे के टट्टू दूसरो की सेवा मे जाने की चेष्टा करते । इस प्रकार 1521 मे परमा (Parma) के घेरे के अवसर पर तीन हजार इटली निवासी सैनिको ने फ्रासिसी सेना को छोड कर दूसरा पक्ष ग्रहण किया । 1521 अक्टूबर मे इटली मे फ्रासिसी सेना का स्विस जत्था थोडे ही सप्ताहो मे ऐसे परित्याग के फलस्वरूप बीस हजार से घट कर 6000 रह गया और इसके बाद बसन्त ऋतु मे नये स्विस जत्थे ने बिकोका (Bicocca) के युद्ध से एक दिन पहले हडताल कर दी, जिस के फलस्वरूप युद्ध की योजना फ्रासिसीयो पर ठूंसी गई और स्विस आक्रमण को असफल होने पर युद्ध मे हार खानी पडी । इसी लडाई मे प्रतिरोधी पक्ष मे जर्मन जत्थे ने जवाबी हमले के लिए दुगने वेतन की माँग की, किन्तु यह मानी नहीं गयी । 1525 मे पेविया के युद्ध प्रारम्भ होने से कुछ दिन पूर्व 6000 स्विस और 2000 इटली वाले फ्रासिसी सेना को छोड गए यद्यपि उन्हे पूरा वेतन मिला था । उनके परित्याग से फ्रासिसी सेना की शक्ति कम होकर लगभग एक तिहाई रह गई ।

सोलहवी और सत्तरहवी शताब्दी के धार्मिक युद्धो मे समूची सेना बार-बार पक्ष बदलती रही । अठारहवी शताब्दी मे सेना के परित्याग से जो हानियाँ हुई, वे युद्ध की हानियो से अधिक थी और यह रीति इतने व्यापक रूप मे फैली हुई थी कि सेनाओ के लिए कम दीखने वाले भूमि प्रदेश मे कैम्प लगाना या युक्तियाँ खेलना उचित नही था, केवल निकटस्थ प्रदेश मे ये चीजें हो सकती थी। क्षत्र मे पर्याप्त व्यक्ति रखने के उद्देश्य से फैडरिक महान् उन भगोडो को जो छह महीने के अन्दर-अन्दर अपनी यूनिटो मे वापिस आ गये, पुरस्कार देने के लिए बाध्य हुआ ।

अपराधो के लिए विकल्प दड के रूप मे सैनिक सेवा का व्यापक प्रयोग होता था । उदाहरणतया हैस (Hess) के लैण्डग्रैव ने मृत्यु दड का विरोध करते हुए उन अभियोगियो को सेना मे भेजा जिनको मृत्युदड दिया गया था और यह भी अब प्रथा थी कि दिवालिया ऋणियो को कैद काटने या सेना मे शामिल होने का अवसर दिया जाता था । जिस घृणा से इस सेना को देखा जाता वह घृणा उनके उत्साह के समरूप थी । जैसा कि फ्रैडरिक महान् के एक समकालीन ने कहा है कि "इनमे न तो देशभक्ति की भावना थी और न ही राजा के प्रति कोई निष्ठा ।" उनको या तो सख्त अनुशासन के अधीन या पुरस्कार के लालच से सगठित रखा जाता था, उनकी सामाजिक उत्पत्ति, सामाजिक प्रतिष्ठा और

उनके द्वारा लडे गए युद्धो के स्वरूप को दृष्टि मे रखते हुए इससे भिन्न कोई बात नही हो सकती थी।[8] एक ऐसी सेना प्राप्त करने के लिए जो युद्ध के उद्देश्यो से मेल खाती हो, एक ऐसा उद्देश्य आवश्यक है जो एक बडे जनसमूह को अपने साथ कर पाए और एक ऐसी सेना चाहिए, जो उस उद्देश्य के दृष्टिकोण से समरूप हो। जब प्रोटैस्टैन्ट और कैथोलिक्स अपने धर्म की प्रधानता के ऊपर परस्पर लडे तब लोगो को सगठित करने वाला उद्देश्य पूर्ण हो चुका था। सीमित युद्ध के काल मे, जब युद्ध उत्तराधिकार के लिए या किसी प्रान्त या कस्बे के अधिकार या राजशोभा के लिए लडे जा रहे थे, जब जनता के कुलीन वर्ग के लोगो के लिये सैनिक सेवा (केवल राजा की ही, किसी और की नही), पैतृक विशेष अधिकार समझी जाती थी। विदेशी आक्रमण के विरुद्ध क्रान्तिकारी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए फ्रांसिसी सशस्त्र राष्ट्र के पास एक समरूप सेना थी जिसके पास एक उद्देश्य था, जिसके लिए वह वफादार थी और मरने तक को तत्पर थी। 1793 का फ्रांसिसी कानून युद्ध के नवीन स्वरूप की प्रथम स्वीकृति था, जिसने 18 से 25 वर्ष के बीच के शारीरिक दृष्टि से योग्य पुरुषो के लिए सैनिक सेवा अनिवार्य कर दी।

जबकि एक विश्वव्यापी सैनिक सेवा से उत्पन्न सेना अपने आप को युद्ध के उद्देश्यो के साथ समरूप करने मे असफल हो सकती थी, यह निस्सकोच रूप मे कहा जा सकता है कि सिद्धान्ततः इस प्रकार से सगठित सेना ही उस समरूपता के पूर्णत योग्य होगी। इसलिए यह आकस्मिक घटना नही कि सीमित युद्ध-

8 ऐडनबर्ग रिव्यू (जनवरी 1803 पृष्ठ 357) में एक गुमनाम लेखक ने सीमित युद्ध की एक और भिन्नता का वर्णन किया है, जिसमें अंग्रेज लोग दक्ष थे। वे राज्य जिन्हें युद्धक्रियाओं में भारी क्षति पहुँचती है, फालतू माल में बहुत ही धनी होते हैं। सैनिक सेवा में कटौती की तरह वे युद्ध की वित्त कटौतियों में भी चपल रहे हैं जिन से स्थायी सेना का मार्ग प्रशस्त हुआ है। वे इस योग्य बन गए हैं कि अपने दरवाजों से युद्ध हटा कर सुरक्षित फासले पर अपने कम धनी मित्र राष्ट्र को पैसा दे कर लड़ें। इस ढग से युद्ध क्रियायें हानिकारक नहीं होतीं और शनै शनै उनके प्रयोग को निष्फल करने की नींव रखी जाती है। कुछ व्यर्थ के लाखों सैनिकों की और इस से अधिक और भी व्यर्थ के जीवों की बलि दी जाती है। शान्ति की कलाएं निरन्तर पनप रही है, कभी-कभी तीव्र प्रगति के साथ। और दूर प्राप्त स्थान पर पराजय को घर में प्राप्त विजय की अपेक्षा पसन्द करने की नीति का फल यह हुआ है कि यह नीति अपने पैसों द्वारा राष्ट्र मित्रों के पराजित होने में, उनकी भूमि पर एक सर्वश्रेष्ठ विजय प्राप्त करने के लाभ में काम आती है। इस प्रकार सुरक्षा प्राप्त हुई, साधनों में वृद्धि हुई, शान्ति को वास्तविक बल मिला, जिसके फलस्वरूप शान्ति के महत्त्वपूर्ण वरदानों को उपभोग करने का आनन्द मिला जो कि आवश्यक युद्ध का वास्तविक लाभ है।

काल, युद्ध के उदासीन नैतिक विचार के समरूप ही पडता है जिसको विषमाग सेनाए लडा करती थी, जिस का सयोजन — बल मुख्यत अनिवार्यता, अर्थ-लिप्सा और साहस-प्रेम था। दूसरी ओर, सम्पूर्ण युद्ध उस सशस्त्र राष्ट्र के समरूप है जो लडे जा रहे युद्ध की न्याय-भावना से ओत-प्रोत है।

इसलिए यह उचित था कि नैपोलियन के युद्ध क अन्त के साथ और बोर्बोन के लोगो (Bourbons) और उनकी विदेशी नीतियो के पुनर्स्थापन पर फ्रास मे अनिवार्य सैनिक भर्ती समाप्त की गई जिसको तीसरे गणराज्य ने पुनर्जीवित किया। पुरशिया के लिए 1807 के और इसके बाद के कानून वही अर्थ रखते थे जो अर्थ फ्रास के लिए 1793 का कानून रखता था। उन्होने किराए के टट्टुओ और विदेशियो को सेना मे सेना बद कर दिया। फलस्वरूप 1814 के कानून मे देश की रक्षा को प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य घोषित किया गया। क्रान्तिकारी फ्रास और स्वतन्त्र युद्ध वाले पुरशिया ने विदेशी आक्रमण के विरुद्ध अनिवार्य सैनिक भर्ती को राष्ट्रीय भावना के साधन के लिए प्रयुक्त किया, फ्रास ने पुरशिया के प्राचीन शासन (ancient regime) के विरुद्ध और पुरशिया ने फ्रास के नैपोलियनीय साम्राज्यवाद के विरुद्ध इसका प्रयोग किया।

सम्पूर्ण जनसंख्या द्वारा युद्ध

बीसवी शताब्दी मे युद्ध का स्वरूप जब बदलता है और इसका उद्देश्य राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और एकता से राष्ट्रवादी सर्वार्थवाद मे बदल जाता है, तब युद्ध मे जनसख्या के योगदान मे तदनुसार वृद्धि होती है। अब न केवल शारीरिक दृष्टि से योग्य पुरुषो को सेना मे अनिवार्य रूप से भर्ती किया जाता है, बल्कि तानाशाही देशो में स्त्री और बच्चो को भी सेना मे भर्ती किया जाता है गैर-तानाशाही देशो मे सहायक सेवाए जैसे वैक्स, वेव्स इत्यादि के लिये स्त्रियो से स्वेच्छापूर्वक सेवा करने की प्रार्थना की जाती है। प्रत्युत हर स्थान पर, सब उत्पादक शक्तियो को युद्ध के उद्देश्यो की पूर्ति के लिये काम मे लाया जाता है। सीमित युद्ध से सामान्य जनसमूह का कम सम्बन्ध था जो आरम्भ मे केवल युद्ध के कारण बढे हुए करो से प्रभावित होते थे, वहाँ बीसवी शताब्दी के युद्ध प्रत्येक व्यक्ति का कार्य बन गए हैं, राष्ट्रीय समरूपता की दृष्टि से ही नही बल्कि सैनिक वा आर्थिक योगदान के रूप मे भी।

इस विकास के लिए दो तत्त्व उत्तरदायी हैं—एक है सैनिक विस्तार और दूसरा युद्ध का यन्त्रीकरण। बीसवी शताब्दी मे पूर्ण रूप से और सम्पूर्ण जनसख्या की अपेक्षा सेना के आकार मे विशाल वृद्धि हुई है। सोलहवी, सत्तारहवी, अठारहवी शताब्दियो मे जब सेना मे धीरे-धीरे वृद्धि हो रही थी,

तब भी 10 हजार से अधिक सेना नहीं थी। नैपोलियनीय युद्धों में कुछ सेनाओं की संख्या कई लाखों तक पहुँच गई। प्रथम महायुद्ध में पहली बार सेना की संख्या 10 लाख तक गई और दूसरे महायुद्ध में सैनिक संस्थाओं में करोड़ों से भी अधिक पुरुष थे।

सैनिक सेवा में व्यस्त आधुनिक इतिहास के भिन्न कालों में जनसंख्या की मात्रा लगभग इन पूर्ण संख्याओं के अनुरूप है। सत्तरहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में जनसंख्या के एक प्रतिशत भाग को एक सैनिक सेवा में लगाना एक ऐसा महान् कार्य था, जिसे कठिनाई से सम्पन्न किया जाता। उस काल में औसतन एक प्रतिशत से अधिक कभी भी जनसंख्या की सेना में भर्ती न की जाती थी। पहले महायुद्ध में योरुपीय शक्तियों ने 14 प्रतिशत जनसंख्या को सशस्त्र किया, दूसरे महायुद्ध में मुख्य युद्ध कर्त्ताओं के अनुरूप अंग इस से कम थे। संयुक्त-राज्य सोवियत संघ और जर्मनी में इसकी संख्या केवल 10 प्रतिशत से अधिक थी। सेना की संख्या में यह कभी युद्ध के यन्त्रीकरण में अत्यन्त वृद्धि के कारण है।

शस्त्र, रसद, परिवहन और संचार और इस के साथ सैनिक संख्या में वृद्धि (जो दस प्रतिशत होते हुए भी पूर्व शताब्दियों के अधिकतम से भी बढ़कर है) वास्तव में सम्पूर्ण सक्रिय जनसंख्या के उत्पादक यत्नों की माँग करती है। तभी सैनिक-व्यवस्था को युद्ध के योग्य बनाया जा सकता है। यह अनुमान लगाया जाता है कि लड़ाई के मोर्चे पर स्थित एक व्यक्ति के पीछे दर्जन पुरुषों की आवश्यकता रहती है। दूसरे महायुद्ध में जर्मनी, सोवियतसंघ और संयुक्त राज्य जैसी महा सैनिक शक्तियों की सशस्त्र सेना एक करोड़ से भी अधिक थी। इस बात का ख्याल रखा जाए कि इस सेना का एक अंश ही वास्तव में युद्धकर्त्ता था। और अधिक सेवक सेनानी थे, जो भी शहरी जनसंख्या का अधिकतम भाग ऐसा था जो उनके लिए शस्त्र, परिवहन, संचार, वस्त्र और पोषण के काम में लगा रहा। इस प्रकार आधुनिक युद्ध वास्तव में सम्पूर्ण जनसंख्या का युद्ध बन गया है।

सम्पूर्ण जनसंख्या के विरुद्ध युद्ध

युद्ध इस लिए सम्पूर्ण नहीं कि प्रत्येक व्यक्ति युद्ध का मानो भागी है, लेकिन इसके साथ इस अर्थ में भी कि प्रत्येक आदमी युद्ध का भावी शिकार भी है। युद्धकालीन विनाश की संख्या, विस्तार में जाने पर अनिश्चित होते हुए भी उक्त बात को स्पष्ट करती है। प्रात आधुनिक इतिहास में ऐसा राष्ट्र है, जो निरन्तर महत्वपूर्ण युद्धों में भाग लेता रहा, उदाहरणतया 1630

से ले कर 1919 तक की फ्रांसीसी मृतक या घायल जनता का यदि हम शताब्दियो के हिसाब से प्रतिशत निकालें तो हम यह पाते है कि 1630 से 1789 तक जब फ्रासीसी क्रान्ति का विस्फोट हुआ, यह सख्या अधिकतम 0 58 प्रतिशत थी, और लघुतम 0 01 प्रतिशत थी । 1790 से लेकर 1819 तक जो नैपोलियनीय युद्धो का काल है, यह सख्या 1 48, 1 19, 1 54 के क्रम में बढ़ती गई, जबकि 1820-1829 के राजवंशीय विदेशी नीति के पुनर्जीवन-काल में यह सख्या कम हो कर 0 001 प्रतिशत हो गई । जबकि शेष उन्नीसवी शताब्दी की सख्या इस पूरे युग के सामान्य चित्र में ठीक बैठती है । बीसवी शताब्दी की दूसरी दशाब्दी मे जो प्रथम महायुद्ध का काल है, यह सख्या सब समयो को पार कर 15 प्रतिशत तक पहुँची । यह बात महत्त्वपूर्ण है जबकि 1630 1829 के काल मे केवल 1720-29 का काल ही एक ऐसी दशाब्दी थी जिस में युद्ध के कारण कोई विनाश नही हुआ था । दूसरी ओर उन्नीसवी शताब्दी में जोकि औपनिवेशिक विस्तार की शताब्दी है ऐसी पाँच दशाब्दियाँ पाई जाती है, जिनमें युद्ध के कारण कोई विनाश नही हुआ ।

जब हम शताब्दियो से चली आई सैनिक सेवा मे मृत्यु की सख्याओ को ध्यान मे रखें तो चित्र समान प्रतीत होता है। ब्रिटेन की मृत्यु-सख्याओ की सूचक वक्र रेखा उन्नीसवी शताब्दी मे नीचे जाकर बीसवी शताब्दी मे बहुत ऊँची जाती है । अपनी सम्पूर्ण जनसख्या के पीछे सैनिक सेवामे सत्तरहवी शताब्दी में प्रति एक हजार के हिसाब से 15, अठारहवी मे 14, उन्नीसवी मे 6, और बीसवी शताब्दी में 1930 तक 48 मृत्यु हुई । अठारहवी शताब्दी मे अनुरूप सख्यायें काफी उँची गई और उन्नीसवी शताब्दी में नैपोलियनीय युद्धो की सीमित लडाइयो के कारण इनमें कोई कमी न हुई । सत्तरहवी शताब्दी में ये आँकडे 11, अठारहवी शताब्दी मे 28, उन्नीसवी में 30 और बीसवी में 1930 तक 63 है । आधुनिक युद्ध की इन सख्याओं द्वारा लक्षित विनाश और भी उग्र हो जाता है यदि हम पूर्व शताब्दियो में उस क्षति को देखे, जो सैनिक क्रिया के बजाय बीमारियो से पैदा होती थी । फलस्वरूप बीसवी शताब्दी में सम्बन्धित और पूर्णरूप से सैनिक क्रिया द्वारा क्षति अधिकतम सीमा तक बढ चुकी है ।

धार्मिक युद्धो की समाप्ति से नागरिक जनसमुदायो को बीसवी शताब्दी के युद्ध मे सैनिक क्रिया द्वारा अपूर्व हानि उठानी पडी है । इसमे थोडा भी सन्देह नही कि दूसरे महायुद्ध मे जो नागरिक हानि सैनिक क्रिया द्वारा हुई, वह सैनिक हानि से भी अधिक थी । जर्मनी द्वारा, जान-बूझ कर मारे गये सैनिको की सख्या कही एक करोड बीस लाख के लगभग हो गई : फ्रास मे जबकि पहले महायुद्ध मे सम्पूर्ण जनसख्या का 15 प्रतिशत भाग मरा या घायल हुआ, दूसरे

महायुद्ध म इसका हिसाब पास मे नही लगाया गया, तो भी सम्पूर्ण विनाश म नागरिक जनसख्या का भाग काफी बढ चुका है। यह बात सोवियत-सघ के सम्बन्ध म भी सत्य है, जिसकी 10 जनसख्या का प्रतिशत भाग मरा या घायल हुआ।[9] इस प्रकार नागरिकों के प्रति आधुनिक युद्ध की ध्वसात्मक प्रवृत्ति निरन्तर सक्रिय रही है। बिनाशकारी युद्ध-साधनो के उन आविष्कारों को अब और भी तीव्र गति से बढा दिया गया है, जिन्हे या तो पहले प्रयोग मे नहीं लाया गया जैसे जीवाणु युद्ध या सीमित रूप में प्रयुक्त की गयी विषैली गैस और नाभकीय शस्त्र।

युद्ध का यन्त्रीकरण

बीसवी शताब्दी के युद्ध मे नागरिको और योद्धाओ के लिए जो अत्यन्त बड चढ विनाश के सामान हैं, युद्ध के यन्त्रीकरण का ही फल हैं। इस सम्बन्ध मे इसके दो परिणाम निकलते हैं—एक यह कि बहुत से शत्रुओ को एक ही क्रिया या अनेक तीव्र क्रियाओ के द्वारा से समाप्त किया जा सकता है, दूसरा यह कि ऐसा काम दूर दूर स्थानो तक हो सकता है। दोनो का विकास पन्द्रहवी शताब्दी म तोप, बारूद और तोपखाने के आविष्कार से हुआ। लेकिन उन्नीसवी शताब्दी के अन्त म काफी मात्रा मे इनको तेज किया गया और केवल हमारे समय म इन प्रवृत्तियो म इतनी तीव्रता आई कि उसने युद्ध की यान्त्रिकी मे क्रान्ति उपस्थित कर दी है।

शस्त्रों का यन्त्रीकरण

इन विकासो म अत्यन्त मन्द गति इनके पहले छह शताब्दियों के इतिहास मे पाई गई और सातवी शताब्दी मे पाई गई अत्यन्त तीव्रता का उल्लेख तोपखाने के इतिहास म मिलता है। 1453 म कुसतुनिया के घेरे में तुर्कों ने जो गोले बरसाए थे, उनका भार 800 पौंड था और व एक मील तक जा सकते थे उनकी गोले बरसाने की गति एक दिन म सात चक्कर और एक रात म एक चक्कर थी। 1650 म 9 पौण्ड वाले गोले सीधे 175 गज तक जा सकते थे। जबकि 200 साल बाद इस वजन की अग्रेजी 9 पौण्ड वाली स्मूथबोर 100

---

9 रूस की हानि के विपरीत आँकडों के लिए देखिए Dudley Kirk, Europe's Population in the Interwar Years (Series of League of Nations Publications II, Economic and Financial, 1946, II A 8), p 69, note 24, p 70, note 28, The World Almanac (1946), p 44, (1947), p 521, (1948) p 552, (1949), p 326 यहाँ पर प्रस्तुत पाठ इन स्रोतों पर आधारित अनुमानों से लिया गया है।

गज तक निशाना लगा सकती थी। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक फ्रांस को छोड बाकी बहुत से देशो मे तोपखाने का गौण और अशोभनीय यन्त्र समझा जाता था जिसके साथ किसी सज्जन का कोई सम्बन्ध न हो। यहाँ तक कि फ्रेडरिक महान् ने तिरस्कारपूर्वक यह पूछा कि तोपखाने का क्या मूल्य है और अच्छे निशाने की कौन सी कला है। तथापि कुछ दशाब्दियो बाद नैपोलियन कह सकता था कि तोपखाने से युद्ध बनता है, और यह अनुमान लगाया जाता है कि इस व्यक्तित्व के एक शताब्दी बाद तोपखाने की दक्षता 10 गुनी बढ़ गई है।

युद्ध के सबसे शक्तिशाली यन्त्र और यन्त्रीकरण के एकाकी प्रतिनिधि तोपखान तथा बन्दूक के प्रति अनादर भाव, पुनर्नियन सेना मे परम्परागत रूप म चलता रहा। चौदहवी शताब्दी मे इसके प्रति घृणा पूर्णतया अनुचित नही थी क्योकि उस समय की बन्दूक को भरने मे विलम्ब लगता था निशाने मे गडबडी थी और क्षेत्र इसका सीमित था (जो अधिकतम 2000 गज का था), परन्तु उन्नीसवी शताब्दी मे गोले बरसाने और आग्नेय-शस्त्रो के क्षत्र म आशातीत वृद्धि हुई, जिसने बीसवी शताब्दी की क्रान्ति को ढाँप सा दिया। उदाहरणतया, जबकि 1850 मे स्मूथबोर बन्दूक जिसे एक मिनट मे हजारो व्यक्ति प्रयोग करते थे, केवल 500 गोलियाँ बरसा सकती थी और उनका क्षेत्र वही था जोकि सोलहवी, सत्तरहवी, और अठारहवी शताब्दी मे फौजी सिपाही की बन्दूक का था—अर्थात 300 गज के लगभग। नीडिल गन के अनुरूपी आकड़ें हैं 1000 रौंद और 2200 गज, 1886 के माडल के 6000 रौंद और 3800 गज, और 1913 म चार्जर बन्दूक के रौंद दस हजार थे और क्षत्र 4400 गज था। 1850 और 1913 के बीच गोलाबारी 20 गुनी वृद्धि हुई और क्षेत्र 16 गुणा विस्तृत हुआ। तथापि आज हमारे पास ऐसी मशीनगनें हैं, जो एक मिनट मे 1000 रौंद मारती हैं और 1000 आदमियो के स्थान पर दस लाख आदमियो का काम करती हैं, जबकि 1913 मे यह सख्या मे 10 हजार की थी और यहाँ तक कि सेमी-आटोमैटिक शोल्डर राइफल उदाहरणतया गैरंड एक मिनट मे 100 रौंद मार सकती है, जिसका अर्थ यह हुआ कि 1913 मे बहुत तीव्र चलने वाले छोटे शस्त्रो की अपेक्षाकृत यह दस गुनी अधिक थी।[10]

इस सम्बन्ध मे 1850 और 1913 के बीच की प्रगति और 1913 और 1938 के बीच की प्रभावशाली प्रगति तब स्पष्ट होती है, जब हम इसकी तुलना

10 ये आकडे सैद्धान्तिक हैं, क्योंकि ये आदर्श परिस्थितियों की ओर सकेत करते हैं जिसमें अधिकतम परिणाम प्राप्त हो सकता है। यह निस्सदेह कहा जा सकता है कि युद्ध की वास्तविक परिस्थितियों मे ये आकडे बहुत कम होते हैं, तथापि उनका सम्बन्ध लगभग सैद्धान्तिक परिस्थितियों के समान रहेगा।

1550 और 1850 के बीच की मद प्रगति से करें। सोलहवी शताब्दी के मध्य मे हस्तगोलो की फेंके जाने की दूरी 100 गज थी और 2 मिनट मे यदि एक रौंद भी मारा जाता ना वह सर्वोत्तम गिना जाता था। प्रथम महायुद्ध मे भारतीय तोपखाने की अधिकतम रेंज 76 मील से अधिक नही थी, (जिसे जर्मनो की 18 4 इच वाली तोपो से प्राप्त किया गया) जिसके निशाने मे महान् चूक थी और तोपे 30 रौंद लगाने के बाद थक जाती थी। इसके विपरीत नियत्रित मिसाइल, दूसरे शब्दा म वह विस्फोटक-यन्त्र जो अपनी ही शक्ति से चलते हैं—का असीमित क्षेत्र है। दूसरे महायुद्ध के अन्त मे एक पूरा सधा हुआ बमवर्षक 1500 मील की दूरी पर अपना काम पूरा करने के बाद अड्डे पर लौट सकता था, और तब से इसकी गति लगभग 6000 मील से अधिक हो गई है। इस प्रकार शताब्दी के मोड पर एक राष्ट्र अपने शत्रु की भूमि मे कुछ मीलो तक हमला कर सकता था। पहले महायुद्ध मे यह गति तोपखाने के लिए 76 मील तक बढ़ी और हवाई जहाज के लिए जो प्रभावहीन और हल्का भरा रहता—कुल सौ मील थी और दूसरे महायुद्ध मे यह लगभग 1500 मील थी और आज यह असीमित है। बीसवी शताब्दी के मध्य मे युद्ध सम्पूर्ण बन गया है और वस्तुत. सम्पूर्ण भूखड किसी भी उस देश के द्वारा युद्ध का अखाड़ा बन सकता है, जो इस काल के यान्त्रिक साधनो से सुसज्जित है।

युद्ध के शस्त्रो मे विश्व—व्यापी विस्तार का आधुनिक युद्ध के स्वरूप और समकालीन विश्व—राजनीति पर प्रभाव कम या अधिक अर्थ रखता है, और यह इस बात के अनुसार है कि क्या युद्ध की ध्वसात्मक वृद्धि इन शस्त्रो के क्षेत्र मे वृद्धि के अनुपात मे है या नही। इस शताब्दी मे, विशेषकर इसकी पाँचवी दशाब्दी मे, ध्वसात्मक महावृद्धि के द्वारा आधुनिक युद्ध ने अपने यन्त्रो के सम्पूर्ण क्षेत्र की शक्तियो को सम्पूर्ण युद्ध की वास्तविकता मे बदल दिया है।

तोपखाने के आविष्कार होने तक और समुद्री युद्ध को छोड कर, एक आदमी की सैनिक क्रिया एक से अधिक शत्रु को खत्म नही कर सकती थी। तलवार से या बर्छी और भाले से, या फौजी बन्दूक से एक प्रहार अधिक से अधिक एक शत्रु को बेकार बना सकता था। मध्यकाल के अन्त मे यन्त्रीकरण के प्रति पहला पग तब उठाया गया, जब युद्ध म प्रयोग किया हुआ बारूद इस योग्य नही था कि वह एक सैनिक क्रिया द्वारा एक ही मृतक शत्रु के इस अनुपात को बढा सके। लेकिन बात उल्टी रही, प्रारम्भिक बन्दूक को भरने और चलाने के लिए साठ भिन्न क्रियाओ की आवश्यकता पड़ती और इसको चालू करने मे एक से अधिक आदमी चाहिएँ थे और फिर निशाना इतना अस्पष्ट होता था कि जिससे लक्ष्य पर कम मात्रा मे गोलियां ठीक बैठती, और केवल एक आदमी ही मारा

जाता था। जहाँ तक तोप का सम्बन्ध है, इसके लिए बहुत संख्या मे लोगो की आवश्यकता पड़ती, जो इसको भरते और व्यवस्थित करते और यदि निशाना चूक जाता तो सामूहिक श्रम व्यर्थ जाता। और जब गोली निशाने पर पड़ती तो इससे 20 से अधिक लोग कभी न मरते, जिनको आसानी से गिना जा सकता था।

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम भाग मे मशीनगन के आविष्कार से परिस्थिति मे तीव्र परिवर्तन हुआ। इस यन्त्र से एक व्यक्ति एक बार मे सैकडो रौंद प्रभावशाली रूप मे चला सकता था जो वास्तविक युद्ध की परिस्थितियो में स्थापित न हो पाता था, पर जिसने एक बारी मे उतने शत्रु मारे जाते जितनी गोलियाँ होती। लगभग इसी काल मे तोपखाने मे महान् सुधार हुआ और इसके बाद वायु और गैस वाले युद्धो में निरन्तर विकास हुआ जिससे एक बारी मे एक या कुछ आदमियो द्वारा विशाल सख्या मे शत्रु मारे जाते। पहले महायुद्ध मे इनकी सख्या सैकडो थी और इसमे मशीनगनो से आक्रमणकारी स्थल-सेना को मारने से भयकर हानि हुई। वस्तुत: दूसरे महायुद्ध के सम्पूर्ण काल मे एक ब्लोकबूस्टर (एक घातक अस्त्र) द्वारा एक ही प्रहार में 1000 से भी अधिक व्यक्ति मारे गये थे और यह अनुमान किया जाता है कि वायुयान द्वारा बम-वर्षा से जितने आदमी मारे गए, उनकी सख्या फैंके गए बमों के बराबर थी।

परमाणु युद्ध[11] और जीवाणुयुद्ध ने इस क्षेत्र मे ऐसी क्रान्ति उपस्थित कर दी है जो कुछ दशाब्दियो पूर्व मशीनगन द्वारा पैदा की गई क्रान्ति से भी बढ़कर है। दूसरे महायुद्ध के अन्त मे कुछ व्यक्तियो ने एक परमाणु बम फैंक कर कई लाख शत्रुओ को बेकार बना दिया। जहाँ एटमबम की शक्ति ने इतनी भारी ध्वसात्मक वृद्धि की है, वहाँ उसके साथ रक्षा के साधन वैसे के वैसे ही शक्तिहीन रहे हैं। ऐसी स्थिति मे यदि एक नाभकीय बम जो बहुत घनी आबादी वाले इलाके पर डाला जाए तो करोडो व्यक्ति मर जाएगे। कुछ शक्तिशाली नाभकीय बमो की ध्वसात्मक शक्ति उन सब बमो के बराबर है, जो दूसरे महायुद्ध मे फैंके गए थे। जीवाणु—युद्ध मे जो नाश की शक्तियाँ मौजूद हैं, वे सब से शक्तिशाली नाभकीय बम से भी अधिक हैं, जिनके द्वारा विशेष महत्त्वपूर्ण स्थानो पर जीवाणु सामग्री सरलता से व्यापक रोग उत्पन्न कर सकती हैं जिसका प्रभाव असीमित जनसख्या पर पड़ेगा।

11. जब हम परमाणु यन्त्रों की बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय न केवल परमाणु बमों से होता है परन्तु परमाणु शक्ति से निकाले गए उन तमाम युद्ध के यन्त्रों से है जैसे कि परमाणु गोलियाँ, हाइड्रोजन बम और रेडियो-सक्रिय मिट्टी और गैस।

परन्तु पृथ्वी के हर उस स्थान पर लाखों की संख्या मे नाश करने वाले यन्त्र इससे अधिक कुछ और नही कर सकते और उस सीमा तक सैनिक और राजनीतिक योजना मे ये निषेधार्थक तत्त्व है, जो शत्रु की सामना करने की दृढता को अस्त-व्यस्त कर सकते है, लेकिन वे अपने आप न तो कोई चीज जीत सकते हैं और न ही जीती हुई चीज को सुरक्षित रख सकते है। सम्पूर्ण युद्ध की फल —प्राप्ति के लिए और इन्हे स्थायी राजनीतिक लाभो मे बदलने के लिए परिवहन और सचार के यन्त्रीकरण की आवश्यकता है।

परिवहन और संचार का यन्त्रीकरण

वास्तव मे कही भी यन्त्र—सम्बन्धी प्रगति ने पिछले दशक में इतना उग्र रूप धारण नही किया, जितना कि परिवहन और सचार की सरलता और गति ने किया। यह निस्सकोच रूप से कहा जा सकता है कि बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जितनी प्रगति इस सम्बन्ध में हुई है, वह पूर्व इतिहास में की गई प्रगति से भी अधिक है। यह कहा गया है कि 1834 में सर राबर्ट पील को रोम से लदन जाते हुए 13 दिन लगे थे, ताकि वह मन्त्रीमडल की बैठक में उपस्थित हो सके, और यह समय उस समय के बराबर था जो कि रोम के सरकारी अफसर को सत्तरहवी शताब्दी और उससे पहले के सफर मे लगता था। उन्नीसवी शताब्दी के मध्य तक लिखित इतिहास मे भूमि और सागर मे यात्रा की अधिकतम गति 10 मील प्रति घटा थी और यह गति भूमि पर कठिनाई से ही सम्भव थी। बीसवी शताब्दी के शुरू मे सब से तेज चलने वाली गाडी की गति पृथ्वी पर बढ कर 65 मील प्रति घटा हो गई और वह गति के तब तक के इतिहास मे प्राप्त गति से साढे छः गुना थी। समुद्री जहाजो की यात्रा की गति 36 मील प्रति घटा हो गई, जो पहली अधिकतम गति की साढे तीन गुनी थी। आज हवाई जहाज की अधिकतम गति 600 मील प्रति घटा है अर्थात् 4 दशाब्दियो पूर्व की यात्रा की गति से यह दस और बीस गुनी क्रमश अधिक हो गई है और एक शताब्दी पूर्व की अपेक्षा यह 60 गुनी से भी अधिक है।

1790 मे बोस्टन से न्यूयार्क जाने के लिये जो 200 मील की दूरी पर है, चार दिन लगते थे। आज उतने ही समय मे, किसी भी मौसम में सारे भूमडल का चक्कर लगाया जा सकता है। जितना समय 150 वर्ष पहले, यात्रा की गति की दृष्टि से फिलेडिलेफिया और मास्को तक जाने मे लगता था अब उतने ही समय में मास्को से न्युयार्क पहुँचा जा सकता है। मास्को अब न्यूयार्क के इतने निकट हैं जितना फिलेडिलेफिया सौ वर्ष पहले था और सारा भूमडल 13 राज्यों के लगभग है, जिससे सयुक्त राज्य अमेरिका बना था। यह विकास पिछले कुछ वर्षों मे विशेषकर इतना तीव्र रहा

कि निरीक्षको के अनुमान पीछे रह गए। इसका दृष्टान्त प्रोफेसर सेटेले के उस प्रश्न से मिलता है जो उन्होने 1939 मे इससे सम्बन्धित समस्याओ की चर्चा करते हुए पूछा था, "क्या 25 वर्षों मे 300 मील प्रति घंटे के परिवहन की गति असम्भव है[12]"? 1950 मे सबसे तेज चलने वाले मुसाफिर हवाई-जहाज की गति प्रोफेसर सेटेले के 1946 के अनुमान से दुगुनी थी। जनरल मोटर्स ने 1936 मे भावी रूप मे यह कहा कि 1960 मे सड़को पर चलने वाली कारो की सख्या 3 करोड और 80 लाख तक हो जाएगी, वास्तव मे 1960 मे इसकी सख्या दुगुनी थी।

यन्त्र-सम्बन्धी प्रगति, जो मुसाफिरो की यात्रा मे हुई है, वह रसद के परिवहन के महत्त्व के अनुरूप है, क्योकि दोनो परिस्थितियो मे यन्त्र सम्बन्धी साधन वास्तव मे एक जैसे है। केवल एक भिन्नता जो हम स्थलीय रसद परिवहन की तीव्रता मे पाते हैं, उसका कारण यह है कि इसका प्रारम्भ बहुत ही निम्न गति से हुआ था। आज भारी सामान को छोड कर रसद का परिवहन इतना सरल है जितना व्यक्तियो का, लेकिन रेल व सडक के आविष्कार से पहले रसद के परिवहन पर व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक प्रतिबन्ध थे। जर्मनी मे उन्नीसवी शताब्दी के मध्य के पूर्व रेल और सडक के आविष्कार पर रसद परिवहन की गति आठ गुनी हो गई थी, जबकि व्यक्तियो के लिए अनुरूप वृद्धि पाँच गुनी से अधिक नही थी।

मौखिक और लिखित सचार के क्षेत्र मे समरूप विकास व्यक्तियो और रसद के परिवहन की तुलना मे अपूर्व है। उन्नीसवी शताब्दी में तार के आविष्कार से पूर्व मौखिक और लिखित सचार की गति यात्रा की गति जैसी थी। दूसरे शब्दो मे, सचार के साधनो की गति दृश्यमान सकेतो (विजिबिल सिगनल्स) को छोड कर उतनी थी जितनी की परिवहन के साधनो की साधारण गति थी। उन्नीसवी शताब्दी के आविष्कारो से इस सचार-गति को दिनो और सप्ताहो की आवश्यकता ने घटाकर घटो मे कर दिया। रेडियो और टैलीविजन के द्वारा सचार की गति ध्वनि की गति के समान हो गई है।

सम्पूर्ण दाव के लिये युद्ध

इस यन्त्र-सम्बन्धी विकास ने सचार की विजय को यान्त्रिक दृष्टि से सम्भव बना दिया है और इस बात की यान्त्रिक सम्भावना है कि वह उस को विजय परिस्थिति मे रखें। यह सत्य है कि इससे पहले भी वहाँ सम्राट हो चुके हैं।

12. Eugene Staley, World Economy in Transition (New York: Council on Foreign Relations, 1939 p. 13)

मैंकीदूनियाँ का साम्राज्य ऐड्रीआटिक से लेकर सिन्ध तक फैला हुआ था, रोमन साम्राज्य ब्रिटिश द्वीपों से ले कर काकेसस तक और नेपोलियन की विजय जिबराल्टर से लेकर मास्को तक फैली हुई थी। तथापि ये महान् सम्राट् या तो टिक नहीं पाए और अगर टिके तो उसका कारण शासक की सभ्यता और यान्त्रिक भिन्नता में तथा जनता से उनकी अपेक्षाकृत प्रधानता में निहित था। रोमन साम्राज्य का विस्तार इस बात का दृष्टान्त है। इसकी अधिकतर चालें राजनीतिक दृष्टि से शून्य स्थानों में औपनिवेशिक विस्तार में मिली हैं, और इन का सम्बन्ध प्रथम श्रेणी के प्रतियोगियों को हराना नहीं था। दूसरे साम्राज्य यद्यपि ज्यादा देर न टिक सके और परिचित राजनीतिक विश्व को जीतने में असमर्थ रहे, क्योंकि उन यान्त्रिक साधनों का अभाव था जो कि विशाल विस्तृत भूमि पर बसने वाली महान् जनसंख्या पर स्वामित्व और स्थायी नियंत्रण स्थापित करने के लिए आवश्यक है।

स्थिर विश्वव्यापी साम्राज्य के लिए जिन यान्त्रिक पूर्व शर्तों की आवश्यकता है वे तीन हैं — (1) प्रथम यह कि साम्राज्य का जनता के हृदयों पर केन्द्रीय नियंत्रण द्वारा बाधित सामाजिक एकीकरण हो, (2) दूसरा यह, कि साम्राज्य में समस्त विघटन-बिन्दु पर सर्वश्रेष्ठ संगठित शक्ति हो, और (3) तीसरा यह कि साम्राज्य में नियंत्रण और प्रवर्तन के इन साधनों में स्थिरता और अटलता हो। भूतकाल में इन तीन सैनिक और राजनीतिक पूर्व शर्तों में कोई पूरी नहीं उतरी फिर भी हमारे समय में इन को प्राप्त किया जा सकता है।

तब संसार के साधन यन्त्रहीन थे और जहाँ कहीं यान्त्रिक थे वे कठोर रूप में व्यक्तिगत, और इसलिए विकेंद्रीय थे। समाचार और विचारों का संचार मुँह के शब्दों द्वारा या पत्रों द्वारा या उस छापेखाने द्वारा होता था, जिसका एक व्यक्ति संचालन कर सकता था। तब इस क्षेत्र में भावी विश्व-विजयी को लगभग समतल पर असीमित प्रतिरोधियों द्वारा मुकाबला करना पड़ता। यदि वह उनको पहचान या जान जाता तो वह अपने प्रतिरोधियों को या तो जेल में डाल देता था या मार देता। परन्तु वह समाचार पत्रों, रेडियो और गतिशील तस्वीरों के एकाधिकार स्वामित्व के संग्रह द्वारा उनकी आवाज को दबा नहीं सकता था। उन्नीसवीं शताब्दी से पहले सेन्ट पाल एक नगर से दूसरे नगर जा सकता था और कोरीनथीअन्स तथा रोमन्स को पत्र लिख सकता एवं धर्म का प्रचार कर सकता था और वही सब कुछ था जिसे रोमन साम्राज्य के धार्मिक प्रतिनिधि कर सकते थे। और जब उसे फाँसी दी गई तो वह अपने पीछे हजारों चेले छोड़ गया, जो उसके पीछे उसके कार्य को राज्य के प्रतिनिधियों से मुकाबले में अधिक प्रभावशाली रूप में कर सकते थे। समाचार और उस मगैजीन के

बिना, जिसमे उसके सदेश छप सकें, रेडियो-विस्तार के बिना जिसके द्वारा उसके भाषण व्यक्त हो, समाचार दर्शन और टैलीविज़न आदि के बिना, जिसमे वह जनता के समक्ष प्रत्यक्ष प्रकट हो सकें और सम्भवत: डाकखाने के बिना, जिसके द्वारा उसके पत्र भेजे जा सकें, और आज्ञापत्र के बिना, जिससे वह राष्ट्रीय सीमाओ को पार कर सकें, भावी विश्व-साम्राज्य मे सेण्ट पाल क्या कर सकता था ?

जैसाकि हम पहले बता चुके हैं कि हिंसा के साधन पूर्वकाल मे अधिकतर अयान्त्रिक तथा सर्वदा व्यक्तिगत और विकेन्द्रीय थे। यहाँ पर विश्व-साम्राज्य के भावी जन्मदाता उत्कृष्ट व्यवस्था और परिशिक्षण के लोगो को छोड कर बाकी सब के साथ समता का व्यवहार करते थे। प्रत्येक पक्ष के पास वास्तव मे एक प्रकार के यन्त्र थे जिससे वे काटते, घोपते और निशाना मारते। विजयी को अपने साम्राज्य की स्थापना के लिए असम्भव कार्य करने पडते थे, जिससे वह हर स्थान पर सम्भव शत्रुओं पर सगठित शक्ति की वास्तविक उत्कृष्टता स्थापित कर पाता। इस प्रकार मैंडरिड के निवासी 3 मई 1808 मे फ्रासीसी विजेताओ के विरुद्ध वही शस्त्र प्रयोग कर सकते थे, जो प्रतिरोधी के शस्त्रो जैसे थे और जिनकी सहायता से उनको नगर से निकालना था, विश्व-साम्राज्य की सरकार रेडियो द्वारा सूचना पाकर कुछ घटो मे ही बमवर्षको का दल, तथा हवाई छातो मोटरो, टैंको और एकाधिकार पूर्ण शस्त्रो से परिपूर्ण परिवहन के बीसो साधन प्रतिरोधी नगर को भेज सकती, जिससे विद्रोह सरलता से दबाया जा सकता था। इतनी महान् शक्ति के हस्तक्षप की धमकी, जो किसी भी समय किसी भी स्थान पर जा सकती है विद्रोह के विचार को दबाने मे समर्थ होगी।

अन्त मे परिवहन के यन्त्रीकरण ने विश्व-साम्राज्य के जन्मदाता को जलवायु और भौगोलिक स्थिति की अनुकूलता की इस पराधीनता से मुक्त कर दिया है, जिसने नेपोलियन का काम तमाम कर दिया था और कम परिवर्तनशील अल्प लालायित नेताओ को विश्व-विजय के विचार से रोका था। उन्नीसवी शताब्दी मे इस सम्बन्ध मे विश्व-विजय के मार्ग मे एक बडी बाधा यह थी कि वर्ष के अन्त मे सर्दी मे और आरम्भिक वसन्त मे लडाई को रोका जाए, क्योकि मैदान मे विपरीत मौसम मे सेना को सुरक्षित रखना और इसे जीवन की आवश्यकताए और युद्ध के शस्त्र पहुँचाना असम्भव था। इसलिए यदि शत्रु को एक लडाई मे पूरी तरह न पछाडा जाता, तब उसे अगली बार नई लडाई का अवसर मिल जाता। युद्ध तब मल्लयुद्ध जैसा प्रतीत होता था, जिसमें हर दाँव के बाद मध्यान्तर मे इतना समय रहता, जिसके बीच दुर्बल विरोधी यदि वह मूर्छित

न हो तो पुनः मैदान में आ सकता था। इस अवस्था में विश्व-विजय का विचार करना महामूर्खता थी, क्योंकि एक ऋतु की जीत को अगली बार फिर प्राप्त करना पड़ता, क्योंकि विजय विनाश और जीत की अपेक्षा पराजित की थकान का परिणाम अधिक होती थी, यहाँ तक कि यह बात विजयी के आवश्यक साधनों के बाहर की थी कि हर बसन्त ऋतु में वह नित्य नए शत्रु पकड़े जब तक कि वह संसार को जीत नहीं लेता।

वह दुस्साहसी होते हुए भी विश्व-विजय के मार्ग को अपनाता तो भी वह बहुत दूर नहीं जा सकता था। पराजित इलाकों में सशस्त्र शक्ति की सर्वश्रेष्ठता रखने में असमर्थ होने के कारण, उसे निरन्तर विद्रोह की सम्भावना रहती, जिस का वह समय पर मुकाबला करने में असमर्थ रहता। संचार की मन्दता और परिवहन की यान्त्रिक कठिनाइयों के कारण भावी विश्व-विजयी के लिए यह असम्भव था कि वह अपनी स्थिर जीत को दृढीभूत कर पाए। जितना दूर वह अपने साम्राज्य की सीमा को बढ़ाता उतनी उसके पतन की सम्भावना रहती। नेपोलियन का साम्राज्य 1812 में जितनी शक्ति के शिखर तक पहुँच चुका था, उतना ही वह पहले की अपेक्षा विघटन के अधिक निकट था। जब नेपोलियन अपने राज्य की सीमाओं पर लड़ रहा था और उन्हें अपने शक्ति के फ्रांसीसी स्रोतों से और अधिक फैला रहा था, तब उसकी जीत के शिकार उसके पीछे आज़ाद होने की तैयारी कर रहे थे। जब उन्होंने अंग्रेजी और रूसी तटस्थ व अपराजित साधनों की सहायता से आक्रमण किया, तब नेपोलियन सेना का अधिकांश भाग को, जो बहुत दूर था, उसे शरद ऋतु की प्रतिकूलता और अत्यन्त क्षति में विद्रोहियों के सामने लाना पड़ा और जहाँ उन्हें वह मार खानी पड़ी जिसको पराजित ने, न कि विजयी ने चुना था।

आज भावी विश्व-विजयी के पास ऐसे यान्त्रिक साधन हैं, जिससे वह एक बार प्राप्त किए लाभों को सुनिश्चित एवं सुदृढ़ कर सकता है, क्योंकि पराजित इलाकों में हर स्थान पर और हर समय पर ऋतु और फासले से मुक्त उसके पास संगठित शक्ति की उत्कृष्टता होती है। आधुनिक विद्रोह जो आज के विजेता हवाई सेना के अड्डे से हजारों मील दूर होता है, वह नेपोलियनीय परिवहन की यान्त्रिकी की दृष्टि से पाँच मील की दूरी पर होता है, और नेपोलियनीय संचार की यान्त्रिकी की दृष्टि से किसी निकटस्थ कोने में घटित होता है। दूसरे शब्दों में, विजयी इस अवस्था में होता है कि वह जन-प्रचार के आधुनिक यन्त्रों को तात्कालिक रूप में कार्य में ला सके, जिससे वह विरोधियों को उनके

कारनामों से रोक सके। कुछ घंटो में वह अपनी संगठित शक्ति की सर्वश्रेष्ठता का प्रभाव क्रान्तिकारियों पर प्रभावशाली रूप में डाल सकता है।[13]

इस प्रकार एक बार की जीत सर्वदा के लिए होती है, यदि हम इसे यान्त्रिक दृष्टिकोण से देखें और यदि सरकार की गलतियों विदेशी हस्तक्षेप या साम्राज्य की अन्दर की राजनीतिक और सैनिक आकस्मिकताओं को छोड़ दें। इन शर्तों के साथ एक बार विजित लोग सर्वदा विजित रहेंगे, क्योंकि उनके पास विद्रोह के साधन नहीं होते, और अवसर ऐसे होते हैं, जिससे विजयी संचार के साधनों पर एकाधिकारी नियन्त्रण के द्वारा विद्रोह की इच्छा से उन्हें वंचित कर देगा, जैसाकि एडमिन बर्क ने कहा है हमें हर व्यक्ति ■ उसकी कहानी प्रात और सायकाल सुननी चाहिए और बारह मास में वह हमारा स्वामी बन जाएगा।'[14]

आज कोई भी यान्त्रिक बाधा विश्वव्यापी साम्राज्य के मार्ग में नहीं है, यदि शासक राष्ट्र इस योग्य हो कि वे यान्त्रिक साधनों की प्रधानता में अपनी उत्कृष्टता बनाए रखे। एक राष्ट्र जिसके पास नाभकीय शस्त्रों का और परिवहन और संचार के प्रमुख साधनों का एकाधिकार है, वह संसार को जीत सकता है और पराजित कर सकता है, यदि वह वैसा एकाधिकार और नियन्त्रण स्थापित करने की योग्यता रखता हो। सर्वप्रथम वह अपने विश्व साम्राज्य के नागरिकों के मनों को समर्पण की स्थिति में ढालने के योग्य होगा, जिसका अच्छा नमूना हमें निकट भूत और वर्तमान् के समष्टिवादी समाजों से मिलता है। इस बात को स्वीकार करते हुए कि सरकार ठीक रूप में प्रभावशाली है विद्रोहियों की इच्छा छिन्न-भिन्न हो जाएगी और हर अवस्था में उनमें राजनीतिक और सैनिक महानता का अभाव रहेगा। दूसरी बात यह है कि विद्रोही प्रयत्न का मुकाबिला सर्वश्रेष्ठ शक्ति की तीव्र प्रतिक्रिया से होगा जिस से यह प्रारम्भ से ही निष्फल हो जाएगा। अन्त में, आधुनिक यान्त्रिकी ने यह सम्भव कर दिया है कि विश्व

13 *1944* में हिटलर के विरुद्ध षड्यन्त्र की असफलता सरकार की सर्वोत्कृष्टता की द्योतक है, चाहे विद्रोह शासन सेना की टुकड़ी द्वारा ही क्यों न किया गया हो, यह विशेषकर सरकार द्वारा नियन्त्रित आधुनिक जन संचार के निश्चित महत्त्व को प्रकट करता है, क्योंकि सम्पूर्ण व्यावहारिक उद्देश्यों के दृष्टिकोण से यह हिटलर की आवाज़ थी, जिसको रेडियो द्वारा लोगों में और विद्रोह के नेताओं में प्रसारित किया गया और जिसने अन्तिम निर्णय सरकार के पक्ष में किया। अद्वितीय वर्णन के लिए देखिए Allen W Dulles, Germany's Underground (New York The Macmillan Co 1947)

14 "Thoughts on French Affairs", Works, Vol IV (Boston Little, Brown, and Co 1889) p, 328

के हर कोने मे भूगोल और ऋतु का विचार न करते हुए मन और क्रिया पर नियन्त्रण बढाया जाए।

सम्पूर्ण यन्त्रीकरण, सम्पूर्ण युद्ध और सम्पूर्ण प्रभुत्व

आधुनिक युद्ध के यन्त्रीकरण और इसके सैनिक और राजनीतिक निगूढ अभिप्रायो का यह विश्लेषण पूरा नही होगा, यदि पाश्चात्य सस्कृति के सम्पूर्ण यन्त्रीकरण को न विचारा जाए, जिस की युद्ध सम्बन्धी यन्त्रीकरण एक विशेष अभिव्यक्ति है। क्योकि उस सम्पूर्ण यन्त्रीकरण के बगैर आधुनिक राष्ट्र लडाई मे इतनी विशाल सेना नही जुटा सकते और न ही उन्हे सामग्री और शास्त्र दे सकते है। सम्पूर्ण युद्ध मे सम्पूर्ण यन्त्रीकरण पहली शर्त है और युद्ध उस मात्रा मे सम्पूर्ण होता है, जिस मात्रा मे युद्धग्रस्त राष्ट्रो का यन्त्रीकरण हो।

इतिहास के आरम्भ से अमरीकी गृहयुद्ध और 1870 के फ्रासीसी-पुरशियन युद्ध तक सारी सैनिक गतियाँ मुख्य मानव शक्ति द्वारा होती थी। पुरुष अपने को और युद्ध-साधनो को अपनी पेशियो द्वारा या पशु पेशियो द्वारा उठाते थे। सारी सैनिक गतियाँ और शस्त्रो या सेनाओ की सख्या और गुण पुरुषो और पशुओ की उपलब्ध प्राकृतिक शारीरिक शक्ति के गुण और मात्रा द्वारा निर्धारित होती थी। 1870 मे जर्मन सेना ने पहली बार-गृह-युद्ध मे छोटे मोटे प्रयत्नो के बाद रेल व सडक के परिवहन के साधनो का विधिवत प्रयोग किया। इस प्रकार जर्मनो ने युद्ध-कौशल और युक्ति की दृष्टि से फ्रासीसियो पर अधिक लाभ उठाया।

यहाँ तक कि 1899 मे बोअर युद्ध के बीच एक पाँच इची तोप को खीचने के लिए 22 बैलो को जोतना पडा। अति मन्दता, मानवीय प्रयत्नो का अतिक्रमण करने वाली सख्या की स्वाभाविक सीमायें, और चारे की प्राप्ति और परिवहन ने ऐसे छिडे युद्धो को सुस्त और निष्क्रिय बना दिया। शान्ति और युद्ध मे पुरुषों की उत्पादन-शक्ति मे यदि कई गुनी वृद्धि हुई तो उस का कारण शारीरिक शक्ति नही, परन्तु कोयले पानी और तेल द्वारा उत्पन्न शक्ति है, जो भाप-इजन के रूप मे प्रकट हुई। इगलैण्ड के सम्बन्ध मे बोलते हुए प्रोफेसर जेम्स फेअरग्रीव इस विकास के प्रति कोयले के योगदान का वर्णन करते है :—

डेढ शताब्दी पूर्व इस कृषि और चरागाह के ससार मे यहाँ छोटी मडी वाले नगर थे, जिन मे कुछ बन्दरगाह और सरकारी शहर थे, तभी औद्योगिक क्रान्ति शुरू हुई। घरेलू काम मे इधर-उधर प्रयोग आने वाला कोयला मशीन चलाने के काम आने लगा, जो एक आदमी और पशु तो क्या अनेक आदमियों और पशुओ से भी अधिक काम कर सकता था। मनुष्य ने बाहरी शक्ति का सग्रह किया जो

उस के हाथो के स्थान पर काम करती । यहाँ शक्ति का नया और विशाल संग्रह था, जिससे वे सब कार्य हो सकते थे, जो पहले नही हो सकते थे। आदमी इस योग्य हो गया कि वह शक्ति को एक विशाल स्तर पर प्रयोग कर सके—मनुष्य के कपडे अन्तिम सिलाई तक तैयार होते हैं कि उसे घर मे कम कपडे बनाने पडते है, उस का खाना तैयार हो कर मेज पर आ जाता है। फलस्वरूप घर में इसे कम बनाना पडता है, और विशाल नगरो मे खाना बनाने का इतना विशाल उद्योग बन गया है कि वह दिन या रात को किसी समय अपनी जेब और स्वाद के अनुसार खाना ले सकता है।

यह अनुमान लगाया गया कि दूसरे प्रयोगो को निकाल कर हमारे कारखानो में प्रयोग होने वाला कोयला 175,000,000 श्रमिको के बराबर शक्ति देता है और इस लाभदायक रूप मे जो कभी आदमी प्रदान नही कर सकता था। यूनान ने मानव प्रगति की और सब दिशाओ मे महान् चीजे प्राप्त की। औसतन प्रत्येक स्वतन्त्र यूनानी और प्रत्येक यूनानी परिवार के पीछे 5 दास काम करते, जिन को हम यूनानी नही कहते। तथापि इन आदमियो से यूनानी शक्ति का महान् भाग प्राप्त किया जाता। इगलैण्ड मे हम कह सकते हैं कि प्रत्येक परिवार के पास बीस से भी अधिक दास है, जो शक्ति प्रदान करते है और जिन्हे खाने की कोई आवश्यकता नही और न ही जिन्हे दास-जीवन की थकान और निराशा अनुभव करनी पडती है। 4½ करोड पुरुष, नारी और बच्चो सहित जनसख्या वाले, इगलैण्ड के कारखाने 17½ करोड पुरुष-शक्ति द्वारा काम होता है। मशीनो को प्रदान की गई शक्ति की तुलना मे, जिससे सब काम यान्त्रिक रूप मे होते दो करोड नर-नारी की शारीरिक शक्ति कुछ मूल्य नही रखती। हम इजीनीयरो का एक राष्ट्र बन गए हैं, बटन दबाते हैं, उत्तोलक (लीवर्स) खीचते है, तेल देते है और सामान पैक करते हैं, जिस से महान् सामाजिक मशीन सम्भव सुविधा और सरलता से काम करेगी। निर्जीव दास हमारा अनाज पीसते है, हमारे कपडे बनाते हैं, पृथ्वी के दूर कोनो से खाद्य लाते है, काम और खेल के लिए हमे इधर से उधर ले जाते हैं, हमारे समाचार और हमारी ज्ञानपूर्ण पुस्तकें छापते है, और अनेक सेवाएँ करते हैं, जिसका यूनानी स्वप्न भी नही ले सकते थे। संयुक्त राज्य मे प्रत्येक पुरुष स्त्री और बच्चे के पीछे अट्ठी के 50 निर्जीव दास पाए जाते है।[15]

इस यन्त्रीकरण के द्वारा श्रम मे महान् बचत है। प्रोफैसर फेयरग्रीव को पुन उद्धृत करते हुए कहा जा सकता है कि 1855 और 1894 के बीच

15 **Geography and World Power (8th ed London University of London Press Ltd, 1941). pp. 314–17, 326 (Reprinted by permission of the publisher)**

भारतीय अनाज की एक बुशेल के पैदा करने मे जो औसतन 4½ घन्टे लगते थे, उस औसत श्रम के घटकर अब ¾ घन्टे हो गए हैं। 1830 और 1896 के बीच गेहू के एक बुशेल पैदा करने म तीन घन्टों का मानव-श्रम कम हा कर 10 मिनट हो गया।[16] 1952 मे अमरीकी फरमो की उपज इतिहास मे अधिकतम थी, जब कि इसी साल कृषि मे लगे हुए लोगो की सख्या पिछले 80 सालो मे सब से कम थी। जब कि औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देशो मे 90 प्रतिशत लोग कृषि मे लगे हुए थे, सयुक्त-राज्य मे सम्पूर्ण जनसख्या का 50 प्रतिशत भाग 1870 मे कृषि मे लगा था, जो पचास प्रतिशत मे कम होकर 1940 मे बीस प्रतिशत रह गया। और जब 1910 से 1914 तक सयुक्त-राज्य की जनसख्या का ⅓ भाग खेती मे जुटा हुआ था, तो राष्ट्रीय आय का 12 4 प्रतिशत भाग पैदा करता था। 1914 मे अनुरूपी आकडे जनसख्या का 22 7 प्रतिशत और राष्ट्रीय आय का 7 8 प्रतिशत थे और 1952 में ये आंकडे जनसख्या का 15 9 प्रतिशत और राष्ट्रीय आय का 6 4 प्रतिशत थे।

प्रोफैसर होरनैल हार्ट उद्योग मे ऐसी ही प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत करते हैं :—

1730 तक, उदाहरण के रूप मे, कातने का काम हाथ द्वारा होता था, जुलाहा धीरे धीरे मेहनत से एक समय पर एक तार निकाल सकता था। पिछले 200 वर्षों से मशीन ने यह कम इतना क्रातिकारी कर दिया है कि एक कारीगर 125 तकलियो का ध्यान रखता है, जो एक मिनट मे 10,000 बार की रफ्तार से घूमती है। फिलपीन्ज़ मे जहां कला अभी तक भी प्राचीन मानवशक्ति के स्तर पर है, खोपडे (Copra) का एक माल लादने मे 200 से 300 तक कुली लगते हैं, सान-फ्रासीसको मे मशीन युग की अर्थ-व्यवस्था के कारण 16 आदमी जहाज खाली करने मे समय का ⅕ भाग लेते हैं जो इसके लादने मे लगता है। मानव-शक्ति से लादने वालो की अपेक्षा मशीन की शक्ति के साथ काम करने वालो की दक्षता पचास गुना है। एक भाप से चलने वाला फावडा 200 सकुशल आदमियो का काम करता है। शीशा उडाने वाली मशीन 600 दक्ष श्रमिको का स्थान लेती है। एक स्वचालित बिजली के बल्ब की मशीन उतना उत्पन्न करती है, जितना पहले 2000 मजदूर पैदा कर सकते थे।[17]

उन्नीसवी शताब्दी के मध्य, सयुक्त-राज्य मे 22 प्रतिशत शारीरिक कार्य पुरुषो द्वारा होता था, 41 प्रतिशत पशुओ द्वारा 27 प्रतिशत यान्त्रिक साधनो द्वारा होता

16 *Ibid* pp 323-4

17 The Technique of Social Progress (New York : Henry Holt and Co 1931), p 134

था। 1900 में अनुरूपी आँकड़े क्रमशः 15, 33 और 48 प्रतिशत थे। 1948 में मनुष्य 4 प्रतिशत शारीरिक काम करते थे, पशु दो प्रतिशत और 94 प्रतिशत काम यान्त्रिक साधनों द्वारा होता था। इस मशीनी क्रांति के फलस्वरूप सामान की उत्पत्ति एक घन्टे के कार्य के हिसाब से इस काम में बढ़ कर पाँच गुनी से भी अधिक हो गई।

औद्योगिक प्रक्रियाओं ने वास्तव में मानव-श्रम का पूर्ण अन्त कर दिया है। यन्त्रीकरण यहाँ स्वचालित बन गया है। यह बात विशेषकर जल विद्युत के निकलने में सत्य है जो मजदूर के बगैर भी काम करती है और जिसका नियन्त्रण आत्म-चालित बिजली के संकेतों से होता है। गूदे के कागज की उत्पत्ति सम्पूर्ण रूप में तरल गूदे से ले कर लिपटे कागज के विकास तक आत्म-चालित है। यही बात समाचार पत्रों की छपाई के सम्बन्ध में भी ठीक है। वहाँ भी मशीन में रिक्त गूदा डालने से लेकर लिपटी पूर्ण सामग्री तक स्वचालित काम होता है। रेयन और रेशम, फौलाद और स्वचालित मोटरें बनाने में यन्त्रीकरण स्थापित हो गया, जिसके प्रभाव से उपज बढ़ी है और शारीरिक श्रम का स्थान मशीनों ने ले लिया है। अनेक उत्पादन-प्रक्रियाओं में थोड़े यन्त्रीकरण के कारण, यन्त्रीकरण के सम्पूर्ण परिणाम इन बहुत से आश्चर्यजनक उदाहरणों की अपेक्षा कम प्रभावशाली प्रतीत होते हैं परन्तु उपज के बहुत से महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में यह प्रवृत्ति इतनी सामान्य और मौलिक है कि इस ने ऐसी क्रान्ति का रूप ले लिया है, जो मानव उपज के लिखित इतिहास में सब से महान् है।

आधुनिक काल की उत्पादन-प्रक्रियाओं में इस क्रान्ति ने सम्पूर्ण युद्ध और विश्वव्यापी प्रभुत्व को सम्भव बना दिया है। इसके आगमन से पहले युद्ध अपने यान्त्रिक पहलुओं में सीमित था। एक राष्ट्र की उत्पादन-शक्ति इतनी काफी नहीं थी कि वह अपने सदस्यों को खिला पिला और रख सके और विशाल सेना दीर्घ काल तक के लिये शस्त्रों से सुसज्जित रखे। विशेषकर, जब राष्ट्रीय आर्थिक-व्यवस्था अल्प जीवन-स्तर से बहुत कम ऊँची थी, ऐसी अवस्था में राष्ट्रीय उत्पादन में सेना के भाग में अधिक वृद्धि करना असम्भव था और यह राष्ट्र के अस्तित्व को खतरे में डाले बगैर नहीं हो सकता था। सत्तरहवीं और अठारहवीं शताब्दी में एक सरकार के लिए सैनिक कामों के लिए राष्ट्रीय बजट का $\frac{2}{3}$ अंश या अधिक खर्च करना असाधारण नहीं था। कभी कभी ऐसा भी होता था कि सरकारी खर्चे का 9 प्रतिशत से भी अधिक भाग सैनिक होता था, क्योंकि सैनिक खर्चे को बाकी सब पर प्रमुखता प्राप्त थी और राष्ट्रीय उत्पादन इतना कम था कि दूसरे कामों के लिए कर नहीं लगाया जा सकता था। इसलिए यह केवल आकस्मिक नहीं कि उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व अनिवार्य सैनिक सेवा के सब यत्न

असफल रहे, क्योंकि राष्ट्रीय उत्पादन जारी रखने के लिए जनसंख्या के उत्पादन वर्गों को सैनिक सेवा से मुक्त रखा गया। केवल रद्दी लोग जो उत्पादन कार्यों के अयोग्य थे और उत्पादन कार्यों में काम करने के लिए अनिच्छुक अभिजात वर्ग को अनिवार्य सेवा में सुरक्षा से लिया जा सकता था।

औद्योगिक क्रान्ति और इस से अधिक विशेषकर बीसवीं शताब्दी में कृषि और औद्योगिक प्रक्रियाओं के यन्त्रीकरण ने युद्ध के स्वरूप और अन्तर्राष्ट्रीय नीति को तीन प्रकार से प्रभावित किया है। उन से बड़े उद्योगी राष्ट्रों की कुल उत्पादन शक्ति में विशाल वृद्धि हुई है और उन से उत्पादन-प्रक्रियाओं में मानव-शक्ति से सम्बन्धित भाग में बहुत कमी हुई है। अन्त में औषधि और आरोग्य-शास्त्र के नवीन साधनों के साथ उन से सब राष्ट्रों की जनसंख्या में अद्वितीय वृद्धि हुई है। उत्पादन-शक्ति में ऐसी वृद्धि जीवन के उच्चस्तर और उपभोक्ताओं की बड़ी संख्या द्वारा राष्ट्रीय उपज की माँग से कहीं अधिक है। अब उत्पादन-शक्ति नवीन कामों के लिए उपलब्ध है और इसे सम्पूर्ण युद्धों के कामों में लगाया जा सकता है।

युद्ध के लिए उपलब्ध मानव-शक्ति केवल शारीरिक शक्ति ही नहीं होती। मशीन युग में मनुष्य और मनुष्य पर निर्भर लोगों की खाने पहनने और बीमारियों से बचने की बौद्धिक और नैतिक जिम्मेदारियों को बहुत हल्का कर दिया है। इस मशीनी से 1½ शताब्दी पूर्व अधिकांश मनुष्यों की बहुत सी शक्ति अपनी थी। तथापि यह विचित्र बात है कि मशीन-युग से विशाल बौद्धिक और नैतिक शक्ति को मुक्ति प्राप्त हुई है, जिसका प्रयोग उत्तम संसार बनाने में हुआ है, और इसके साथ ही सम्पूर्ण युद्ध की तैयारी करने और युद्ध लड़ने में भी इसका प्रयोग हुआ है। मशीन-युग द्वारा मुक्त और उत्पन्न मानवीय और भौतिक शक्ति के केन्द्रीकरण ने युद्ध को सम्पूर्ण स्वरूप प्रदान किया है।

इसने सम्पूर्ण युद्ध को ऐसी भयानक और विश्व-व्यापी गति दी है, जिसको विश्व-प्रभुत्व से कम कोई चीज सन्तुष्ट नहीं कर सकेगी। ऐसी अवस्था में जब उसकी बौद्धिक और नैतिक शक्तियाँ इस जीवन से प्राथमिक रूप में सम्बन्धित नहीं और न ही उसे कोई बात परलोक के जीवन के लिए विचलित करने योग्य है, आधुनिक आदमी प्रकृति और दूसरे मनुष्यों पर विजय का ध्यान करता है। मशीन युग ने जो मनुष्य के आत्म-निर्भर मस्तिष्क की उपज है, आधुनिक मनुष्य को विश्वस्त कर दिया है कि वह अपने आप को वहाँ भी अपने ही स्वतन्त्र प्रयत्न द्वारा बचा सकता है। इस प्रकार पारम्परिक धर्म जो उस विश्वास का खंडन करते और दैवी हस्तक्षेप पर निर्भर थे, अब प्रायः निर्जीव प्रतिमा बन कर रह गये हैं। आधुनिक आदमी की बौद्धिक और नैतिक सजीवनी शक्ति राजनीतिक धर्म में

प्रवाहित है जो विज्ञान क्रान्ति या राष्ट्रीय धर्म युद्ध द्वारा मुक्ति का वचन देती है। मशीन युग की अपनी विजय होती है, इस विजय का एक कदम यान्त्रिकी के क्षेत्र में, विकास के दो कदमों की अपेक्षा रखता है। इसकी अपनी सैनिक और राजनीतिक विजय भी होती है। ससार को जीतने और इसे पराजित रखने की योग्यता मशीन-युग में विश्व विजय की लालसा पैदा करती है।

यह मशीन युग अपने विनाश का कारण भी बन सकता है। सम्पूर्ण जनसंख्या द्वारा सम्पूर्ण दाव के लिए समकालिक शक्ति-सतुलन की परिस्थितियों में छिड़ा सम्पूर्ण युद्ध का अंत विश्व प्रभुत्व में हो सकता है या विश्व विनाश या दोनों में। विश्व प्रभुत्व के दोनों प्रतिरोधियों में से कोई एक अपेक्षाकृत कम हानि के कारण विजयी हो, या वे एक दूसरे का नाश कर दें, या वे दोनों ही इस अवस्था में न हो कि दूसरे को जीत सकें या कम दुर्बल हुए की जीत हो, और उसे सर्वविनाश पर राज्य करने का अवसर मिले। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विश्व राजनीति पर ऐसे बादल छाए हुए हैं।

इस प्रकार हम ने पूरा चक्कर लगा लिया है। राष्ट्रवादी सर्वाधिवाद के नए नैतिक बल में हमने समकालिक विश्व राजनीति के प्रेरणातत्त्व को पहचाना। हमने सरल शक्ति-सतुलन को पाया, जो दो कठोर गुटों के बीच गतिशील है, और जो महान् कल्याण या महान् अमगल का हरकारा है। हमने अमगल का खतरा सम्पूर्ण युद्ध की शक्तियों में देखा। तथापि आधुनिक जीवन के यन्त्रीकरण के तत्त्व ने सम्पूर्ण युद्ध को सम्भव बना दिया है। इस यन्त्रीकरण ने मानवीय नैतिक बल के लिये यह सम्भव बना दिया है कि युद्ध के माध्यम से सम्पूर्ण प्रभुत्व को लभ्य बनाये। हमारे समय की तीन महान् क्रान्तियों नैतिक राजनीतिक और यान्त्रिक में यह बात सामान्य है कि वे एक दूसरे का समर्थन करती हैं और एक दूसरे को दृढ़ करती हैं और एक दिशा में चलती हैं—वह है विश्वव्यापी प्रचण्ड आग। उनकी समय की एकता और समानान्तर विकास पश्चिमी सभ्यता के जीवन के प्रति चुनौती को बढ़ा देता है जिसे वह स्वतन्त्र रूप में बनाए हुए है।

इन क्रान्तियों की शृखला के तीन महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं—योरप के विश्व राजनीति के केन्द्र के रूप में स्थायी पतन, अद्वितीय महानता वाली दो महाशक्तियों का उदय, एशिया का स्वतन्त्र राजनीतिक और नैतिक तत्त्व के रूप में उत्थान। जिस प्रकार योरप से मुक्त एशिया का इसके पश्चिम के साथ नैतिक विरोध से मेल बैठता है इसी प्रकार वाशिंगटन और मास्को के विश्व-राजनीतिक-केन्द्र बनने का इन दोनों के विश्व-राजनैतिक, नैतिक धर्मों के स्थापना में बदलने के साथ मेल खाता है। योरप का ससार के राजनैतिक, नैतिक और यान्त्रिक केन्द्र के रूप में

पतन उस विनाश की उपज है जो इसके विश्वव्यापी प्रसार, आधुनिक राज्य प्रणाली का नाजुक सामाजिक यन्त्रीकरण, आधुनिक यान्त्रिकी का योरुप से भूखंड के चारों कोनों में फैलाव, एशिया में योरुपीय नैतिक विचारों की विजय का फल है। योरुप ने संसार को अपना राजनैतिक, यान्त्रिक और नैतिक योगदान दिया है और संसार ने इसका प्रयोग योरुप की सर्वप्रधानता समाप्त करने में किया है।

समकालिक विश्व-राजनीति के उदासीन चित्र को समक्ष रखते हुए हमें अपने समय की सर्वप्रथम समस्या का परीक्षण अवश्य करना है, वह है शान्ति की समस्या।





तेईसवाँ अध्याय

मध्य बीसवीं शताब्दी में शान्ति की समस्या तथा सीमा द्वारा शान्ति

निःशस्त्रीकरण

एक ही सन्तति मे दो महायुद्धो और नाभकीय युद्ध की शक्तियों ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की स्थापना को पश्चिमी सभ्यता का सर्वोपरि विषय बना दिया है। युद्ध का विनाश के कारण सदैव घृणास्पद माना गया है। जैसे कि दैशिक राज्य के उत्थान ने पवित्र रोमन साम्राज्य को ईसाई जगत् के वास्तविक राजनीतिक सगठन से एक रिक्त खोल मे और कानूनी विधि कल्पना मे बदला, वैसे ही लेखक और राज्य मर्मज्ञ पश्चिम ससार की खोई हुई राजनैतिक एकता के प्रति-स्थापन पर अधिक से अधिक विचार करने लगे। सोलहवी शताब्दी मे इरेसमस और सत्तरहवी शताब्दी मे सली, एमरिक क्रूसे ह्यूगो ग्रोशियस और विलियम पैन, अठारहवी शताब्दी मे एबे डी सैंट पाईरे, रूसो, बैंथम और काट उन रचनात्मक यत्नो के महाबौद्धिक पूर्वगामी थे जो उन्नीसवी और बीसवी शताब्दी मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति की समस्याओ के हल करने मे की गई।

पवित्र सगठन, 1899 और 1907 की हेग शान्ति सम्मेलन, राष्ट्रो के सगठन और सयुक्त राष्ट्र इन यत्नो के प्रकृष्ट उदाहरण हैं। शान्तिमय ससार को रूप देने के दूसरे कम चमत्कार वाले यत्नो के साथ यह सगठन और सम्मेलन चार तत्त्वो द्वारा सम्भव बने, वे थे आत्मिक नैतिक, बौद्धिक और राजनैतिक जो 19वी शताब्दी के प्रारम्भ मे अभिसृत होने लगे और दो महायुद्धो के मध्यकाल मे प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के सिद्धान्त और व्यवहार मे पराकोटि पर पहुँचे।

स्टोइक्स और पूर्व ईसाइयो के समय से पश्चिम सभ्यता मे मनुष्य मात्र की नैतिक एकता के लिए एक भावना रही हैं जो राजनैतिक सगठन को इसके तुल्य पाने के लिये प्रयत्नशील है। रोमन साम्राज्य विश्वव्यापी क्षेत्र का एक ऐसा राजनैतिक सगठन था। अपने पतन के बाद रोमन साम्राज्य हर समय पश्चिम ससार की एकता का लाक्षणिक अनुस्मारक रहा और यह अन्तिम ध्येय और मानक

रहा जिसने चारलेमन तो क्या नैपोलियन को भी उत्तेजित किया और धार्मिक युद्धों के आरम्भ तक पवित्र रोमन साम्राज्य की नीतियो को निर्धारित किया। यह कोई घटना नहीं कि 1806 मे पवित्र रोमन साम्राज्य के भग होने के साथ नैपोलियन ने इसे पुनर्जाग्रत करने के यत्न किए और दस वर्ष से कम की पूर्वतिथि मे आधुनिक इतिहास के उस काल को आरम्भ किया, जिसने अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के पुनर्स्थापन को एक महान् उद्देश्य बनाया है।

एक स्थिर और शांतिमय अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को स्थापित करने के इन यत्नों की नैतिक नींव मानव-सम्बन्धो के मनुष्यत्व और सभ्य लक्षरण की वृद्धि मे पाई जाती है जिसको पिछली शताब्दियो से पश्चिम जगत् मे देखा जा रहा है। प्रबोधन-दर्शन और उदारवाद के सिद्धान्त मे मनुष्य जीवन के मान और मानव कल्याण की उन्नति को स्वय सिद्ध माना गया। 19वी और 20वी शताब्दियो के महान् राजनैतिक और सामाजिक सुधारो को इन अभिधारणो से प्रेरणा मिली। आधुनिक युग के लिए यही महान् मानवतावादी कार्य था कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे विधि, शान्ति और व्यवस्था के राज्य का विस्तार हो।

इस विकास की उन्नति मे बौद्धिक तत्त्व का सम्बन्ध वारिणज्य-वर्ग की उन्नति मे प्रथम तो सामाजिक और राजनैतिक महत्त्व है। उनके साथ वाणिज्यी और वैज्ञानिक उत्साह ने महानता ग्रहण की। युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता से भयभीत होकर इसने इन को मडी के गणित क्रियाओ के लिए अविवेकी विघ्न बनाया। फ्रांसीसी दार्शनिक डीडीराट ने ध्यान किया कि अनेक व्यापारिक राष्ट्रो में युद्ध एक ऐसी आग है, जो सब के लिए हानिकारक है। यह एक ऐसा क्रम है जो एक बडे सौदागर के भाग्य को भयभीत करता है और उस के ऋणियो कोपीला कर देता है।[1] "कैट के अनुसार" व्यापारिक वाणिज्यी भावना युद्ध के साथ सहनिवास नही कर सकती[2]। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी के अन्त में अधिकतम मत था कि युद्ध अप्रचलित हो चुका है या मानव-जाति इसे अपेक्षाकृत सुगमता से समाप्त कर सकती है।

तो भी नैपोलियनीय युद्धो की प्रलय ने इस आवश्यकता को प्रदर्शित किया कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति की समस्या के हल को सैद्धान्तिक अनुसधान को व्यावहारिक क्रियाओं से जोडा जाए। इस सम्बन्ध में नैपोलियनीय युद्धों की दोहरी महानता है। उन्होने शक्ति सतुलन को नष्ट कर दिया और अस्थायी रूप

1. "Fragments Politiques." Œuvres Complètes Vol. IV (Paris Garnier Frères, 1875) p. 42.
2. Perpetual Peace (New York The Macmillan Co 1917) p. 157.

से इसके स्थान पर सार्वलौकिक साम्राज्य की स्थापना का भय हो गया जबकि यह तत्व 1815 मे नैपोलियन की यथार्थ हार के साथ समाप्त हो गया। दूसरे तत्व ने डेढ शताब्दी मे आधुनिक राज्य-प्रणाली को भयभीत किया हुआ है और जिस की शक्ति अभी तक ही नही खपी है। यह दूसरा तत्व है राष्ट्रीयता, फ्राँसीसी क्रान्ति द्वारा उत्तेजित और योरुप मे नैपोलियनीय विजय द्वारा प्रचलित राष्ट्रीयता के विचार ने राजवश सम्बन्धी यथार्थता के सिद्धान्त को ललकारा जो कि आधुनिक राज्य-प्रणाली का सगठित नियम रहा है और जो 1815 की शान्ति सधि की नीव रहा।

उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ में इन चार अनुभवो का समवाय और नैपोलियनीय युद्धो की धमकी द्वारा राजनैतिक रगमच मे उनकी तीव्र छूट ने बौद्धिक और नैतिक शक्ति प्रदान की है, जिसने पिछली डेढ शताब्दी से युद्ध और अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता के विकल्प की तलाश को सहारा दिया है। यहा तक इस खोज ने केवल विचारो, आशाओ और चेतावनी के जगत् को त्यागा है और अन्तर्राष्ट्रीय लक्षण की वास्तविक क्रियाओ और सस्थाओ का भौतिक रूप धारण किया है (यहा हमारा सम्बन्ध अतिम से है) यह तीन माध्यमो से कार्यान्वित हो रहा है : (1) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की ध्वसात्मक और अराजकीय प्रवृत्तियो की परिमितता (2) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का इस की ध्वसात्मक और अराजकीय प्रवृत्तियो के कोप द्वारा परिवर्तन और (3) अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के ध्वसात्मक और अराजकीय प्रवृत्तियो को अपने बौद्धिक उद्देश्यो से वचित करते हुए भिन्न हितो का उपकरण।

परिमितता द्वारा शान्ति प्राप्त करने के प्रयत्नो में सबसे अधिक आग्रह-युक्त निरस्त्रीकरण रहा है।

निरस्त्रीकरण का इतिहास

निरस्त्रीकरण कुछ या सब शस्त्रो में कटौती या उनको समाप्त करना है ताकि शस्त्रीकरण की दौर का अत हो। यह विश्वास किया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय दृश्य पर शक्ति सघर्ष के एक प्रतिरूप प्रदर्शन के हटाने से अतर्राष्ट्रीय अराजकता और युद्ध को समाप्त किया जा सकता है, जो उस सघर्ष के प्रतिरूप प्रभाव है।

दो मूल भेदो को ध्यान मे अवश्य रखना चाहिए, वे हैं सामान्य और स्थानीय निरस्त्रीकरण मे भेद और मात्रात्मक और गुणात्मक निरस्त्रीकरण मे भेद। सामान्य निरस्त्रीकरण से मतलब है जिस म सब सम्बन्धित राष्ट्र भाग ले। इस के दृष्टान्त हमे 1922 की नौसैनिक शस्त्रीकरण पर परिसीमा की

वाशिंगटन संधि से मिलता है, जिस पर सारी प्रमुख नौसैनिक शक्तियों ने हस्ताक्षर किए और 1932 में विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन से जिसमें लगभग राष्ट्र समुदाय के सब सदस्यों का प्रतिनिधित्व हुआ। स्थानीय निरस्त्रीकरण से हमारा अभिप्राय उससे है जिसमें सीमित संख्या में राष्ट्र सम्मिलित हों। 1817 का संयुक्त-राज्य और कैनेडा के बीच रश-बागोट समझौता इस प्रकार का एक उदाहरण है। मात्रात्मक निरस्त्रीकरण का उद्देश्य अधिक या सब प्रकार के शस्त्रीकरणों में सम्पूर्ण कटौती है। 1932 में विश्व-निरस्त्रीकरण सम्मेलन में उपस्थित अधिकतर राष्ट्रों का यह ध्येय था। गुणात्मक निरस्त्रीकरण केवल विशेष प्रकार के शस्त्रों में कटौती या इनका उन्मूलन है जैसे 1932 के विश्व-निरस्त्रीकरण सम्मेलन में ब्रिटेन ने आक्रमणकारी शस्त्रों के अवैध घोषित कराने का यत्न किया या परमाणु शस्त्रों का, जिसके दमन की चर्चा संयुक्त-राष्ट्र के परमाणु-शक्ति-आयोग द्वारा हुई।

निरस्त्रीकरण के प्रयत्नों का इतिहास अनेक असफलताओं और कुछ सफलताओं का है। दोनों मौलिक समस्याओं की ओर संकेत करती हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति के बीमा करने के उपाय के रूप में निरस्त्रीकरण द्वारा उठी।

असफलताएँ

निरस्त्रीकरण के प्रति प्रथम क्रियात्मक पग जो सामान्य शान्ति[3] के रूप में लिया गया वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के उस काल से मेल खाता है, जिसमें राजनीतिज्ञों ने अधिक मात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और व्यवस्था की स्थापना के यत्न किए। 1816 में रूस के ज़ार ने ब्रिटिश सरकार को यह प्रस्तावित किया," कि प्रत्येक प्रकार की सशस्त्र सेना में समकालीन कमी की जाए" ब्रिटिश सम्राट ने जवाब में यह कहा कि रूसी प्रस्ताव को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के रूप में कार्यान्वित किया जाए, जहाँ सब शक्तियों के सैनिक प्रतिनिधि प्रत्येक शक्ति का सैनिक बल निर्धारित करें। आस्ट्रिया और फ्रांस ने इस प्रस्ताव के प्रति सहानुभूति व्यक्त की परन्तु जिसे किसी भी सरकार ने गम्भीरता से न विचारा और इसलिए इसका कोई रचनात्मक फल न निकला। 1838 में ऐसे प्रस्ताव फ्रांस की सरकार ने दूसरी सरकारों के समक्ष रखे इनकी औपचारिक प्रशंसा तो हुई, परन्तु इससे अधिक इस सम्बन्ध में और न सुना गया। यही बात नैपोलियन 3 के सामान्य शस्त्रीकरण में कटौती के प्रस्तावों के सम्बन्ध में कही जा सकती है, जिसकी प्रस्तावना उसने 1863, 1867 और 1869 में की। 1870 में फ्रांसीसी जर्मन युद्ध से तुरन्त पूर्व ग्रेट ब्रिटेन ने फ्रांस के उकसाने पर पुरशियन

3. अठारहवीं शताब्दी में स्थानीय निरस्त्रीकरण के लिए कुछ कदम उठाए गए।

सरकार को शस्त्रीकरण मे कमी के लिए कहा परन्तु इस मे सफलता न मिली। ऐसी प्रस्तावना 1877 मे इटली ने भी की जिसे जर्मन ने वैसे ही अस्वीकार किया।

1899 के प्रथम शान्ति सम्मेलन का एक उद्देश्य शस्त्रीकरण और सैनिक आय-व्यय पर सीमा निर्धारित करना था। सर्वमुख्य शक्तियो को मिलाकर इसमे कुल 24 राष्ट्रो ने भाग लिया। निरस्त्रीकरण सम्बन्धी विचारो को दो प्रस्तावो में स्थान दिया गया जो स्वय अपने आप को व्यक्त करते हैं। इसपर विवेचन करने वाली सम्मति ने घोषित किया "कि इसके विचार में सैनिक खर्च पर प्रतिबंध जो ससार के लिए एक भारी बोझा है, मनुष्यमात्र के भौतिक और नैतिक कल्याण में वृद्धि के दृष्टिकोण से परम वाछिन है।"[4] सर्व-सम्मेलन ने इस प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए "इच्छा व्यक्त की सरकार जो सम्मेलन के प्रस्तावो पर ध्यान देगी इस बात को भी जाँचेगी कि कहाँ तक स्थल और नौसेना और युद्ध सम्बन्धी आय-व्यय पर परिमितता के समझौते की सम्भावना है।"

1907 के दूसरे हेग-शान्ति-सम्मेलन ने, जिसमे 44 राष्ट्रो ने भाग लिया, उस प्रस्ताव की पुष्टि की जिसको 1899 के सम्मेलन ने सैनिक खर्च की सीमाबदी के सम्बन्ध में अपनाया था और जहाँ तक उस समय से लगभग प्रत्येक देश का सैनिक खर्चा बढ गया है, सम्मेलन घोषित करता है कि यह आवश्यक है कि सरकारो को इस प्रश्न की गम्भीरता से परीक्षा लेनी चाहिए[5] "सम्मेलन के अध्यक्ष जो रूसी प्रतिनिधि थे दोनो सम्मेलनो के निरस्त्रीकरण का निचोड निकालते हुए इस प्रस्ताव पर जो समीक्षा की" यदि 1899 में परिपक्व नही थी तो 1907 मे भी नही है। इन लकीरो पर कोई कार्य सम्भव नही है और सम्मेलन आज वैसे अपने आप को इनमे प्रवेश करने को तत्पर नही, जैसे यह 1899 मे था।

वर्साई की सधि ने निरस्त्रीकरण के प्रति शान्ति स्थापना के माध्यम के रूप मे एक बार और पग उठाया, जिससे जर्मन शस्त्रीकरण पर कडे बधन लगाए गए ताकि सब राष्ट्रो के शस्त्रीकरण को सामान्य परिसीमा का दीक्षा-संस्कार सम्भव हो।[7] "राष्ट्र-सघ ने प्रसविदा की 4 धारा अधिक विशिष्ट रूप से

4. James Brown Scott, The Proceedings of the Hague Peace Conference The Conference of 1899 (New York : Oxford University Press, 1920), p 390
5. Ibid , The Conference of 1907, Vol I, pp 89, 90
6 Ibid., p 92.
7. Introduction to part V of Treaty of the Versailles,

घोषित की ' कि शान्ति स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि राष्ट्रीय शस्त्रीकरण को क्षुद्र बिन्दु तक घटाया जाए जो राष्ट्रीय सुरक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय कर्तव्य के सामूहिक काय के न्द्रिकरण के अनुरूप हो । "इसने राष्ट्र-सघ परिषद को इस कटौती के लिए योजना बनाने का कार्य सौंपा । इन प्रतिज्ञाओ के परिणाम म 1925 म परिषद् ने निरस्त्रीकरण सम्मेलन की तैयारी के लिए आयोग स्थापित किया । इसन अनक प्रयोग सम्बन्धी और अपूर्ण निष्कर्ष 1932 में जनेवा मे बुलाए गए विश्व-निरस्त्रीकरण सम्मेलन के सामने रखे । अक्टूबर 1933 से जर्मनी के निकल जाने से सम्मेलन मरणासन्न हो गया । 1934 मे इसके सामान्य आयोग का अन्तिम अधिवेशन हुआ । विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन एक अद्यात असफलता थी जो विधिवत् समझौता करने के अयोग्य रही ।

सामान्य निरस्त्रीकरण के इन यत्नो मे दूसरे महायुद्ध ने विघ्न डाला । सयुक्त-राष्ट्र प्रपत्र ने वहाँ से काम आरम्भ किया जहाँ राष्ट सघ प्रसविदा ने छोड़ा था । प्रपत्र के प्रथम प्रकरण की 11 धारा के अनुसार महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना के लिए सामान्य नियमो को विचारेगी, जिसमे निरस्त्रीकरण और शस्त्रीकरण के नियमित सिद्धान्त शामिल हैं, और इन नियमों के सम्बन्ध में सदस्यो या सुरक्षा परिषद् या दोनों को सिफारिश करेगी । "प्रपत्र की 26 धारा में आयोजित किया गया", कि ससार के मानवीय और आर्थिक साधनों को शस्त्रीकरण की ओर कम ले जाते हुए अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की स्थापना और व्यवस्था को उन्नत करने के लिए सुरक्षा-परिषद शस्त्रीकरण-नियमण-पद्धति की स्थापना की योजना बनाने के लिए उत्तरदायी होगी, जिसे सयुक्त-राष्ट्र के सदस्यो के आगे रखा जाए ।

प्रपत्र की धारा के अनुसरण मे महासभा ने अपने 24 जनवरी 1946 के प्रस्ताव के द्वारा परमाणु-शक्ति आयोग उत्पन्न किया, जो विशिष्ट प्रस्ताव तैयार करेगा जिससे परमाणु-शक्ति पर उस सीमा तक नियत्रण लगाया जाए, जहा इसका शातिमय उद्देश्यों के लिए प्रयोग हो और राष्ट्रीय शस्त्रीकरण से परमाणु शस्त्रो का और दूसरे महान् जन-विनाशकारी यत्रो का निरसन हो ।"[8] इन हथियारो के सम्बन्ध में महासभा ने 14 दिसम्बर 1946 को शस्त्रीकरण के सामान्य नियम और घटाव के सिद्धान्तो[9] पर एक प्रस्ताव पास किया । इसमे महासभा ने शीघ्र

8 Resolution of the General Assembly, Atomic Energy Commission Official Records, Supplement No 1 also U N doc A/64, p 9

9 Journal of the United Nations No 75, Supp A-64, add, I P 827.

शस्त्रीकरण और सशस्त्र सेना के सामान्य नियमन और घटाव की आवश्यकता को पहचानना और सुरक्षा-परिषद् को उस ध्येय के लिए तुरन्त और व्यावहारिक साधन विचारने के लिए कहा। फलस्वरूप 13 फरवरी 1947 को सुरक्षा-परिषद् ने एक प्रस्ताव पास करते हुए परम्परागत शस्त्रों के लिए एक आयोग स्थापित किया। इस आयोग का प्रयोजन (अ) सशस्त्र सेना और शस्त्रीकरण में सामान्य नियमन और घटाव के लिए और (ब) शस्त्रीकरण में सामान्य नियमन और घटाव के सम्बन्ध में व्यावहारिक और प्रभावशाली उपायों के लिए प्रस्ताव तैयार करना था।'[10]

परमाणु और रूढ हथियारों में अन्तर करते हुए, सयुक्त राष्ट्र इस आशा से प्रेरित हुआ कि परमाणु निरस्त्रीकरण में कथित प्रगति से रूढ हथियारों के निरस्त्रीकरण की प्रगति को उत्तेजना मिलेगी। न तो रूढ हथियारों के आयोग को और न ही परमाणु-शक्ति-आयोग को अपने सामने मौलिक समस्याओं के सम्बन्ध मे किसी प्रकार के समझौत करने में कोई सफलता प्राप्त हुई। अतएव 11 जनवरी, 1952 को महासभा ने दोनो आयोगों को मिलाकर एक नए निरस्त्रीकरण आयोग को स्थापित करने का निर्णय किया, जिसमे सुरक्षा-परिषद् और कनेडा शामिल थे। सहमत न होने के कारण इसका स्थान महासभा के 28 नवम्बर 1953 के प्रस्ताव द्वारा एक उपसमिति ने लिया, जिसके सदस्य चीन फ्रास, ग्रट ब्रिटन, सोवियत-सघ और सयुक्त राज्य थे, जिसमे 'मुख्य रूप मे ग्रस्त शक्तियो को' बातचीत के लिए कहा गया इस उपसमिति ने सोवियत सघ के विरोध पर एक मसौदा 29 अगस्त 1957 का निरस्त्रीकरण पर पेश किया, जिसे महासभा ने 19, नवम्बर 1957 को आयोग की सख्या बढा कर 25 कर दी। 1958 के शुरू से नया आयोग निष्क्रिय रहा है और निरस्त्रीकरण पर बातचीत, जिसका आदि रूप से सम्बन्ध नाभकीय परीक्षण को स्थगित और अकस्मात आक्रमण को रोकने से है, सयुक्त-राष्ट्र से बाहर की गई है और इसमे भाग लेने वाले देशो म अलबानिया, कनेडा, चेकोस्लोवेकिया, फ्रास, ग्रेट-ब्रिटेन, इटली, पोलैंड, रूमानिया सोवियत सघ और सयुक्त-राज्य हैं। 1959 मे इन्ही राष्ट्रो ने सयुक्त राष्ट्र से बाहर एक नए निरस्त्रीकरण आयोग को निरस्त्रीकरण की सम्पूर्ण समस्या को विचारने के लिए स्थापित किया।

सफलताएँ

उन्नीसवी शताब्दी के केवलमात्र सफल निरस्त्रीकरण की धाराएँ सयुक्त-राज्य और केनेडा के बीच 1817 मे हुए रश-बेगोट समझौते में पाई जाती हैं। यह

10 U N doc S/P V 105.

ग्रेट लेक्स पर दोनों पक्षों के लिए नौसेना के समान के तीन जहाजों और शस्त्रीकरण को निर्धारित करता है। दूसरे महायुद्ध में पुन विचारने पर केनेडा को घुवी शक्तियों के विरुद्ध प्रयोग करने के लिए जहाज बनाने की आज्ञा दी गई तब से यह आज तक कार्यान्वित है।

निरस्त्रीकरण म साहस का उज्ज्वल उदाहरण नौसैनिक शस्त्रीकरण पर परिसीमा के लिए सफलता और असफलता से मिश्रित 1922 की वाशिंगटन संधि है। इस संधि ने संयुक्त-राज्य और ब्रिटिश साम्राज्य में प्रमुख जहाजों की लगभग समता स्थापित की और अंग्रेजी भाषी देशों के पीछे जापान, फ्रांस और इटली थे। फलस्वरूप ब्रिटिश साम्राज्य, संयुक्त-राज्य और जापान के प्रमुख जहाजों की शक्ति कम कर के 40 प्रतिशत कर दी गई। इसके साथ यह अनुबद्ध हुआ कि 1931 में परिवर्तन शुरू हो ताकि 1942 में ब्रिटिश साम्राज्य, संयुक्त राज्य जापान, फ्रांस और इटली के बीच प्रमुख जहाजों की मात्रा 5.5.1 67:1367 हो जाए। परन्तु वाशिंगटन संधि प्रमुख जहाज को छोड़ कर नौसैनिक जलयान जैसे क्रूजर, ध्वंसक और पनडुब्बी हैं, पर समझौता करने में असफल रही।

इस प्रकार 1927 का जिनेवा नौसैनिक सम्मेलन इस विषय पर समझौता करने में असफल रहा। इसमें ब्रिटेन, जापान और संयुक्त-राज्य ने भाग लिया। अंत में 1930 का लन्दन नौसैनिक सम्मेलन, जिस में संयुक्त-राज्य, ग्रेट ब्रिटेन और जापान इस बात पर सहमत हो गए कि संयुक्त-राज्य और ग्रेट-ब्रिटेन में क्रूजर, ध्वंसक और पनडुब्बी की समता हो और जापान की इस श्रेणी में शक्ति अमेरिका और ब्रिटिश की अपेक्षा दो तिहाई सीमित की गई। फ्रांस और इटली को यह संधि स्वीकार न थी, क्योंकि इटली फ्रांस के साथ समता की मांग करता था। जिसको फ्रांस ने स्वीकार करने से मना कर दिया। दिसम्बर 1934 में वाशिंगटन संधि को विधिवत् समाप्त करने की सूचना दी गई। इस ने 1935-36 के लन्दन नौसैनिक सम्मेलन से नौसैनिक शस्त्रीकरण की सब श्रेणी में समता की माँग की। इस माँग को संयुक्त-राज्य और ग्रेट-ब्रिटेन ने रद्द कर दिया। फलस्वरूप जापान ने कार्य-स्वतन्त्रता प्राप्त की। सम्मेलन का यदि कोई परिणाम निकला, जिसका नौसैनिक शस्त्रीकरण के आकार से कोई सम्बन्ध था, तो वह संयुक्त-राज्य, ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य समझौता था, जिसे 1937 में जर्मनी और सोवियत-संघ ने अपनाया और जिसने नौसैनिक जलयान के अधिकतम माप को परिसीमित किया, शर्त यह थी कि कोई दूसरा राष्ट्र उस अधिकतम सीमा से आगे नहीं बढ़ेगा। 1935 में पृथक् ऐंग्लो जर्मन समझौते के द्वारा जर्मन की कुछ नौसैनिक शक्ति ब्रिटिश की अपेक्षाकृत

35 प्रतिशत पर परिसीमित की गई और जर्मनी को ब्रिटिश साम्राज्य के बराबर पनडुब्बी रखने की आज्ञा दी गई, शर्त यह थी कि जर्मनी की सम्पूर्ण पनडुब्बी की टन शक्ति 35 प्रतिशत की सीमा के बीच रहेगी।

निरस्त्रीकरण की चार समस्याएँ

दीर्घकालीन असफलताओं और अल्पकालीन सफलताओं वाला यह काल चार मौलिक प्रश्न उत्पन्न करता है। निरस्त्रीकरण के लिए किसी विशेष यत्न की सफलता या असफलता इन प्रश्नों के दे सकने वाले उत्तरों पर निर्भर है।

(ए) भिन्न राष्ट्रों में निरस्त्रीकरण किस अनुपात में होना चाहिए?

(बी) वह कौन सा माप है जिस के अनुसार इस मात्रा में भिन्न राष्ट्रों को भिन्न प्रकार और मात्रा में शस्त्र दिए जाएँ?

(सी) इन दो प्रश्नों के उत्तर मिलने पर शस्त्रीकरण के उद्देश्य—कटौती—को ध्यान में रखते हुए उत्तरों का वास्तविक क्या प्रभाव है?

(ड) निरस्त्रीकरण की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति के साथ क्या सम्बन्ध है?

अनुपात

निरस्त्रीकरण और निरस्त्रीकरण प्रतियोगिता अन्तर्राष्ट्रीय दृश्य पर शक्ति-संघर्ष के महत्त्वपूर्ण प्रदर्शनों में से एक है। इस मौलिक यथार्थता से सब प्राविधिक तर्क, प्रस्ताव, प्रति प्रस्ताव और निरस्त्रीकरण-सम्बन्धी भेद अपनी महानता प्राप्त करते हैं। राष्ट्र अपना शस्त्रीकरण या तो अपने को दूसरे राष्ट्रों से सुरक्षित करने या उन पर आक्रमण के लिए करते हैं। राजनीतिक दृष्टि से सतर्क सब राष्ट्र परिभाषा द्वारा शक्ति-प्रतियोगिता में व्यस्त हैं, जिस में शस्त्रीकरण एक अनिवार्य तत्त्व है। अतएव राजनीतिक रूप में सतर्क राष्ट्र अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करने में जुटे हैं, जिसमें बाकी चीजों के अतिरिक्त अपने को भलीभाँति सशस्त्र करना है। ए राष्ट्र अपने आप को बी राष्ट्र की अपेक्षाकृत शस्त्रीकरण में न्यून अनुभव करते हुए भी बी के समतल होना चाहता है और यदि हो पाए तो बी से उत्तम भी। दूसरी ओर बी राष्ट्र ए पर कम से कम लाभदायक व्यवस्था बनाए रखना चाहता है, चाहे उसमें वृद्धि नहीं कर पाए। शस्त्रीकरण के क्षेत्र में, जैसेकि हम ने देखा है, शक्ति-सतुलन के ऐसे अनिवार्य फल होते हैं।

ए और बी की शस्त्रीकरण-प्रतियोगिता में दोनों राष्ट्रों के बीच शस्त्रीकरण के अनुपात का दाव है। क्या ए और बी शस्त्रीकरण में बराबर हों,

या ए बी से, बी ए से श्रेष्ठ हो और हो तो किस सीमा तक ? यह प्रश्न अनिवार्य रूप में निरस्त्रीकरण आयोग और सम्मेलनो की कार्यसूची में प्रथम स्थान रखता है। केवल तीन विकल्प परिस्थितियो में इसका सतोषजनक उत्तर मिलता है। (ए) सम्बन्धित राष्ट्र दूसरे राष्ट्रो के साथ शक्ति-सघर्ष की प्रतियोगिता मे न लगे हो (बी) एक राष्ट्र या राष्ट्रो का समुदाय दूसरे राष्ट्र या राष्ट्र समुदाय पर इतनी प्रधानता रखते हो कि उनपर अपने अनुपात ठोस सकें, (सी) दो या इस से अधिक राष्ट्र कुछ समय के लिए स्वतन्त्र प्रतियोगिता के स्थान पर नियमित शक्ति-प्रतियोगिता में लगें और सैनिक शक्ति की वृद्धि के उन्मत्त चढ़ाव के स्थान पर सहमत सीमा मे शस्त्रीकरण प्रतियोगिता के लिए प्रवेश करें।

यह स्पष्ट है कि इन विकल्पो की स्थानीय निरस्त्रीकरण की परिस्थितियो मे कार्यान्वित करने की सम्भावना है। क्योकि ऐसी अवस्था मे शक्ति-प्रतियोगिता का या तो सम्पूर्ण उन्मूलन सम्भव है या इसे नियमित और सम्बन्धित स्थायी आकार मे बदलें, जिसका प्रतिबिम्ब शस्त्रीकरण के अनुपात मे पाया जाता है। निरस्त्रीकरण मे कुछ सफल साहस वास्तव मे स्थानीय प्रकार के रहे है।

रश–बेगाट समझौता, वाशिंगटन संधि और ऐंगलो—जर्मन नौसैनिक समझौता।

(ए) इस प्रकार का उत्तम उदाहरण सयुक्त-राज्य और केनेडा के बीच रश-बगाट समझौता है। दोनो देशो क व्यवहार मे शक्ति प्रतियोगिता का वास्तविक कोई अवसर नही है, जो इसको एक दूसरे की भूमि के लिए सशस्त्र खोज म बदले। सशस्त्र सघर्ष की सम्भावना के अभाव ने केनेडा—अमेरीकी 3800 मील लम्बी सीमा को ससार की सब से बडी शस्त्रहीन सीमा बना दी है, यह ग्रेट लेक्स पर नौसैनिक निरस्त्रीकरण की स्थायी सफलता के लिए राजनीतिक पूर्वशर्त है।

1922 की वाशिगटन सधि (ए) सयुक्त राज्य और ग्रेट ब्रिटेन के बीच सम्बन्धो के प्रकार का दृष्टान्त है और (बी) एक ओर सयुक्त-राज्य और ग्रेट-ब्रिटेन और दूसरी ओर जापान के बीच सम्बन्धो के प्रकार का भी।

सयुक्त-राज्य ने लडाकू समुद्री जहाजों की शक्ति मे ग्रेट-ब्रिटेन के समान होना चाहा। अर्थ और सैनिक रूप मे तटस्थ औद्योगिक साधनो के कारण इसमे समता होनी थी। प्रश्न यह था कि यह समता कटु और कीमती प्रतियोगिता द्वारा प्राप्त होगी या पारस्परिक समझौते द्वारा। क्योकि दो देशो मे कोई राजनीतिक झगडा नही था, जिससे ऐसी प्रतियोगिता सगतियुक्त हो। दोनो देश

लगभग अपने में लडाकू समुद्री जहाजो में सामान्य अधिकतम तौल पर सहमत हो गए।

इससे अधिक, प्रथम महायुद्ध ने दूर पूर्व मे जापान को प्रधान नौसैनिक शक्ति बना दिया, जिससे सयुक्त-राज्य और ग्रेट-ब्रिटेन के उस इलाके के हितो को भय बना और नौसैनिक प्रतियोगिता के लिए न्योता मिला। दूसरी ओर, ग्रेट ब्रिटेन सैनिक सश्रय द्वारा जापान से बँधा था। विशेषकर ब्रिटिश औपनिवेशिक देशो को इसका भय था कि उन्हे सयुक्त-राज्य और जापान के बीच सघर्ष में सम्भवत जापान का पक्ष लेना पडे। इस प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन और सयुक्त-राज्य में कोई राजनीतिक झगडे नही थे। उनके जापान के साथ शस्त्रीकरण-प्रतियोगिता को टालने में सामान्य हित थे। जापान के साथ सश्रय भग करते हुए और सयुक्त-राज्य के साथ सहन योग्य स्तर पर समता को मानते हुए ग्रेट-ब्रिटन ने नौसैनिक शस्त्रीकरण के क्षेत्र मे राजनीतिक सैनिक समस्याओ का समाधान किया। ग्रेट ब्रिटन को जापान से पृथक् करने से और अल्प मूल्य पर ग्रेट-ब्रिटेन के साथ समता प्राप्त पाने से सयुक्त-राज्य ने वह प्राप्त कर लिया, जिसकी इसे उस क्षेत्र मे इच्छा थी।

सयुक्त-राज्य और ग्रेट-ब्रिटेन के समझौते ने न केवल जापान को पृथक् कर दिया, प्रत्युत भारी नौसैनिक शस्त्रीकरण में निराशाजनक न्यूनता में डाला। विनाशकारी शस्त्रीकरण-प्रतियोगिता मे भाग लेने के स्थान पर जिस मे विजयी होने का इसे कोई अवसर नही था, जापान ने प्रतिकूल और अपमानजनक परिस्थिति का अधिकतम लाभ उठाया। इसने वर्तमान काल के लिए न्यून पद को स्वीकार किया और यह ऊपर कथित अनुपात पर न्यूनता को दृढ करने पर सहमत हो गया। 1930 के शुरू में चोन पर जापानी आक्रमण पर जब ऐंग्लो-अमरीकन प्रतिक्रिया न यह व्यक्त किया कि दूर पूर्व में ग्रेट ब्रिटन और सयुक्त-राज्य का सयुक्त मोर्चा वर्तमान नही है, जिस ने 1922 की वाशिंगटन सधि को सम्भव बनाया। जापान ने तुरन्त अपने आपको सधि के बधनो स मुक्त किया। जहाँ तक ऐंग्लो-अमरीकन श्रेष्ठता का सम्बन्ध था, वाशिंगटन सधि की निरस्त्रीकरण की धाराए विशेष राजनीतिक परिस्थिति की उपज थी। ये धाराएँ राजनैतिक परिस्थितियो के पश्चात्, जिसने उन को उत्पन्न किया, जीवित नही रह सकनी थी।

आकार (सी) का 1935 का ऐंग्लो-जर्मन समझौता एक आदर्शभूत दृष्टान्त है। उस समय विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन और जर्मन सरकार की नीतियो ने अपने आप को सशस्त्र करने के दृढ निश्चय का प्रदर्शित किया, जिससे यह मुख्य सैनिक शक्ति के साथ कथित 'समता' प्राप्त करना चाहता था। दूसरी ओर

ब्रिटिश सरकार इसी पर दृढ थी कि वह ऐसी नीतियाँ नही अपनाएगी, जिस से जर्मनी नौसैनिक शस्त्रीकरण की ज्यो की त्यो अवस्था बनी रहे, क्योकि इन नीतियो में युद्ध का डर परिणत था या कम से कम जर्मन के साथ नियत्रणहीन शस्त्रीकरण प्रतियोगिता का जिससे जर्मन के मूल्य पर यूरोप में फ्रांसीसी और रूसी प्रभाव शक्तिशाली होगा। इन परिस्थितियो में ब्रिटिश सरकार के आगे जर्मनी के पुन शस्त्रीकरण को रोकने का प्रश्न नही था, परन्तु यह था कि इसके मुकाबले ब्रिटिश श्रेष्ठता की कैसे रक्षा की जाए, जो ग्रेट-ब्रिटेन पर पुन शस्त्रीकरण के बहुमूल्य कार्य-क्रम के भार को न लादें।

1935 का ऐंग्लो-जर्मन नौसैनिक समझौता ग्रेट-ब्रिटेन और जर्मनी के पारस्परिक हितो का सहिताकरण है। ग्रेट-ब्रिटेन ने जर्मन नौसैनिक शक्ति को भार की दृष्टि से सुरक्षित दूरी पर रखा था। आवश्यकता पडने पर यह उस फासले का अपना भार उस सीमा और गति से नही बढा सकता था कि जर्मनी के लिए यह असम्भव हो कि वह देर से आरम्भ करने और जुटे साधनो द्वारा ब्रिटिश भार के 35 प्रतिशत पर सहमत अधिकतम सीमा को पार कर पाए। जर्मनी ने सीमा में पुन शस्त्रीकरण के अधिकार की स्वीकृति प्राप्त की, क्योकि अपने साधनो और दूसरे सैनिक समझौतो को सामने रखते हुए निकट भविष्य में वह किसी परिस्थिति मे इसको पार नही कर सकेगा। अधिकता से विशेषकर समझौते ने जर्मनी को पनडुब्बी मे समानता प्रदान की, जो जर्मनी की युद्ध-नीतिक अवस्था को सामने रखते हुए एक ऐसा शस्त्र था, जो भार और लडाकू जहाजी सर्वश्रेष्ठता और चुनौती-रहित शक्ति के विरुद्ध आक्रमण और सुरक्षा का साधन था। 1939 की बसत मे युद्ध रूप म ग्रेट-ब्रिटेन और जर्मनी आने वाले अनिवार्य युद्ध के लिए शस्त्रीकरण की खुली प्रतियोगिता मे प्रवेश कर चुके थे। राजनैतिक परिस्थिति मे इस परिवर्तन के अनुसार अप्रैल 1939 मे जर्मनी ने 1935 के समझौते का खण्डन किया और विधिवत रूप में कार्य-स्वतन्त्रता को ग्रहण किया, जिसे इसके राजनैतिक उद्देश्यो ने वास्तव मे ग्रहण करने पर विवश किया था।

इस ओर ध्यान देना होगा कि इन सब विषयो मे निरस्त्रीकरण पर दो राष्ट्र सहमत थे। अतएव यह सीमा चरित्र की थी। यह भी ध्यान मे रखा जाए कि सहमत मात्रा या तो शक्ति-प्रतियोगिता की अनुपस्थिति की झलक थी या तो तत्काल के लिए एक या इससे अधिक राष्ट्रो की दूसरो पर ललकारहीन प्रधानता या दोनों पक्षों की शस्त्रीकरण प्रतियोगिता के रूप मे अनियमित के स्थान पर नियमित शक्ति-प्रतियोगिता की अस्थायी अभिमान अभिरुचि को व्यक्त करती थी।

तो तब शस्त्रीकरण के अनुपात पर समझौते का कितना सयोग है जब अधिकतरया सब मुख्य शक्तियाँ सामान्य निरस्त्रीकरण की तलाश में हैं और साथ ही शक्ति प्रतियोगिता में व्यस्त हैं ? रक्षना से कहते हुए अवसर न के बराबर हैं। सामान्य निरस्त्रीकरण के लिए सब प्रयत्न, जैसे "दी हेग सम्मेलन", 1932 का जिनेवा सम्मेलन, सयुक्त-राष्ट्र के निरस्त्रीकरण आयोग और इस प्रकार पिछले 150 वर्षों के स्थानीय उपक्रम इसलिए असफल नहीं हुए कि तैयारी में अभाव था या कोई दुर्भाग्य था, वे अधिकतम अनुकूल परिस्थितियों में भी सफल नहीं हो सकते थे, क्योंकि सम्बन्धित राष्ट्रों में शक्ति-प्रतियोगिता की सफल अनुवर्ती ने शस्त्रीकरण-अनुपात पर समझौते को असम्भव बना दिया था। इस वक्तव्य की दो उदाहरण व्याख्या करेंगे वे हैं 1932 के विश्व-निरस्त्रीकरण सम्मेलन पर फ्रांस और जर्मनी में प्रतिवाद और सयुक्त-राष्ट्र परमाणु शक्ति आयोग में सयुक्त-राज्य और सोवियत सघ में द्वन्द्व।

विश्व-निरस्त्रीकरण सम्मेलन

फ्रांस प्रथम महायुद्ध के द्वारा न केवल यूरोप का बल्कि विश्व का शक्तिशाली देश बन गया। इसने जर्मनी को पूर्णतया निःशस्त्र कर दिया कि फ्रांस तो क्या वह किसी भी प्रथम श्रेणी की सैनिक शक्ति के विरुद्ध युद्ध करने में अयोग्य हो गया। यह शक्ति-वितरण नियम में चलता रहा। तो भी जर्मनी के गुप्त शस्त्रीकरण और फ्रांसीसी सैनिक स्थापनाओं में घटती हुए औद्योगिक और युद्ध-नीतिक अप्रचलन ने इसे प्रदर्शित किया, जब विश्व-निरस्त्रीकरण सम्मेलन 1932 में बैठा। सम्मेलन में जर्मनी का स्थिर उद्देश्य उस शक्ति-वितरण को बदलना था। फ्रांस का स्थिर उद्देश्य इसे स्थापित करना था। जर्मनी ने अपने उद्देश्य को फ्रांस के साथ 'समता के अधिकार' की, स्वीकृति के रूप में प्राप्त करने का यत्न किया जिसे धीरे-धीरे कुछ वर्षों के काल में शस्त्रीकरण की वास्तविक समता में बदलना था। फ्रांस ने दूसरी ओर अपने उद्देश्यों को जर्मनी के समता-सिद्धान्त के विरोध में सुरक्षा-सिद्धान्त द्वारा प्राप्त करने का यत्न किया। फ्रांसीसी सुरक्षा-सिद्धान्त व्यवहार में यह था कि जर्मन सैनिक सख्या में वृद्धि का मुकाबला फ्रांसीसी शक्ति में वृद्धि द्वारा होगा। तो भी फ्रांस पहले से ही अपनी सैनिक शक्तियाँ समाप्त करने के समीप था, जबकि जर्मनी ने अपनी जनसख्या और औद्योगिक शक्तियों के साधनों को जुटाना शुरू नहीं किया था। फ्रांस के साथ सम्बन्धों का ध्यान रखते हुए इसके दो अधिकतम चमत्कार और अपशकुन सैनिक परिसम्पत्ति का केवल उल्लेख पर्याप्त है।

इन परिस्थितियों में फ्रांस को अति सशक्त जर्मन बल के सम्बन्ध में अपनी शक्ति में वृद्धि के लिए सीमाप्रात पर दृष्टि डालनी पड़ी। फ्रांस ने तीन कारकों में

इन जोड़ों को पाया जैसे पोलैण्ड और अल्प-समहित के राष्ट्र-चेकोस्लोवेकिया, योगोसलाविया और रूमानिया के साथ सैनिक सश्रय, वर्साई की संधि की प्रादेशिक अपरिवर्तित अवस्था बनाए रखने के लिए नई सामूहिक जमानत और वर्साई की संधि के अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का अनिवार्य न्यायानुरूप निबटारा। यदि फ्रांसीसी प्रस्ताव सम्मेलन द्वारा अपनाए जाते तो जर्मन सैनिक शक्ति में वृद्धि नाकाम हो जाती और जर्मनी को अनुकूल राजनैतिक प्रभावों से वंचित कर देती। न्यायानुरूप निर्णय वर्साई की संधि की अपरिवर्तित अवस्था बनाए हुए इसको पूरा कर देते और इसकी रक्षा के लिए संसार के वास्तविक बाकी दूसर राष्ट्रों की संगठित शक्ति काम में लायी जाती। यही कारण है कि सम्मेलन में इस प्रस्तावों को स्वीकार करने की कोई सम्भावना नहीं थी, दूसरी ओर यदि जर्मन योजना सम्मेलन द्वारा अपनाई जाती तो वर्साईल्ज़ की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और प्रथम महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों की विजय द्वारा स्थापित अपरिवर्तित अवस्था धीरे-धीरे परन्तु असुलभता से छिन्न-भिन्न हो जाती जब तक कि जर्मनी अपनी श्रेष्ठ सैनिक शक्ति द्वारा अपने आपको पराजित से विजय में न बदल देता।

इसलिए परस्पर सम्बन्धित शस्त्रीकरण के अनुपात पर फ्रांस और जर्मनी में झगड़ा सार रूप में शक्ति, वितरण पर द्वंद्व था। निरस्त्रीकरण सम्मेलन में प्रतिनिधियों द्वारा सुरक्षा बनाम समता के सैद्धान्तिक शब्दों में पीछे दर्शन के विश्लेषण से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रेरित करने वाली शक्ति का पता लगता है। एक ओर आधुनिक अपरिवर्तित अवस्था बनाए रखने की नीति द्वारा व्यक्त आधुनिक शक्ति-वितरण को बनाए रखने की इच्छा, और दूसरी ओर साम्राज्यवाद की नीति द्वारा व्यक्त आधुनिक शक्ति-वितरण को उखाड़ने की इच्छा। फ्रांस और जर्मनी से इस बात की आशा करना कि वे पारस्परिक शस्त्रीकरण के अनुपात पर सहमत हो जाएंगे, इस आशा के तुल्य होगा कि वे अपने में शक्ति-वितरण पर सहमत हो सकेंगे। वास्तविक फ्रांसीसी प्रधानता और जर्मनी की सशक्त प्रधानता के आधार दूसरे विषय पर समझौता, जिसपर संदेह है—1920 म कदाचित् सम्भव था। हिटलर के शक्ति प्राप्त करने के समय पर यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता था और इस प्रकार शस्त्रीकरण के अनुपात पर भी समझौता प्रश्न के बाहर था।

जर्मनी के लिए शस्त्रीकरण में समता की माँग को त्यागने का अर्थ अपने आप को स्थिर और यथायोग्य रूप में न्यून शक्ति मानना होता और योरुप में दुबारा प्रधान शक्ति बनने की सब आकांक्षाओं को त्यागना होता। फ्रांस के लिए अपनी सुरक्षा की माँगों को छोड़ने का अर्थ प्रधान अवस्था को त्यागना होता

और जर्मनी का एक प्रथम श्रेणी के रूप में वापिस आने पर सहमत होना होता। फ्रांस और जर्मनी के बीच परस्पर सम्बन्धी शस्त्रीकरण के अनुपात पर गतिरोध निरस्त्रीकरण रूपी समाधान के अयोग्य था, क्योंकि यह दोनों देशों में प्रधानता के संघर्ष का प्रदर्शन था, गतिरोध का समाधान इनमें केवल सामान्य शक्ति-वितरण के शब्दों में हो सकता था, यदि किसी रूप में इसका कोई समाधान था।

दूसरे महायुद्ध से निरस्त्रीकरण-वार्ताएँ

निरस्त्रीकरण वार्ता ने जिसके दृश्य संयुक्त-राष्ट्र आयोग और संयुक्त राष्ट्र के बाहर उसके उत्तराधिकारी रहे हैं, विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन की मौलिक कथावस्तु को नवीन और अधिक सरल रूप में पुनः व्यवस्थापित किया है। दोनों पक्षों-अर्थात् मुख्य रूप में, संयुक्त राज्य और सोवियत संघ—ने प्रस्ताव रखे हैं जो या तो अपने अनुकूल सैनिक शक्ति-वितरण को स्थिर करेंगे या इसे अपने अनुकूल परिवर्तित करेंगे। रूढ़ हथियारों के क्षेत्र में सोवियत संघ ने अनुरूप कटौती का प्रस्ताव किया जिससे इसकी श्रेष्ठता सुरक्षित रहती, जब कि पश्चिम शक्तियों ने उस श्रेष्ठता के उन्मूलन या कम से कम इसमें घातक कटौती करने वाले प्रस्ताव रखे।

नाभकीय शस्त्रीकरण के क्षेत्र में समस्या निरन्तर निषेध और नियन्त्रण के सम्बन्धों पर केन्द्रित रहती है और पिछले के लक्षण पर। सोवियत संघ ने नियन्त्रण की अपेक्षा निषेध की प्रधानता का पक्ष लिया है और एक या दूसरे ढँग से नियन्त्रण के सम्बन्ध में राष्ट्रीय प्रभुत्व का। इस योजना से सोवियत संघ की सैनिक अवस्था में सुधार होता और केवल यही कारण था कि पश्चिम मित्र राष्ट्रों ने इसे अस्वीकार किया। यदि सब सम्बन्धित राष्ट्र निष्कपट होकर नाभकीय हथियारों के निषेध को कार्यान्वित करते तो पश्चिमी मित्र राष्ट्र अपने केवल मात्र प्रभावशाली मित्रों से जो रूस की रूढ़ हथियारों में श्रेष्ठता के प्रतिभार थे, वंचित हो जाते। नियन्त्रण प्रणाली को जिसकी क्रिया या फल अन्त में सोवियत संघ द्वारा नियन्त्रण होने थे, वे नाभकीय हथियारों को पैदा करते और परीक्षण में गुप्तता को बनाए रखते जो रूसी सैनिक शक्ति के मुख्य कारकों में एक है, और अनियन्त्रित नाभकीय शस्त्र सोवियत संघ को निश्चित लाभ प्रदान करते जिसका मुकाबला करना अपनी सरकारों और समाज के प्रजातान्त्रिक लक्षण के कारण पश्चिम मित्र राष्ट्र कठिन पाते।

दूसरी ओर, पश्चिमी मित्रराष्ट्रों ने नाभकीय निरस्त्रीकरण को प्रभावशाली अधि-राष्ट्रीय नियन्त्रण प्रणाली के बिना विचारना अस्वीकार किया है। सोवियत संघ के गुप्त संस्थापन और परिचालन को विदेशी निरीक्षकों के ध्यान में लाने

वाली प्रणाली पश्चिमी मित्र-राष्ट्रों को एक महालाभ प्रदान करती। यह लाभ क्रमिक नाभकीय निरस्त्रीकरण के पहले पदों में निश्चित होता जब नियन्त्रण प्रणाली पूरे परिमाजन में होती और जब पश्चिमी मित्र-राष्ट्रों के पास नाभकीय हथियार और वितरण तन्त्र होते।

पूर्व 1930 के फ्रांस और जर्मनी के बीच द्वन्द्व की तरह संयुक्त राज्य और सोवियत संघ का द्वन्द्व दो स्तरों पर लड़ा जा रहा है निरस्त्रीकरण के बनावटी स्तर पर और शक्ति-संघर्ष के मौलिक स्तर पर। निरस्त्रीकरण के स्तर पर द्वन्द्व ने दो सैद्धान्तिक विचारों के बीच झगड़े का रूप धारण किया है जैसे सुरक्षा प्रथम निरस्त्रीकरण पश्चात्। शक्ति संघर्ष के स्तर पर द्वन्द्व ने सैनिक प्रतियोगिता को धारण कर लिया है। प्रत्येक पक्ष सुष्ठतम आधुनिक शक्ति वितरण को बनाए रखने का यत्न कर रहा है और उच्चतम यत्न इसको अपने अनुकूल बदलने का। इस प्रतियोगिता में नाभकीय निरस्त्रीकरण के सम्बन्ध में झगड़ा केवल बाहरी प्रदर्शन है। यह उस पर्वत की तरह है, जिसमें मिट्टी के तोदे ढाँचे के बदलने पर बदल सकते हैं। इस प्रकार निरस्त्रीकरण की समस्या शक्ति संघर्ष के निबटारे से केवल हल हो सकती है जिससे यह उत्पन्न हुई।

विनिधान का मान

अनेक राष्ट्रों में शस्त्रीकरण का अनुपात सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या है। निरस्त्रीकरण के प्रयत्न से इस का हल होना चाहिए। जब एक बार इस को हल कर लिया जाए तब दूसरे प्रश्न का उत्तर अवश्य देना चाहिए। यह अनुमान की अपेक्षाकृत कम मौलिक है, परन्तु इसमें व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं जिसमें, राष्ट्रों के शक्ति-सम्बन्ध की पुनः झलक मिलती है। इस प्रश्न का सम्बन्ध मानों से है जिनके अनुसार अनेक राष्ट्रों में शस्त्रों के अनेक प्रकार और मात्रा का सहमत अनुपात हो। जेनेवा-सम्मेलन और विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन को इस प्रश्न का अनेक बार सामना करना पड़ा। इन सम्मेलनों ने जो विशाल साहित्य छोड़ा है, वह इसकी व्यर्थता और अनिश्चितता की याद है और जिन परिस्थितियों में निराशाजनक कार्य किया गया, उन की एक यादगार।

जैसा हम ने देखा कि जर्मनी ने विश्व-निरस्त्रीकरण सम्मेलन में फ्रांस के साथ शस्त्रों में समानता की माँग की, फ्रांस उस अनुपात पर एक आदर्श सिद्धान्त के रूप में सहमत हो गया, यदि सुरक्षा की समस्या का हल इसकी इच्छा-पूर्ति के अनुसार हो पाता तो भी जब एक बार आदर्श रूप में अनुपात पर सहमति हो जाती तो व्यावहारिक रूप में इसका क्या अर्थ होगा। यहाँ हमें यह कहना चाहिए कि इसका सम्बन्ध अशस्त्र प्रभावों, परिनिश्चित संचय, भारी तोपखाने, युद्ध हवाई जहाजों की संख्या और उनके प्रतिरूपों इत्यादि से था।

प्रयोग मे लाने वाला मान स्पष्ट रूप मे दोनो देशो की सैनिक आवश्यकताओ मे पाया गया। इन सैनिक आवश्यकताओ की परिभाषा रक्षा के शब्दो मे की गई। रक्षा किसके विरुद्ध ? आन्तरिक और बाहरी, उत्तर था प्रारम्भिक दृष्टि से एक दूसरे के विरुद्ध रक्षा। इस परिभाषा का अनिवार्य फल यह था कि सैनिक आवश्यकताएँ समान नही थी, इस बिन्दु पर बहुत से कारको में से केवल एक का वर्णन करते हुए यह पाते हैं कि दोनो देशो की भिन्न युद्ध नीति अवस्थाएं गुण और मात्रा मे भिन्न रक्षात्मक शस्त्रीकरण की मांग करती हैं। तब शस्त्रो मे समानता का अर्थ गणितिक समता के भाव मे नही हो सकता था कि फ्रास और जर्मनी, गुण और मात्रा मे, सशस्त्र प्रभाव, परिरक्षित सचय तोपखाना और हवाई सेना म सम्पूर्ण सम हो। समता का अर्थ प्रत्येक देश की विदेशी आक्रमण के विरुद्ध रक्षात्मक अवस्था में समानता निकल सकना था।

तब विश्व-निरस्त्रीकरण सम्मेलन के लिए अनिवार्य था पहले, दूसरे देश पर आक्रमण की आपत्ति का मूल्याकन दूसरा, शस्त्रीकरण के अतिरिक्त दूसरे रक्षात्मक साधन जैसे खाद्य और कच्चे माल मे स्वावलम्बिता, औद्योगिक योग्यता, जनसख्या की गुण और मात्रा, तीसरा, दोनो कारको की दृष्टि से शस्त्रो की आवश्यकता। इस तिकोने कार्य से सम्मेलन के सामने तीन प्रकार की तीन अमेय कठिनाइयाँ आईं।

प्रथम, यह काम एक राष्ट्र की शक्ति का दूसरे राष्ट्र की शक्ति से तुलनात्मक मूल्याकन किए बिना पूरा नही हो सकता था। हमने इससे पहले इस पुस्तक[11] मे यह दिखाने का यत्न किया है कि इस प्रकार का तुलनात्मक मूल्याकन कितना कठिन, काल्पनिक और कुछ स्थानो पर लगभग असम्भव है। यदि एक ऐसे मूल्याकन के आकडे निरस्त्रीकरण बटवारे के मान बन जाएँ, तो यह मान बहुत आत्मनिष्ठ बन जाएँगे और इसलिए समझौते के स्थान पर झगडा पैदा करेंगे।

दूसरे, इस काम के लिए सम्बन्धित सरकारो की राजनैतिक आशयो के निर्धारण की आवश्यकता है। सब राष्ट्र स्वभावत अपनी शान्तिमय इच्छाओ का प्रदर्शन करते हैं, तथापि सब राष्ट्र घोषित करते है कि उन्हे आक्रमण से सुरक्षित होने के अवश्य योग्य होना चाहिए। इस प्रकार वे दूसरे राष्ट्रो को आक्रमणकारी इच्छाओ से सम्बोधित करते है। इन राष्ट्रो मे, जो इसमे व्यस्त हैं कि कौन किस के विरुद्ध सुरक्षित करेगा, समझौता द्वद्व की इस प्रकृति से स्पष्ट रूप से असम्भव है।

अत मे, अत्यन्त महत्त्वपूर्णता से, इन विषयो पर उठने वाले द्वद्व अनिवार्य रूप मे सम्बन्धित राष्ट्रो की वास्तविक और भावी नीतियो के प्रतिबिम्ब हैं।

11. दसवाँ अध्याय देखिए।

वह राष्ट्र, जिसमें दूसरे के विरुद्ध आक्रमणकारी वृतियां हैं, या जिसे दूसरे से आक्रमणकारी वृत्तियों का डर रहता है—और सब राष्ट्र दूसरी श्रेणी में हैं—स्वहित को ध्यान में रखते हुए अपनी रक्षात्मक आवश्यकताओं के अनुमान को उतना ऊँचा रखने पर बाध्य होता है जितना संभव हो, और प्रतिरोधियों को सम्भावित न्यून बिन्दु पर करने पर। दूसरे शब्दों में, अनेक राष्ट्र अपनी विदेशी नीति द्वारा जो कुछ प्राप्त करना चाहते हैं, वह है अपनी शक्ति को बनाए रखना और इसमें विवर्धन करना, और अपने प्रतिरोधियों की शक्ति की गति रोकना और उसे कम करना। यह बात अपने और दूसरे राष्ट्रों की सैनिक आवश्यकताओं के गणित-मूल्यांकन द्वारा व्यक्त होती है। जिन मानों को वे लागू करते हैं इनका निर्धारण उन के राजनैतिक उद्देश्यों द्वारा होता है न कि दूरवर्ती निष्पक्ष मानों से। अतएव इन मानों को सम्बन्धित राष्ट्रों के स्वतंत्र समझौते द्वारा निर्धारित किया जा सकता है, जो इनके विभाजित करने वाले विषयों के निबटारे पर सहमति के बाद होगा। तब शस्त्रों के विनिधान के मान की समस्या, अनुपात की समस्या की तरह हमारे सामने आती है। निरस्त्रीकरण से पहले राजनैतिक समझौता होना अनिवार्य है। बिना राजनैतिक समझौते के निरस्त्रीकरण के सफल होने की कोई सम्भावना नहीं।

राजनैतिक निबटारे और शस्त्रीकरण विनिधान के मान और समझौते के बीच जो सम्बन्ध है, इसकी अधिकतम व्याख्या पुनः विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन में फ्रांस और जर्मनी के संघर्षों में मिलती है। वर्साईलीज की अपरिवर्तित अवस्था पर अनिश्चित झगड़े को ध्यान में रखते हुए फ्रांस ने समानता के अमूर्त अनुपात को वास्तविक शस्त्रीकरण के मानों में स्थानान्तरित किया, जिससे फ्रांस की प्रधानता निरन्तर बनी रहती। दूसरी ओर, जर्मनी ने इस अनुपात को ठोस मापों में बदला जो प्रभावशाली होने पर फ्रांस पर जर्मनी की प्रधानता स्थापित कर देते। इस प्रकार फ्रांस ने जर्मनी से अपनी सेना की आवश्यकता पर आग्रह किया, क्योंकि जर्मनी की जनसंख्या अधिक थी और इसकी वृद्धि की गति भी। जर्मनी ने इस का प्रतिकार फ्रांस की श्रेष्ठता की ओर संकेत करते हुए किया जो इसे परिशिक्षित संचय और फ्रांसीसी औपनिवेशिक साम्राज्य में जनशक्ति और कच्चे माल के संचय में प्राप्त थी। जर्मनी ने तोपखाने और हवाई जहाजों की माँग की, क्योंकि भौगोलिक रूप में यह सशक्त प्रतिकूल राष्ट्रों में स्थित था। फ्रांस ने इस आवश्यकता का खंडन करते हुए सम्मेलन को अपनी विशेष रक्षात्मक आवश्यकता को याद कराया, जबकि जर्मनी के साथ इस के प्राकृतिक युद्धनीतिक सीमान्त का अभाव था और एक शताब्दी में फ्रांस जर्मन-आक्रमण का तीन बार शिकार बन चुका था। विश्व-निरस्त्रीकरण-सम्मेलन का इतिहास फ्रांस और जर्मनी में शक्ति-द्वन्द्व के प्रयों में

लिखा जा सकता है। यह एक ऐसा द्वद्व था, जिसने छोटे तकनीकी ब्यौरे पर समझौता रोक दिया। प्रतियोगी राष्ट्रो की शक्ति के प्रतिकूल मांगो की झलक उनकी शस्त्रो की प्रतिकूल मांगो मे मिलती है।

फ्रास और जर्मनी मे खडे राजनैतिक विषयो के अतिरिक्त तुलनात्मक मूल्याकन की समस्या थी, जिसका सामना विश्व निरस्त्रीकरण-सम्मेलन को करना पड़ा और जिस पर इसे व्यर्थ झगड़ना पडा। जर्मन सेना के कार्य-कलापो की अनुरूप सख्या के विचार से एक मात्र परिशिक्षित, फ्रासीसी सचय का क्या मूल्य होगा ? क्या यह 50,000 60,000, 80,000 100000 या सयोग से 120,000 था ? फ्रासीसी टैको, तोपखानो और हवाई-जहाजो की सख्या मे निर्धारित किस छोर तक जर्मनी की औद्योगिक सामर्थ्य फ्रांस से श्रेष्ठ थी ? फ्रांसीसी जनसख्या से कितने अधिक जर्मन-फ्रांसीसी उपनिवेषक जनो के तुल्य थे ? या समकालिक उदाहरण को लेते हुए अमेरिकी सदर्शक मीसाईल के बराबर कितनी रूसी पैदल सेना होगी ? स्पष्टत ऐसे प्रश्नो का गणित के यथार्थ से उत्तर नही दिया जा सकता। जिस रूप मे विश्व निरस्त्रीकरण सम्मेलन ने उनको विचारा, इन प्रश्नो का उत्तर राजनैतिक सौदाबाजी और राजनयिक समझौते मे अवश्य पाना चाहिये। ऐतिहासिक दृष्टान्त में जिसने विचार रहे हैं, ऐसे साधनो के प्रयोग मे राजनैतिक द्वद्व का निपटारा पूर्व कल्पित है। उस द्वद्व के निरन्तर बने रहने के कारण फ्रास और जर्मनी के लिए शस्त्रो की अनेक मात्रा और प्रतिरूपो के सम्बन्ध म विनिधान के मानो पर राजनय के तन्त्रो द्वारा सहमत होना असम्भव हो गया।

अतएव विषय अनेक राष्ट्रो के शस्त्रीकरण के सम्पूर्ण अनुपात का हो या अनेक मात्रा और प्रतिरूपो मे शस्त्रो के विनिधान का हो, यह विषय मे हल होने के अयोग्य है जब तक कि शक्ति-सघर्ष जिनसे यह उत्पन्न हुए हैं, हल नही होते।

क्या निरस्त्रीकरण का अर्थ शस्त्रो की कटौती है ?

कुछ दृष्टान्तो को ध्यान म रखते हुए जिनमे इन विषयो को वस्तुत हल किया गया और शस्त्रो के अनुपात और विनिधान पर समझौता हुआ, हमे अपने आपसे यह पूछना चाहिए कि इन समझौतो का सम्बन्धित राष्ट्रो के शस्त्रो के गुण और मात्रा पर क्या प्रभाव पडा। तीन सधियों को विचारने की आवश्यकता है। 1922 की वाशिगटन सधि, 1930 की लदन सधि और 1935 का ऐंग्लो-जर्मन समझौता।

वाशिगटन सधि के द्वारा अमरीकी, ब्रिटिश और जापानी मुख्य जहाजो की शक्ति घटाकरलगभग 40 प्रतिशत कर दी गयी। हस्ताक्षर-कर्त्ताओ ने कुल मिलाकर

70 जहाज रद्द कर दिए। उस सीमा तक वाशिंगटन संधि ने शस्त्रो की कटौती का आयोजन किया। दो कारको का अवश्य ध्यान करना चाहिए। एक ओर कटौती केवल अस्थायी होती थी। संधि मे विचारणीय था कि पाँचो हस्ताक्षर-कर्त्ता 1931 मे प्रतिस्थापन का बनाना शुरू कर सकते थे ताकि 1942 तक 5 5 3 1 67 1 67 का अनुपात स्थापित हो जाता। 1931 मे पूंजी जहाजो के सम्बन्ध मे शस्त्रो की कटौती का काल समाप्त हो चुका था और इसका स्थान शस्त्रीकरण की नियमित प्रतियोगिता के युग ने ले लिया।

दूसरी ओर, युद्ध की प्रतिविधि के शीघ्र विकास के कारण, विशेषकर फायर शक्ति और हवाई जहाजो के प्रथम महायुद्ध मे पूँजी जहाजो की प्रतिरूप शीघ्रता हवाई जहाजो को छोडकर दूसरे शस्त्रो की अपेक्षा अप्रचलित हो रही थी। प्रथम महायुद्ध के पाठ को याद रखते हुए अधिक सख्या मे विशेषज्ञो को विश्वास हुआ कि इस प्रकार के लडाकू समुद्री जहाज अप्रचलित हो चुके हैं। यह उच्चतम पैसे का अपव्यय था और नौसैनिक शक्ति का भविष्य ऊँची फायर-शक्ति वाली हल्की और चपल समुद्री नाव मे था। यदि यह मान लिया जाए कि वाशिंगटन-संधि के हस्ताक्षर-कर्त्ताओ के ध्यान मे यह विचार लाए गए तो लडाकू समुद्री जहाजो की शक्ति मे कटौती, लडाकू समुद्री जहाजो की शस्त्र रूप मे अवनति की स्वीकृति प्रतीत होती, क्योकि हस्ताक्षरकर्त्ता हर अवस्था मे काफी मात्रा मे अपने लडाकू समुद्री जहाज रद्द कर देते। वे इसको योजना द्वारा वैसे करते जैसे अनियमित प्रतियोगिता द्वारा। और यहाँ तक भी अधिकतम भार से सम्बन्धित इस समझौते के व्यक्तित्व पूरे फ्रांस और इटली की निरन्तर स्वतन्त्रता इस मान्यता को अर्थ प्रदान करने के लिए वाशिंगटन-सन्धि हस्ताक्षर वालो के बीच शस्त्र होड का एक ऐसा सकेत थी, जिसने शस्त्रो, पनडुब्बियो और घातक हथियारो का वर्णन किया। अब ऐसे समुद्री जहाज थे जो नौयुद्ध के लिए अति महत्त्वपूर्ण थे। कम से कम अपने प्रभाव से वाशिंगटन-सन्धि ने नौसेना सम्बन्धी सघर्ष को उदासीन बना दिया। इसी निर्देश से इसने शक्तियो और भौतिक साधनो को स्वतत्र बना दिया। इस प्रकार उन नाविक शस्त्रो की होड को उत्तेजित किया जहाँ कि प्रतिस्पर्धा की सभावना थी।

हस्ताक्षरकर्त्ताओ के उद्देश्य और प्रभाव चाहे कुछ भी रहे हो, पर वाशिंगटन सधि ने कुछ नौ शस्त्रो को सीमित कर दिया। लदन-सन्धि (1930) और ऐंग्लो-जर्मन समझौता (1935) के विषय मे ऐसा नही कहा जा सकता। लदन-सन्धि की सफलताएँ सयुक्त राज्य, ग्रेट ब्रिटेन और जापान के बीच विनाशक एव घातक शस्त्रो व पनडुब्बियो का अनुपात स्पष्ट करना था। लदन-सन्धि ने इन राष्ट्रो के बीच विभिन्न नौ-शस्त्रो को सीमित किया। वास्तव मे इसने सयुक्त

राज्य और जापान को पुन शस्त्र धारण करने पर उतारू किया जोकि ब्रिटिश अधिकतम शक्ति से सीमित किया गया।

इस सन्धि ने सयुक्त राज्य और ग्रेट ब्रिटेन को समानता प्रदान की, जबकि जापान अधिकतम दो तिहाई तक सीमित था। ऐसा करके इस सन्धि ने ग्रेट ब्रिटेन को कानूनी सर्वोच्चता प्रदान की। ब्रिटेन का नौ-शस्त्रों का अनुपात जापान की शक्ति से बाहर और तत्कालीन सयुक्त राज्य के लिए कठिन प्राप्ति थी (सयुक्त राज्य को पाँच वर्ष तक बिलियन डालर खर्च करने पड़ते)। दूसरे शब्दों में, सन्धि ने सयुक्त राज्य को तीन सूचियों में ब्रिटेन की शक्ति तक पहुँचने की इजाजत दी, जोकि सयुक्त राज्य ने नहीं की[12]।

इस सन्धि ने जापान को सयुक्त-राज्य और ग्रेट ब्रिटेन का दो तिहाई अनुपात रखने की इजाजत दी, जोकि जापान नहीं रख सकता था। लदन-सन्धि ने जो एकमात्र योगदान दिया वह यह था कि कोई हस्ताक्षरकर्त्ता सीमा का उल्लघन नहीं कर सकता था और सयुक्त राज्य और जापान तो सीमा-अनुपात तक पहुँच भी नहीं सकते थे। इस प्रकार शस्त्र कम करने की अपेक्षा सन्धि ने कुछ निश्चित सीमाओं के अन्दर उन्हें अधिक होने की इजाजत दी। और यहाँ तक भी अधिकतम भार से सम्बन्धित इस समझौते के व्यक्तित्व पर फ्रास और इटली की निरन्तर स्वतन्त्रता की सीमा रही, क्योंकि इन्होंने परस्पर-सम्बन्धी श्रेणी में स्वेच्छा से शस्त्र-वृद्धि के हेतु सधि पर हस्ताक्षर नहीं किए थे। इस दशा में हस्ताक्षर-कारों के हितों पर सम्भव खतरे का मुकाबला करने के लिए, विशेषकर भूमध्यसागर में ब्रिटेन के, सधि ने हर उस हस्ताक्षरकर्त्ता की क्रिया-स्वतन्त्रता पुन: स्थापित की, यदि इस के विचार में अ-हस्ताक्षरकर्ता द्वारा, रचना इसकी राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए प्रतिकूल हो। इन कारणों से यदि एक हस्ताक्षरकर्त्ता सधि की सीमा के बाहर अपने भार को बढ़ाता है, तो उस अनुपात में बाकी दो हस्ताक्षरकर्त्ताओं को अपनी नौसैनिक वृद्धि करने की आज्ञा दी गई। ऐसी आवश्यकता पड़ने पर लण्डन-सधि में जो कुछ रह जाता वह शस्त्रीकरण-प्रतियोगिता से अधिक कुछ नहीं था, जिस की गति एक या दूसरी महा-नौसैनिक शक्ति द्वारा निर्धारित लय का अनुसरण करती।

1935 के ऐंग्लो-जर्मन नौसैनिक समझौते पर एक शब्द काफी होगा। शब्दों में सुसज्जित इस समझौते का निरस्त्रीकरण से कोई सम्बन्ध नहीं था। इसने

12. The United States spent for the Construction of ships of all kinds in the fiscal years 1931–35 a total of somewhat more than 324 million, that is, less than a third of a billion dollars (The world Almanac for 1947, P. 812).

परिमितता में जर्मनी के पुन नौसैनिक शस्त्रीकरण का आयोजन किया था, जिस का उल्लघन जर्मनी ने न उस समय किया और न युद्ध के बिना कर सकता था। ग्रेट ब्रिटेन जर्मनी को पहुँचने से नही रोक सकता था।

क्या निरस्त्रीकरण का अर्थ शान्ति है ?

निरस्त्रीकरण को असाधारण परिस्थितियों मे प्राप्त किया गया है, जब भी यह प्रतीत हुआ कि इसे प्राप्त कर लिया गया । बार-बार निरस्त्रीकरण का प्रश्न शस्त्रो म कटौती की अपेक्षा वृद्धि रहा। यह विचार फिर भी उस प्रश्न के लिए पारिभाषिक है जो हमारे वाद विवाद के प्रसग मे निश्चित है। अन्तर्राष्ट्रीय का क्या सम्बन्ध है ? यदि भूखण्ड के राष्ट्र मात्रात्मक या गुणात्मक निरस्त्रीकरण पर सहमत हो सकते और वास्तव मे समझौते के अनुसार नि शस्त्र कर लें तो किस प्रकार से शस्त्रो की सर्वकटौती, या कुछ का उन्मूलन अतर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति को प्रभावित करेंगें।

निरस्त्रीकरण का आधुनिक दर्शन इस कल्पना को लेकर चलता है कि आदमी लडते है, क्योकि उन के पास हथियार है। इस धारणा से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि आदमी सब हथियार छोड दे, सब प्रकार का लडना असम्भव हो जाएगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे केवल सोवियत सघ ने इस निष्कर्ष को गम्भीरता से लिया है और यह बात सदेहयुक्त है कि क्या यह गम्भीर भी था। इस ने 1932 के विश्व-निरस्त्रीकरण सम्मेलन और 1959 मे सयुक्त राष्ट्र के सामने सम्पूर्ण और सार्वलौकिक निरस्त्रीकरण के प्रस्ताव रखे (पुलिस कार्यों के लिए हलके हथियार छोड कर)। परमाणु निरस्त्रीकरण के प्रति सद्यकालिक रूसी रुख उस अवस्था के कुछ अनुकूल है। ऐसे ही सयुक्त राष्ट्र निरस्त्रीकरण आयोग मे सयुक्त राज्य के उप-प्रतिनिधि द्वारा राष्ट्रपति को दी गई 12 जनवरी 1953, की रिपोर्ट मे निरस्त्रीकरण का दर्शन है, जो ऐसे निम्नलिखित है :

निरस्त्रीकरण कार्यक्रम का उद्देश्य युद्ध रोकना होना चाहिए न कि युद्ध मे प्रयोग होने वाले शस्त्रो को नियत्रित करना। हमने स्पष्ट किया है कि सयुक्त राज्य युद्ध का अनिवार्य होना स्वीकार नही करता । काम तो युद्ध की भावना को कम करते हुए निश्चित करना है। किसी राष्ट्र के पास सशस्त्र आक्रमण की सफल क्रांति के साधन न हों तो उद्देश्य युद्ध और सशस्त्र आक्रमण की सम्भावना को कम करते हुए युद्ध की घटना को कम करना है।

परन्तु जहाँ कम उग्र निष्कर्ष निकाले जाते हैं, इस प्रस्ताव को चुपके से माना जाता है कि शस्त्रो या कम से कम कुछ प्रकार और मात्रा मे शस्त्रों की प्राप्ति का युद्ध और शाति के विषय के साथ सम्बन्ध है।

वास्तव में, ऐसा सम्बन्ध उपस्थित है, परन्तु निरस्त्रीकरण के वकील इस से उलटा ही विचारते हैं। आदमी इसलिए नहीं लडते कि उन के पास हथियार हैं। वे हथियार रखते हैं, क्योंकि वे लडना आवश्यक समझते हैं। उन से हथियार ले लिए जाएं तो या तो वे केवल घूसे से लडेंगें या लडने के लिए नवीन हथियार प्राप्त करेंगे। जो वस्तु युद्ध कराती है वह है मानव-हृदय की अवस्था, जिस में युद्ध दो अवगुणों में स्थूल प्रतीत होता है। इन परिस्थितियों में बीमारी का पता लग सकता है, जिस का शस्त्रों की इच्छा करना और उन को प्राप्त करना केवल लक्षण है। जब तक मनुष्य एक दूसरे पर प्रभुत्व स्थापित करना और एक दूसरे की सम्पत्ति को छीनना चाहते है और जब तक वे एक दूसरे से डरते और घृणा करते हैं, वे तब तक अपनी इच्छाओं को सन्तुष्ट करने और अपनी भावनाओं को शांत करने का यत्न करेंगे। जहाँ ऐसी शक्ति विद्यमान हो कि वह इन इच्छाओं और आवेगों की अभिव्यक्तियों को अहिंसक दिशाओं की ओर ले जाए, वहाँ मनुष्य अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अहिंसक साधनों की खोज करेंगे। सत्ताधारी राष्ट्रों के समाज में जो परिभाषा द्वारा अपने राष्ट्रीय क्षेत्र में सर्वोच्च शक्ति है तो भी उन इच्छाओं और उन भावनाओं को समकालिक उद्योगिकी के उपलब्ध साधनों और अनुमोदित व्यावहारिक नियमों द्वारा सन्तुष्ट और व्यक्त किया जाएगा। इतिहास के भिन्न कालों में ये साधन तीर और तलवारें हो, तोपें और बम हो, गैस और सहायक मीसाइल हो, जीवाणु और नाभकीय हथियार हो।

किसी विशेष समय पर उपलब्ध हथियारों के वास्तव में या सशक्त कम होने से युद्ध के आपात पर कोई प्रभाव नहीं पड सकता था। इससे इस के आचरण पर विचारणीय प्रभाव पडता। शस्त्रों और पुरुषों की मात्रा में सीमित राष्ट्र अपनी सारी शक्ति अपने पास ऐसे शस्त्रों और पुरुषों की गुण वृद्धि में एकाग्र करते और वे नए शस्त्रों की खोज करते जिससे मात्रा-हानि पूरी हो जाती और विपक्षियों पर विजय प्राप्त होती।

कुछ प्रकार के विलोपन से युद्ध की उद्योगिकी पर प्रभाव पडता और इस के द्वारा युद्ध के आचरण पर भी। यह देखना कठिन है कि इस का युद्ध की आवृत्ति पर प्रभाव पड सकता या सम्पूर्ण युद्ध समाप्त हो सकता था।

उदाहरणतया यदि हम यह मान ले कि नाभकीय हथियारों के बनाने और प्रयोग को अवैध घोषित करना सम्भव था तो इस प्रतिषेध का क्या परिणाम होगा, यदि इस का व्यापक अनुपालन हो। यह केवल युद्ध की उद्योगिकी को ऐसे विशेष सम्बन्ध में 16 जुलाई 1945 की प्रातः के स्तर तक कम करेगा, जिस के बाद न्यू मैक्सिको में पहला परमाणु बम विस्फोट हुआ। प्रतिषेध का

अनुपालन करने वाले राष्ट्र नाभकीय हथियारों को छोड़ दूसरे हथियारों के विकास और खोज मे, जो लगभग ध्वंसात्मक होंगे, अपने मानवीय और भौतिक साधन जुटाएंगे। युद्ध की उद्योगिकी तो बदल जाए, परन्तु युद्ध का आपात नही, तथापि इस पर साफ तर्क हो सकता है कि सम्पूर्ण युद्ध का भय वास्तव मे एक इतना महत्त्वपूर्ण कारक है, जिसने परमाणु काल मे सामान्य युद्ध को रोका है। नाभकीय निरस्त्रीकरण द्वारा उस भय के दूर होने से युद्ध का खतरा यह विश्वास दिए बिना बढ़ जाएगा कि युद्धकारी अनाभकीय शस्त्रो को आरम्भ करते हुए, मध्य युद्ध मे ऐसे हथियार प्रयोग मे नही लाएँगे।

विश्व-निरस्त्रीकरण-सम्मेलन मे रक्षात्मक के मुकाबले मे आक्रमणकारी शस्त्रो को अवैध कराने के ग्रेट ब्रिटेन के निष्फल प्रयत्न मे गुणात्मक नि शस्त्रीकरण द्वारा समस्या को हल करने की असम्भवता का उल्लेख है। ग्रेट ब्रिटेन की धारणा थी कि आक्रमणकारी युद्ध को चलाने की योग्यता आक्रमणकारी हथियारो की प्राप्ति का फल है। निष्कर्ष निकाला गया कि आक्रमणकारी शस्त्रो को पाए बिना आक्रमणकारी युद्ध नही हो सकता। धारणा के साथ निष्कर्ष भी नही ठहरता। शस्त्र स्वभाव से न तो आक्रमणकारी होते हैं न रक्षात्मक, बल्कि काम मे आने वाले उद्देश्य से ऐसा बन जाते है। मशीन तोप या टैंक से न्यून न होते हुए एक तलवार भी प्रयोग करने वाले की इच्छा के अनुसार आक्रमण या रक्षा का साधन है। एक छुरी मांस काटने मे, शल्य-चिकित्सक के आपरेशन करने मे, आक्रमणकारी को रोकने मे और किसी व्यक्ति की पीठ मे छुरा मारने के काम आ सकती है। एक हवाईजहाज मुसाफिर और सामान उठाने, शत्रु की युद्धनीतिक टोह लगाने, अरक्षित नगरो पर आक्रमण करने और आक्रमणीय शत्रु-शिविर को छिन्न-भिन्न करने के काम भी आ सकता है।

ब्रिटिश प्रस्ताव मे यथापूर्व-स्थिति को आक्रमण से सुरक्षित करने के वास्तविक प्रयत्न थे, जिसे इस को गिराने वाले अधिक सम्भव हथियारो को अवैध घोषित कर बनाए रखना था। उन्होने राजनैतिक समस्या को कुछ यन्त्रो के हेर फेर से हल करने का यत्न किया, जिस का समाधान हिंसक साधनो द्वारा हो। यदि आक्रमणकारी हथियारो के लक्षणो पर सहमत होना सम्भव था, फिर भी बाकी बचे उपलब्ध शस्त्रो के प्रयोग पर राजनीतिक समस्या पुन. खड़ी हो जाती। तो भी वास्तव में उस बिन्दु पर समझौता प्रश्न के बाहर था, क्योंकि जिन हथियारो को ग्रेट ब्रिटेन आक्रमणकारी सोचता था यह उन शस्त्रो से मिलते थे जिन पर यथापूर्व परिस्थिति-विरोधी राष्ट्रो को अपने राजनैतिक उद्देश्यो की प्राप्ति के लिए भरोसा था। उदाहरण के लिए ग्रेट ब्रिटेन लड़ाकू समुद्री जहाजों को रक्षात्मक और डुबकी किश्तियो को आक्रमणकारी समझता

था, जबकि छोटे नौसैनिक राष्ट्र इस से उलटा सोचते थे। प्रतिकूलता से घिरे और निष्फल होने वाले कार्य की तरह गुणात्मक निरस्त्रीकरण के ब्रिटिश प्रस्तावों में उस राजनैतिक मूढ़ता का लक्षण था, जिसने विश्व-निरस्त्रीकरण सम्मेलन का निंदनीय अंत किया।

अन्त में, हम यह धारण करें कि स्थायी सेना या नाभकीय हथियार सम्पूर्ण अवैध घोषित हो जाएगे और फलस्वरूप अन्तर्धान भी। ऐसे प्रतिषेध का युद्ध पर सम्भव प्रभाव सीमित होगा और इसकी शुरुवात का प्रारम्भिक लक्षण प्रतिरोधी राष्ट्रों में शस्त्रीकरण की प्रतियोगिता युद्ध के पूर्व और इस के प्रथम बिन्दु में प्रकट होने के बदले में युद्ध में प्रारम्भ तक स्थगित रहेगी। युद्ध की घोषणा में युद्धग्रस्त राष्ट्रों के लिए अपने मानवीय और भौतिक साधनों को जुटाने का संकेत होगा और अधिक विशेष कर, युद्ध के हथियारों को शीघ्र बनाने के लिए वे अपनी औद्योगिक निपुणता का प्रयोग करेंगे, जिसके लिए उनकी योग्यता साध्य हो। वास्तव में नाभकीय हथियारों को अवैध घोषित करना सम्भव है, परन्तु यह सम्भव नहीं कि उनके बनाने का ज्ञान और योग्यता को अवैध घोषित किया जाए। यह स्पष्ट कारण है कि युद्ध में विशेष हथियारों का निषेध करना सामान्य रूप में प्रभावशाली नहीं रहा है। उदाहरणतया, यह प्रतिषेध असफल रहा, जब इसको हलके विस्फोटित प्रक्षिप्तों या ज्वलनशील पदार्थ पर हवाई जहाज़ों से नागरिकों पर बमबारी और असीमित डुबकी-किश्तियों के युद्ध पर लागू किया गया।

विजय युद्धकारी राष्ट्रों का अभीश्वर विषय है। वे युद्ध-पद्धति के सम्बन्ध में कुछ व्यावहारिक नियमों का पालन करें। वे सब हथियारों के प्रयोग को नहीं छोड़ेंगे, जिनको बनाने की उनकी उद्योगिकी योग्यता रखती है। परन्तु दूसरे महायुद्ध में ज़हरीली गैस के प्रयोग पर प्रतिषेध एक प्रत्यक्ष अपवाद है। सब प्रमुख अधिकारियों ने ज़हरीली गैस बनाई। उन्होंने इसके प्रयोग और इस के विरुद्ध रक्षा के लिए सेना को प्रशिक्षण दिया और इसके प्रयोग के लिए तैयार थे, यदि ऐसा प्रयोग लाभप्रद होता। केवल सैनिक इष्ट-सिद्धि को ध्यान में रखते हुए सब युद्धकारी इसके प्रयोग से रुके, जिसकी आवश्यकता पड़ने पर वे सब इसको काम में लाने की इच्छा रखते थे।

वर्साई की सन्धि द्वारा जर्मनी पर थोपे हुए निरस्त्रीकरण के परिणाम से यह साफ प्रदर्शित होता है कि मात्रात्मक और गुणात्मक निरस्त्रीकरण उद्योगिकी और रणविधि को प्रभावित करता है, परन्तु युद्ध के आपात को नहीं। यह निरस्त्रीकरण मात्रात्मक भी था और गुणात्मक भी। यह इतना पूर्ण था जिससे

जर्मनी के लिए प्रथम महायुद्ध जैसा युद्ध पुन छेड़ना असम्भव हो। तथापि यदि उद्देश्य जर्मनी को सर्वदा ऐसा युद्ध न करने के अयोग्य बनाना था—और यह वास्तविक उद्देश्य भी था—तब वर्साई की सधि की निरस्त्रीकरण-धाराएँ एक कौतुकपूर्ण असफलता थी। उन्होंने जर्मन जनरल स्टाफ को प्रथम महायुद्ध में प्रचलित युद्ध के साधनो को त्यागने पर विवश किया, ताकि वह अपनी विदग्धता नवीन साधनो पर लगाए, जिसका वर्साई की सधि में प्रतिषेध नही हुआ, क्योंकि उनका प्रथम महायुद्ध में व्यापक प्रयोग नही हो पाया था इस प्रकार वर्साई की सधि ने जर्मनी को फिर युद्ध की योग्यता से वंचित करने के स्थान पर वास्तव में फ्रांस की तरह दूसरे महायुद्ध की तैयारी पर बाधित किया, जो पहले की पुनरावृत्ति था। प्रथम महायुद्ध की उद्योगिकी और रणनीति के अर्थों में निरस्त्रीकरण तब जर्मनी के लिए वास्तव में छिपी कृपा थी। निरस्त्रीकरण ने जर्मनी के लिए अनिवार्य कर दिया कि वह अपनी सैनिक नीति को भूतकाल की अपेक्षाकृत भविष्य की दिशा में सुधारें।

यह प्रस्तावित किया गया है कि जब निरस्त्रीकरण अपने आप युद्ध को समाप्त नही कर सकता था, यह काफी मात्रा में उन युद्धो की ओर ले जाने वाले खिचाव को कम कर सकता था। विशेषकर अनियमित शस्त्रीकरण प्रतियोगिता—जो डर को उत्पन्न करती है और उस पर जीवित है और सर्वदा बढ़ने वाले वित्त-भार को डालती है, ऐसी असहनीय परिस्थिति की ओर ले जाए कि सब प्रतियोगिता के पक्ष साधन से इस अनिश्चित अनुवर्ती पर समाप्त होने को तरजीह दें। चाहे इससे युद्ध की आपत्ति का सामना करना पड़े।

अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो के सामान्य निबटारे मे निरस्त्रीकरण मे कम से कम शस्त्रो का नियमन एक अनिवार्य कदम है, तो भी यह पहला कदम नही हो सकता। शस्त्रीकरण की प्रतियोगिता शक्ति प्रतियोगिता का प्रतिबिम्ब भी है और साधन भी। तब तक राष्ट्र शक्ति-द्वद्व मे प्रतिकूल मांगें करेंगे। शक्ति-सघर्ष का परस्पर सतोषजनक निबटारा निरस्त्रीकरण की पूर्वशर्त है। एक बार सम्बन्धित राष्ट्रा के शक्ति-विभाजन पर परस्पर सतोषजनक समझौता हो जाए, तो वे अपने शस्त्रो को घटाने और सीमित करने के योग्य हो सकते हैं। अपनी ओर से निरस्त्रीकरण का सामान्य शान्ति स्थापना के प्रति अधिक योगदान होगा। राष्ट्र उस मात्रा मे निरस्त्रीकरण के विषय का निबटारा कर पाएगे, जिस मात्रा मे वे राजनैतिक समझौता कर पाएगे।

शस्त्रीकरण-प्रतियोगिता ने किसी तरह कम न होते हुए, शस्त्रीकरण सम्बन्धित राष्ट्रो मे शक्ति-सम्बन्धो का प्रतिबिम्ब है। शस्त्रीकरण प्रतियोगिता से कम न होते हुए निरस्त्रीकरण की उन शक्ति सम्बन्धो पर प्रतिक्रिया होती है

जिनसे यह पैदा हुआ जैसे भय के द्वारा, जिसे यह उत्पन्न करती है और भार के द्वारा, जिसे यह ठोसती है। शस्त्रीकरण-प्रतियोगिता शक्ति-संघर्ष को जटिल बनाती है, वैसे राजनैतिक खिंचाव को कम कर और परस्पर सम्बन्धी राष्ट्रों के उद्देश्यों में विश्वास उत्पन्न कर के निरस्त्रीकरण का राजनैतिक स्थिति के सुधारने में योगदान है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को स्थापित करने और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति बनाए रखने में निरस्त्रीकरण का ऐसा योगदान हो सकता है। यह महत्त्वपूर्ण योगदान है, परन्तु स्पष्ट रूप से यह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति की समस्या का हल नहीं।



चौबीसवाँ अध्याय

सुरक्षा

पर्यवेक्षको ने अनुभव किया है कि निरस्त्रीकरण की समस्या का हल स्वय निरस्त्रीकरण मे नही है। उन्होने इसे सुरक्षा मे पाया है। शस्त्रीकरण विशेष मनोवैज्ञानिक कारको का परिणाम है, जब तक ये कारक बने रहते हैं तब तक राष्ट्रो का अपने आप को सशस्त्र करने का सकल्प बना रहेगा और वह सकल्प निरस्त्रीकरण को असम्भव बना देगा। शस्त्रीकरण का वास्तविक उद्देश्य आक्रमण का डर है, दूसरे शब्दो मे असुरक्षा की भावना। अतएव इस पर बहस की गई है कि इस बात की आवश्यकता है कि राष्ट्रो को किन्ही नये साधनो द्वारा आक्रमण से सुरक्षित करना चाहिए और इस प्रकार उन्हे सुरक्षा की भावना प्रदान करनी चाहिए। तब शस्त्रीकरण की प्रेरक शक्ति और वास्तविक आवश्यकता अन्तर्धान हो जाएगी, क्योंकि उस नए साधन मे राष्ट्र सुरक्षा को पाएगे, जिसकी पहले वे शस्त्रीकरण मे खोज करते थे। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के आरम्भ से सब राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय राष्ट्र किसी न किसी समय पर कानूनी रूप मे ऐसे दो साधनो के लिए वचन-बद्ध होते थे। वे दो है सामूहिक सुरक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस सेना।

सामूहिक सुरक्षा

हमने पहले भी सामूहिक सुरक्षा की समस्या के कानूनी पहलू पर बहस कर ली है। यह राष्ट्र-सघ के प्रसविदा की धारा 16 मे और सयुक्त-राष्ट्र के चार्टर के अध्याय 7 मे और सयुक्त राष्ट्र महासभा के शान्ति के लिए एकता वाले प्रस्ताव मे पाई जाती है। सामूहिक रक्षा द्वारा उत्पन्न समस्याओ पर विचार करना अभी शेष है, जिनका विशेष सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति से है।

सामूहिक सुरक्षा की सक्रिय प्रणाली मे सुरक्षा की समस्या अब व्यक्तिगत राष्ट्र का समुत्थान नही, जिसका ख्याल शस्त्रो और राष्ट्रीय बल के दूसरे अशो से किया जाए। सुरक्षा का सम्बन्ध सब राष्ट्रो से है। वे प्रत्येक की सुरक्षा का ख्याल सामूहिक रूप में करेंगे, जैसे उनकी अपनी ही सुरक्षा खतरे मे हो। यदि ए बी की सुरक्षा के लिए खतरा सिद्ध होता है, तो सी, डी, इ, एफ, जी, एच, आई, जे बी की ओर से ए के विरुद्ध कदम उठाएगे, मानो कि ए ने उनको और बी को चुनौती दी हो और

ऐसे ही इसके विपरीत भी। प्रत्येक के लिए सब और सबके लिए प्रत्येक सामूहिक सुरक्षा का मूलमन्त्र है। जैसेकि ब्रिटिश राजदूत लार्ड लोफटस की, बिसमार्क ने 12 अप्रैल 1869 को ब्रिटिश विदेश मंत्री, अर्ल ऑफ कलेरेडन से 17 अप्रैल 1869 को भेजी गई रिपोर्ट के अनुसार कहा था "यदि तुम केवल इतना घोषित कर दो कि हर समय उस शक्ति को, जो जान बूझ कर योरुप की शान्ति को भंग करेगी, सामूहिक शत्रु के रूप में देखा जायगा—हम इस घोषणा में सम्मिलित होंगे और इसका पालन करेंगे, यह मार्ग, यदि इसका दूसरी शक्तियाँ समर्थन करें योरुप की शान्ति के लिए निश्चित गारंटी बनेगा।

हमने पहले भी संकेत किया है कि सामूहिक सुरक्षा का तर्क निर्दोष है, यदि इसको अन्तर्राष्ट्रीय स्थल पर उपस्थित परिस्थितियों में काम में लाया जा सके। यदि सामूहिक सुरक्षा को युद्ध को रोकने के माध्यम के रूप में कार्य करना है, तो तीन धारणाएँ अवश्य पूरी होनी चाहिएँ (1) कि हर समय प्रत्येक आक्रमक या आक्रमक सहमिलन के विरुद्ध इतनी प्रचंड शक्ति इकट्ठी कर पाए कि उस सामूहिक प्रणाली द्वारा सुरक्षित व्यवस्था को ललकारने का साहस न हो। (2) कम से कम वे राष्ट्र जिनकी संगठित शक्ति पहली धारणा के अन्तर्गत आवश्यकताओं को पूरी करती है, सुरक्षा के प्रति वे विचार अवश्य रखते हैं जिनके बचाव की उनसे आशा की जाती है। (3) वे राष्ट्र अपने प्रतिकूल राजनीतिक हितों को सामूहिक कल्याण के अधीन करने के इच्छुक हों, जिसकी परिभाषा सब सदस्या के सामूहिक बचाव के शब्दों में की गई है।

यह विचारणीय है कि ये मान्यतायें विशेष परिस्थिति में समझी जायें। तो भी संकट ऐसी सम्भावना के तीव्र विरोधी है। न तो पूर्व अनुभव से और न ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सामान्य स्वभाव से यह पता चलता है कि ऐसी परिस्थिति सम्भवतः घटित हो पाए। वास्तव में यह सत्य है कि युद्ध की आधुनिक परिस्थितियों में जो पूर्व-परिस्थितियों से कम नहीं कोई अकेला राष्ट्र इतना बलवान नहीं कि वह दूसरे राष्ट्रों के संगठन का उल्लंघन करे, तथापि इसकी सम्भावना बहुत कम है, कि केवल एक ही राष्ट्र आक्रामक की अवस्था में पाया जाए। सामान्यतया एक से अधिक राष्ट्र उस व्यवस्था का विरोध करेंगे, जिसके बचाव का यत्न सामूहिक सुरक्षा करती है और दूसरे राष्ट्र उस विरोध से सहानुभूति करेंगे।

इस परिस्थिति का कारण उस व्यवस्था के लक्षणों में पाया जाता है जिसका बचाव सामूहिक सुरक्षा द्वारा होता है। इस व्यवस्था में आवश्यकतावश यथा-पूर्व स्थिति को वैसा बनाए रखना होता है, जैसे वह विशेष समय पर पाई

जाती है। ऐसे राष्ट्र-संघ की सामूहिक सुरक्षा ने प्रादेशिक यथापूर्व स्थिति को वैसे बनाए रखने का प्रयत्न किया जैसे कि यह 1919 में राष्ट्र-संघ की स्थापना के समय विद्यमान थी। परन्तु 1919 में कई एक राष्ट्र पहले से ही उस यथापूर्व स्थिति का तीव्र विरोध कर रहे थे। वे प्रथम महायुद्ध में हारे हुए राष्ट्र थे अथवा इटली था, जिसने अपने आपको विजय के कुछ वचन दिए हुए फलों से वंचित पाया। संयुक्त राज्य और सोवियत संघ जैसे दूसरे राष्ट्र परिस्थिति के प्रति अधिकतम उदासीन थे। फ्रांस और इसके मित्र-राष्ट्रों के लिए, जिन्हें 1919 की यथापूर्व स्थिति से मुख्यतया लाभ हुआ था और जो इसकी सामूहिक सुरक्षा के साधनों से रक्षा करना चाहते थे, सुरक्षा का अर्थ उस सीमान्त की रक्षा था, जिसे 1919 की शांति संधियों में स्थापित किया गया था। और वे अपनी प्रधानता को योरुप महाद्वीप पर निरन्तर बनाए रखना चाहते थे। असन्तुष्ट राष्ट्रों को सुरक्षा से अभिप्राय ठीक इसी के विपरीत था। वह था सीमांत का परिशोधन और फ्रांस और इसके मित्र-राष्ट्रों की अपेक्षा अपनी शक्ति में सामान्य वृद्धि।

यथापूर्व-स्थिति के पक्ष और विपक्ष में राष्ट्रों का गुटों में बंट जाना प्रथम महायुद्ध के पूर्वकाल की ही विशेषता नहीं थी। जैसाकि हम जानते हैं यह अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मौलिक प्रतिरूप है। इस प्रकार से यह इतिहास के सब कालों में घटित होता है। यथापूर्व-स्थिति और साम्राज्यवादी राष्ट्रों के द्वन्द्व द्वारा यह ऐतिहासिक क्रम को गति प्रदान करता है। इस विरोध का हल समझौते में होता है या युद्ध में। सामूहिक सुरक्षा के सफल होने का अवसर केवल इस धारणा पर आधारित है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रेरक बल शक्ति-संघर्ष पर भेद पड़ जाय या वह अधिक ऊँचे सिद्धान्त द्वारा विस्थित हो जाए। तो भी क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की वास्तविकता में कोई बात नहीं, जो इस धारणा से मेल खाती हो, इसलिए सामूहिक सुरक्षा के द्वारा विशेष यथापूर्व-स्थिति को अन्त में निष्फल होना है। थोड़े समय के लिए सामूहिक सुरक्षा विरोधियों की अस्थाई दुर्बलता के कारण विशेष यथापूर्व-स्थिति को सुरक्षित करने में सफल रही। अन्त में, इसके सफल होने में विफल होना तीसरी धारणा के अभाव के कारण है, जिसके आधार पर हमने सामूहिक सुरक्षा की सफलता के बारे में भविष्यवाणी की थी।

ऐतिहासिक अनुभव और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के वास्तविक स्वभाव के प्रकाश में, हमें यह अवश्य धारण करना चाहिए कि हितों के द्वन्द्व अन्तर्राष्ट्रीय स्थल पर बने रहेंगे। न तो कोई राष्ट्र और न ही राष्ट्रों का समूह, चाहे कितना ही बलवान और कितना ही अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भक्त क्यों न हो, इस बात को ध्यान में न रखते हुए कि किस के द्वारा और किस के विरुद्ध

आक्रमण होना है, हर समय प्रयेक आक्रमण का मुकाबला सामूहिक सुरक्षा के साधनो द्वारा नही कर सकता। और सयुक्त राष्ट्र दक्षिणी कोरिया की सहायता पर आए, जब इस पर 1950 में आक्रमण हुआ, क्योंकि उनमे ऐसा करने की शक्ति और रुचि थी। क्या व सामूहिक सुरक्षा के पुन अभिनेता बनेंगे, यदि कल इडोनेशिया या चाईल या मिस्र आक्रमण के शिकार बने ? सयुक्त राज्य और सयुक्त राष्ट्र क्या करेंगे यदि दो मित्र आक्रमणकारी एक समय पर आगे बढना शुरु करें ? क्या वे दोनो आक्रमणकारियो का अधा धुंध विरोध करेंगे ? और इस बात का ख्याल नही करेंगे कि इसकी लपेट म कौन से हित आत हैं और कौन सा बल उपलब्ध है ? और क्या वे सामूहिक सुरक्षा के नियमों के उल्लघन करने से मना कर दग और एक से निवटने के लिए रुकेंगे, क्योंकि या तो वह बहुत भयकर है या उसे पकड़ना सरल है, और यदि कल दक्षिण कोरिया पासा पलट और उत्तरी कोरिया या साम्यवादी चीन पर आक्रमण करे तो क्या सयुक्त राज्य और सयुक्त राष्ट मुडकर दक्षिण कोरिया के लिए लड़गे ?

उत्तर अनिवाय रूप मे पूवकल्पना की तरह न मे है या एक प्रश्नचिह्न मे। तथापि सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्तो के अनुसार उत्तर हाँ मे होना चाहिए। यह सिद्धान्त प्रत्येक आक्रमण के विरुद्ध शक्ति और हित की परिस्थिति का ध्यान न करते हुए सामूहिक कार्यवाही की माग करता है। विदेश-नीति नियम अनेक आक्रमण और आक्रमणकारियो म शक्ति और हितो के भेद करते हैं। आदश रूप म सामूहिक सुरक्षा का उद्देश्य प्रत्यक अमूत आक्रमण का विरोध करना है। सामूहिक सुरक्षा को केवल यह प्रश्न पूछने की आशा है कि 'किस ने आक्रमण किया है ? विदेशीनीति यह प्रश्न किय बिना नही रह सकती कि इस विशेष आक्रमणकारी का विरोध करन में मेरा कौन सा हित है और किस शक्ति से इसका विरोध हो।

तब सामूहिक सुरक्षा केवल अगली धारणा पर सफल हो सकती है कि सब या वास्तव में सब राष्ट्र यथापूव स्थिति के बचाव के लिए आएँगे, जिससे विशेष राष्ट्र की सुरक्षा को खतरा बने चाहे इसमें युद्ध का भय क्यो न हो। व अपने व्यक्तिगत हितो को ध्यान में न रखते हुए, जिससे यह नीति उचित ठहराई जाए काय करेंगे। दूसरे शब्दों में *जिस वस्तु की माँग सामूहिक सुरक्षा* व्यक्तिगत राष्ट्रो से करती है, वह यह है कि वे राष्ट्रीय अहकार और काम में आने वाली राष्ट्रीय नीतियो को त्यागें। सामूहिक सुरक्षा आशा करती है कि व्यक्तिगत राष्ट्रो की नीतिया पारस्परिक सहायता के आदश—आत्म-बलिदान—की भावना से प्ररित हो, जो युद्ध के सर्वोच्च बलिदान से भी न हटे, यदि उस आदश के लिए इसकी आवश्यकता पड़।

यह तीसरी धारणा वास्तव में नैतिक क्रान्ति की धारणा के बराबर है और यह पश्चिमी सभ्यता के इतिहास में घटित नैतिक परिवर्तन से अपरिमित रूप में अधिक मौलिक है। यह नैतिक क्रान्ति न केवल अपने देश का प्रतिनिधित्व करने वाले राजनीतिज्ञों के कामों में घटित है, वरन् नागरिकों से आशा की जाती है कि वे उन राष्ट्रीय नीतियों का, जो कभी राष्ट्र-हित के प्रतिकूल भी हो सकती हैं, समर्थन करें, बल्कि उनसे यह भी आशा की जाती है कि वे अपना जीवन त्यागने पर तत्पर रहें, और संसार के किसी स्थान पर किसी राष्ट्र की सुरक्षा के लिए नाभकीय युद्ध के सम्पूर्ण विनाश का खतरा मोल लें। यह कहा जा सकता है कि यदि आदमी हर जगह इस प्रकार अनुमान करे और काम करे तो सब आदमियों का जीवन सदा के लिए सुरक्षित रहेगा। निष्कर्ष की सच्चाई इतनी निर्विवाद है जितना आधार वाक्य का काल्पनिक लक्षण।

सामान्यतया मनुष्य को व्यक्ति के रूप में या अपने राष्ट्र के सदस्य के रूप में, दूसरे राष्ट्रों के सदस्यों के प्रति वैसे अनुभव और कार्य करना चाहिए, जैसेकि हमने दिखाने का यत्न किया है। तभी सामूहिक सुरक्षा सफल हो सकती है। आज आधुनिक इतिहास के किसी समय की अपेक्षा इसकी कम सम्भावना है कि वे अधि-राष्ट्रीय लक्षण के नैतिक आदेश के अनुसार काय करेंगे, यदि यह कार्य परस्पर-सम्बन्धी राष्ट्रों के हितों के लिए हानिकारक हो। व्यक्तिगत राष्ट्रों के ऊपर कानून लगाने वाली कोई एजेंसी नहीं है और न ही इतने प्रबल नैतिक और सामाजिक दबाव है, जिसके अधीन उनको लाया जाए। इसलिए वे राष्ट्रीय हितों का अनुसरण करने को बाध्य है। राष्ट्रीय और अधि-राष्ट्रीय हित और नैतिकता में द्वंद्व अनिवार्य है, कम से कम कुछ राष्ट्रों के लिए और किसी काल्पनिक परिस्थितियों में जिसमें, सामूहिक सुरक्षा की पूर्णता की माँग की जाए। उन राष्ट्रों को विवश होकर अपने व्यक्तिगत हितों के अनुकूल ऐसे झगड़े का फैसला करना पड़ता है, जिससे सामूहिक प्रणाली की क्रिया शक्तिहीन हो जाती है।

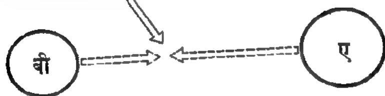
इस बहस के प्रकाश में हम निष्कर्ष निकालते है कि सामूहिक सुरक्षा समकालिक संसार में उस प्रकार काम नहीं कर सकती, जिस प्रकार इसे आदर्श धारणाओं के अनुसार अवश्य करना चाहिए। (दे० चित्र अ)

सामूहिक सुरक्षा का आदर्श

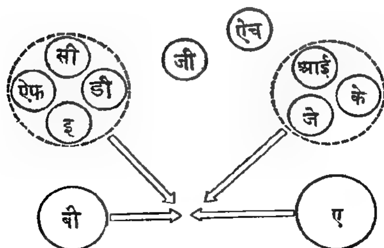
यद्यपि सामूहिक सुरक्षा का यह महान् विरोध है कि इसको आदर्श पूर्णता से कम कार्यान्वित करने का यत्न किया गया, तो इसका प्रभाव उससे विपरीत होगा, जिसको यह प्राप्त करने की कल्पना करती है। यह सामूहिक सुरक्षा न करे। जितनी ही सामूहिक सुरक्षा को काम में लाने के लिए परिस्थितियाँ कम

पर पहुँच सकता
मिल रहा था।





सामूहिक सुरक्षा का आदर्श



सामूहिक सुरक्षा की वास्तविकता

आदर्शवादी होगी, उतना ही कम उग्र राष्ट्रों का सयुक्त बल होगा, जिससे वे यथापूर्व स्थिति को बचाने की इच्छा रखते है। यदि सतोषजनक सख्या मे राष्ट्र यथापूर्व-स्थिति के विरुद्ध है, और यदि वे सामूहिक सुरक्षा के अर्थों में परिभाषित सामूहिक कल्याण का अपनी विमुखना पर पूर्वता देने को तैयार नही, तो यथापूर्व-स्थिति और यथापूर्व-स्थिति विरोधी राष्ट्रो के बीच शक्ति-वितरण पहले के पक्ष मे व्यग्र रूप म नही होगा। वस्तुत शक्ति-वितरण शक्ति-सतुलन का रूप धारण कर लेगा जो अब भी यथापूर्व-स्थिति वाले राष्ट्रो के पक्ष मे रहेगा कि यथापूर्व-स्थिति विरोधी राष्ट्रो के लिए पूर्णत हतोत्साहित करने वाली हो।

हम जानते है कि सामूहिक सुरक्षा को ऐसी परिस्थितियो में क्रियात्मक रूप देने से, जिन परिस्थितियो मे इसे कार्यान्वित किया जा सकता है, शान्ति-सरक्षण नही होगा, बल्कि युद्ध अनिवार्य बन जाएगा। उससे स्थानीय युद्ध असम्भव हो जाएगा और इस प्रकार युद्ध विश्वव्यापी बन जाएगा। जिस प्रकार वस्तुत: समकालिक परिस्थितियो मे घटित होता है, यदि सामूहिक प्रणाली के अधीन ए बी पर आक्रमण करे तब सी डी ई और एफ अपने सामूहिक आधार को पूरा करते हुए बी की सहायता करेगे, जब कि जी और एच एक ओर खडे रहे और आई जे और के ए के आक्रमण का समर्थन करे। (दे० चित्र ब)

सामूहिक सुरक्षा की वास्तविकता

यदि सामूहिक सुरक्षा की कोई प्रणाली न होती, तब ए बी पर आक्रमण करता, चाहे इसके ए और बी के लिए कैसे ही परिणाम होते, और इसमे कोई दूसरा राष्ट्र न फँसता। कम आदर्श परिस्थितियो मे कार्यान्वित सामूहिक सुरक्षा-प्रणाली के अतर्गत ए और बी या ससार म किसी जगह दो राष्ट्रो मे छिडा युद्ध आवश्यकतावश सब या ससार के उच्चतम अधिक राष्ट्रो मे युद्ध के खतरे उत्पन्न करता है।

आधुनिक राज्य-प्रणाली के आरम्भ से लेकर प्रथम महायुद्ध तक राजनय की यह मुख्य चिन्ता थी कि वह दो राष्ट्रो मे वास्तविक द्वन्द्व या जिसके होने का डर हो एक ही स्थान तक सीमित करें जिससे यह दूसरे राष्ट्रो मे न फैल सके। 1914 के ग्रीष्म मे ब्रिटिश राजनय द्वारा आस्ट्रिया और सरबिया के द्वन्द्व को सीमित करने के प्रयत्न निष्फल होते हुए भी, चित्त आकर्षित करने वाले उदाहरण हैं। मूल धारणा की पुष्टि म प्रस्तुत तर्क के आधार पर सामूहिक सुरक्षा की राजनय का ध्येय सब स्थानीय द्वद्वो को विश्व-द्वद्वो मे बदलना होता हैं। यदि यह शान्ति का एक ससार नही बन सकता तो यह युद्ध का एक ससार बने बिना नही रह सकता, क्योंकि शान्ति को अविभाज्य माना गया है, तो इससे यह तथ्य

निकला कि युद्ध भी अविभाज्य होता है। सामूहिक सुरक्षा की धारणा के अंतर्गत संसार के किसी स्थान पर युद्ध सशक्त रूप से विश्व-युद्ध है, इस प्रकार युद्ध को असम्भव बनाने वाले यंत्र का अंत युद्ध को विश्व-व्यापी बना कर होता है। दो राष्ट्रों में शान्ति-संरक्षण के स्थान पर, जैसा कि इसे समकालिक संसार में काम करना चाहिए, सामूहिक सुरक्षा सब राष्ट्रों के बीच शान्ति-भंग करने पर बाध्य है।

शान्ति-संरक्षण के व्यावहारिक यन्त्र के रूप में सामूहिक सुरक्षा पर इन टिप्पणियों का समर्थन सामूहिक सुरक्षा को ठोस प्रकार से लागू करने के दो यत्नों के अनुभव से मिलता है—जैसा कि 1935-36 में इटली के विरुद्ध राष्ट्र-संघ के अनुशासन और 1950 से 1953 तक दक्षिण कोरिया की प्रादेशिक अखंडता के बचाव के लिए संयुक्त राष्ट्र का हस्तक्षेप।

इटली-इथोपिया का युद्ध

इथोपिया पर इटली के आक्रमण के बाद राष्ट्र संघ प्रसंविदा की सोलहवीं धारा में आयोजित सामूहिक सुरक्षा के यंत्र को काम में लाया। यह बात तुरन्त स्पष्ट हो गई है कि विश्व-राजनीति की वास्तविक परिस्थितियों में उन धारणाओं में से जिन की पूर्ति पर सामूहिक सुरक्षा की सफलता निर्भर है, एक भी नहीं पाई गई और न ही पाई जा सकती थी।

संयुक्त राज्य, जर्मनी और जापान संघ-प्रणाली की सामूहिक सुरक्षा के सदस्य नहीं थे और इस के अतिरिक्त उनकी सहानुभूतियाँ भी विभाजित थीं। जर्मनी पहले से ही खुली ऐसी नीतियों पर चलने लगा जिसका उद्देश्य योरुप में स्थापित यथा-पूर्व-स्थिति को उखाड़ना था। दूर पूर्व में, जापान पहले से ही यथा-पूर्व-स्थिति को दूर फेंकने के मार्ग पर था। इसलिए दोनों इस बात को अनुकूल दृष्टि से देख सकते थे कि यथा-पूर्व-स्थिति को उखाड़ने से ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस की स्थिति दुर्बल पड़ जायेगी, जिनके योरुप और दूर पूर्व में यथा-पूर्व-स्थिति के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण हित थे। दूसरी ओर संयुक्त-राज्य ने यथा-पूर्व-स्थिति के बचाव को दृढ रखने के यत्नों का अनुमोदन किया, जबकि देश में जन-मत के स्वभाव ने इसे ऐसे यत्नों में सक्रिय भाग लेने से रोका। वे राष्ट्र जो संघ के प्रयोग को सफल बनाने के लिए सब कुछ करने पर तत्पर थे, इतने दुर्बल थे कि कोई उपयोगी कार्य नहीं कर सकते थे। इनमें स्कैण्डनेविया के राष्ट्र थे या फिर सोवियत संघ था, जिसके इरादों पर सन्देह किया जाता था। इसके अतिरिक्त सोवियत संघ के पास नौ-सैनिक शक्ति का अभाव था, जिसे परिस्थितियों ने

अनिवार्य बना दिया था और न ही यह निर्णायक क्रिया स्थल पर पहुँच सकता था जब तक कि भौगोलिक मध्यवर्ती राष्ट्र सहयोग न दें, जो नही मिल रहा था।

इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा बनाम इटली का मामला वास्तव म, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास बनाम इटली का मामला था। यह आदर्श से बहुत दूर की बात थी जिसमे पूर्वाकाक्षी व्यग्र शक्ति का केन्द्रीकरण निहित था, जिसको कोई भावी विधि अवरोधी ललकारने का साहस न करता था। यह तो ठीक है कि ग्रेट ब्रिटन और फ्रास की सयुक्त शक्ति इटली को दबाने मे पर्याप्त थी। यद्यपि ग्रेट ब्रिटन और फ्रास सघ-प्रणाली की सामूहिक सुरक्षा के ही केवल सदस्य नही थे, बल्कि उसके प्रति नैतिक, कानूनी और राजनीतिक दृष्टि स भी वचन-बद्ध थे। वे केवल इटली के विरुद्ध यथा-पूर्व-स्थिति के बचाने मे व्यस्त न थ। वे विश्व-व्यापी शक्ति सघर्ष मे फँसे हुए थे, जिसमे इटली के साथ द्वन्द्व केवल आशिक था न कि अधिक महत्त्वपूर्ण, जबकि वे यथापूर्व-स्थिति पर इटली के आक्रमण का विरोध कर रह थे व जापान के बढते हुए आक्रमण को ओझल नही कर सकते थे न ही वे राइन के पूर्व आक्रमण की तैयारियो को भुला सकते थे। अन्त मे वे न ही सोवियत सघ के प्रति नीतियो म साम्यवाद के डर को निकाल सके, जो क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप मे घरेलू, यथापूर्व स्थिति को भयभीत कर रहा था, जिसका ग्रेट-ब्रिटन और फ्रास अपने राष्ट्रीय हित मानते थे। व उनके प्रतिकूल थे, जिसकी माग सामूहिक सुरक्षा करती थी। विशेषकर, उन्होने सकल्प किया था और अपने सकल्प को व्यक्त किया कि वे इथोपिया के बचाव के लिए इटली के साथ युद्ध का खतरा मोल लेने की सीमा तक नही जायेंगे। सर विन्सटन चर्चिल के पूर्व कथित शब्दो म प्रथम प्रधानमन्त्री ने घोषित किया कि स्वीकृतियो का अर्थ युद्ध होगा, दूसरे उसने सकल्प किया हुआ था कि युद्ध नही होगा तीसरे, उसने स्वीकृतियो के विषय मे निर्णय किया। स्पष्टतया इन तीन शर्तों को पूरा करना असम्भव था।[1]

राष्ट्रीय हितो को सामूहिक सुरक्षा की आवश्यकताओ के अधीन करने मे विमुख होने के साथ ग्रेट ब्रिटन और फ्रास सामूहिक सुरक्षा का ध्यान न करते हुए अपने राष्ट्रीय हितो के अनुसरण करने म भी अनिच्छुक थ। यह ब्रिटिश और फ्रासीसी विदेशी नीति की घातक भूल थी। दोनो उद्देश्यो का अनुसरण निरुत्साहित और असगत रूप म करते हुए, वे दोना मे असफल रह। वे न केवल पूर्व अफ्रीका म यथापूर्व स्थिति को न बचा पाए, वरन् इटली को जर्मनी की भुजाओ म धकेला। उन्होने राष्ट्र-सघ की सामूहिक प्रणाली का नाश किया

1 London Evening standard, June 26, 1936

और इसके साथ यथा-पूर्व-स्थिति के सरक्षक होने की अपनी प्रतिष्ठा का भी। चौथी दशाब्दी के अन्त मे यथा-पूर्व स्थिति-विरोधी राष्ट्रो मे बढते हुए साहस के कारणो मे, जिसका परिणाम आक्रमणकारी युद्ध था, प्रतिष्ठा मे यह हानि प्रसिद्ध स्थान रखती है।

इथोपिया पर किये गए इटली के आक्रमण के विरुद्ध सामूहिक सुरक्षा के भग से दो पाठ मिलते हैं। इस सुधार की आदर्शवादी सम्पूर्ण योजना और राजनीतिक वास्तविकता मे, जिसमे उन सब तत्वो का अभाव है, जिस पर योजना की सफलता की भविष्यवाणी की गई थी, प्रतिकूलता विदित होती है। यह विदेश नीति की घातक दुर्बलता को भी बताती है जो यह निर्णय करने के अयोग्य है कि इसका मार्ग-दर्शन राष्ट्रीय हित करे, चाहे इस की परिभाषा कैसी ही क्यो न हो, या अधि राष्ट्रीय सिद्धान्त करे। यह विचारा जाता है कि इस म राष्ट्र समुदाय का सामूहिक कल्याण निहित है।

"कोरिया का युद्ध"

कोरिया के युद्ध के अनुभव से उन पाठो का पूरा समर्थन मिलता है, जिसे सामूहिक सुरक्षा के सैद्धान्तिक विश्लेषण में याद किया जा सकता था और जिस की गवाही इटली-इथोपिया के युद्ध मे मिली।

25 जून 1950 को दक्षिण कोरिया के विरुद्ध उत्तर कोरिया का आक्रमण, जिस मे रूसी चीन भी शामिल हुआ, इतना स्पष्ट आक्रमण था, जिसकी कोई कल्पना कर सकता है। मामले के कानूनी गुणो पर लेश मात्र सदेह के अभाव के कारण सामूहिक सुरक्षा को सयुक्त राष्ट्र के सब सदस्यो से माँग करनी पडती कि वे दक्षिण कोरिया की, जो आक्रमण का शिकार था, सहायता करें। आक्रमण के आकार और सैनिक परिणामो को ध्यान मे रखते हुए इस सहायता ने प्रभावशाली बनने के लिए युद्ध-स्थल को केवल सशस्त्र सेना भेजी, और इन मे से केवल सयुक्त राज्य कैनेडा और ग्रेट ब्रिटेन के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि उन्होने प्रतीक सेना से अधिक योगदान दिया। दक्षिण कोरिया, जिसका निकटतम सम्बन्ध था, और सयुक्त-राज्य का कोरिया मे लडने वाली सशस्त्र सेना मे लगभग 90 प्रतिशत योगदान था। युद्ध के मध्य मे चीन जैसी महाशक्ति आक्रमण मे, एक सक्रिय भागी के रूप में आक्रमण-कारी के साथ जा मिली। सयुक्त राष्ट्र के दूसरे सदस्य, जिनमें सैनिक सामर्थ्य था, जैसा कि अर्जेनटाइन ब्राजील, चेकोस्लावेकिया, भारत, मैक्सीको, पोलैण्ड बगल की ओर रहे, और किसी पक्ष की सैनिक क्रिया मे भाग न लिया। इस प्रकार सामूहिक सुरक्षा की वास्तविकता, जैसाकि इसे कोरिया के युद्ध मे लागू किया गया, सचमुच

उस आकार के अनुरूप है जिस का रूप रेखा ऊपर दी गई है। समकालिक परिस्थितियो म यह भिन्न नही हो सकती थी।

कोरिया के युद्ध म अनक रा टो की भिन भिन अभिवत्ति को समझने क लिए यह न तो पर्याप्त है और न ही आवश्यक है कि कानूनी आधार के सम्बन्ध मे कानूनी ग्रथा की सलाह ली जाय जो सामूहिक रक्षा के द्वारा सदस्य राष्टा पर लादे गय है तो यह आवश्यक और उचित जान पडता है कि इन हितो के पक्ष की शक्ति और उसम निहित हितो का मत जाना जाए।

जैसा कि ऊपर विदित है कि दो हजार वष से भी अधिक तक कोरिया को स्वायत्तशासी राज्य के रूप म जीवित रखना दर पूव म शक्ति सन्तुलन का काय रहा है जिसे या तो एक ऐसा शक्ति की श्रष्ठता के द्वारा जो कोरिया को नियन्त्रण और सरक्षण म रखे या प्रतिरोधी साम्रा यवादो क कोरिया प्रायद्वीप मे मिलाप द्वारा और क्षा पर सामा यतया अल्प काल के लिय एक बहुत अस्थिर सतुलन की स्थापना द्वारा प्राप्त किया गया परम्परा स नियन्त्रण और सरक्षण वाली शक्ति चीन थी जिसे समय समय पर परिवतनशील सफलता क साथ जापान ललकारता उन्नीसवी शता दी के अन्त म कोरिया के नियन्त्रण के लिये रूस ने जापान के साथ प्रतियोगिता म चीन का स्थान ल लिया। दूसरे महायुद्ध के समाप्त होने पर चीन और जापान इतन अबल पड गए कि कोरिया सम्बन्धी ऐतिहासिक काय न कर सके इसलिय सयुक्त राज्य और सोवियत सघ ने वह काय सम्भाला। ऐसा हुआ कि जापान का स्थान सयुक्त राज्य ने और चीन का स्थान सोवियत सघ ने ल लिया न तो सयुक्त राज्य और न ही सोवियत सघ दूसरी शक्ति का सारे कोरिया पर नियन्त्रण करने का आज्ञा दे सकते थ जापान के लाभ के दृष्टिकोण स जिसका सरक्षण सयुक्त राज्य का एक मार्मिक हित था। कोरिया सशक्त प्रतिरोधी के हाथो म उठ हुए छुरे की तरह है इस प्रकार रूस और इसम अधिक विशेषकर चीन के लाभ के दृष्टिकोण से इस को देखा गया है। इसलिए कोरिया का अमरीकी और रूसी खडो मे युद्ध की समाप्ति पर विभाजन दोनों राष्ट्रो क हितो और उनक चपल घ बल को व्यक्त करता है क्योकि उस समय दोनो म कोई स अवस्था म नही था कि कोरिया पर नियत्रण के लिए प्रमुख द्वद्व का खतरा मोल ले।

सम्पूण कोरिया पर नियन्त्रण का यह विषय पुन छिडा जब सोवियत सघ के अनुमोदन से उत्तर कोरिया न दक्षिण कोरिया पर आक्रमण किया। जापान की सुरक्षा और दूर पूव की व्यापक स्थिरता म रुचि के कारण दक्षिणी कोरिया के लिए सयुक्त राज्य का समथन आवश्यक था वह दूसरा का प्रयोजन था, जिस ने कनेडा और ग्रट ब्रिटेन के ठोस समथन को उचित ठहराया। आस्ट्रेलिया

बेलजियम, कोलम्बिया, फ्रांस लक्सम्बर्ग और टर्की जैसे दूसरे राष्ट्रों के प्रतीकात्मक योगदान की व्याख्या समान हितो द्वारा या उनके संयुक्त-राज्य की सद्भावना पर विशेष निर्भरता द्वारा दी जा सकती है। बहुत से राष्ट्रों की किसी प्रकार का योगदान करने मे असफलता हित के अभाव या शक्ति के अभाव या दोनो कारणो से होती है।

परन्तु यह समर्थन चाहे संयुक्त-राज्य के सदस्यो की कुल सैनिक बल की अपेक्षाकृत अपूर्व था, या तो भी इतना काफी था कि महायुद्ध किये बिना उत्तर कोरिया के आक्रमण को निरस्त कर सके। दूसरे शब्दो मे, सामूहिक सुरक्षा आंशिक आदर्शवादी परिस्थितियो मे सफल हो सकती थी, जो साम्यवादी चीन मे हस्तक्षेप से पहले उपस्थित थी। उस हस्तक्षेप ने कोरिया के युद्ध के लक्षण को सम्पूर्णत बदल दिया। उससे पहले आक्रमण के विरोध मे व्यग्र सैनिक बल के कारण युद्ध को, तब तक सामूहिक सुरक्षा का युद्ध या पुलिस कार्यवाही कहा जा सकता था। उस हस्तक्षेप के साथ उठे द्वद्व ने पारम्परिक युद्ध का लक्षण धारण कर लिया, जिसमे लगभग दोनो ओर की सम-सेनायें एक दूसरे का विरोध कर रही थी। उस समय, जब एक बडी शक्ति आक्रमणकारी से जा मिली, केवल आक्रमण की उग्रता के तुल्य सामूहिक सुरक्षा के प्रयत्न ही बडे आक्रमणकारियो को हरा सकते थे। सक्षेप मे, शान्तिमय साधनो द्वारा यथा पूर्व स्थिति के सरक्षण के यन्त्र क रूप मे सोची गई सामूहिक सुरक्षा अपने स्वीकृत उद्देश्य को पराजित करती है और यदि आक्रमणकारी एक बडी शक्ति हो, तो सम्पूर्ण युद्ध का मन बनती है।

कोरिया के युद्ध ने सामूहिक सुरक्षा को इस विरोधाभास की पूरी परीक्षा पर नही उतारा, क्योकि इसकी लपेट म आई हुई बडी शक्तियो के हितो ने युद्ध को कोरिया प्रायद्वीप तक सीमित रखा। साम्यवादी चीन ने उत्तर कोरिया मे सयुक्त-राष्ट्र की पेशगी के विरुद्ध उन्ही कारणो के लिए हस्तक्षेप किया, जिनके कारण सयुक्त-राज्य को दक्षिण कोरिया मे उत्तर कोरिया की पेशगी के विरुद्ध करना पडा। यह था सयुक्त कोरिया का सशक्त वैरी के हाथो मे जाना। सामूहिक सुरक्षा की माँग न केवल आक्रमण की पराजय थी, परन्तु भविष्य के लिए सुरक्षा की स्थापना भी। यह एक ऐसा उद्देश्य था, जिसे साम्यवादी चीन को सम्पूर्ण युद्ध मे हरा कर ही प्राप्त किया जा सकता था। इस प्रकार कोरिया प्रायद्वीप पर पारम्परिक चीनी नियन्त्रण की पूर्वावस्था प्राप्त करने के लिए सम्पूर्ण युद्ध मे सयुक्त-राज्य को हराना पडता। न तो सयुक्त राज्य न ही चीन ऐसे साहस के कार्य के बोझे और खतरे को लेने के लिए इच्छुक थे। इसलिए दोनो राष्ट्र कोरिया के दो प्रभाव-मण्डलो मे हमेशा के लिए अस्थायी विभाजन से सन्तुष्ट थे, भले

ही वह कितना ही भय-पूर्ण और अस्थिर क्यों न हो, परन्तु वह दूर-पूर्व में शक्ति-सतुलन को व्यक्त करे।

दूसरो की तरह, जिस पर पहले बहस हो चुकी है, इस सम्बन्ध में दुविधाओं और प्रतिकूलताओं, जिन्हे कोरिया के युद्ध ने सामूहिक क्रिया के रूप में उत्पन्न किया है, का उत्पत्ति-स्थान सामूहिक-सुरक्षा के विचार में निहित प्रतिकूलताएँ हैं, जिन्हे समकालिक ससार की राजनीतिक परिस्थितियो में व्यवहार में लाया जाता है।

एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-बल

अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-बल का विचार सामूहिक सुरक्षा से इस प्रकार एक कदम आगे जाता है। वास्तविक या भावी कानून-अवरोधी के विरुद्ध सामूहिक बल का प्रयोग व्यक्तिगत राष्ट्रों के नियन्त्रण में नही है। अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस उस अन्तर्राष्ट्रीय सस्था की आज्ञा के अधीन काम करेगी, जो यह निर्णय करेगी कि इसे कब और कैसे काम में लाया जाए। ऐसे पुलिस-बल ने एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय सस्या के रूप में पहले कभी काम नही किया है। तो भी सयुक्त-राष्ट्र के सदस्य परपत्र की 42 एफ-एफ धारा द्वारा ऐसा बल सयुक्त राष्ट्र सशस्त्र बल के रूप में उत्पन्न करने के लिए बाध्य हैं। उस वचन-बधन को कार्यान्वित करने में अभी तक कोई प्रगति नही हुई।

दूसरे महायुद्ध से अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-बल से जुडी हुई आशाएँ घरेलू समाजो में शान्ति-सरक्षण के पुलिस कार्यों की तुलना से उत्पन्न होती हैं। तो भी यह तुलना गलत है। इस के तीन कारण हैं—

घरेलू समाजो में लाखो सदस्य होते हैं, जिसका साधारणतया बहुत थोडा अश कानून का उल्लघन करता है। घरेलू समाजो के सदस्यो में अति शक्ति प्रसार होता है, क्योकि वहाँ बहुत शक्तिशाली और बहुत दुर्बल सदस्य होते हैं तो भी कानून-भक्त नागरिको की सयुक्त शक्ति अति सबल कानून तोडने वालो की शक्ति से अति श्रेष्ठ होती है। कानून-भक्त बहुमत के एक सगठित यत्र के रूप में पुलिस को शान्ति और व्यवस्था के भावी खतरे का मुकाबला करने के लिए अपेक्षाकृत कम मात्रा से अधिक बल प्रयोग करने की आवश्यकता नही होती।

इन तीन सम्बन्धो में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति महत्त्वपूर्ण रूप से भिन्न है। अन्तर्राष्ट्रीय समाज में अपेक्षाकृत कम सख्या वाले सदस्य सम्मिलित हैं, जिनमें लगभग 90 सत्ताधारी राज्य है। इनमें से सयुक्त राज्य और सोवियत सघ जैसे दानव और लक्सम्बर्ग और नीकारेगो जैसे बौने भी हैं। अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दानवो में से किसी एक की शक्ति राष्ट्र-समुदाय की सम्पूर्ण शक्ति का

बहुत मान्य अंश है। एक या दो द्वितीय स्तर के राष्ट्रों या कुछ छोटे राष्ट्रों की शक्ति के मिलने से एक दानव की शक्ति सरलता से दूसरे राष्ट्रों की सयुक्त शक्ति से कही अधिक होगी। ऐसे भीषण सशक्त विरोध को ध्यान मे रखते हुए सचमुच दानव परिमाण के पुलिस-बल की स्पष्ट आवश्यकता पडेगी, जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून और व्यवस्था की अवहेलना के प्रत्येक पुलिस-कार्य को सम्पूर्ण युद्ध मे बदले बिना प्रतिकार कर सके। यह कवल छोटे स्तर पर अब भी ठीक होगा यदि सामान्य निरस्त्रीकरण व्यक्तिगत राष्ट्रों की सशस्त्र सेनाओं मे घातक कटौती करे, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस को एक प्रतिभार का रूप धारण करना पडेगा, जो साराश म महा-शक्तियो के सशक्त बल जैसे सैनिक उत्साह और परिशिक्षण, औद्योगिक सामर्थ्य युद्ध युक्ति के लाभो मे सर्वश्रेष्ठ हो, और जो द्वद्व की परिस्थिति मे वास्तविक सैनिक बल मे बदली जा सकें।

तो इस धारणा पर, जो वास्तव मे काल्पनिक है, कि राष्ट्र सुरक्षा और अपने हितो को बढावा देने के यत्न अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-बल को देने के इच्छुक होगे, प्रश्न उठता है कि ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय बल कैसे बने? अन्तर्राष्ट्रीय समाज की प्रकृति, जिसको वास्तव मे हम पाते हैं, उस प्रश्न का कोई सतोषजनक उत्तर देने की आशा नही देती।

घरेलू समाजो मे पुलिस-बल उनका बना होता है, जो स्थापित कानून और व्यवस्था मे पूर्ण अनुरूप होते हैं, परन्तु हमे यह मान लेना चाहिए कि उनमे कुछ ऐसे भी हैं, जो स्थापित कानून व्यवस्था के विरुद्ध हैं और उनकी सख्या कुल जनसख्या के खड के अनुपात मे है और इसके विरुद्ध है। तब विरक्तो की सख्या इतनी न्यून है कि उसे वस्तुत ओझल किया जा सकता है। और जो पुलिस के व्यग्र बल को प्रभावित करने के अयोग्य है। एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस बल मे अनिवार्य रूप मे अनेक राष्ट्रो के अनुपात मे या सम सख्या मे नागरिक लेने होगे तो भी ये राष्ट्र, जैसे कि हमने देखा है, सर्वदा वास्तव मे स्थापित यथा-पूर्व स्थिति अर्थात् स्थापित कानून और व्यवस्था के सरक्षको और विरोधियो मे विभाजित हैं। उनके नागरिकों को अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-बल के सदस्य के रूप मे इस सम्बन्ध मे राष्ट्रीय अनुरागो का पक्ष विवशतावश लेना पडेगा। क्या उनसे आशा की जाएगी कि वे यथा-पूर्व-स्थिति की रक्षा के लिए अपने राष्ट्र के विरुद्ध लडें, जिसका उन्हे अपने राष्ट्र के सदस्य के रूप मे विरोध करना चाहिए? समकालिक ससार मे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय निष्ठाओ की सम्बन्धित शक्ति को देखते हुए द्वद्व की परिस्थिति मे राष्ट्रीय निष्ठाएँ अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-बल के सम्बन्धित सदस्यो की राष्ट्रीय निष्ठाएँ उच्च पदाधिकारी मनुष्य की तरह मार्गपित करने के अतिरिक्त और क्या

करेंगी, जिससे इसके पूर्व कि यह स्थापित कानून और व्यवस्था की ललकार का कभी सामना कर सकें, अन्तर्राष्ट्रीय बल भग हो जायगा।

यह सामान्य विचार सारे अन्तर्राष्ट्रीय समाज पर और विशेषकर इसके अधिकतम शक्तिशाली सदस्यों पर लागू होने हुए अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-बल की असाधारण सम्भावना मे जिससे स्थानीय कानून निषेध को रोका जाए, अवैध नहीं होते यदि प्रत्यक्ष रूप मे सब सम्बन्धित राष्ट्र उसके रोकने मे रुचि रखते हों। इस सम्भावना का केवल एक उदाहरण आजकल संयुक्त राष्ट्र की संकट-कालीन सेना के रूप मे मिलता है, जिसने 1956 के स्वेज-आक्रमण मे से गाजा पट्टी के पास मिस्र और इजरायल की सीमाओं की रक्षा की है और तीरान के स्ट्रेट्स (Straits) के असैनिकीकरण को भी लागू किया है।

समप्रभुता-सम्पन्न राज्यों के समाज मे एक अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-बल इस सम्बन्ध मे प्रतिकूल है। विश्व-राज्य के व्यापक प्रसग मे पुन हम इस समस्या का सामना करेंगे। अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-बल की समस्या का यदि कोई समाधान होना है, तो इसका समाधान विश्व-समाज के ढाँचे मे होगा, जिसे अपने व्यक्तिगत सदस्यों की अन्तिम लौकिक निष्ठा प्राप्त है, और जिसने एक ऐसे न्याय का विचार विकसित किया है, जो इसके व्यक्तिगत स्वत्वों की यथार्थता की परीक्षा के लिए इच्छुक है।

पच्चीसवाँ अध्याय
न्यायिक निपटारा

न्यायिक कार्य की प्रकृति

राष्ट्रों मे द्वंद्वो का होना निरस्त्रीकरण, सामूहिक सुरक्षा, अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस-बल के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की प्राप्ति को असम्भव बनाता है। ए, बी राष्ट्र से कोई वस्तु चाहता है, जिसे बी राष्ट्र मानने के लिए इच्छुक नही। फलस्वरूप ए और बी मे सशस्त्र प्रतियोगिता सर्वदा सम्भव है। यदि ए और बी को झगड़े के शान्तिपूर्वक निपटारे का कोई मार्ग स्वीकार होता, तो राष्ट्रो मे झगडो के सर्वोच्च मध्यस्थ के रूप मे युद्ध बेकार हो जाए और यहाँ घरेलू समाज के साथ तुलना पुन आकर्षित करती है।

प्राथमिक समाजो मे व्यक्ति प्रायः अपने प्रतिकूल स्वत्व लडाई द्वारा निपटाते थे। हिंसक साधनो द्वारा निर्णय करने से वे तब रुक्ते जब वे निष्पक्ष न्यायाधीश के अधिकारपूर्ण निर्णय मे शस्त्रो की अपील का विकल्प पाते। इससे स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है कि यदि ऐसे निष्पक्ष जज केवल अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अधिकारपूर्ण निर्णय के लिए उपलब्ध हो तो युद्ध का मुख्य कारण दूर हो जाए।

उन्नीसवी शताब्दी के मध्य मे वास्तव मे ऐसा निष्कर्ष बहुत से मानवतावादी और राज्य-मर्मज्ञो ने बढती हुई आवृत्ति और तीव्रता से निकाला है। उस शताब्दी के अत मे कथित विवाचन आन्दोलन अधिक व्यापक समर्थन और उत्साही निष्ठाओ की शेखी मार सकता था, जिसका मुख्य अभिप्राय अतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरणो द्वारा अतर्राष्ट्रीय झगडो का निपटारा था। इसका जन-प्रभाव उन जन-आन्दोलनो से मिलता है, जिन्होने बाद मे अपनी आशाएँ राष्ट्रसघ, सयुक्त-राष्ट्र और एक विश्व राज्य पर लगाई। पहले भी हमने अन्तर्राष्ट्रीय झगडो के शान्तिमय निपटारे के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अनिवार्य क्षेत्राधिकार को स्थापित करने के निष्फल यत्नो के इतिहास की खोज की है, जो अन्यथा युद्ध की ओर ले जाएँ। इसकी परीक्षा करनी बाकी है, जिसके कारण बहुत से राष्ट्र विशेषकर महाशक्तियाँ अन्तर्राष्ट्रीय अदालतो के अनिवार्य क्षेत्राधिकार को स्वीकार करने मे असफल रहीं। इस असफलता के लिए राज-मर्मज्ञो या राष्ट्रो की मूर्खता या दुष्टता को

उत्तरदायी नहीं ठहराना चाहिए वरन् अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और समाज की प्रकृति को, जिसके बीच यह कार्य करती है।

घरेलू अदालतों के शान्तिमय प्रभाव और अन्तर्राष्ट्रीय अदालतों के भावी समान प्रभाव में तुलना करना भूल है। अदालतें जैसे ही कानून हो उस के आधार पर झगड़ों का निर्णय करती हैं। यथा स्थापित कानून सामूहिक स्तर प्रदान करता है जिसपर वादी और प्रतिवादी मिलते हैं। दोनों दावा करते हैं कि यथा स्थापित कानून उनके हितों का समर्थक है और यह उनके पक्ष में है और वे अदालत से उस स्तर पर निर्णय करने के लिए कहते हैं। झगड़ों का सम्बन्ध, जिस पर अदालत को निर्णय करने के लिए कहा जाता है——यथार्थता के प्रश्न को एक ओर रखते हुए—स्थापित कानून से होता है जिसकी परिभाषा वादी और प्रतिवादी परस्पर स्वत्व पर भिन्न-भिन्न करते हैं।

यह मौलिक विषय ऐसा है जिसके साथ घरेलू और अंतर्राष्ट्रीय अदालतों को अवश्य सम्बन्ध रखना चाहिए और वास्तव में सब विषयों की एसी प्रकृति होती है, जिसके साथ अन्तर्राष्ट्रीय अदालतों का वास्ता पड़ता है, परन्तु वे ऐसे विषय नहीं जो एक राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र के विरुद्ध घातक द्वंद्वों में डाल जिससे युद्ध का भय हो। इन अन्तर्राष्ट्रीय द्वंद्वों में जो कुछ संदेह है और जिसे ठीक ही राजनीतिक कहा गया है, और जिसने सब प्रमुख युद्ध उत्पन्न किए हैं वह यह नहीं कि कानून क्या है वरन् यह कि कानून क्या होना चाहिए? यहां विषय यह नहीं कि आधुनिक कानून की एसी परिभाषा होनी चाहिए, जिसे दोनों कम से कम मुकदमे के उद्देश्य से वैध मान वरन् वह है परिवर्तन की माँग के सामने वर्तमान कानून की उपयुक्तता।

कुछ अर्वाचीन उदाहरणों को बनाते हुए, यह प्रत्येक व्यक्ति 1938 में जानता था कि चेकोस्लोवाकिया के सम्बन्ध में कानूनी अवस्था क्या थी। 1939 में किसी को संदेह नहीं था कि डेनजिग और जर्मन—पोलैण्ड की सीमाओं के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय कानून ने क्या कहा। आज अन्तर्राष्ट्रीय कानून के नियमों के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं है जो डार्डेनिल्ज सम्बन्धी सोवियत संघ और टर्की के अधिकारों और दायित्व पर लागू होते हैं। इन सब झगड़ों में जिनमें युद्ध का भूत सवार है विषय यथा-स्थापित कानून का लागू और परिभाषित करना नहीं, वरन् वर्तमान कानूनी व्यवस्था की युक्तता और इस को बदलने की माँग को तर्कसंगत ठहराना है। चेकोस्लोवाकिया डेनजिग और पोलैण्ड में जर्मनी का विरोध डार्डेनल्ज के सम्बन्ध में सोवियत संघ का विरोध इन विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय कानून की विशेष परिभाषा नहीं है, वरन् वर्तमान कानूनी व्यवस्था की एसी है। जो कुछ जर्मनी चाहता था और जो कुछ सोवियत-संघ चाहता है

वह है प्राचीन के स्थान पर एक नवीन कानूनी व्यवस्था। जर्मनी के सम्बन्ध मे इस माग का विरोध ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस ने किया। नवीन कानूनी व्यवस्था की मांग और प्राचीन की रक्षा के बीच असंयोज्यता का परिणाम दूसरा महायुद्ध था। और ऐसी ही सोवियत संघ की माग है जिस का विरोध पश्चिमी शक्तियाँ करती है जिसने आज के अन्तर्राष्ट्रीय वायुमण्डल को विषमय कर दिया है और जिसमे युद्ध का खतरा है।

राजनीतिक शब्दो में वर्तमान कानूनी व्यवस्था और इसको बदलने की मांग यथा पूर्व स्थिति और साम्राज्यवाद के बीच प्रतिभाव का दूसरा प्रदर्शन है। जब एक विशेष शक्ति वितरण स्थिरता की मात्रा पर पहुँचता है, तब यह एक कानूनी व्यवस्था में कठोर बन जाता है। यह कानूनी व्यवस्था न केवल सैद्धान्तिक आवरण और नैतिक तर्कसंगतता ही यथा-पूर्व-स्थिति को प्रदान करती है बल्कि यह नवीन यथा पूर्व स्थिति को कानूनी बचावों के प्रकार से घेरती है जिसके उल्लंघन से कानून का क्रियात्मक यन्त्रालय गति मे आ जाएगा। अदालतो का काम क्रियात्मक काम को निर्धारित करते हुए गति में लाना होता है कि क्या विचाराधीन ठोस विषय वर्तमान कानून प्रणाली तथा यथा पूर्व स्थिति के सहायक है और अदालत इसका अभिरक्षक होने पर बाध्य हैं। ऐसी बात घरेलू दृश्य पर तो क्या अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी ऐसी ही है।

जब कभी सामान्य स्वीकृत यथा पूर्व-स्थिति के ढाँचे मे अधिकारो को निर्धारित करने या हितो को स्थान देने का विषय उठता है तो परिस्थिति के अनुसार अदालतें वादी या प्रतिवादी के लिए इसे ढूढेंगी। जब कभी विषय यथा-पूर्व स्थिति के संरक्षण या मौलिक परिवर्तन का यथा होता है, तब अदालतो का उत्तर प्रश्न पूछने से भी पहले तैयार होना है। उन्हें वर्तमान यथा पूर्व स्थिति के पक्ष में निर्णय और परिवर्तन की मांग को अस्वीकार करना चाहिए। 1790 में फ्रांस की अदालतें उसी प्रकार जागीरदारी अदालतो को समाप्त और फ्रांस को मध्यवर्गी गणराज्य मे बदल नही सकती थी, जिस प्रकार 1800 मे एक अन्तर्राष्ट्रीय अदालत योरुप पर नैपोलियन की प्रधानता प्रदान कर सकी। यह संदेहयुक्त है कि अन्तर्राष्ट्रीय अदालत 1938 में चेकोस्लोवाकिया के लिए 1939 में डेनजिग और पोलैण्ड के लिए और 1950 में दक्षिण कोरिया जर्मनी और उत्तर कोरिया के विरुद्ध क्रमानुसार निर्णय दे सकती थी क्योंकि यह कानूनी शब्दों में व्यक्त यथा पूर्व-स्थिति के सार में निहित है कि वर्तमान कानून यथा पूर्व स्थिति का पक्ष लेता है और अदालतें अपने समक्ष विषय पर वर्तमान कानून का केवल लागू कर सकती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय अदालतो का संकट मे पुकारना जिसमें अधिकारों का निर्धारण और यथा-पूर्व स्थिति में हितो को स्थान देना

ही सदेह में नहीं होता, वरन् यथा-पूर्व-स्थिति का जीवन भी जो यथा-पूर्व स्थिति राष्ट्रों का सर्वप्रिय साधन है, सन्देह में होता है। अन्तर्राष्ट्रीय कानून और अन्तर्राष्ट्रीय अदालतें उनके प्राकृतिक सहकारी मित्र होते हैं। साम्राज्यवादी राष्ट्र अपरिहार्य रूप से वर्तमान यथा-पूर्व-स्थिति और इसकी कानूनी व्यवस्था के विरोधी हैं। वे अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के अधिकारपूर्ण निर्णय के लिए झगडा को पेश करने की बात नहीं सोचेंगे, क्योंकि अदालत उनकी मांगो का अपनी शक्ति के आधारों को नष्ट किये बिना स्वीकार नहीं कर सकती।

अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ो की प्रकृति, खिचाव और द्वंद्व

यथापूर्व-स्थिति को बदलने के सम्बन्ध मे झगडे न केवल अदालतो के आगे नही, रखे जाएगे वरन् सामान्यत उनको उन कानूनी शब्दो में व्यक्त नही किया जाएगा जिनको अदालतें ध्यान में ले सकती है। सितम्बर 1938 में जर्मनी और चेकोस्लोवेकिया में वास्तविक विषय सुडेटैनलैण्ट पर समप्रभुत्ता का नही था, वरन् केन्द्रीय योरप के सैनिक और राजनैतिक प्रभुत्व का था। सुडेटैनलैण्ड पर झगडा तो केवल कुछ मे से इस विषय का एक चिह्न था। इन चिह्नों में प्रमुख आस्ट्रिया के साथ झगडा था, जो मार्च 1938 मे जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया के सम्मेलन में परा कोटि पर गया और दूसरा मार्च, 1939 मे चेकोस्लावेकिया के साथ था, जिसका परिणाम उस देश पर जर्मन संरक्षित राज्य था।

इन सब चिह्नों का अधस्थ कारण एक द्वंद्व था जिसके दाव स्वीकृत यथा-पूर्व-स्थिति के ढांचे मे प्रादेशिक रिआयते और कानूनी समजन नही थे वरन् यथा-पूर्व-स्थिति का अपना अनुजीवन था। सम्पूर्ण शक्ति वितरण और केन्द्रीय योरप में सर्वथा शून्य सर्वोच्चता थी। शक्ति-संघर्ष के द्वंद्वी चिह्न दावो, प्रतिदावो और इन्कारो को कानूनी शब्दो मे व्यक्त किया जा सकता है, जिसे कानून की अदालत स्वीकृत और अस्वीकृत करती। अधस्थ कारण कानूनी शब्दो में व्यक्त होने के अयोग्य था, क्योंकि कानूनी व्यवस्था को, जिसके अतिजीवन का परिवर्तन की मांग के द्वारा खतरा था, कोई कानूनी संकल्पना नही थी, जो उस दावे को व्यक्त करे। इसको संतुष्ट करने के लिए कानूनी उपचार की बात अलग रही।

झगडो के तल मे, जिससे युद्ध का डर रहता है वर्तमान शक्ति-वितरण को बनाए रखने की इच्छा और इसे उखाड फेंकने की इच्छा मे तनाव है। ये प्रतिकूल इच्छाएँ जिनका पहले वर्णन हो चुका है बहुत कम अपने शब्दो मे—शक्ति मे शब्दो—व्यक्त होती हैं। परन्तु इनका वर्णन नैतिक और कानूनी शब्दो मे होता है। राष्ट्रो के प्रतिनिधि नैतिक सिद्धान्त और कानूनी दावे को

बात करते है, उनकी बात का उल्लेख शक्ति-संघर्ष की ओर होता है। अव्यक्त शक्ति-संघर्षों को हम तनाव के रूप मे बताते है और कानूनी शब्दो मे व्यक्त संघर्षों को 'झगडे' कहते है। तनावो और झगडो के प्रतिरूपी सम्बन्धो पर विवाद *अन्तर्राष्ट्रीय अदालतो के अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के संरक्षण के कार्य* को पूरा करने की योग्यता को स्पष्ट करेगा। तीन ऐसे प्रतिरूपी सम्बन्धों मे भेद किया जा सकता है।

विशुद्ध झगड़े

कभी-कभी दो राष्ट्रों मे तनाव तो नही होता, झगडे होते है। या कभी-कभी तनाव होते हुए भी झगडे का तनावो के साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता। इस विषय मे हम "विशुद्ध झगडो" की बात करते हैं।

हम यह मान लेते हैं कि संयुक्त-राज्य और सोवियत-संघ, दोनो देशो के राजनीतिक कर्मचारियो के लिए, डालर और रूबैल के आदान-प्रदान के झगडे मे अन्तर्ग्रस्त है। संयुक्त-राज्य और सोवियत-संघ मे तनाव होते हुए भी यह विचारणीय है कि ऐसे झगडे दोनो पक्ष अधिकारपूर्ण निर्णय के लिए अन्तर्राष्ट्रीय अदालत को सौंपें, तब विशुद्ध झगडे अदालती निर्णय के लिए प्रभाव्य है।

तनावों के सार-सहित झगड़े

तनाव और झगडे मे सम्बन्ध है। ऐसा सम्बन्ध दो प्रकार का हो सकता है। झगडे का वाद-विषय तनावो के वाद-विषय के विशेष खड के समरूप हो सकता है। तनाव की एक हिम-शैल (Iceberg) से तुलना की जाए, जिसका मुख्य भाग डूबा होता है जबकि चोटी सागर की सतह पर खडी होती है। तनाव के उस छोटे खड की परिभाषा कानूनी-शब्दो मे दी जा सकती है और उसे झगडे का विषय बनाया जा सकता है। हम इस प्रतिरूप को "तनावो के सार-सहित झगडे" कहते हैं।

संयुक्त-राज्य और सोवियत संघ मे तनाव के मुख्य विषयो मे एक योरप मे शक्ति-वितरण का है। पोट्सडम समझौता एक कानूनी प्रलेख है जिसने उस विषय के उन रूपो को निपटाने का यत्न किया जिसका सम्बन्ध मित्र-राष्ट्रो द्वारा जर्मनी के अधिकार और प्रशासन से था। पोट्सडम समझौते का वाद-विषय तब उस विषय के खड के समरूप है, जो संयुक्त-राज्य और सोवियत-संघ के बीच तनावो का वाद-विषय है। पोट्सडम समझौते की परिभाषा पर झगड़े का प्रत्यक्ष प्रभाव संयुक्त-राज्य और सोवियत-संघ के बीच सम्पूर्ण शक्ति-सम्बन्धो पर पडता है। एक राष्ट्र के अनुकूल परिभाषा उतनी अधिक

शक्ति उस पक्ष से घटाएगी, क्योंकि विषय ऐसा है, जिसपर दो देशों के बीच शक्ति-प्रतियोगिता ने एक को अपने प्रमुख दाँव मे ग्रस्त किया है।

अन्तर्राष्ट्रीय अदालत द्वारा ऐसे झगडो के अधिकारपूर्ण निर्णय को, भले यह कैसा ही हो, पहले से स्वीकार करना शक्ति-प्रतियोगिता के फलाधिकार को स्वय त्यागने के समान होगा। कोई राष्ट्र इतनी दूर जाने का इच्छुक रहा है, क्योंकि कानून की अदालत कानूनी शब्दो मे व्यक्त यथा-पूर्व-स्थिति के सरक्षक के अतिरिक्त और कुछ नही हो सकती। इसके निर्णय द्वारा एक कानूनी प्रलेख की परिभाषा का समर्थन अतिसम्भव है जो यथा पूर्व-स्थिति का पक्ष लेता है। ऐसा करने से अदालत झगडे-बिन्दु का तो सामना करे, परन्तु यह तनाव-बिन्दु से चूक जाती है। तनाव-सम्बन्धी एक कानूनी प्रलेख का, जोकि पोट्सडम समझौते की परिभाषा प्रतियोगिता का एक रूप है, विषय यथा-स्थापित कानून की परिभाषा नही, परन्तु इसके अस्तित्व का न्याय है।

एक अदालत के पास जो यथा-स्थापित कानून का फल और मुख है झगडे के वास्तविक विषय के निर्णय के लिए कोई मार्ग नही होता, जिसका वाद-विषय भी तनाव का वाद-विषय होता है। एक रूप मे अदालत भी ऐसे झगडे की पक्ष-कार होती है। ऐसी अदालत के पास जो यथा-पूर्व-स्थिति और इसके प्रतिनिधि कानून के समरूप होती है निर्णय का कोई ऐसा माप नही होता जो यथा-पूर्व-स्थिति के सरक्षण और परिवर्तन की माग के बीच झगडे से ऊपर हो, यह केवल पक्ष ले सकती है। वास्तविक विषय के निष्पक्ष निपटारे के रूप मे अदालत लगभग यथा-पूर्व-स्थिति के पक्ष मे विषय के निर्णय पर बाधित होती है। अपने जन्म और कार्यों की सीमाओ से ऊपर उठने की इस अयोग्यता मे वास्तविक कारण निहित है, जिससे यह यथा-पूर्व-स्थिति के सम्बन्धी गुणो और नवीन शक्ति-वितरण के बीच निर्णय करने की अयोग्यता रखती है।

तनाव के प्रतिनिधि झगड़े

वाद-विवाद को ध्यान मे रखते हुए झगडे का दूसरा प्रतिरूप, जिसका सम्बन्ध तनाव से है, अति महत्त्वपूर्ण है. हम इस प्रकार के झगडो को 'तनाव के प्रतिनिधि' झगडे कहते है। सतह पर इस प्रकार के झगडे विशुद्ध झगडो से मेल खाते हैं। वास्तव मे, विशुद्ध झगडे प्राय अपने आप को तनाव के प्रतिनिधि झगडे मे बदल देते हैं। ऐसे झगडो के वाद-विषय का तनाव के वाद विषय से कोई सम्बन्ध नही होता। केवल प्रतिनिधि और लाक्षणिक कार्य मे तनाव और झगडे का सम्बन्ध निहित है।

हम पुन संयुक्त-राज्य और सोवियत-संघ के उस झगड़े पर विचारें जिस का सम्बन्ध दोनों देशों के राजनयिक प्रतिनिधियों के डालर और रोबल्ज के आदान-प्रदान की दर से है। हमने देखा है कि इस झगड़े में उस तनाव के सम्बन्ध का अभाव है, जो संयुक्त राज्य और सोवियत-संघ में पाया जाता है। तो भी यह संभव है कि दोनों राष्ट्र जैसेकि वे सामान्य शक्ति-वितरण के कलह में व्यस्त हैं, इस झगड़े से ग्रस्त होंगे और इसे एक ठोस विषय बनाएंगे जिससे वे अपनी शक्ति की जाँच कर सकें।

मौलिक विषय जो संयुक्त-राज्य और सोवियत-संघ को पृथक् करता है संसार में सम्पूर्ण शक्ति-वितरण है, वह नैतिक और सैद्धान्तिक कारणों से है, जिस का हम पहले वर्णन कर चुके हैं[1], जिसका दावों और प्रतिदावों के शब्दों में परिमेय वर्णन नहीं हो सकता। आधुनिक मनोविज्ञान के शब्द का प्रयोग करते हुए यह "दमित" है। दोनों राष्ट्रों के बीच सम्बन्धों का अस्थिर आधार के रूप में तनाव अपने विक्षुब्ध उद्वेग का संचार किसी झगड़े में करे, चाहे यह किसी प्रकार का हो और इसकी कितनी ही आन्तरिक महानता हो। एक बार यह घटित हो जाए तब झगड़ा दोनों देशों के सम्बन्धों में तनाव का स्थान लेता है। झगड़े में भावना की तीव्रता और शक्ति-प्रतिद्वंद्विता के कठोर पारुष्य का संचार होता है, जिसके साथ शान्ति में राष्ट्र तनाव पर सोचते हैं और युद्ध में उस पर कार्य करते हैं।

शान्ति के समय में राष्ट्र जो कुछ तनाव के सम्बन्ध में नहीं कर सकते वह सब झगड़े के सम्बन्ध में करते हैं। झगड़ा एक परीक्षा का विषय बन जाता है, जिसमें दावे और प्रतिदावे राष्ट्रों की सम्बन्धित शक्ति-अवस्था का प्रतिनिधित्व और सादृश्य करते हैं। रियायतें प्रश्न से बाहर की बात है। हमें यह कहना चाहिए कि दावेदार के लिए द्वंद्व-वस्तु का दसवाँ भाग मान लेना उसकी सम्पूर्ण शक्ति-अवस्था और आनुपातिक दुर्बलता को व्यक्त करने के समान होगा, क्योंकि यह अविचारणीय है कि दूसरा पक्ष सम्पूर्ण को खोदे। द्वंद्व-वस्तु का खोना निश्चित लड़ाई या युद्ध के खोने के प्रतीक के तुल्य होगा। जहाँ तक वह संघर्ष झगड़ों के स्तर पर लाया जाता है, यह शक्ति के सम्पूर्ण संघर्ष में हार का प्रतीक होगा। इसलिए प्रत्येक राष्ट्र क्रियाविधि-सम्बन्धी मामले या प्रतिष्ठा के लिए कठोर दृढ़ता के साथ लड़ेगा जैसे उसका राष्ट्रीय अस्तित्व खतरे में हो। और एक प्रतीक रूप में यह यथार्थतः खतरे में है।

---

1. अध्याय 7 को देखिए।

ठीक प्रकार से महान् होना,
यहाँ तर्क बिना नहीं शोभता,
तिनके में परन्तु महाद्वद्व को पाए,
जब मान खतरे में आए।[2]

जब कभी एक झगड़ा तनाव के साथ एक ऐसे प्रतिनिधि सम्बन्ध में उठता है, झगड़े के शब्दों में निबटारा स्पष्टतया असम्भव हो जाता है। यह बात राजनयिक वार्तालाप द्वारा निपटारे के सम्बन्ध में सत्य है जिसे आवश्यकतावश समझौते के लेन-देन द्वारा प्रगति करनी पड़ती है। इसी ही संकेत से यह बात अधिकारपूर्ण न्यायिक निर्णय के सम्बन्ध में सत्य है। जो बात इस सम्बन्ध में तनाव के वाद-विषय वाले झगड़ों की बाबत कही गई है, वह इस श्रेणी के झगड़ों पर भी लागू होती है। तनाव के प्रतिनिधि झगड़ों को सम्बन्धित राष्ट्र ऐसे देखते हैं जैसे वे स्वयं तनाव हों। इसी प्रकार ऐसे झगड़े का न्यायिक निर्णय तनाव पर पड़ने वाले प्रभाव के शब्दों में मूल्यांकित किया जाएगा। कोई राष्ट्र और विशेषकर यथा-पूर्व स्थिति-विरोधी राष्ट्र पूर्वकथित कारणों से इस प्रकार के झगड़े को और इसके द्वारा स्वयं तनाव-विषय को अदालत के अधिकारपूर्ण निर्णय के सामने रखने का खतरा मोल नहीं लेगा।

न्यायिक कार्य के परिसीमन

अब हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजनैतिक झगड़ों का, जो तनाव से सम्बन्धित हैं, और जिनमें इसलिए दोनों राष्ट्रों के बीच सम्पूर्ण शक्ति-वितरण खतरे में होता है, न्यायिक पद्धतियों से निपटारा नहीं हो सकता। विश्लेषण द्वारा निकले हुए इस निष्कर्ष का अनुमोदन राष्ट्रों के वास्तविक व्यवहार द्वारा होता है। हम पहले भी संकेत कर चुके हैं कि कितनी सावधानी के साथ राष्ट्र अपने आभारों को परिभाषित और निबंधित करते हुए झगड़े अन्तर्राष्ट्रीय अदालतों के सुपुर्द करते हैं। भारत के प्रधान मंत्री नेहरू ने संयुक्त-राष्ट्र सुरक्षा परिषद् का वह प्रस्ताव रद्द कर दिया था, जिसमें कश्मीर-सम्बन्धी भारत-पाकिस्तान के झगड़े के लिए मध्यस्थ-निर्णय का उल्लेख था। तब उन्होंने कहा, "महान् राजनैतिक प्रश्न-और यह एक महान् राजनैतिक प्रश्न है—इस प्रकार विदेश या किसी देश के मध्यस्थ के हवाले नहीं किए जाते।"[3]

यह बात महत्त्वपूर्ण है कि जिन राष्ट्रों ने मध्यस्थ-संधियाँ बिना किसी शर्त से की हैं, जिससे प्रत्येक प्रकार के सब झगड़े न्यायिक प्रक्रिया के सामने

2. Hemlet, Act 4, Scene 10.
3 London Times, August 8, 1952, p 4

आएँ। ये वे राष्ट्र हैं जिनके बीच सम्पूर्ण शक्ति-वितरण पर द्वंद्व और फलस्वरूप राजनैतिक द्वंद्व वास्तविकता में असम्भव है। उदाहरणतया ऐसी संधियाँ कोलम्बिया और एलसालवाडोर में, पीरु और बोलविया में, डेनमार्क और इटली में, डेनमार्क और पुर्तगाल में, नीदरलैण्ड और चीन में नीदरलैण्ड और इटली में आस्ट्रीया और हंगरी में, फ्रांस और लक्सम्बर्ग में, बेलजियम और स्वेडन में, इटली और स्विजरलैण्ड में हुईं। ऐसे कोई दो राष्ट्र नहीं, जिन्हें निकट भविष्य में एक राजनैतिक द्वंद्व की लेशमात्र सम्भावना हो और जिन्होंने कानून-बन्धन में प्रवेश किया हो, जिसके द्वारा उन्हें राजनैतिक झगडे न्यायिक निपटारे के लिए पेश करने पड़ें।

और भी स्थायी अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा दिए गए बीस निर्णयों में कोई एक ऐसा नहीं, जिसको उस रूप में राजनैतिक कहें, जिस शब्द का हम प्रयोग कर रहे हैं।

स्थायी अंतर्राष्ट्रीय[4] न्यायालय द्वारा दिए गए तीस निर्णयों और सत्ताईस सलाहकारी रायों में केवल एक को राजनैतिक कहा जा सकता है और वह है आस्ट्रो-जर्मन कस्टम्ज यूनियन के विषय में सलाहकारी राय। हम पहले भी यथार्थता की ओर संकेत कर चुके हैं कि इस मामले में अदालत का क्षेत्राधिकार राष्ट्र-संघ की प्रसंविदा की धारा 14 पर आधारित था, जिसके द्वारा संघ की परिषद् अदालत से सलाहकारी राय ले सकें। सलाहकारी होने के नाते राय परिषद् के लिए बंधनकारी नहीं थी, परन्तु परिषद् को स्वतन्त्र छोड़ा गया कि वह अभियोग के अपने कानूनी और राजनैतिक मूल्यांकन के प्रकाश में जो कुछ उचित समझे, करे। इस मामले में राष्ट्र-संघ की परिषद ने यथा-पूर्व-स्थिति के एक अंग के रूप में काम किया।। अपनी बनावट और कार्य को ध्यान में रखते हुए, जिसे इसे राष्ट्र-संघ की राजनैतिक कार्यपालिका के रूप में पूरा करना था, परिषद् के लिए अनिवार्य था कि उसे ऐसा कर्तव्य करना चाहिए।

सलाहकारी राय की इस प्रार्थना ने अदालत को एक भ्रान्ति में डाला जिसका परिणाम उस न्यायिक एजेंसी के इतिहास में अति महान् बौद्धिक पतन था। चार भिन्न मतों की यथार्थता भ्रान्ति की सीमा का दृष्टान्त है कि 15 जजों में से आठ ने दो समान मतों के साथ अनुरूपता दिखाने की आवश्यकता अनुभव की और सात ने असहमति के हस्ताक्षर किए। बौद्धिक पतन के मान का ज्ञान स्वयं मतों के अध्ययन से मिलता है। इतने ऊँचे न्यायाधिकरण

4. भिन्न लेखक भिन्न आँकड़ों का प्रयोग करते हैं, हम ओपनहीम-लाटरपैच के (सातवें संस्करण) वाल्यूम 2, पृष्ठ 80-8 का अनुकरण करते हैं।

के आस्ट्रो-जर्मन कस्टम्ज़ यूनियन के मामले को पर्याप्त रूप में निपटाने की अयोग्यता अभियोग की प्रकृति का अनिवार्य फल थी।

प्रस्तावित कस्टम यूनियन के साथ जर्मनी और आस्ट्रीया ने 1919 की यथा-पूर्व-स्थिति को ललकारा। स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय बौद्धिक रूप में स्थापित यथा-पूर्व-स्थिति के ढांचे में उठने वाले प्रत्येक मामले को निपटाने के लिए तैयार था। इस यथा-पूर्व-स्थिति की कानूनी व्यवस्था ने उस काम को करने के लिए इसे बौद्धिक साधन प्रदान किए थे। यथा-पूर्व-स्थिति को ललकारने पर अदालत सतुलन खो बैठी जिसका कारण इसकी पक्षकारियों के तर्क से मुक्त स्तर पाने की अयोग्यता थी, जिसके द्वारा यह दावों और प्रतिदावों का न्याय कर पाए। यथा-पूर्व-स्थिति के एक अग होने के कारण और कार्यों को करने के कारण जिन्हें यथा-पूर्व-स्थिति की वैध मानना था, अदालत को ऐसे कार्य का सामना करना पड़ा, जिसे निभाने में कोई अदालत समर्थ नहीं जैसे कि प्रस्तावित आस्ट्रो जर्मन-कस्टम्ज़ यूनियन की वैधता पर निर्णय द्वारा स्वय यथा-पूर्व-स्थिति की यथार्थता पर निर्णय करना था।

जज एनज़िलोटी ने अपनी भड़कीली और गहन राय में आधारभूत राजनैतिक समस्या पर सकेत किया जो अदालत के समक्ष थी और जिसको यह उपलब्ध साधनों में नहीं निपटा सकी, "प्रत्येक वस्तु इस यथार्थता की ओर सकेत करती है कि उत्तर उन विचारों पर आधारित है जो यदि सम्पूर्णत' नहीं, पर अधिक अंश में राजनैतिक और आर्थिक प्रकार के होते हैं। इसलिए यह पूछा जाए कि क्या परिषद् वास्तव में प्रश्न के इस पहलू पर अदालत की राय लेना चाहती थी और क्या अदालत को इससे निपटना चाहिए था ... मैं मानता हूं कि अदालत ऐसी राय देने में 'न' कर दे, जो इसे ऐसे नियम त्यागने पर बाधित करे, जो इसके न्यायाधिकरण का कार्य निर्धारित करते हैं।"[5] अदालत ने राय देने में प्रतिषेध नहीं किया और यथा पूर्व-स्थिति और परिवर्तन की इच्छा में द्वद्व के निर्णय का यत्न करते हुए इसे आधारभूत नियमों से जो इस के "न्यायाधिकरण के रूप में कार्य को निर्धारित करते हैं, विचलित होना पड़ा।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय उस भूल से बचा, जिसमें स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय फंसा था। 1951 में जब ग्रेट ब्रिटेन ने इसके आगे एग्लो-ईरानियन तेल-कम्पनी का मामला रखा, इसने क्षेत्राधिकार अस्वीकार किया। ईरानी सरकार ने स्थापित सधियों का स्पष्ट रूप में उल्लंघन करते हुए ऐंग्लो-ईरानियन तेल-कम्पनी की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण किया था। ईरान और ग्रेट-ब्रिटेन के बीच

5. P C I J Series A/B No. 41, pp 68, 69.

झगडे का सम्बन्ध वर्तमान कानून की प्रयोज्यता से नही था, बल्कि वर्तमान कानून मे सहित यथा-पूर्व-स्थिति की यथार्थता से था, जो नवीन कानूनी व्यवस्था की वैधता के विरुद्ध थी। जैसा कि हमने देखा है, अदालत को वर्तमान कानूनी व्यवस्था की वैधता को अवश्य धारण करना है और अपने निर्णयो से इसकी रक्षा करनी है। अतएव यह पूर्ण तर्कसंगत था कि यथा पूर्व-स्थिति मे रुचि रखने वाला ग्रेट ब्रिटेन अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को अपील करेगा जबकि ईरान जो यथा-पूर्व-स्थिति के बदलने में रुचि रखता था अदालत के अधिकार क्षेत्र को नही मानेगा। अधिकार-क्षेत्र का प्रयोग करते हुए अदालत को बिना अभियोग के वास्तविक विषय को विचारते हुए ग्रेट ब्रिटेन का पक्ष लेना पड़ता। प्राविधिक आधारो पर अधिकार-क्षेत्र को अस्वीकार करते हुए इसने निस्सन्देह न्यायिक कार्य पर, जिसका यहाँ हम वर्णन कर रहे है परिसीमा को स्वीकार किया।

अंत में, सयोग से पूर्व-कथित विश्लेषण के लिए अधिक प्रभावशाली आनुभविक प्रमाण सयुक्त राज्य और सोवियत-सघ के सम्बन्धो से मिलता है, जैसाकि वे दूसरे महायुद्ध के अंत मे विकसित हुए हैं। इस पर इतनी अधिक टीका-टिप्पणी हुई है कि सयुक्त-राज्य और सोवियत-सघ को पृथक् करने वाले मौलिक विषय की परिभाषा देना बहुत कठिन है। यह जर्मनी या मिस्र नही, ईराक या ईरान नही कोरिया या चीन नही। न ही यह इन अकेले विषयो का सग्रह है। न ही मौलिक विषय को दो प्रतिरोधी दर्शनो और शासन-प्रणाली मे [redacted] के शब्दो मे निर्धारित किया जा सकता है, क्योकि यह द्वद्व पच्चीस वर्ष तक अतर्राष्ट्रीय मच पर बिना उस प्रकार के प्रतिघात रहा, जिसे हम आज देख रहे हैं। अकेले या सयुक्त कथित विषयो को द्वद्व की गहराई और कटुता के लिए उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता जो सयुक्त-राज्य और सोवियत-सघ लपेट मे लेते हैं, जहाँ कही उनका मिलाप होता है और जो शातिमय ढगो से उन द्वद्वो के निपटाने मे उनके प्रत्येक प्रयत्न मे जीर्णता लाते है।

सारे भूखण्ड को ग्रस्त किए हुए तनावो का अस्तित्व व्यक्तिगत द्वद्वो की इन विशेषताओ का उल्लेख कर सकता है। वह तनाव जीवन रक्त प्रदान करता है जिसमे सयुक्त-राज्य और सोवियत-सघ के बीच सब छोटे-बडे विषयो मे धड़कन पैदा होती है और जो उन्हे सामान्य रग, सामान्य तापमान और सामान्य विलक्षणता प्रदान करता है। वास्तव मे, यह मौलिक विषय ही है, जिसके उपरिलिखित एकाकी विषय विविध और साकेतिक निरूपण है और कुछ नही। विश्व-व्यापी शक्ति-वितरण पर सयुक्त-राज्य और सोवियत-सघ का द्वद्व दोनो देशो के किसी एक अनिर्णीत झगड़े का अपने गुण के आधार पर हल होने से रोकता है। सामान्य संकेत मे यह ऐसे झगडे का न्यायिक निपटारा नही होने देता।

विश्लेषणात्मक और अनुमानिक विचारो द्वारा हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि झगडे, जिनकी अधिकतम सम्भावना युद्ध की ओर ले जाने की होती है, न्यायिक साधनो से नही निपटाए जा सकते। तनावो का विविध और सांकेतिक निरूपण होने के कारण उनका वास्तविक विषय यथा-पूर्व-स्थिति को बनाए रखना और इसके विपरीत इसे उखाडना है। प्रश्न को घरेलू क्षेत्र मे इस विषय के सामान्य निबटारे के दृष्टिकोण से विचारना एक दूसरे कोण से बताता है कि घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय अदालतो के शांतिमय कार्य मे तुलना तर्कदोषी है।



छब्बीसवाँ अध्याय
शान्तिपूर्ण परिवर्तन

राज्य में शान्तिपूर्ण परिवर्तन

तनाव सामाजिक जीवन की एक विश्वव्यापी घटना है। वे घरेलू क्षेत्र मे उतने घटित होते हैं, जितने कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे। घरेलू क्षेत्र में भी यथा-पूर्व-स्थिति कानूनी व्यवस्था में दृढ़ और स्थिर होती है। इस यथा-पूर्व-स्थिति से विरोधी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं और इसे कानूनी व्यवस्था के परिवर्तन द्वारा उलटने का यत्न करती हैं। विषय का निर्णय अदालतें नहीं करतीं। अदालतो को यथा-पूर्व-स्थिति के अभिकर्त्ता के रूप मे अवश्य काम करना चाहिए। परिवर्तन की इच्छा और यथा-पूर्व-स्थिति को बनाए रखने के संघर्ष मे यदि परिवर्तन के मामले की पुष्टि हो तो वह व्यवस्थापिकाओं द्वारा और कभी-कभी कार्यपालिका-शक्ति द्वारा होती है। इसलिए घरेलू क्षेत्र मे यथा-पूर्व-स्थिति और परिवर्तन की माँग मे तनाव का वियोजन अदालतो के यथा-पूर्व-स्थिति के संरक्षक के रूप मे और व्यवस्थापिका के परिवर्तन के अभिनेता के रूप मे संघर्ष द्वारा होता है।

यह बात आधुनिक इतिहास के बहुत से बड़े झगड़ो के सम्बन्ध में ठीक है, जिनमे तनाव अपने आप को व्यक्त करते हैं। जागीरदारी यथा-पूर्व-स्थिति को बनाए रखने और मध्यम वर्गों द्वारा इसके परिवर्तन की इच्छाओं मे तनाव ने उन्नीसवी शताब्दी वाले ग्रेट ब्रिटेन की अदालतो और व्यवस्थापिका की प्रतिद्वंद्विता मे अपने आप को व्यक्त किया। बौद्धिक जगत् में इस प्रतिद्वंद्विता का पूर्वाभास बैंथम के वादानुवाद मे मिलता है। बैंथम विधि-निर्माण द्वारा सुधार का भक्त था जबकि इसके विरुद्ध ब्लैकस्टोन विधि और इसकी अदालतो का रूढ़िवादी प्रतिरक्षक था। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दस वर्षों मे संयुक्त राज्य मे भी एक ऐसा संघर्ष उठा जब 'कम हस्तक्षेप' की नीति की यथा-पूर्व-स्थिति की रक्षा सामाजिक तथा नियामक विधि-निर्माण के विरुद्ध अदालतो ने की। दोनो मामलो मे परिवर्तन की विजय हुई और अदालतें नवीन यथा-पूर्व-स्थिति की प्रतिरक्षक बन गई।

तीन कारकों ने इस शान्तिपूर्ण परिवर्तन को सम्भव बनाया (१) लोकमत की स्वतन्त्रता से अपने आप को व्यक्त करने की योग्यता, (२) सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं की लोकमत के दबाव को आत्मसात् करने की योग्यता,

और (३) हिंसात्मक परिवर्तन के विरुद्ध नवीन यथा-पूर्व स्थिति के सरक्षण करने की राज्य की योग्यता।

उन्नीसवी शताब्दी मे इगलैण्ड और बीसवी शताब्दी मे अमरीका मे लोकमत ने परिवर्तन की इच्छा को मौखिक और लिखित रूप मे सगठित यत्नो और स्वजात प्रतिक्रियाओ द्वारा व्यक्त किया। इन अभिव्यक्तियो के दबाव के अधीन लोक-समुदाय का नैतिक मान बदला और इसने यथा-पूर्व-स्थिति और इसके सरक्षको की निन्दा करते हुए परिवर्तन की इच्छा पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगाई। कोई सामाजिक और राजनीतिक एजेंसी इस नैतिक जलवायु के सर्व-व्यापक प्रभाव से नही बच सकती थी। उस नैतिक मूल्याकन के अमूर्त परिवर्तन मे हम प्रति सशक्त बल को पाते हैं, जो यथा-पूर्व-स्थिति के रूपान्तरण का प्रवर्तक है।

लोकमत को न केवल परिवर्तन के लिए अपनी इच्छा को व्यक्त करने का अवसर मिला, वरिक इसे यथा-पूर्व-स्थिति के सरक्षको के साथ कानूनी नियमो को रूप देने मे मुकाबला करना पड़ा। इस प्रतियोगिता ने या तो विधान—सभाओ के चुनाव का या इन सस्थाओ मे विशेष प्रकार के विधि-निर्माण के आन्दोलनो का रूप धारण किया। इस प्रकार परिवर्तन की माँग करने वाली शक्तियाँ ससदीय सस्थाओ की दिशा मे अग्रसर हुई। वहाँ उन्होने अपने विरोधियो के साथ शान्तिपूर्ण द्वद्व मे भेंट की। इसमे बहुमत मतदान के निष्पक्ष मार्गो द्वारा, जिसे पहले से सबने स्वीकार किया था, विजय का निर्णय होता। इस ढग से यथा-पूर्व-स्थिति का दो अद्भुत अवसरो पर बिना कानून को भग किए और बिना समाज की शान्ति और व्यवस्था को खतरे मे डाले, रूपान्तरण हुआ।

अत मे, राज्य का अधिकार और बल उस हर प्रकार की कानूनी व्यवस्था को लागू करने पर तैयार होता है, जो सामाजिक दलो और राजनीतिक गुटो के सघर्ष से निकलता है। शर्त यह है कि वह कानूनी व्यवस्था नैतिक मतैक्य की न्यूनतम आवश्यकताओ के अनुरूप हो जिस पर सार्वजनिक सस्थाओ की सरचना आधारित है। राज्य की यह तत्परता और इसके हर सम्भव विरोध स निपटने की उत्कृष्टता न केवल अल्पमत दलो के, दी हुई यथापूर्व-स्थिति के हिंसात्मक साधनो द्वारा विरोध करने मे, उत्साह को भग करती है, वरन् लोकमत पर दो महत्त्वपूर्ण अवरोध लगाती है। वे लोकमत के प्रभावशाली अनुभागो पर ऐसी सीमान्त माँगे रखने पर अवरोध लगाती हैं, जो दूसरे प्रभावशाली अनुभागो को अस्वीकार हों और इसलिए जिन्हे लागू करने मे राज्य को सशस्त्र प्रतिरोध का खतरा मोल लेना पडे। यह विधान-सभाओ मे, जो राज्य की शक्ति और इसकी

परिसीमाओं का ज्ञान रखती हैं, समझौते के लिए प्रेरक का कार्य करती हैं, क्योंकि राज्य उन कानूनों को लागू कर सकता है और करेगा, जो राज्य की अपनी नैतिक व्यवस्था की न्यूनतम आवश्यकताओं का उल्लंघन नहीं करते। परन्तु राज्य उन कानूनों को लागू करने का यत्न नहीं कर सकता, जो उन न्यूनतम आवश्यकताओं की अवहेलना करें, जब तक कि राज्य अपनी तात्त्विक एकता के विच्छेदन का अराजकता या गृहयुद्ध में परिणत होने का खतरा मोल नहीं लेता।

एक स्वतन्त्र समाज में सामाजिक परिवर्तन का क्रम ऐसा ही है। यह स्पष्ट है कि इस क्रम को चलाने की कोई विशेष एजेंसी नहीं होती जो अपने विधिवत कर्तव्यों का पालन करती हो। सामाजिक शक्तियाँ अपनी आवश्यकताओं को न्याय के सिद्धान्तों के स्तर पर लाकर लोकमत को आकर्षित करती हैं। यह लोकमत का सर्वव्यापी प्रभाव होता है, जो नैतिक मूल्याकनों और विधान-एजेंसियों के कानूनी निर्णयों का निर्धारण करता है, जैसा कि यह अन्त में, अदालतों और कार्यपालिका-शक्तियों का करता है। व्यवस्थापिका, न्यायपालिका और कार्यपालिका की एजेंसियाँ लोकमत के यन्त्र हैं। वे सब लोकमत के एक जैसे कार्य को पूरा करती हैं, जैसे कि इसकी माँगों के प्रस्तुतीकरण और परीक्षण के लिए शान्तिपूर्ण और नियमित मार्ग प्रदान करना, ताकि न्याय के सिद्धान्तों के प्रकाश में उनका मूल्यांकन हो सके, तथा उनमें से उचित माँगों को वास्तविकता में परिणत करना।

इस परिवर्तन-क्रम के प्रति विधान-सभाओं का योगदान जनमत के लिए मंच प्रदान करने के रूप में होता है, जिसके द्वारा भिन्न भिन्न विचारों को सार्वजनिक रूप में प्रस्तुत किया जाता है और असंगठित समाज द्वारा पहले से हुए विकल्प का अनुमोदन होता है। इसमें विश्वास करना अकृत्रिम होगा कि यथा-पूर्व-स्थिति और परिवर्तन का विषय जब कभी उठता है तो उसे केवल एक विधान-सभा के समक्ष रखने की आवश्यकता होती है, जो एक कानून को स्वीकार या अस्वीकार कर के मामले को निबटायेगी। शान्तिपूर्ण परिवर्तन के इस क्रम में विधान-सभाओं का एक अनिवार्य परन्तु गौण योगदान होता है।

एक यथापूर्व-स्थिति से दूसरी में शान्तिपूर्ण परिवर्तन के क्रम में अदालतों का जो कुछ योगदान हो, यह बात नैतिक जलवायु से निर्धारित होती है, जो न्यायालयों में, कांग्रेस के सदनों में, वाईट-हाउस में और साधारण नागरिकों के घरों में व्याप्त होती है। क्योंकि जैसा हमने देखा है अदालत केवल स्थापित कानून को लागू कर सकती है, इसलिए उनके पास यथापूर्व-स्थिति का यन्त्र बने बिना कोई मार्ग नहीं होता। एक बार विधान-सभा ने नवीन यथापूर्व-स्थिति को

व्यक्त करने वाले नवीन कानून पास कर दिये हो, तो भी अदालतें एक यथापूर्व-स्थिति से दूसरी मे सक्रमण को तीव्र और सरल कर सकती है। दूसरे शब्दो मे, अदालतें अनिवाय परिवतन का प्रतिरोध कर सकती हैं, या इसकी शान्तिपूर्ण और नियमित सिद्धि मे योगदान दे सकती है। इनमे स अदालतें कौन सा कत्तव्य निभाएगी यह सब कुछ लोकमत के बल और उसकी एकाग्रचित्तता पर और इसके साथ उस लोकमत के प्रति अदालतो की सग्रहणशीलता पर निभर होगा।

एक लोकतन्त्र म सरकार की कायपालिका शाखा लोकमत का नेतृत्व कर सकती है और उसके प्रभाव को दूसरी शाखाओ मे ला सकती है। यह अपने स्वतन्त्र यत्नो से प्रमुख परिवतन नही ला सकती। इसका मुख्य काम दूसरी शाखाओ द्वारा किए गए निणयो को लागू करना है, तो भी तानाशाही म सरकार के सब कार्य कायपालिका के हाथ में होते हैं जो एक ही समय निणय करती है, और इसे लागू करती है। तो भी यह कहना ठीक नही होगा कि तानाशाही सरकार लोकमत का ख्याल न करते हुए जैसे उचित समझे वैसे कर सकती है। वास्तव मे वह सचार साधनो के प्रभावशाली सेवन से, जिस पर उसका एकाधिकारी नियन्त्रण होता है लोकमत का कुशल प्रयोग कर सकती है परन्तु प्रचार को सफल बनने के लिए प्रजा के जीवन अनुभवो से अधिक भिन्न नही होना चाहिए। तानाशाह को इन अनुभवो को अपने प्रचार के अनुरूप अवश्य मोडना चाहिए या अपने प्रचार को इन अनुभवो के अनुरूप ढालना चाहिए। हर हालत मे तानाशाह को भी लोकमत के दबावो के प्रति झुकना होता है, जिसे न तो वह पूणतया टाल सकता है और न ओझल कर सकता है।

घरेलू रगमच पर शान्तिपूण परिवतन के क्रमो का इस प्रकार स्थूल रेखाचित्र है। ये तनावो के लिए यह सम्भव बनाते हैं कि ये अपने आप को हिंसात्मक अग्नि के स्थान पर सावजनिक झगडो, चुनाव आन्दोलनो ससदीय वाद-विवादो और सरकारी सकटो के माध्यम स व्यक्त करें। तो भी यदि ये क्रम से काम नही करते या बुरी तरह काम करते है तब उत्पन्न होने वाली घरेलू अवस्था उन परिस्थितियो से मेल खाती है, जो अन्तराष्ट्रीय रगमच पर विद्यमान हैं। परिवतन की मार्गें, जो खुले स्थान की प्रतियोगिता मे, चुनाव तथा विधान द्वद्वों मे टिकने के अयोग्य हैं वे पहले की तरह भूमिगत हो जाती है। यथापूव-स्थिति और परिवतन की माग का झगडा एक तनाव का रूप ग्रहण करता है जिसके प्रभाव उन झगडो पर पडते हैं जो उस प्रकार के हैं जिन्हे हम अन्तराष्टीय क्षत्र म स्वीकार कर चुके हैं। तब घरेलू समाज पूव-क्रान्तिकारी या क्रान्तिकारी अवस्था म प्रवेश करेगा। क्रमश जनसख्या के दल यथापूव स्थिति और परिवतन की माँग के साथ ऐक्य स्थापित करते हुए दो सशस्त्र दलो की तरह एक दूसरे का

विरोध करेंगे, जो बहुमत मतदान को मध्यस्थता या न्याय की सामान्य मांगों के प्रति अपील करने की अयोग्यता के कारण आर्थिक या सैनिक युद्ध में निर्णय को खोजते हैं।

ऐसी अवस्था वस्तुतः क्रान्ति और गृह-युद्ध में परिणत होती है या नहीं, यह घरेलू समाज-शक्ति के वितरण पर निर्भर है। हमने पहले भी एक अन्य प्रसंग में संकेत किया है कि युद्ध और संचार की आधुनिक उद्योगिकी लोकप्रिय क्रान्तियों को प्रायः असम्भव बनाती है। सयोगानुपात बहुत अधिक राज्य-विप्लव के रूप में हिंसात्मक परिवर्तनों के पक्ष में है। जनसंख्या के एक अनुभाग के बदले में, जो सरकार के विरुद्ध विद्रोह करता है, जिसको जनसंख्या के दूसरे अनुभाग का समर्थन प्राप्त है, यह अधिक सम्भव है कि सरकारी मशीन का एक खण्ड, विशेषकर सशस्त्र सेनाएँ, सम्पूर्ण सरकार पर नियंत्रण स्थापित करने का प्रयत्न करें।

हमारे वर्तमान विवेचन के लिए महत्त्वपूर्ण बात इस तथ्य को स्वीकार करना है कि ये घरेलू अदालतें नहीं होतीं, जो शान्तिपूर्ण ढंग से उन झगड़ों का निपटारा करती हैं जो अन्यथा क्रान्ति और गृह-युद्ध की ओर ले जाएँ। जब ड्रेड स्टॉक (Dred Scott) केस, दासता के क्षेत्रीय विस्तार का विषय, संयुक्त-राज्य के सर्वोच्च न्यायालय के सामने आया तो अदालत ने यथा-पूर्व-स्थिति के पक्ष में निर्णय दिया। तो भी उस निर्णय ने कुछ नहीं निपटाया। कोई अदालत उस बात का निपटारा कर सकती थी, जिस के दांव ड्रेड स्काट केस में लगे थे। सम्पूर्ण रूप में समाज भी शान्तिपूर्ण ढंग से यथा-पूर्व-स्थिति और परिवर्तन की इच्छा के झगड़े निपटाने के अयोग्य था, क्योंकि उस द्वन्द्व ने न केवल उत्तर और दक्षिण में स्थापित शक्ति-वितरण को ललकारा, वरन् दासता के मामले में, संघीय और प्रादेशिक सरकारों के सम्बन्धों में इसने नैतिक मतैक्य का प्रश्न पुनः छेड़ा, जिसके आधार पर संयुक्त-राज्य का राजनीतिक ढांचा खड़ा था। वह प्रश्न न केवल अदालत या विधान-सभा से नहीं, वरन् सारे समाज से किया गया। अमरीकी समाज ने दो बेमेल उत्तर दिए, उत्तरों ने द्वन्द्व को दुर्निवार्य बनाया।

राज्य में शान्तिपूर्ण परिवर्तन का मार्मिक कार्य पृथक् रूप में किसी विशेष ऐजंसी द्वारा सम्पूर्ण नहीं होता, वरन् सम्पूर्ण संकलित रूप में घरेलू समाज द्वारा होता है। सरकार के अधिकार और भौतिक शक्ति के समर्थन को प्राप्त नैतिक मतैक्य सामाजिक और राजनीतिक एजेंसियों का प्रयोग करेगा, जिससे ऐसी अवस्था पैदा की जाए जो न्याय की अवधारणा के अनुरूप हो। इस शान्तिपूर्ण परिवर्तन के क्रम में विधान-सभाओं का विशेषकर महत्त्वपूर्ण योगदान है, यदि वे स्वतन्त्र अभिकर्त्ता हों, जैसा कि वे लोकतन्त्र-समाजों में पाई जाती हैं।

परन्तु विधान सभाएँ तो केवल सारे समाज की एजेण्ट होती हैं। सामाजिक समर्थन के बिना उनके कानून वांछित परिवर्तन लाने में असमर्थ होते हैं। विधि-निर्माण का इतिहास विश्वास विरोधी कानूनों से भरा है जो विधान-सभा द्वारा बनाए गए और अधिनियम की पुस्तक में विद्यमान रहे। परन्तु इनके होते हुए भी वे अपना उद्देश्य प्राप्त करने में असफल रहे हैं क्योंकि समाज के नैतिक मतैक्य का उन्हें समर्थन प्राप्त नहीं। केवल अपने प्राविधिक कार्य करने से विधान सभाएँ पुरानी यथा पूर्व स्थिति को नवीन में शान्तिपूर्ण ढंग से बदलने के लिए अदालतों से अधिक योग्य नहीं। दूसरे शब्दों में, जब समाज को अपनी व्यग्र चुनौती का सामना करना पड़ता है तब विधि निर्माण अदालती निर्णय से अधिक पर्याप्त नहीं कि जिससे समाज के अन्दर शक्ति-वितरण में नियमित और शान्तिपूर्ण क्रमों को आपत्ति में डाले बिना परिवर्तन लाया जा सके, जिनपर समाज का कल्याण निर्भर हो।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शान्तिपूर्ण परिवर्तन

घरेलू और अन्तर्राष्ट्रीय समाजों के कानूनी क्रमों की उपमा से एक महत्त्वपूर्ण पाठ ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु यह वह पाठ नहीं जिसे अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के अदालती निपटारे के वकीलों ने प्राप्त किया हो। घरेलू अदालतें उस कार्य को न तो करती हैं और न कर सकती हैं जिससे अदालती निपटारे के वकील उन्हें सम्बोधित करते हैं। वे ऐसे झगड़ों को शान्तिपूर्ण ढंग से न तो निपटाते हैं और न निपटा सकते हैं जो अन्यथा हिंसात्मक प्रचण्ड आग का रूप धारण कर लें। अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर वे शक्तियाँ और संस्थाएँ विद्यमान नहीं हैं जो इस कार्य को घरेलू समाज में पूरा करती हैं।

जैसा कि हम ने देखा है कि ऐसा कोई अन्तर्राष्ट्रीय नैतिक मतैक्य विद्यमान नहीं, जिससे लड़ने वाले राष्ट्र अपने झगड़ों को निपटाने के लिए न्याय का सामान्य मान प्राप्त कर पाएँ। नैतिक मतैक्य के अभाव ने उन धाराओं को सिद्ध होने से रोका है, जिनका आयोजन बहुत सी मध्यस्थ सन्धियों में और इसके साथ अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के अधिनियम में किया गया है, जिसके अधीन कुछ परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय अदालतों को आज्ञा दी गई है कि वे दृढ़ अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार निर्णय न करें वरन सुनीति और न्याय के सामान्य सिद्धान्तों के अनुसार करें। इस दृष्टिकोण से तो ये धाराएँ ठीक हैं क्योंकि वे उन झगड़ों के अस्तित्व को स्वीकार करती हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वर्तमान नियमों के आधार पर अदालती निपटारे के प्रति ग्रहणशील नहीं, तो भी ऐसी धाराएँ विकृत हैं, क्योंकि यह विचारा जाता है कि दूसरी श्रेणी द्वारा प्रस्तुत झगड़ों को केवल

अदालतों को यह अधिकार देकर निपटाया जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के वर्तमान नियमों से विचलित हो कर सुनीति और न्याय के सामान्य सिद्धान्तों का अनुसरण करें। अन्तर्राष्ट्रीय अदालतें ऐसे सिद्धान्तों की स्तुति केवल तब कर सकती है, यदि ये सिद्धान्त विद्यमान हो वे न तो उनका आविष्कार कर सकती हैं और न उनको मशीन की तरह अपील कर सकती है, जो हस्तक्षेप करने को तैयार रहती हैं, जब कभी अन्तर्राष्ट्रीय अदालत यथा-पूर्व-स्थिति और परिवर्तन की इच्छा में फँस जाती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समाज को सामान्य रूप में स्वीकृति न्याय के मानों की आवश्यकता है, जिसके द्वारा यथा-पूर्व-स्थिति के सरक्षण और इस पर आक्रमण के पारस्परिक गुणों को निर्धारित किया जा सके। ऐसे मानों के प्रयोग की अदालत को शक्ति देने से कुछ भी सहायता नहीं मिलती है, जो मान विद्यमान ही न हो।

अन्तर्राष्ट्रीय समाज के पास विधान-सभाओं का अभाव है, जो शान्तिपूर्ण परिवर्तन के क्रम मे उस प्रकार कार्य सम्पन्न कर पायें, जिस प्रकार के कार्य घरेलू समाज के लिए वैधानिक एजेंसियाँ करती हैं। राष्ट्रसघ प्रसविदा की धारा 19 और सयुक्त-राष्ट्र प्रपत्र की धारा 10 और धारा 14 मे शान्तिपूर्ण परिवर्तन के साधन प्रदान करने के प्रयत्न किए गए हैं। प्रसविदा की धारा 19 की व्याख्या इस प्रकार है "समय-समय पर सभा सघ के सदस्यो को सलाह दे कि उन सधियो पर पुनर्विचार किया जाए, जो अप्रयोज्य हो गई हैं और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो को विचारने पर जिनकी स्थिरता विश्व शान्ति के लिए घातक हो।" प्रपत्र की धारा 10 बताती है कि "महासभा वर्तमान प्रपत्र के अधिकार-क्षेत्र के अदर किसी प्रश्न या किसी विषय पर वाद-विवाद कर सकती है और सयुक्त-राष्ट्र या सुरक्षा-परिषद् या दोनो के सदस्यो को ऐसे किही प्रश्नो या विषयो पर सिफारिश कर सकती है" प्रपत्र की धारा 14 अधिक विशिष्ट रूप मे उद्गम से उदासीन किसी ऐसी अवस्था के शान्तिपूर्ण समायोग, जिससे महासभा की दृष्टि मे सामान्य कल्याण या राष्ट्रो मे मैत्री सम्बन्धो को क्षीण करने की आशका रहे" का उल्लेख करती है।

राष्ट्र-संघ-प्रसंविदा की धारा 19

राष्ट्र-सघ-प्रसविदा की धारा 19 के सम्बन्ध मे प्रोफेसर फ्रेडरिक एस० डन (Frederick S Dunn) ने ठीक कहा है कि यह "आरम्भ से मृतक पत्र रहा है।[1]" धारा 19 की एक बार विधिवत् स्तुति 1920 मे चाईल के विरुद्ध बोलविया

1 Peaceful Change (New York Council of Foreign Relations, 1937) p 111.

द्वारा की गई। राष्ट्र-संघ सभा द्वारा नियुक्त विधिवेत्ता समिति की प्रतिकूल रिपोर्ट को ध्यान मे रखते हुए बोलविया ने अपनी प्रार्थना वापिस ले ली और 1929 तक संघ के काम मे आगे भाग लेना अस्वीकार किया।

विधिवेत्ता समिति ने अपनी रिपोर्ट मे दो महत्त्वपूर्ण बिन्दु अंकित किए। एक स्पष्ट था और दूसरे ने धारा 19 की प्रयोज्यता को गम्भीरता से सीमित किया। रिपोर्ट मे वह घोषित किया, जो स्पष्टता से धारा 19 मे प्रस्तावित है कि सभा को बन्धनकारी प्रभाव के द्वारा संधियो मे परिवर्तन करने का कोई अधिकार नही कि ऐसे रूपान्तरण संविदागत दलो की अनन्य क्षमता मे निहित हैं और यह केवल संघ के सदस्यो को सलाह दे सकती है, तो भी संधियो के सम्बन्ध मे ऐसी सलाह देने की शर्त उनकी अप्रयोज्यता थी और समिति ने संधियो की अप्रयोज्यता की परिभाषा इस प्रकार की कि जिसमे क्रान्तिकारी सामग्री और नैतिक परिवर्तन इतना हस्तक्षप करें "कि उनके प्रयोग की युक्तियुक्त सम्भावना समाप्त हो जाये।"[2] ऐसी अवस्था वास्तव मे विरल होगी जिसमे यथापूर्व-स्थिति की निरन्तरता इतने स्पष्ट रूप मे उग्र हो कि इन आवश्यकताओ को पूरा करे।

तो भी हमे यह धारणा करना चाहिए कि सभा ने सम्बन्धित सदस्यो को सलाह दी थी कि वह एक संधि का पुनर्विचार करें या एक ऐसी अवस्था पर विचारें, जिससे शान्ति को भय हो। विविध पक्ष इस सलाह को स्वीकार या अस्वीकार करने मे स्वतन्त्र थे। यदि स्वेच्छा से सलाह को मान लेते तब निस्संकोच रूप मे यह निष्कर्ष निकलेगा कि खतरे मे पड़े हुए हित महत्त्वपूर्ण नही थे और कुछ प्रकार का बाहरी दबाव, प्रोत्साहन या मान बचाने वाला साधन सम्भवत उन्हे प्रेरित करेगा कि वे संधि पर पुनर्विचार या अवस्था पर विचारने के लिए सहमत हो यद्यपि विचारने का अर्थ सहमति नही। हो सकता है सम्बन्धित पक्षो ने संधि या अवस्था पर विचार किया हो और तदनुसार सभा की सलाह का पालन किया हो और तब भी वे किसी समाधान पर सहमत न हुए हों और धारा 19 ने सभा को उनपर कोई हल ठोसने का अधिकार नही दिया।

यह एक साफ प्रश्न है कि क्या सभा का धारा 19 के अनुसरण मे केवल सर्वसम्मत या बहुमत मतदान से सलाह देना पर्याप्त होगा। यदि यह सोचा जाए कि सर्वसम्मति आवश्यक थी तब सभा सलाह देने को अयोग्य होती, यदि क्यो न एक ही राष्ट्र इसका विरोध करता और राष्ट्र उस राष्ट्र से जिसके हितो पर यथापूर्व-स्थिति के परिवर्तन से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता, अधिक सम्भावना थी कि वह इसका विरोध करे। यदि दूसरी तरफ सम्बन्धित पक्ष पहले से ही

2. Germany of the Second Assembly of the League of Nations, 1821, p 218

यथापूर्व स्थिति के पुन विचारने पर सहमत हो तो उन्हे उस उपलक्ष्य मे सलाह की आवश्यकता नही थी और धारा 19 के अतर्गत कार्यवाही बिना किसी उद्देश्य के थी ।

तो भी यदि कोई यह विचारे कि केवल बहुमत मतदान की आवश्यकता थी, तो परिस्थिति उस समान होगी, जिसको हमने सामूहिक सुरक्षा की व्यावहारिक क्रिया को निष्फल करते पाया, ऐसी अवस्था मे जब यथापूर्व-स्थिति की स्थिरता खतरे मे हो । यह सम्भव है कि राष्ट्र समुदाय दो प्रतिकूल दलों मे विभाजित हो । एक दल यथापूर्व-स्थिति की स्थिरता का पक्ष लेगा और दूसरा इसको फैंकने की माँग करेगा, किसी दल के सख्यागत बहुमत का होना स्पष्ट रूप मे एक विसगत प्रश्न है । समप्रभुता-सम्पन्न राष्ट्रो के समाज मे यदि किसी की एक मात्र गिनती है वह यह कि कहाँ शक्ति-प्रधानता का निवास है । अल्प सख्या म महाशक्तियाँ निश्चय ही दुर्बल और मध्यम शक्तियो की सलाह की उपेक्षा करेंगी । यदि ये बहुसख्यक शक्तियाँ व्यग्र शक्ति को प्रयोग मे लाने के लिए तैयार हों, तब अल्पसख्यक शक्तियाँ उनकी सलाह की ओर ध्यान देंगी । तो भी वास्तव मे, इस बात की अधिक सम्भावना है कि शक्तियो मे अधिक विषमता न रखने वाले दो दल एक दूसरे का विरोध करेंगे । ऐसी आकस्मिकता मे विषय का निर्णय यथापूर्व-स्थिति-विरोधी राष्ट्रो की सलाह से नही हुआ होगा, जो राष्ट्र-सघ की सभा मे बहुसख्यक होगे ।

महासभा के प्रस्ताव

राष्ट्र-सघ के प्रसविदा की धारा 19 के सम्बन्ध मे ये धारणाएँ केवल काल्पनिक हैं । सयुक्त-राष्ट्र के अगो के वास्तविक कार्य द्वारा इनकी परीक्षा हुई है । ये प्रश्न के दूसरे पद और धारा 14 के अन्तर्गत उपस्थित तथा मतदाताओ के दो तिहाई बहुमत से सिफारिश कर सकती है । प्रसविदा की धारा 19 के अपेक्षाकृत शब्दों मे अधिक विशाल और कम विशिष्ट होते हुए भी धारा 10 और 14 का मन्तव्य सयुक्त-राष्ट्र के लिए वही कार्य करता है, जिस कार्यविधि की सघ के लिए धारा 19 मे कल्पना की गई थी । वह है शान्ति-पूर्ण परिवर्तन के लिये कानूनी मार्ग को खोजना । सयुक्त-राष्ट्र की महासभा ने सिफारिश करने की इस शक्ति का अद्भुत आवृत्ति के साथ प्रयोग किया है । इनमे से बहुत सी सिफारिशो का शान्ति-पूर्ण परिवर्तन की समस्या के साथ या तो कोई सम्बन्ध नहीं था या इनका उद्देश्य शान्ति-सरक्षण या उसकी पुनर्स्थापना द्वारा यथा-पूर्व-स्थिति को बनाये रखना था । तो भी कुछ सख्या मे मामले महा-सभा के सामने ऐसे आये, जिन्होंने शान्तिपूर्ण परिवर्तन के विषय को उठाया ।

पैलिसटीन

29 नवम्बर, 1947 के महासभा के प्रस्ताव ने पैलिसटीन के बटवारे की सिफारिश की। यह शान्तिपूर्ण परिवर्तन के लिय एक विशुद्ध यत्न था, जो अभिलेख मे अति विस्तृत और राजनीतिक दृष्टिकोण में अति महत्त्वपूर्ण है।[3] इसका ध्येय ससार के एक विशेष इलाके मे एक शक्ति के पुनर्वितरण द्वारा मध्य पूर्व में यथापूर्व स्थिति में शान्ति-पूर्ण रूपान्तरण लाना था। आधारभूता से उपवर्जित यथा पूर्व-स्थिति जिससे महासभा का सम्बन्ध था, की तीन विशेषतायें थी (I) पैलिसटीनी इलाके में ब्रिटेन की प्रधानता (II) पैलिसटीनी जनसख्या के अरब और यहूदियो द्वारा उस प्रधानता का विरोध और (III) प्रधानता के लिए अरबो और यहूदियो मे सघर्ष। महासभा की सिफारिशो मे पैलिसटीन पर ब्रिटिश नियत्रण को समाप्त करने और पैलिसटीनी इलाके का तीन भागो मे विभाजित करने का आयोजन था। एक भाग को अरबो की सम प्रभुता दूसरे को यहूदियो की सम प्रभुता, तीसर को सयुक्त राष्ट्र की सम प्रभुता के अधीन लाना था।

ब्रिटिश राज्य को समाप्त करने के सम्बन्ध मे सामान्य समिति थी, तो भी विभाजन की सिफारिश करने वाला प्रस्ताव 13 के विरुद्ध 33 के मत से पास हुआ, जबकि 10 सदस्य अलग रहे। अफगानिस्तान क्यूबा, मिस्र, यूनान, भारत, ईरान, ईराक लेबानोन पाकिस्तान सोदी अरब, सीरिया टर्की और यीमीन ने प्रस्ताव के विरुद्ध वोट दिये। अर्जनटीन चाईल चीन कोलम्बिया, एल-सालवेडोर इथोपिया ग्रेट ब्रिटेन, होनडारस, मैकसीको और योगोस्लाविया वोट देने से अलग रहे। यह लेखनीय कि प्रत्यक्ष रूप से सिफारिशी शक्ति के पुनर्वितरण के द्वारा प्रभावित होने वाला कोई राष्ट्र नही था जिसने प्रस्ताव के पक्ष मे मत दिया हो। व या तो अलग रह (ग्रेट ब्रिटेन) या उन्होने प्रस्ताव के विरुद्ध वोट दिया (अरब राष्ट)।

अरब राष्ट्रो के कथनो और कृतियो से कोई सन्देह नही था कि वे पैलिस्टाईन के अन्दर और बाहर शस्त्रो के बल से बटवारे का विरोध करेंगे। ग्रेट ब्रिटेन ने बार बार घोषित किया कि वह ऐसी योजना को कार्यान्वित करने मे सहायता नही करेगे जो अरबो और यहूदियो को समान रूप मे स्वीकार नही होगी। अरब विरोध को ध्यान में रखत हुए यह कहना ठीक था कि ग्रेट-ब्रिटेन महासभा की सिफारशो को कार्यान्वित करने मे सहयोग नही देगा। तो भी

3 1921 में राजसघ द्वारा अपर सिलशिया (Upper Silesia) का बटवारा इस विषय से सम्बन्धित नहीं है। सघ ने इस मामल में वरसाईल्स सधि के अधिकार क अतर्गत कार्य किया। विभाजन विजयी द्वारा ठोंसे गये शाति समझौते का अश था।

ग्रेट-ब्रिटेन ने असहयोग की सीमा पार की, ताकि महासभा की सिफारशों को क्रियात्मक रूप देना असम्भव हो जाये।

सशस्त्र प्रतिरोध की सम्भावना सामने पाते हुए यहाँ सभा ने अपने 29 नवम्बर, 1947 के प्रस्ताव में आयोजित समझौते को बल-प्रयोग से बदलने के हर यत्न को प्रपत्र की धारा 39 के अनुसार शान्ति के लिये भय, या आक्रमणकारी क्रिया घोषित करने की प्रार्थना की। महासभा ने सुरक्षा-परिषद् से प्रार्थना की, कि यदि वह ऐसा निर्धारित करे, तो इसे "प्रपत्र की धारा 39 और 41 के अधीन कार्यवाही करनी चाहिये और संयुक्त राष्ट्र आयोग को शक्ति देनी चाहिए जैसे कि इस प्रस्ताव में आयोजित किये गये हैं ताकि वह पैलिस्टीन में अस्थायी सरकार का कार्य निभा पाये"।

ये प्रार्थनायें राष्ट्र संघ प्रसंविदा की धारा 19 के हमारे विश्लेषण की पुष्टि करती हैं। एक ओर यथापूर्व-स्थिति को बदलने वाली सिफारिश व्यर्थ है जो सब पक्षकारियों को स्वीकार हो। इसकी स्वीकृति बताती है कि पक्षकारियों में कितनी ही असहमतियां हों, इनने सम्पूर्ण शक्ति वितरण को प्रभावित नहीं किया, परन्तु सम्पूर्ण शक्ति-वितरण में सन्तुलन को प्रभावित किया, जिस पर सब सहमत थे। दूसरी ओर वह यथापूर्व-स्थिति को बदलने वाली सिफारिश, जिसका एक सम्बन्धी दल विरोध करता है एक मृतक पत्र होता है या इसे लागू करना पड़ता है। अतएव सिफारिश को प्रभावशाली होने के लिए एक निर्णय बनना पड़ता है जिसके समर्थन में शक्ति होती है। यहाँ सभा की प्रार्थनाओं का उद्देश्य था कि सिफारिश का निर्णय में रूपान्तरण केवल संयुक्त राष्ट्र की एजेंसी द्वारा लाया जाए, जिसके लिए प्रपत्र ने बल-प्रयोग की शक्ति सुरक्षा-परिषद् को दी है जैसाकि यहाँ दिखाया जाएगा क्योंकि सुरक्षा-परिषद् बल-प्रयोग में असमर्थ रही, इसलिए यहाँ सभा की सिफारशें मृतक पत्र की तरह रहीं।

जोरोसलम के अन्तर्राष्ट्रीयकरण के विशिष्ट विषय का भी ऐसा ही अंत हुआ। 29 नवम्बर, 1947 के प्रस्ताव में आयोजित किया गया कि "जोरोसलम के नगर को एक विशिष्ट अंतर्राष्ट्रीय शासन के अधीन एक पृथक् अस्तित्व के रूप में स्थापित किया जाएगा और उसका प्रशासन संयुक्त-राष्ट्र द्वारा होगा"। बाद के प्रस्तावों ने इस निर्णय को दोहराया। 9 दिसम्बर, 1949 को यहाँ सभा ने न्याय-परिषद् को आदेश दिया कि वह "जोरोसलम के अधिनियम की तैयारी को पूरा करे और तुरन्त ही उसे कार्यरूप देने में तत्पर हो"। न्याय-परिषद्, "किसी एक या अधिक सरकार को या सरकारों को ऐसा कार्य करने की आज्ञा नहीं देगी, जो जोरोसलम के अधिनियम को अपनाने और उसे कार्यरूप में परिणत करने में विघ्नित करें।

न्याय परिषद् ने इजराईल से प्रार्थना की कि "वह जोरोशलम मे कुछ मन्त्रालय और विभागो को ले जाने के निर्णय को वापस ले और उस हद तक काय से अलग रहे जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शासन की स्थापना मे बाधा की सम्भावना हो'। इसने नगर के दिये अधिनियम को भी स्वीकार किया और इसे इजराईल और जोर्डान के पास भेजा। दोनो देशो के विरोध को ध्यान मे रखते हुए जिनका नगर पर शारीरिक अधिकार था, अधिनियम को केवल बल द्वारा लागू किया जा सकता था। इसलिए न्याय परिषद ने कार्यवाही से इन्कार कर दिया और विषय महासभा को वापिस दे दिया जो आगे निर्णय करने मे अयोग्य रही।

पैलिस्टीन के मामले म शान्तिपूर्ण परिवर्तन की विशिष्ट असफलता अभी तक भी प्रानुभाविक रूप मे दूसरे ढग से वही प्रदर्शित करती है जो हमने राष्ट्र सघ के प्रसविदा की धारा 19 क विश्लेषण मे विदित करने का यत्न किया है। यदि सम्बधित दल सहमत न हो तब शान्तिपूर्ण परिवर्तन केवल सामूहिक सुरक्षा की आदर्श परिस्थितियो द्वारा सम्भव है जहा असहमत पक्षकारी के विरुद्ध व्यग्र शक्ति क्रमबद्ध होनी हैं क्योकि जैसा हमने देखा है कि इन परिस्थितियो के सम्पन्न होने की सम्भावना बहुत कम है। इसलिए आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओ म आयोजित शान्तिपूर्ण परिवर्तन के यन्त्रो की काय क्षमता ठप होने को बाध्य होती है। यदि उन्हे कायरूप दिया जाए तो या तो कोई परिवर्तन नही होगा और यदि जो कुछ परिवतन होगा तो वह शान्तिपूर्ण नही होगा। दूसरे शब्दो म परिवर्तन की सिफारिशें या तो लागू नही होगी या परिवर्तन के पक्ष और विरोध मे राष्ट्रो का युद्ध इस मामले को निपटाएगा। समप्रभुत्व सम्पन्न राष्ट्रो के समाज मे कोई और बात नही हो सकती। क्योकि सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्र उन बातो से क्रियाशील होते है जिन्हे वे राष्ट्रीय हित समझें न कि सामूहिक कल्याण की प्रतिष्ठा से जो न्याय के सामूहिक मान के रूप मे राष्ट्र-समुदाय मे विद्यमान नहा है।

कोरिया

कोरिया के सम्बन्ध म शान्तिपूर्ण परिवर्तन का अर्थ लोकतान्त्रिक निर्वाचित सरकार के अधीन देश का एकीकरण था। 1947 म जब समस्या को यहा सभा के आगे लाया गया सयुक्त राज्य और सोवियत सघ दिसम्बर 1945 के मास्को सम्मेलन म दिए गए वचन को पूरा करने म असफल रहे। इसके अधीन अस्थायी कोरियन लोकतान्त्रिक सरकार को स्थापित करना था। इस सरकार के सहयोग से स्वतन्त्रता के लिए कार्यवाही करनी थी और पाँच वर्ष के अवधिकाल क लिए चार शक्तियो की ट्रस्टीशिप पर सहमत होना था। इस असफलता के फलस्वरूप कोरिया तब तक सयुक्त-राज्य और सोवियत-सघ के अधिकार म रहा, जिसम 38 समानान्तर विभाजन रेखायें विद्यमान थीं।

14 नवम्बर, 1947 को महासभा ने कोरिया पर अस्थायी आयोग की स्थापना की, जिसका उद्देश्य राष्ट्रीय सभा के लिए चुनाव को शीघ्र निपटाना और उसका निरीक्षण करना था। यह 31 मार्च, 1948 के बाद नहीं होना था। राष्ट्रीय सभा को राष्ट्रीय सरकार बनानी थी, जिसे उत्तर और दक्षिण कोरिया के सैनिक और नागरिक अधिकारियों से प्रशासन को सभालना था और, यदि सम्भव हो तो, 90 दिनों में अधिकारी सेनाओं के हटने का प्रबन्ध करना था। सोवियत गुट ने मतदान में भाग नहीं लिया और अस्थायी आयोग को उत्तर कोरिया में प्रवेश करने की आज्ञा न दी, अपने आदेश के अनुसार इसने चुनाव-आंदोलन और चुनावों का निरीक्षण किया जितना अधिक यह कोरिया अर्थात् दक्षिण कोरिया में पहुँच सका। आयोग की रिपोर्ट पाने के बाद महासभा ने 12 दिसम्बर, 1948 को घोषित किया कि कोरिया के उस भाग में जहाँ तक आयोग की पहुँच थी, विधिपूर्ण सरकार बनी, जिसने निर्वाचन-मंडल की स्वतन्त्र इच्छा को व्यक्त किया और कुल कोरिया के बहुमत लोगों का प्रतिनिधित्व भी किया और यही कोरिया में एक मात्र सरकार थी। महासभा ने सदस्यों और असदस्यों को कहा कि कोरिया की सरकार के साथ सम्बन्ध जोड़ते हुए वे इस घोषणा को ध्यान में रखें। इसने अधिकारी-शक्तियों को भी कहा कि वे अपनी सेनाएँ यथासम्भव शीघ्र हटाएँ।

देश के एकीकरण में सहायता देने के लिए और लोकतन्त्र सरकार के अधिक विकास के लिए कोरिया पर आयोग बिठाया गया। 28 जुलाई, 1949 को इस आयोग ने रिपोर्ट दी कि देश के एकीकरण में कोई प्रगति नहीं हुई और अवस्था में सुधार के स्थान पर अवनति हुई। इससे निष्कर्ष निकला कि महासभा के प्रस्ताव को कार्यरूप देना कोरिया के भविष्य पर संयुक्त-राज्य और सोवियत-संघ के समझौते पर निर्भर था। 1949 के अन्त में जब महासभा का अधिवेशन हुआ, उत्तर कोरिया की पृथक् सरकार की स्थापना ने एकीकरण के और भी अवसर कम कर दिए। 21 अक्तूबर 1949 को महासभा ने सभा द्वारा नवीन निर्णय के होने तक आयोग को जारी रखने का निर्णय किया। 25 जून 1950 को उत्तर कोरिया के आक्रमण ने शान्तिपूर्ण परिवर्तन के इन यत्नों का अन्त कर दिया। 26 अप्रैल 1954 को जिनेवा में कोरिया के विषय में राजनीतिक कान्फ्रेंस बुलाई गई, जो कोरिया के एकीकरण के अपने प्रयत्नों में असफल रही। महासभा ने बाद के अधिवेशनों में प्रस्ताव पास किए जिसमें संयुक्त-राष्ट्र के संरक्षण में स्वतन्त्र चुनाव द्वारा कोरिया के एकीकरण के सिद्धान्त को स्थिर किया गया और कोरिया के एकीकरण और पुनर्स्थापन के आयोग को जारी रखा गया। महासचिव की 1957 की रिपोर्ट के इस अनुच्छेद में इसकी असफलता को सारांश में बतलाया

गया है, "अपने कार्यों के सम्बन्ध मे आयोग ने कहा कि पूर्व रिपोर्ट से अवस्था मे कोई मौलिक परिवर्तन नही हुआ, जिसमे यह घोषित किया गया था कि यह अभी तक भी कोरिया के एकीकरण के मूल ध्येय को प्राप्त करने मे कुछ नही कर पाया।"

दूर पूर्व मे शक्ति-सतुलन के लिए कोरिया की पारम्परिक महानता के सम्बन्ध के जो कुछ हम ने कहा है, इसको ध्यान में रखते हुए, यह अवश्य कहना पडेगा कि सयुक्त-राष्ट्र के कोरिया मे एकता स्थापित करने वाले शान्तिपूर्ण साधन पहले से ही निष्फल प्रतीत होने थे। स्वतन्त्र चुनाव और लोकतान्त्रिक सरकार के विषय के पीछे, जिसने आरम्भ मे सयुक्त राज्य और सोवियत-सघ को पृथक् किया हुआ था, अखिल कोरियन सरकार के प्रति भावी निष्ठा का वास्तविक राजनीतिक मामला छिपा था। पश्चिमी ढग की प्रजातान्त्रिक सरकार जिससे आशा की जा सकती थी, इसलिए यह सोवियत सघ के लिए अस्वीकृत थी कि सोवियत आकार पर प्रजातान्त्रिक सरकार सोवियत-सघ और साम्यवादी चीन के आश्रय पर बाध्य होती, जिसे इसलिए सयुक्त राज्य सहन न कर सकता। कोई पक्ष कोरिया की समस्या का अपना हल, जो इसके अपने हितो का प्रतिबिम्ब था, दूसरे पक्ष पर सामान्य युद्ध के खतरे के बिना नही लाद सकता था। इस खतरे को सोवियत-सघ ने इस विश्वास पर लिया कि खतरा दूरवर्ती था, इस जोखिम के लिए बिना कोरिया की समस्या केवल दो राजनीतिक सभव समाधानो के प्रति अभिव्यक्त थी और है एक दूर पूर्व मे वास्तविक शक्ति-सतुलन को विदित करने वाले बटवारे की स्थिरता या दूसरे शक्ति-सघर्ष से पूर्ण रूप से इसे निकालते हुए सयुक्त कोरिया की तटस्थता। इन राजनीतिक प्रबन्धो और निर्देशक रूपरेखा मे, जिसके अन्दर सयुक्त-राष्ट्र ने काम किया, अन्तर सफलता की सम्भावना और असफलता के आश्वासन का है।

जर्मनी और आस्ट्रिया

स्वतन्त्र अखिल जर्मन चुनाव के द्वारा जर्मनी के शान्तिपूर्ण एकीकरण को बढावा देने के महासभा के यत्न हमे अधिक देर नही रोकते। 20 दिसम्बर 1951 को महासभा ने इस बात को खोजने के लिए एक आयोग नियुक्त करने का निश्चय किया कि क्या जर्मनी के भिन्न खडो मे स्वतन्त्र चुनाव करने की परिस्थितियां अनुकूल हैं। आयोग को अपनी जांच की रिपोर्ट देनी थी और जो आगे कदम लिए जाने थे, उनकी सिफारिश करनी थी। मई 1952 मे आयोग ने सिफारिश की कि यह अभी तक जर्मनी के सोवियत खड मे और बर्लिन के पूर्वी भाग मे पत्र-व्यवहार द्वारा अधिकारियो के साथ परस्पर सम्बन्ध स्थापित नही कर

पाया। इसने निष्कर्ष निकाला कि "वर्तमान में इस काम को निभाने के लिए इसके अवसर कम हैं।" इस निराशावादी विचार की पुष्टि इस ने 5 अगस्त, 1952 की अपनी अन्तिम रिपोर्ट में की और इसने अगला कार्य निश्चित किए बिना अपने को स्थगित किया। पुन यहां एक महा शक्ति के विरोध ने महासभा के शान्तिपूर्ण ढंग से परिवर्तन लाने के यत्नों को निष्फल बनाया।

इसी कारण ■ महासभा ने अपने आप को गम्भीर अपील तक सीमित रखा। जब इसने 1 नवम्बर, 1943 की मास्को घोषणा के हस्ताक्षरकारियों से कहा कि वे आस्ट्रिया की स्वतन्त्रता को पुनर्स्थापित करने के वचन को एक शान्ति-सन्धि की शर्तों पर सहमत होकर निभाएँ। इस मत का एक प्रस्ताव 22 दिसम्बर 1952 को पास किया गया। इसने वास्तविक परिस्थितियों के सम्बन्धों पर प्रभाव डालने का यत्न नहीं किया। आस्ट्रिया ने अपनी स्वतन्त्रता 15 मई, 1955 की राज्य-सन्धि द्वारा प्राप्त की जो संयुक्त-राष्ट्र के बाहर आस्ट्रिया, सोवियत-संघ और संयुक्त राज्य ने की।

हंगरी

4 नवम्बर, 1956 को महासभा का संकटकालीन अधिवेशन हंगरी में रूसी हस्तक्षेप पर विचार करने के लिए बुलाया गया। उसी दिन इसने एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें सोवियत संघ को हस्तक्षेप समाप्त करने के लिये और हंगरी में सशस्त्र सेना न भेजने के लिए कहा गया। इसने महा-सचिव को जाँच और हस्तक्षेप को समाप्त करने के साधनों की सिफारिश के लिए रिपोर्ट करने के लिए कहा। महासभा ने और कई एक प्रस्ताव पास किए, जिसमें पूर्व मांगों को दोहराया और महासचिव से इनके अनुपालन पर रिपोर्ट करने के लिए कहा। 30 नवम्बर 1956 और 5 जनवरी, 1957 की रिपोर्टों में महासचिव ने कहा कि उपलब्ध जानकारी इतनी पर्याप्त नहीं थी कि इसके आधार पर रिपोर्ट तैयार हो सके।"

12 जनवरी, 1957 को महासभा ने हंगरी में परिस्थिति की जाँच के लिए एक आयोग स्थापित किया। 20 फरवरी, 1957 को आयोग ने हंगरी से बाहर प्राप्त सूचना के आधार पर रिपोर्ट की। हंगरी में विद्रोह स्वाभाविक, और सर्वप्रिय था। हंगरी-सरकार ने सोवियत-संघ को हस्तक्षेप का आमन्त्रण नहीं दिया। हस्तक्षेप के बाद नई सरकार के लिए जन-समर्थन का कोई परिणाम नहीं मिला और हंगरी के लोगों के राजनीतिक अधिकारों का पाशविक दमन किया गया।

अन्य असफलताएँ

शान्तिपूर्ण परिवर्तन के मामले को ट्यूनीशिया मोराको अलजीरिया पश्चिम ईरान, साइप्रस और फारमूसा के सम्बन्ध में उठाया गया, जिसे एक या दूसरे समय पर महासभा के आगे रखा गया। इन सब मामलों में महासभा ने प्रस्ताव पास किए, जिसमें पक्षकारियों से प्रार्थना की गई कि वह प्रपत्र के अनुसार मामले को निपटाएँ और आशा व्यक्त की गई कि शान्तिपूर्ण हल मिल जाएगा। ट्यूनीशिया मोराको और साइप्रस में जो शान्ति प्राप्त की गई वह सयुक्त राष्ट्र से बाहर प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित राष्ट्रों में बातचीत का फल था।

इन विषयों में महासभा ने कुछ कार्यवाही की, चाहे वह कितनी निरुत्साहजनक क्यों न हो यह कुछ कार्यवाही कर सकते थे, क्योंकि राजनीतिक शरीर पर यह विषय खुले घाव थे जिनसे यह डर था कि किसी समय उनका विष विश्व-राजनीति के सम्पूर्ण शरीर में फैल जायगा। परन्तु 20 सितम्बर, 1950 को फारमूसा की परिस्थिति ऐसी हो गई कि सयुक्त राज्य ने महासभा को द्वीप की सामान्य दशा पर विचार करने की और भविष्य में कार्यवाही के लिए सिफारिश करने की प्रार्थना की। महासभा किसी प्रकार की कार्यवाही करने में अयोग्य रही। 7 फरवरी 1951 को इसकी प्रथम समिति ने जिसे यह मामला सौंपा गया, बिना आगे का कार्य निर्धारित किए वाद विवाद को स्थगित कर दिया।

स्वेज नहर

2 नवम्बर, 1956 को महासभा ने युद्ध विराम का एक प्रस्ताव पास किया जिसमें मिस्र की भूमि से विदेशी सेनाओं के हट जाने और नहर के खुलने के लिए कहा गया। जबकि मिस्र ने अनुपालन की घोषणा की ग्रेट ब्रिटेन फ्रांस और इजराईल ने अपनी स्वीकृति सयुक्त-राज्य सेना पर आधारित की जो मिस्र और इजराईल में शान्ति बनाए रखे, जब तक कि अन्तिम समझौता नहीं होता और सयुक्त राज्य उसकी गारंटी नहीं देता। 5 नवम्बर को महासभा ने एक प्रस्ताव पास किया जिसके द्वारा एक सयुक्त राष्ट्र सकटकालीन सेना को युद्ध-विराम प्राप्त करने और इसके निरीक्षण' के लिए स्थापित किया गया। उसी दिन इजराईल बिना शर्त के लड़ाई बन्द करने पर सहमत हो गया और हटने के लिए शर्त लगाई कि सयुक्त राष्ट्र आगे मिस्र द्वारा युद्धकारी कार्यों को रोकेगा। दूसरी ओर मिस्र ने नहर को खोलना इजराईल के हट जाने पर आधारित किया। 21 नवम्बर को ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस ने सयुक्त-राष्ट्र सकट-कालीन सेना के पहुँचने के पश्चात् सेना के आंशिक रूप में हट जाने की रिपोर्ट

की और 22 नवम्बर को वे पूर्णत हट गए। इज़राईल ने 24 नवम्बर को अपनी सेनाएं हटानी शुरू की और 8 मार्च, 1957 को यह क्रम पूरा किया और वह भी यह आश्वासन प्राप्त करने के बाद कि सयुक्त-राष्ट्र-सकटकालीन-सेना गाज़ापट्टी का प्रशासन चलाएगी और टाइरेन जल-सधि मे नौचालन स्वतन्त्रता की रक्षा की जाएगी। उस तिथि पर महा-सचिव ने इज़राईल के सयुक्त-राष्ट्र के प्रस्तावो के अनुपालन की घोषणा की, और यह भी घोषित किया कि सयुक्त-राष्ट्र 2 फरवरी 1957 के प्रस्ताव को लागू करेगा, जिसमे 1949 की युद्ध-विराम-संधि के सचेत अनुपालन के लिए कहा गया था।

जब कि महासभा युद्ध को छिड़ने से नही रोक सकती थी, इसका शान्तिपूर्ण समझौते के प्रति ठोस योगदान था। इस आंशिक सफलता के लिए दो कारक उत्तरदायी है ' एक अलौकिक आकृति, जिसमे सोवियत-सघ और सयुक्त-राज्य ने मिल कर ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रास और इज़राईल का विरोध किया और दूसरा पूर्ण पराजित मिस्र को इज़राइली प्रतिकार से विराम की आवश्यकता। सयुक्त-राष्ट्र-सकटकालीन सेना इज़राईल को छापामार युद्ध से और मिस्र द्वारा टाइरेन की जलसधि बन्द होने से बचाती है। यह मिस्र के लिए युद्धकारी काम न करने के काम को सरल बनाती है, जब इसकी प्रदर्शित सैनिक दुर्बलता को ध्यान मे रखा जाए और इस बात को भी कि यह इस समय इसे दुबारा आरम्भ करने का इच्छुक नही है।

जोरडान और लीबनान

जब 1958 के ग्रीष्म मे जोरडान और लीबनान की स्वतन्त्रता को बाहरी खतरा प्रतीत हुआ, इन राष्ट्रो पर क्रमश ब्रिटिश और अमरीकी सेनाओ ने सम्बन्धित सरकारो के निमन्त्रण पर अस्थायी अधिकार कर लिया। सुरक्षा परिषद् के 11 जून, 1958 के प्रस्ताव के अनुसार सयुक्त-राष्ट्र ने लीबनान मे प्रेक्षको को भेजा, क्योंकि वहाँ स्थायी सदस्यो मे सर्वसम्मति के अभाव ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को स्थापित करने के अपने प्राथमिक दायित्व से रोका। सुरक्षा-परिषद् ने 7 अगस्त को महासभा का विशेष अधिवेशन बुलाया। 21 अगस्त को महासभा ने प्रस्ताव पास करते हुए सदस्य राज्यो से कहा "कि वे एक-दूसरे की भूमिगत अखडता और राजप्रभुता तथा अनाक्रमण और एक दूसरे के आन्तरिक मामलो मे दृढ अ-हस्तक्षेप के मान के सिद्धान्तो के अनुसार दृढता से कार्य करें।" और महासचिव से प्रार्थना की गई कि वह "ऐसे व्यावहारिक प्रबध करें, जो पर्याप्त रूप मे इन परिस्थितियो मे लीबनान और जोरडान के सम्बन्ध मे अपत्र के उद्देश्यो और सिद्धान्तो की मर्यादा बनाए रखने

मे सहायक सिद्ध हो और फलस्वरूप दानो देशो से विदेशी सेना के जल्दी हटने के काम को सरल बनाएँ——"। जोरडान और लीबनान की स्वतन्त्रता सुरक्षित रही और लीबनान मे नए अध्यक्ष का चुनाव और नई सरकार का निर्माण सविधान के अनुसार हुआ। इस पर सदेह करना कठिन है कि ये घटनाएँ सयुक्त-राज्य के कार्यो की अपेक्षाकृत विदेशी सेनाओ की उपस्थिति के कारण थी। 25 अक्तूबर, 1958 को लीबनान से अमरीकी सेनाओ का हट जाना और 2 नवम्बर, 1958 को जोरडान से ब्रिटिश सेनाओ का निकास सम्पन्न हुआ।

इटली के उपनिवेश

इटली के उपनिवेश लीबिया, सोमालीलैण्ड और इरिटरिया की समस्या उन से भिन्न है, जो प्रकारा-मक रूप मे शान्तिपूर्ण परिवर्तन के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सस्था के समक्ष आनी हैं। इस सम्बन्ध मे हितो का कोई महत्त्वपूर्ण सघर्ष नही, जिसने दो महान् शक्तियो या शक्तियो के दल को पृथक् किया। कोई भी विचारणीय समझौता पर्याप्त मात्रा मे किसी महान् शक्ति के महत्त्वपूर्ण राजनीतिक हितो को प्रभावित कर सकता था। महासभा को जिस अवस्था का सामना करना पडा उसकी विशेषता हितो का असामान्य विभाजन था, जो एक भी सम्बन्धी राष्ट्र के लिए महत्त्वपूर्ण नही था।

1947 की इटली की शान्ति-सधि की धारा 23 मे आयोजन किया गया कि उपनिवेश, जिसपर इटली ने सब अधिकारो को त्यागा, का अन्तिम विन्यास फ्रास, ग्रेट ब्रिटेन, सयुक्त-राज्य और सोवियत-सघ द्वारा निर्धारित होगा। असहमति की दशा मे महासभा को निर्णय करना चाहिए, पर सम्बन्धित शक्तियाँ सहमत न हो पाईं। समस्या को 1948 मे महासभा के समक्ष रखा गया। कोई राष्ट्र वास्तव में इन उपनिवेशो पर नियत्रण प्राप्त करने का इच्छुक नही था। बहुत से राष्ट्र इन राष्ट्रो के स्वतन्त्र होने के अन्तिम ध्येय पर सहमत थे और झगडा सक्रमण काल की अवधि और निश्चय की मात्रा पर था। भिन्न प्रकार के असख्य प्रस्ताव रखे गए और महासभा का काम इनमे से एक को सम्भव समझौते का रूप देना था जिसे दो तिहाई सदस्यों का समर्थन प्राप्त हो, महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय हितो का समाधान करना नही था। इस कार्य मे महासभा सफल रही। इसने निर्णय किया कि लीबिया 1 जनवरी, 1952 से पूर्व स्वतन्त्र राज्य बने, सोमीली-लैण्ड इटली के दसवर्षीय न्याय क्षेत्र शासन के पश्चात् स्वतन्त्र हो और इरिटरिया एक सक्षिप्त सक्रमण-काल के पश्चात् ईथोपिया-सघ का एक स्वायत्तशासी राज्य बने।

यह सफलता शान्तिपूर्ण समस्या पर प्रकाश डालती है। इसके तीन परस्पर सम्बन्धी कारक उत्तरदायी हैं। हम पहले अति महत्वपूर्ण कारक पर विवेचन कर चुके हैं, वह है किसी विशेष हल में महान् शक्ति की प्रबल राजनीतिक रुचि का अभाव। यह कारक दूसरे के लिए उत्तरदायी है, वह है महासभा के निर्णय से पहले फ्रांस, ग्रेट-ब्रिटेन सोवियत-संघ और संयुक्त-राज्य का प्रत्येक उस निर्णय को स्वीकार करने का समझौता जो महासभा करे। जहाँ तक इन चार राष्ट्रों का सम्बन्ध है महासभा के इटली के उपनिवेश-सम्बन्धी प्रस्ताव केवल सिफारिशें थीं, जिनका अनुपालन करना या न करना सदस्य राज्यों के निर्णय पर निर्भर था, परन्तु इसमें अन्तर्राष्ट्रीय कानून का बन्धनकारी बल था, जिसका अनुपालन मतभेद के होते हुए भी असन्तुष्ट सदस्यों को करना था। अत में कोई भी ऐसा असन्तुष्ट सदस्य नहीं था, जो भौगोलिक परिस्थिति या सैनिक दुर्बलता के कारण इस अवस्था में हो कि महासभा द्वारा निश्चित निपटारे के मार्ग में सक्रिय बाधा डाल सके। स्पष्टतः ये परिस्थिति व्यक्तिगत या संयुक्त रूप में अपवादस्वरूप हैं। वे शान्तिपूर्ण परिवर्तन के सैद्धान्तिक नियमों की पुष्टि करती हैं, जिनको हमने पिछले पृष्ठों में विवेचित किया है।

सुरक्षा-परिषद् के प्रस्ताव

शान्तिपूर्ण परिवर्तन के प्रति सुरक्षा परिषद् के योगदान इस विश्लेषण की विशुद्धता की पुष्टि करते हैं। सात विषयों में, जिनको कहा जा सकता है कि उन्होंने शान्तिपूर्ण परिवर्तन की समस्या प्रस्तुत की, दो ऐसे हैं, जिनको हल करने में सुरक्षा परिषद् सफल रही और दूसरों में असफल रही। यह इण्डोनेशिया के बिना लम्बे युद्ध के औपनिवेशिक पद से स्वतन्त्र पद के संक्रमण में सफल हुई और यह 1956 के स्वेज नहर की संकटावस्था के अवसर पर मिस्री इज़राइली सीमाओं पर युद्ध को कम कर रही है और वहाँ शान्ति स्थापित कर रही है। यह पैलेस्टाईन और कश्मीर की समस्या, 1947 के ऐंग्लो मिस्री झगड़े और बर्लिन की नाकाबन्दी का हल निकालने में असफल रही। जहाँ तक असफलता का कारण है, पैलेस्टाईन और कश्मीर एक श्रेणी में आते हैं और मिस्र तथा बर्लिन की नाकाबन्दी दूसरी में आते हैं।

पैलेस्टाईन और कश्मीर

पहले भी यह दिखाया गया है कि महासभा पैलेस्टाईन के बटवारे को शान्तिपूर्ण ढंग से प्राप्त नहीं कर सकी, क्योंकि प्रस्तावित परिवर्तन कुछ विषयों में एक दल को स्वीकार था, दूसरे को नहीं, जबकि दूसरे विषयों में यह किसी

को स्वीकार नहीं था। इस प्रकार के गतिरोध ने सुरक्षा-परिषद् के शान्तिपूर्ण परिवर्तन के यत्नों को निष्फल बनाया। तब महासभा द्वारा प्रस्तावित निपटारे को केवल बल से ठोसा जा सकता था, जिसे सुरक्षा-परिषद् ने संयुक्त-राज्य के उकसाने पर लागू करने से इन्कार किया।

सुरक्षा-परिषद् के वाद-विवादों और निर्णयों में, जिनका सम्बन्ध महासभा के प्रस्तावित निपटारे को लागू करने की प्रार्थनाओं से था, सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्रों के समाज में शान्तिपूर्ण परिवर्तन की दुविधा सामने आई। सुरक्षा-परिषद् के सदस्य, जिनमें से कुछ महासभा के प्रमुख सदस्यों के समरूप थे, अब केवल सिफारिश से नहीं निपट रहे थे। जिसमें कोई बाध्य नहीं था और जिसे इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपने निर्णय पर ओझल कर सकता था। सुरक्षा-परिषद् को जो निर्णय लेना था वह उनपर और सम्बन्धित पक्षकारियों पर बाध्य था। वह निर्णय सुरक्षा-परिषद् के कम से कम कुछ सदस्यों के हित और बल को सुपुर्द करने में नहीं चूक सकता था।

इस बिन्दु पर व्यक्तिगत राष्ट्र के राष्ट्रीय हित ने पुन महासभा के 29 नवम्बर, 1947 के प्रस्ताव में विवेचित शान्तिपूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता के शब्दों में व्यक्त सामूहिक कल्याण के विरुद्ध जोर पकड़ा और इनपर प्रधानता स्थापित की। अरब राज्यों के प्रतिनिधि के रूप में सीरिया और ब्रिटेन को छोड़ कई दूसरे राष्ट्रों का, जिसमें संयुक्त-राज्य भी था, विश्वास था कि बन्धनकारी विभाजन उनके राष्ट्रीय हितों के विपरीत था। न ही सुरक्षा-परिषद् के किसी सदस्य ने यह अनुभव किया कि इसके राष्ट्रीय हितों का बाध्य विभाजन की आवश्यकता थी। इस प्रकार बाध्य विभाजन और इसके साथ शान्तिपूर्ण विभाजन मर चुका था, जब सुरक्षा-परिषद् का अधिवेशन 24 फरवरी, 1948 को महासभा के 29 नवम्बर, 1947 वाले प्रस्ताव पर कार्यवाही करने के लिए बैठा।

मामले को निपटाने का काम युद्ध की शक्तियों के लिए रहा। इसलिए अरब-इजराइली युद्ध के बाद प्रादेशिक निपटारे ने इजराइल के पक्ष में प्राथमिक रूप से सैनिक शक्ति के वितरण को विदित किया, जो युद्ध के अन्त में विद्यमान था। इसने सुरक्षा परिषद् के निर्णयों का भी चिन्तन कराया, यहाँ तक कि इन निर्णयों ने युद्ध के शीघ्र समाप्त होने में योगदान दिया और फलस्वरूप इजराइल को अपनी सैनिक श्रेष्ठता का सीमा तक लाभ उठाने से रोका। हम सुरक्षा-परिषद् के उस प्रकार के कार्यों की ओर मुड़ेंगे।

कश्मीर की भावी अवस्था पर भारत और पाकिस्तान के झगड़े का ऐसी द्विविधा के रूप में सुरक्षा-परिषद् को सामना करना पड़ा। यह झगड़ा जिसका

लक्ष्य कश्मीर के प्रदेश पर नियत्रण का है, जनमत-सग्रह की निश्चय मात्रा पर, विशेष कर प्रदेश मे सेनाओ के रहने पर केन्द्रित है। सुरक्षा-परिषद् के द्वारा प्रस्तुत किये गए प्रस्ताव एक या दोनो पक्षों को अस्वीकार थे और सुरक्षा-परिषद् बल द्वारा हल ठोसने की इच्छुक नही थी। इसलिए सुरक्षा-परिषद् ने अपने आप को 23 दिसम्बर, 1952 के प्रस्ताव मे भारत और पाकिस्तान पर दबाव डालते हुए सीमित किया कि वे तुरन्त सयुक्त-राष्ट्र प्रतिनिधि के सरक्षण मे वार्तालाप शुरू करें और सुरक्षा-परिषद् को वापिस रिपोर्ट करें।

सयुक्त राष्ट्र-प्रतिनिधि ने ऐसी वार्ता आरम्भ की और 27 मार्च, 1953 को सुरक्षा-परिषद् के अध्यक्ष को रिपोर्ट करते हुए कहा कि उस अवस्था मे वातचीत जारी रखने का कोई कारण नही था। 24 जनवरी, 1957 को पाकिस्तान की शिकायत पर घोषित किया गया कि कश्मीर सविधान सभा द्वारा भारत में कश्मीर का मिलना "पूर्वगामी प्रस्तावो मे विवेचित सिद्धान्तो के अनुसार राज्य का विन्यास" नही था। 'वास्तव मे 26 जनवरी, 1957 को सुरक्षा-परिषद् ने प्रस्ताव पास करते हुए अपने अध्यक्ष को कश्मीर जाने और रिपोर्ट करने के लिए कहा। 29 अप्रैल, 1957 को अध्यक्ष ने रिपोर्ट दी और कहा कि पक्षकारियो द्वारा विशेष स्थिति ग्रहण करने के कारण उसके लिए समस्या का हल प्रस्तावित करना असम्भव था। 2 दिसम्बर, 1957 को सुरक्षा-परिषद् ने एक प्रस्ताव पास करते हुए दोनो पक्षो से प्रार्थना की कि वे कश्मीर के विसैन्यीकरण मे सहयोग दें और सद्भावना से काम ले। इस प्रस्ताव के बाद कोई कार्यवाही न की गई।

1947 का ऐंग्लो-मिस्री झगड़ा और बर्लिन की नाकाबन्दी

शान्तिपूर्ण परिवर्तन के सम्बन्ध मे मिस्री अभियोग द्वारा मिस्री प्रदेश पर ब्रिटिश सेनाओ की उपस्थिति के विरुद्ध उठाए गए मामले के प्रति सुरक्षा-परिषद् कुछ योगदान न कर पाई। 8 जुलाई 1947 को मिस्र ने सुरक्षा परिषद् से प्रार्थना की कि ब्रिटिश सेनाओ को पूर्णत और तुरन्त हटने के लिए कहा जाए और सूडान मे ब्रिटिश प्रशासन समाप्त किया जाए। झगडे मे एक स्थायी सदस्य का पक्षकारी होने के कारण सुरक्षा-परिषद् तीन मे से किसी एक प्रस्ताव पर सहमत न हो सकी। 10 दिसम्बर, 1947 को इसने मामले को कार्यसूची पर रखने का और परिषद् के किसी सदस्य या किसी सम्बन्धी पक्षकारी की प्रार्थना पर विचार जारी रखने का निश्चय किया। ऐसी कोई प्रार्थना प्राप्त न हुई। 27 जुलाई, 1954 को द्विपक्षीय वार्तालाप के बाद ब्रिटेन और मिस्र ब्रिटिश सेनाओ के निकास पर सहमत हो गए।

बर्लिन नाकाबन्दी द्वारा शान्तिपूर्ण परिवर्तन के मामले मे इस प्रकार सुरक्षा-परिषद् कोई योगदान न कर पाई, क्योकि सब स्थायी सदस्य इस झगडे मे पक्षकारी थे। जून, 1948 मे सोवियत-सघ ने बर्लिन के वृत्तिखण्डो मे जो पश्चिमी शक्तियो और पश्चिम जर्मनी के अधिकार मे थे, भूमि-सचार के साधन काट दिए। इसका स्पष्ट उद्देश्य पश्चिमी शक्तियो को बर्लिन खाली करने पर बाध्य करना था। 29 सितम्बर, 1948 को सुरक्षा-परिषद् के सामने यह विषय फ्रास, ग्रेट-ब्रिटेन और सयुक्त-राज्य द्वारा लाया गया। एक प्रारुप प्रस्ताव को नौ सदस्यो ने स्वीकार किया और सोवियत-सघ ने उसे रद्द किया। सोवियत-सघ और सयुक्त-राज्य मे गुप्त और दीर्घ बातचीत के बाद समझौता हुआ, जिस मे संयुक्त-राष्ट्र नही था। इसके द्वारा नाकाबन्दी उठा दी गई। 4 मई, 1949 को तीन अभियोगियो ने महासचिव से प्रार्थना की कि सुरक्षा-परिषद् को समझौते होने के विषय की सूचना दी जाए।

ट्रीस्ट

1947 की इटली की शान्ति-सधि ने ट्रीस्ट के स्वतत्र इलाके की "स्वतन्त्रता और अखण्डता को सुरक्षित रखने के लिए सुरक्षा-परिषद् को उत्तरदायी बनाया, जिसे इसके लिए गवर्नर नियुक्त करना था। दोनो विषय में सुरक्षा-परिषद् कार्यवाही करने में अयोग्य रही। अक्तूबर, 1954 में इस मामले को इटली और योगोस्लाविया में इलाका बाँट कर निपटाया गया, जो सयुक्त-राष्ट्र से बाहर ग्रेट-ब्रिटेन, इटली, सयुक्त-राज्य और योगोस्लाविया में बातचीत द्वारा सम्पन्न हुआ।

इण्डोनेशिया

इसके विपरीत इण्डोनेशिया की समस्या निपटाने में सुरक्षा-परिषद् ने सीमित सफलता प्राप्त की। उस समस्या का अभ्यान्तर औपनिवेशिक अवस्था में रहने वाले लोगो का राजधानी-देश से विरोध के होते हुए भी स्वतान्त्रता को चाहना था। सुरक्षा-परिषद् सफल हुई, क्योकि शान्तिपूर्ण परिवर्तन की सफलता की आधारभूत शर्तें विद्यमान थी। प्रस्तावित निपटारे के समर्थन में महान् शक्तियो में एकता थी और नीदरलैण्ट, जो निपटारे के विरुद्ध था, न तो निश्चित और न ही इतना शक्तिशाली था कि वह इस समर्थन का विरोध जारी रख सके। इण्डोनेशिया और नीदरलैण्ड में सुरक्षा-परिषद् लडाई छिडने को न रोक सकी, न ही इसके पक्षकारियो के लडाई न करने और इसको तुरन्त रोकने के प्रस्ताव माने गए। तो भी इसमें सन्देह नही कि लडाई को न केवल अन्तिम रूप में समाप्त करने मे परन्तु विशेष कर अन्तिम निपटारे मे, इसने अपने यत्नो द्वारा योगदान

दिया, जिसके फलस्वरूप प्रभुत्ता-सम्पन्न राज्य के रूप में इण्डोनेशिया गणराज्य की स्थापना हुई।

1 अगस्त 1947 को सुरक्षा परिषद् ने दोनो पक्षों को लडाई बन्द करने को कहा और दोनों पक्षों ने इसका अनुपालन किया। 25 अगस्त, 1947 को इसने पक्षकारियों में राजनीतिक निपटारे की बातचीत में सहायता देने के लिए समुचित पद-समिति को स्थापित किया। इस बातचीत के फलस्वरूप 17 जनवरी, 1948 को यू० एस० एस० 'रीनवाईल' जहाज पर पक्षकारियों ने रीनवाईल कथित समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसमें युद्ध-विराम को स्थापित किया गया और राजनीतिक निपटारे के अठारह नियम निर्धारित किए गए। राजनीतिक बातचीत समुचित पद समिति के यत्नों के होते हुए भी असफल रही और 18 दिसम्बर, 1948 को नीदरलैण्ड ने रीनवाईल समझौते को भंग करने की घोषणा की और सैनिक कार्यवाही आरम्भ की।

24 दिसम्बर 1948 और 28 जनवरी 1949 को सुरक्षा-परिषद् ने पक्षकारियों को तुरन्त लडाई बन्द करने को कहा और नीदरलैण्ड को कुल राजनीतिक बन्दी छोडने को कहा। किसी ही प्रार्थना का तुरन्त अनुपालन न हुआ। सुरक्षा परिषद् ने 1 जुलाई, 1950 से पहले स्वतन्त्र इण्डोनेशिया के संयुक्त राज्य की स्थापना की भी सिफारिश की। और समुचित पद-समिति को इण्डोनेशिया के लिए संयुक्त-राष्ट्र आयोग में बदल दिया, जिसे प्रस्ताव को कार्यरूप देने के लिए पक्षकारियों को सहायता देने का अधिकार दिया गया। 2 मार्च, 1949 को नीदरलैण्ड ने सुरक्षा-परिषद् को इण्डोनेशिया के नेताओं के चलने फिरने की स्वतन्त्रता के पुनर्स्थापन की सूचना दी और सम्प्रभुता के अन्तरण के प्रबन्ध के लिए गोल मेज़ सम्मेलन का प्रस्ताव किया।

निपटारे को कार्यरूप देने के लिए पक्षकारी साढे तीन महीने तक संयुक्त राष्ट्र आयोग से मिले। अगस्त के मध्य तक लडाई बन्द हो चुकी थी और डच सेनाओं को संयुक्त-राष्ट्र सैनिक प्रतिनिधियों के संरक्षण में, हटाया जा चुका था। गोल मेज़ सम्मेलन ने जिसमें संयुक्त राष्ट्र आयोग ने भाग लिया, संविधानी प्रलेख तैयार किया जिसमें सम्प्रभुता के अंतरण के लिए इण्डोनेशिया के लिए नीदरलैण्ड-इण्डोनेशिया-संघ के समान सदस्य के रूप में नई अवस्था निर्धारित करने के लिए आयोजन किया गया। सम्प्रभुता का वास्तविक अंतरण 27 दिसम्बर, 1949 को हुआ, जब कि इस प्रकार का परिवर्तन शान्तिपूर्ण नहीं था, और किसी भी यथार्थ मात्रा में संयुक्त-राष्ट्र के योगदान को परिगणित करना असम्भव है, संयुक्त राष्ट्र ने परिवर्तन को सरल बनाया और होने वाली हिंसा को सीमित किया।

स्वेज नहर

26 जुलाई, 1956 को मिस्र द्वारा स्वेज नहर के राष्ट्रीकरण के बाद प्रमुख प्रयोक्ताओं और मिस्र में बातचीत हुई गयी। 12 सितम्बर को ब्रिटेन और फ्रांस ने सुरक्षा-परिषद् को सूचित किया कि मिस्र का बातचीत न करना शान्ति के लिए एक स्पष्ट खतरा बन गया है। 15 सितम्बर को सोवियत-संघ ने सुरक्षा-परिषद् को सूचित किया कि ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस की सैनिक तैयारियाँ, जिसे संयुक्त राष्ट्र का समर्थन प्राप्त है, इसकी सुरक्षा पर प्रभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं। 13 अक्तूबर को सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें छह सामान्य सिद्धान्त निर्धारित किए गए, जिनके अनुसार मिस्र का नहर को चलाना था। अगले सप्ताह महासचिव ने इस प्रस्ताव को कार्यरूप देने के लिए मिस्र से निष्फल बातचीत की। 29 अक्तूबर को मिस्र पर इजराइली आक्रमण के बाद ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस ने तुरन्त लड़ाई रोकने की माँग की और मिस्र के स्वेज खंड में युद्धनीतिक स्थानों पर अधिकार करने की मिस्र से आज्ञा माँगी। मिस्र ने इन माँगों को अस्वीकार किया। संयुक्त-राज्य और सोवियत संघ द्वारा रखे प्रस्तावों को ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस ने रद्द कर दिया। इनमें इजराइल को मिस्री इलाके से अपनी सेना हटाने का कहा गया है और दूसरे राष्ट्रों से यह कहा गया कि वे इस क्षेत्र में बल का प्रयोग न करें। इन राष्ट्रों द्वारा मिस्र पर आक्रमण के बाद सुरक्षा-परिषद् ने शान्ति के लिए एकता वाले प्रस्ताव के अनुसार 31 अक्तूबर को यह मामला महासभा को सौंपा। 5 नवम्बर को सोवियत संघ ने एक प्रस्ताव रखा जिसमें तुरन्त लड़ाई बन्द करने और सेना को हट जाने के लिए कहा और सोवियत-संघ तथा संयुक्त राज्य द्वारा सैनिक हस्तक्षेप की धमकी दी गयी। यह प्रस्ताव इस बात के पश्चात् रद्द हो गया, जब ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस लड़ाई बंद करने और वापिस जाने पर सहमत हो गए और मिस्र इलाके में संयुक्त राष्ट्र सेना की नियुक्ति और नहर चालन की सुरक्षा के लिए कार्यवाही पर सहमति हो गई। 24 अप्रैल 1957 को मिस्र ने महासचिव को सूचित किया कि नहर चलने के लिए खुली थी और उसने स्वेज नहर पर एक घोषणा-पत्र और इसके चालन के प्रबन्धों का प्रलेख भेजा जिसमें सुरक्षा परिषद् की घोषणा के अनुसार 13 अक्तूबर, 1956 के प्रस्ताव के छह सिद्धान्तों का अनुपालन था।

उस योगदान की ठीक परिगणना स्पष्ट रूप में असम्भव है जो सुरक्षा-परिषद् ने स्वेज नहर के प्रशासन में शांतिपूर्ण परिवर्तन के रूप में मिस्र तथा इजराइल के सम्बन्धों के प्रति किया। इसमें थोड़ा भी सन्देह नहीं कि इसके हस्तक्षेप ने लड़ाई को सीमित किया और शान्तिपूर्ण निपटारे में योगदान दिया।

सत्ताईसवाँ अध्याय

अंतर्राष्ट्रीय सरकार

अभी तक जिन अंतर्राष्ट्रीय अराजकता और युद्ध के उपचारों पर बहस हुई है, वे सब विशिष्ट उपचार हैं। ये एक विशेष समस्या पर प्रहार करते हैं, जिनमे अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का अभाव और युद्ध के प्रति झुकाव व्यक्त होता है। ये अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति की सामान्य समस्या को विशेष समस्या के समाधान द्वारा हल करने का यत्न करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सरकार का अस्तित्व इसके स्वीकार करने पर है कि शान्ति और व्यवस्था एक विशेष समस्या को हल करने के विशेष साधन का फल नहीं, वरन एक समान बन्धन का परिणाम है, जो संकलित समाज को समान अधिकार और न्याय के समान प्रयत्न के अधीन संगठित करता है। सम्पूर्ण समप्रभुत्व-सम्पन्न राज्यों के समाज में ऐसे अधिकार की कैसे नींव रखी जाए, यह एक कार्य है, जिसका समाधान अन्तर्राष्ट्रीय सरकार को प्राप्त करने के हर यत्न में अवश्य होना चाहिए।

डेढ़ शताब्दी पूर्व तीन विश्व-महायुद्धों के बाद अंतर्राष्ट्रीय सरकार को स्थापित करने के यत्न किए गए। अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति बनाए रखने में पूर्व असफलता के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति को सुरक्षित करने के लिए सम्पूर्ण यत्नों की आवश्यकता पड़ी। नैपोलियन के युद्धों के बाद धार्मिक संश्रय, प्रथम महायुद्ध के बाद राष्ट्र-संघ और तीसरे महायुद्ध के बाद संयुक्त-राष्ट्र विद्यमान हुए। अंतर्राष्ट्रीय सरकार के लिए किए गए इन यत्नों के विषय में तीन प्रश्न अवश्य करने चाहिएँ (१) राज्य करने का अधिकार कहाँ निहित है या किसे राज्य करना है? (२) न्याय का कौन सा सिद्धान्त सरकार का नेतृत्व करेगा? (३) किस सीमा तक सरकार व्यवस्था और शान्ति स्थापित करने के योग्य रही है?

धार्मिक संश्रय

इतिहास—

धार्मिक संश्रय के नाम से कही गई सरकार तीन संधियों पर आधारित थी : 9 मार्च, 1814 की छोमोंट (Treaty of Chaumont) की संधि, चतुर्राष्ट्र संश्रय जिसपर पेरिस में 20 नवम्बर, 1815 को हस्ताक्षर किए गए और 26 सितम्बर,

1815 का धार्मिक सश्रय। छोमोट की सधि मे आस्ट्रीया, ग्रट-ब्रिटेन, प्रशिया और रूस ने बीस वर्षों के लिए सश्रय निश्चित किया, जिसका उद्देश्य फ्रास मे नैपोलियन के वश को पुन सत्ताधारी होने से रोकना और नैपोलियन के युद्ध के समाप्त होने पर प्रादेशिक निपटारो का आश्वासन देना था। चतुर्देशी सश्रय ने छोमोट सधि की धाराओ को दुहराया और धारा छह मे सिद्धान्तो को निर्धारित किया गया जिसे "काग्रेसी सरकार" या "सम्मेलन द्वारा राजनय" कहते हैं।

चतुर्राष्ट्र सश्रय के विपरीत—जिसने धार्मिक सश्रय की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के सविधानी कानून को प्रस्तुत किया—धार्मिक सश्रय की सधि, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सरकार ने अपना नाम कमाया मे सरकार के कोई सिद्धान्त नही थे। इसने ईसाई धर्म के सिद्धान्तो के प्रति शासको की अनुशक्ति की घोषणा की और परमात्मा को ससार का वास्तविक प्रभु माना। यह इन वाक्याशो से भरा है जैसे कि पारस्परिक सेवा 'अपरिवर्तनशील सद्भावना' 'पारस्परिक स्नेह' 'ईसाइयो की दानशीलता', अमिट बन्धुत्व।[1] मौलिकरूप मे धार्मिक सश्रय पर हस्ताक्षर आस्ट्रीया पुरशिया और रूस के राजाओ ने किये थे, तो भी इस का अनुपालन पोप और सुलतान को छोड कर सब योरपीय राजाओ ने किया।[2] रूसी ज़ार एलेक्जेण्डर प्रथम से प्रेरित होकर इसने योरुप की नैतिक एकता को दुहराया। राष्ट्रो में नैतिक मतैक्य के उस पुनर्निर्माण मे मुख्य कार्य को वास्तव मे धार्मिक सश्रय ने सम्पन्न किया।

धार्मिक सश्रय की सधि की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की उसके वास्तविक कार्यों के लिए कोई महत्ता नही थी। ज़ार ने समय-समय पर इसके सिद्धान्तो की स्तुति की, जिसे दूसरी शक्तियो ने शब्दो मे माना, पर व्यवहार मे अस्वीकार किया। सधि करते समय ब्रिटिश विदेश मन्त्री कैस्टलरेग ने इसे "उदात्त रहस्यवाद और प्रलाप" कहा। आस्ट्रीया के प्रधान मत्री मैटरनिश ने इसपर कई अशिष्ट उपहास किए। तो भी इसने न्याय के सिद्धान्तो को नैतिक तर्कसंगति प्रदान की,

1 धारा छह का निम्नलिखित वर्णन है, "वर्तमान सधि को कार्यरूप देने मे सरलता और आश्वासन प्रदान करने के लिए, ससार के कल्याण के लिए सम्राटों के निकटतम सम्बन्धों को सगठित करने के लिए श्रेष्ठ समझौते के पक्षकारी सहमत है कि निश्चित काल पर अपने सम्राटों या अपने सम्बन्धित मत्रियों के सरक्षण में पुनर्मिलन को अपने समान हितों को बढावा देने के लिए पुनर्जीवित करेंगे और उन कार्यों का परीक्षण करेंगे जो किसी अवधि में जनता के विश्राम और प्रगति और राज्य की शान्ति के निर्माण का कारण हों।

2 ब्रिटिश सम्राट संवैधानिक कारणों से विधिवत अनुपालन नहीं कर सकता था प्रधान मत्री ने अनौपचारिक रूप से मान लिया।

जिसकी विवेचना संधि के तीन मौलिक हस्ताक्षरकर्ताओं ने की थी और उस नीति के लिए भी जिसके द्वारा उन्होंने इन सिद्धान्तों को प्राप्त करने का यत्न किया। इस प्रकार धार्मिक सश्रय की संधि ने सैद्धान्तिक कार्य भी सम्पन्न किया और यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के पूर्ण क्षेत्र के लिए एक प्रतीक बन गई।

1818 में चतुर्राष्ट सश्रय के चार हस्ताक्षरकर्त्ताओं ने धारा 6 के अधीन भविष्य में होने वाले सब अधिवेशनों में भाग लेने के लिए फ्रांस को पाँचवाँ सदस्य बनाया। 1820 में टरोपाओ की कांग्रेस में आस्ट्रीया, पुरशिया और रूस ने पत्र पर हस्ताक्षर कर प्रतिज्ञा ली कि वे कभी जनता के अपने नरेश की शक्ति को परिमित करने के अधिकार को स्वीकार नहीं करेंगे। इस समझौते को नवीन धार्मिक सश्रय कहते है। कैस्टलरेग ने उसी वर्ष दो सदेशों में ऐसी नीतियों में भाग लेने से इन्कार कर दिया जिनका उद्देश्य दूसरे देशों में बल-प्रयोग से हस्तक्षेप करना था। 1822 की वीरोना कांग्रेस में उसके उत्तराधिकारी जार्ज केनिंग ने इस सिद्धान्त को बनाए रखा। यह अन्तिम कांग्रेस थी जिसमें ग्रेट ब्रिटेन उपस्थित था।

जब वीरोना कांग्रेस के असफल होने की सूचना उसे मिली तो केनिंग ने 3 जनवरी 1823 के पत्र में ब्रिटिश राजनयज्ञ वेगाट को लिखते हुए कांग्रेस द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के समाप्त करने का स्वागत किया और जहा तक ब्रिटेन का सम्बन्ध था, यह नए युग का प्रारम्भ था। उत्तेजना से धार्मिक सश्रय के धार्मिक सिद्धान्त की स्तुति करते हुए उसने कहा 'अपने लिए अपना राष्ट्र और ईश्वर हम सब के लिए।' ब्रिटेन के विमुख होने पर सम्मेलनों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय सरकार एक चालू संस्था की तरह जीवित न रही। दो और निष्फल प्रयत्नों के बाद-एक का सम्बन्ध स्पेन के उपनिवेशों के साथ था और दूसरे का यूनान और टर्की से—इस का 1825 में अन्त हुआ।

20 नवम्बर 1815 वाले चतुर्राष्ट सश्रय की धारा छह के द्वारा स्थापित सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय सरकार प्रणाली दस वर्ष तक भी नहीं चल पाई। विशेष समस्याओं के निपटारे के लिए राजदूत-सम्मेलन प्रणाली का जीवनकाल और भी संक्षिप्त था। इसकी स्थापना भी 1815 की सन्धियों द्वारा हुई और इसकी तीन एजेंसियां थीं। फ्रांस में स्थित आस्ट्रीया, ग्रेट ब्रिटेन, पुरशिया और रूस के राजदूत फ्रांस-सम्बन्धी शान्ति सन्धियों से उठी समस्याओं को निपेरते हुए भी सामान्य रूप में चतुर्राष्ट्र सश्रय की स्थायी कार्यपालिका का काम करेंगे। लन्दन में स्थित महान् शक्तियों के राजदूत दास-व्यवसाय के उन्मूलन की व्यवस्था करेंगे और फ्रैंकफर्ट में राजदूत सम्मेलन जर्मन समस्याओं पर वादविवाद करेंगे। 1818 तक ये सब एजेंसियां अन्तर्धान हो गई।

महान् शक्तियों द्वारा सरकार

धार्मिक सश्रय द्वारा निर्मित अन्तर्राष्ट्रीय सरकार महान् शक्तियो की सरकार थी। आस्ट्रीया के राजनीतिज्ञ और लेखक फ्रैडरिक जैंटज ने इसके सामान्य लक्षण का इस प्रकार वर्णन किया .

"1814 और 1815 से योरुप मे जो प्रणाली स्थापित हुई है वह ऐसी घटना है, जो ससार के इतिहास मे नही सुनी गई। सतुलन का सिद्धान्त अथवा उत्तम शब्दों म, विशेष सश्रयों द्वारा प्रतिभारो का सिद्धान्त एक ऐसा सिद्धान्त है, जिसमें तीन शताब्दियों तक योरप पर दु खद और रक्त रजित राज्य किया है। अब इस सिद्धान्त का स्थान सामान्य सघ के सिद्धान्त ने ले लिया है, जो प्रमुख शक्तियों के निरीक्षण मे सब राज्यों को सघ मे सगठित करता है द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्तर वाले राज्य निस्तब्धता से प्रधान शक्तियो द्वारा पहले से किये निर्णयों के आगे झुक जाते हैं। योरप अन्त मे, एक महान् राजनीतिक परिवार को सगठित करता प्रतीत होता है, जो अपने द्वारा उत्पन्न अदालत के सरक्षण मे सगठित हैं।"[3]

राजनीतिक यथार्थता के दृष्टिकोण से बड़ी और छोटी शक्तियो का अन्तर जो राष्ट्रो से पूर्ण शक्ति-वैषम्य की ओर सकेत है, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्राथमिक अनुभवो मे से एक है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और सगठन की सस्था के रूप मे विषमता को कानूनी स्थिति मे ढालते हुए यह कास्टलीरेघ के मस्तिष्क से उत्पन्न हुआ और 1815 मे स्वीकृत योजना की नींव बन गया। यह सत्य है कि 15 नवम्बर, 1818 वाली एमस ला-चापेल (Aix-La Chapelle) की कांग्रेस के लेख मे पाँच महान् शक्तियो के भावी अधिवेशन का आयोजन करते हुए यह विचारा गया कि यदि इन सभाओं का उद्देश्य योरप के दूसरे राज्यो से सम्बन्धित हो तो इन सभाओं का आयोजन सम्बन्धित राज्यो के विधिवत् निमन्त्रण पर होगा और उनका प्रत्यक्ष रूप में या राजदूतो द्वारा इनमे भाग लेने का अधिकार सुरक्षित रहेगा, तो भी इस अनुबध का धार्मिक सश्रय, विशेषकर नवीन धार्मिक सश्रय, की नीतियो पर कोई जानने योग्य प्रभाव नही पड़ा।

यथापूर्व-स्थिति का दुहरा अर्थ

न्याय के किस सिद्धान्त ने धार्मिक सश्रय का पथ सूचित किया इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है: वह है यथापूर्व-स्थिति के आधार पर शान्ति को बनाए रखना।

3 Friedrich Gentz, Depeches Inedites du Chevalier de Gentz aux Hospodars de Valachie (Paris E Plon, 1876), Vol. I p 354

15 नवम्बर, 1818 को पांच महा शक्तियों के एक्स-ला-चापेल पर हस्ताक्षर किए गए घोषणा पत्र से अधिक स्पष्ट इस सिद्धान्त का वर्णन और कोई नहीं :—

"इस संघ का उद्देश्य उतना ही सरल है, जितना कि महान् और मंगलकारी। इसकी नवीन राजनीतिक ससर्गं के प्रति रुचि नहीं है और न ही स्थापित सन्धियों द्वारा स्वीकृत सम्बन्धों में परिवर्तन के प्रति। अपनी कार्यवाही में शान्त और सगत होते हुए शान्ति को बनाए रखने और उन कामों की गारंटी देने, जिस पर शान्ति निर्भर और रक्षित है—के अतिरिक्त इसका और कोई उद्देश्य नहीं है।"

पर यह उत्तर बिलकुल अस्पष्ट है, यदि कोई आगे यह प्रश्न करे कि यथा-पूर्वस्थिति का क्या अर्थ था। जो अर्थ ग्रेट ब्रिटेन ने आरम्भ से लिया वह अर्थ रूस का कदापि नहीं था। यथापूर्व-स्थिति का अर्थ जिसने नवीन धार्मिक सश्रय की नीतियों का पथ-प्रदर्शन किया था, ग्रेट ब्रिटेन ने जिस यथापूर्व स्थिति को धार्मिक सश्रय के माध्यम से सुरक्षित करने का यत्न किया, वह उस राजनीतिक अवस्था तक दृढ़ता से सीमित था, जो नैपोलियनीय युद्ध की समाप्ति पर विद्यमान थी और फ्रास से सम्बन्ध रखती थी। ब्रिटिश राजमर्मज्ञों के लिए नैपोलियन ने ब्रिटिश द्वीपों को जिस घातक खतरे में डाला था, वह नैपोलियन-साम्राज्य से निकले योरुपीय शक्ति-सतुलन को धमकाने वाले खतरे के समान था। ग्रेट-ब्रिटेन ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सरकार का समर्थन करने को तैयार था, जो फ्रासीसी भूमि से नवीन विजयी के उत्थान को रोके और उस उद्देश्य को लेकर 1815 के शान्ति-निबटारे को फ्रास के विरुद्ध लागू करे। यथापूर्व-स्थिति की ब्रिटिश धारणा 1815 के प्रादेशिक निबटारे तक सीमित थी और उसमें फ्रास के राज्य-सिंहासन से नैपोलियनीय परिवार के प्रत्येक सदस्य को निकालना निहित था। इस सम्बन्ध में कास्टलरेग और केनिंग की नीतियों में कोई अन्तर नहीं था।

प्रादेशिक और वाद-विषय के सम्बन्ध में रूस की आरम्भ से और आस्ट्रीया, पुर्शिया और फ्रास की उन्नीसवीं शताब्दी की दूसरी दशाब्दी से यथापूर्व-स्थिति की धारणा असीमित थी। उस धारणा के अनुसार, जिसको वास्तविक राजनीतिक परिस्थितियाँ आज्ञा नहीं देती, तो भी अधिक कठोर शब्दों में व्यक्त किया गया। धार्मिक सश्रय की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार का उद्देश्य ससार में हर जगह 1815 की यथापूर्व-स्थिति को और निरकुश राज्य तन्त्र को बनाए रखना था। दूसरे को प्राप्त करने का साधन सब राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने पर बाध्य करता, जहाँ निरकुश राजतन्त्र की सस्था खतरे में प्रतीत होती।

ऐसे हस्तक्षेप का अनिवार्य गौण फल हस्तक्षेप करने वाले राष्ट्रों की शक्ति में वृद्धि होना था। राष्ट्रीय और उदारवादी आन्दोलन, जितने व्यापक होंगे, उतना

अधिक अवसर हस्तक्षेप करने वाले राष्ट्र या राष्ट्रों का अपनी शक्ति बढ़ाने और विस्तृत करने का होगा, जिससे वह पुनः शक्ति-संतुलन मे विघ्न डालेंगे। ऐसी घटना से प्रमुखतः रूस को लाभ पहुँचता। इस बिन्दु पर ब्रिटेन और रूस को पृथक होना पड़ा।

लगभग पच्चीस वर्ष तक ग्रेट ब्रिटेन फ्रांसीसी क्रान्ति की गतिशीलता से संचित नैपोलियनीय साम्राज्य से इसलिए नहीं लड़ा था कि इसका स्थान रूसी साम्राज्य ले। विश्व-बन्धुत्व की आध्यात्मिकता निरंकुश सरकार से उस सीमा तक प्रेरित थी, जहाँ तक राष्ट्रीय और उदारवादी आन्दोलनों ने नवीन धार्मिक संश्रय को सामान्य हस्तक्षेपों को जाँचने का अवसर दिया। ग्रेट ब्रिटेन इससे पृथक रहा, और इसकी नीतियों का विरोध किया। जब 1818 में रूस ने प्रस्तावित किया कि स्पेन की सहायता के लिए इसके अमरीकी उपनिवेशों के विरुद्ध युद्ध मे संचित सेना भेजी जाए, तो ग्रेट ब्रिटेन ने योजना को कार्यरूप देने से रोका। तो भी जब 1820 मे नेपल्ज़, पाइडमोंट, पुर्तगाल तथा आस्टीया मे क्रान्ति हुई। नवीन धार्मिक संश्रय के नाम से सशस्त्र सेनाओं द्वारा नेपल्ज़ और पाइडमोंट के निरंकुश राजतन्त्र अपने सिंहासन पर पुनर्स्थापित किए गए। 1820 मे स्पेन में क्रान्ति हुई। 1823 में फ्रांस ने आस्ट्रीया, प्रशिया और रूस के नैतिक समर्थन से अपनी ओर से सशस्त्र बल के साथ हस्तक्षेप किया।

शान्ति, व्यवस्था और राष्ट्रीय हित

धार्मिक संश्रय के ये काम दो वास्तविकताओं को व्यक्त करते हैं। प्रथम तो, इन परिस्थितियों मे युद्ध के गम्भीर खतरे का अभाव है। हस्तक्षेप करने वाली और हस्तक्षेप को निमन्त्रण करने वाली राज्यों की शक्ति मे इतना अन्तर था .. कि क्रान्तिकारी दल को न केवल अपने देश के क्रान्ति-विरोधियों से लड़ना था, बल्कि एक विदेशी सेना के विरुद्ध भी, जिसने युद्ध के स्थान पर हस्तक्षेप को दण्डात्मक अभियानों का लक्षण दिया।

दूसरी वास्तविकता अपने राष्ट्रीय हितों द्वारा सब राष्ट्रों की नीतियों का निर्धारण है। चाहे युग के राजनय की भाषा मे, रूसी जार के गुप्त पूर्वस्नेह ने रिआयतें दी, यह ग्रेट-ब्रिटेन के कार्यों मे बहुत स्पष्ट है। न तो कास्टलीरेग ने और न केनिंग ने, जो विशेषकर स्पष्टवादी था और इस सम्बन्ध मे वाग्मी था, इस सचाई को छिपाने का यत्न किया कि वे ग्रेट-ब्रिटेन के पारम्परिक हितों से संदर्शित होते थे, जो केवल शान्ति और सुरक्षा के हित से परिमित थे। इटली मे आस्ट्रीया का हस्तक्षेप और स्पेन मे फ्रांस का हस्तक्षेप पारम्परिक राष्ट्रीय

हितों से आदिष्ट हुए। यह सम्बन्ध इस यथार्थता से व्यक्त होता है कि, आस्ट्रीया और फ्रांस की दक्षिण में अपने पड़ोसियों के मामले में हस्तक्षेप की नीति लगभग आधी शताब्दी तक धार्मिक सश्रय के बाद जीवित रही।

अपने वाद-विवाद को ध्यान में रखते हुए अधिक महत्त्वपूर्ण बात, जब कभी दोनों हितों में संघर्ष हुआ, विशेष हितों की धार्मिक सश्रय के सामान्य सिद्धान्तों पर विजय है। यह बात 1820 और 1822 में दो बार घटित हुई। दोनों मामलों में सश्रय के सब सदस्यों की ओर से रूस ने सामूहिक हस्तक्षेप का प्रस्ताव किया और उस उद्देश्य के लिए केन्द्रीय और पश्चिमी योरुप में विशाल रूसी सेना भेजने का प्रस्ताव किया। ग्रेट-ब्रिटेन ने ऐसे प्रस्ताव का विरोध किया होना यह इस बात से स्पष्ट है कि ग्रेट-ब्रिटेन शक्ति-सतुलन की पारम्परिक नीति की ओर मुड़ा। इस विरोध में आस्ट्रीया भी—जो नवीन धार्मिक सश्रय का स्तम्भ था—ग्रेट-ब्रिटेन के साथ प्रवेश करता, यह बात धार्मिक सश्रय के सैद्धान्तिक लक्षण को बताती है। इन सिद्धान्तों की स्तुति तब की जाती, जब वे राष्ट्रीय हित द्वारा आदिष्ट नीतियों को नैतिक सगति प्रदान करते प्रतीत होते, जब उन की स्तुति से राष्ट्रीय हित को कोई लाभ न होता, उन्हें त्याग दिया जाता।

टर्की के विरुद्ध 1821 में यूनानियों के विद्रोह के सम्बन्ध में शक्तियों का रवैया शिक्षाप्रद है। धार्मिक सश्रय के काल में केवल एक यही स्थिति है, जिसमें सामान्य युद्ध के कीटाणु विद्यमान थे और जिससे आने वाली शताब्दी में समय-समय पर वास्तविक युद्ध छिड़ा। नवीन धार्मिक सश्रय के सिद्धान्तों ने केवल एक रवैये को लेने की आज्ञा दी, वह यह कि यदि वैध सरकार के विरुद्ध विद्रोह हो, तो वैध सरकार को सक्रिय समर्थन देना चाहिए। तो भी यह वह उत्तर नहीं था, जिसकी अति प्रभावित शक्ति ने माँग की।

रूस ओटोमेन (Ottoman) साम्राज्य में रहने वाले परम्परानिष्ठ ईसाई धर्म रखने वालों का पारम्परिक संरक्षक रहा था। कुसतुनतुनिया पर अधिकार करना मास्को के शासकों का शताब्दियों पुराना स्वप्न था। इसलिए जब यूनानी विद्रोह छिड़ा, तब नवीन धार्मिक सश्रय के नियमों को सम्पूर्णतः ओझल करते हुए रूसी जार का झुकाव टर्की के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने का था। दूसरी ओर आस्ट्रीया और ग्रेट-ब्रिटेन इसे सदेह के साथ देख सकते थे, उन्होंने पहले भी और लगभग एक शताब्दी बाद बलकान में रूसी शक्ति के विस्तार को और भूमध्यसागर में रूसी अग्रगति को अनुभव किया। इस प्रकार कास्टलीरेग ने, जो नवीन धार्मिक सश्रय का विरोधी था और आस्ट्रीया के प्रधानमंत्री मैटरनिच ने, जो इसका उत्कट समर्थक था, हाथ मिलाए, ताकि रूस को यूनानी विरोधियों

के समर्थन में सक्रिय कार्यवाही करने से रोका जाए। यह राष्ट्रीय हितों की स्पष्ट स्वीकृति के स्थान पर अस्पष्ट सिद्धान्तों पर आधारित विदेशी नीति पर व्यंगात्मक टिप्पणी है कि उन्होंने नवीन धार्मिक सश्रय के सिद्धान्तों का उनके निर्माता के विरुद्ध सफल प्रयोग किया, जैसाकि कास्टलीरेग ने इसे बुद्धिमता से रखा। अन्तर्राष्ट्रीय "मामलों में प्रतिरोधी राष्ट्रों" में सतुलन बनाए रखना भी कठिन है, इससे और भी अधिक कठिन "प्रतिरोधी सिद्धान्तों" में सतुलन को बनाए-रखना है।

अत मे, जब 1826 में रूस और टर्की मे युद्ध का खतरा तीव्र हो गया, यह पृथक् धार्मिक सश्रय नही था, जिसने इसे टाला परन्तु यह केनिंग की रूस के साथ समझौता करने की चाल थी, जिससे टर्की को बाध्य करना था कि यूनानियों को रियायतें दें, पर रूस को ऐसे आन्तरिक सुधारों से कोई तुरन्त लाभ न हो। केनिंग की मृत्यु के पश्चात् वह घटना हुई, जिसे रोकने मे केनिंग सफल रहा था। 1828 मे टर्की ने अकेले युद्ध की घोषणा कर, उसे अपनी दया पर छोड़ा। केनिंग की मृत्यु के पश्चात् इस युद्ध के छिड़ने का कारण अश मे ब्रिटिश राज मर्मज्ञता का झुकना था। यथार्थत यह धार्मिक सश्रय की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के प्रभाव के कारण कमी नही थी।

सब धार्मिक सश्रय एक सक्षिप्त प्रयोग था, जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की व्यवस्था के प्रति कोई योगदान न कर पाया। अपने प्रभुत्व के क्षेत्र में प्रशासन लागू करते हुए एक अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के रूप मे यह कठिनाई से कही पाँच वर्ष से अधिक सफल रहा। 1818 में अपनी प्रधानता की घड़ी में फ्रेडरिक जैट्ज, जो इसका एक शिल्पकार और विशिष्ट दार्शनिक था, ने इसकी अन्त ज्ञात दुर्बलता की ओर सकेत किया।

आधुनिक प्रणाली की अति प्रबल आलोचना प्रतिकूल तत्वों से बने हुए सगठन को अधिक समय तक बनाए रखने की स्पष्ट कठिनाई है। अति भिन्न हित, अति प्रतिरोधी प्रवृत्तियाँ, अति प्रतिकूल भविष्यवाणियाँ, आलोचन और गुप्त विचार, पल के लिए सघ की समान क्रिया में लिपटे और डूबे हैं, जो पृथक् और स्थायी हितों पर *यथार्थ सश्रय से अधिक एक सहमिलन से मेल खाता है,* जिसका एक असाधारण उद्देश्य के लिए निर्माण किया गया। ऐसे सघ को उत्पन्न करने के लिये अद्वितीय परिस्थितियों की आवश्यकता थी। यह मानव-प्रकृति और परिस्थिति के स्वभाव के विरुद्ध होता, यदि इसे अधिक समय के लिए उस विरोध और सघर्ष का स्थान लेना पड़ता, जिसकी ओर परिस्थितियों, हितों और विचारों की भिन्नता द्वारा, अपने विशेष लक्षण और कार्य-योजना की आवश्यकता से अनेक राष्ट्र अग्रसर होते हैं।

धार्मिक सश्रय की शीघ्र मृत्यु दो जन्मजात दुर्बलताओं के कारण हुई। एक तो सश्रय के मुख्य सदस्यों में इस पर सीधा प्रतिरोध था कि ठोस राजनैतिक शब्दों में, यथापूर्व-स्थिति का क्या अर्थ था। न्याय के सदर्शक सिद्धान्तों के अस्पष्ट रूप के अर्थ, जिनपर वे सहमत थे उन व्यक्तिगत सदस्यों के राष्ट्रीय हितों द्वारा निर्धारित हुए। यदि वे समान होते, तब सश्रय एक सामूहिक शरीर के रूप में सगठित होकर कार्य कर सकता था। यदि ये हित भिन्न होते, जैसाकि समय-समय पर ग्रेट-ब्रिटेन के मामले में स्थायी थे, तब सश्रय कोई कार्य न करता।

धार्मिक सश्रय की दूसरी जन्मजात दुर्बलता न्याय के सिद्धान्त की प्रतिकूलता थी, जिसपर रूस, पुरशिया और आस्ट्रीया की सरकारें ठोस राजनीतिक कार्य के सदर्शक के रूप में सहमत थी, जिसका अनुपालन धार्मिक सश्रय के राज्य में रहने वाले अधिक संख्या में व्यक्ति करते थे। वैध सरकार उदारवाद तथा राष्ट्रीयता के सिद्धान्तों के सघर्ष के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की कार्यवाही, जो पूर्व सिद्धान्त से प्रेरित थी, निरन्तर बल-प्रयोग पर निर्भर थी, ताकि ससार में निरकुश राजतन्त्र और उनके स्वामित्व को सुरक्षित और पुनर्स्थापित किया जाए।

यह कल्पना का विषय है कि कितने समय तक अन्तर्राष्ट्रीय सरकार ऐसा कार्य कर सकती थी, यदि इसके सब सदस्यों के विचार रूस के एलेक्जेण्डर प्रथम जैसे उत्साही और दृढ होते। धार्मिक सश्रय अपने कुछ सदस्यों और अधीन जनता के विरोध को न दबा सका। कास्टलीरेग के युग में यह दोहरा विरोध बिना किसी सम्पर्क के समानान्तर रेखाओं पर चलता रहा। कास्टलीरेग नवीन धार्मिक सश्रय की नीतियों को सक्रिय सहयोग देने से पृथक् रहा। केनिंग के महान् नवीन परिवर्तन ने, जिसे उदारता और राष्ट्रीयता की बढती हुई शक्ति का समर्थन प्राप्त था, और जिसे उसके उत्तराधिकारी पामर्स्टन ने सम्पन्न किया—उन आन्दोलनों का ब्रिटिश उद्देश्यों के लिए शक्ति-सतुलन के तराजू में भार के रूप में प्रयोग किया। उस नवीन परिवर्तन के साथ केनिंग द्वारा ब्रिटिश विदेश-नीति ने योरुप महाद्वीप में प्रवेश किया, जिसे पूरी उन्नीसवीं शताब्दी में प्रधान रहना था।

धार्मिक सश्रय की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार में स्थायी सगठन का अभाव था और इसमें स्वल्पायु राजदूती समितियों के अतिरिक्त, जिनका पहले वर्णन हो चुका है, और कुछ नहीं था, केवल प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय मामलों को निपटाने के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय काग्रेस थी। तिस पर भी धार्मिक सश्रय सही अर्थों में एक अन्तर्राष्ट्रीय सरकार थी। एक्स-ला-चापेल काग्रेस की कार्यसूची पर विषयों की अपूर्ण सूची सरकारी कार्यों के फैलाव का उल्लेख करती है, जैसे कि बड़े राज्य में मिले छोटे जर्मन राजकुमारों के अपने नवीन प्रभुओं के अनुचित व्यवहार के विरुद्ध दावे, इलैक्टोर आफ हेस का राज्य के पद के साथ अपने पद का आदान-प्रदान

के लिए निवेदन, अपने पुत्र को मुक्त कराने के लिए नैपोलियन की माता की प्रार्थना, अपने राजकुमार के विरुद्ध मोनाको के लोगो की परिवेदनाएँ, बेडन मे उत्तराधिकार के लिए बेवेरिया और हाऊस आफ होशवर्ग के दावे, न्यूर्पेनहासेन के स्वामित्व के लिये डयूक आफ ओल्डनवर्ग और कांट वैनटिक मे झगडा, पुरशिया और आस्ट्रीया मे यहूदियो की दशा, राजनयिक प्रतिनिधियो का पद दास-व्यवसाय और बारबरी समुद्री लुटेरो का दमन और स्पेन के उपनिवेशो का प्रश्न।

यूरोपीय संघ (Concert of Europe)

धार्मिक सश्रय की इन व्यापक क्रियाओ की तुलना मे अनुवर्ती शताब्दी प्रतिगामी थी। महान् शक्तियो की सरकार द्वारा विश्व-सम्बन्धो के निर्णय का दृश्य 1919 तक पुन देखने मे नही आया, जब राष्ट्र सघ-परिषद् ने फिर वही अभिनय किया, जिसे धार्मिक सश्रय ने खेला था। तो भी धार्मिक सश्रय और राष्ट्र-सघ के बीच का युग महान् शक्तियो के सगठित कार्य द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ को निपटाने के अस्थायी प्रयत्नो से वचित नही था। धार्मिक सश्रय के समाप्त होने के बाद महान् शक्तियो ने राजनीतिक मामलो के निपटाने का उत्तरदायित्व धारण किया, जिसके बिना युद्ध छिड जाता। उस दायित्व को अनेक सम्मेलनो मे पूरा किया गया जहाँ शान्ति को सकट मे डालने वाली समस्याओ से निपटा जाता, जैसे कि 1830 के आरम्भ मे बैल्जियम प्रश्न, 1850 के आरम्भ मे पूर्वी प्रश्न और बीसवी शताब्दी के आरम्भ मे अफ्रीका की समस्याएँ। अस्थायी सम्मेलनो अर्थात् योरुपीय सघ द्वारा गतिशील विश्व-शान्ति के लिए महान् शक्तियो के इस दायित्व के प्रति प्रथम महा-युद्ध के अवसर पर सर ऐडवर्ड ग्रे ने निष्फल अपील की।

दो प्रकार से योरुपीय-सघ वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय सरकार से भिन्न है। एक ओर यह सस्थापित नही था। नियमानुसार या कभी मिलने के लिए महान् शक्तियो मे कोई समझौता नही था। महान् शक्तियाँ उस समय मिलती जब कभी अन्तर्राष्ट्रीय दशा सगठित कार्य की माग करती। दूसरी ओर, यूरोपीय सघ को उत्तेजित करने वाला, जैसाकि ऊपर लिखा है, कोई नैतिक मतैक्य नही था, जो द्वद्वो को तटस्थ कर सकता और जो समान निर्णय और कार्यो के लिये मान प्रदान कर सकता। राष्ट्रीयता और वैधता मे भेदन जिसे फ्रांसीसी क्रान्ति ने खोला, सारी उन्नीसवी शताब्दी मे खुला रहा। यह समय-समय पर सकीर्ण और विशाल बनता, परन्तु कभी बन्द नही हुआ, केवल प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने पर राष्ट्रीय सिद्धान्त की विजय हुई, और केन्द्रीय तथा पूर्वी योरुप मे राजतत्रो का अत हुआ।

तो भी प्रबल नैतिक मतैक्य से सम्मेलनों द्वारा सस्थापित सरकार के अभाव—सस्थापिन को तो छोडिए—के होते हुए भी योरुपीय सघ अपने नब्बे वर्षीय अस्तित्व मे सामान्य शान्ति के सरक्षण मे सबसे अधिक सफल रहा। उस काल मे ससार मे यदि कोई प्रमुख अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध छिडा, तो वह 1854-56 का क्रीमियन युद्ध था, जो घटना क्रम के कारण हुआ। यदि इनमे से कोई घटना घटित न होती, तो युद्ध भली भांति टल सकता था। योरुपीय-सघ पहले से शान्ति सूत्र पर सहमत हो गया था, परन्तु सूत्र के सचरण मे चौबीस घटे की देरी ने चित्र को बदल दिया।

सामान्य युद्ध को रोकने मे योरुपीय-सघ की सफलता का क्या कारण था? तीन कारको का अवश्य वर्णन होना चाहिए। इतिहास के उस काल मे योरुपीय समुदाय का नैतिक मतैक्य अस्पष्ट प्रतिध्वनि की तरह जीवित था, जिसे अपने समय की मानवतावादी नैतिक जलवायु से बल मिला, जैसाकि हम ने देखा है, राजनैतिक प्राकृति राजनैतिक शून्य स्थानो म प्रतिकूल हितो को स्थान देते हुए प्रसार के पक्ष मे थी। अन्त में, सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि इतिहास के उस काल ने ऐसे योग्य राजदूतो और राज-मर्मज्ञो को उत्पन्न किया, जो जानते थे कि किस प्रकार शान्ति की जाए, किस प्रकार शान्ति का सरक्षण हो और किस प्रकार युद्ध को छोटा और कार्यक्षेत्र में सीमित किया जाय। हमारे समय में उनके कार्य जो शुभ पाठ देते हैं, उनका विवेचन बाद में करेंगे।

राष्ट्र संघ

प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने पर अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के इतिहास में एक नये युग का उद्घाटन हुआ। राष्ट्र-सघ ने अपने कामो में धार्मिक सश्रय के साथ सम्पूर्णता दिखाई तो भी अपने सगठन में इसने उस प्रयोग से अपसरण किया, जो इससे एक शताब्दी पूर्व घटित हो चुका था।

संगठन

धार्मिक सश्रय की तुलना में राष्ट्र-सघ एक वास्तविक सगठन था। इसका अपना कानूनी व्यक्तित्व था, अपने ऐजेंट और एजेंसियां थी। सभा, परिषद् और स्थायी सचिवालय इसकी राजनैतिक एजेंसियां थी। सभा सब सदस्य राज्यो के प्रतिनिधियो की सम्मिलित थी। सभा और परिषद् में प्रत्येक राज्य को एक वोट दिया गया और सब प्रकार के राजनैतिक निर्णयो के लिए उपस्थित सदस्यो की सर्वसम्मति आवश्यक थी, जिसमें वे शामिल थे, जिनका सम्बन्ध

युद्ध की रोकथाम से था।[4] मुख्य अपवाद धारा 15 अनुच्छेद 10 और व नियम थे जिनके अनुसार अंतर्राष्ट्रीय झगडो के निपटारो से सम्बन्धित निर्णयो में झगडे के पक्षकारियो के वोट नहीं गिने जाएगे।

परिषद् में दो प्रकार के सदस्य थे स्थायी और अस्थायी। सारी महान् शक्तियाँ जो विशेष समय पर सघ के सदस्य रही स्थायी सदस्य थी। फ्रास ग्रेट-ब्रिटेन इटली और जापान मौलिक सदस्य थे बाद म जर्मनी और सोवियत सघ हो गए। अस्थायी सदस्य मूलत चार थे। क्रमश उनकी सख्या बढ़ती गई यहा तक कि 1936 म परिषद् के 11 अस्थायी सदस्य हो गए। इस प्रकार मूलत स्थायी और अस्थायी सदस्य सख्या म समान थे। 1922 से आगे अस्थायी सदस्यो का बहुमत स्थायी सदस्यो से अधिक होता गया। 1939 म जर्मनी, इटली और जापान के त्यागपत्र देने और सोवियत सघ को निकालने के पश्चात् परिषद् मे दो स्थायी (फ्रास और ग्रेट ब्रिटेन) सदस्य और 11 अस्थायी सदस्य थ।

बडे और छोटे राष्ट्रो म शक्ति वितरण को ध्यान में रखते हुए जो महत्वपूर्ण है वह उनका सख्यात्मक सम्बन्ध नही परन्तु परिषद् में महान् शक्तियो की सदस्यता है। इस स्थायी सदस्यता के नाते और एकमत के सिद्धात के साथ महान् शक्तियो को विश्वास हो सका कि परिषद् उन सब की इच्छा के बिना कोई निर्णय नही कर सकती थी। अतर्राष्ट्रीय एजसी में वोटो का वितरण कभी सारी कहानी नही बताता। कभी महान् शक्ति विशेष कार्यवाही के पक्ष मे या विरोध मे वोट करते समय अकेली नहीं रहेगी, यदि वह अकेला रहना नही चाहती। न ही महान् शक्ति को कम वोट पाने का डर रहता है। बहुत

4 स्थायी अतर्राष्ट्रीय न्यायालय न लोसेन ट्रीटी और इराक की सीमा सधि की धारा तीन और अनुच्छेद 2 से स बन्धित सलाहकार राय देते हुए एक मत क सिद्धान्त पर जोर डाला एक सस्था म जिसका ध्येय सघ के शासन के अदर या विश्व शांति को प्रभावित करने वाले किसी मामले को निपटाना है एक मत सिद्धान्त के अनुपालन को स्वाभाविक और आवश्यक रूप में व्यक्त किया गया है यद्यपि परिषद् को सम्मिलित शक्तियों क समर्थन की एकचित्तता प्राप्त है तो वह अधिकार की मात्रा प्राप्त होगी जो उनक पास अवश्य होनी चाहिए यदि महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर बहुमत द्वारा निर्णय हो जिसके आयोजन का अभाव है तब सघ की मर्यादा खतरे म पड़ जाएगी इसके अतिरिक्त यह सोचना कठिन है कि विश्व शांति को प्रभावित करने वाले प्रश्नों पर प्रस्ताव उन परिषद् क सदस्यों की इच्छा के विरुद्ध पास किए जाएँगे जो हर तो अल्पसख्या म जिन्हे अपनी राजनीतिक अवस्था के कारण दायित्वों का बड़ा भाग और इसके फलस्वरूप परिणामो को सहन करना होगा (पी॰सी॰आई॰जे॰) सीरीज बी नम्बर 12 पृ॰ 29

की छोटी और मध्यम शक्तियाँ आर्थिक सैनिक और राजनैतिक रूप में महान् शक्तियों के समर्थन पर निर्भर हैं। कठिनाई से ऐसा राष्ट्र महान् शक्ति के विरुद्ध वोट देगा, जिसे सूचित किया गया है कि छोटे राष्ट्र से आशा की जाती है कि वह इसकी आवाज को सुनेगा। इस प्रकार प्रत्येक महान् शक्ति का संघ के अनेक छोटे और मध्यम सदस्यों के वोटों पर नियंत्रण था। किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर फ्रांस को बैलजियम, चेकोस्लोवेकिया, योगोस्लाविया, रूमानिया और पोलैण्ड की वोट का विश्वास दस वर्ष से भी अधिक के लिए था। ग्रेट-ब्रिटेन, डोमिनियन्ज, स्केंडीनेवियन देशों और पुर्तगाल के वोटों पर निर्भर हो सकता था।

संगठन के कानूनी ढाँचे का ध्यान न करते हुए महान् शक्तियों के इस नियंत्रक प्रभाव ने राष्ट्र-संघ में छोटे और मध्यम राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के योग्य बौद्धिक नेतृत्व के साथ मिलकर कार्य किया। अनुपात से बाहर और अपने विशेष देशों की शक्ति की अपेक्षा के बिना इन प्रतिनिधियों ने राष्ट्र-संघ के काम को प्रभावित किया। प्राथमिक रूप में इस नेतृत्व का मंच सभा थी। संयुक्त राष्ट्र की महासभा की तुलना में राष्ट्र-संघ की सभा को न केवल दैनिक विषयों या गौण महत्त्व ■ प्रश्नों को, परन्तु राजनीतिक समस्याओं-सम्बन्धी —जैसाकि शान्ति संरक्षण की कार्यवाही[5]— विषयों पर बाध्यकारी निर्णय करने का अधिकार था, उस सीमा तक राष्ट्र-संघ की सभा ने एक वास्तविक संसद का अभिनय किया, जहाँ नेतृत्व अति उत्तम योग्य प्रतिनिधियों के हाथ आया, जिसका सम्बन्ध उस के देश की शक्ति और कभी कभी हितों से भी नहीं था।

परन्तु वह नेतृत्व उस रेखा पर रुक गया, जहाँ महान् शक्तियों के मार्मिक हित शुरू हुए। संघ के महान् संकटों में महान् शक्तियों के नेतृत्व ने अपना ज़ोर लगाया। जब प्राथमिक राजनैतिक महानता के द्वंद्व में—जैसे कि इटली-इथोपिया

5 प्रसंविदा की धारा 3, अनुच्छेद 3 को देखिए "अपने सम्मेलनों में सभा संघ के कार्यक्षेत्र में आने वाले या विश्व शान्ति को प्रभावित करने वाले किसी विषय से निपट सकती है" धारा 15, अनुच्छेद 9, 10 को देखिए "इस धारा के अधीन परिषद् झगड़ा सभा के सुपुर्द कर सकती है किसी पक्षकार की प्रार्थना पर झगड़े को सुपुर्द किया जाएगा, यदि प्रार्थना परिषद् के समक्ष झगड़े रखने के चौदह दिन में हो।"

"सभा को भेजे किसी विषय में यह धारा और धारा 12—जिसका सम्बन्ध परिषद् के कार्य और शक्ति से है—सभा के कार्य और शक्तियों पर लागू होगी, यदि इसे संघ के परिषद् वाले सदस्यों और संघ के दूसरे सदस्यों के बहुमत का समर्थन हो, तो सभा की रिपोर्ट का उतना बल होगा, जितना कि परिषद् के कुल सदस्यों की सहमति द्वारा पास रिपोर्ट का होता है।

का युद्ध या स्पेन का गह युद्ध था—कुछ छोटी और बडी शक्तिया तितर-बितर हुईं तब महान् शक्तियो की नीतियो को विवश बाध्य थी क्योकि अ तर्राष्टीय रगमच पर महान् शक्तियो की प्रधानता उतनी यथार्थ है, जितनी कि घरेलू समाज म विशाल आर्थिक सगठन की प्रधानता यथोथ् होती है। स्वय इस शक्ति की प्रधानता को नष्ट किए बिना न तो कोई कानूनी प्रबन्ध न कोई सस्थापित य त्र शक्ति की असमानता के राजनीतिक परिणामो का नाश कर सकता है। इसलिए सघ मे छोट राष्टो को प्रभावित करने और स्वतन्त्र किया करने का पूव और आधुनिक समय की अपेक्षाकृत अधिक विशाल अवसर मिला तो भी राष्ट सघ की अ तर्राष्टीय सरकार कम से कम ऊँचे राजनीतिक क्षेत्र मे महान् शक्तियो की सरकार थी।

यथापूर्व-स्थिति का दोहरा अर्थ

फ्रास बनाम ग्रेट ब्रिटेन

व कौन से न्याय-सिद्धा त थे जिन्हे राष्ट सघ की अ तर्राष्टीय सरकार को सिद्ध करना था। इस प्रश्न का उत्तर लाक्षणिक रूप मे मिलता है कि राष्ट सघ प्रसविदा की 26 धाराए शान्ति सधियो की उन प्रथम 26 धाराओ के समरूप है जिसने प्रथम महा युद्ध के मामले निपटाए। इस प्रकार आरम्भ से राष्ट सघ और 1919 की यथापूव स्थिति मे आत्मीय सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया। प्रसविदा की धाराओ ने उस स ब ध को स्पष्ट कानूनी शब्दो मे रखा। प्रस्तावना ने अ तर्राष्टीय कानून का सरकारो मे व्यवहार के वास्तविक नियम के रूप में उल्लेख किया गया और "सब सधि बधनो के सचेत मान की ओर सकेत किया गया। धारा 10 राष्ट सघ के सदस्यो के लिए कानूनी बधन स्थापित करती है जिससे उन्हे ' सघ के सब सदस्यो की प्रादेशिक अखण्डता और वतमान स्वतन्त्रता का विदेशी आक्रमण के विरुद्ध मान और सरक्षण करना पडेगा। यह धारा राष्ट सघ को 1919 की प्रादेशिक यथापूव स्थिति का सरक्षक बनाती है। झगडो को निबटाने और लागू करने के अनुवर्ती धाराओ क सब उपब धो को धारा 10 के इस उपबन्ध के प्रकाश मे अवश्य पढना चाहिए। यह उपबन्ध वे मान निर्धारित करता है, जिन्हे सघ की ऐजसियो का राष्टो के दावा और कार्यो के मूल्याकन करने मे और शान्ति के लिए धुडकी का सामना करने के साधन निकालने मे माग दशक बनना था।

यह सत्य है कि प्रसविदा के निर्माताओ ने सघ को 1919 की यथापूव-स्थिति से सम्पूर्णत समरूप होने के कलक से मुक्त करने का यत्न किया। उस उद्देश्य को सामने रखते हुए उन्होने शान्तिपूर्ण परिवतन की धारा 19 म आयोजना

की। हम पहले भी उस उपबन्ध की भीतरी दुर्बलता की ओर सकेत कर चुके है जो आरम्भ से एक मृतक पत्र रहा। अपनी भीतरी दुर्बलताओं के अतिरिक्त धारा 19 साधारण प्रतीत होने लगती है, यदि इसे प्रसविदा के ढाँचे मे पृथकत्व में देखा जाए और यदि इसकी तुलना एक ओर अभावात्मक सम्बन्ध से की जाए जो धारा 10 को 1919 की सधियो के बीच मे है और दूसरी ओर यदि इसकी तुलना प्रसविदा के शान्ति-सरक्षण और कानून लागू करने वाली धारा 11-16 के उपबन्धो से की जाए, तब धारा 19 परिवर्तन के निर्विवाद यथार्थ को जबानी रियायत से अधिक देती है। इसके आधारभूत कानून ने अपनी उत्पत्ति से कम न होते हुए और 1919 की सधियो के समान होते हुए इस बात को अनिवार्य कर दिया कि अतर्राष्ट्रीय सरकार के चालू सगठन के रूप मे सघ यथापूर्व-स्थिति के सरक्षक के नाते निर्णय करे और इसे लागू करे।

1919 में यथापूर्व-स्थिति के दो आधारभूत सिद्धान्त थे जर्मनी को युद्ध छेडने मे स्थायी रूप मे अयोग्य करना और राष्ट्रीय आत्म-निर्णय का सिद्धान्त। यद्यपि आरम्भ से सघ की नीति के उत्तरदायी दो राष्ट्र—ग्रेट-ब्रिटेन और फास—ने इन दो सिद्धान्तो को स्पष्टतया भिन्न-भिन्न परिभाषा दी। फास के लिए जर्मनी की युद्ध छेडने की स्थायी अयोग्यता यूरोप महाद्वीप पर फास की स्थायी प्रधानता के समानार्थ थी। ग्रेट ब्रिटेन के लिए जर्मनी के युद्ध छेडने की स्थायी अयोग्यता जर्मनी की नियन्त्रित सीमा के अन्दर महाशक्ति के रूप मे पुनरागमन से मेल नहीं खाती थी, जिससे यूरोप महाद्वीप मे शक्ति सतुलन का कम से कम आभास बना रहे।

फास ने राष्ट्र-सघ की ओर, प्राथमिक रूप मे, एक सामूहिक शेरिफ की तरह देखा, जो 1919 की यथापूर्व-स्थिति के सरक्षण के लिए फास की सैनिक शक्ति को अपना बल प्रदान करेगा। ग्रेट-ब्रिटेन ने राष्ट्र-सघ को एक विचरण-भवन के रूप मे देखा, जहाँ ससार के राजमर्मज्ञ अपनी समान समस्याओं पर बहस करने के लिए मिलेंगे और समझौते द्वारा इकरार करेंगे। अत मे फास ने राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का एक राजनीतिक हथियार के रूप मे प्रयोग किया, जिससे वह जर्मनी के विरुद्ध पूर्वी योरुप मे अपने मित्र-राष्ट्रो को दृढ कर पाए। ग्रेट-ब्रिटेन ने ऐसा सिद्धान्त पाया जो विश्व-व्यापी प्रयोग के योग्य था, कम से कम योरुप महाद्वीप मे, जिसे फास के मित्र-राष्ट्रो के मूल्य पर जर्मनी को दृढ करने मे भली भाति प्रयोग मे लाया जा सकता था।

न्याय-मान और राजनीतिक सिद्धान्तो की इन भिन्न परिभाषाओं की नींव मे हम पुन. अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का मौलिक आकार पाते हैं। राष्ट्र-सघ की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के एक प्रमुख सदस्य के नाते फास ने अपनी सारी नीतियो

को 1919 की यथापूर्व-स्थिति बनाए रखने की प्रबल इच्छा के अधीन किया। यह यथापूर्व-स्थिति यूरोपीय महाद्वीप पर फ्रांस की प्रधानता के समान थी। ग्रेट ब्रिटेन ने सोचा कि वह योरुपीय मामलों पर नियंत्रक प्रभाव को पुन प्राप्त कर सकता था, जो इसे उन्नीसवीं शताब्दी में प्राप्त था। उस उद्देश्य के प्रति इसने उस शक्ति-आकृति को पुनर्स्थापित करने का यत्न किया जो उस काल मे विद्यमान थी अर्थात् योरुप महाद्वीप का वह शक्ति-सन्तुलन, जिसका धारक ग्रेट-ब्रिटेन था। इस लिए अन्तर्राष्ट्रीय सघ के दूसरे प्रमुख सदस्य के नाते इस की नीतियां 1919 की यथापूर्व-स्थिति को सम्भव सीमाओं मे नीचे ले जाने की ओर अग्रसर थी, जिसे ब्रिटेन ने सोचा कि ऐसा वह इच्छानुसार निर्धारित कर सकेगा। ब्रिटिश विदेश-नीति के इस ध्येय को केवल फ्रांस को दुर्बल बना कर प्राप्त किया जा सकता था।

ब्रिटिश और फ्रांसीसी धारणाओं और नीतियों के इस सघर्ष ने तो भी राष्ट्र-सघ को समाप्त नहीं किया जैसाकि ग्रेट ब्रिटेन और रूस के सघर्ष ने धार्मिक सश्रय को किया था। इसने सघ के राजनीतिक कार्यों मे लकवा पैदा किया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति के प्रति बने खतरे के विरुद्ध निश्चित कार्यवाही करने की अयोग्यता उत्पन्न की। इसका परिणाम फ्रांसीसी धारणा पर ब्रिटिश धारणा की विजय मे हुआ। ग्रेट-ब्रिटेन और फ्रांस मे शक्ति वितरण इस घटना के लिए उत्तरदायी थी।

फ्रांसीसी सर्वश्रेष्ठता का तट तीसरी दशाब्दी के मध्य मे जर्मन-बल के विकास के अनुपात में सकुचाने लगा—पहले-पहल धीरे और अति सूक्ष्म रूप म और फिर हिटलर के सत्ताधारी होने के पश्चात् तीव्र गति से। 1919 मे फ्रांस ने राईन के बायें तट लेने, ग्रेट ब्रिटन और सयुक्त-राज्य के साथ सश्रय-सधियां करने का यत्न किया। फ्रांस किसी एक को प्राप्त न कर पाया। यह केवल अपनी सैनिक शक्ति म दो वस्तुए जोड पाया जो इसकी भीतरी दुर्बलताओं को जर्मन शक्ति की सबलताओं की तुलना मे कठिनाई से छिपाती थी। एक जोड पोलैण्ड, चेकोस्लावेकिया और रूमानिया के साथ सश्रय और योगोस्लाविया के साथ मित्रता-सधि थी। ये राष्ट्र अधिकतम मध्यम राज्य थे। यदि सब नहीं पर कुछ का सैनिक रूप मे अधिक मूल्य लगाया गया, पर उनपर निर्भर नहीं किया जा सकता था कि वे सदा सयुक्त रूप मे काय करेंगे। दूसरा जोड 1925 की लोकारनों सधियां थी जिसने फ्रांसीसी-जर्मन सीमा को ग्रेट ब्रिटेन और सयुक्त गारंटी के अधीन रखा, तो भी फ्रांस ऐसी गारटी जर्मन-पोलैण्ड सीमा के लिये प्राप्त करने मे अयोग्य रहा और न ही वह सामूहिक सुरक्षा की स्वचालित प्रणाली के लिए ब्रिटिश समर्थन प्राप्त करने मे सफल रहा, जो राष्ट्र-सघ की प्रसविदा मे छूट छिद्रों को भर देती।

ऐसी परिस्थितियों में अल्पकाल में प्रधान शक्ति के रूप में और दीर्घकाल में असाध्य दुर्बलता के रूप में फ्रांस मध्य बीसवीं शताब्दी में राष्ट्र-संघ के अन्दर अपनी नीतियों में शुरू से संकोच के साथ और तीसरी दशाब्दी में बिना विकल्प के ब्रिटिश नेतृत्व का अनुसरण करने लगा।[6] तब तक अपने निर्णय और स्पष्ट दुर्बलता के कारण फ्रांस अपने आप प्रसंविदा के उन उपबन्धों को लागू करने के अयोग्य था, जिनके द्वारा संघ अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बनाए रखने और युद्ध की रोक थाम के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सरकार का कार्य कर सकता था। फ्रांस में स्वयं इतनी शक्ति नहीं थी कि वह संघ से ऐसा कार्य करा पाए। उस कार्य को करने का अर्थ योरुपीय महाद्वीप पर बिना विरोध फ्रांसीसी श्रेष्ठता को निरन्तर बनाए रखना ही सकता था, जिसे समाप्त करने का ग्रेट-ब्रिटेन निश्चय कर चुका था। इस प्रकार ब्रिटिश धारणाओं और नीतियों ने राष्ट्र संघ के सरकारी कार्यों पर अपनी छाप छोड़ी।

राष्ट्र-संघ की तीन दुर्बलताएं

यह कहना ठीक नहीं कि राष्ट्र संघ ने सरकारी काम नहीं किए। राष्ट्र संघ ने दो इलाकों का शासन चलाया—सार बेसिन और डेनजिग का। प्रसंविदा की धारा 22 के मूलपाठ के अनुसार वास्तव में अपेक्षाकृत[7] जब ब्रात अन्तर्राष्ट्रीय

6 1934 में यह प्रवृत्ति थोड़े समय के लिए रुकी जब फ्रांसीसी विदेश मंत्री बारथाओ ने सोवियत संघ के साथ सैनिक मैत्री के लिए मैदान तैयार किया जिसे लागू करने के लिए उसके किसी उत्तराधिकारी को लागू करने का साहस करना पड़ा, जबकि लावल की उस काल में विदेश नीति आशय में काफी अधिक ब्रिटिश-विरोधी थी और महाशक्तियों के साथ अवबोध के पक्ष में थी, तो भी यह 1919 की यथापूर्व स्थिति को दुर्बल करने में ग्रेट ब्रिटेन के समरूप थी।

7 धारा 22 के निम्नलिखित उपबन्ध देखिए "उन उपनिवेशों और इलाकों पर, जो पिछले युद्ध के फलस्वरूप उन राज्यों की सम्प्रभुता के अधीन नहीं रहे, जिनका पहले उन पर शासन था, और जहाँ लोग आधुनिक संसार की कड़ी परिस्थितियों में अपने पाँव पर खड़े नहीं हो सकते वहाँ सिद्धान्त लागू होना चाहिए कि ऐसे लोगों का हित और विकास सभ्यता का पवित्र न्यास है और इस न्यास को निभाने की सुरक्षा का आयोजन प्रसंविदा में होना चाहिए

इस सिद्धान्त को कार्यरूप देने की सर्वोत्तम पद्धति यह है कि ऐसी जातियों के संरक्षण का काम अग्रवर्ती राष्ट्रों को सौंपा जाए, जो अपने साधनों, अपने अनुभवों या अपनी भौगोलिक अवस्था के कारण इस दायित्व को सर्वोत्तम ढंग से निभा सकते हैं और इसे निभाने के लिए इच्छुक हैं और इस संरक्षण का काम उन्हें प्रदेश प्राप्त राष्ट्र की तरह संघ की ओर से करना चाहिए।

"प्रदेश के हर मामले में प्रदेश प्राप्त राष्ट्र को अपने संरक्षण में इलाके के सम्बन्ध में वार्षिक रिपोर्ट देनी पड़ेगी।"

व्यवस्था और शान्ति संरक्षण या पुनर्स्थापन पर आता है यह बहुत कम अवसरों पर शासन करता, जब या तो इसके अपने सदस्यों में महान् शक्तियों के हितों पर कोई प्रभाव न पड़ता या इनके अति प्रभावशाली सदस्यों के सामूहिक हित इसकी आवश्यकता को अनुभव करते।

राष्ट्र संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के रूप में काम नहीं किया जब 1920 में पोलैण्ड ने विलना पर जो लीथुआनिया की प्राचीन राजधानी था अधिकार कर लिया। इसका कारण यह था कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने वाला फ्रांस का अति शक्तिशाली राष्ट्र मित्र था और सोवियत-संघ ने भी संघ के हस्तक्षेप का विरोध किया। परन्तु 1925 में बलगारिया और यूनान के प्रारम्भिक युद्ध को संघ-परिषद् के प्रधान ने सफलता से रोका जिसने पक्षकारियों को तुरन्त युद्ध बन्द करने के लिए तार भेजा। उसे ब्रिटेन और फ्रांस का सक्रिय समर्थन प्राप्त था जिन्होंने मिलकर इस अवसर पर काम किया और यूनान को आक्रमणकारी कार्यवाही न करने देने में विशेष प्रभाव का प्रयोग किया।

राष्ट्र संघ ने तब कार्यवाही करने से इन्कार कर दिया जब 1923 में इटली ने कोर्फू के यूनानी द्वीप का अधिकार में ले लिया। 1931 में जापान के मानचूरिया पर आक्रमण के पश्चात् उसने प्रवर्तन में मिलती जुलती कार्यवाही भी न की और न ही तब जब चीन पर आक्रमण हुआ। शस्त्र अवरोध की सिफारिश के अतिरिक्त 1932 35 में राष्ट्र-संघ ने बोलिविया और पैरागवे में चाको युद्ध को न रोका। 1935 से आगे डेनजिग के इलाके में संघ ने अपना अधिकार बनाए रखने के लिए कुछ न किया और न ही इसने जर्मनी द्वारा वरसाय्स सन्धि के निरन्तर उल्लंघन के विरुद्ध कुछ किया। 1935 36 में इथोपिया पर इटली के आक्रमण पर जो कुछ संघ ने किया जैसाकि हमने देखा है निरर्थकता के कारण न के बराबर था। 1936 39 से स्पेन के गृह युद्ध के अन्तर्राष्ट्रीय परिणामों को नियन्त्रित करने के लिये राष्ट्र ने कुछ नहीं किया। दिसम्बर 1939 में फिनलैण्ड पर आक्रमण करने के लिए संघ ने सोवियत संघ को निकाल दिया। रूस के विरुद्ध स्वीकृतियों को छोड़ते हुए यह अंतिम काम था और संघ का राजनीतिक कार्यवाहियों में सब से अधिक घातक था।

यदि राष्ट्र व संस्था द्वारा पहले से समझौता नहीं हुआ तब प्रश्न प्राप्त राष्ट्र के अधिकार नियंत्रण या प्रशासन को हर विषय में परिषद् द्वारा स्पष्ट परिभाषा अवश्य करनी होगी

एक स्थायी कमीशन का निर्माण किया जाएगा जो प्रश्न प्राप्त राष्ट्रों से वार्षिक रिपोर्ट प्राप्त करेगा और जांच करेगा और परिषद् को आदेश-अनुपालन के सारे विषयों पर सलाह देगा

राष्ट्र-संघ ने किसी प्रमुख युद्ध की रोकथाम नही की और वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था को बनाए रखने मे निष्फल रहा। फ्रांसीसी धारणा पर ब्रिटिश धारणा की प्रधानता के अतिरिक्त इसकी असफलता के तीन कारण हैं : संवैधानिक, संरचनात्मक और राजनीतिक।

संवैधानिक दुर्बलता

राष्ट्र संघ के प्रसंविदा ने इस प्रकार युद्ध को अवैध घोषित नही किया। संघ के सदस्यों को कुछ विशेष परिस्थितियों मे युद्ध करने की आज्ञा नही थी, इसी संकेत से वे इन परिस्थितियों की अनुपस्थिति मे युद्ध कर सकते थे। इस प्रकार प्रसंविदा की प्रस्तावना मे "युद्ध न करने के दायित्व" की स्वीकृति अनुबद्ध" थी। धारा 12 ने आयोजना की कि सदस्यो को "तब तक युद्ध नही करना चाहिए जब तक कि विवाचकों के निर्णय को तीन मास न बीतें।" धारा 13 के अंतर्गत और अनुच्छेद 4 के अन्तर्गत सदस्य सहमत थे" कि वे संघ के उस सदस्य के विरुद्ध युद्ध नही करेगें, जो "झगडे के अदालती निर्णय का अनुपालन करता है, अंत मे मे धारा 15, अनुच्छेद 6 के अनुसार" यदि परिषद् की रिपोर्ट पर झगडे के पक्षो के एक या अधिक प्रतिनिधि को छोड कर सब सदस्य सहमत हैं, तब संघ के सब सदस्य स्वीकार करते हैं कि वे उस झगडे के लिए युद्ध नही करेगें, जिस मे रिपोर्ट की सिफारिश का अनुपालन किया जाता है।

केवल वाद के दो उपबन्धों मे युद्ध-निषेध का आयोजन है जैसाकि जीन रे ने कहा 'हमे विश्वास है कि प्रसंविदा-लेखकों की इस कायरता के गम्भीर परिणाम हैं और यह नवीन प्रणाली को, जिस को बनाने का उन्होने यत्न किया, खतरे में डालती है। क्योंकि प्रतिकूल राय को स्पष्ट रूप मे व्यक्त नही किया गया था, इसे मौन रूप मे स्वीकार किया गया कि युद्ध अन्तर्राष्ट्रीय द्वन्द्वो का सामान्य हल है। कानूनी वास्तविकता के नाते यह दायित्व केवल अपवाद है। उपलक्षित सिद्धान्त तो युद्ध का मार्ग है।[8] यदि सदस्य प्रसंविदा के उपबन्धो का पालन करते, तो वे संघ के मौलिक कानून मे कुछ युद्धो की रोकथाम और दूसरो के वैधीकरण का एक यंत्र पाते।

संरचनात्मक दुर्बलता

तो भी इस संविधानी दुर्बलता ने संघ के वास्तविक कार्यों को प्रभावित नही किया, क्योंकि संघ ने अपने संविधान का अनुपालन नही किया। दूसरी ओर

7 दायित्व के विपरीत फ्रांसीसी मौलिक लख "Certaines Obligations" इस पर अधिक जोरदार है।

8. Commentaire du Pacte de la societe des Nations (Paris. Sirey, 1930), pp 73-4

संघ की संरचनात्मक दुर्बलता का प्रत्यक्ष प्रभाव इसके युद्ध रोकने की असफलता पर है, जो इस के क्षेत्र में छिड़े। यह दुर्बलता उस विषमता में भीतरी शक्ति वितरण और संसार में बाहरी शक्ति-वितरण में निहित थी।

संघ की संरचना उस काल में प्रधान रूप में यूरोपीय थी, जबकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रमुख कारक प्रधान रूप में योरूपीय नहीं थे। दोनों शक्तियाँ—फ्रांस और ब्रिटेन—योरूपीय शक्तियाँ थीं, जो बारी-बारी इस पर छाईं। जापान ही केवल अ-योरुपीय शक्ति थी जो संघ की सदस्य थी। तीसरी और चौथी दशाब्दी में पहले से ही सशक्त राष्ट्रों में संयुक्त राज्य कभी सदस्य नहीं बना और सोवियत संघ राष्ट्र-संघ के घटते वर्षों में 1934 से 1939 तक सदस्य था।

यह सत्य है कि 31 मौलिक सदस्यों में दस योरुपीय थे और बाद में प्रवेश करने वाले 13 राष्ट्रों में केवल सात थे, परन्तु इस संख्या से कहानी का पता नहीं लगता। *एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को जिसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय* व्यवस्था और शान्ति को बनाए रखना है, इस रूप में सार्वलौकिक नहीं होना पड़ता कि संसार के सब राष्ट्र इसको अपनाए पर इस रूप में सार्वलौकिक होना पड़ता है कि सब शक्तिशाली राष्ट्र, जिनसे विश्व-शान्ति को भंग करने की सम्भावना रहती है, इस के क्षेत्राधिकार में हों।

प्रसंविदा की धारा 17 ने इसलिए संघ के क्षेत्राधिकार को सदस्यता का ध्यान न करते हुए, सार्वलौकिक बनाने का यत्न किया। इस ने संघ को अधिकार दिया कि दो राज्यों के झगड़े की स्थिति में, जिस में एक या दोनों संघ के सदस्य नहीं है, संघ असदस्यों को "ऐसे झगड़ों के उद्देश्य के लिए सदस्यों जैसे दायित्व स्वीकार करने के लिए निमन्त्रण दे सकता है, जिसकी यथायोग्य शर्तें परिषद् निर्धारित करे—यदि इस प्रकार से बुलाया गया राज्य सदस्यता के आभारों को स्वीकार करने से इन्कार करे और संघ के सदस्य के विरुद्ध युद्ध करे "तो धारा 16 की शक्तियाँ ऐसे राज्य के विरुद्ध लागू होंगी। यदि झगड़े के दोनों पक्ष सदस्यता के आभारों को स्वीकार नहीं करते तो परिषद् ऐसी कार्यवाही कर सकेगी और ऐसी सिफारशें भी कर पाएगी, जो लड़ाई रोकें और झगड़े के निबटारे में फलीभूत हों"।

धारा 17 के इस अन्तिम अनुच्छेद ने शक्ति-संरक्षण के उद्देश्य से राष्ट्र-संघ को अन्तर्राष्ट्रीय सरकार बनाने का यत्न किया। ऐसी सरकार की सम्भाव्यता पुनः राष्ट्र संघ के सदस्यों में शक्ति-वितरण पर अवश्य निर्भर होगी, जो संगठित रूप में कार्य करते है और जिन राज्यों पर सरकारी कानून लागू होते है। संघ के लिए दो छोटे या मध्यम राज्यों पर अपनी इच्छा ठोंसना कठिन नहीं था। हमें

कल्पना करनी चाहिए कि एक ओर सघ के सदस्य मे झगडा है और दूसरी ओर सयुक्त राज्य या सोवियत सघ या दोनो मे, या दो अतिम शक्तियो में 1919 और 1934 के बीच किसी समय झगडा हुआ, जब उनमे से कोई सघ का सदस्य नही था। ऐसी परिस्थितियो मे सयुक्त-राज्य या सोवियत-सघ या दोनो पर सघ की इच्छा को लादना, सदस्य और ससार के एक या दो अति शक्तिशाली राष्ट्रो मे युद्ध के समान होता, जबकि अनेक असदस्य राष्ट्रवाद वाले पक्ष का साथ देते या तटस्थ रहते। सार्वलौकिक स्तर पर शान्ति-सरक्षण के प्रयास युद्ध की ओर ले जाते,[9] इसलिए कुछ महान् शक्तियो की सदस्यता और दूसरी महा शक्तियो की असदस्यता ने विश्व-व्यापी स्तर पर शान्ति सरक्षण के लिए सघ को शक्तिहीन कर दिया।

महा-शक्तियो की सदस्यता के इस सर्वव्यापक प्रभाव से दो महायुद्धो के मध्यकाल मे ब्रिटिश और फ्रासीसी नीतियो की असफलता के मौलिक कारण का सकेत मिलता है। दोनो देशो की नीतियाँ काल गणना के भ्रम से पूर्ण थी। लुई चौदहवें के काल मे फ्रास की नीतियाँ कदाचित् सफल हो जाती। उस समय शक्ति-सतुलन के प्रमुख भार केन्द्रीय और पश्चिमी योरुप मे स्थित थे और 1919 मे प्राप्त प्रधानता ने फ्रास को महाद्वीप पर अपना स्थायी नेतृत्व स्थापित करने का एक वास्तविक अवसर दिया होता। तो भी शक्ति-सतुलन में रूस के एक मुख्य कारक बनने के पश्चात् नेपोलियन को यह सीखना पड़ा कि योरुपीय महाद्वीप मे नेतृत्व का कम महत्त्व था जबकि पूर्वी योरुप और ऐशिया के अधिकाश भाग के साधन तटस्थ या प्रतिरोधी हो। इस पाठ की ओर योग्य फ्रासीसी राजनयिको ने ध्यान दिया, जिन्होने प्रथम महायुद्ध से पूर्व दो दशियो मे रूस के साथ निकट सम्बन्धो के आधार पर फ्रासीसी विदेश-नीति की नीव डाली। उन के उत्तराधिकारियो ने दो महायुद्धो के मध्यवर्ती काल मे अपनी आशाओ को पूर्वी और दक्षिण पूर्वी योरुप के बलकानी देशो के साथ सश्रय-प्रणाली पर आधारित किया, जो रूस के साथ "विशाल सश्रय" का एक निर्धन प्रतिस्थापक था। 1789 के पश्चात् के वर्षो मे फ्रासीसी शिष्ट जनो के समान क्राति के प्रेत से दुखी से। वे नवीन अन्तर्राष्ट्रीय आकृति के तर्क के सामने झुकने के स्थान पर राष्ट्रीय आत्महत्या करने को तैयार थे।

उस काल मे ब्रिटिश विदेश-नीति काल-गणना के भ्रम से उतनी पूर्ण थी जितनी कि फ्रास की। ग्रेट-ब्रिटेन योरुप के सम्बन्ध मे भीतरी रूप से उतना दुर्बल था जितना जर्मनी के सम्बन्ध मे फ्रास। जो अभिनय रूस ने फ्रास के प्रति खेला, वह उसके

9 पाठक याद रखेंगे कि यह परिस्थिति उस के समरूप है, जो सामूहिक सुरक्षा के सुमंजस प्रयोग का फल है।

समान था, जिसे संयुक्त-राज्य ने और बहुत कम मात्रा में जापान ने ग्रेट-ब्रिटेन के प्रति खेला। वह नीति जो डिसरेली के काल में सर्वदा सफल रही, स्टेनले बाल्डविन के काल में असफल होनी थी। उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटेन का पिछला आंगन सुरक्षित रहा। ब्रिटिश नौसेना का बिना ललकार के समुद्रों पर नियन्त्रण था। तीसरी दशाब्दी में दूसरी महान् नौसैनिक शक्तियाँ उत्पन्न हुईं, जिनमें से संभवत रूप में संसार का अति शक्तिशाली राष्ट्र था। इससे अधिक, हवाई जहाज पहले की अपेक्षा ब्रिटिश द्वीपों को महाद्वीप के अधिक निकट लाये। ऐसी परिस्थितियों में ब्रिटिश विदेश नीति के समक्ष दो विकल्प रखे। यह स्थायी रूप में अपना भार योरुपीय शक्ति-संतुलन की उस तराजू में रख सकती थी, जहाँ अंत में ब्रिटिश हित अति सुरक्षित प्रतीत हुए। यह योरुप में अपने आप को अमरीकी नीति का धूलाग्र बना सकती।[10] ब्रिटिश नीति यदि कोई बात न कर सकी, वह थी श्रेष्ठ पृथक्करण' की नीति। इसको इसने किया।

यह सर्वदा तर्कयोग्य प्रश्न रहेगा कि क्या फ्रांस और ग्रेट-ब्रिटेन के पास सोवियत-संघ और संयुक्त-राज्य द्वारा अपनाई नीतियों के मुकाबले में कोई वास्तविक विकल्प था या नहीं। तो भी यह निस्सन्देह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की कोई सम्भावना नहीं थी, जिसके प्रमुख सदस्यों ने विकल्प से या आवश्यकतावश ऐसी नीतियों का अनुसरण किया, जो संसार में वास्तविक शक्ति-वितरण के पूर्णत विपरीत थी।

राजनीतिक दुर्बलता

यह बात इस धारणा पर भी सच्ची होगी कि राष्ट्र-संघ प्रमुख अनुपात में डराने वाले युद्ध के सामने एक यूनिट के रूप में काम करने के योग्य रहा। वस्तुतः यह अनुमान कभी सिद्ध नहीं हुआ। महा-शक्तियों द्वारा अपनाए भिन्न राष्ट्रीय हित न्याय के सिद्धान्त पर छा गए, जिसकी परिभाषा राष्ट्र-संघ ने यथापूर्व स्थिति के शब्दों में की। 1921 में प्रथम महा-युद्ध के तुरन्त पश्चात् राष्ट्र-परिषद् के चार स्थायी सदस्य अभी तक अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण राजनैतिक मामलों में संगठित होकर काम करने के योग्य थे, जैसाकि आलैण्ड द्वीपों का प्रबलीकरण जिसमें फिनलैण्ड और स्वीडन अन्तर्ग्रस्त थे और अपर सीलेसिया का विभाजन, जो जर्मनी और पोलैण्ड में झगड़े का कारण था। इस आशाजनक शुरुआत के बाद यह केवल फ्रांस और ग्रेट-ब्रिटेन का द्वन्द्व नहीं था, जिसने प्रमुख महत्त्वपूर्ण विषयों पर संघ को सामूहिक कार्य के लिए अयोग्य कर दिया, परन्तु ये थी महा-शक्तियों की पृथक् और सामान्यतः विपक्षी नीतियाँ।

10 यह नोट करने योग्य है कि दूसरे महा-युद्ध की समाप्ति से ग्रेट-ब्रिटेन ने एक समय पर इन दो विदेश नीतियों का अनुसरण किया है।

1925 में, जब जर्मनी ने संघ मे प्रवेश किया, इसने वर्साई की यथापूर्व-स्थिति को दुर्बल करने वाली नीति का अनुसरण किया, विशेषकर राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का एक तेज बारूद के रूप मे प्रादेशिक यथापूर्व-स्थिति की नीवों को तोडने के लिए प्रयोग किया। यह नीति फ्रास और इसके पूर्वी मित्र-राष्ट्रो की नीतियो के प्रतिकूल थी। इसका उद्देश्य पहले छल से, तत्पश्चात् खुले रूप मे योरुपीय महाद्वीप पर उनकी प्रधानता को समाप्त करना था। राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के अतिरिक्त जर्मनी ने बोल्शेविक क्रान्ति और रूसी साम्राज्यवाद का, जिसके प्रेत से पश्चिमी शक्तियाँ दुखी थी, एक हथियार के रूप मे प्रयोग किया, जिसने स्वय अपनी स्थिति को दृढ किया। विकल्प रूप मे अपने आपको बोल्शेविकवाद के विरुद्ध कोट के आकार द्वारा और सोवियत-सघ के साथ मिलने की धमकी द्वारा जर्मनी पश्चिमी शक्तियो से रिआयतें लेने, पोलैण्ड को फ्रास से अलग करने और सघ को शक्तिहीन करने मे प्रवीण था।

अपनी ओर से तीसरी दशाब्दी मे इटली ने ग्रेट ब्रिटेन से मिलती जुलती नीति का अनुसरण किया। इटली ने जर्मनी के विशेष सीमाओ मे, पुनरागमन का स्वागत किया, ताकि इसके द्वारा फ्रास और इसके पूर्वी मित्र राष्ट्रो विशेषकर योगोस्लाविया को दुर्बल बनाया जाए। जब चौथी दशाब्दी मे सघ की नपुसकता स्पष्ट हो गई, इटली ने जर्मनी का वैसा प्रयोग किया जैसा कि जर्मनी ने सोवियत-सघ का किया था। यथाक्रम समान धमकी के रूप मे और मूक भागी के रूप मे इसने ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास के विरुद्ध भूमध्यसागर की प्रधानता के लिए खुली बोली लगाई।

सघ में सोवियत-सघ ऐसे अलग कर दिया गया जैसे यह इस के बाहर हो। राष्ट्र के नाते इसके सशक्त बल ने और इसकी विश्व-क्रान्ति की प्रयोजकता ने इसे पश्चिमी शक्तियो के लिए दोहरी घुडकी के रूप में उपस्थित किया। इटली के विरुद्ध अनुशास्ति को छोड कर 1934-1939 के महान् सकटो मे किसी एक पर भी सामूहिक कार्यवाही करना फ्रास, ग्रेट ब्रिटेन और सोवियत-सघ के लिए असम्भव हो गया। उन सारे सकटो मे पश्चिमी शक्तियो और सोवियत-सघ ने अपने आप को विरोधी दलो मे पाया, यहाँ तक कि जब 1939 मे जर्मनी ने दोनो— सोवियत-सघ और पश्चिमी शक्तियो—को युद्ध की धमकी दी कि वे निवारक कार्य पर सहमत होने मे अयोग्य रहे। बदले मे प्रत्येक पक्ष ने दूसरे पक्ष को प्रहार की घुडकी देने मे विचलित करने का यत्न किया। एक ही समय पर दोनो के विरुद्ध युद्ध छेडने की केवल हिटलर की मूर्खता थी, जिसने इन सब बातो के होते हुए भी उन्हें मित्र-राष्ट्र बनाया।

अत मे, जापान जो 1922 की ठोमी हुई सधियो के नीचे तिलमिला रहा था, उस घडी की तैयारी मे था, जब यह दूर पूर्व में अपनी प्रधानता स्थापित कर सके।

जापान केवल ऐसा दूर पूर्व में ग्रेट ब्रिटेन और सयुक्त-राज्य को उनकी स्थिति से हटा कर और चीन के 'द्वार बन्द कर' के कर सकता था, जिसे पारम्परिक नीति के नाते ग्रेट ब्रिटेन और सयुक्त-राज्य ने सब राष्ट्रो के लिये खुला रखने का आग्रह किया था। इस प्रकार जब जापान ने 1931 मे मानचोरिया पर आक्रमण कर दूर पूर्वी साम्राज्य को स्थापित करने की ओर पहला कदम उठाया, इसके लिए राष्ट्र-सघ के दो प्रमुख सदस्यो, फ्रास और ग्रेट ब्रिटेन, के साथ सघर्ष मे आना अनिवार्य था। इसका व्यगात्मक महत्व है कि जापान ने अपनी प्रधानता स्थापित करने मे राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त का वैसा प्रयोग किया, जिसके प्रयोग से फ्रास और ग्रेट-ब्रिटेन को सघ में प्रधानता प्राप्त हुई। तो भी न तो जब जापान सघ का सदस्य रहा और न ही 1934 मे इसके त्यागपत्र देने के बाद, ग्रेट ब्रिटेन ने अपने को इतना शक्तिशाली अनुभव किया कि वह चीन के विरुद्ध जापान के आक्रमण को रोकने के लिए प्रभावशाली सामूहिक कार्यवाही मे सघ का नेतृत्व कर पाए।

युद्ध के रोकने मे राष्ट्र-सघ की योग्यता की भविष्यवाणी इसके सदस्यो और विशेषकर महान् शक्तियो की एकता के आधार पर की गई। एकमत-सिद्धान्त' के अतंर्गत झगडे के पक्षकारो को छोड कर सघ का कोई सदस्य कार्यवाही के प्रस्ताव के विरुद्ध वोट देते हुए निर्णय को रद्द कर सकता था। सघ के प्रमुख सदस्यो द्वारा प्रतिरोधी नीतियो के अनुपालन के कारण रोधाधिकार की सम्भावना ने निश्चित सामूहिक कार्यवाही के यत्नो के मार्ग में भी अड़चन डाली। केवल न्याय का अधिभावी सिद्धान्त ऐसी कार्यवाही को सम्भव बना सकता था, जैसाकि हमने देखा है, ऐसा सिद्धान्त प्रथम महायुद्ध मे पराजित राष्ट्रो के विरुद्ध यथापूर्व-स्थिति के सामूहिक सरक्षण और राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के अमूर्त रूप म विद्यमान था।

ठोस क्रिया की माँग करने वाली राजनीतिक अवस्था का सामना करते हुए इन अमूर्त सिद्धान्तो ने अपने आप को सैद्धान्तिक रूप म बदला, ताकि व्यक्तिगत राष्ट्र पृथक् नीतियो का अनुसरण कर सकें। इस प्रकार न्याय के इन अमूर्त सिद्धान्तो ने सामूहिक क्रिया को निर्णय के सामान्य मान और सदर्शक प्रदत्त करने के स्थान पर वास्तव मे व्यक्तिगत राष्ट्रो की प्रतिरोधी नीतियाँ को दृढ करते हुए अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता को दृढ किया। तब राष्ट्र-सघ की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था और शान्ति बनाए रखने की अयोग्यता इस बात का अनिवार्य परिणाम थी कि सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राष्ट्रो की आचार-नीति और राजनीति राष्ट्र-सघ की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के नैतिक और राजनैतिक उद्देश्यों पर प्रधानता स्थापित करने के योग्य थी।

अट्ठाईसवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय सरकार : संयुक्त-राष्ट्र

संयुक्त राष्ट्र के संविधानी कार्यों और वास्तविक परिचालन को समझने के लिये यह आवश्यक है कि चार्टर के संविधानी उपबन्धों और जिस प्रकार अप्रत्याशित राजनीतिक परिस्थितियों के दबाव में संयुक्त-राष्ट्र के अभिकरणों ने चार्टर के अधीन वास्तव में अपने कार्यों का सम्पादन किया है, इनमें तीव्र रूप से प्रभेद किया जाए। संयुक्त-राज्य की सरकार के समान, संयुक्त-राष्ट्र की सरकार को भी केवल तब समझा जा सकता है, जब संविधान के उपबन्धों को राजनीतिक व्यवहार की वास्तविकताओं के समक्ष रखा जाये। संविधानी कार्य एवं वास्तविक सम्पादन का इस प्रकार का पृथक विश्लेषण केवल संयुक्त-राष्ट्र के अभिकरणों द्वारा सम्पादित विशेष राजनीतिक कार्यों में ही नहीं, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में संयुक्त-राष्ट्र की प्रकृति में भी एक महत्त्वपूर्ण रूपान्तरण प्रदर्शित करता है।

चार्टर के अनुसार संयुक्त-राष्ट्र

महान् शक्तियों द्वारा सरकार

अपने संविधानी संगठन में संयुक्त-राष्ट्र, राष्ट्र-संघ के समान है। इसके भी तीन राजनीतिक अभिकरण हैं महासभा, जिसमें संयुक्त-राष्ट्र के सभी सदस्य हैं, संगठन की राजनीतिक कार्यपालिका के रूप में सुरक्षा-परिषद्, तथा सचिवालय। तथापि महासभा एवं सुरक्षा-परिषद् के बीच कार्यों का वितरण राष्ट्र-संघ की परिषद् एवं सभा के बीच के वितरण से स्पष्ट रूप से भिन्न है। महान् शक्तियों द्वारा सरकार की ओर प्रवृत्ति, जो पहले ही राष्ट्र-संघ में सुस्पष्ट थी, संयुक्त-राष्ट्र में कार्यों के वितरण में पूर्णतया छा गई है। यह प्रवृत्ति चार्टर की तीन संविधानी युक्तियों में अभिव्यक्त होती है राजनीतिक मामलों में निर्णय करने की महासभा की असमर्थता, एकमत की आवश्यकता को सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यों में परिसीमित करना, तथा विवादों में पक्षकारों का अपने विरुद्ध प्रवर्तन-सम्बन्धी कार्यवाही को वीटो करना।

जैसा कि हमने देखा है, राष्ट्र-संघ की सभा एक वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय संसद थी, जो राजनीतिक मामलों में अकेले ही अथवा राष्ट्र-संघ की परिषद् के

साथ प्रतियोगिता करते हुए कार्यवाही कर सकती थी । चार्टर की 10 14 धाराओं के अनुसार संयुक्त-राष्ट्र की महासभा के पास राजनीतिक मामलों में सम्बन्धित पक्षकारों को अथवा सुरक्षा-परिषद् को केवल सिफारिशें करने की शक्ति है । अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाए रखने के विषय से यह वाद-विवाद, जाँच, और सिफारिश कर सकती है, परन्तु यह कार्यवाही नहीं कर सकती । इन साधारण कार्यों में भी चार्टर की धारा 12 के अनुसार शर्तें लगा दी गई हैं, जो महासभा को उन मामलों पर सिफारिश करने से भी रोकती हैं, जो सुरक्षा-परिषद् की कार्यसूची में हों । इस प्रकार एक विनिश्चायक-परिषद् एवं एक विनिश्चायक-सभा के समवर्ती अधिकार क्षेत्र का, जो राष्ट्र-संघ की एक प्रमुख विशेषता थी, एक विनिश्चायक-सुरक्षा-परिषद् एवं एक सिफारिश करने वाली महासभा के वैकल्पिक अधिकार-क्षेत्र के द्वारा प्रतिस्थापन कर दिया गया है । जब सुरक्षा-परिषद् किसी मामले पर विचार कर रही हो, तब भी महासभा उस पर बहस कर सकती है, परन्तु यह सिफारिश भी नहीं कर सकती ।

यह युक्ति सुरक्षा-परिषद् को राजनीतिक महत्त्व के मामलों में महासभा के कार्यों को अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रित करने के योग्य बनाती है । किसी मामले को अपनी कार्यसूची में केवल रखकर ही सुरक्षा-परिषद् महासभा का एक ऐसी वाद-विवाद सभा में रूपान्तर कर सकती है, जिसके पास उस मामले पर अपना सामूहिक मत व्यक्त करने का भी अधिकार नहीं होगा ।

महासभा के कार्यों की इस कमी ने संयुक्त-राष्ट्र को एक विभाजित व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है । महासभा दो-तिहाई बहुमत द्वारा सुरक्षा परिषद् के समक्ष एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के समाधान की सिफारिश कर सकती है, जिसकी सुरक्षा-परिषद् अपने निर्णय के अनुसार उपेक्षा कर सकती है । यदि महासभा विश्व के प्राय सभी राष्ट्रों की प्रतिनिधि निकाय नहीं वरन् सीमित सदस्यता की एक सलाहकार निकाय होती तो सुरक्षा-परिषद् का यह स्वनिर्णय कोई गम्भीर बात न होती । स्थिति यह है कि सुरक्षा परिषद् एवं महासभा के बीच कार्यों का वितरण एक संविधानी क्रूरता है । संयुक्त-राष्ट्र एक ही विषय के सम्बन्ध में दो स्वरों से बोल सकता है—एक महासभा के और दूसरे सुरक्षा-परिषद् के, तथा इन दोनों स्वरों के बीच कोई अंगीय सम्बन्ध नहीं है । संयुक्त-राष्ट्र की सम्पूर्ण सदस्यता का दो-तिहाई अथवा अधिक एक सिफारिश कर सकता है, और सुरक्षा-परिषद् के ग्यारह सदस्यों में से सात उस सिफारिश की उपेक्षा कर सकते हैं तथा कोई अन्य निर्णय कर सकते हैं ।

इस संविधानी प्रबन्ध का दोष महान् शक्तियों की प्रबलता में नहीं है, जिसे हमने होली सम्बन्ध और राष्ट्र-संघ में भी वर्तमान पाया था । वास्तव में,

महासभा के अपनी दुर्बलता का प्रमाण देने के अवसर मे ही दोष है। होली सश्रय स्पष्टतया महान् शक्तियो की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार थी। राष्ट्र-सघ उन सभी सदस्य-राष्ट्रो की सलाह एव सहमति के साथ महान् शक्तियो की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार थी, जो सवसम्मति के सिद्धात के कारण तथा प्रसविदा क अनुच्छेद 15 पैरा 10 को छोड़कर अन्तर्राष्ट्रीय सरकार को कार्य करने से रोक सकते थे। सयुक्त-राष्ट्र महान् शक्तियो की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार है, जो अपने सविधानी प्रबन्धो मे होली सश्रय के तथा अपने अपदेशों में राष्ट्र सघ क समान है। यह अपदेश एव सविधानी वास्तविकता क बीच की, चार्टर के द्वारा जागृत की गई लोकतन्त्रीय प्रत्याशाओ एव कार्यों क वास्तविक वितरण क कारण एकतन्त्रीय सम्पादन क बीच की विषमता है, जो सयुक्त-राष्ट्र क सविधानी उपबन्धो की विशेषता है।

तब सयुक्त राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार सुरक्षा-परिषद् की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार क समरूप है। ऐसा प्रतीत होता है कि सुरक्षा-परिषद् हमारे काल का होली सश्रय है। इस प्रकार सुरक्षा-परिषद् की प्रबलता स्थापित करने के पश्चात् चार्टर सुरक्षा-परिषद् मे महान् शक्तिया की प्रबलता स्थापित करने का प्रयास करता है। क्योकि वास्तव मे वे स्थायी सदस्य ही है जिनसे सरकारी कार्यों के सम्पादन की प्रत्याशा की जाती है। हमने देखा है कि सुरक्षा परिषद् के सभी निर्णयो के विषय में सवसम्मति के सिद्धान्त का परित्याग कर दिया गया है तथा सारभूत निर्णयो के सम्बन्ध में इसका सात स्वीकारात्मक मतो की आवश्यकता द्वारा, जिनमें पाँच स्थायी सदस्यो क मत अवश्य होने चाहिये प्रतिस्थापन कर दिया गया है। यदि पाँच स्थायी सदस्या (चीन, फ्रास ग्र ट ब्रिटन सोवियत सघ सयुक्त राज्य) में से कुछ के प्रबल प्रभाव को स्वीकार किया जाय तो उनका एकमत निर्णय सुरक्षा-परिषद् के अन्य सदस्यो के कम से कम दो मतो को सरलतापूर्वक आकर्षित कर लेगा।

तब सयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यो की अविरत एकता पर आधारित है। चार्टर की योजना में ये पाँच सदस्य एक प्रकार से एक विश्व सघ के केन्द्र हैं अर्थात् एक होली सश्रय में एक होली सश्रय। सर्वसम्मति का सिद्धान्त उन तक परिसीमित कर चार्टर उन्हे सयुक्त राष्ट्र की सरकार बना देता है। इसका अर्थ यह है कि यदि एक स्थायी सदस्य की असहमति हो तो सयुक्त-राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार नही होगी।

सरकारी कार्यवाही का महान् शक्तियो का यह एकाधिकार अनुच्छेद 27, पैरा 3 से और भी बढ जाता है। इसके अनुसार किसी विवाद में एक पक्षकार चार्टर के अध्याय 6 के अन्तर्गत केवल विवादो के शान्तिपूर्ण निपटारे के विषय

में मतदान नहीं कर सकता। दूसरे शब्दों में, महान् शक्तियों का वीटो अध्याय 7 के अन्तर्गत प्रवर्तन सम्बन्धी कार्यवाहियों के विषय में लागू हो सकता है। जब एक महान् शक्ति किसी विवाद में एक पक्षकार हो, तब उस महान् शक्ति की अभिवृत्ति की ओर बिना ध्यान दिये हुए सुरक्षा परिषद् धारा 27 पैरा 3 के कारण निर्णय कर सकती है। यदि सुरक्षा-परिषद् इस निर्णय को प्रवर्तित करने का प्रयास करे, तब महान् शक्तियों में से किसी एक की असहमति जो यद्यपि विवाद में एक पक्षकार हो प्रवर्तन सम्बन्धी कार्यवाही में वैध अवरोध खड़ा कर सकती है। इस प्रकार की स्थिति में सुरक्षा परिषद् का निर्णय निष्क्रिय हो जाएगा।

तथापि वास्तव में संयुक्त राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार उससे भी अधिक सीमा तक महान् शक्तियों की सरकार है जितना उपर्युक्त विश्लेषण से प्रतीत होता है। सुरक्षा परिषद् के पांच स्थायी सदस्यों में से केवल दो संयुक्त राज्य एवं सोवियत संघ वास्तव में महान् शक्तियां हैं। ग्रेट ब्रिटेन एवं फ्रांस मध्य शक्तियां हैं, चीन केवल संभाव्य रूप से एक महान् शक्ति है तथा फारमोसा की सरकार जिसे चीन का स्थायी स्थान प्राप्त है राष्ट्र के एक खण्ड मात्र का प्रतिनिधित्व करती है। विश्व राजनीति की वर्तमान परिस्थितियों में सुरक्षा परिषद् के अधिकतर सदस्यों को, जिनमें स्थायी सदस्य भी सम्मिलित हैं संयुक्त राज्य अथवा सोवियत संघ द्वारा अपनाई गई स्थिति का समर्थन करने के लिए आवश्यकता पड़ने पर प्रभावित किया जा सकता है। यदि संयुक्त राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार को इसकी वैध काट छांट से वंचित कर दिया जाए तब यह वास्तव में एक साथ कार्य करते हुए संयुक्त राज्य एवं सोवियत संघ की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार है। बहुत अच्छा परिणाम मानते हुए—यदि उनमें एकता हो—वे व्यवस्था बनाए रखने एवं युद्ध रोकने के उद्देश्य से शेष संसार पर शासन कर सकते हैं। बहुत बुरा परिणाम मानते हुए—यदि उनमें एकता न हो—तो बिल्कुल ही कोई अन्तर्राष्ट्रीय सरकार नहीं होगी।

आदर्श रूप से संयुक्त राष्ट्र संयुक्त राज्य एवं सोवियत संघ की संयुक्त शक्ति के द्वारा संसार पर शासन करने का एक यन्त्र है। तथापि संयुक्त राष्ट्र का चार्टर इस सम्भावना पर विचार नहीं करता कि संयुक्त राष्ट्र संयुक्त राज्य एवं सोवियत संघ के सम्बन्धों में व्यवस्था स्थापित करने अथवा बनाए रखने अथवा उनमें युद्ध रोकने के अभिप्राय से अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के रूप में परिचालित हो। वीटो की युक्ति संयुक्त राज्य एवं सोवियत संघ को उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें एक अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के अधीन करने के प्रयोजन से वर्जित करती है।

न्याय के अनिरूपित सिद्धान्त

न्याय के मान, जो संयुक्त-राष्ट्र के अभिकरणो के निर्णय एव कार्यों का मार्ग-दर्शन करते हैं, तीन स्थानो मे वर्तमान है. प्रस्तावना मे, उद्देश्यो एवं सिद्धान्तो से सम्बन्धित अध्याय 1 मे, तथा चार्टर मे अन्त:कीर्ण। तथापि होली-सम्श्रय एव राष्ट्र-सघ के मूल सिद्धान्तो की तुलना मे न्याय के जिन सिद्धान्तो पर संयुक्त-राष्ट्र का संस्थापन हुआ है, उनमे दो प्रकार के आन्तरिक अन्तर्विरोध है · एक का सम्बन्ध संयुक्त-राष्ट्र द्वारा सम्पादित होने वाले कार्यों की रीति से है, दूसरे का जिन उद्देश्यो के हेतु इन कार्यों का सम्पादन होना है, उन से है।

प्रस्तावना मे "बड़े एव छोटे राष्ट्रो · के समान अधिकारो मे" विश्वास" की पुन: प्रतिज्ञा की गई है, तथा धारा 2, पैरा 1 घोषित करता है कि "इस सगठन का आधार इसके सब सदस्यो की प्रभुसत्तापूर्ण समानता का सिद्धान्त है"। इस सिद्धान्त को अनुच्छेद 2, पैरा 7 के द्वारा सुदृढ किया गया है, जो अध्याय 7 के अन्तर्गत प्रवर्तन-सम्बन्धी कार्यवाहियो का जहाँ तक सम्बन्ध है, उनके अतिरिक्त "उन मामलो को जो अनिवार्य रूप से किसी राज्य के देशीय अधिकार-क्षेत्र मे हो" संयुक्त-राष्ट्र के अधिकार—क्षेत्र से मुक्त करता है। तथापि चार्टर के मुख्य पाठ मे, जिस प्रकार संयुक्त-राष्ट्र की सरचना का वर्णन है, उसका आधार वह है जिसे विरोधाभास से सदस्यो की "प्रभुसत्तापूर्ण असमानता" पुकारा जा सकता है। हमने पहले भी इस तथ्य का उल्लेख किया है कि यदि चार्टर के उपबन्धो के अनुसार संयुक्त-राष्ट्र परिचालित हो, तो इसके सभी सदस्य, जो सुरक्षा-परिषद् के सदस्य नही है, अपनी प्रभुसत्ता से वचित हो जायेंगे तथा केवल नाम रूप मे प्रभुसत्तासम्पन्न रह जायेंगे। इस प्रकार अपने आरम्भिक उपबन्धो में, चार्टर द्वारा उद्घोषित प्रभुसत्तापूर्ण समानता के सिद्धान्त का, कार्यो के वास्तविक वितरण द्वारा, जिसकी व्यवस्था चार्टर ने ही की है, खण्डन हो जाता है।

प्रस्तावना एव अध्याय 1 कार्यवाही के पाँच राजनीतिक उद्देश्यो का वर्णन करते हैं: (1) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा का बनाये रखना, (2) सामूहिक सुरक्षा, (3) "किसी राज्य की प्रादेशिक अखण्डता एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध" शक्ति के प्रयोग का निषेध, तथा सामान्य हित "के लिये, जैसा कि चार्टर मे इसकी परिभाषा की गई है, इसके प्रयोग का प्रारक्षण, (4) "सधियो एव अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्य स्रोतो से उत्पन्न होने वाले दायित्वो के लिये न्याय एव सम्मान" बनाये रखना, तथा (5) राष्ट्रीय आत्म-निर्णय।

इन पाँच उद्देश्यो मे से प्रथम दो सामान्य हैं तथा सहायक प्रकृति के है। ये हमे बताते हैं कि जो कुछ भी संयुक्त राष्ट करता है वह उसे शान्तिपूर्ण एवं सामूहिक सुरक्षा के सिद्धान्त के अनुसार करना चाहिये अन्य तीन सिद्धान्त विशिष्ट एवं ठोस हैं वे हमे बताते है कि संयुक्त राष्ट को क्या नही करना चाहिय। इसे कुछ परिस्थितियो मे शक्ति का प्रयोग करना चाहिये तथा अन्य परिस्थितियो म इसका प्रयोग नही करना चाहिये इसे न्यायपूर्वक तथा अन्तर्राष्टीय कानून के नियमो एवं राष्ट्रीय आत्म निर्णय के सिद्धान्त के अनुसार कार्य करना चाहिये

यह बात महत्त्वपूर्ण है कि प्रथम दो उद्देश्यो को विस्तृत एवं कार्यान्वित करने मे चार्टर अत्यधिक स्पष्ट है (विशेषकर अध्याय 6 एवं 7 से तुलना कीजिये) तथा शेष तीनो के विषय मे यह प्राय मूक है धारा 11 परा 1 एवं धारा 24 परा 2 सामान्य रूप से बतलाते है कि महासभा एवं सुरक्षा परिषद् को अपने विचार विमर्श एवं कार्यवाहियो के लिये उद्देश्यो और सिद्धान्त को मार्ग दर्शक समझना चाहिये। परन्तु न्याय अन्तर्राष्टीय कानून के प्रति सम्मान तथा राष्टीय आत्म निर्णय जैसे शब्दो का ठोस अर्थ प्रत्यक्ष नही है न ही यह प्रत्येक स्थान म तथा सभी कालो म समान होता है अधिकतर मनुष्य अमूर्त रूप में उन शब्दो की एक परिभाषा को स्वीकार करने के लिये तैयार होगे। यह ठोस राजनीतिक परिस्थिति ही है जो इन अमूर्त शब्दो को एक ठोस अर्थ प्रदान करती है तथा इन्हे मनुष्यो के निर्णय एवं कार्यों का मार्ग दर्शन करने के योग्य बनाती है चार्टर के मुख्य पाठ मे कही भी न्याय के सारभूत सिद्धान्त की एक परिभाषा अथवा इसका उल्लेख नही है न ही कोई अन्य स्रोत है जो इन अमूर्त शब्दो को स्पष्ट अन्तर्वस्तु प्रदान करे

अनिरूपित यथापूर्व स्थिति

जब होली सगठन एवं राष्ट्र संघ की स्थापना हुई एक यथापूर्व स्थिति—शक्ति का एक निश्चित वितरण जिसपर अन्तर्राष्टीय सरकार के सभी मुख्य सदस्य सहमत थे—पहले ही वर्तमान थी। वह पूर्ववर्ती राजनीतिक व्यवस्था नींव थी जिसपर अन्तर्राष्टीय सरकार का निर्माण हुआ तथा जिसने न्याय के इसके सिद्धान्तो को ठोस अर्थ प्रदान किया। उस यथापूर्व स्थिति की व्याख्या तथा उसके और विकास के विषय म मत भेद उत्पन्न हो गये। यथापूर्व स्थिति ही जिसे एक सामान्य शत्रु पर सामान्य विजय मे प्राप्त किया गया तथा जिसकी शान्ति की सन्धियो म परिभाषा दी गई सभी सम्बन्धित लोगो के लिये सामान्य प्रस्थान बिन्दु था। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् भावी सन्धि कर्त्ताओ ने इस क्रम को उलटा कर दिया उन्होने पहले यथापूर्व स्थिति को बनाए रखने के अभिप्राय

से एक अन्तर्राष्ट्रीय सरकार का निर्माण किया तथा इसके पश्चात यथापूर्व-स्थिति पर सहमत होने के लिय प्रस्ताव किया। आज तक कोई ऐसा समझौता नही हो सका है।

यह कहा गया है कि पारम्परिक क्रम का यह व्युत्क्रम राजमर्मज्ञता का एक अद्भुत उदाहरण था, क्योंकि इसन सयुक्त राष्ट्र के चार्टर की उस स्थिति से रक्षा की जो राष्ट्र सघ को सयुक्त राज्य सिनेट के हाथो से प्राप्त हुई थी। वरसाई की सन्धि का एक अभिन्न अग होने के कारण, प्रसंविदा उस सन्धि के साथ ही समाप्त हो गई। अकेले खडे रहने के कारण चार्टर पर उस आलोचना का प्रभाव नही पड़ा जो द्वितीय विश्व युद्ध के समझौतो की शर्तों की हुई।

चाहे जैसे भी स्थिति हो, बिना किसी राजनीतिक नीव के, जैसा कि सिद्ध हो चुका है अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की सरचना खड़ी करना एक असफलता है जो विश्व की शान्ति का समाप्त करने और इसे अपने अवशेषो म दफनाने की धमकी देती है। सयुक्त-राष्ट्र एक भवन के समान है, जिसका रूपाकन दो शिल्पियो द्वारा हुआ है, जो दूसरी मजिल की योजनाओं पर तो सहमत हो गये है, परन्तु पहली मजिल की योजना पर नही। उनमे से प्रत्यक पहली मजिल का कक्ष, जैसा वह उचित समझता है, निर्माण करता है, और प्रत्यक दूसरे के प्रयत्नो म विघ्न डालने का पूरा प्रयत्न करता है। परिणाम यह है कि केवल दूसरी मजिल ही रहने योग्य वास-स्थान नही बन पाती है वरन् पूरी सरचना के विघटन की आशका है।

जो यथापूर्व-स्थिति सयुक्त राष्ट्र का राजनीतिक नीव प्रदान करती है, वह समझौत क द्वारा अन्त कालीन एव प्रकृति के द्वारा अस्थायी है। नवीन प्रादेशिक यथापूर्व स्थिति, जो द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त से वतमान है, मुख्य रूप स सैनिक और इसलिय अन्त कालीन है। सयुक्त राज्य एव सोवियत-सघ के सम्बन्धा म यह 1945 क समझौत क अनुसार सैनिक सीमा—रेखा है। दोनो ही पक्षो ने इस सीमा—रेखा का अन्त कालीन स्वीकार किया है। जर्मनी का आन्तरिक सगठन उसी प्रकार अन्त कालीन है, एक एकीकृत जमन राज्य का भविष्य मात्र भी शका म है। जहाँ तक जमनी की पूर्वी सीमाओ का सम्बन्ध है, एक ओर सोवियत-सघ और पोलेंड म, जो दावा करते हैं कि ये सीमाएँ निश्चित रूप से पाट्सडैम समझौत द्वारा निर्धारित कर दी गई हैं, और दूसरी ओर पश्चिमी शक्तियो म, जो इन सीमाओ को अन्त कालीन मानते हैं और इनका अतिम निर्धारण एक शान्ति सम्मलन द्वारा चाहत हैं, मतभद है। यूरोप म केवल प्रादेशिक यथापूर्व-स्थिति ही अन्त कालीन नही है, वरन् इसके अन्त कालीन होने का कारण यह है कि एक निश्चित यथापूर्व-स्थिति क्या होनी चाहिए, इस

सम्बन्ध में मतभेद है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मतभेद समाप्त नहीं हो सकता। सोवियत-संघ चाहता है कि संयुक्त राज्य पश्चिमी यूरोप से पीछे हट जाए संयुक्त-राज्य की इच्छा है कि रेड आदमी सोवियत संघ की सीमाओं के अन्दर लौट आए।

जो यूरोप के विषय में सत्य है, वह बहुत सीमा तक एशिया के विषय में भी सत्य है। वियतनाम एवं कोरिया में, पूर्व एवं पश्चिम के बीच की सीमा सैनिक सीमा निर्धारण की अन्तकालीन रेखा द्वारा बनाई गई है। फारमोसा की स्थिति बिल्कुल ही अन्त कालीन है तथा राष्ट्रों के लोकसमाज के बाहर साम्यवादी चीन की स्थिति भी निश्चित रूप से ही अन्त कालीन होगी। इसमें अफ्रीका में उपनिवेश विरोधी विद्रोह तथा भारतवर्ष, इन्डोनेशिया, तथा अरब देशों जैसे राष्ट्रों की तटस्थ, असमर्पित स्थिति मिला दीजिये जिनकी निष्ठा के हेतु दोनों गुटों में प्रतियोगिता होती है, और आपको यथापूर्व स्थिति की उस अन्तर्निहित अस्थिरता का माप मिल जाएगा जिसपर संयुक्त-राष्ट्र का निर्माण हुआ है।

स्टेटिन से मुकडेन तक यथापूर्व-स्थिति अनिश्चित है तथा संयुक्त राज्य एवं सोवियत-संघ ऐसे निपटारों को प्रोत्साहन देते हैं, जो पारस्परिक रूप से एकान्तिक है। तथापि यही दो राष्ट्र है जिनके इस समझौते पर कि यथापूर्व स्थिति क्या होगी तथा इसका प्रवर्तन कैसे होगा संयुक्त राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार निर्भर है। संयुक्त-राष्ट्र यह समझौता नहीं करवा सकता। यह इसकी पूर्वकल्पना करता है। क्योंकि इस प्रकार का समझौता संयुक्त-राष्ट्र के जीवन-विस्तार में कभी वर्तमान नहीं रहा है, संयुक्त-राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार जैसे इसे चार्टर ने निर्धारित किया है निष्क्रिय बन गई है।

संयुक्त राष्ट्र राजनीतिक वास्तविकता

संयुक्त राष्ट्र की महासभा का उदय एवं पतन

संयुक्त-राष्ट्र की संविधानी योजना का निर्माण तीन राजनीतिक पूर्व-अनुमानों पर हुआ था। प्रथम, महान् शक्तियां एकतापूर्वक कार्य करते हुए शान्ति एवं सुरक्षा पर किसी भी धमकी पर बिना इसके स्रोत का ध्यान किए हुए विचार करेंगी। द्वितीय, उनका संयुक्त प्रज्ञान एवं शक्ति बिना युद्ध किए ऐसी सभी धमकियों का सामना करने के लिए पर्याप्त होंगे। तृतीय ऐसी कोई धमकी महान् शक्तियों में से ही किसी से उत्पन्न नहीं होगी। ये पूर्व अनुमान अनुभव की परीक्षा में सफल नहीं हुए हैं। जब महान् शक्तियों के भिन्न हितों का प्रश्न उठा है उन्होंने एकतापूर्वक कार्य नहीं किया है। इसे हम दूसरे ढंग से इस प्रकार कह सकते हैं कि केवल विरल एवं अपवादात्मक परिस्थितियों में व

एकतापूर्वक कार्य करने में समर्थ हो सके हैं। और विश्व की शान्ति एवं सुरक्षा को प्रमुख चुनौती महान् शक्तियों से ही मिलती है। इस प्रकार चार्टर की संविधानी योजना की युद्ध के पश्चात् के विश्व की राजनीतिक वास्तविकता द्वारा अवज्ञा हुई है।

संयुक्त-राज्य एवं सोवियत-संघ के बीच के संघर्ष ने संयुक्त-राष्ट्र को महान् शक्तियों की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार बनने से, जो कि चार्टर का मन्तव्य था, रोका है। उस संघर्ष ने सुरक्षा-परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के एक अभिकरण के रूप में शक्तिहीन कर दिया है। कुछ उदाहरणों में जब यह अभिकरण के रूप में कार्य कर सकी है, यह ऐसा करने के योग्य सोवियत-संघ की आकस्मिक एवं अस्थायी अनुपस्थिति के कारण हुई है, जैसा कि कोरिया युद्ध के प्रारम्भ में हुआ अथवा हितों के आकस्मिक एवं अस्थायी संपात के कारण, जैसाकि इन्डोनेशिया एवं स्वेज्र के प्रश्नों पर हुआ।

संयुक्त-राज्य एवं सोवियत-संघ के विश्व-व्यापी हित एवं वचन यह अपरिहार्य कर देते हैं कि प्रायः प्रत्येक प्रश्न में जो सुरक्षा-परिषद् के समक्ष आया है अथवा आ सकता है, दोनों ही महान् शक्तियों के हित एवं वचन किसी न किसी प्रकार अन्तर्ग्रस्त होते हैं। इस अन्तर्ग्रस्तता ने साधारणतया, समझौता असम्भव कर दिया है तथा सुरक्षा-परिषद् में मतदान में साधारणतया, सोवियत-संघ प्रश्न के एक ओर रहता है और बहुमत दूसरी ओर। ऐसा प्रतीत होता है कि तब वीटो के साधन के द्वारा ही अल्पमत महान् शक्ति से सम्पन्न बहुमत से अपनी असहमति व्यक्त करता है तथा एक विरोधी बहुमत से अपने हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने से उनकी रक्षा करता है।

सुरक्षा-परिषद् का प्रायः निर्बलता में पतन इसकी क्रियाओं के मात्रात्मक पतन तथा महासभा की क्रियाओं में अनुरूपी वर्धन से प्रदर्शित होता है। चार्टर के अभिप्रायों के अनुसार सुरक्षा परिषद का प्रारम्भ संयुक्त-राष्ट्र के प्रमुख राजनीतिक अंग के रूप में हुआ। तथापि 1 जुलाई, 1948 के पश्चात् इसका महत्त्व महासभा की तुलना में स्थिरतापूर्वक कम होता गया है, तथा 1 जुलाई, 1951 में एकान्तिक शब्दों में भी इसका तीव्रता से पतन हुआ है।

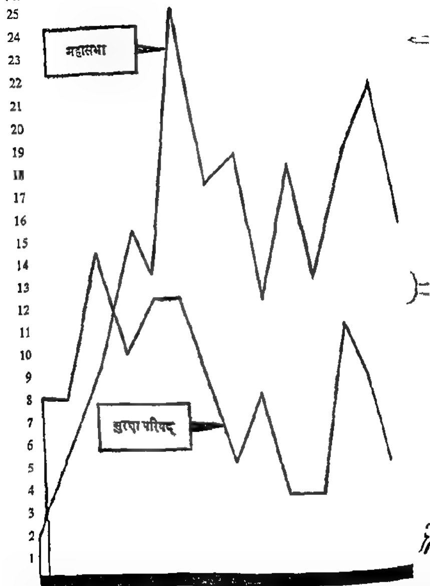
यह पतन 1949 से सुरक्षा-परिषद् के अधिवेशनों की संख्या में तीव्र घटाव से और भी स्पष्ट हो जाता है, साधारण रूप से यह घटाव जिन राजनीतिक प्रश्नों पर विचार हुआ है, उनकी संख्या में कमी के अनुरूप है। 1946 में परिषद् की 88 बैठकें हुईं, 1947 में 137, 1948 में 168, 1949 में 62, 1950 में 73, 1951 में 39, 1952 में 42, 1953 में 43, 1954 में 32, 1955 में 23,

1956 मे 51, 1957 मे 48, 1958 मे 36। इस प्रकार लन्दन इकानोमिस्ट 18 जनवरी, 1958 मे आलकारिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए यह कह सका "परिषद् का सबसे अधिक निर्जीव अस्थि-पजर सयुक्त-राष्ट्र के दृश्य की पृष्ठभूमि मे विस्फोटित चट्टान के समान खड़ा है।"

सयुक्त-राष्ट्र की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की सबसे अधिक प्रभावी शाखा के रूप मे महासभा के श्रेष्ठता की ओर उदय के दो कारण है, महासभा के बहुमत द्वारा पाँच सविधानो युक्तियो का प्रयोग तथा समकालीन विश्व राजनीति की प्रकृति।

महासभा एवं सुरक्षा-परिषद् द्वारा 1 जनवरी, 1946 से 30 जून, 1959 तक विचार किए गए राजनीतिक प्रश्न

काल	महासभा	सुरक्षा-परिषद्
1 जनवरी, 1946—30 जून, 1946	2	8
1 जुलाई, 1946—30 जून, 1947	6	8
1 जुलाई, 1947—30 जून, 1948	9	14
1 जुलाई, 1948—30 जून 1949	15	10
1 जुलाई, 1949—30 जून, 1950	13	12
1 जुलाई, 1950—30 जून 1951	24	12
1 जुलाई, 1951—30 जून, 1952	17	9
1 जुलाई, 1952—30 जून, 1953	18	5
1 जुलाई 1953—30 जून, 1954	12	8
1 जुलाई 1954—30 जून, 1955	18	4
1 जुलाई 1955—30 जून, 1956	13	4
1 जुलाई, 1956—30 जून, 1957	19	11
1 जुलाई, 1957—30 जून, 1958	22	9
1 जुलाई, 1958—30 जून, 1959	15	6
योग	202	119



महासभा और सुरक्षा-परिषद् के द्वारा विचार किए गए राजनीतिक मामले

जिन संविधानी व्यवहारों या महासभा ने अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के एक अभिकरण के रूप में अनुसरण किया है, उनमें सुरक्षा-परिषद् की शक्ति कम करने की और महासभा की शक्ति बढ़ाने की प्रवृत्ति रही है। सर्वप्रथम जो नियन्त्रण महासभा की क्रियाओं पर चार्टर की धारा 12, पैरा 1 द्वारा सुरक्षा-परिषद् को दिया गया है, उसकी दो संविधानी युक्तियों द्वारा प्रवचना हो गई है, अनेक मामले गतिरुद्ध सुरक्षा-परिषद् से महासभा के पास एक साधारण बहुमत द्वारा इस पूर्वअनुमान पर हटाये गए हैं कि इस प्रकार का हटाया जाना क्रियाविधि-सम्बन्धी एक मामला है और इसके लिये चार्टर की धारा 27, पैरा 3 के अनुसार सभी स्थायी सदस्यों के एकमत की आवश्यकता नहीं है। अन्य शब्दों में, सुरक्षा-परिषद् ने इस पूर्व अनुमान पर कार्य किया है कि किसी प्रश्न के सुरक्षा-परिषद् से महासभा में हटाए जाने में बहुमत निर्णय पर वीटो लागू नहीं होगा।

इसके अतिरिक्त, महासभा ने धारा 12, पैरा 1 की उदारतापूर्वक व्याख्या की है और ऐसे प्रश्नों के सम्बन्ध में भी सिफारिशें की हैं, जो उसी समय सुरक्षा-परिषद् की कार्यसूची पर भी थे। ऐसा पैलस्टाइन एवं कोरिया के प्रश्नों में हुआ। यह क्रियाविधि इस वैध तर्क द्वारा न्यायसंगत बतलाई गई कि उसी प्रश्न के जिस पक्ष पर महासभा विचार कर रही थी, वह सुरक्षा-परिषद् द्वारा विचार किये जाने वाले पक्ष से भिन्न था। यह स्पष्ट है कि यह तर्क धारा 12, पैरा 1 को शक्तिहीन बना देता है, और परिणामस्वरूप महासभा के लिए द्वार खोल देता है कि अपने समक्ष आने वाले प्रायः किसी भी प्रश्न पर वह असीमित अधिकारक्षेत्र प्राप्त कर ले।

शान्ति एवं सुरक्षा-सरक्षण, जिसके लिये अनुच्छेद 24, पैरा 1 के अनुसार सुरक्षा-परिषद् प्राथमिक रूप से उत्तरदायी है, का एक स्वीकारात्मक ढंग से प्राथमिक एवं निश्चित उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर महासभा और भी आगे बढ़ गई। शान्ति के लिये संयुक्तीकरण का प्रस्ताव पास कर, सामूहिक कार्यवाही समिति की स्थापना कर तथा शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के लिये इसे व्यापक सलाहकारी कार्य प्रदान कर महासभा ने यह उद्देश्य प्राप्त किया। जब सोवियत-संघ ने इस प्रस्ताव को अवैध घोषित किया, यह बहुत आगे चला गया, जब इसने यह आरोप लगाया कि 'सामूहिक कार्यवाही समिति' का अभिप्राय सुरक्षा-परिषद् की "प्रवचना" करना था, यह सत्य से बहुत दूर नहीं था। क्योंकि किसी ऐसे प्रश्न पर, जिसमें महान् शक्तियों के भिन्न हित निहित हों, सुरक्षा-परिषद् की अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के एक अभिकरण के रूप में कार्य करने की प्रदर्शित असमर्थता के कारण ही 'सामूहिक कार्यवाही समिति' का अस्तित्व है।

चार्टर के मूलपाठ को ध्यान में रखते हुए महासभा को किसी भी विषय में सुरक्षा-परिषद् का अतिक्रमण करने के योग्य कभी भी नहीं होना चाहिये था, क्योंकि केवल सुरक्षा परिषद् को वैध रूप से बंधनकारी निर्णय करने की शक्ति प्रदान कर तथा महासभा को केवल सिफारिश करने का कार्य देकर चार्टर ने इस प्रकार के अनधिकार ग्रहण के लिये स्पष्टतया अजेय बाधा उपस्थित कर दी है। निर्णय करने की सुरक्षा-परिषद की और भी स्पष्ट असमर्थता ने इन दोनों अभिकरणों की सापेक्ष शक्तियों में एक सूक्ष्म परिवर्तन किया है। इस परिवर्तन ने महासभा की सिफारिशों को कम से कम कुछ मामलों में और निश्चित सीमाओं के अन्दर एक वैधानिक बंधनकारी निर्णय के समान शक्ति प्रदान की है। संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों के एक सारपूर्ण बहुमत ने स्पष्टतया यह अनुभव किया है कि संयुक्त राष्ट्र को कुछ निश्चित मामलों में कार्यवाही करनी चाहिये, तथा सुरक्षा-परिषद् की कार्यवाही करने की अनुपस्थिति में महासभा को उसी प्रकार कार्यवाही करनी चाहिये जिस प्रकार सुरक्षा-परिषद् कार्यवाही करती, यदि उसमें यह समर्थता होती। इसी प्रकार यद्यपि तकनीकी रूप से महासभा केवल सिफारिश कर सकती है, तथापि सदस्यों के एक सारवान् बहुमत ने निश्चित मामलों और निश्चित सीमाओं के अन्दर उन सिफारशों के अनुसार कार्य करने की इस प्रकार प्रवृत्ति प्रदर्शित की है कि जैसे वे वैधानिक रूप से बंधनकारी निर्णय हों।[1]

संयुक्त राष्ट्र के राजनीतिक रूप से प्रबल अभिकरण के रूप में महासभा का रूपान्तरण इसलिए सम्भव हो सका कि सदस्य राज्यों के कम से कम दो तिहाई बहुमत ने इसका समर्थन किया। क्योंकि, यदि कम से कम दो तिहाई बहुमत ने महासभा के समक्ष आने वाली सिफारिशों के पक्ष में मतदान न किया होता, तब यह रूपान्तरण नहीं हो सकता था। यह दो तिहाई बहुमत ही वह यन्त्र है, जिसने यह रूपान्तरण सम्भव किया है, जो रूपान्तरण को तब तक जीवन प्रदान करता है, जब तक वह इसका समर्थन करता है, तथा जो इसकी अन्तर्वस्तु एवं शक्ति निर्धारित करता है। तथा उस बहुमत की संरचना पर ही रूपान्तरण की प्रकृति निर्भर करती है।

1955-56 में बीस नये सदस्यों के प्रवेश के साथ महासभा की सिफारिशों का समर्थन करने वाले बहुमत की संरचना में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। यह तिथि संयुक्त-राष्ट्र के इतिहास में एक परावर्तन-बिन्दु है, जिसके साथ

1 इस सम्बन्ध में यह स्मरण करना चाहिए कि एक असाधारण स्थिति में इटली के उपनिवेशों के प्रश्न पर फ्रांस, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य ने महासभा का निर्णय बंधनकारी मानने के लिए पहले ही समझौता कर लिया था।

एक अवस्था का अन्त तथा दूसरी का प्रारम्भ होता है। यहाँ तक कहा जा सकता है कि उस तिथि के पूर्व का संयुक्त राष्ट्र आज के संयुक्त राष्ट्र से अन्तर्राष्ट्रीय सरकार का एक भिन्न यन्त्र था वह वर्तमान संयुक्त राष्ट्र द्वारा सम्पादित होने वाले कार्यों से भिन्न कार्यों का सम्पादन करने के योग्य था। जो रूपान्तरण संयुक्त राष्ट्र में हुआ है वह राजनीतिक निर्णय के केन्द्र के सुरक्षा परिषद से महासभा में जाने से ही समाप्त नहीं हो गया है। इसने महासभा के अन्दर ही दो विभिन्न प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की रचना की है जिनका निर्माण दो विभिन्न प्रकार के बहुमतों पर हुआ है।

जो बहुमत 1956 के अन्त तक महासभा की सिफारिशें पास करवाता था, उसका केन्द्र संयुक्त राज्य, पश्चिम यूरोप के राष्ट्र ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अधिकतर सदस्य तथा लैटिन अमरीकन राष्ट्र थे और इसमें उनतालीस मत थे। अन्य राष्ट्र इस केन्द्र के द्वारा पास करवाये गये परिवर्तित होने वाले सदनों में एकत्रित होते थे—कभी बहुमत के साथ मतदान कर, कभी इसके विरुद्ध, कभी अलग रह कर। सोवियत गुट जिसके पांच मत थे सदा के लिए इससे वर्जित था। यह नवीन संयुक्त राष्ट्र केवल ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सरकार नहीं थी जिसका परिचालन सोवियत गुट के बिना भाग लिए होता था, वरन् यह एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सरकार भी थी जो सोवियत-गुट का उसी प्रकार विरोध करती थी जिस प्रकार सोवियत-गुट इसका विरोध करता था। इसके अस्तित्व का कारण तथा इसका मुख्य राजनीतिक एवं सैनिक उद्देश्य सोवियत गुट के प्रति इसके विरोध में था। अपने उद्देश्य में सोवियत-गुट के विरुद्ध इसे एक महासमय कहा जा सकता है।

संयुक्त राष्ट्र का स्थान चाहे कुछ भी हो, इसकी कल्पना अग्रधर्षण के विरुद्ध महान् शक्तियों की सरकार के एक यन्त्र के रूप में हुई। परन्तु राजनीतिक आवश्यकता के कारण एक निश्चित स्रोत से उत्पन्न वास्तविक एवं सम्भाव्य अग्रधर्षण के विरुद्ध अनेक बड़ी एवं छोटी शक्तियों का यह एक यन्त्र बन गया। अपने चार्टर के अनुसार संयुक्त-राष्ट्र अमूर्त रूप से अग्रधर्षण के विरुद्ध कहीं भी किसी भी अग्रधर्षण के विरुद्ध, एक शस्त्र होने को था। राजनीतिक हित की आवश्यकता के कारण यह निश्चित वैयक्तिक अग्रधर्षकों के विरुद्ध जिन्हें उनके कार्यों द्वारा पहिचाना जा सकता था एक शस्त्र बन गया। इस प्रकार जब मार्च, 1953 में 'सामूहिक कार्यवाही समिति' की रिपोर्ट पर विचार विमर्श के समय महासभा में रूसी प्रतिनिधि ने घोषणा की कि शान्ति के लिए संयुक्तीकरण का प्रस्ताव तथा समिति का कार्य संयुक्त राज्य द्वारा किया हुआ सोवियत-संघ के विरुद्ध षड्यन्त्र था, तब उन्होंने जनात्मक भाषा में संयुक्तराष्ट्र की सविरचना एवं

उद्देश्य में मौलिक परिवर्तन की ओर ध्यान आकर्षित किया। और जब अमरीकन प्रतिनिधि ने उत्तर दिया कि वह प्रस्ताव तथा समिति का कार्य किसी के विरुद्ध नहीं वरन् अग्रघषण के विरुद्ध था तब उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वास्तविकता के लिये चार्टर का सैद्धान्तिक आड़ के रूप में प्रयोग करते हुए राजनीतिक वास्तविकता की नहीं, वरन् चार्टर की भावना की शाब्दिक प्रशंसा की।

संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता में प्रारम्भिक पचास से वर्तमान बयासी (82) सदस्यों की वृद्धि ने महासभा में मतदान शक्ति के वितरण में तथा इसके साथ जिन राजनीतिक कार्यों को संयुक्त राष्ट्र महासभा के द्वारा सम्पादन करने में समर्थ हैं उनमें गम्भीर परिवर्तन कर दिया है। सदस्यता में वृद्धि से मतों के वितरण में राजनीतिक रूप से तीन महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। पाश्चात्य-गुट ने, जिसमें 43 मत हैं, सोवियत-गुट के विरुद्ध प्रस्तावों के पक्ष में नियमित रूप से दो-तिहाई बहुमत प्राप्त करने की अपनी क्षमता खो दी है। यद्यपि अभी यह इस सहायता को प्राप्त करने में कभी कभी समर्थ होता है—जैसा कि उदाहरण के लिए हंगरी से परिस्थितियों से सम्बन्धित प्रस्ताव—तथापि जिन राष्ट्रों पर इस की नीतियों को नियमित रूप से समर्थन करने के लिए निर्भर किया जा सकता है उनकी संख्या सम्पूर्ण सदस्यता के एक तिहाई से तो अधिक है, परन्तु दो तिहाई से कम है। परिणाम यह है कि अधिक से अधिक संयुक्त राज्य कुछ नियमित रूप से यह करने की आशा कर सकता है कि अपने समर्थकों के मत रोक कर आपत्ति जनक प्रस्तावों को वीटो कर दे। संयुक्त राज्य अभी भी एक नकारात्मक कार्य कर सकता है अपने हितों के विरुद्ध संयुक्त-राष्ट्र का प्रयोग होने से रोक सकता है। परन्तु अपने हितों की उन्नति करने के स्वीकारात्मक कार्य के लिये अब यह संयुक्त राष्ट्र पर निर्भर नहीं कर सकता।

यद्यपि संयुक्त-राष्ट्र के अन्दर संयुक्त राज्य का प्रभाव इस प्रकार बहुत कम हो गया है, सोवियत गुट का प्रभाव जिसके ९ मत हैं, बढ़ गया है। युद्ध के पश्चात पहली दशाब्दी में सुरक्षा परिषद् एवं महासभा दोनों में ही सोवियत संघ प्रायः निराशापूर्ण अल्पमत में था। सुरक्षा परिषद् में, जैसा कि हमने देखा है, वीटो के प्रयोग के द्वारा यह मतों द्वारा नियमित रूप से पराजित होने के परिणामों से अपनी रक्षा करने में समर्थ हुआ है। महासभा में अपने लिए आपत्तिजनक प्रस्तावों को पास होने से रोकने में यह साधारणतया असमर्थ रहा, क्योंकि अपनी स्थिति का समर्थन करने के लिये यह एक तिहाई से कम सदस्यों पर निर्भर कर सकता था। आज सोवियत संघ के पास अच्छा अवसर है—यद्यपि अभी तक उतना अच्छा अवसर नहीं, जितना संयुक्त-राज्य के पास है—कि यह अपने गुट

के सदस्यों के मतों में अनेक अन्य राष्ट्रों के मत जोड़ ले और संयुक्त मत सदस्यता के एक-तिहाई से अधिक हो जायें तथा इस प्रकार सोवियत-संघ अपने लिए आपत्तिजनक प्रस्तावों को पास होने से रोकने की स्थिति में हो जाए।

मतदान शक्ति के वितरण में यह परिवर्तन इस तथ्य का परिणाम है कि संयुक्त-राष्ट्र की सदस्यता में भारी वृद्धि से प्राथमिक रूप से तथाकथित अफ्रीको-एशियाई गुट के राष्ट्रों को लाभ हुआ है। अफ्रीको-एशियाई गुट में, जिसके सदस्यों की संख्या २६ है संयुक्त-राष्ट्र की सदस्यता के एक-तिहाई से अधिक सदस्य हैं। इस प्रकार यदि यह संयुक्त रूप से मतदान करे, तो यह अपने हितों के विरुद्ध किसी भी प्रस्ताव को वीटो कर सकता है, अथवा अमरीका या सोवियत गुट के साथ मिलकर यह सक्रिय दो तिहाई बहुमत का केन्द्र बन सकता है। तथापि वास्तव में, अफ्रीकी-एशियाई-गुट ने कभी विरलता से ही एक इकाई के रूप में मतदान किया है, इसका मत प्रकारात्मक रूप से विभाजित रहा है, कुछ ने अमरीकन गुट के साथ मतदान किया है अन्य सदस्यों ने सोवियत-गुट के साथ और अनेक मतदान से अलग रहे हैं। परिणामस्वरूप, जहाँ तक संयुक्त-राष्ट्र की समर्थता का महासभा के द्वारा राजनीतिक रूप से कार्य करने का सम्बन्ध है, अफ्रीकी एशियाई-गुट ने अभी तक एक नकारात्मक कार्य का सम्पादन किया है। इसने अपने मत को विभाजित कर इसने सदस्यता के एक-तिहाई से अधिक के वीटो द्वारा साधारण बहुमत की इच्छा का विरोध करने के लिए अमरीकन एवं सोवियत-गुटों की शक्ति में वृद्धि की है। परिणाम यह है कि जाँच, मध्यस्थता तथा महासचिव, उसके प्रतिनिधियों अथवा महासभा की एक समिति द्वारा रिपोर्टों में अधिक निश्चयात्मक कोई भी कार्य करने के लिए प्रस्ताव पास करने में महासभा असमर्थ सिद्ध हुई है।

एकमात्र अपवाद 3 फरवरी, 1957 का प्रस्ताव है, जिसके द्वारा गाजा-पट्टी की सीमाओं तथा टीरान की जलसन्धि की निकटवर्ती तट-रेखा में गश्त लगाने के लिए एक 'संयुक्त-राष्ट्र आपात सनाबल' की स्थापना हुई। तथापि यह कार्यवाही परिस्थितियों की एक अनन्य समलक्षणता के कारण हो सकी संयुक्त-राज्य का एक राजनीतिक प्रश्न पर अपने मुख्य मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध सोवियत-संघ के साथ मतदान करना, संयुक्त-राष्ट्र में इजराइल के हितों के प्रति यदि विरोध नहीं तो सामान्य उदासीनता सिनाई अभियान द्वारा हुई क्षति की पूर्ति की मिस्र की आवश्यकता—इन स्थितियों में से प्रत्येक को व्यापक मतदान की सहायता प्राप्त थी, तथा इनकी समलक्षणता से की जाने वाली कार्यवाही के लिये बहुत अधिक सहायता निश्चित हो गई। इसके साथ-साथ, जिस प्रश्न पर महा-सभा को विचार करना था—इजराइल-मिस्र की सीमा पर दो अत्यधिक

सवेदी स्थानो पर युद्ध के भय को कम करना—उस पर जो सीमित कार्यवाही की गई, वही सम्भव थी।

तबसे महासभा के समक्ष जितने भी प्रश्न आए है, उनमे न तो वैसी कार्यवाही का विभिन्न कारणो से समर्थन करने वाली स्थितियो की समलक्षणता प्रदर्शित हुई और न ही एक सीमित कार्यवाही के लिये ग्रहणशीलता। केवल इसी प्रकार की कार्यवाही करने की सयुक्त-राष्ट्र मे क्षमता है। फलस्वरूप, महासभा को ऐसे घोषणात्मक प्रस्ताव पास करने तक अपने को सीमित करना पडा है, जिन मे अधिक से अधिक कार्यवाही का आभास है, परन्तु उनमे कोई सार नही है। इस आभास को महासचिव के पद ने प्रदान किया है।

चार्टर का अभिप्राय महासचिव को "सगठन का प्रमुख प्रशासन-अधिकारी" बनाना है। वह "किसी ऐसे मामले की ओर सुरक्षा-परिषद् का ध्यान दिला सकता है, जिससे उसके विचार मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा के बने रहने मे सकट उत्पन्न हो सकता है।" और वह "ऐसे अन्य कार्यों का सम्पादन करेगा, जो उसे सयुक्त राष्ट्र के (इन) अगो द्वारा सौंपे जाये।" चार्टर के इसी उपबन्ध से सयुक्त-राष्ट्र के प्रत्यक्ष प्रमुख राजनीतिक प्रतिनिधि के रूप मे महासचिव के नये कार्य व्युत्पन्न होते हैं।

इन नये कार्यों का महासभा की शक्तिहीनता से घनिष्ठ सम्बन्ध है, जिस प्रकार कार्यवाही के लिये महासभा ने जो उत्तरदायित्व ग्रहण किया है, उसका सुरक्षा परिषद् की शक्तिहीनता से घनिष्ठ सम्बन्ध है। और एक पग आगे चलकर कोई यह कह सकता है कि राजनीतिक प्रश्नो के निबटारे का जो भार सम्पूर्ण सयुक्त-राष्ट्र को दिया गया है, वह प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित राष्ट्रो के विशेषकर महान् शक्तियो के पारस्परिक प्रमुख राजनीतिक प्रश्नो का निपटारा करने की असमर्थता का परिणाम है। उदाहरण के लिये प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित राष्ट्र, और विशेषकर महान् शक्तियाँ मध्यपूर्व के राजनीतिक निपटारे पर समझौता करने मे असमर्थ रहे है। इसलिये वे सयुक्त-राष्ट्र को निपटारा करने का दायित्व प्रदान करते हैं। शक्तिहीन सुरक्षा-परिषद् का स्थान लेकर महासभा के सदस्य सामूहिक रूप से निपटारे पर समझौता करने मे उसी प्रकार असमर्थ हैं जिस प्रकार वैयक्तिक राष्ट्रो के रूप मे कार्य करने पर थे। अत: वे महासचिव को एक समाधान ढूँढने का दायित्व प्रदान करते हैं। तथापि परिणाम निश्चय ही सौंपा हुआ कार्य नही, वरन् छिपी हुई अक्रियता होगी।

एक राजनीतिक सघर्ष मे पक्षकारो को एकान्तत. अथवा एक साथ प्रयोग किये जाने वाले चार ढगो द्वारा एक शान्तिपूर्ण निपटारे पर समझौता करने

के लिये बाहरी व्यक्तियो द्वारा अभिप्रेरित किया जा सकता है: उन्हे उन हानियो की धमकी दी जा सकती है, जो सघर्ष के जारी रहने से होने वाले लाभो से महत्व मे सम्भवत: अधिक होगी ; सघर्ष की सफलतापूर्वक समाप्ति से प्रत्याशित लाभो की अपेक्षा उन्हे अधिक लाभो का वचन दिया जा सकता है, प्रत्याशित लाभो एव हानियो तथा दूसरे पक्षकार एव सम्बन्धित तृतीय पक्षकारो के अभिप्रायो एव शक्ति की ओर ध्यान आकर्षित कर उन्हे तर्कनापरक तर्कों द्वारा समझाया जा सकता है, जो निपटारा पहले ही सम्मान-रक्षक एव तकनीकी रूप से सतोषजनक सूत्र के विस्तरण द्वारा सार रूप मे प्राप्त हो चुका हो, उसकी सांसिद्धि की ओर अन्तिम गौण पग बढाने मे उनकी सहायता की जा सकती है। इन चार उपायो मे से प्रथम दो अन्य दो की अपेक्षा, जो अनिवार्य रूप से अप्रधान कार्यों का सम्पादन करते है, बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है।' इससे राजनीतिक प्रतिनिधि के रूप, मे महासचिव की स्थिति की दुर्बलता प्रदर्शित होती है कि उसे साम, धमकी एव प्रतिज्ञा के सबसे अधिक शक्तिशाली यन्त्रो से प्राय पूर्ण रूप से वचित कर दिया गया है तथा अनुनय के प्रयोग तथा सार रूप से पहले ही प्राप्त किये गये समझौतो को निरूपित करने तक उसका कार्य सीमित है।

जैसीकि महासभा की वर्तमान सविरचना है इसकी शक्तिहीनता महासचिव की शक्तिहीनता मे व्यक्त होती है। दोनो ही बातें, व्याख्या, एव निरूपण कर सकते हैं, परन्तु उन धमकियो एव प्रतिज्ञाओ के उत्तोलक (लीवर) पर जो राजनीतिक कार्यवाही की आत्मा है, कोई भी वर्तमान काल मे हाथ नही रख सकता। केवल क्रिया-कलाप के सम्बन्ध मे महासचिव की नवीन श्रेष्ठता, जिन कार्यों को करने की महासभा से प्रत्याशा की जाती है, उन्हे न कर सकने की असमर्थता के फलस्वरूप व्यग्रता का परिणाम है। और महासभा से कार्यवाही की प्रत्याशा, दूसरी ओर, महान् शक्तियो का उन पारस्परिक प्रश्नो का निपटारा करने मे असमर्थता के फलस्वरूप मैराश्य पर रोदन है, जो तब तक युद्ध की धमकी देते रहेंगे, जब तक उनका निपटारा नही होगा। इस प्रकार हैमरशोल्ड की यात्राएँ महासभा के प्रस्तावो के समान उपलब्धि का उतना सदेश नही देती—रोगमुक्ति का तो प्रश्न ही नही उठता—जितना वे रोग की दुस्साध्यता की लक्षण हैं। तथापि उनका अव्यवस्थित तत्रिकाओ पर शान्तिकारक प्रभाव हो सकता है तथा वे चिकित्सा का कार्य कर सकती है, जिससे वर्तमान घाव और बढने से रुक सकते है। वर्तमान काल मे, अन्तर्राष्ट्रीय विवादो के शान्तिपूर्ण निपटारे मे सयुक्त-राष्ट्र यही योगदान वास्तव में देने के योग्य है।

कम से कम कुछ समय के लिये महासभा उसी स्थिति मे है, जिसमे सुरक्षा-परिषद् ने अपने को प्रारम्भ से ही पाया है - यह इस कारण से कार्यवाही करने मे

असमर्थ है कि चार्टर के द्वारा निर्धारित बहुमत का अभाव है। तथापि जबकि सुरक्षा-परिषद् का प्रारम्भ से ही सोवियत-संघ द्वारा वीटो के पहिले से जानने योग्य एवं स्वतः प्रयोग द्वारा शक्तिहीन बना दिया गया था, महासभा की शक्तिहीनता एक गतिशील प्रक्रिया का परिणाम है, जो तीन अवस्थाओं में विभाजित हो सकती है दो-तिहाई बहुमत का अवखण्डन, जिसका संयुक्त-राज्य नेता था दोनों महान् शक्तियों द्वारा अपनी-अपनी नीतियों के समर्थन के हेतु दो तिहाई बहुमत प्राप्त करने की निरर्थक चेष्टा, तथा दोनों महान् शक्तियों द्वारा दूसरे पक्ष की मतदान की शक्ति को कम करने का प्रयास। मतों के लिये अथवा कम से कम सदस्यों को अलग रखने की यह अनवरत खोज—महान् शक्तियों का महासभा में प्रमुख कार्य बन गया है। इसके कारण एक नवीन राजनयिक प्रक्रिया का विकास हुआ है, जिसका महत्व दो प्रकार का है। यह महान् शक्तियों को कम से कम अपनी नीतियों के निरूपण में, छोटे सदस्य-राष्ट्रों की अभिरुचियों का ध्यान रखने के लिये बाध्य करती है तथा इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की तीक्ष्ण धार को कुण्ठित करती है। यह सम्बन्धित राष्ट्रों को अप्रिय निर्णयों के लिये प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व को संयुक्त-राष्ट्र को देने का अवसर प्रदान करती है और इस प्रकार सम्मान-रक्षक एवं सहिष्णु युक्ति का काम करती है।

नई क्रियाविधियाँ

जिस शक्तिशाली राष्ट्र को अपनी नीतियों के निर्वाह के लिये छोटे राष्ट्रों की सहायता की आवश्यकता है, वह कार्यवाही के दो मार्गों में से एक का अनुसरण कर सकता है। यह राजनय के पारम्परिक ढंगों का प्रयोग कर सकता है तथा दुर्बल राष्ट्रों पर प्रत्यक्ष रूप से अपनी उत्कृष्ट शक्ति का प्रभाव डाल सकता है। इस प्रकार अधीन-क्षेत्रों की स्थापना होती है तथा संश्रयों का निर्माण होता है। तथापि एक शक्तिशाली राष्ट्र, जो अपनी नीतियों के लिये संयुक्त-राष्ट्र-महासभा द्वारा सहायता प्राप्त करने का प्रयास करता है, केवल अपनी उत्कृष्ट शक्ति पर निर्भर नहीं कर सकता। यदि उत्कृष्ट शक्ति नीति के उद्देश्यों के हेतु यथेष्ट मत-संख्या प्राप्त करने में असमर्थ है, तो इससे कोई लाभ नहीं होगा। इस प्रकार इसे कार्यवाही के एक भिन्न मार्ग का अवश्य अनुसरण करना होगा, जो महासभा की क्रियाविधियों द्वारा निर्धारित होता है। ये क्रियाविधियाँ तथा संयुक्त-राष्ट्र की नवीन राजनय, जिसका इनसे विकास हुआ है, बड़े और छोटे राष्ट्रों के भेद को कम करती हैं, क्योंकि इन सभी का केवल एक-एक मत है।

यदि एक महान् शक्ति का कार्य पारम्परिक राजनय की प्रक्रियाओं की सहायता से केवल एक संश्रय का निर्माण करना होता, तो वह उस संश्रय के

सदस्यों का चुनाव प्राथमिक रूप से इस दृष्टि से करती कि उनसे उसकी शक्ति में कितनी वृद्धि होगी। परन्तु संयुक्त-राष्ट्र की नवीन राजनय का कार्य अधिक से अधिक राजनीतिक एवं सैनिक शक्ति के साथ एक सश्रय का निर्माण करना नहीं, वरन् अधिक से अधिक मतदान-शक्ति के साथ एक बहुमत प्राप्त करना है। महासभा में भारतवर्ष के मत का उतना ही महत्त्व है, जितना निकारगुआ के मत का है, तथा बर्मा का उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना ग्रेट-ब्रिटेन का है। एक सश्रय का सबसे अधिक शक्तिशाली सदस्य छोटे राज्यों की, जिनके पास शक्ति नहीं है, अभिरुचियों की उपेक्षा कर सकता है तथा केवल उनको रिआयतें दे सकता है, जिनके पास शक्ति है। यदि एक बहुमत निर्माण-प्रक्रिया में हो, तो इसके सबसे अधिक शक्तिशाली सदस्य को सबसे कम शक्ति वाले राष्ट्र की, जिसके मत की आवश्यकता हो, इच्छाओं की ओर भी अवश्य ध्यान देना होगा।

यह तर्कसंगत प्रतीत होता है कि अभी भी बड़े राष्ट्र की शक्ति एवं छोटे राष्ट्र की दुर्बलता स्पष्ट रहती है, क्योंकि बड़ा राष्ट्र शक्ति की हृदयग्राही आवाज में बोलता है, जिसका उत्तर छोटा राष्ट्र दुर्बलता की मन्द आवाज में दे सकता है। तथापि, जबकि शक्ति एवं दुर्बलता का अब भी संयुक्त-राष्ट्र की नवीन राजनय में महत्त्व है, इनका अब उतना महत्त्व नहीं है, जितना पारम्परिक राजनय में था। यही पारम्परिक एवं संयुक्त राष्ट्र की राजनय प्रक्रियाओं में प्रमुख भेद है : संयुक्त-राष्ट्र की राजनय वहाँ अनुनय करने के लिये बाध्य है, जहाँ पारम्परिक राजनय को ध्यान देने की आवश्यकता नहीं थी। इस प्रकार एक महान् शक्ति को ऐसे प्रश्न, जिनपर मतदान होना है, अवश्य उपस्थित करने होंगे कि जिन सदस्यों के मतों की आवश्यकता है, इनको स्वीकार करें। यदि किसी कार्यवाही के द्वारा महान् शक्ति के उद्देश्यों की पूर्ति होनी थी तो अब इस आवश्यकता के कारण उसका दोहरा रूपान्तर हो जाएगा।

सर्वप्रथम कार्यवाही को अवश्य ही इस प्रकार की भाषा में उपस्थित करना होगा कि एक विशेष राष्ट्र के अथवा राष्ट्रों के एक सीमित वर्ग के हित नहीं, वरन् दो-तिहाई बहुमत के प्रत्याशित सदस्यों के सामान्य हित व्यक्त हों। प्रायः राष्ट्रीय नीतियों का अधिराष्ट्रीय नीतियों के रूप में भाषा-सम्बन्धी यह रूपान्तरण केवल सैद्धान्तिक रूप से तर्कसंगत होगा। तथापि प्रचार के उद्देश्य के लिए नहीं, वरन् राजनीतिक सौदों के लेन देन में एक निश्चित शब्दावली का अनवरत प्रयोग सौदों के सार पर भी सूक्ष्म प्रभाव डाल सकता है। क्योंकि निरन्तर प्रयोग होने वाली भाषा सौदे के भागीदारों में ऐसी प्रत्याशाएँ उत्पन्न कर देती है कि सौदे को किसी न किसी प्रकार अवश्य उनके अनुरूप होना होगा अथवा कम से कम यह उनसे पूर्णतः भिन्न नहीं हो सकता।

इस प्रकार यदि एक विदेश नीति, जिसके साथ एक निश्चित राष्ट्र अथवा राष्ट्रों के एक सीमित वर्ग की पूर्णत अभिन्नता स्थापित हो गई है तथा जिसके लिये महासभा के दो तिहाई की व्यापक सहायता की आवश्यकता है, इस प्रकार की व्यापक सहायता प्राप्त करने के हेतु निरन्तर अविखण्डीय रूप मे उपस्थित की जाए तो इसमे सूक्ष्म परिवर्तन भी हो सकता है। इस प्रकार का परिवर्तन प्रायः इतना अधिक नही होगा कि यह प्रारम्भिक राष्ट्रीय नीति द्वारा निर्धारित उद्देश्यो एव ढंगो के विरुद्ध हो। तथापि इसके फलस्वरूप एक राष्ट्रीय नीति की तीव्र धार कुण्ठित हो सकती है, एक अग्रवर्ती स्थिति से यह पीछे हट सकती है, तथा प्रस्ताव की भाषा मे उल्लिखित सिद्धान्तो के प्रकाश मे इसका पुनः निरूपण एव अनुकूलन हो सकता है।

वही परिणाम प्रत्यक्ष एव प्राय अनिवार्य रूप से वार्ताओं से प्राप्त होगा, जिनके द्वारा प्रस्ताव के समर्थन मे दो-तिहाई बहुमत का निर्माण होता है। जिन सदस्यो की सहायता लेने के लिए प्रयास किया जाता है, उनके हितो, शक्ति एव विचारधारा की भिन्नता एक सामान्य अभिभाजक के लिए खोज को आवश्यक कर देती है। यह अभिभाजक राष्ट्रीय नीति के जन्मदाता द्वारा प्रत्याशित परिणामो से निम्न होगा। महासभा द्वारा अधिनियमित कार्यवाही उससे कितनी निम्न होगी, यह आंशिक रूप से सयुक्त राष्ट्र की राजनय के नये ढगो के विभिन्न राष्ट्रों द्वारा प्रयोग मे कुशलता पर निर्भर करेगा। बहुत सीमा तक जो राष्ट्र एक नीति के समर्थन का प्रयास करते है और जिन राष्ट्रो से इस समर्थन की प्रत्याशा की जाती है उनके बीच भौतिक शक्ति का वितरण यह निश्चित करेगा कि पहले राष्ट्र दूसरे राष्ट्रो का समर्थन प्राप्त करने के हेतु कितना झुकेंगे। क्योंकि जिन राष्ट्रो मे ऐसा करने की क्षमता है, वे अपनी शक्ति का लीवर के रूप मे प्रयोग करेंगे, जिसके द्वारा रिआयतें प्राप्त की जा सकें और रिआयतें देने से बचा जा सके। यही पर पुरानी एव नयी राजनय का विलयन होता है।

तथापि कम से कम नीतियो के निरूपण मे सयुक्त-राष्ट्र रिआयतें देने के लिये दो बड़े प्रलोभन देता है इस समय यह कार्यवाही करने मे शक्तिहीन है तथा ऐसी आवाज से बोलता है जो महान् शक्तियो की आवाज से भिन्न प्रतीत होती है और वास्तव मे कुछ सीमा तक भिन्न है भी। इस प्रकार वे राष्ट्र, जिनमे पारस्परिक सघर्ष है, सयुक्त—राष्ट्र के सम्बन्ध मे वह कार्य करने की क्षमता रखते हैं, जो वे पारस्परिक सम्बन्धो मे नही कर सकते—अर्थात् अपनी नीतियो के निरूपण मे, यदि सार मे नही, तो बिना प्रतिष्ठा खोने के भय के रिआयतें करना। ऐसा विशेषकर तब होगा जब सम्मान-रक्षक सूत्र का

प्रस्ताव एक "तटस्थ" राष्ट्र अथवा राष्ट्रों के वर्ग द्वारा रखा गया हो। क्योंकि तब ऐसा प्रतीत होता है कि विवाद में पक्षकार एक दूसरे को नहीं, वरन् महासभा के बहुमत को रिआयतें देते हैं, जिनके नाम पर तटस्थ" राष्ट्र बोलते हुए प्रतीत होते हैं। इसके विपरीत इन परिस्थितियों में रिआयतें देने से इन्कार शत्रु के विरुद्ध किसी की अपनी उचित स्थिति की उतनी रक्षा नहीं, वरन् "मानवता की ही राजनीतिक आवाज" की अवज्ञा प्रतीत होती है। परिचालन संस्था के अस्तित्व मात्र से ही महासभा के प्रभाव चाहे कितने ही सूक्ष्म एवं नगण्य क्यों न हों, वे निश्चय ही वर्तमान है तथा सम्बन्धित राष्ट्र उनका ध्यान रखते हैं।

सम्मान-रक्षक सूत्र के अभिकल्पी के रूप में महासचिव तटस्थ राष्ट्रों एवं 'मानवता की राजनीतिक आवाज' दोनों का ही मानवीकरण करता है तथा इनके द्वारा महासभा में डाले जाने वाले प्रभावों में भाग लेता है। तथापि उसके पास दो और युक्तियाँ हैं, जो उसे अनुकूल परिस्थितियों में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष कम करने की क्षमता प्रदान करती हैं। एक उसके पद का कार्य है तथा यह उसके वास्तविक दबाव का एकमात्र उपाय है। वह एक अनिच्छुक पक्षकार को चेतावनी दे सकता है कि वह स्थिति को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा का चुनौती के रूप में महासभा के समक्ष लाएगा तथा यह निर्धारित करेगा कि दाय किसका है। ऐसा करने से वह उन प्रभावों को कार्यान्वित करने की धमकी देता है जो महासभा को बीच-बचाव करने एवं तनाव कम करने में समर्थ बनाते हैं तथा जिनका हम उल्लेख कर चुके हैं।

दूसरा यन्त्र, जो महासचिव के पास है वह उसके व्यक्तित्व का कार्य है तथा पूर्णतः अनुनय के क्षेत्र में है श्री हैमरशोल्ड का कार्यकाल यह प्रभावपूर्ण रूप से प्रदर्शित करता है कि महासचिव के शान्ति को प्रोत्साहन देने वाले कार्य उस पद को धारण करने वाले व्यक्ति के बौद्धिक एवं नैतिक गुणों पर कितना निर्भर करते हैं। केवल श्री हैमरशोल्ड के ही व्यक्तित्व का मनुष्य उतना कार्य करने का प्रयत्न करेगा, जितना उन्होंने इस सम्बन्ध में किया है और उतनी सफलता प्राप्त करेगा, जितनी उन्होंने प्राप्त की है।

अनिश्चित प्रश्नों की वृहत् संख्या को देखते हुए यह कहना उचित होगा कि जो उन्होंने प्राप्त किया है वह बहुत कम है तथा यह निर्णय सम्पूर्ण संयुक्त राष्ट्र के विषय में लागू हो सकता है। परन्तु उन परिणामों की बहुलता देखते हुए जिनसे ये अनिश्चित प्रश्न केवल वैयक्तिक राष्ट्रों को ही नहीं, वरन् सभ्यता को ही चुनौती बन गये हैं, यह अवश्य कहना चाहिये कि जो

थोडी सफलता सयुक्त राष्ट्र ने प्राप्त की है, वह कुछ न होने से कहीं बढकर है।

संयुक्त-राष्ट्र एवं शान्ति की समस्या

चार्टर द्वारा स्थापित सयुक्त-राष्ट्र यह मान लेता है कि महान् शक्तियो मे सदा एकता रहेगी। फलत महान् शक्तियो की सरकार के यन्त्र द्वारा मध्यम श्रेणी के एव छोटे राष्ट्रो मे शान्ति-सरक्षण ही इसका मुख्य कार्य है। नवीन सयुक्त-राष्ट्र यह मान लेता है कि दो अतिप्रबल शक्तियो मे एकता का सदा अभाव रहेगा। फलत शीत युद्ध का कुशलतापूर्वक प्रारम्भ करने के अभिप्राय से अपने सदस्यो के साधनो एव नीतियो मे समन्वय करना इसका मुख्य कार्य है। चार्टर के सयुक्त-राष्ट्र का इस भ्रान्ति से जन्म हुआ था कि महान् शक्तियो के बीच शान्ति रहना निश्चित है, नवीन सयुक्त-राष्ट्र का अस्तित्व शीत युद्ध की वास्तविकता के कारण है। चार्टर के सयुक्त-राष्ट्र का विचार था कि इसे पहले से स्थापित शान्ति का केवल सरक्षण करना है, नवीन सयुक्त-राष्ट्र एक ऐसी शान्ति उत्पन्न करना चाहता है, जो केवल एक इच्छा एव भ्रम के रूप मे वर्तमान थी।

नवीन सयुक्त-राष्ट्र शान्ति-सरक्षण मे जो योगदान देने के योग्य है, वह चार्टर के सयुक्त-राष्ट्र द्वारा दिये जाने वाले योगदान से पूर्णत भिन्न है। ऐसा कोई प्रमाण नही है जिससे यह प्रदर्शित हो कि सयुक्त-राष्ट्र ने कोई युद्ध रोका है। तथापि इस बात का सुस्पष्ट प्रमाण है कि इसने तीन युद्धो के काल को कम करने मे वास्तविक योगदान दिया है 1949 मे इन्डोनेशिया मे, 1949 मे पैलस्टाइन मे तथा 1956 मे मिस्र मे। इन परिणामो को प्राप्त करने मे यह इसलिए सफल हुआ है कि जिस प्रकार चार्टर मे परिकल्पना की गई थी, उसी प्रकार इन युद्धो के काल को कम करने मे महान् शक्तियो का सामान्य हित निहित था अथवा कम से कम किसी भी महान् शक्ति का इन्हें जारी रखने मे हित नही था। समान परिस्थितियो मे युद्ध के काल को कम करने के इसी प्रकार के कार्य के सम्पादन मे सयुक्त-राष्ट्र पुन सफल हो सकता है।

यह तथ्य मात्र ही कि चार्टर द्वारा निर्मित प्राय रिक्त ढाँचे मे पाश्चात्य सश्रय का सोवियत गुट के साथ सह-अस्तित्व है, महत्त्वपूर्ण है। यह सयुक्त-राष्ट्र को शान्ति सरक्षण मे योगदान देने के योग्य बनाता है। क्योकि जब तक एक ही अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के अन्दर दोनो गुटो का सह-अस्तित्व रहेगा और असमर्पित राष्ट्र इनके बीच आगे पीछे होते रहेगे, तब तक सयुक्त-राष्ट्र का

विश्व व्यापकता का तथा बडे छोटे सभी राष्ट्रो म शान्ति बनाए रखने का दावा युक्तिसगत प्रतीत होगा। और पूव एव पश्चिम के प्रतिनिधियो का परस्पर निजी सम्बन्ध स्थापित रखने का अवसर प्राप्त रहेगा। जिससे संघर्षो क निपटारे मे अथवा इन्हे शान्त करने मे सहायता प्राप्त होगी।

इस अवसर की इतिहास के ऐस काल मे अवहेलना नही करनी चाहिये जब पूव एव पश्चिम मे राजनयिक सम्बन्ध बहुत कम रह गये है। आज तो राजनयिक वार्ताएँ शीत युद्ध के प्रारम्भ के पूव की भाति प्रतिदिन नही होती, वरन् ये विरल एव सनसनीपूण हो गई हैं। तब संयुक्त राष्ट्र जो योगदान शान्ति सरक्षण मे दे सकता है वह एक ही अन्तर्राष्ट्रीय सगठन मे दो गुटो के सह अस्तित्व द्वारा पारम्परिक राजनय की प्रक्रियाओ के पुनरारम्भ क लिए प्रदान किये अवसर से लाभ प्राप्त करने पर निभर करेगा। इस प्रकार संयुक्त-राष्ट्र राजनय की पुरानी प्रक्रियाओ के लिए एक नवीन स्थान बन जाएगा। जैसाकि 1955 की अपनी वार्षिक रिपोट म महासचिव ने कहा

तनाव अविश्वास एव भ्रम को कम करने के लिये तथा सामान्य हित के नवीन क्षेत्रो की खोज मे संयुक्त राष्ट्र सबसे अधिक प्रतिनिधिक यन्त्र क रूप मे, जो वास्तविक सम्भावनाए प्रस्तुत करता है उनका हमने प्रयोग करना अभी प्रारम्भ ही किया है। सम्मेलन म होने वाली राजनय को संयुक्त राष्ट्र के अन्दर अधिक शान्त राजनय द्वारा सपूर्ण किया जा सकता है। ऐसा सदस्य सरकारो के प्रतिनिधियो के बीच अथवा महासचिव एव सदस्य सरकारो के बीच हो सकता है चार्टर के ढाचे के अन्दर ऐसी अनेक सभावनाएँ हैं जिनका अभी प्रयोग नही किया गया है तथा जिनसे कायप्रणाली मे परिवतन लाया जा सकता है। यह मेरी आशा है कि निकट भविष्य म सम्बन्धो क नये रूपो, विचार विमश के नये ढगो तथा निपटारे के लिये नयी प्रक्रियाओ के विकास मे ठोस प्रगति होगी। थोडे प्रयत्न द्वारा ऐसे मुख्य प्रश्नो को, जिनपर संयुक्त-राष्ट्र के बाहर बहस हुई है, इसके ढाचे के अन्दर लाया जा सकता है। इस प्रकार विश्व-सगठन की शक्ति म वृद्धि होगी और हम इसस शक्ति प्राप्त भी कर सकेंगे।

महासचिव ने 1957 की अपनी वार्षिक रिपोट म कहा आज की सबसे बडी आवश्यकता यह है कि राष्ट्रो के बीच के संघर्ष को बढने न दिया जाए, वरन् उसे कम किया जाए। यदि संयुक्त राष्ट्र का उचित रूप स प्रयोग हो, तो सदस्य राज्यो को प्राप्त अन्य यन्त्रो की अपेक्षा यह निपटारे क लिए राजनय को अधिक सहायता प्रदान कर सकता है। विश्व के सभी विभिन्न हित एव आकाक्षाएँ चार्टर के सामान्य क्षेत्र की सीमा के अन्दर वतमान हैं। दीघ

कालों के लिए बिना समझौते के संघर्ष हो सकते हैं तथा राज्यों के समुदाय विशेष एवं क्षेत्रीय हितों की रक्षा कर सकते हैं। यद्यपि कुछ समय के लिए तीव्र तनाव के कारण ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है, जिससे शान्ति के लिए संकट हो तथापि संयुक्त-राष्ट्र में मतभेदों को कम करने अथवा समाप्त करने की प्रवृत्ति होगी। इस प्रकार ऐसे समाधानों के लिये प्रयत्न किया जाएगा, जो चार्टर के सिद्धान्तों के तथा इनके द्वारा निर्धारित सामान्य हित के समान हो सकें।

नवीन संयुक्त-राष्ट्र शीत युद्ध का एक शिशु है, जिसका जन्म पूर्व एवं पश्चिम के संघर्ष से हुआ है। चार्टर का संयुक्त-राष्ट्र एक भग्नावशेष है, जिसकी यह स्थिति पूर्व एवं पश्चिम के संघर्ष ने की है। जिस प्रकार होली सन्धि में ग्रेट-ब्रिटेन एवं रूस में संघर्ष था, राष्ट्र-संघ में ग्रेट-ब्रिटेन एवं फ्रांस में संघर्ष था, उसी प्रकार संयुक्त-राष्ट्र में संयुक्त-राज्य एवं सोवियत-संघ में संघर्ष है। यह संघर्ष निर्णय एवं कार्य के दो पूर्णतः विरोधी मान उत्पन्न करता है, जिसके कारण राजनीतिक मामलों में कार्यवाही करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय संगठन प्रायः शक्तिहीन हो गया है।

अनुभव ने यह प्रदर्शित किया है कि अतिप्रबल शक्तियों में से किसी से कोई समझौता स्वीकार करवाने के लिये संयुक्त-राष्ट्र का प्रयोग करना निरर्थक है। इससे मतभेद बढ़ता है और इसके साथ ही युद्ध के संकट में वृद्धि होती है। चार्टर संयुक्त राष्ट्र को-अर्थात् एक साथ कार्य करने पर संयुक्त-राज्य एवं सोवियत-संघ को अन्य राष्ट्रों में युद्धों को रोकने के योग्य बनाता है। संयुक्त-राज्य एवं सोवियत-संघ के एक साथ कार्य करने की नींव पर निर्मित होने के कारण चार्टर का संयुक्त राष्ट्र इन दोनों के बीच में युद्ध रोकने में संवैधानिक रूप से असमर्थ है और नवीन संयुक्त-राष्ट्र इस युद्ध के रोकने में बहुत कम योगदान दे सकता है। तथापि इस युद्ध का संयुक्त-राज्य, सोवियत-संघ एवं समस्त मानवता को भय है। इसे रोकने के लिये हमें संयुक्त-राष्ट्र की ओर नहीं, वरन् कहीं और ध्यान देना होगा।

उनतीसवाँ अध्याय

मध्य-बीसवीं शताब्दी में शान्ति की समस्या

रूपान्तरण के द्वारा शान्ति

विश्वराज्य

अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के अन्वेषण से हम दो निष्कर्षों पर पहुँचे हैं शक्ति के लिए राष्ट्रीय आकांक्षाओं को सीमित कर अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का समाधान करने का कोई भी प्रयत्न सफल नहीं हुआ है, तथा वर्तमान राज्य-व्यवस्था की परिस्थितियों में कोई भी ऐसा प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। तब राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में शान्ति एवं व्यवस्था की अस्थिरता का क्या कारण है? राज्यों में शान्ति एवं व्यवस्था की सापेक्ष स्थिरता का भी क्या कारण है? दूसरे शब्दों में वह कौन सा तत्व है जिसके कारण राष्ट्रीय समाजों में शान्ति एवं व्यवस्था रहती है और जिसका अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अभाव है? इसका उत्तर स्पष्ट है—यह राज्य ही है।

राष्ट्रीय समाजों में शान्ति एवं व्यवस्था का कारण राज्य का अस्तित्व है। राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्य सर्वोच्च शक्ति द्वारा शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित रखता है। यही वास्तव में हॉब्स का सिद्धान्त था, जिसने यह तर्क दिया कि इस प्रकार के अभाव में राष्ट्रीय समाज अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में "प्रत्येक व्यक्ति का प्रत्येक व्यक्ति के विरुद्ध"[1] युद्ध की एकरूप परिस्थिति में होंगे तथा यह मानव-जाति की विश्व-व्यापी परिस्थिति होगी। यह तर्क हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि शान्ति एवं व्यवस्था विश्व-राज्य में ही, जिसमें संसार के सभी राष्ट्र हों, सम्भव है। मध्ययुग की विश्व-व्यवस्था के अन्त के पश्चात् यह निष्कर्ष समय—समय पर सामने आया है।

एक शताब्दी के चतुर्थांश में दो महायुद्धों के अनुभव तथा अणुशस्त्रों से तीसरे महायुद्ध की आशंका के कारण विश्व-राज्य का विचार अपूर्व महत्व का हो गया है। तर्क यह दिया जाता है कि संसार की आत्मनाश से रक्षा करने के लिए राष्ट्रीय प्रभुसत्ता के प्रयोग को अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों एवं संस्थाओं के द्वारा

1. Leviathan chapter XIII.

सीमित करने की नहीं, वरन् राष्ट्रों की प्रभुसत्ता-शक्तियों को एक विश्व-शक्ति को प्रदान करने की आवश्यकता है। यह विश्व-शक्ति राज्यों पर उसी प्रकार से सार्वभौम होगी, जिस प्रकार से राज्य अपने क्षेत्रों में सार्वभौम हैं। अन्तर्राष्ट्रीय समाज में सुधार असफल रहे हैं, और इनका असफल होना अवश्यभावी था। आवश्यकता इस बात की है कि प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रों के वर्तमान समाज का व्यक्तियों के अधिराष्ट्रीय समुदाय में आमूल रूपान्तर किया जाये।

यह तर्क राष्ट्रीय समाजों की अनुरूपता पर आधारित है, अत हमारा प्रथम कार्य यह जानना है कि राष्ट्रीय समाजों में शान्ति एव व्यवस्था कैसे परिरक्षित रखी जाये।

देशीय शान्ति के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ

राष्ट्र के सामाजिक समुदायों में शान्ति दोहरी नींव पर आधारित है: समाजों के सदस्यों की शान्ति-भग के प्रति अरुचि तथा प्रवृत्ति होने पर शान्ति भग करने की असमर्थता। व्यक्ति शान्ति भग नहीं कर सकेंगे, यदि अतिप्रबल शक्ति इस प्रकार के प्रयत्न को असफल कर दे। दो प्रकार की परिस्थितियों में उनकी शान्ति भग करने की प्रवृत्ति नहीं होगी। एक ओर, उन्हें समस्त समाज के प्रति भक्ति हो और यह भक्ति समाज के किसी भाग के प्रति उनकी निष्ठा से उत्कृष्ट हो। दूसरी ओर वे समाज से यह आशा कर सकें कि उनकी माँगों की कम से कम आंशिक पूर्ति द्वारा उन्हें न्याय प्राप्त होगा। इन तीन परिस्थितियों ' अतिप्रबल-शक्ति, अधिखण्डीय निष्ठा, न्याय की आशा—से राष्ट्रों में शान्ति सम्भव हो सकती है। अन्तर्राष्ट्रीय रगमच से इन परिस्थितियों की अनुपस्थिति होने पर युद्ध का भय होगा।

किन तत्वों से ये परिस्थितियाँ उपस्थित रहेंगी ? और राज्य का इसमें क्या भाग होगा ? जिन सामाजिक शक्तियों की परस्पर क्रिया से राष्ट्र में शक्ति रहती है, उनका गम्भीरतापूर्ण विचार इन प्रश्नों के उत्तर में सहायक होगा।

अधिखण्डीय निष्ठायें

राष्ट्रीय समाज सामाजिक समुदायों के बाहुल्य से निर्मित होते हैं। इनमें से कुछ इस अर्थ में एक दूसरे के प्रतिरोधी होते हैं कि उनके अपने-अपने दावे परस्पर एकान्तिक हैं। प्रतिरोधी दावों की यह पारस्परिक एकान्तिकता आर्थिक क्षेत्र में विशेष रूप से स्पष्ट है। इस क्षेत्र में एक समुदाय आर्थिक उत्पादन में भाग माँग सकता है, जिसे प्रदान करना दूसरा समुदाय अस्वीकार कर सकता है। आर्थिक उत्पादन के वितरण की समस्या सर्वव्यापी सामाजिक दृश्य का दर्शनीय उदाहरण

है। राजनीतिक दलो, धार्मिक समुदायो, क्षेत्रो और स्थानो मे इसी प्रकार का प्रनिरोध है। इन संघर्षों को हिंसा मे परिणत होने से कैसे रोका जाता है ?

सर्वप्रथम 'ए' नागरिक जो ई आर्थिक समुदाय के सदस्य के रूप मे ई आर्थिक समुदाय के बी सदस्य का विरोध करता है ई से पूर्णत अभिन्नता स्थापित करने मे तथा इसे अपनी अविभक्त निष्ठा प्रदान करने मे असमर्थ है। उसकी इस असमर्थता के तीन कारण हैं।

ए केवल ई का ही सदस्य नही है, बल्कि धार्मिक समुदाय 'आर' राजनीतिक समुदाय पी, तथा जातीय एव सास्कृतिक समुदाय सी का भी सदस्य है। ये सभी समुदाय उसकी निष्ठा की प्रत्याशा करते हैं और यदि वह इन सबके प्रति न्याय करना चाहता है तब वह किसी एक से अपनी अभिन्नता स्थापित नही कर सकता। जब वह ई के सदस्य के रूप मे कार्य करता है, तब वह यह नही विस्मृत कर सकता कि 'आर' के प्रति भी उसके उत्तरदायित्व है। जब वह पी के लक्ष्यो के हेतु संघर्ष करता है तब उसे सी के प्रति अपने उत्तरदायित्व को स्मरण रखना पड़ता है। वैतीय समुदायो और विरोधो का यह बाहुल्य इनमे भाग लेने वालो को उनके स्वार्थों एवं निष्ठाओं की सापेक्षिकता समझाता है तथा विभिन्न समुदायो मे संघर्ष कम करता है। एक अर्थ मे यह बाहुल्य अभिन्नता की गहनता मे मितव्ययता लाता है। प्रत्येक समुदाय एव विरोध को उसका भाग प्रदान करने के लिये इस मितव्ययता का प्रसार आवश्यक है।

इसके अतिरिक्त यद्यपि ए, ई के सदस्य के रूप मे बी का ई के सदस्य के रूप मे विरोध करता है, तथापि दोनो पी के सदस्य होने के कारण ए किसी अन्य स्थिति मे बी के साथ भी हो सकता है। दूसरे शब्दो मे, ए एव बी आर्थिक क्षेत्र मे तो शत्रु है, परन्तु राजनीतिक क्षेत्र म वे मित्र हैं। आर्थिक क्षेत्र मे वे एक दूसरे के विरोधी हैं, परन्तु राजनीतिक म उनमे एकता है। ए एव बी धार्मिक जातीय, क्षेत्रीय तथा अन्य समुदायो के भी सदस्य हैं, और दोनो का विरोध एव एकता का सदृश सम्बन्ध इन समुदायो के किसी भी सख्या के सदस्यो के साथ हो सकता है। इस प्रकार ए एक समय मे विभिन्न सामाजिक समुदायो के साथ अभिन्नता ही स्थापित नहीं करता, वरन् विभिन्न समुदायो का सदस्य होने के कारण एक ही साथ वह किसी भी सख्या क अपने सहवासियो का मित्र अथवा शत्रु होता है। इसका कारण यह है कि उसके सहवासी उन विभिन्न समुदायो के सदस्य हैं, जिन का वह भी सदस्य अथवा विरोधी है।

अनेक सहवासियो के साथ एकता, मित्रता एव विरोध का, अनेकविध कर्तव्य मित्र एव शत्रु के रूप मे उस पर नियन्त्रण लगाता हैं। आर्थिक लाभ के हेतु संघर्ष

में असफलता की आशका के बिना वह अपने राजनीतिक मित्रो से, जो उसके आर्थिक क्षेत्र मे विरोधी हैं, अभिन्नता स्थापित नही कर सकता। राजनीतिक समुदाय के सदस्य के रूप मे जो राजनीतिक अवलम्ब उसके लिये आवश्यक है, उससे वचित हुये बिना वह आर्थिक लाभ के हेतु सघर्ष को चरम सीमा तक नही ला सकता। यदि ए की एक ही साथ आर्थिक क्षत्र मे विरोधी तथा राजनीतिक क्षेत्र मे मित्र बनने की आकाक्षा है, तब उसका दोनो क्षेत्रो में ऐसी सीमाओ के अन्दर रहना आवश्यक है, जिससे एक दूसरे के पथ मे न आये। इस प्रकार समाज के विभिन्न सदस्यो के परस्पर-व्यापी सामाजिक कर्त्तव्य सघर्षों को निष्प्रभाव करते है तथा उन्हे नियन्त्रित कर ऐसी सीमाओ के अन्दर रखते हैं कि समाज के सदस्य एक ही साथ अपने विभिन्न कर्त्तव्यो का पालन कर सकें।

अन्तिम रूप मे, ए एव बी केवल विरोधी आर्थिक समुदायो के ही सदस्य नहीं हैं तथा उनके राजनीतिक सम्बन्ध ही अभिन्न नही है, वरन् अन्य सामाजिक समुदायो से भी उनका सम्बन्ध है और वे एक ही राष्ट्रीय समाज के सदस्य हैं। उनकी समान भाषा है, समान रीति-रिवाज हैं, समान ऐतिहासिक परम्परायें है, समान मौलिक सामाजिक एव राजनीतिक दर्शन हैं, तथा उनके समान राष्ट्रीय प्रतीक है। वे एक समान समाचारपत्र पढते हैं, एक प्रकार के रेडियो-कार्यक्रम सुनते हैं, एक सा अवकाश मनाते हैं, तथा एक समान वीरो की आराधना करते हैं। इन सबसे बढकर वे अपने राष्ट्र की अन्य राष्ट्रो से तुलना कर यह अनुभव करते है कि अन्य राष्ट्रो के सदस्यो की अपेक्षा उनमे पारस्परिक समानता कितनी है। विशेषकर उन्हे यह विश्वास रहता है कि उनकी समान राष्ट्रीय विशेषतायें, मुख्यत नैतिक क्षेत्र मे, किसी राष्ट्र के सदस्यो के गुणो से सभी मुख्य विषयो मे श्रेष्ठ है। इस प्रकार ए एव बी केवल यही अनुभव नही करते कि वे किसी एक ही राष्ट्रीय परिवार के सदस्य हैं, वरन् इस पारिवारिक सम्बन्ध के कारण वे कुछ मूल्यवान गुणो को अपने मे समान रूप से देखते है तथा अनुभव करते हैं कि ये मूल्यवान गुण उनका महत्व बढाते हैं और अन्य लोगो की तुलना मे प्रत्येक मुख्य विषय मे उन्हे श्रेष्ठ मानव बनाते हैं।

ए एव बी के आत्म-सम्मान तथा परस्पर रूप मे प्रदान की जाने वाली प्रतिष्ठा का उनके एक ही राष्ट्रीय लोकसमाज के सदस्य होने से घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। उनके बौद्धिक विश्वास तथा नैतिक विचार इसी सदस्यता के परिणाम है। इस सदस्यता द्वारा उनकी शक्ति की इच्छा को प्राप्त होने वाले स्थानापन्न-सतोष—का विस्तृत रूप से वर्णन हो चुका है। जिस निष्ठा से वे अपने राष्ट्र के साथ लिप्त रहते हैं, वह केवल राष्ट्र से प्राप्त होने वाले लाभो से उत्पन्न कृतज्ञता के ऋण के लिये प्रतिदान ही नही हैं, यह निष्ठा ही उन लाभो का कारण है। राष्ट्र

के प्रति श्रद्धा रखकर, इसे सासारिक सामग्रियो का स्रोत समझ कर, तथा इसके साथ अभिन्नता स्थापित करके ही मानव राष्ट्र के साथ अपनापन, राष्ट्रीय गौरव का सुख, तथा अन्य राष्ट्रो के साथ प्रतिद्वन्द्विता मे अपने राष्ट्र की विजय का अनुभव कर सकता है। अत राष्ट्र की बाह्य विनाश एव आन्तरिक ह्रास से रक्षा करने की नागरिको को अत्यधिक चिन्ता रहती है। इसी प्रकार सभी नागरिक राष्ट्र के प्रति भक्ति के परम कर्तव्य मे प्रतिज्ञाबद्ध होते है। राष्ट्र की एकता को आशंकित करने वाली किसी वस्तु का सहन नही हो सकता। जो स्वार्थ, विचार एव निष्ठाये राष्ट्र की एकता के प्रतिकूल हो, उन्हे, इसके समक्ष अवश्य झुकना होगा।

यह भावना ए एव बी को पृथक् करने वाले विषयो को सदा सीमित करती है तथा ए एव बी के इन विषयो से सम्बन्धित सघर्ष के ढगो का नियन्त्रिन करती है। इस सघर्षो से हानि होने पर भी वे राष्ट्रीय एकता का प्रश्न नही उठायेंगे। अपने सघर्षों का निर्णय करने के लिये जो भी ढग ए एव बी अपनायें, वे कोई ऐसा कार्य नही करेगे, जिससे राष्ट्र की एकता आपत्ति मे पड़े। इस प्रकार राष्ट्र मे होने वाले सघर्ष अनुसरण किये जाने वाले लक्ष्यो तथा इन लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिये उपयोग मे लाये गये साधनो के आधार पर सीमित होते हैं। एक अर्थ मे ये सघर्ष राष्ट्रीय समुदाय-रूपी सघन बुने हुए वस्त्र मे सन्निहित है, जो इन्हे सीमाओ के अन्दर रखता है। अधिखण्डीय निष्ठाओ के बाहुल्य और परस्पर व्यापी होने के साथ सीमित तथा नियन्त्रित करने वाला राष्ट्रीय निष्ठाओ का यह प्रभाव है, जो उन तीन तत्त्वो मैं से प्रथम है, जिनसे राष्ट्र मे शान्ति रहती है।

न्याय की प्रत्याशा

राष्ट्रीय समाज विरोधी सामाजिक समुदायो मे यह प्रत्याशा कैसे उत्पन्न करते है कि उनके दावो की पूर्णतया उपेक्षा नही होगी, वरन् सभी को कम से कम आंशिक परिपूर्ति का अवसर मिलेगा। सभी विरोधी समुदाय उस राष्ट्रीय समाज से, जिसके वे सदस्य हैं, कम से कम सन्निकट न्याय की प्रत्याशा कैसे करते हैं?

राष्ट्रीय समाजो मे न्याय की समस्या दो स्तरो पर उत्पन्न होती है। एक स्तर सामान्य सिद्धान्तो का है, जिससे सम्पूर्ण समाज का सम्बन्ध है, दूसरा स्तर विशिष्ट दावो का है, जिसमे विशेष समुदायो की अभिरुचि है। सामान्य सिद्धान्तो के स्तर पर शान्ति के लिये कोई भय उत्पन्न नही होता, क्योंकि जिन सामान्य सिद्धान्तो से सम्पूर्ण समाज का कल्याण हो, उन पर सभी एकमत होते हैं प्रजातन्त्र,

सामाजिक न्याय, समानता तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता जैसे सिद्धान्तो से समाज की शान्ति को आशकित करने वाले सघर्ष तब तक उत्पन्न नही होते जब तक ये सिद्धान्त रूप मे ही समाज के सामूहिक प्रयत्नो के अन्तिम उद्देश्य की व्याख्या करते हैं।

परन्तु ये सिद्धान्त उस समय सामाजिक सघर्षो मे प्रबल अस्त्र बन जाते हैं जब सामाजिक समुदाय इनकी आड मे विरोधी दावे करते हैं। समाज छोटे एव दुर्बल समुदायो के दावो की अवहेलना शान्ति-भग की आशका के बिना कर सकता है। इसकी सामाजिक एकता एव सगठित हिंसा के एकाधिकार की शक्ति इन छोटे एव दुर्बल समुदायो के क्रोध तथा असन्तोष को प्रत्यक्ष रूप मे सामाजिक व्यवस्था का विरोध करने के लिये पर्याप्त है। परन्तु समाज बडे एव सम्भावित शक्तिशाली समुदायो के दावो की क्रान्ति तथा गृह-युद्ध के सशय के बिना अवहेलना नही कर सकता, अर्थात् समाज की शान्ति एव इसकी सकलित सम्पूर्णता आशकित होगी।

यही पर शान्तिपूर्वक परिवर्तन की दुर्बोध प्रक्रिया कार्यान्वित होती है, जिसके कारण सभी समुदायो को न्याय के लिये अपने दावे जनमत, निर्वाचन, ससदीय-मत, परीक्षा-मडलो आदि के विधायन के समक्ष रखने का अवसर मिलता है। हम इन प्रक्रियाओ के कार्यान्वित रूप का एक अन्य प्रसग मे विवेचन कर चुके हैं तथा पाठक को उसे देखने का निर्देश करते हैं। ये प्रक्रियाएँ सामाजिक समुदायो के विरोधी दावो को उन्हें अपना महत्त्व बतलाने का तथा बधनकारी नियमो के अनुसार मान्यता के लिये प्रतिस्पर्धा का अवसर देकर शान्तिपूर्ण मार्गों की ओर पथप्रदर्शित करती है। प्रतिरोध की इन परिस्थितियो मे किसी भी समुदाय को अन्तिम रूप से सफलता नही मिल सकती, परन्तु सभी समुदाय न्याय की प्राप्ति के लिये किसी न किसी समय पर पग बढाने के अवसर पर निर्भर कर सकते हैं।

अतिप्रबल शक्ति

राष्ट्रीय समाजो मे शान्ति-सरक्षण का, तीसरा तत्त्व अतिप्रबल शक्ति है, जिससे समाज शान्ति-भग के समस्त प्रयत्नो को आरम्भ मे ही कुचल सकता है। यह अतिप्रबल शक्ति दो विभिन्न ढगो से प्रकट होती है: सगठित हिंसा के एकाधिकार अर्थात् भौतिक शक्ति के रूप मे, तथा अदम्य सामाजिक दबाव के रूप मे।

जो शक्ति समाज के पास सगठित हिंसा के एकाधिकार के रूप मे है, वह अन्य किसी प्रकार की हिंसा, विशेषकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र की हिंसा, से दो विशेषताओ के कारण भिन्न है।

राष्ट्रीय समाजो की सगठित हिंसा बहुत अश तक सामाजिक समुदायो के विरोधी दावो के सम्बन्ध मे तब तक तटस्थ रहती है जब तक ये समुदाय कानून की सीमाओ के अन्दर रहते है तथा शान्तिपूर्ण साधनो का उपयोग करते है। उन्नीसवी शताब्दी मे उदारवादी सिद्धान्त के अनुसार समाज की सगठित हिंसा पूर्णत तटस्थ थी तथा विरोधी हितो के सघर्षों से परे होकर जो भी कानून का उल्लघन करता था, उसके विरुद्ध कानून को प्रवर्तित करती थी। इस सिद्धान्त के विरुद्ध मार्क्सवाद का कथन है कि समाज की सगठित हिंसा शासक-वर्ग का शस्त्र मात्र है, जिससे वह शोषित जनसाधारण पर अपना शासन स्थापित रखता है। वास्तव मे समाज का अनिवार्य सगठन पूर्णत तटस्थ नही हो सकता, क्योकि, जैसाकि हम देख चुके हैं, इसके द्वारा प्रवर्तित वैध व्यवस्था तटस्थ नही है तथा इसे यथापूर्व-स्थिति के प्रति, जिसके कारण उसका अस्तित्व है, पक्षपात करना पडता है। चुनौती मिलने पर यथापूर्व स्थिति समाज के अनिवार्य सगठन की सहायता पर निर्भर कर सकती है।

यद्यपि यथापूर्व-स्थिति के प्रति झुकाव समाज के अनिवार्य सगठन की विचित्र विशेषता है परन्तु साधारणतया यह झुकाव किसी विशेष यथापूर्व-स्थिति के पक्ष मे नही होता। अमरीकन समाज के अनिवार्य सगठन ने 1800, 1900, 1932 एव 1940 की यथापूर्व-स्थिति की रक्षा की है। अग्रेजी समाज के अनिवार्य सगठन ने क्रमिक रूप से सामन्तवाद, पूँजीवाद तथा समाजवाद को सहायता प्रदान की है। तथापि यह सम्भव है कि कोई विशेष यथापूर्व-स्थिति जनसख्या क अधिक भाग के मौलिक नैतिक विश्वासो एव महत्त्वपूर्ण हितो के लिये अप्रिय हो तथा प्रवर्तित शक्तियो के अधिक भाग की यथापूर्व स्थिति के प्रति अनेक दृढ विरोध से सहानुभूति हो। इस परिस्थिति मे यथापूर्व-स्थिति का समावेश करने वाली वैध व्यवस्था प्रवर्तित नहीं हो सकेगी। अमरीका मे गृह-युद्ध की सवैधानिक भूमिका तथा मद्य-निषेध का अनुभव इसे स्पष्ट करते हैं।

राष्ट्रीय समाजो के अनिवार्य सगठन की दूसरी विचित्र विशेषता इसके सामूहिक कार्य की विरलता है। साधारणतया राष्ट्रीय समाजो का अनिवार्य सगठन केवल कानून भग करने वाले व्यक्तियो के विरुद्ध शान्ति एव व्यवस्था स्थापित रखना है। सामूहिक शक्ति के रूप मे अन्य सामूहिक शक्ति का, जिससे शान्ति-भग की आशका हो, विरोध करना इसके लिये विरल अपवाद है। श्रमिक विवादो मे शक्ति का उपयोग—इस प्रकार का एक मुख्य उदाहरण है। साधारणतया

समाज के हाथों में सगठित हिंसा के एकाधिकार का अस्तित्व मात्र ही, जिसमें आवश्यकतानुसार हस्तक्षेप हो सकता है, देशीय शान्ति को भग करने वाले सामूहिक प्रयत्नों को रोकता है। इसका अस्तित्व मात्र ही समाज के अनिवार्य सगठन के कार्य को अनावश्यक बना देता है।

इस तत्त्व के अतिरिक्त तथा सम्भवतः इससे अधिक महत्त्वपूर्ण वह असगठित अतिशय दबाव है, जिसका उपयोग समाज शान्ति स्थापित रखने के लिये अपने सदस्यों के प्रति करता है। इस दबाव से मुक्त होने के लिये एक समुदाय को राष्ट्रीय समाज के ढाँचे में अपनी एक सामाजिक सरचना का निर्माण करना होगा, जिसमें अधिक एकीकरण हो, शक्ति हो तथा राष्ट्रीय समाज की अपेक्षा जिसमें उसे स्थान प्राप्त है, श्रेष्ठ निष्ठायें प्राप्त कर सके। वर्तमान काल में राष्ट्रवाद की उग्रता, राष्ट्रीय विश्ववाद के राजनीतिक भ्रम में इसके परिवर्तन, सचार के माध्यमों की सर्वव्यापकता, तथा एक छोटे एवं आपेक्षिक समरूप समुदाय द्वारा इसके नियन्त्रण ने सामाजिक दबावों को बढ़ा दिया है, जिससे राष्ट्रीय समाज विरोधी समुदायों को कानून एवं शान्ति की सीमा के अन्दर रख सकते हैं।

राज्य का कर्त्तव्य

देशीय शान्ति की स्थापना में राज्य का क्या योगदान है? "राज्य" समाज के अनिवार्य सगठन का दूसरा नाम है, उस वैध-व्यवस्था का, जो उन परिस्थितियों को निश्चित करती है, जिनमें समाज, व्यवस्था एवं शान्ति के सरक्षण के लिये, सगठित हिंसा के एकाधिकार का प्रयोग कर सकता है। जब हमने पिछले पृष्ठों में अनिवार्य सगठन एवं समाज की वैध व्यवस्था का वर्णन किया है, तब हमारा अभिप्राय वास्तव में राज्य से था। देशीय शान्ति की स्थापना के लिये इसके तीन कार्य हैं (1) राज्य राष्ट्रीय समाज को वैध अविरलता प्रदान करता है। राज्य व्यक्ति को यह अनुभव करने के योग्य बनाता है कि राष्ट्र समय एवं स्थान में सातत्य है, यह एक व्यक्तित्व है, जिसके नाम पर मनुष्य कार्य करते हैं, यह सेवायें माँगता है और प्राप्त करता है तथा लाभ प्रदान करता है, इसके प्रति ऐसी व्यक्तिगत निष्ठा का अनुभव किया जा सकता है जिसका अनुभव परिवार और धार्मिक समुदाय को छोड़कर अन्य सामाजिक समुदायों में से बहुत कम के प्रति होता है (2) राज्य सामाजिक परिवर्तन के अधिकतर सास्थानिक अभिकरण एवं प्रक्रियायें प्रदान करता है। (3) राज्य अपने कानूनों के प्रवर्त्तन के लिये अभिकरण प्रदान करता है।

अब हमें निश्चित करना है कि देशीय शान्ति में राज्य का योगदान कितना महत्त्वपूर्ण है। इस प्रश्न के दो उत्तर होंगे। देशीय शान्ति में राज्य का योगदान

अत्यावश्यक है परन्तु केवल यही यथेष्ठ नहीं है। राज्य के योगदान के अभाव में देशीय शान्ति नहीं हो सकती, परन्तु राज्य के योगदान के अतिरिक्त भी किसी अन्य वस्तु से देशीय शान्ति नहीं हो सकती।

राज्य के बिना देशीय शान्ति नहीं हो सकती यह शक्ति शक्ति-सन्तुलन, तथा प्रभुसत्ता की समस्याओं के हमारे पहले के वर्णन में उपलक्षित है। विरोधी सामाजिक समुदाय उन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये जिन्हें वे अपने लिये आवश्यक समझते हैं उन सभी साधनों का, जो उन्हें प्राप्त है उपयोग करेंगे। यदि इस प्रकार के सामाजिक समुदायों का शारीरिक हिंसा के साधनों पर नियन्त्रण हो, जैसा कि प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में होता है, वे इनका दो प्रकार से उपयोग करेंगे। वे अपनी श्रेष्ठता का प्रदर्शन कर अपने विरोधियों पर दबाव डालेंगे, अथवा वे विरोधियों के शारीरिक हिंसा के साधनों के विनाश के लिये उनका उपयोग करेंगे। प्रत्येक विकल्प में शारीरिक हिंसा का अभिप्राय विरोधी की अन्य समुदाय की माँगों का प्रतिरोध करने की इच्छा को समाप्त करना है।

राष्ट्रीय समाजों के इतिहास से यह विदित होता है कि यदि कोई भी राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक अथवा क्षेत्रीय समुदाय यह विचार करता है कि हिंसात्मक साधनों के प्रयोग से उसे अधिक हानि नहीं होगी, तब वह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये इन साधनों के प्रयोग के प्रलोभन को अधिक समय तक नहीं रोक सकता। यद्यपि अन्य सामाजिक तत्वों ने शान्ति के हित की दृढतापूर्वक सहायता की, तथापि इनका प्रभाव हिंसा का प्रयोग करने वालों की शीघ्र एवं निश्चित विजय की प्रत्याशा के समक्ष निष्फल हो गया। इस प्रकार जब कभी राज्य संगठित हिंसा के अपने एकाधिकार के संरक्षण में तथा हिंसा के अपने पास बचे साधनों का शान्ति की स्थापना एवं दीर्घ जीवन के हेतु सफलता-पूर्वक उपयोग करने में असमर्थ हुआ, राष्ट्रीय समाजों का विघटन हुआ है तथा इनका कई छोटी इकाइयों में विभाजन हुआ है।

क्योंकि अधिक हानि की आशंका न होने के कारण प्रत्येक व्यक्ति सामर्थ्य रहने पर हिंसा का प्रयोग करेगा, एक ऐसे अभिकरण की आवश्यकता है, जिसमें इसके प्रयोग को रोकने की क्षमता हो। समाज को समय एवं स्थान में राज्य द्वारा प्रदान की गई वैध एकता तथा सामाजिक परिवर्तन के अभिकरणों के लिये, जिनके द्वारा राज्य सामाजिक प्रक्रियाओं की सक्रियता को नियन्त्रित करता है, प्रतिस्थापक प्राप्त हो जायेंगे। समाज को "लेवायथन" की शक्ति के लिये, जिसकी उपस्थिति मात्र ही विरोधी समुदायों से श्रेष्ठता के कारण उनके

सघर्षों को शान्ति पूर्वक सीमाओ के अन्दर रख सकती है, प्रतिस्थापक प्राप्त नहीं हो सकेगा ।

राज्य देशीय शान्ति बनाये रखने के लिये अपरिहार्य हैं, यह हॉब्स के दर्शन का सच्चा सदेश है । तथापि राज्य केवल अपने द्वारा ही शान्ति नहीं बनाये रख सकता, यह हॉब्स के दर्शन की मुख्य चूक है । राष्ट्रीय समाजो की शान्ति बनाये रखने के लिये राज्य की शक्ति आवश्यक है, परन्तु पर्याप्त नही, इसका प्रमाण गृह-युद्धो के ऐतिहासिक अनुभव से मिलता है । यदि इतिहास के दीर्घकाल में बहुत कम गृह-युद्ध हुये होते, उनको साधारण नियम का अपवाद समझा जा सकता था । परन्तु 1480 एव 1941 के बीच कुल दो सौ अठहत्तर युद्धो में से अठहत्तर अर्थात् सम्पूर्ण का 28 प्रतिशत गृह-युद्ध थ । 1840 और 1941 के बीच के काल मे गृह-युद्धो एव अन्तर्राष्टीय युद्धो का अनुपात, जिनमे से 18 पहली श्रेणी के थे तथा 60 दूसरी श्रेणी के, लगभग 1 और 3 था । 1800 और 1941 के बीच के काल में 28 गृह-युद्धो एव 85 अन्तराष्ट्रीय युद्धो की सख्या है, तथा इनका अनुपात लगभग यथार्थत 1 और 3 है । गृह-युद्धो के व्यय के विषय मे प्रोफेसर क्विन्सी राइट की उक्ति है "सालहवी शताब्दी के फ्रासीसी ह्यूगटन-युद्ध, पन्द्रहवी शताब्दी का ब्रिटिश वार ग्राफ रोजज तथा सत्तरहवी शताब्दी का जर्मनी का तीस वर्षीय युद्ध, स्पेन का पेनिनसुलर युद्ध, अमरीका का गृहयुद्ध तथा चीनी तेपिंग विद्रोह जैसे गृह-युद्धो मे जीवन तथा अर्थ की क्षति समकालीन अन्तर्राष्ट्रीय युद्धो की तुलना मे अत्यधिक हुई है ।"[2]

गृह-युद्धो की आवृत्ति एव क्षति से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य के अस्तित्व मे देशीय शान्ति-सरक्षण का आश्वासन नही प्राप्त हो सकता । इसका कारण राज्य का स्वरूप है । राज्य किसी सविधान-सम्मेलन की कृत्रिम रचना नही है, जिसकी सरकार के कुछ आदर्श नियमो के द्वारा कल्पना की गई हो तथा जिसका किसी भी समाज पर, जो विद्यमान हो, अध्यारोपण किया जा सके । इसके विपरीत राज्य समाज का अग है, जिससे यह अकुरित हुआ है, तथा समाज के साथ इसका उत्थान एव पतन होता है । राज्य समाज से कोई पृथक् वस्तु नहीं है, वरन् समाज द्वारा ही इसकी रचना हुई है ।

एक समाज जिसने अन्तर-सामुदायिक विरोध अधिभावी निष्ठाओ द्वारा सीमित, नियन्त्रित, तथा तटस्थ न रह गये हो, जिनको सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओ से सभी मुख्य समुदायो को न्याय की आशा न हो, तथा

---

2 Quincy Wright, A Study of War (Chicago : University of Chicago Press, 1952) Vol I, p. 651.

जिसकी बाध्यता के हेतु असगठित शक्ति इन समुदायो मे अनुरूपता लाने के लिये पर्याप्त न हो—ऐसे समाज की शान्ति की रक्षा राज्य द्वारा, चाहे वह कितना ही शक्तिशाली हो, नही हो सकती। विनाश की शक्तियाँ, जिनका समाज मे वर्गीय, जातीय, धार्मिक, क्षेत्रीय, अथवा पूर्णत राजनीति मे सघर्षों के रूप मे उदय होता है, क्रान्तियो, राज्य-विप्लवो तथा गृह-युद्ध के रूप मे विस्फुटित होगी। जिस प्रकार अग्नि-विभाग अग्नि से पृथक् रह कर उसे बुझाने के लिये तत्पर रहता है, राज्य उस प्रकार इन अग्निकाण्डो से पृथक् नही हो सकता। दो अर्थों मे राज्य अनिवार्य रूप से इन अग्निकाण्डो मे सन्निहित है। एक ओर, राज्य क्रान्ति का लक्ष्य है जिसके विरुद्ध शक्ति के प्रयोग द्वारा इसे अपनी रक्षा अवश्य करनी पड़ती है। दूसरी ओर, जिन मतभेदो से समाज का विघटन होता है, वे इसके अनिवार्य सगठन राज्य का भी विभाजन करते हैं। तब राज्य का एक सगठन के रूप मे कार्य करना समाप्त हो जायेगा, इसके प्रतिकूल अग युद्धरत समुदायो मे सम्मिलित हो जायेंगे, तथा राज्य की एकता का गृह-युद्ध मे अन्त हो जायेगा अथवा—आधुनिक औद्योगिकता से राज्य को प्रभावपूर्ण शक्ति का एकाधिकार प्राप्त होने के कारण इसकी आधुनिक काल मे अधिक सम्भावना है—जो प्रश्न सर्वसाधारण को विभाजित करते हैं, उनके विषय म सर्वसाधारण में सघर्ष नहीं होगा, वरन् राज्य के सगठन म ही विप्लव, षड्यन्त्र तथा शुद्धिकरण के रूप में विनाशकारी सघर्ष होंगे।

विश्व-राज्य की समस्या

देशीय शान्ति की समस्या के हमारे विवेचन से यह स्पष्ट है कि विश्व-राज्य के समर्थको के तर्क का कोई उत्तर नही है राजनीतिक विश्व की सीमाओ के साथ व्यापक राज्य के अभाव में स्थाई विश्व-शान्ति सम्भव नहीं है। जिस प्रश्न की ओर अब हमें ध्यान देना है, इसका सम्बन्ध विश्व-राज्य की रचना के ढग स है।

दर्शन की दो विचारधाराएँ

'कन्सीडरेशन्स आन रेप्रेजेन्टेटिव गवर्नमेन्ट" के प्रथम अध्याय मे जान स्टूअर्ट मिल के समक्ष सरकार के विभिन्न रूपो के विषय मे यही समस्या थी। "राजनीतिक संस्थाओ के दो विरोधी विचार जिन्हें मिल ने अपनी समस्या के विवेचन का आधार बनाया, विश्वराज्य की रचना के विवेचन को भी निर्धारित करते हैं। दर्शन की एक विचारधारा के अनुसार, सरकार की कल्पना वस्तुत एक व्यावहारिक कला के रूप मे की जाती है, जिसका केवल साधन एव साध्य के प्रश्नो से सम्बन्ध है। सरकार के रूपो का

मानवीय लक्ष्यों की प्राप्ति के अन्य साधनों के साथ आत्मसात् हो जाता है। उन्हे पूर्णतः आविष्कार एवं रचना का कार्य समझा जाता है। मानव द्वारा रचित होने के कारण यह माना जाता है कि उनका निर्माण करना अथवा नही करना, तथा कैसे एवं किस प्रतिरूप से उनका निर्माण हो, इसका मानव को विकल्प प्राप्त है। सर्वोत्तम प्रकार की गवेषणा करना, दूसरो को विश्वास दिलाना कि यह सर्वोत्तम है, ऐसा करने के पश्चात् उन्हे इसे प्राप्त करने के लिए उकसाना, इसी क्रम से उन लोगो के मस्तिष्क मे विचार आते है, जो राजनीतिक दर्शन की इस विचारधारा को अपनाते है। वे उसी प्रकार से संविधान पर विचार करते हैं (मात्रा के भेद को मानते हुए) जिस प्रकार से वे भाप-चालित हल अथवा भूसी निकालने की मशीन पर विचार करते हैं।

दूसरी विचारधारा के अनुसार सरकार एक प्रकार की स्वाभाविक उत्पत्ति है, तथा (कहने भर के लिये) सरकार का विज्ञान प्राकृतिक इतिहास की एक शाखा है। इनके अनुसार सरकार के रूप मनुष्य की रुचि पर निर्भर नही करते। जिस प्रकार हम उन्हे पाते हैं, मुख्यतया उसी रूप मे हमे उन्हे स्वीकार करना होगा। सरकारो की रचना पूर्वचिन्तित अभिकल्प के अनुसार नही हो सकती। उनका "निर्माण नही, वरन् विकास होता है।" ......इस विचारधारा के अनुसार एक राष्ट्र की मौलिक राजनीतिक संस्थाएँ वहाँ के लोगो की प्रकृति एवं जीवन से ही एक प्रकार का आंगिक विकास हैं, उनके आयोजित उद्देश्यो का नही, वरन् उनकी प्रकृति, उनकी वृत्तियो तथा अचेतन आवश्यकताओ एवं इच्छाओ की उत्पत्ति है। उनकी इच्छा का इस कार्य मे केवल इतना भाग है कि यह उन उपायो द्वारा काल विशेष की आवश्यकताओ की पूर्ति करती है, जो उपाय यदि पर्याप्त रूप से राष्ट्रीय भावनाओ एवं चरित्र के अनुरूप हो, तो साधारणतया स्थायी होते हैं। ये उपाय क्रमिक सामूहिकता द्वारा ऐसे राज्य का निर्माण करते है, जो इसमे निवास करने वाले लोगो के लिये उपयुक्त हो। परन्तु इस राज्य को ऐसे लोगो को प्रदान करना, जिन्होंने अपनी प्रकृति एवं परिस्थितियो के अनुसार इसका स्वाभाविक रूप मे विकास नही किया, निष्फल प्रयत्न होगा।

मिल ने इन दो विचारधाराओ की अतिशयता के बीच का पथ अपनाया तथा दोनो के सत्य तत्वो का उपयोग किया। एक ओर, राजनीतिक संस्थायें मनुष्यो की कृति हैं, मानवीय इच्छा के कारण इनकी उत्पत्ति होती है तथा इसी बल पर इनका अस्तित्व है।

दूसरी ओर, हमे यह भी ध्यान मे रखना है कि राजनीतिक मशीनरी स्वयं ही कार्यान्वित नही होगी। जिस प्रकार इसका निर्माण होता है, उसी

प्रकार मनुष्य, साधारण मनुष्य भी, इसे कार्य मे लाते है। इसको उनकी मौन सम्मति की नही, वरन् उनके सक्रिय रूप से भाग लेने की आवश्यकता है इसका लोगो को – जैसे भी लोग उपलब्ध हो – क्षमता एव गुणो से समायोजन करना आवश्यक है। इसके लिये तीन परिस्थितियाँ आवश्यक है। जिन लोगो के लिये किसी सविधान का निर्माण हुआ हो, वे इसे स्वीकार करने के लिये अवश्य इच्छुक हो, अथवा कम से कम इतने विमुख न हो कि इसकी स्थापना का अजेय अड़चनो द्वारा विरोध करें। इसके कार्यान्वित होने के लिये उनका इच्छुक एव योग्य होना आवश्यक है तथा उन्हे इतना इच्छुक एव योग्य अवश्य होना चाहिये कि इसके कार्यान्वित होने की और आत्म-नियन्त्रण की शर्तों को वे पूरा कर सकें, जो स्थापित राज्य के अस्तित्व के लिये अथवा इसके लक्ष्यो की प्राप्ति के लिये आवश्यक हैं, इनके लिये सहायक होने के कारण ही यह ग्राह्य है। इन परिस्थितियो मे से किसी एक के भी अभाव से वह सरकार भी, चाहे उससे कितनी भी प्रत्याशा की जाती हो, अनुपयुक्त हो जायेगी।

लोक-समर्थन का त्रिविध परीक्षण

सरकार के विशेष रूपो के लिए प्रकल्पित इस त्रिविध परीक्षण का उपयोग विश्व-राज्य के लिए भी हो सकता है। क्या विश्व के लोग विश्व-सरकार को स्वीकार करने के लिये इच्छुक हैं, अथवा क्या वे कम से कम इतने अनिच्छुक नही है कि इसकी स्थापना मे अजेय अड़चनें डालेगे ? विश्व-सरकार को स्थापित रखने के लिए क्या उनमे आवश्यक इच्छा एव सामर्थ्य है ? क्या वे विश्व-सरकार के लक्ष्यो की पूर्ति के लिये कुछ कार्य करने के लिये तथा कुछ कार्य नही करने के इच्छुक एव योग्य होगे ? इन प्रश्नो का उत्तर राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय विश्ववाद, अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता, तथा विश्व-जनमत की समस्याओ के सम्बन्ध में ऊपर किये गये वर्णन मे उपलक्षित है।[3] देशीय शान्ति की स्थापना के हेतु परिस्थितियो के वर्णन मे भी ये उत्तर उपलक्षित है। ये उत्तर अवश्य ही नकारात्मक होगे।

किसी भी समाज का अस्तित्व विश्व-राज्य के अनुमानित क्षेत्र के साथ सहव्यापक नही होता। वास्तव मे, प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रो के अन्तर्राष्ट्रीय समाज का अस्तित्व है। एक ऐसे अधिराष्ट्रीय समाज का अस्तित्व नही है जिसमे सभी राष्ट्रो के वैयक्तिक सदस्य समाविष्ट हो तथा जो राजनीतिक रूप से सगठित समाज से अभिन्न हो। आधुनिक काल मे राष्ट्रीय समाज ही सबसे अधिक व्यापक समाज है, जिसमे सबसे अधिक लोग निवास तथा कार्य करते है। जैसा कि हमने विचार किया है, राष्ट्र मानव को उच्चतम धर्म-निर्पेक्ष निष्ठायें प्राप्त करता है।

3 विशेषकर सत्तरहवाँ अध्याय दखें।

इसके अतिरिक्त अन्य राष्ट्र हैं, परन्तु कोई ऐसा समुदाय नहीं है, जिसके लिये मानव अपने राष्ट्र के हितों का ध्यान न रखते हुये कार्य करने के लिए इच्छुक हो। मनुष्य बिना राष्ट्रीयता का ध्यान किये हुए कठिनाई में पड़े लोगों को, खाद्य-पदार्थ, वस्त्र, एवं द्रव्य देने को इच्छुक रहते हैं। परन्तु ऐसे लोगों को, जहाँ वे जाना चाहें वहाँ जाकर पुनः हितकारी नागरिक बनें, इसकी अनुमति न देकर वे उन्हें जहाँ हैं वहीं रखना पसन्द करते हैं। इसका कारण यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय सहायता को तो राष्ट्रीय हित के अनुकूल समझा जाता है, परन्तु देशान्तरण की स्वतन्त्रता को नहीं। यदि लोग यह समझें कि विश्व-सरकार के पक्ष में कार्य करने से उनके राष्ट्र का अहित होगा, तो मानव-जाति की वर्तमान नैतिक परिस्थितियों में बहुत कम लोग ऐसा कार्य करेंगे। इसके विपरीत, बहुत अधिक संख्या में लोगों का बहुमत अपने राष्ट्र के हित को अन्य प्रत्येक वस्तु से—इसमें विश्व-सरकार का हित भी व्याप्त है—श्रेष्ठ समझेगा। दूसरे शब्दों में, विश्व के लोग विश्व-सरकार को स्वीकार करने के लिए इच्छुक नहीं हैं तथा राष्ट्र के प्रति उनकी अधिभावी निष्ठा इसकी स्थापना में अजेय अड़चन खड़ा करती है।

विश्व के लोगों में विश्व सरकार को स्थायी बनाने के लिए आवश्यक कार्य करने की भी इच्छा एवं सामर्थ्य नहीं है। क्योंकि वे सभी मूल्यों के पुनर्मूल्यन के लिए अर्थात् उस अपूर्व नैतिक एवं राजनीतिक क्रान्ति के लिए प्रस्तुत नहीं होंगे, जिससे राष्ट्र को उसके सिंहासन से हटाकर मानवता के राजनीतिक संगठन को उसपर बैठाया जायगा। उनमें राष्ट्रीय सरकारों को स्थायी बनाने के लिए त्याग करने तथा मर मिटने के लिए इच्छा एवं सामर्थ्य होगी।

राष्ट्र के पक्ष में ये तत्त्व इतने अधिक हैं कि जो व्यक्ति विश्वराज्य को स्थायी बनाने के हेतु त्याग करने एवं मर मिटने के लिए इच्छुक एवं योग्य हैं, उन्हें विश्व की वर्तमान स्थिति में ऐसा करने का अवसर प्राप्त नहीं होता। जो व्यक्ति मानवता और इसके राज्य के हेतु अपने राष्ट्र के हितों और नीति का विरोध करना चाहेगा, वह विरोध के अपने इस कार्य से (अपने राष्ट्र को निर्बल करते हुए) उस राष्ट्र को प्रबल बनायेगा, जिससे उसकी अपनी सरकार प्राणान्तक द्वन्द्व में उलझी हुई है। इसका बहुत अच्छा परिणाम होने पर वह राष्ट्र द्वारा राज्य द्रोहियों को दिया जाने वाला दण्ड भुगत कर अपने विश्वासों के हेतु शहीद बन सकेगा। जो व्यक्ति विश्व के नागरिक के रूप में कार्य करना चाहेगा, वह विश्व की वर्तमान परिस्थितियों के कारण किसी अन्य राष्ट्र का पक्षपाती एवं अपने राष्ट्र का द्रोही बनने के लिए बाध्य होगा। इस नैतिक विरोधाभास के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं है, जिससे विश्व राज्य के समरूप किसी परिस्थिति के लिए सामाजिक एवं नैतिक पूर्वशर्तों का अभाव अधिक स्पष्ट हो। क्योंकि अपने राष्ट्र से श्रेष्ठ ऐसी

कोई राजनीतिक सस्था नही है, जिसके पक्ष मे कोई व्यक्ति कार्य करेगा। अपने राष्ट्र के अतिरिक्त केवल अन्य राष्ट्र हैं।

अन्ततोगत्वा, विश्व के लोग विश्व-राज्य के लक्ष्यों की पूर्ति के लिए आवश्यक कार्य करने के लिए इच्छुक एव योग्य नही हैं। विश्वराज्य का मुख्य लक्ष्य विश्व मे शान्ति स्थापित किये रखना है। इस साध्य के हेतु विश्वराज्य को तीन कार्यों का सम्पादन करना होगा : (1) यह मानवता को एक वैध व्यक्तित्व प्रदान करेगा, जो मानव-जाति की एकता को अपने समक्ष रखेगा, (2) यह विश्वव्यापी सामाजिक परिवर्तन के लिए अभिकरणों का सृजन करेगा तथा उन्हे कार्यान्वित रखेगा, जिनसे मानवजाति के सभी समुदाय अपने विरोधी दावो की कम से कम आशिक पूर्ति की प्रत्याशा कर सकेंगे, (3) यह प्रवर्तन अभिकरणो की स्थापना करेगा जो शान्ति के विरुद्ध किसी भी धमकी का प्रतिप्रबल शक्ति से सामना करेगे। इस सम्भावना को स्वीकार किया जा सकता है और उपर्युक्त लोकमत मतदान भी इसके पक्ष मे है, कि विश्व के लोग कार्य (1) के सम्पादन मे विश्व राज्य की सहायता करेंगे, कार्य (3) के हेतु सहायता के अभाव के विषय मे पर्याप्त वर्णन किया जा चुका है। फिर हम कार्य (2) के सम्पादन मे, जो कि हम जानते हैं किसी भी राज्य का शान्ति-सरक्षण के लिए मुख्य कार्य है, विश्व राज्य को विश्व के लोगो द्वारा दी जाने वाली सहायता की सम्भावना की सक्षेप मे जाँच करें।

सामाजिक परिवर्तन के विधान-अभिकरणो मे विश्व के विभिन्न लोगो का कैसे प्रतिनिधित्व होगा, इस समस्या पर हम विचार नही करेंगे। श्वेत जातियो को स्पष्टतया सख्यात्मक प्रतिनिधित्व स्वीकार नही होगा, क्योकि इससे अश्वेत जातियो का विश्व पर नियन्त्रण हो जायेगा। बहुमत सिद्धान्त के विरुद्ध किसी प्रकार के प्रतिनिधित्व का, जिससे श्वेत जातियो की श्रेष्ठता स्थिर हो जाने की सम्भावना होगी, अश्वेत जातियाँ विरोध करेंगी, क्योकि इससे उन्हे निम्नता की स्थायी स्थिति मे रहना पडेगा। यद्यपि विधान-अभिकरणो को स्थापित करना सम्भव है, तथापि इनको परिचालित करने की प्रत्यक्ष असम्भव परिस्थिति पर हम विचार नही करेंगे। विभिन्न नैतिक विश्वासो, राजनीतिक हितो, तथा स्वशासन की योग्यताओ के अमरीकन, चीनी, भारतीय एव रूसी जैसे लोगो का प्रतिनिधित्व करने वाली ससद इन मतभेदो से एक परिचालन सस्था स्थापित करने मे समर्थ नहीं हो सकेगी। इसका कोई भी सघटक समुदाय इस प्रकार स्थापित विधान सभा के बहुमत के मत को इच्छापूर्वक स्वीकार नही करेगा। ये सस्थायें गृह-युद्ध की आशका एव वास्तविकता मे उलझी रहेगी तथा नैतिक एव राजनीतिक मतैक्य के अभाव मे इन्हे बाध्यता प्रस्थापित करनी होगी।

अब हम दो ठोस समस्याओं पर विचार करें, जिनके सम्बन्ध में विभिन्न राष्ट्रों के दावों का पारस्परिक विरोध है, आप्रवासन एवं व्यापार। एक विश्वराज्य किसी अन्य संघात्मक राज्य की भांति अन्तर्राष्ट्रीय प्रवसन एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियन्त्रण अपने संघटक भागों के हाथों में नहीं छोड़ सकता। इन विषयों का इसे स्वयं ही नियन्त्रण करना पड़ेगा। यदि इन दोनों विषयों में विश्व-राज्य की शक्ति विश्व-संविधान द्वारा नितान्त सीमित कर दी जाये, तब भी क्या इसकी सम्भावना है कि अमरीकन लोग विश्व-सरकार को, उदाहरण के लिये, 100,00, रूसी 250,000 चीनी तथा 200,000 भारतीयों के वार्षिक आप्रवासन के लिये अमरीका की सीमायें अप्रतिबन्धित करने की शक्ति प्रदान करने के लिये तैयार होंगे ? और क्या इसकी सम्भावना है कि सरकार 100 000 रूसी लोगों को संयुक्त-राज्य में उत्प्रवासन के लिये अनुमति देने को प्रवृत्त होगी ? क्या अमरीकन लोग विदेशी कृषि-उत्पादन का, जिसकी देशीय वस्तुओं से समान स्तर पर प्रतियोगिता हो, किसी भी मात्रा में आयात स्वीकार करेंगे ? क्या इसकी तनिक भी सम्भावना है कि रूसी लोग सस्ते उपभोज्य पदार्थों का आयात स्वीकार करेंगे, जिससे उनकी योजनाबद्ध आर्थिक व्यवस्था अव्यवस्थित हो जाये तथा उनकी राजनीतिक व्यवस्था में विश्वास भी कम हो जाये ? यदि इन प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक है, जैसाकि स्पष्टतः है, तब विश्व-राज्य से कुछ भी शासन करने की कैसे प्रत्याशा की जा सकती है ? विश्व-राज्य से इस योग्य होने की कैसी प्रत्याशा की जाये कि राष्ट्रों के विश्व-शान्ति को आशंकित करने वाले मतभेदों का यह शान्तिपूर्वक निपटारा कर सकेगा ?

हम इस निष्कर्ष की उपेक्षा नहीं कर सकते कि विश्व-राज्य के अभाव में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति स्थायी नहीं हो सकती तथा विश्व की वर्तमान नैतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों में विश्व-राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। अभी तक इस पुस्तक में जो कुछ कहा गया है, उसके आधार पर हम इस निष्कर्ष की भी उपेक्षा नहीं कर सकते कि आधुनिक इतिहास के किसी काल में सभ्यता को स्थायी शान्ति और इसलिये एक विश्व-राज्य की इससे अधिक आवश्यकता नहीं थी। न ही आधुनिक इतिहास के किसी काल में विश्व की नैतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियाँ विश्व-राज्य की स्थापना के लिये इससे कम अनुकूल थी। अन्त में, हम इस निष्कर्ष की भी उपेक्षा नहीं कर सकते कि जिस प्रकार एक समाज के अभाव में, जो राज्य को सहायता देने के लिये इच्छुक एवं योग्य हो, राज्य सम्भव नहीं है, उसी प्रकार एक विश्व-लोक-समाज के अभाव में, जो एक विश्व-राज्य को सहायता देने के लिये इच्छुक एवं योग्य हो, विश्व-राज्य सम्भव नहीं है।

दो मिथ्या समाधान

तब फिर विश्व-राज्य की कैसे रचना हो सकती है ? दो समाधान प्रस्तुत किये गए हैं विश्व-विजय तथा स्विटज़रलैंड एवं 1787 के संविधान सम्मेलन द्वारा संयुक्त राज्य की रचना के उदाहरण।

विश्व विजय

सभी ऐतिहासिक कृतियों में जो विश्व राज्यों के समीप आ सकती है, एक सामान्य वस्तु रही है एक शक्तिशाली राज्य ने उस समय के राजनीतिक विश्व के अन्य सदस्यों पर विजय प्राप्त कर इनका निर्माण किया इनमें से अधिकतर विश्व राज्यों में एक अन्य वस्तु भी सामान्य थी वे कठिनाई से अपने संस्थापकों के जीवन काल तक जीवित रह सके।

पाश्चात्य सभ्यता में इस नियम का केवल एक अपवाद रोमन साम्राज्य है। विश्व राज्य की दीर्घायु का कारण दो अपूर्व रूपान्तरण थे। रोमन विजेताओं ने पराजित लोगों को अपनी प्रबल सभ्यता में रोमन नागरिकों के रूप में स्वीकार कर अथवा उनका देशी सभ्यता से उन्मूलन कर उन्हें दास बना कर उनका रोमन लोगों में रूपान्तर कर दिया। तथापि विशेषकर यूनानी संसार की विजय की प्रक्रिया में रोमन विजेता ने पराजित जातियों की सभ्यताओं के प्रतिबिम्ब में अपनी सभ्यता का पुनर्निर्माण कर अपना ही रूपान्तर कर लिया। एकीकरण को इस दोहरी प्रक्रिया के द्वारा रोम ने एक नवीन नैतिक एवं राजनीतिक लोक समाज का निर्माण किया जो इसकी विजयों के साथ सहव्यापक था तथा जिसमें नवीन राज्य को स्थिरता प्रदान करने की क्षमता थी। इन दो रूपान्तरों के अतिरिक्त इस परिस्थिति की ओर भी ध्यान देना चाहिये कि भूमध्यसागरीय संसार की विजय के पश्चात् रोमन साम्राज्य का विस्तार राजनीतिक रूप से रिक्त स्थानों में हुआ जहाँ असभ्य लोग बसे हुए थे तथा जिनकी शिथिलतापूर्वक संगठित सभ्यतायें विजेता की श्रेष्ठ एवं आकर्षक सभ्यता के प्रभाव में विघटित हो गयी।

अन्य विश्व राज्यों का जैसे ही विजय द्वारा निर्माण किया गया, वैसे ही वे विघटित हो गये। क्योंकि शक्ति द्वारा निर्मित राजनीतिक एवं सैनिक अधिरचना के नीचे राष्ट्रीय समाज निवास करते थे। इनमें से प्रत्येक के अपने पृथक नैतिक मान एवं राजनीतिक हित थे तथा प्रत्येक विजेता की सत्ता को प्रकम्पित करने का प्रयत्न करता था। ये विश्व राज्य एक विश्व लोक समाज के, जो इनके साथ सहव्यापक हो, स्वाभाविक विकास नहीं थे वरन् इनका शक्ति द्वारा निर्माण हुआ था तथा इन्हें कृत्रिम रूप से अनिच्छुक राष्ट्रीय समाजों के बाहुल्य पर अध्यारोपित किया गया था। यह निश्चय ही सत्य है जैसेकि उदाहरण के लिये

नेपोलियन के भावी विश्व-राज्य का ग्रेट-ब्रिटेन एवं रूस की अप्रयुक्त शक्तियों ने विनाश कर दिया। तथापि जब 1812 में सर्वप्रथम उस साम्राज्य के प्रसार की एक मुख्य-योजना में असफलता के कारण दुर्बलता प्रदर्शित हुई, राष्ट्रीय समाजों ने, जिनके द्वारा इसका निर्माण हुआ था, पुन. अपने अधिकारों की माँग की तथा इसे समाप्त करने के लिये ब्रिटेन एवं रूस के साथ सम्मिलित हो गये।

छोटे पैमाने पर विजयों को, जो विजयी एवं पराजित जातियों को एक नवीन लोक समाज में एकीभूत करने में असमर्थ रहती है, विद्रोह एवं जातीय पार्थक्यवाद की कम आशंका होती है। आयरलैण्ड एवं ग्रेट-ब्रिटेन के तथा पूर्वी यूरोप के अनुधावी राष्ट्रों एवं रूस के सम्बन्ध इसके उदाहरण हैं। यदि विजेता अतिप्रबल शक्ति एकत्रित कर सकता है, तब एक ही राज्य में निवास करने वाले दो राष्ट्रीय समाजों के विरोध में शान्ति के लिये कोई भय उत्पन्न नहीं होगा। लेकिन यदि पराजित लोगों की शक्ति विजेता की शक्ति से बहुत कम न हो, तब विजेता एवं पराजित के बीच गृह-युद्ध की सम्भाव्य स्थिति राज्य की शक्ति को समाप्त कर देगी। परन्तु युद्ध की वर्तमान परिस्थितियों में इसके अस्तित्व को कोई भय नहीं होगा।

ये सीमित विजयों के, जो अपने साथ सह-व्यापक एक नवीन लोक-समाज की रचना करने में असमर्थ होती है, सम्भावनीय परिणाम है। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस विश्व-राज्य का निर्माण विजय द्वारा होता है और जिसे एक विश्व लोक-समाज की सहायता का अभाव है, वह अपनी सीमाओं के अन्दर तभी शान्ति स्थापित रख सकता है जब वह अपने लाखों सैनिकों एवं सिपाहियों में जिनकी एक अनिच्छुक मानव-जाति पर इसका शासन प्रवर्तित करने के लिये आवश्यकता होगी, पूर्ण अनुशासन एवं भक्ति की उत्पत्ति कर सके और यह अनुशासन एवं भक्ति बनी रहे। इस प्रकार का विश्व-राज्य मिट्टी की शक्ति पर आधारित एक सम्रग्रवादी दैत्य होगा, जिसका विचार मात्र ही कल्पना को भयभीत कर देता है।

संयुक्त-राज्य एवं स्विट्जरलैंड के उदाहरण

विश्व-राज्य से जो सम्पादन करने की प्रत्याशा की जाती है, उसे स्विट्जरलैंड ने पहले ही प्राप्त कर लिया है अर्थात् विभिन्न भाषा, संस्कृति, इतिहास, निष्ठाओं एवं नीतियों वाले प्रभुसत्तापूर्ण राष्ट्रों के एक नवीन संघात्मक राज्य का निर्माण। स्विट्जरलैंड चार विभिन्न भाषायें बोलने वाले बाईस प्रभुसत्तापूर्ण राज्यों को एक राजनीतिक संगठन में एकीभूत करने में सफल हुआ है। विश्व के लगभग अस्सी राष्ट्रों में ऐसा ही सामर्थ्य क्यों नहीं होगा? यदि ये एक संघात्मक संविधान को

ग्रहण कर लें, जिस प्रकार स्विस लोगो ने किया है, तथा एक दूसरे से वैसा ही व्यवहार करें जैसा स्विस राज्य करते हैं तब विश्व-राज्य की समस्या का समाधान हो जायगा। यह तर्क हृदयग्राही प्रतीत होता है तथा सामान्य वाद-विवादो में इस पर बहुधा विचार किया जाता है। तथापि स्विस इतिहास के तथ्यो पर विचार करने पर यह निरर्थक हो जाता है।

सर्वप्रथम एकीकृत स्विस राज्य का प्रारम्भ 1848 में हुआ। इसके पूर्व स्विस राज्यो का एक राज्यमडल था, जो एक राज्य की अपेक्षा एक सफल राष्ट्र-सघ अथवा सयुक्त-राष्ट्रसघ के अधिक एकरूप था। इस राज्यमडल का विकास कई स्थायी सश्रयो से हुआ, जिनकी रचना तथाकथित फौरेस्ट कैन्टनो तथा कुछ सिटी कैन्टनो के बीच चौदहवी शताब्दी में हुई थी। ये सश्रय कुछ समरूप एव पूरक हितो के परिणाम थे, जो इन राज्यो को समान सकटो के विरुद्ध प्रतिरक्षा के लिये समीप लाये। ये सश्रय विशेष अवसरो के पश्चात् जीवित कैसे रह सके, जिनके कारण इनका उदय हुआ था, तथा सरकार के समान अभिकरणो के राज्यमडल के घनिष्ठ सम्बन्धो मे परिवर्तित तक कैसे हो गये ? इस प्रश्न का उत्तर स्विटजरलैंड की असाधारण परिस्थिति की व्याख्या प्रदान करेगी।

1 प्रारम्भिक राज्यमडल के तेरह सदस्यो मे, जो निकटस्थ क्षेत्र मे बसे हुये थे, जर्मन-साम्राज्य एव हैप्सबर्ग के प्रति, जिनकी ये सभी प्रजा थे जिनसे सामान्य प्रयत्नो द्वारा इन्होने अपने को स्वतन्त्र किया था, तथा जो इन सबकी स्वतन्त्रताओ के सामान्य शत्रु बने रहे, सामान्य विरोध के कारण एकता थी।

2 चौदहवी एव पन्द्रहवी शताब्दियो मे नाइट्स पर स्विस सेनाओ की विख्यात विजयो का दोहरा प्रभाव पडा। इन्होने कई शताब्दियो के लिये स्विस लोगो की यूरोप मे अत्यधिक उग्र सैनिको के रूप मे ख्याति स्थापित की, तथा इन्होने पर्वतीय घाटियो की, जो प्रारम्भिक राज्यमडल का आन्तरिक भाग थी, विदेशी आक्रमण से वास्तविक निरापदता सिद्ध की।

3 स्विस लोगो पर आक्रमण के इन सैनिक सकटो की तुलना मे विजय के आकर्षण बहुत कम थे। इन घाटियो के प्राकृतिक साधनो की दरिद्रता की ओर ध्यान दिया जाये तो ये आकर्षण अनन्य सामरिक महत्त्व के थे, अर्थात् इटली को यूरोप के उत्तरी भाग से जोडने वाले अल्पाइन के दर्रों मे से कुछ पर आधिपत्य। तथापि चार शताब्दियो तक, नेपोलियन के युद्धो के महत्त्वपूर्ण अपवाद को छोडकर, स्विटजरलैंड के निकट महान् विरोधी शक्तियो ने अल्पाइन के दर्रों को स्विस लोगो से अपहरण करने की अपेक्षा यह अधिक लाभप्रद समझा कि स्विस लोग युद्धरत राष्ट्रो से इनकी रक्षा करें। परन्तु यह महत्त्वपूर्ण है कि शक्ति-सतुलन

का यह संरक्षक प्रभाव तभी तक रहा जब तक स्विट्जरलैंड शक्तिशाली पड़ोसियों मे प्रतिद्वन्द्विता बनी रही। इटली मे नेपोलियन की विजयो ने इस संरक्षण का शीघ्रातिशीघ्र विनाश कर दिया और 1798 के पश्चात् स्विट्जरलैंड विरोधी सेनाओं का असहाय भक्ष्य बन गया। यह भी स्मरण रखने योग्य है कि जब आस्ट्रिया जर्मनी एवं इटली त्रिराष्ट्र-सन्धय मे संयुक्त थे तब इटली के सर्वोच्च सैनिक पदाधिकारियो (General Staff) ने 6 बार जर्मनी के सर्वोच्च सैनिक पदाधिकारियो (General Staff) के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि फ्रांस के विरुद्ध स्विट्जरलैंड से होकर एक संयुक्त अभियान किया जाये।

इस प्रकार संवैधानिक व्यवस्था के रूप में यह केवल इच्छा की अभिव्यक्ति का कार्य मात्र ही नहीं था, परन्तु ये कोई विचित्र तथा सम्मिलित रूप में अपूर्व परिस्थितियाँ थी, जिनके कारण स्विट्जरलैंड का जन्म एवं जीवित रहना सम्भव हो सका। जबकि इन परिस्थितियो के कारण स्विट्जरलैंड शक्तिशाली पड़ोसियो के मध्य में जीवित रह सका, इन्ही परिस्थितियो के कारण यह अपने अगभूत भागो में शान्ति स्थापित नही रख सका। 300 से कुछ अधिक वर्षो के काल में स्विस-राज्यो में आपस में अनेक छोटे युद्ध एवं पाँच धार्मिक युद्ध हुये, जिनमें से अन्तिम 1847 में हुआ तथा इन युद्धो में सभी या प्राय सभी राज्य सन्निहित थे। अनेक क्रान्तियों एवं राज्य-विप्लवो द्वारा गृह-कलह हुये।

तब स्विट्जरलैंड के इतिहास से विश्व-राज्य की समस्या पर क्या प्रकाश पड़ता है? हम प्रोफेसर रेपर्ड के निष्कर्षों को स्वीकार कर सकते है कि राज्यमंडल के रूप में स्विट्जरलैंड के पास सीमित राष्ट्रीय सुरक्षा थी। इसका कारण था "विशेष परिस्थितियाँ जो इस राज्य-क्रम के लिये भी असबद्ध थी। जहाँ तक स्विस लोगो की पाँच शताब्दियो की सामूहिक सुरक्षा से वर्तमान पीढ़ी के लिये शिक्षा का प्रश्न है, यह शिक्षा स्पष्टतया नकारात्मक है। इसके साथ ही, इससे अत्यन्त अर्वाचीन काल से प्राप्त निष्कर्षों तथा सरल एवं साधारण बुद्धि से प्राप्त शिक्षा की पुष्टि होती है। जब तक अन्तर्राष्ट्रीय समाज की सुरक्षा केवल सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्यो के पूर्ण सहयोग पर निर्भर है, यह निश्चय ही अस्थिर होगी।"[4] इस प्रकार स्विस लोगो के अनुभव से हमारे अपने सीमित शान्ति की अस्थिरता सम्बन्धी निष्कर्षों की पुष्टि होती है तथा राष्ट्रीय राज्यो के ऊपर एक राज्य की स्थापना की आवश्यकता तथा कठिनाई को यह दृढ़ करता है।

---

4 William E Rappard, Cinq Siecles de Securite Collective (1291-1798) Paris : Librairie du Recueil Sirey, 1945), p. 594

जिस प्रकार संयुक्त-राज्य का निर्माण हुआ इसका उदाहरण वर्तमान काल मे विश्व राज्य के संविधान सम्मेलन द्वारा निर्माण की सम्भाव्यता के प्रमाण म प्राय दिया जाता है। वास्तव मे संयुक्त-राज्य का उदाहरण केवल किसी राज्य की, जिससे स्थिर रहने की आशा की जा सकती है पूर्व स्थित नैतिक एव राजनीतिक लोक-समाज पर निर्भरता को सिद्ध करता है।

जब 1787 में संविधान सम्मेलन हुआ, तेरह राज्य राजनीतिक वास्तविकता की दृष्टि से नही वरन् नाम मात्र के लिये प्रभुसत्ता सम्पन्न थ। उन्होने तेरह पृथक प्रभुसत्ताओं की स्थापना नही की थी, जिनका एक मे विलयन होने वाला था। जब 1776 में उन्होने ब्रिटेन से स्वतन्त्रता की घोषणा की, उसके पश्चात् प्रभुसत्ता अनिश्चित थी। संयुक्त राज्य की स्थापना द्वारा उन्होने एक प्रभुसत्ता को—ब्रिटिश क्राउन की—दूसरी प्रभुसत्ता से विनिमय कर लिया। और उन्होने एक सामान्य निष्ठा का दूसरी सामान्य निष्ठा स विनिमय किया। तब भी उनकी वही भाषा वही संस्कृति वही राष्ट्रीय परम्परा वही नैतिक विश्वास वही राजनीतिक हित बने रहे जिनका क्रान्तिकारी युद्ध म, जिसमे उन्होने एकता से एक कमान के अधीन लड़ाई की, अभी-अभी परीक्षण हुआ था। तेरह उपनिवेशों ने ब्रिटिश क्राउन के अधीन एक नैतिक एव राजनीतिक लोक समाज की स्थापना की थी। इसका उन्होने परीक्षण किया तथा वे इसक विषय म ब्रिटेन क विरुद्ध सामान्य युद्ध मे पूर्णत सचेत हो गये। अपनी स्वतन्त्रता की विजय क पश्चात् भी उन्होने इस लोक-समाज को स्थापित रखा। जैसाकि जॉन जे ने दी फेडरलिस्ट के दूसरे अङ्क मे लिखा है

ईश्वर ने प्रसन्नतापूर्वक इस सबद्ध देश को एकीभूत लोगो को प्रदान किया है, ये लोग एक ही पूर्वजों क वशज हैं, ये एक भाषा बोलते हैं एक धर्म को मानते हैं इनका सरकार के समान सिद्धान्तो मे विश्वास है इनके शिष्टाचार एव प्रथाओ मे बहुत समानता है तथा इन्होने संयुक्त विचार विमर्श, शस्त्रो एव प्रयत्नो द्वारा एक साथ एक दीर्घ एव रक्तपूर्ण युद्ध मे लड़कर अपनी सामान्य स्वतन्त्रता एव स्वाधीनता को उत्कृष्टतापूर्वक स्थापित किया है। "

हम मे से सभी स्तरो एव सम्प्रदायो क लोगो में समान भावनायें अब तक मा य रही हैं। सभी सामान्य उद्देश्यो के लिये हम लोग समरूपतापूर्वक एक राष्ट्र रहे हैं। प्रत्येक व्यक्तिगत नागरिक को सर्वत्र एक समान राष्ट्रीय अधिकार, विशेषाधिकार एव सरक्षण प्राप्त रह हैं। एक राष्ट्र क रूप में हमने सामान्य शत्रुओ को पराजित किया है एक राष्ट्र क रूप में हमने सन्धय एव सन्धियाँ बनाई हैं तथा विदेशी राज्यो के साथ अनक संविदा एव उपसंधियाँ की हैं।

फिलाडेल्फिया के सम्मेलन ने यही किया कि एक-संविधान, एक प्रभुसत्ता, एक राज्य के स्थान पर दूसरे को प्रतिस्थापित कर दिया, परन्तु दोनों ही समान पूर्वस्थित लोक-समाज पर आधारित थे। जहाँ पहले से तेरह पृथक् राज्य थे, सम्मेलन ने वहाँ एक राज्य का निर्माण नहीं किया। एक राज्य का निर्माण संविधान के मूलपाठ पर समझौते द्वारा हो सकता है, इसे सिद्ध करने की अपेक्षा संयुक्त-राज्य का निर्माण उपर्युक्त दोनों प्रस्तावों को सिद्ध करता है। राज्यों की सीमा में तथा राज्यों के बीच युद्ध हो सकते हैं, और संयुक्त-राज्य का संस्थापन एक नैतिक एवं राजनीतिक लोक-समाज के आधार पर हुआ था, जिसका संविधान ने निर्माण नहीं किया, वरन् जो पूर्व-स्थित था। अमरीकन लोगों का लोक-समाज अमरीकन राज्य से पूर्व वर्तमान था जैसेकि विश्व-राज्य के पहले विश्व लोक-समाज को वर्तमान रहना होगा।

तीसवाँ अध्याय

विश्व-लोक-समाज[1]

अन्तिम निष्कर्ष ने—कि विश्व-राज्य के पहले विश्व-लोक-समाज को अवश्य वर्तमान रहना होगा—विश्व-लोक-समाज की रचना के लिये दो प्रकार के प्रयत्नों को जन्म दिया है : संयुक्त-राष्ट्र का शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति का संगठन, जिसे यूनेस्को कहते हैं, तथा संयुक्त-राष्ट्र-संघ की अन्य विशेष एजेंसियाँ।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण यूनेस्को

यूनेस्को की धारा 1 के अनुसार :

इस संगठन का अभिप्राय राष्ट्रों में शिक्षा, विज्ञान एवं संस्कृति में सहयोग बढ़ाकर शान्ति एवं सुरक्षा में योग देना है। इसके फलस्वरूप न्याय, विधि-शासन, तथा मानव-अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं के प्रति, जिन्हें संयुक्त-राष्ट्र के चार्टर द्वारा संसार के सभी लोगों के लिये बिना जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेद-भाव के घोषित किया गया है, सर्वव्यापी सम्मान में वृद्धि होगी।

इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये यह संगठन :

(क) सामूहिक संसूचना के सभी साधनों द्वारा लोगों में परस्पर ज्ञान एवं समझ को बढ़ाने के कार्य में सहयोग देगा। इस लक्ष्य के हेतु यह ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों का सुझाव देगा, जो शब्द एवं प्रतिबिम्ब द्वारा विचारों के मुक्त प्रवाह में सहायक हों;

(ख) सदस्यों के अनुरोध पर शिक्षा-सम्बन्धी कार्यों की प्रगति में उनके साथ सहयोग देकर लोकप्रिय शिक्षा एवं संस्कृति के प्रसार को नवीन प्रोत्साहन देगा : राष्ट्रों में शिक्षा के अवसर समानतापूर्वक तथा जाति, लिंग अथवा आर्थिक या सामाजिक भेद-भाव के बिना प्राप्त करने के आदर्श में सहयोग स्थापित कर, स्वतन्त्रता के उत्तरदायित्व के हेतु विश्व, के बच्चों को तैयार करने के लिये सर्वोपयुक्त शैक्षिक साधनों का सुझाव दे कर;

---

1. इस सम्बन्ध में इस अध्याय के साथ विश्व-जनमत के विषय में जो कुछ अध्याय-17 में कहा गया है, उसे भी देखें।

(ग) पुस्तकों, कला की कृतियों तथा इतिहास एवं विज्ञान के स्मारकों की संसार की विरासत के संधारण एवं संरक्षण को निश्चित कर तथा सम्बन्धित राष्ट्रों के समक्ष आवश्यक अन्तर्राष्ट्रीय उपसन्धियों की सिफारिश कर; राष्ट्रों के बीच बौद्धिक क्रियाशीलता के सभी क्षेत्रों में, जिनमें शिक्षा, विज्ञान एवं संस्कृति में सक्रिय व्यक्तियों का अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय तथा प्रकाशित वस्तुओं, कला एवं विज्ञान-सम्बन्धी सामग्रियों तथा सूचना के अन्य उपादानों का भी समावेश है, सहयोग को प्रोत्साहन देकर, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के साधनों को, जिनसे सभी देशों के लोगों को किसी भी देश में छपी एवं प्रकाशित वस्तुयें प्राप्त होंगी, प्रारम्भ कर, ज्ञान का साधारण, वृद्धि एवं प्रसारण करेगा।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के संरक्षण में यूनेस्को जो योगदान देने के योग्य है, उसके मूल्यांकन के लिये तीन विभेद आवश्यक है: (1) संस्कृति एवं शिक्षा के प्रसार तथा उन्नति में साध्य के रूप में यूनेस्को कितना योगदान देने के योग्य है, हमें यहां इससे सम्बन्ध नहीं है। (2) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के संरक्षण में यूनेस्को जो योगदान देने के योग्य है, हमें उससे सम्बन्ध नहीं है, इस अध्याय के अन्त में इस पहलू पर विचार किया जायेगा। (3) हमें यहाँ केवल इस प्रश्न से सम्बन्ध है कि अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास, शिक्षा तथा सामान्य सांस्कृतिक कार्यों की प्रगति कर यूनेस्को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के संरक्षण के लिये क्या कर सकता है।

यद्यपि यूनेस्को के कार्यों में आन्तरिक गुण है, तथापि 'कार्नेगी एण्डाबमेण्ट फॉर इंटरनैशनल पीस' ने अपने 1948 के कार्यक्रम के मूल्यांकन के समय जो घोषित किया "अन्य सभी बातों के अतिरिक्त इसके वैयक्तिक कार्य स्पष्ट रूप से सदा शान्ति एवं सुरक्षा के रक्षोपाय से सम्बन्धित नहीं थे"[2] यूनेस्को के सभी कार्यों के विषय में सत्य है। यह त्रुटि यूनेस्को के कुछ विशेष कार्यक्रमों का आकस्मिक गुण नहीं है, जिनके संशोधन मात्र से वे अपने शान्ति-संरक्षण के कार्यों को परिपूर्ण कर लेंगे। इसके विपरीत, यह त्रुटि जन्मजात है, जिसका विकास उस दर्शन से हुआ है, जो इस एजेंसी की स्थापना से सम्बन्धित है, तथा यह इसके सभी कार्यों में समा गई है। इस प्रकार 17 नवम्बर, 1952 को यूनेस्को की जेनरल कान्फ्रेंस के वाद-विवाद का साराश देते हुए श्री जेम टोरेम बोडेट ने, जो डाइरेक्टर जेनरल के पद से हट रहे थे, चेतावनी दी कि "यूनेस्को के प्रयत्नों का व्यर्थ जाना सबसे बड़ा संकट है जिससे इसे अपनी रक्षा करनी होगी।"

यूनेस्को का दर्शन यह मानता है कि शिक्षा (विशेषकर जब इसका लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास है), सांस्कृतिक विनिमय, तथा साधारणतया वे सभी कार्य

2 International Conciliation No. 438, Feb., 1948 p 77.

जिनसे विभिन्न राष्ट्रों के सदस्यों में सम्पर्क एवं विश्वास बढ़ते हों, अवश्य ही एक अन्तर्राष्ट्रीय-लोकसमाज की स्थापना तथा शान्ति के संरक्षण में योगदान देंगे। इस अनुमान में यह कल्पना उपलक्षित है कि राष्ट्र राष्ट्रवादी होते हैं तथा वे एक दूसरे को भली भाँति जानते नहीं हैं और उनके शिक्षा एवं संस्कृति के स्तर भिन्न हैं। दोनों ही अनुमान गलत हैं।

सांस्कृतिक प्रगति एवं शान्ति

कुछ लोग आदिकालीन हैं, जिनके पास सास्थानिक शिक्षा का पूर्णत अभाव है तथा जो साधारणतया शान्ति-प्रिय एवं विदेशी संस्कृतियों के प्रभाव के प्रति आत्म-रक्षा के विषय में भी सग्रहणशील होते हैं। कुछ अन्य लोग हैं, जैसे जर्मन लोग, जिन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त है, जिनकी संस्कृति उच्च कोटि की है, तथा जो अपने इतिहास के अधिकांश में राष्ट्रवादी एवं युद्धप्रिय रहे हैं। पेरिक्लस के समय के यूनानियों ने तथा पुनर्जागरण (रेनासेंस) के समय के इटालियन लोगों ने ऐसी संस्कृतियों का सृजन किया, जिनके समान पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास में और कोई संस्कृति नहीं है। ये दोनों ही लोग इतिहास के इस काल में उतने ही राष्ट्रवादी एवं रणप्रिय थे, जितने उसके पहले या बाद में।

इसके अतिरिक्त कुछ राष्ट्रों, जैसे कि ब्रिटेन एवं फ्रांस, के इतिहास में राष्ट्रवादी पृथकत्व तथा युद्धप्रिय नीतियों के काल का सर्वदेशीयता तथा शान्ति-प्रियता के काल के साथ विकल्प होता रहा है, तथा इन परिवर्तनों और शिक्षा एवं संस्कृति की प्रगति में कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं है। चीनी लोगों की विद्या के प्रति आदर की परम्परा अन्य लोगों की इस परम्परा से उत्तम है तथा उनका सांस्कृतिक निष्पत्ति से भरपूर इतिहास अन्य किसी के इतिहास से दीर्घ है, और वह किसी से कम सृजनात्मक भी नहीं रहा है। शिक्षा एवं संस्कृति के इन उच्च गुणों के कारण चीनी लोग सैनिक की वृत्ति को तथा ऐसे सभी राष्ट्रों को, जिन्हें उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक चीनी सम्राट् के जंगली उपनिवेश समझा जाता था, घृणा की दृष्टि से देखते हैं। इनके प्रभाव से चीनी लोग कम राष्ट्रवादी अथवा अधिक शान्ति-प्रिय नहीं हुये हैं। हमारे समय में रूसी शिक्षा, विशेषकर साक्षरता एवं तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में, पहले से अधिक उन्नति के स्तर पर पहुँची है। इसकी श्रेष्ठता का रूसी लोगों पर विदेशी विचारों की सग्रहणशीलता के सम्बन्ध में अथवा रूसी सरकार की विदेशी नीतियों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है।

वेतरतीब ढंग से लिये गये इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा एवं संस्कृति की मात्रा एवं गुण विश्व-लोक-समाज के प्रश्न से सम्बद्ध नहीं

है। इस प्रश्न का सम्बन्ध सांस्कृतिक आदर्शों के ज्ञान, सृजन एवं प्रशंसा से नहीं, वरन् अपूर्व परिमाप के राजनीतिक रूपान्तरण से है।

सांस्कृतिक एकता एवं शान्ति

जो शिक्षा एवं संस्कृति के विषय में कहा गया है, वह उन शैक्षिक एवं सांस्कृतिक कार्यों के विषय में भी सत्य है, जिनका लक्ष्य विभिन्न राष्ट्रीय संस्कृतियों का विनिमय करना है। राष्ट्रीय सीमाओं को बीजातीत करते हुए अन्तर्निजीय सम्बन्धों का समूह हमारी समस्या का समाधान नहीं है। विशेष रूप से राष्ट्रीय सीमाओं से परे बौद्धिक एवं सौन्दर्य-बोध-विषयक सम्बन्धों के अस्तित्व से विश्व लोक समाज की स्थापना में कोई सहायता नहीं होगी। राजनीतिक कार्य-क्षमता से सम्पन्न एक विश्व-लोक-समाज, नैतिक मान तथा राजनीतिक कार्य का समुदाय है, बुद्धि एवं भावनाओं का नहीं। यदि अमरीका में एक विशिष्ट बौद्धिक वर्ग रूसी संगीत एवं साहित्य का आनन्द लेता है तथा रूस में शेक्सपियर की कृतियों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, तो इस तथ्य की उस समस्या से कोई संगति नहीं है, जिससे हमें सम्बन्ध है। विभिन्न राष्ट्रों के सदस्यों के समान बौद्धिक एवं सौन्दर्यबोधी अनुभवों में भाग लेने से एक समाज की रचना नहीं होती, क्योंकि इससे विभिन्न राष्ट्रों के सदस्यों में एक दूसरे के प्रति ऐसे नैतिक एवं राजनीतिक दृष्टि से संगत कार्यों का सृजन नहीं होता, जिनका सम्पादन वे उन अनुभवों में भाग नहीं लेने पर भी करते।

यह स्मरण करना चाहिए कि पश्चिम के राष्ट्रों ने, जिनमें रूस भी सम्मिलित है, बौद्धिक तथा सौन्दर्यानुभूति की अपेक्षा उच्च स्तर पर तथा स्पष्ट अभिप्राय से समान अनुभवों में एक हजार वर्षों से अधिक काल तक भाग लिया है। उन्होंने एक ही ईश्वर के समक्ष प्रार्थना की है, समान मौलिक धार्मिक विश्वासों को माना है, समान नैतिक कानूनों द्वारा बँधे रहे हैं, तथा समान धार्मिक प्रतीकों को माना है। धार्मिक अनुभवों का यह लोक-समाज, जिसका व्यक्ति के कार्यों एवं सम्पूर्ण व्यक्तित्व से अधि-राष्ट्रीय बौद्धिक एवं सौन्दर्यबोधी अनुभवों की अपेक्षा बहुत अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है, एक प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय लोक-समाज की रचना में सफल रहा है, परन्तु ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय लोक-समाज की रचना में नहीं, जिसका यथेष्ट रूप से एकीकरण हुआ हो तथा जिससे विश्व-राज्य सम्भव हो सके। तब हम यह कैसे प्रत्याशा करें कि चैकोवस्की की संगीत-रचनायें, डोस्तोवेस्की की महानता, फेडरलिस्ट की अन्तर्दृष्टि, तथा मोबीडिक की कल्पना, जिनमें सभी अमरीकन एवं रूसी लोग समान रूप से भाग लेते हैं, भावनाओं के एक अस्थिर लोक-समाज की ही नहीं वरन् नैतिक विश्वासों एवं राजनीतिक कार्यों

के ऐसे लोक-समाज की रचना कर सकेंगे जो पुरानी निष्ठाओं को समाप्त कर नई निष्ठायें स्थापित कर सकें ?

इतिहास ने इस प्रश्न का एक निश्चित उत्तर दिया है। यूनेस्को के सामर्थ्य से अधिक घनिष्ठ सांस्कृतिक एकता का इतिहास के सभी युगों में युद्ध के साथ सह-अस्तित्व रहा है। हमारा अभिप्राय यहाँ गृह-युद्धों से नहीं है, जो परिभाषा के अनुसार समान राष्ट्रीय संस्कृति के सदस्यों के बीच होते हैं। यूनानी नगर-राज्यों के युद्ध, मध्ययुग के योरुपीय युद्ध, सोलहवीं एवं सत्रहवीं शताब्दियों के धार्मिक युद्ध, यहाँ तक कि अठारहवीं शताब्दी के भी युद्ध—जहाँ तक विशिष्ट वर्ग का सम्बन्ध है, एक सजातीय संस्कृति के ढाँचे के अन्दर लड़े गये। इन संस्कृतियों के सभी आवश्यक तत्व समान थे—अर्थात् भाषा, धर्म, शिक्षा, साहित्य तथा कला। तथापि ये संस्कृतियाँ ऐसे लोक-समाज का निर्माण नहीं कर सकीं, जो इनके साथ सहव्यापक हो, तथा जो विघटन की प्रवृत्तियों को रोक सकें और उन्हें शान्ति के मार्ग पर लगा सकें। तब यह कैसे प्रत्याशा की जा सकती है कि ऐसी संस्कृतियों के, जो उन सभी तत्वों में विभिन्न हैं, जिनमें ऐतिहासिक संस्कृतियाँ समरूप थीं, विनिमय द्वारा एक लोक-समाज की रचना हो सकती है ?

अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास एवं शान्ति

यूनेस्को के तीसरे अभिप्राय अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास से यूनेस्को की अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की संकल्पना का आधारभूत दोष स्पष्ट होता है। यह विश्वास किया जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष अन्य लोगों की बौद्धिक हीनता, अज्ञानता एवं विचारशीलता के अभाव का परिणाम है। यदि अमरीकन और रूसी लोग एक दूसरे को समझ सकते तब उन्हें पता लगता कि वे कितने एक समान हैं, उनमें कितना कुछ समान है, तथा उन्हें लड़ने के लिये कितनी कम बातें हैं। इस तर्क में दो दोष हैं।

वैयक्तिक अनुभव से, जिसे कोई भी अपनी इच्छानुसार बढ़ा सकता है, यह स्पष्ट होता है कि अधिक मित्रता निश्चय ही अधिक विश्वास की समवर्ती नहीं है। निश्चय ही ऐसे अगणित उदाहरण हैं, जिसमें ए ने बी के चरित्र एवं उद्देश्यों को गलत समझा तथा तथ्यों के स्पष्टीकरण से संघर्ष का मूल कारण दूर हो गया। ऐसा तब नहीं होता जब ए एवं बी ऐसे संघर्ष में संलग्न हों, जिसमें उनके महत्त्वपूर्ण हितों का प्रश्न हो। ए बी से आर्थिक लाभ के हेतु इसलिये झगड़ा नहीं करता कि वह बी के अभिप्राय को गलत समझता है, बल्कि ऐसा इसलिए होता है कि वह उन्हें अच्छी तरह समझता है। बहुत से अमरीकन जो भाई फ्रांसीसी लोगों के प्रति, जिन्हें वे जानते नहीं थे, मित्रता की भावनाओं

के साथ फ़ास गये। उन्हें समझने के आघात से उनकी मित्रतापूर्ण भावनाएँ समाप्त हो गईं। इसी प्रकार रूस में मित्रतापूर्ण भावनाओं के साथ गये अनेक पर्यटकों के समान अनुभवों को और स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं है।

प्रारम्भ से ही नात्सी प्रशासन के विदेशी लक्ष्यों का युद्ध का संकट लेकर भी दृढ़तापूर्वक विरोध करने वालों में से कुछ ऐसे व्यक्ति थे, जिन्हें जर्मन-संस्कृति का प्रगाढ़ ज्ञान था। इसी ज्ञान के कारण वे नात्सी प्रशासन के कठोर शत्रु बन गये। इसी प्रकार रूसी इतिहास एवं संस्कृति के विद्यार्थी, जो वास्तव में रूस तथा रूसी लोगों को समझते हैं, रूस के पक्ष अथवा विपक्ष में वातोन्माद (हिस्टीरिया) से अप्रभावित रहे हैं। वे रूसी विस्तार के प्रारम्भिक अभिप्रायों तथा रूसी राजनय के प्रारम्भिक तरीकों से अवगत रहे हैं। यदि उनके ज्ञान का पाश्चात्य प्रजातन्त्रों के विदेशी सम्बन्धों के संचालन पर प्रभाव होता, तो यह संचालन निश्चय ही, जैसा कि वह वास्तव में था, उससे अधिक सुबोध एवं सफल होता। इस ज्ञान से सोवियत संघ के साथ श्रेष्ठतर सम्बन्ध होते कि नहीं, यह एक खुला प्रश्न है। एक कुशल एवं सफल विदेश-नीति अमरीकन एवं रूसी लोगों के इस ज्ञान पर निर्भर करती है कि दोनों राष्ट्र क्या हैं और क्या चाहते हैं। अन्तिम विश्लेषण में संयुक्त-राज्य एवं सोवियत-संघ में शान्ति इस बात पर निर्भर करती है कि जो एक है और जो कुछ वह चाहता है, वह इससे संगत है अथवा नहीं कि दूसरा क्या है और क्या चाहता है।

इस प्रेक्षण से यूनेस्को की अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषय में संकल्पना का अन्य दोष भी स्पष्ट हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास द्वारा दूर किये जा सकते हैं, यह संकल्पना इस उपलक्षित कल्पना पर आधारित है कि अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों की समस्यायें जिनका जन्म अविश्वास के कारण होता है, काल्पनिक मात्र है तथा वास्तव में कोई ऐसी समस्या नहीं है जिसपर राष्ट्रों के बीच युद्ध हो। सत्य से अधिक दूर इससे और कुछ भी नहीं हो सकता। सभी बड़े युद्ध, जिन्होंने इतिहास की दिशा निश्चित की तथा पृथ्वी का राजनीतिक ढाँचा परिवर्तित किया, काल्पनिक नहीं, वरन् वास्तविक कारणों के लिये लड़े गये। उन सभी बड़े उपद्रवों में समस्या यह थी: कौन शासन करेगा और कौन शासित होगा ? कौन स्वतन्त्र होगा तथा कौन दास बनेगा ?

क्या भ्रम ही यूनानी एवं परशियनों के बीच, स्पार्टनियनों एवं मेसिडोनियनों के बीच, यहूदियों एवं रोमनों के बीच सम्राट् एवं पोप के बीच, बाद के मध्ययुग में अंग्रेजों एवं फाँसीसियों के बीच, तुर्की और आस्ट्रिया के लोगों के बीच, नेपोलियन एवं यूरोप के बीच, हिटलर एवं विश्व के बीच की समस्या का मूल कारण था ? क्या दूसरी ओर भी संस्कृति, चरित्र, एवं अभिप्रायों के विषय

मे भ्रम ही मुख्य प्रश्न था, जिसके कारण वे युद्ध किसी और वास्तविक प्रश्न पर नही लड़े गये ? या क्या यह नही कहा जा सकता कि इनमे से अनेक सघर्षों मे वास्तव मे भावी विजेता की सस्कृति चरित्र एव अभिप्रायो के भ्रम के कारण ही कुछ समय के लिये शान्ति-सरक्षण सम्भव हो सका, जबकि इन तत्वो के ज्ञान से युद्ध अवश्यभावी हो गया ? जब तक एथीनियन लोगो ने डेमोस्थनीज की चेतावनियो की ओर ध्यान नही दिया, युद्ध की धमकी दूर रही। जब उन्होने मेसिडोनियन साम्राज्य की प्रकृति एव नीतियाँ समझ ली, तब—और अब उनका परित्राण सम्भव नही था —युद्ध अवश्यम्भावी हो गया। ज्ञान एव सघर्ष की अवश्यम्भाविकता का सम्बन्ध उन दु:खद अनुभवो मे से है, जिन्हे इतिहास भावी पीढ़ियो को प्रदान करता है। जितना ही एक दूसरे की स्थिति चरित्र एव अभिप्रायो को समझता है, उतना ही सघर्ष अधिक अवश्यम्भावी प्रतीत होता है।

इसके महत्त्वपूर्ण आन्तरिक गुणो की अपेक्षा भी यूनेस्को का कार्यक्रम विश्व-लोक-समाज की समस्या के लिये असगत है, क्योंकि विश्व-लोक-समाज मे अवरोध का इसका विश्लेषण मुख्य तत्व की पूर्णत: अवहेलना करता है। विश्व-लोक-समाज की समस्या नैतिक एव राजनीतिक है, बौद्धिक एव सौन्दर्यानुभूति-विषयक नही। विश्व-लोक-समाज नैतिक निर्णयो एव राजनीतिक कार्यो का समुदाय है, बौद्धिक एव सौन्दर्यानुभूति-विषयक कृतियो की प्रशसा का नही। हम यह अनुमान कर लें कि अमरीकी तथा रूसी शिक्षा एव सस्कृति उत्कर्ष के समान स्तर पर लाई जा सकती है अथवा उन्हे पूर्णतया समामेलित किया जा सकता है, तथा रूसी लोग मार्कट्वेन का उसी प्रकार अध्ययन करेंगे जिस प्रकार अमरीकन लोग गोगल का अध्ययन करेंगे। यदि यह स्थिति हो जाती, तब भी सयुक्त-राज्य एव सोवियत सघ के बीच यह समस्या आज की तरह रहती कि केन्द्रीय यूरोप (Central Europe) का नियन्त्रण कौन करेगा। जब तक लोग अधिराष्ट्रीय की अपेक्षा राष्ट्रीय स्तरो एव निष्ठाओ से निर्णय तथा कार्य करेंगे तब तक विश्व-लोक-समाज अभिधारणा मात्र रहेगा, जिसके पूर्ण होने के लिये प्रतीक्षा करनी होगी।

कार्यात्मक दृष्टिकोण

सयुक्त-राष्ट्र की विशेष एजेंसियाँ

आदर्शों एव निष्ठाओ का रूपान्तर किस प्रकार किया जायेगा ? सयुक्त-राष्ट्र की एजेंसियो ने एक मार्ग प्रदर्शित किया है। ये स्वायत्त सगठन हैं, तथा इनका अस्तित्व अनेक राज्यो के बीच, जिनकी अनन्यता विभिन्न एजेंसियो

के लिये भिन्न है, विशेष समझौतो के कारण है। इनके अपने संविधान है, अपने बजट हैं, अपने नीति-निर्धारण एवं शासन के लिये निकाय हैं, तथा प्रत्येक एजेंसी की अपनी सदस्यता है। इनमे से कुछ एजेंसियो के नाम इनके द्वारा सम्पादित होने वाले कार्यो का सकेत करते हैं. अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सगठन, खाद्य एव कृषि-सगठन, पुनर्निर्माण एव विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय-बैंक, अंतर्राष्ट्रीय-मुद्रा-विधि, अन्तर्राष्ट्रीय दूरसचार-सघ, विश्व-डाक-सघ, अन्तर्राष्ट्रीय असैनिक विमानन-सघ, यूनेस्को, विश्व-स्वास्थ्य-सगठन।

सयुक्त-राष्ट्र के चार्टर के ग्यारहवें एव बारहवें अध्याय सयुक्त-राष्ट्र एव विशेष एजेंसियो के बीच सगठन सम्बन्धी तथा कार्यात्मक सम्बन्धो को निर्धारित करते हैं। यह चार्टर राष्ट्रीय सम्बन्ध की ओर ध्यान न देते हुए व्यक्ति के अधिकारो एव हित के लिए सयुक्त-राष्ट्र के उत्तरदायित्व को जितना महत्त्व देता है, उतना अन्तर्राष्ट्रीय-सगठन के इतिहास मे कभी नही दिया गया। इसके लिए विशेष अंग स्थापित किया है। आर्थिक एव सामाजिक परिषद् के पास विशेष एजेंसियो के साथ समझौते करने की शक्ति है—ऐसा इसने कई बार किया भी है। '' ''इन समझौतो मे ''उन शर्तों को निर्धारित किया जाता है, जिनके आधार पर उस एजेंसी विशेष के साथ सयुक्त-राष्ट्र का सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा।[3] ''सयुक्त-राष्ट्र'' विशेष एजेंसियो की नीतियो एव कार्यों के समन्वय के हेतु सिफारिशें कर सकता है''।[4] आर्थिक एव सामाजिक परिषद् विशेष एजेंसियो से नियमित एव विशेष रिपोर्ट प्राप्त करने के लिये कार्य कर सकती है तथा सयुक्त-राष्ट्र के सदस्यो तथा विशेष एजेंसियो के अनुरोध पर सेवायें प्रदान कर सकती हैं।[5]

सयुक्त-राष्ट्र के सहयोग के साथ विशेष एजेंसियो द्वारा सम्पादित किये जाने वाले सामाजिक एव आर्थिक कार्यों के पीछे क्या दर्शन है? अन्तर्राष्ट्रीय-लोक-समाज की समस्या के लिये इस दर्शन का क्या महत्त्व है? प्रोफेसर मिट्रेनी ने इस प्रश्न का उत्तर योग्यता एव हृदयग्राह्यता के साथ दिया है।

यदि विश्व का दो विभिन्न एव प्रतिद्वन्द्वी राजनीतिक इकाइयो मे विभाजन सघर्ष एव युद्ध की बुराई का कारण है, तब क्या इस विभाजन के परिवर्तन अथवा इसके कम होने से यह बुराई लुप्त हो जायगी? पृथक् इकाइयो मे किसी भी राजनीतिक पुनर्संगठन का शीघ्र अथवा विलम्ब से वही प्रभाव होगा; यदि किसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली द्वारा एक नये विश्व का प्रारम्भ होना है, तब

3 अनुच्छेद 63, पैराग्राफ 1।
4. अनुच्छेद 58, अनुच्छेद 62, 63, पैराग्राफ 2 से भी तुलना कीजिये।
5. अनुच्छेद 64, 66, पैराग्राफ 2।

THE UNITED NATIONS SYSTEM



संयुक्त राष्ट्र व्यवस्था

Internat onal Court of Just ce

General Assembl

Security Council

Trus eesh p Counc l

Econon c and Soc al Counc l

Secretar at

International Atomic Energy Agency

M y Staff Comm ttee

D sarmament Commission

Un d N ons Spec al Fund

Un ed Na ons Ch d ens Fund

H gh Comm oner for Refug es

Sc n fic Comm ttee on Eff ts of A omic Rad a on

Ad sory Comm ttee on P ce u Uses of A omic Ene gy

Ad sory Comm ttee on Adm str ve and Budgetary Quest ons

Un ed N tions Emergency Force

International Law Commission

Comm ssions

Stat stical

Population

Social

Human Rights

Status of Women

Narcotic Drugs

In e na onal Comm od y Trade

Econom c Comm on for Af ica

Econom c Comm ss on for La n Amer ca

Econom c Comm ss on for Eu ope

Economic Comm ssion for A a and the Far Ea

Specialized Agencies

UPU Universal Postal Union

ITU Int rnational Telecommunication Union

ICAO International Civil A ation Organization

WMO World Meteorological Organization

FAO Food and Agriculture Organizat on

FUND In erna onal Monetary Fund

BANK Interna onal B nk for Re on ru on and D elopment

UNESCO Un d Na ons Educa on l Sc n fic and

ILO Inte na ional Labor O gan a on

WHO Wo ld Heal h O gan a on

IMCO Interg v rnmental Ma time Consultat e O ganization

RELATED BY AGREEMENT

DIRECT RELATION

इस प्रणाली को विपरीत प्रभाव के द्वारा राजनीतिक विभाजन को अवश्य अधीनस्थ करना होगा। जहाँ तक विचार किया जा सकता है, इस उद्देश्य की प्राप्ति के दो उपाय हैं। एक उपाय है विश्व-राज्य, जो शक्ति द्वारा राजनीतिक विभाजनों को समाप्त कर देगा, दूसरा उपाय, जिसका इन पृष्ठों में वर्णन किया गया है, राजनीतिक विभाजनों को अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों एवं संस्थाओं के विस्तृत जाल से एक प्रकार से ढक देगा तथा इसमें और इसके द्वारा सभी राष्ट्रों के हितों और जीवन का धीरे-धीरे एकीकरण हो जाएगा। यही मौलिक परिवर्तन है, जिसकी प्राप्ति के लिए किसी भी प्रभावकारी अन्तर्राष्ट्रीय प्रणाली को अवश्य प्रयत्न करना चाहिए तथा योगदान देना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय सरकार को अन्तर्राष्ट्रीय कार्यों के साथ सह-व्यापक बनाने के लिए जितना सम्भव हो सके इसे सार्वजनिक आवश्कताओं की ओर, जो स्पष्ट है, ध्यान देना चाहिए, तथा सामाजिक एकता को, जो अभी अन्तर्हित एवं अज्ञात है, कम से कम महत्त्व देना चाहिए।—(इस प्रकार) यह लोक समाज विश्वास द्वारा एक सक्रिय व्यक्तित्व प्राप्त कर लेगा। यह प्रवृत्ति सरकार का अधिकारों एवं शक्तियों के क्षेत्राधिकार के नियमित संवैधानिक विभाजन के आधार पर पारम्परिक संगठन के स्थान पर विशेष लक्ष्यों एवं आवश्यकताओं के हेतु तथा उनके समय और स्थान के अनुसार संगठन करेगी। कार्यात्मक दृष्टिकोण सीमा की रेखाओं को सार्वजनिक कार्यों एवं सार्वजनिक शासन-संस्थाओं के स्वाभाविक विकास से ढक कर उन्हें अर्थहीन कर देगा तथा इस प्रकार निश्चित एवं रचनात्मक सार्वजनिक कार्यों एवं आदतों के विकास में सहायता करेगा।[6]

वास्तव में, इसी प्रकार लोक-समाजों का विकास होता है तथा इसी प्रकार सरकारों का विकास लोक समाजों में से होता है। हमने पहले भी देखा है कि प्रभुसत्ता सिद्धान्त बनने के पूर्व एक तथ्य थी तथा अमरीकन लोगों ने राज्य की रचना के पूर्व एक लोक-समाज का निर्माण किया। तब जहाँ कोई लोक समाज न हो, वहाँ इसकी रचना कैसे होगी?

प्रोफेसर मिटरेनी के अनुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय लोक-समाज का विकास विभिन्न राष्ट्रों के सदस्यों की सार्वजनिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति से होना चाहिए। संयुक्त राष्ट्र की विशेष एजेंसियाँ, जो राष्ट्रीय सीमाओं का ध्यान न रखते हुए, समस्त संसार में लोगों की सेवा करती हैं, अपने अस्तित्व तथा कार्य-सम्पादन के तथ्य मात्र से ही हितों, नियमों, तथा कार्यों के लोक-समाज की

6 David Mitrany, A Working Peace System (4th ed ; London, National Peace Council, 1946), pp 14, 15, 18, 28, 34,35, (Reprinted by permission of the author).

रचना कर सकते है। अन्त मे, यदि ऐसी सस्थायें पर्याप्त सख्या मे हो जायें तथा पृथ्वी पर अधिकतर लोगो की सर्वप्रधान आवश्यक्ताओ की परिपूर्ति कर सकें, तब इन सस्थाओ के प्रति तथा उस अन्तर्राष्ट्रीय लोक-समाज के प्रति, जिसकी ये एजेंसिया होगी, निष्ठायें पृथक् राष्ट्रीय समाजो तथा सस्थाओ के प्रति निष्ठाओ से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाएगी। ऐसा विकास वर्तमान विश्व-परिस्थितियो मे सम्भव है, इसके प्रमाण के लिए प्रोफैसर मिट्रेनी मुख्यतः द्वितीय-विश्व-युद्ध मे सम्मित राष्ट्रो के 'आग्ल-अमरीकन-कच्चा-माल-बोर्ड' एव मध्य पूर्व सभरण केन्द्र जैसे कार्यात्मिक अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियो के साथ अनुभव पर निर्भर करते हैं। ये उदाहरण कार्यात्मक दृष्टिकोण द्वारा लाई गई समस्या को स्पष्ट करते हैं।

युद्ध मे समान हित के प्रति निष्ठाओ ने तथा समान शत्रु के ऊपर विजय मे समान स्वार्थ ने पृथक राष्ट्रीय निष्ठाओ को दबा दिया तथा मुख्य महत्त्व की अन्तर्राष्ट्रीय कार्यात्मक एजेंसियो के सफलतापूर्वक परिचालन को सम्भव किया। शांतिकाल मे जो कुछ व्यक्ति को राष्ट्र प्रदान कर सकता है, वह अन्तर्राष्ट्रीय कार्यात्मक एजेंसियो द्वारा प्राप्त होने वाले लाभो से श्रेय मे अधिक प्रतीत होता है। विशेष करके, शक्ति के सघर्ष जो राष्ट्रो को पृथक् करते है तथा अरक्षा को जन्म देते हैं, एक राष्ट्र के अधिकतर सदस्यों के लिए राष्ट्र के साथ एकरूपता को अधिभावी हित का विषय बना देते हैं। राष्ट्र व्यक्ति को वैयक्तिक सुरक्षा, शक्ति की इच्छा की स्थानापन्न तृप्ति, तथा भौतिक आवश्यकताओ की तात्कालिक परिपूर्ति प्रदान करता है। 'विश्व-स्वास्थ्य सगठन' द्वारा किसी व्यापक रोग का सामना करने के लिए दी जाने वाली सहायता जैसे, कुछ आकस्मिक अपवादो को छोड़कर, सयुक्त-राष्ट्र की विशेष एजेंसियों द्वारा प्रदान की गई आशायें एव परितोषण साधारण लोगो के अनुभवो से बहुत दूर होते हैं तथा इनका प्रभाव अनेक मध्यस्थ राष्ट्रीय सस्थाओ द्वारा ही प्रतीत होता है। फलत इनके अन्तर्राष्ट्रीय उद्गमो को पाना कठिन हो जाता है। किसी विदेश में पत्र भेजते हुए विश्व-डाक-सघ को, जो अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसी इस परिचालन में इतना योगदान दे रही है, धन्यवाद देने की कौन सोचेगा?

इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कार्यात्मक एजेंसियो द्वारा सभी राष्ट्रो के सदस्यो के हित के लिये दिया गया योगदान पृष्ठभूमि मे क्षीण हो जाता है। जो सभी की आँखो के सामने है, वे हैं असीम राजनीतिक सघर्ष, जो पृथ्वी के बड़े राष्ट्रो मे विभाजन करते हैं तथा पराजित के हित को, यदि उसके अस्तित्व को ही नही, सकट में डालते हैं। यह प्रारम्भिक रूप मे अज्ञान के फलस्वरूप मिथ्या महत्त्व का प्रश्न नही है। यह वस्तुत: इस सत्य तथ्य की मान्यता है कि कार्यात्मक दृष्टि से एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यात्मक एजेंसी क्या करती है अथवा क्या नही

करती, इसकी अपेक्षा एक राष्ट्रीय सरकार क्या करती है, अथवा क्या नही करती, यह वैयक्तिक आवश्यकताओ की परिपूर्ति के लिये अधिक महत्त्वपूर्ण है। अन्य किसी बात से यह अधिक महत्त्वपूर्ण है कि राष्ट्रीय सरकार में विदेशी आक्रमण के विरुद्ध अपने राज्य-क्षेत्र एव नागरिको की रक्षा करने की तथा अपने राज्य-क्षेत्र मे शान्ति स्थापित रखने एव सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाये परिचालित रखने की कितनी योग्यता है। जो उदासीनता लोग अन्तर्राष्ट्रीय कार्यात्मक एजेंसियो के प्रति प्रदर्शित करते है, वह केवल मुख्य अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ के समाधान में इन सस्थाओ के अप्रधान भाग का बढा-चढा प्रतिबिम्ब है।

यह तब सत्य होगा, जब किसी राष्ट्र विशेष के राष्ट्रीय हितो एव एक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यात्मक एजेंसी के उद्देश्यो एव परिचालन मे कोई विरोध न हो। यदि इस प्रकार का विरोध हो, तो राष्ट्रीय हित की अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य पर विजय होती है। इस प्रकार यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि समकालीन विश्व राजनीति के क्षेत्र मे दो बडे विरोधियो मे से सोवियत सघ, जो परम्परा से विदेशी हस्तक्षेप से भयभीत तथा अपनी राजनीतिक एव आर्थिक प्रणाली की स्थिरता का अभिलाषी रहा है, नयी विशेष एजेंसियो मे से केवल तीन—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सघ, यूनेस्को, विश्व-अतरिक्ष-शास्त्रीय सगठन—का सदस्य बना है। यह केवल एक विश्व-स्वास्थ्य-सगठन के साथ सहयोग दे रहा है, तथा दो ऐसी एजेंसियो का सदस्य है, जिनका अस्तित्व एक शताब्दी के अधिकाश भाग से है तथा जो अपने स्वरूप मे अत्यन्त अराजनीतिक हैं—विश्व-डाक-सघ, जिसकी स्थापना 1874 मे हुई, तथा अन्तर्राष्ट्रीय दूर-सचार-सघ, जिसने क्रमश 1865 एव 1912 के अन्तर्राष्ट्रीय तार एव रेडियो-तार-सघो को प्रस्थापित किया।

तब कार्यात्मक दृष्टिकोण द्वारा विश्व-लोक-समाज की रचना कैसे हो सकती है, इस प्रश्न का उत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र मे है। इस सम्बन्ध मे तीन विभिन्न प्रकार की कार्यात्मक एजेंसियो का जो भाग है तथा जिस भाग के वे योग्य हैं, उसके विश्लेषण से यह सिद्ध होता है। ये एजेंसियाँ है उत्तर अटलांटिक-सन्धि-सगठन, यूरोपीय-समुदाय तथा आर्थिक एव तकनीकी सहायता के हेतु एजेंसियाँ। इन सभी एजेंसियो मे यह बात सामान्य है, वे एक सार्वजनिक समस्या के समाधान का अधिराष्ट्रीय स्तर पर तकनीकी कार्यो के समन्वय द्वारा प्रयत्न करती हैं, जिसका समाधान इनके सदस्यो मे से कोई एक अपने प्रयत्नो द्वारा नही कर सकता था। इस लक्ष्य के लिये ये अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की नई प्रक्रियाओं का उपयोग तथा विकास करती हैं, जिसका हमने ऊपर उल्लेख किया है।

ये प्रक्रियायें दो विभिन्न दृष्टियों से नवीन हैं। नये संयुक्त-राष्ट्र के आदर्श का अनुसरण करते हुये ये नीतियों के परिपालन में केन्द्रीय निर्देशन तथा अनुसरण की जाने वाली नीतियों के सम्बन्ध में बातचीत द्वारा किये गये समझौते को संयुक्त करती हैं। इस प्रकार ये शक्ति एवं साधनों की वास्तविक श्रेष्ठता को, जिसका सम्बन्ध सदस्यों में से किसी एक से अथवा एजेंसी से हो, सभी सदस्यों के समानता के वैध दावे के साथ संयुक्त करती हैं।

ये प्रक्रियायें इस दृष्टि से भी नवीन हैं— और इस सम्बन्ध में ये नवीन संयुक्त-राष्ट्र के परे जाती हैं——कि ये अन्तर्राष्ट्रीय एवं देशीय सम्बन्धों की पारस्परिक विभिन्नता को तथा इसके साथ दूसरे राष्ट्रों के देशीय क्षेत्रों में अ-हस्तक्षेप की उतनी ही पारस्परिक विभिन्नता को समाप्त करने का प्रयास करती हैं। क्योंकि इन प्रक्रियाओं की यह एक विशेषता है कि ये सैनिक उपक्रम, औद्योगिक उत्पादन, मूल्य एवं शुल्कदर जैसे विषयों का, जो परम्परा से वैयक्तिक राष्ट्रों के अनन्य देशीय क्षेत्राधिकार में माने जाते रहे हैं, अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में रूपान्तर करती है।

उत्तर अटलांटिक संधि-संगठन (नाटो)

नाटो स्थापित करने वाली सन्धि पर बेल्जियम, कैनाडा, डेनमार्क, फ्रांस, ग्रेट-ब्रिटेन, इटली, लक्जमबर्ग, नेदरलैंड्स, नार्वे, पोर्चुगाल, तथा संयुक्त-राज्य द्वारा 4 अप्रैल, 1949 को हस्ताक्षर हुये, ग्रीस एवं टर्की इस संगठन में फरवरी 1952 में सम्मिलित हुये। यह सन्धि अपने सदस्यों के लिये सामूहिक सुरक्षा का सिद्धान्त स्थापित करती है। अनुच्छेद 5 के अनुसार "यूरोप अथवा उत्तरी अमरीका में उनमें से एक या अधिक सदस्यों के विरुद्ध सशस्त्र आक्रमण सभी के विरुद्ध आक्रमण समझा जायेगा"—तथा इसका सभी प्रतिरोध करेंगे। यह सामान्य उद्देश्य नाटो का एवं पारम्परिक सश्रय से प्रभेद नहीं करता; न ही सदस्यों की सैनिक शक्ति बढ़ाने का तात्कालिक लक्ष्य ऐसा करता है। तथापि अपने सदस्यों में आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिरता बनाये रखना तथा उनमें घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करना और इन लक्ष्यों को एक जटिल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करना, ये भी नाटो के ध्येय हैं। इस संगठन का उद्देश्य अपने सदस्यों के बीच बातचीत द्वारा किये गये समझौते के आधार पर उनकी सैनिक एवं आर्थिक नीतियों को केन्द्रीय निर्देशन देना है। अपने व्यापक उद्देश्यों तथा इनको प्राप्त करने के लिये उपयोग की जाने वाली प्रविधियों के कारण नाटो वास्तव में पारम्परिक सश्रयों की सीमाओं से परे एक नवीन प्रकार के कार्यात्मक संगठन की ओर अग्रसर होता है।

नाटो के संगठन का सर्वोच्च अंग उत्तर अटलांटिक-परिषद् है, जिसमें प्रत्येक सदस्य राज्य के मंत्री-मंडल के उच्च कर्मचारी होते हैं। यह परिषद् नाटो का सर्वोच्च सरकारी अंग है, वैयक्तिक सदस्यों के लिये यह उत्पादन-सूची, बजट की आवश्यकतायें, सैनिक योगदान की मात्रा एवं गुण, तथा ऐसी अन्य वस्तुयें निश्चित करती है। प्रधान सचिव के नीचे एक अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारी-वर्ग परिषद् की सहायता करता है। यह एक वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है तथा केवल इस संगठन के लिये कार्य करती है। यह नाटो का स्थायी सिविलियन अधिकारी तन्त्र है।

इस परिषद् के नीचे अनेक सिविलियन एवं सैनिक संस्थायें कार्य करती हैं। नाटो के सैनिक संगठन की प्रमुख संस्था सैनिक समिति है, जिसमें सदस्य राष्ट्रों के 'चीफ आफ स्टाफ' हैं। यह परिषद् को सैनिक विषयों पर परामर्श देती है, सामान्य सुरक्षा के लिये सैनिक उपायों का प्रयोजन करती है तथा स्थायी वर्ग को निर्देश देती है। यह स्थायी वर्ग जिसमें अमरीकी, अंग्रेज एवं फ्रांसिसी चीफ आफ स्टाफ' है, सैनिक समिति की स्थायी कार्यपालिका संस्था है। यह उत्तर अटलांटिक सुरक्षा की सामान्य नीति के लिये उत्तरदायी है, तथा यह अनेक नाटो 'कमाण्ड्स' को सैनिक निर्देशन एवं अनुदेशन देता है। इन कमाण्ड्स में से सर्वोच्च मुख्यालय, संश्रित-शक्तियाँ, योरुप (शेप) सब से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यूरोप में सर्वोच्च संश्रित कमांडर के नीचे यह पश्चिमी यूरोप की समाकलित शक्तियों को निर्देशन देता है। 'शेप' (SHAPE) भी वास्तविक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है, और इसमें सदस्य राष्ट्रों के उच्च पदाधिकारी हैं। सर्वोच्च कमांडर स्थायी वर्ग से आज्ञायें प्राप्त करता है, परन्तु चीफ्स आफ स्टाफ तथा सदस्य राष्ट्रों में से किसी के भी उच्च पदाधिकारी के पास उनकी प्रत्यक्ष पहुँच रहती है।

नवीन कार्यात्मक एजेंसियों में से, जो सामान्य उद्देश्य के हेतु एक विशेष तकनीकी क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सरकार की नई प्रक्रियाओं का प्रयोग करती हैं, नाटो अपने क्षेत्र में, जिसमें सदस्य-राष्ट्रों की सैनिक, आर्थिक एवं वित्तीय नीतियाँ सम्मिलित हैं, सबसे अधिक महत्त्वाकांक्षी है। तीन तत्त्वों की सापेक्ष शक्ति एवं सम्बन्ध यह निश्चय करेंगे कि नाटो अपने तात्कालिक सैनिक उद्देश्य तथा अपने विस्तृत एवं दूरवर्ती राजनीतिक एवं सामाजिक लक्ष्य प्राप्त कर सकेगा अथवा नहीं। नाटो के सदस्य एक एकीभूत सुरक्षा-प्रणाली की स्थापना को कितना अविलम्बनीय समझेंगे? उस सामान्य सैनिक कार्य की अविलम्बनीयता की तुलना में उन्हें अपने पृथक् राष्ट्रीय हित कितने महत्त्वपूर्ण प्रतीत होंगे? अन्त में, अमरीका की शक्ति किस प्रकार उन सम्बन्धों को प्रभावित करेगी, जिन्हें सदस्य राष्ट्रों की नीतियाँ उस सामान्य सैनिक कार्य एवं इन पृथक् हितों के बीच

स्थापित करेगी। दूसरे शब्दों में, सदस्य-राष्ट्रों की नीतियाँ इन दोनों में से किसको प्राथमिकता देंगी ?

एक सामान्य अधिराष्ट्रीय हित पृथक् राष्ट्रीय हितों, तथा अमरीका की शक्ति के बीच की यह पारस्परिक प्रक्रिया यह निश्चित करेगी कि नाटो अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर सकेगा अथवा नहीं। प्रथम दो तत्त्वों की पारस्परिक प्रक्रिया केवल नाटो के भविष्य के लिये ही महत्त्वपूर्ण नहीं है, यह यूरोपीय समुदायों के रूप में यूरोप के राष्ट्रों को कार्यात्मक आधार पर एकताबद्ध करने के लिये अन्य रूपाकनों की सफलता अथवा असफलता के लिये भी निर्णायक होगी।

यूरोपीय समुदाय

यूरोपीय समुदायों में यूरोप कोयला एवं इस्पात समुदाय, यूरोपीय आर्थिक समुदाय (सामान्य बाजार) तथा यूरोपीय परमाणु शक्ति समुदाय (युरेटम) सम्मिलित हैं। यूरोपीय कोयला एवं इस्पात समुदाय 25 जुलाई, 1952 को कार्यशील हुआ, जबकि दोनों अन्य समुदायों का कार्य 1 जनवरी, 1958 से प्रारम्भ हुआ। इनकी सदस्यता समरूप है, और इनमें बेल्जियम, फ्रांस, पश्चिम जर्मनी, इटली, लक्जमबर्ग, एवं नेदरलैंड्स सम्मिलित हैं। इनकी संरचना एक समान है, तथा इनकी कुछ संस्थायें सामान्य हैं, जो कुछ सीमा तक इनके लिये समरूप कार्य करती हैं।

इन समुदायों में यूरोपीय कोयला एवं इस्पात समुदाय संविधानी रूपांकन की दृष्टि से सबसे आगे है, क्योंकि इसके अधिराष्ट्रीय तत्त्व अधिक स्पष्ट हैं तथा ये दो अन्य समुदायों के तत्त्वों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कार्यों का सम्पादन करते हैं। नीति के परिचालन में ही नहीं, वरन् इसकी रचना में भी, यह सरकारी कार्यों को केन्द्रित करने में किसी अन्य (समुदाय) से आगे है। यहाँ केवल उच्च शक्ति एवं परिषद् के सम्बन्धों में बातचीत द्वारा नीति रचना, जिसे हमने नाटो की एक विशेषता पाया था, संवैधानिक आवश्यकता के रूप में वर्तमान रहती है।

यूरोपीय कोयला एवं इस्पात समुदाय की स्थापना इसके सदस्यों के कोयला एवं इस्पात उत्पादन के लिए एक बाजार के निर्माण के अभिप्राय से की गई। इस समुदाय में पाँच अंग हैं उच्च शक्ति, असेम्बली, परिषद्, न्यायालय तथा आर्थिक एवं सामाजिक समिति, जिसके केवल परामर्श-सम्बन्धी कार्य है।

उच्च शक्ति इस समुदाय का कार्यपालिका अंग है। इससे यह आशा की जाती है कि यह 'समुदाय के सामान्य हित के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता से" तथा किसी

सरकार के निर्देशन के बिना कार्य करेगी। इस अर्थ में यह एक वास्तविक अधि राष्ट्रीय संस्था है। इसके पास कोयला एवं इस्पात के मूल्यों, कराधान, अपनी आज्ञाओं के उल्लंघन के लिए दण्ड निवेश तथा ऋण लेन एवं देने के निर्देशन के सम्बन्ध में बन्धनकारी निश्चय करने की शक्ति है। सामान्य असेम्बली में 78 सदस्य हैं, जिनका चुनाव राष्ट्रीय-विधान-मण्डलों अथवा लोक निर्वाचन द्वारा होता है। यह उच्च शक्ति की वार्षिक रिपोर्ट का अवश्य अनुमोदन करेगी तथा दो तिहाई मत से यह अपने सदस्यों को त्याग-पत्र देने के लिए बाध्य कर सकती है। मन्त्रि-परिषद्, जिसमें प्रत्येक सदस्य-राज्य से एक प्रतिनिधि होता है उच्च शक्ति एवं सदस्य-राज्यों में कड़ी का तथा उच्च शक्ति पर निरोध का काम करती है, क्योंकि उच्च शक्ति के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्णयों के लिए परिषद् की सहमति की आवश्यकता होती है। न्यायालय उच्च शक्ति के निर्णयों के विरुद्ध अपीलों का फैसला करता है तथा सामान्य असेम्बली एवं मन्त्री-परिषद् के असवैधानिक कार्यों को रद्द करता है।

सभी यूरोपीय समुदायों की कार्यात्मक संगठनों के रूप से परिपक्वता उनके द्वारा सम्पादित होने वाले राजनीतिक कार्यों से स्पष्ट होती है। एक प्राचीन राजनीतिक समस्या के समाधान के लिए यूरोपीय समुदाय एक क्रांतिकारी प्रयत्न है। इस समस्या के दो मूल पहलू हैं। एक यूरोप के राज्यों में जर्मनी की स्वाभाविक श्रेष्ठता है दूसरा अन्य यूरोपीय राष्ट्रों की इस स्वाभाविक श्रेष्ठता को स्वीकार करने की अनिच्छा है। 1870 से यूरोपीय महाद्वीप के बड़े उपद्रव तथा इन उपद्रवों के पहले किये गये राजनयिक कार्य ये सभी इन्हीं दो तथ्यों से प्रभावित हुए हैं।

प्रथम महा-युद्ध के पूर्व एवं पश्चात् फ्रांस ने इन दोनों तथ्यों का सामना शक्ति सतुलन के तरीकों द्वारा करने का प्रयास किया, जैसा कि पिछली शताब्दियों में किया गया था। इसने अपनी आंतरिक दुर्बलता को सश्रयों की श्रृंखला से दूर करने का प्रयत्न किया, जिससे जर्मनी की स्वाभाविक श्रेष्ठता का प्रतिकार हो सके। इन प्रयत्नों में फ्रांस असफल रहा। दोनों विश्व युद्ध में फ्रांस की रक्षा इस की अपनी शक्ति द्वारा अथवा इसके महाद्वीपीय आश्रित राष्ट्रों द्वारा नहीं वरन् ग्रेट-ब्रिटेन और विशेषकर संयुक्त राज्य द्वारा हुई। यह असफलता एक अन्य तथ्य है, जिसको हमें यूरोपीय समुदायों के अवसरों का मूल्यांकन करते हुए ध्यान में रखना चाहिये।

ये समुदाय पारम्परिक तरीकों से, जिनसे निर्बल राष्ट्रों ने एक शक्तिशाली राष्ट्र का प्रतिकार करने का प्रयास किया, एक क्रांतिकारी प्रस्थान हैं। क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भाव्य रूप से इस शक्तिशाली राष्ट्र का, सश्रयों की श्रृंखला द्वारा प्रतिकार करने की अपेक्षा, फ्रांस अब जर्मनी को अपने निकट ला

कर उसे निष्क्रिय करने का तथा जर्मनी की श्रेष्ठ शक्ति को अहानिकारक बनाने का प्रयत्न कर रहा है। दूसरे शब्दों में, यूरोपीय समुदाय एक श्रेष्ठ एवं एक निर्बल शक्ति को मिलाने का प्रयास है, जिससे उनकी एकत्रित शक्ति का सामान्य नियन्त्रण हो सके। इस प्रकार फ्रांस विरोधी अभिप्रायों के हेतु जर्मनी की शक्ति के प्रयोग का तथा विशेषकर यूरोपीय महाद्वीप में जर्मनी द्वारा एक नवीन प्रभुत्व की स्थापना का विरोध करने में समर्थ होने की आशा करता है।

जिस प्रकार से यूरोपीय समुदाय इस लक्ष्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, उसमें भी ये उतने ही क्रान्तिकारी हैं। प्राचीन समय में, और विशेषकर अन्तर्युद्धीय काल में, यूरोप के एकीकरण का प्रयास एक प्रकार से शिखर से किया गया। अर्थात् एक विस्तृत वैध संगठन प्रस्तावित अथवा स्थापित किया गया, उन प्रयत्नों का ध्येय एक सर्वोच्च सरकार के लिये एक वैध संरचना की स्थापना करना था। यूरोप की परिषद् आज उसी दिशा में जा रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि यूरोपीय समुदाय विचार की गई संरचना के विपरीत कार्य आरम्भ करते हैं। ये शिखर की अपेक्षा तल से कार्य आरम्भ करते हैं। ये एक सीमित कार्य क्षेत्र में कार्यात्मक एकता का सृजन करने का प्रयत्न करते हैं और यह प्रत्याशा करते हैं कि उस सीमित क्षेत्र में उस एकता के परिचालन से सर्वप्रथम उस क्षेत्र विशेष में समुदाय हित की भावना आयेगी। इस उदाहरण का कृषि, यातायात, विद्युत, सैनिक बल जैसे कार्यक्षेत्र में विस्तार होगा। अन्त में, यह आशा की जाती है कि कार्यात्मक इकाइयों की इस शृंखला से राजनीतिक एकता का क्रमिक रूप से विकास होगा। यदि एक बार सभी कार्यात्मक संगठनों की कार्यशील इकाइयों के रूप में स्थापना हो जाये, तब वास्तव में बिना वैयक्तिक राष्ट्र के अवगत हुए प्रभुसत्ता का क्रमिक रूप से एक सामान्य यूरोपीय सरकार के पास स्थानान्तरण हो जायेगा।

इस रूपांकन की सफलता तीन मौलिक तत्त्वों पर निर्भर करती है, तथा इन सभी तत्त्वों का सम्बन्ध वैयक्तिक राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों और उनमें शक्ति के विभाजन से है। इस विषय में जो प्रथम प्रश्न अवश्य पूछा जायेगा, वह यह है: यूरोपीय समुदायों की विभिन्न एजेंसियों के बीच और अन्दर आन्तरिक शक्ति वितरण कैसा है? उदाहरण के लिये, उच्च शक्ति एवं समुदायों के आयोगों का संगठन क्या है? क्या इनका संगठन तकनीशनों द्वारा होता है, जो कोयला एवं इस्पात के उत्पादन एवं वितरण जैसी बातों की सर्वोत्तम तकनीक के विषय में अपने तकनीकी विश्वासों के आधार पर स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं? अथवा क्या वे सदस्य सरकारों के प्रतिनिधि हैं, जो सम्भवतः उनसे निर्देशन प्राप्त नहीं करते, परन्तु सदस्य-राष्ट्रों के राष्ट्रीय हितों को तथा इनके प्रति अपने समर्पण को अपने मस्तिष्क से निष्कासित नहीं कर सकते?

का मिथ्या संसदीय प्रतिनिधित्व है, क्या सम्बन्ध है ? और उच्च शक्ति अथवा आयोगों एवं परिषद् मे, जिसमे सम्बन्धी सरकारो के प्रतिनिधि हैं, क्या सम्बन्ध है ? उच्च शक्ति अथवा आयोगों, असैम्बली एवं परिषद् के कार्यों के विषय मे जो न्यायालय को कम से कम सिद्धान्त रूप मे फालतू शक्तियां दी गई है, उनका यह क्या प्रयोग करता है ?

दूसरी बात यह है कि सदस्य-सरकारो एवं समुदायो की एजेंसियो मे शक्ति-विभाजन किस प्रकार है ? उदाहरण के लिये, कानून के अनुसार, कोयला एवं इस्पात-समुदाय के कार्यपालिका अंग के रूप मे उच्च शक्ति के पास प्राथमिक रूप से अनुसन्धान-सम्बन्धी एवं अप्रत्यक्ष शक्तियां हैं। सघटक राष्ट्रो के क्षेत्रो मे इसके पास प्रत्यक्ष शासन सम्बन्धी प्राय कोई शक्तियां नही हैं। इसकी मुख्य शक्ति निवेश के क्षेत्र मे है, और यहाँ प्राथमिक रूप से अनिच्छुक सदस्य राष्ट्रो से निवेश, ऋण एवं ऋण के लिये प्रत्याभूति रोकने की इसकी नकारात्मक शक्ति है। परन्तु यदि इन अनिच्छुक राष्ट्रो को इन ऋणो की आवश्यकता न हो तब क्या होगा ?

तीसरी बात यह है कि सदस्य-राष्ट्रो में आर्थिक, सैनिक एवं राजनीतिक क्षेत्रो मे किस अंश मे एकता है ? दूसरे शब्दो में कोयला एवं इस्पात, परमाणु-शक्ति तथा व्यापार के क्षेत्रो मे आशा किये जाने वाले हितो के समुदाय और वैयक्तिक सदस्य राष्ट्रो के वास्तविक आर्थिक, सैनिक एवं राजनीतिक हितो मे क्या सम्बन्ध है ? उदाहरण के लिये जर्मनी के सभी लोगो की अपने देश के पुनः एकीकरण के लिये तथा फ्रास के लोगो की अल्जीरिया मे शान्ति-स्थापना के लिये अपूर्ण आकाक्षायें किस सीमा तक समुदायो के परिचालन मे अड़चन डालेंगी ? क्या समुदायो मे फ्रास एवं जर्मनी के आर्थिक हित इतने प्रबल है कि वे अपूर्ण राष्ट्रीय आकांक्षाओ का प्रतिकार और मूलोच्छेदन भी कर सकते हैं ?

आर्थिक एवं तकनीकी सहायता के लिये एजेंसियाँ

ध्येय, विषय-वस्तु एवं प्रक्रियाओ मे नाटो एवं यूरोपीय कोयला एवं इस्पात-समुदाय दोनों ही सापेक्ष रूप से उन्नतिशील कार्यात्मक एजेंसियाँ हैं। तथापि अनेक कार्यात्मक एजेंसियो की अपेक्षा बहुत निम्न तथा इन विषयो मे कम उन्नतिशील हैं, क्योंकि ये प्रादेशिक महत्त्व की हैं। यदि ये सफल होती हैं, तब राष्ट्रीय राज्य के पुराने ढग की पृथकता को ये निष्प्रभावित कर देंगी। एक विश्व-लोक-समाज मे इनका योगदान फिर भी एक विवाद-योग्य प्रश्न रहेगा, जिसका उत्तर शेष विश्व के प्रति नई अधिराष्ट्रीय प्रादेशिक संस्थाओ द्वारा अपनाई गई नीतियो द्वारा मिलेगा। समकालीन विश्व-राजनीति की परिस्थितियो मे प्रादेशिक कार्यात्मक एजेंसियाँ शीत-युद्ध मे एक या दूसरी ओर रत हो जाएँगी। इस प्रकार जबकि राष्ट्रीय राज्य के विषय मे

ये एकीकरण का प्रभाव डालती हैं, एक विश्व-लोक-समाज के अन्तिम लक्ष्य के सम्बन्ध में ये कम से कम कुछ समय के लिये अवश्य ही फूट डालने वाली शक्तियों को दृढ़ करेंगी।

आर्थिक एवं तकनीकी सहायता के लिये एजेंसियाँ यथेष्ट सीमा तक प्रादेशिकता के संघर्ष का परित्याग करती हैं, क्योंकि अधिकतर एजेंसियों द्वारा दी जाने वाली सहायता, कम से कम सम्भाव्य रूप में, अपने कार्यक्षेत्र में विश्व-व्यापी है। तथापि ये विषय-वस्तु ध्येय, एवं प्रक्रियाओं में आकारहीन हैं। अतः कार्यात्मक आधार पर संसार के एकीकरण में इनका प्रभाव अवश्य ही कम से कम कुछ समय के लिये, अमूर्त, अस्पष्ट एवं राजनीतिक रूप से प्रभावहीन होगा। यह इस श्रेणी की मुख्यतः तीन प्रकार की एजेंसियों के विषय में सत्य है संयुक्त-राष्ट्र की कार्यात्मक एजेंसियाँ एवं तकनीकी सहायता-मंडल, जिनकी संयुक्त-राज्य अथवा सोवियत-संघ द्वारा एकपक्षीय रूप से स्थापना हुई है, तथा कोलम्बो योजना के अन्तर्गत ब्रिटिश राष्ट्रमंडल द्वारा प्रदान की गई एजेंसियाँ। जब इन्हें एक विशेष राष्ट्र—जैसे सोवियत-संघ—के राजनीतिक हितों के समीप घनिष्ठतापूर्वक रखा गया है, तब ये एजेंसियाँ राजनीतिक रूप से बहुत प्रभावपूर्ण रही हैं, और इस प्रकार इन्होंने कम से कम कुछ समय के लिये एक विश्व-लोक समाज के आदर्श को अस्वीकार किया है।

इसके स्पष्ट मानवतावादी पक्ष के अतिरिक्त आर्थिक एवं तकनीकी सहायता के हेतु इस प्रकार के कार्यक्रम के उद्देश्य का राजनीतिक महत्त्व स्पष्टतया कम है। क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से संसार के सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण, अल्पविकसित प्रदेश वाले असमर्पित राष्ट्र हैं, जिनकी निष्ठा के लिये पूर्व एवं पश्चिम प्रतिस्पर्धा करते हैं। इस प्रतिस्पर्धा में श्रेष्ठतर जीवन की प्रतिज्ञा एक मुख्य शस्त्र है, तथा वास्तव में श्रेष्ठतर जीवन प्रदान करना और भी महत्त्वपूर्ण है।

तथापि यह सहायता अथवा इसके लाभदायक फल नहीं हैं, जो आदाताओं में राजनीतिक निष्ठाओं का सृजन करते हैं, वरन् यह निश्चयात्मक सम्बन्ध है, जिसकी स्थापना आदाता के मस्तिष्क द्वारा एक ओर सहायता एवं इसके लाभदायक परिणामों तथा दूसरी ओर देने वाले के राजनीतिक दर्शन, राजनीतिक प्रणाली, एवं राजनीतिक अभिप्रायों में होती है, अर्थात् यदि आदाता सहायता की अपेक्षा भी प्रदान करने वाले के राजनीतिक दर्शन, प्रणाली एवं अभिप्रायों को अस्वीकार करता है, तब सहायता के राजनीतिक प्रभाव निष्फल हो जाते हैं। यह तब भी सत्य है जब उसे विश्वास नहीं होता कि प्राप्त होने वाली सहायता प्रदान करने वाले के राजनीतिक दर्शन, प्रणाली एवं अभिप्रायों की यदि अवश्यम्भावी नहीं तो स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। जब तक आदाता यह कहता है

कि "सहायता अच्छी है, परन्तु प्रदान करने वाले की राजनीति दोषपूर्ण है", अथवा "सहायता अच्छी है, परन्तु प्रदान करने वाले की राजनीति का जो अच्छी, बुरी अथवा तटस्थ हो, उससे कोई सम्बन्ध नही है,"[7] तब तक आर्थिक एव तकनीकी सहायता राजनीतिक रूप से प्रभावहीन रहती है।

प्रदान करने वाले तथा आदाता मे एक समुदाय की स्थापना के लिए जिन प्रक्रियाओ द्वारा सहायता प्रदान की जाती है तथा जिस विषय-वस्तु के साथ इसका प्रयोग होता है, इनको अवश्य ही सहायता एव प्रदान करने वाले की राजनीति से सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये। यह सम्बन्ध प्रदान करने वाले की राजनीति को महत्वपूर्ण बनाएगा। असाधारण उदाहरणो मे जब मयुक्त-राष्ट्र अथवा पाश्चात्य एजेंसियों की विदेशी सहायता की नीतियो द्वारा इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया गया है, तब ऐसा आकस्मिक रूप से हुआ है, परिकल्पना द्वारा नही, क्योंकि न तो विषय-वस्तु और न ही प्रक्रियायें—जिस स्थिति में ये आज हैं—इस प्रकार के सम्बन्ध के स्थापित होने में स्वय सहायक हो सकती हैं।

आर्थिक एव तकनीकी सहायता की विषय-वस्तु का सम्बन्ध शिक्षा एव स्वास्थ्य से लेकर लोक-प्रशासन एव जल विद्युत् शक्ति तक व्यक्तिगत एव सामाजिक आवश्यकताओ के सम्पूर्ण क्षेत्र से है। यह प्रयास केवल विषय-वस्तु के सम्बन्ध में ही नही, जिसके साथ इसका प्रयोग होता है, वरन् उस मूल स्रोत के सम्बन्ध में भी अनिवृहत् है, जिससे यह विभिन्न राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियो के रूप में उत्पन्न होता है। यह आदाताओ के लिये कठिन कर देता है कि वे प्राप्त होने वाले लाभो को एक विशेष अधिराष्ट्रीय स्रोत से सम्बन्धित कर सकें तथा उस स्रोत को परोपकार के प्रतीक के रूप में रूपान्तर कर सकें, जिसमे उनका अपनी राष्ट्रीय सरकारो की अपेक्षा अधिक हित अथवा अहित निहित है तथा जिस ओर उन्हे अपनी निष्ठायें अवश्य स्थानान्तरण करनी होगी।

जिन प्रामाणिक प्रक्रियाओ का ये एजेंसियाँ अनुसरण करती हैं, उनके कारण इन राष्ट्रीय निष्ठाओ का स्थानान्तरण और भी कठिन हो जाता है। ये साधारण-तया वैयक्तिक सरकारो के अनुरोध पर ही सहायता देती हैं। इसके अतिरिक्त अभिप्राय, सहायता किस प्रकार की हो, तथा इसके निष्पादन की निश्चय मात्रा

7 तर्क को सरल करने एवं इसे राजनीतिक पक्ष के आवश्यक तत्वों तक सीमित रखने के हेतु हम यहाँ यह मान लेते हैं कि आर्थिक एव तकनीकी सहायता आदाता द्वारा आवश्यक रूप से 'उत्तम' मान कर स्वीकार की जाएगी। वास्तव में, ऐसी सहायता मनोवैज्ञानिक तनाव एव सामाजिक उथल पुथल को जन्म दे सकती है, कुछ समय के लिये समस्याओं का समाधान करने की अपेक्षा उनको उत्पन्न कर सकती है, तथा इसे स्वीकार करने की अपेक्षा इसका तिरस्कार हो सकता है।

एजेंसी एव आदाता सरकार के बीच समझौते के विषय होते हैं। इन परिस्थितियो मे वैयक्तिक आदाताओं को वह एजेंसी अपनी अपनी सरकारो का अभिकर्ता प्रतीत होने की अधिक आशा है, जो उन्हे उनकी सरकारो के उपक्रम पर तथा उन्ही की योजनानुसार सहायता प्रदान करती है। इस प्रकार राष्ट्रीय निष्ठाओं के और प्रबल होने की आशा है, तथा इसी कारण से निष्ठाओ के अधिराष्ट्रीय प्रतीक की ओर स्थानान्तरण, मे जिसपर हमने पाया है कि विश्व-लोक-समाज का विकास निर्भर करता है, अड़चन पड़ेगी। इस प्रकार वर्तमान काल मे जिस आर्थिक एव तक्नीकी सहायता की कल्पना की गई, उसका सबसे बडा गुण यह है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की समस्या को वही छोड देगी, जहाँ उसने इसे पाया है। इसकी सबसे बडी त्रुटि यह है कि यह विश्व के सभी अल्पविकसित क्षेत्रों में व्यक्तियो की राष्ट्रीय निष्ठाओं को प्रबल बनाकर अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षों को अधिक दुस्साध्य बनाने में योगदान देगी।

हमने यह प्रस्ताव किया था कि जिन-जिन अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षों से युद्ध हो सकता है, उनके शान्तिपूर्ण समाधान का पहला पग है, एक विश्व-राज्य के आधार के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय लोक समाज की रचना। हम देखते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय लोक समाज की रचना के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षों का कम और शान्त होना पूर्व गृहीत है, जिससे विभिन्न राष्ट्रो को एकताबद्ध करने वाले हितो का उन्हें पृथक् करने वाले हितो से अधिक श्रेय हो। अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षों को कैसे कम और शान्त किया जा सकता है? यही अन्तिम प्रश्न है, जिसका परीक्षण करना चाहिये।

इकत्तीसवाँ अध्याय

मध्य बीसवीं शताब्दी में शान्ति की समस्या समायोजन द्वारा शान्ति

राजनय

हमने यह देखा है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति का सरक्षण राष्ट्रीय प्रभुसत्ता को सीमित करने से नही हो सकता, और इस असफलता का कारण हमने राष्ट्रो के सम्बन्धो के स्वभाव मे ही पाया। हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हमारे समय के ससार मे प्रचलित नैतिक, सामाजिक एव राजनीतिक परिस्थितियो मे प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रो के वर्तमान समाज के एक विश्व-राज्य मे रूपान्तरण द्वारा शान्ति अप्राप्य होगी। यदि हमारे ससार मे एक विश्व-राज्य अप्राप्य है, तथापि ससार के जीवित रहने के लिये यह अपरिहार्य है। तब ऐसी परिस्थितियो का सृजन करना आवश्यक है, जिनमे आरम्भ से ही एक विश्व-राज्य स्थापित करना असम्भव न हो। इन परिस्थितियो के सृजन के हेतु प्राथमिक आवश्यकता के रूप मे हमने उन राजनीतिक सघर्षो को कम और शान्त करने का सुझाव दिया, जिनके कारण हमारे काल मे अति शक्तिशाली राष्ट्र एक दूसरे के विरुद्ध हैं तथा प्रलयकारी युद्ध का भय बना रहता है। स्थायी शान्ति के लिये परिस्थितियो को स्थापित करने के इस ढग को हम समायोजन के द्वारा शान्ति कहते है। इसका उपकरण राजनय है।

राजनय के चार कार्य

हमने पहले भी राष्ट्रीय शक्ति के तत्व के रूप मे राजनय के सर्वोपरि महत्त्व पर प्रकाश डाला है। अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के सरक्षण के लिये राजनय का महत्त्व उस सामान्य कार्य का एक विशेष पहलू मात्र है। क्योकि जिस राजनय का अन्त युद्ध मे होता है, वह अपने प्राथमिक ध्येय मे, जोकि शान्तिपूर्वक साधनो द्वारा राष्ट्रीय हित का प्रवर्तन करना है, असफल रहती है। ऐसा ही सदा हुआ और विशेषकर सम्पूर्ण युद्ध की विनाशकारी क्षमता के कारण ऐसी ही परिस्थिति है।

इसके विस्तृत अर्थ पर विचार करते हुये, जिसमे विदेश-नीति का सम्पूर्ण क्षेत्र सम्मिलित है, राजनय का कार्य चार प्रकार का है. (1) अपने ध्येयो की प्राप्ति के लिये उपलब्ध वास्तविक एव सभाव्य शक्ति का ध्यान रखते हुए राजनय

को ये ध्येय निश्चित करने होंगे। (2) राजनय को अन्य राष्ट्रों के ध्येयों का तथा इन ध्येयों की प्राप्ति के लिये उपलब्ध वास्तविक एवं सामान्य शक्ति का अवश्य अनुमान करना होगा। (3) राजनय को यह अवश्य निर्धारित करना चाहिये कि किस सीमा तक ये विभिन्न ध्येय एक दूसरे से संगत हैं। (4) राजनय को अपने ध्येयों की प्राप्ति के लिये उपयुक्त साधनों का अवश्य प्रयोग करना चाहिये। इनमें से किसी भी कार्य में असफलता से विदेश-नीति की सफलता तथा इसके साथ विश्व-शान्ति आपत्ति में पड़ सकती है।

यदि कोई राष्ट्र अपने सामने ऐसे लक्ष्य रखता है, जिनको प्राप्त करने की इसमें शक्ति नहीं है, तो इसे दो कारणों से युद्ध की आपत्ति का सामना करना पड़ सकता है। इस प्रकार का राष्ट्र सम्भवतः अपनी शक्ति का क्षय करेगा तथा संघर्ष के हर पहलू में इतना शक्तिशाली नहीं होगा कि विरोधी राष्ट्र को असहनीय चुनौती देने से रोक सके। इसकी विदेश-नीति की असफलता इसे पीछे पग हटाने तथा अपनी वास्तविक शक्ति के अनुसार अपने लक्ष्यों का पुनः स्पष्टीकरण करने के लिये बाध्य कर सकती है। तथापि इसकी अधिक सम्भावना है कि उत्तेजित जनमत के दबाव में इस प्रकार का राष्ट्र एक अप्राप्य लक्ष्य की ओर अग्रसर हो, इसे प्राप्त करने के लिये अपने सभी साधनों का पूर्णतया उपयोग करे, तथा अन्त में राष्ट्रीय-हित को उस लक्ष्य से सम्बन्धित कर युद्ध द्वारा उस समस्या का समाधान चाहे जिसका शान्तिपूर्वक साधनों द्वारा समाधान सम्भव नहीं है।

यदि किसी राष्ट्र की राजनय अन्य राष्ट्रों के ध्येयों का तथा इनकी शक्ति का गलत अनुमान लगाती है तो वह युद्ध को उस समय भी आमन्त्रित करेगा। हमने पहले भी यथापूर्व-स्थिति की नीति को गलती से साम्राज्यवाद की नीति तथा इसके ठीक विपरीत परिस्थिति समझने और एक प्रकार के साम्राज्यवाद को दूसरे प्रकार के साम्राज्यवाद से मिलाने की त्रुटि की ओर ध्यान आकर्षित किया है। जो राष्ट्र गलती से साम्राज्यवाद की नीति का यथापूर्व-स्थिति की नीति समझता है, वह दूसरे राष्ट्र की नीति के कारण अपने अस्तित्व को आपत्ति में पड़ने से बचाने के लिये अप्रस्तुत होगा। इसकी शक्तिहीनता आक्रमण को आमन्त्रित करेगी तथा युद्ध को अवश्यम्भावी बनायेगी। जो राष्ट्र यथापूर्व-स्थिति की नीति को गलती से साम्राज्यवाद की नीति समझता है, वह अपनी असंगत प्रतिक्रिया द्वारा युद्ध की उसी आशंका को बढ़ायेगा, जिसे यह दूर रखना चाहता है। क्योंकि जिस प्रकार ए बी की नीति को गलती से साम्राज्यवाद की नीति समझता है, उसी प्रकार बी ए की रक्षात्मक प्रतिक्रिया को गलती से साम्राज्यवाद की नीति समझ सकता है। इस प्रकार प्रत्येक राष्ट्र को काल्पनिक आक्रमण या

प्रतिकार करने के लिये तत्पर होने के कारण दोनों राष्ट्र शस्त्रों के प्रयोग के लिए व्यग्र हो जायेंगे। इसी प्रकार एक प्रकार के साम्राज्यवाद को दूसरे प्रकार का साम्राज्यवाद समझने की भ्रान्ति के कारण असंगत प्रक्रिया हो सकती है तथा इससे युद्ध का भय बढ़ सकता है।

जहाँ तक दूसरे राष्ट्रों की शक्ति के अनुमान का प्रश्न है इसका अधिक या कम अनुमान करना दोनों ही समान रूप से शान्ति के लिये घातक हो सकते हैं। बी की शक्ति का अधिक अनुमान लगाकर ए तब तक बी की माँगों के आगे झुकना पसन्द कर सकता है जब तक अन्त में अत्यन्त विपरीत परिस्थितियों में ए को अपने अस्तित्व के हेतु युद्ध करने के लिये बाध्य होना पड़े। बी की शक्ति का कम अनुमान लगाकर ए को अपनी काल्पनिक श्रेष्ठता में अत्यधिक विश्वास हो सकता है। ए बी से ऐसी माँगें कर सकता है तथा उस पर ऐसी शर्तें लगा सकता है जिनका प्रतिकार करने के लिये बी सम्भवतः शक्तिहीनता के कारण असमर्थ हो। बी की प्रतिकार की वास्तविक शक्ति के बारे में सन्दिग्ध रहकर ए पीछे हटने तथा पराजय स्वीकार करने और आगे बढ़ने और युद्ध करने के विकल्प के समक्ष पहुँच सकता है।

जो राष्ट्र एक कुशल एवं शान्तिपूर्ण नीति का अनुसरण करना चाहता है, वह अपने ध्येयों तथा अन्य राष्ट्रों के ध्येयों की इस दृष्टि से कि वे संगत हैं अथवा नहीं सदा तुलना करता रहेगा। यदि वे संगत है, तब कोई समस्या नहीं उठती। यदि वे संगत नहीं हैं, ए राष्ट्र को यह अवश्य ही निश्चित करना होगा कि क्या उसके ध्येय उसके लिये इतने महत्वपूर्ण हैं कि बी के ध्येयों से उनके असंगत होने की अपेक्षा भी उनका अनुसरण करना आवश्यक है। यदि ऐसी परिस्थिति हो कि इन ध्येयों की प्राप्ति के अभाव में भी ए के हितों का परिरक्षण हो सकता है, तब इन ध्येयों का परित्याग कर देना चाहिये। दूसरी ओर, यदि ऐसी परिस्थिति हो कि वे ध्येय ए के महत्वपूर्ण हितों के लिये आवश्यक है, तब ए को अपने से यह प्रश्न अवश्य करना चाहिये कि क्या बी के ध्येय जो इसके अपने ध्येयों से असंगत हैं, बी के महत्वपूर्ण हितों के लिये आवश्यक हैं। यदि उत्तर नकारात्मक प्रतीत हो, तब ए को अवश्य बी को अभिप्रेरित करने का प्रयत्न करना चाहिये कि वह अपने ध्येयों का परित्याग कर दे तथा बी को समान महत्त्व के लाभ, जो ए के लिये महत्त्वपूर्ण न हो, प्रदान करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, राजनयिक सौदाबाजी तथा समझौते के लेन देन के सिद्धान्त के द्वारा ऐसा उपाय अवश्य निकालना चाहिये, जिससे ए एवं बी के हित एक-दूसरे से संगत हो सकें।

अन्त में, यदि ए एवं बी के असंगत ध्येय प्रत्येक के लिये परमावश्यक सिद्ध हों, तब भी कोई ऐसा उपाय ढूँढा जा सकता है जिससे ए और बी के महत्त्वपूर्ण

हितो का पुनः स्पष्टीकरण किया जाये, उनके मतभेद को समाप्त किया जाय, तथा उनके ध्येयो को एक-दूसरे से सगत बनाया जाये। परन्तु दोनों के कुशल एव शान्तिपूर्ण नीति का अनुसरण करने की अपेक्षा भी यहाँ ए और बी युद्ध के बहुत समीप भयकर रूप से पहुँच रहे हैं।

एक कुशल राजनय का, जो शान्ति-सरक्षण के लिये तत्पर है, अन्तिम कार्य है कि वह अपने ध्येयो की प्राप्ति के लिये उपयुक्त साधनों को चुने। राजनय को तीन प्रकार के साधन प्राप्य होते हैं, अनुनय, समझौता, तथा शक्ति की धमकी। कोई भी राजनय, जो केवल शक्ति की धमकी पर निर्भर करती है, कुशल एव शान्तिपूर्ण होने का दावा नही कर सकती। कोई भी राजनय जो अनुनय और समझौते पर ही निर्भर करती है, कुशल कहलाने के योग्य नही है। एक बड़ी शक्ति की विदेश-नीति के सचालन मे कभी ऐसा हो भी तो यह असाधारण है कि अन्य साधनो का वर्जन कर केवल एक उपाय का प्रयोग करना उपयुक्त माना जाय। साधारणतया एक बड़े राष्ट्र के राजनयिक प्रतिनिधि को अपने देश के हितो और शान्ति के हितो की सेवा करने के योग्य होने के लिये एक ही समय मे अनुनय का प्रयोग करना होगा, समझौते के लाभ उठाने होगे, तथा दूसरे पक्ष को अपने देश की सैनिक शक्ति से भी अवगत करवाना होगा।

राजनय की कला किसी विशेष समय मे इन तीनो प्राप्त साधनो मे से प्रत्येक को उपयुक्त महत्त्व देने मे ही है। यदि एक राजनय, जिसने अपने अन्य कार्यों का सफलतापूर्वक सम्पादन किया है, अनुनय पर जोर देती है जब कि उन विशेष परिस्थितियो मे समझौते के लेन-देन-सिद्धान्त की प्राथमिक आवश्यकता है, तब यह अपना राष्ट्रीय हित बढाने तथा शान्ति-सरक्षण मे असफल हो सकती है। जो राजनय उस समय केवल समझौते पर ही जोर देती है, जब कि राष्ट्र की सैनिक शक्ति के प्रबल रूप से प्रदर्शन की आवश्यकता है, अथवा सैनिक शक्ति पर जोर देती है, जब राजनीतिक स्थिति के अनुसार अनुनय और समझौते की आवश्यकता है, वह भी उसी प्रकार असफल होगी।

राजनय के यंत्र

राजनय के ये चार यन्त्र वे मूल तत्त्व हैं, जिनसे प्रत्येक स्थान मे तथा प्रत्येक काल मे विदेश नीति निर्मित होती है। यह कहा जा सकता है कि एक आदिकालीन कबीले के सरदार को जो किसी पडौसी कबीले से राजनीतिक सम्बन्ध रखता है, सफल होने तथा शान्ति-सरक्षण के लिये इन चार कार्यों का सम्पादन करना होगा। इन कार्यों के सम्पादन की आवश्यकता उतनी ही प्राचीन तथा व्यापक है, जितनी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति है। इन कार्यों का सगठित अभिकरणो द्वारा सम्पादन ही सापेक्ष रूप से आधुनिक काल मे उत्पन्न हुआ है।

राजनय के संगठित यंत्र दो हैं . सम्बन्धित राष्ट्रों की राजधानियो मे विदेश मन्त्रालय तथा विदेशी राष्ट्रों की राजधानियो मे विदेश मन्त्रालय द्वारा भेजे जाने वाले राजनयिक प्रतिनिधि । विदेश मन्त्रालय नीति-निर्माण करने वाला अभिकरण है । यह विदेश-नीति का मस्तिष्क है, जहां बाह्य संसार से अनुभव एकत्रित किये जाते हैं तथा इनका मूल्यांकन किया जाता है, जहा विदेश नीति निर्धारित होती है, तथा जहां उन आवेगों का निस्सरण होता है, जिनका राजनयिक प्रतिनिधि वास्तविक विदेश नीति मे रूपान्तर करते हैं। जबकि विदेश मन्त्रालय विदेशनीति का मस्तिष्क है, राजनयिक प्रतिनिधि इसकी आखें, कान, मुख, अगुलियां तथा एक प्रकार से इसके भ्रमणशील अवतार हैं । राजनयज्ञ अपनी सरकार के लिये तीन मुख्य कार्यों को परिपूर्ण करता है प्रतीकात्मक, वैध, तथा राजनीतिक।

प्रतीकात्मक प्रतिनिधित्व

सर्वप्रथम राजनयज्ञ अपने देश का प्रतीकात्मक प्रतिनिधि होता है। इस रूप मे उसे निरन्तर अन्य राजनयज्ञो तथा उस विदेशी सरकार के सम्बन्ध मे जहाँ वह प्रत्यायित है, प्रतीकात्मक कार्यों का सम्पादन करना होगा। इन कार्यों से यह स्पष्ट होगा कि उसके राष्ट्र की विदेश मे कितनी प्रतिष्ठा है, और उसका राष्ट्र उस देश के प्रति कितनी प्रतिष्ठा रखता है, जिसकी सरकार के प्रति वह प्रत्यायित है । उदाहरण के लिए लन्दन मे अमरीकी राजदूत राजकीय समारोहो, जहाँ वह आमन्त्रित होता है, तथा राजकीय भोजन, स्वागत-समारोह जैसे राजकीय समारोहो मे, जिनपर वह आमन्त्रित करता है, संयुक्त-राज्य के अध्यक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। वह सम्बन्धित राष्ट्र के लिये हर्ष अथवा शोक के अवसरो पर बधाई एव संवेदना के संदेश भेजता है तथा प्राप्त करता है। वह राजनयिक समारोह के प्रतीकात्मक कार्यों का सम्पादन करता है ।

राजनय के प्रतीकात्मक कार्य के एक महत्वपूर्ण उदाहरण के रूप मे यह उल्लेख किया गया है कि अधिकतर राजनयिक मिशन उस सरकार के सदस्यो, जिसके प्रति वे प्रत्यायित हैं, अपने सह-राजनयज्ञो को तथा उस राजधानी के, जहा वे निवास करते हैं, उच्च समाज को प्रचुर मनोरंजन प्रदान करने के लिये बाध्य होते हैं। यह प्रथा, जिसकी लोकतन्त्रीय देशों मे बहुत आलोचना हुई, राजनयज्ञो के लिये विलास के प्रति प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं है, परन्तु राजनयिक प्रतिनिधित्व की योजना मे एक विशेष कार्य को परिपूर्ण करती है।

मनोरंजन प्रदान करते हुए राजनयज्ञ व्यक्ति के रूप मे नहीं, वरन् अपने देश के प्रतीकात्मक प्रतिनिधि के रूप मे कार्य करता है। रूसी राजदूत ही

अतिथियों को 1917 की अक्तूबर क्रान्ति के स्मृतिकारक समारोह में आमन्त्रित करता है। उसके रूप में (उसका अभिज्ञान इस प्रतीकात्मक कार्य के लिये असंगत है) वह सोवियत संघ ही है, जो मनोरंजन प्रदान करता है तथा अतिथियों को और उन लोगों को भी जिन्हें जान-बूझ कर नहीं आमन्त्रित किया गया, अपने वैभव एवं उदारता से प्रभावित करने का प्रयास करता है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है कि 1930 से 1940 तक, जब सोवियत-संघ राष्ट्रों के समाज में पुनः एक महत्वपूर्ण तथापि सन्दिग्ध स्थान प्राप्त कर चुका था, रूसी राजदूतावासों द्वारा सम्पूर्ण विश्व में दी जाने वाली पार्टियाँ अपनी प्रचुरता तथा भोजन एवं शराब की मात्रा एवं गुण के लिये प्रख्यात थीं। इस अतिव्यय का अभिप्राय पाश्चात्य विश्व के बूर्जुआ निवासियों को यह प्रदर्शित नहीं करना था कि रूसी लोग कितने धनी थे। इसका अभिप्राय वास्तव में उस राजनीतिक हीनता के लिये क्षतिपूर्ति करना था, जिससे सोवियत संघ कठिनता से बच पाया था तथा जिसमें इसके पुनः गिरने का भय था। अपने राजनयिक प्रतिनिधियों को यह अनुदेश देकर कि मनोरंजन के विषय में वे विदेशी राजधानियों में अपने सहयोगियों के समान रहें, यदि उनसे श्रेष्ठतर नहीं हो सकते—यह कार्य एक ऐसे नये धनिक के समान था, जिसने समाज का अभी अभी ध्वंस किया था—सोवियत संघ ने प्रतीकात्मक रूप में यह दिखलाने का प्रयास किया कि वह भी कम से कम उतना ही श्रेष्ठ राष्ट्र था, जितना कोई और था।

वैध प्रतिनिधित्व

राजनयज्ञ अपनी सरकार के वैध प्रतिनिधि के रूप में भी कार्य करता है। वह उसी अर्थ में अपनी सरकार का वैध-अभिकर्ता है, जिस अर्थ में विलिंगटन, डेलावेर में मुख्य कार्यालय रखने वाले एकदेशीय कारपोरेशन का दूसरे राज्यों और नगरों में वैध प्रतिनिधियों द्वारा प्रतिनिधित्व होता है। ये अभिकर्ता उस वैध कल्पना के नाम पर कार्य करते हैं, जिसे हम कारपोरेशन कहते हैं। ये इस पर बन्धनकारी होने वाली घोषणायें करते हैं, इसके लिये बाध्यकर करारों पर हस्ताक्षर करते हैं, तथा सम्मिलित चार्टर की सीमाओं में इस प्रकार से कार्य करते हैं कि जैसे यही कारपोरेशन हों। इसी प्रकार से, लन्दन में अमरीकी राजदूत संयुक्त राज्य की सरकार के नाम पर उन वैध कार्यों का सम्पादन करता है, जिनके लिये उसे संविधान, संयुक्त-राज्य के कानूनों तथा सरकार की आज्ञाओं से अनुमति होती है। उसे किसी संधि पर हस्ताक्षर करने का अथवा अनुसमर्थन प्रलेखों को, जिन से पहले समय की हस्ताक्षर की हुई सन्धि कार्यान्वित होती है, देने अथवा प्राप्त करने का अधिकार मिल सकता है। वह विदेश में अमरीकी नागरिकों को वैध संरक्षण

प्रदान करता है। वह एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे अथवा संयुक्त-राष्ट्र की महा-सभा मे संयुक्त-राज्य का प्रतिनिधित्व कर सकता है तथा अपनी सरकार के नाम पर और उसके अनुदेशो के अनुसार अपना मत दे सकता है।

राजनीतिक प्रतिनिधित्व

विदेश मत्रालय के साथ राजनयज्ञ अपने देश की विदेश-नीति को निर्धारित करता है। यह उसका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। जिस प्रकार से विदेश मत्रालय विदेश नीति का तन्त्रिका-केन्द्र है, उसी प्रकार से राजनयिक प्रतिनिधि इसके दूरस्थ सूत्र हैं, जो केन्द्र एव बाह्य जगत् मे दोनो ओर से यातायात बनाये रखते हैं।

ऊपर उल्लेख किये राजनय के चार कार्यो मे से कम से कम एक का मुख्य भार राजनयज्ञों के कन्धो पर पड़ता है उन्हें अन्य देशो के उद्देश्य तथा इन उद्देश्यो के अनुसरण के लिये प्राप्य वास्तविक एव सभाव्य शक्ति का अवश्य अनुमान करना होगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति के हेतु उन्हें राजनीतिक नेताओ तथा सरकारी पदाधिकारियो से प्रत्यक्ष परिप्रश्न द्वारा तथा प्रेस एव जनमत के अन्य प्रवक्ताओ की सहायता द्वारा जिस सरकार के प्रति वे प्रत्यायित है, उसकी योजनाओ से अपने को अवश्य अवगत रखना होगा। इसके अतिरिक्त, सरकार की नीतियो पर सरकार के अन्दर ही विपरीत प्रवृत्तियो, राजनीतिक दलो तथा जनमत के सशक्त प्रभाव का उन्हे अवश्य मूल्याकन करना होगा।

वाशिंगटन स्थित एक विदेशी राजनयज्ञ को अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की सामयिक समस्याओ के सम्बन्ध मे संयुक्त-राज्य सरकार की विभिन्न शाखाओ की वर्तमान तथा भविष्य के लिये सम्भाव्य अभिवृत्ति की सूचना अपनी सरकार को अवश्य देनी होगी। उसे विदेश नीति के निर्माण मे सरकार एव राजनीतिक दलो के विभिन्न व्यक्तियो के महत्व का मूल्याकन अवश्य करना चाहिये। राष्ट्रपति के पद के लिये निर्वाचन मे विभिन्न उम्मीदवारो का निर्वाचन होने पर विदेश नीति के अनिर्णीत विषयो पर क्या रुख होगा? जनमत एव सरकारी नीति पर एक विशेष स्तम्भ-लेखक एव रेडियो-टीकाकार का क्या प्रभाव है, तथा उसके विचार जनमत की प्रवृत्ति तथा सरकार के विचार का कितना प्रतिनिधित्व करते हैं? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं, जिनके उत्तर के लिये एक राजनयज्ञ को अवश्य प्रयत्न करना चाहिये। उसकी रिपोर्टो की विश्वस्तता तथा उसके निर्णय पर उसकी सरकार की विदेश नीति की सफलता एव असफलता तथा शान्ति सरक्षण के लिये उस सरकार की योग्यता निर्भर करेगी।

जब एक राष्ट्र की वास्तविक एवं सम्भाव्य शक्ति के मूल्यांकन का प्रश्न उठता है, तब राजनयिक मिशन गुप्त रूप से एक प्रथम श्रेणी के गुप्तचर संगठन का रूप ले लेता है। सैनिक शक्तियों के उच्च पदाधिकारियों को विभिन्न दूतावासों में भेजा जाता है। वहाँ सैनिक, नौसैनिक एवं वायु-सेना "एटैशिस" के रूप में वे, जो भी साधन उपलब्ध हो उनके द्वारा, वास्तविक एवं आयोजित शस्त्रों, नये शस्त्रों, सम्भाव्य सैनिक शक्ति, सैनिक संगठन तथा सम्बन्धित देशों की युद्ध की योजनाओं के विषय में सूचना एकत्रित करने के लिये उत्तरदायी होते हैं। उनकी सेवाओं का व्यापार-सम्बन्धी "एटैशिस" के द्वारा आपूरण होता है, जो आर्थिक प्रवृत्तियों, औद्योगिक विकास, तथा उद्योगों के स्थल और विशेषकर सैनिक तैयारी पर उनके प्रभाव के विषय में सूचना एकत्रित करते हैं। इस विषय में, और अन्य कई विषयों में, जो अगणित हैं तथा जिनका उल्लेख नहीं किया जा सकता, विदेश में दूतावासों से सरकार को प्राप्त होने वाली रिपोर्टों की यथार्थता एवं उपयुक्तता उसके अपने निर्णयों की उपयुक्तता के लिये भी अपरिहार्य है।

सूचना एकत्रित करने के कार्य में, और विशेषकर गुप्त सूचना एकत्रित करने में, जिसपर किसी के अपने राष्ट्र की विदेश-नीतियाँ आधारित होती हैं, आधुनिक राजनय का मूल निहित है। मध्ययुग में यह बात सत्य मान ली जाती थी कि एक राजा का विशेष दूत जो विदेश में भ्रमण कर रहा हो, गुप्तचर होगा। पन्द्रहवीं शताब्दी के क्रम में जब इटली के छोटे राज्यों ने शक्तिशाली राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों में स्थायी राजनयिक प्रतिनिधियों का प्रयोग प्रारम्भ किया, तब उन्होंने ऐसा प्राथमिक रूप से शक्तिशाली राज्यों के आक्रमणकारी आशय की सामयिक सूचना प्राप्त करने के अभिप्राय से किया। जब कि सोलहवीं शताब्दी में स्थायी राजनयिक दूतावास सामान्य हो गये थे, तब भी राजनयज्ञों को ग्राही राज्य के लिये एक अपदूषण एवं दायित्व समझा जाता था। सत्तरहवीं शताब्दी के आरम्भ में आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय कानून के जन्मदाता ह्यूगो ग्रोशियस ने इनके उन्मूलन तक का पक्षपोषण किया।

राजनयिक प्रतिनिधि केवल आँखें और कान ही नहीं है, जो विदेश-नीति के तन्त्रिका-केन्द्र को, इसके निर्णयों के उपादान के लिये बाह्य संसार की घटनाओं की सूचना देते हैं। राजनयिक प्रतिनिधि मुख एवं हाथ भी है, जिनके द्वारा तन्त्रिका-केन्द्र से उत्पन्न आवेगों का शब्दों एवं कार्यों में रूपान्तरण होता है। जिन लोगों के बीच वे रहते हैं उन्हें और विशेषकर उनके जनमत के प्रवक्ताओं को तथा उनके राजनीतिक नेताओं को वह विदेश नीति जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, अवश्य समझानी होगी और यदि सम्भव हो सके तो इसको अनुमोदित करवाना होगा। एक

विदेश-नीति को "विक्रय करने" के इस कार्य के लिये राजनयज्ञ का व्यक्तिगत प्रभाव तथा उसका विदेशी लोगों के मनो-विज्ञान को समझना आवश्यक पूर्वापेक्षित परिस्थिति हैं।

अनुनय, वार्ता, एवं शक्ति की धमकी के शान्ति-संरक्षण के कार्यों के सम्पादन मे राजनयिक प्रतिनिधि का महत्त्वपूर्ण भाग है। उसका विदेश-मन्त्रालय उसे अनुसरण होने वाले ध्येयों तथा प्रयोग किये जाने वाले साधनों के विषय में अनुदेश दे सकता है। तथापि इन अनुदेशों के परिपालन के लिये इसे राजनयिक प्रतिनिधि के विवेक एवं कुशलता पर ही निर्भर करना होगा। विदेश-मन्त्रालय अपने प्रतिनिधि को यह बतला सकता है कि वह अनुनय का प्रयोग करे अथवा शक्ति की धमकी दे अथवा दोनों समर-तन्त्रों से एक साथ कार्य करें, परन्तु इसे यह प्रतिनिधि के निर्णय पर छोड़ना होगा कि वह कैसे और कब उन प्रविधियों का प्रयोग करेगा। एक तर्क कितना प्रवर्तक होगा, वार्ता द्वारा किये गये समझौते से क्या लाभ होंगे, शक्ति की धमकी का क्या प्रभाव पड़ेगा, इन प्रविधियों मे से किस को कितना महत्त्व प्रदान करना होगा, ये सभी बातें राजनयज्ञ के हाथों मे होती हैं, जिसके पास एक अच्छी विदेश-नीति को भद्दा बनाने तथा एक बुरी विदेश नीति के सबसे बुरे परिणामों को रोकने की क्षमता है। अपने राष्ट्रों की शक्ति में विशिष्ट राजनयज्ञों द्वारा दिये गये अविदर्शनीय योगदान का हमने उल्लेख किया है। शान्ति के हेतु उनके योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

राजनय की अवनति

आज राजनय उस कार्य का सम्पादन नहीं करती, जो प्राय अविदर्शनीय एवं देदीप्यमान तथा सदा महत्त्वपूर्ण था और जिसका सम्पादन इसने तीस वर्षीय युद्ध के अन्त से प्रथम विश्व-युद्ध के प्रारम्भ तक किया। प्रथम विश्व-युद्ध के अन्त के साथ राजनय की अवनति प्रारम्भ हुई। 1920 से लेकर 1929 तक कुछ मुख्य राजनयज्ञ अपने देशों की विदेश-नीतियों मे महत्त्वपूर्ण योगदान देने मे सफल हुये। द्वितीय विश्व-युद्ध के पूर्व की दशाब्दी मे विदेश नीति के निर्माण मे राजनयज्ञों द्वारा लिया गया भाग और भी कम हो गया, तथा एक तकनीक के रूप मे विदेशी सम्बन्धों के परिचालन मे राजनय की अवनति और भी प्रत्यक्ष हो गई। द्वितीय विश्व-युद्ध के अन्त से राजनय ने अपनी शक्ति खो दी है, तथा इसके कार्य इस सीमा तक क्षीण हो गये हैं कि इसका आधुनिक राज्य प्रणाली के इतिहास मे कोई उदाहरण नहीं है। इस अवनति के पाँच कारण हैं।

संचार-व्यवस्था का विकास

इसमे से सब से अधिक स्पष्ट कारण आधुनिक संचार-व्यवस्था का विकास है। राजनय के उदय का आंशिक कारण ऐसे काल मे शीघ्रगामी प्रचार-व्यवस्था

का अभाव था जब नये प्रादेशिक राज्यो की सरकारो ने एक-दूसरे के साथ अविच्छिन्न राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये। राजनय की अवनति का आधिक कारण हवाई जहाज रेडियो, तार, टेलीटाइप, दूरस्थ-टेलीफोन के रूप मे शीघ्र एव नियमित संचार व्यवस्था का विकास था।

प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व जब कभी सयुक्त-राज्य एव ग्रेट-ब्रिटेन की सरकारें वार्ता करना चाहती थी, उनके लिये यह अत्यावश्यक था कि वे इस वार्ता को चलाने के लिये लन्दन और वाशिंगटन मे स्थायी प्रतिनिधि रखें, जिनको स्वनिर्णय की पर्याप्त शक्ति प्राप्त हो। इन स्थायी प्रतिनिधियों के आवश्यक होने का कारण यह था कि सविस्तार सन्देशो को शीघ्रतापूर्वक एव अविच्छिन्न रूप से भेजने की सुविधायें कष्टदायक थी तथा विशेषकर यात्रा मे इतना समय लगता था कि वार्ता के विघटन के बिना व्यक्तिगत परामर्श असम्भव था। आज केवल इस बात की आवश्यकता होती है कि सयुक्त-राज्य के विदेश-मन्त्रालय का एक पदाधिकारी ब्रिटेन के विदेश-मन्त्रालय मे अपने प्रतिरूप से अथवा लन्दन मे अमरीका के राजदूत से ट्रासअटलांटिक-टेलीफोन पर बातचीत कर ले अथवा आगामी प्रात काल मे लन्दन म वार्ता प्रारम्भ करने के लिये सध्या के समय ट्रासअटलांटिक-हवाई जहाज पर चढ जाये। जब कभी अपनी सरकार से प्रत्यक्ष परामर्श की आवश्यकता हो, उसे केवल एक दिन चाहिये जब वह अटलांटिक को पार एव पुन. पार कर अपनी सरकार को वार्ता की अन्तिम प्रगति की सूचना दे सकता है और इसके अनुदेश प्राप्त कर सकता है।

केवल चतुर्थांश शताब्दी पूर्व यह अविचारणीय था कि विदेश-मन्त्री किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन मे भाग लेने अथवा विदेशी राजधानियो मे जाने के लिये कई सप्ताह तक वाशिंगटन से अनुपस्थित हो। अब, जब वह राजधानी से अनुपस्थित होता है, वह विदेश-मन्त्रालय के साथ टेलीफोन और रेडियो के द्वारा अविच्छिन्न सम्पर्क रखता है तथा एक क्षण की सूचना पर वह एक रात की यात्रा करके वाशिंगटन वापस पहुँच सकता है। इस प्रकार साधारणतया महत्त्वपूर्ण वार्ता राजनयिक प्रतिनिधियो द्वारा नही, वरन् विशेष प्रतिनिधियो द्वारा होती है जो स्वय ही विदेश-मन्त्री, अथवा विदेश मन्त्रालयो के उच्च पदाधिकारी अथवा तकनीकी विशेषज्ञ होते हैं।

राजनय का अवक्षयण

तथापि केवल औद्योगिक विकास ही पारम्परिक ढगो के परित्याग के लिये उत्तरदायी नही है। राजनय की सेवाओ का परित्याग करने मे औद्योगिक विकास के अतिरिक्त इस विश्वास को भी ध्यान मे रखना होगा कि इन सेवाओ का

परित्याग करना ही चाहिये, क्योंकि ये शान्ति के मूल मे केवल कोई योगदान ही नही देती, वरन् वास्तव मे शान्ति को सकट मे डालती है। इस विश्वास की उत्पत्ति उन्ही परिस्थितियो से हुई, जिन्होने इस विचार का पोषण किया कि शक्ति-राजनीति की सकल्पना इतिहास का एक सयोग है, जिसका कभी भी परित्याग किया जा सकता है।[4]

वह विश्वास और यह सकल्पना दोनो ही शक्ति-राजनीति एव राजनय के कार्यों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध को मान्यता प्रदान करते है और इसमे वे ठीक है। एक सस्था के रूप मे राजनय का उदय राष्ट्र-राज्य के उदय और इसलिये आधुनिक अर्थ मे अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध के प्रारम्भ के साथ सपात हुआ है, तथापि राजनय एव आधुनिक राज्य-व्यवस्था का समकालीन उदय केवल सपात मात्र ही नही है। यदि प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रो मे कुछ भी ससर्ग इस लक्ष्य से होता है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे कम से कम अल्पमात्रा मे ही व्यवस्था एव शान्ति की स्थापना एव सरक्षण हो, तब इस ससर्ग को स्थायी अभिकर्ताओ के हाथो मे देना होगा। तब राजनय के प्रति विरोध एव इसका अवक्षयण आधुनिक राज्य-व्यवस्था तथा जिस प्रकार की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को इसने जन्म दिया है, इनके प्रति विरोध का एक विचित्र प्रदर्शन मात्र है।

यह वास्तव मे सत्य है कि सपूर्ण आधुनिक इतिहास मे राजनयज्ञ को नैतिक दृष्टि से बहुत कम सम्मान दिया गया है। ऐसी धारणा केवल ऐसे लोगो की नही थी, जिनका यह विचार था अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से शक्ति के लिये सघर्ष को दूर करने का सरल उपाय है। धूर्तता एव कपट के लिये राजनयज्ञ की प्रसिद्धि उतनी ही प्राचीन है जितनी कि स्वय राजनय प्राचीन है। सत्तरहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे एक अग्रेज राजदूत, सर हेनरी वोटन द्वारा दी गई एक राजनयज्ञ की परिभाषा प्रख्यात है, कि "वह एक ईमानदार व्यक्ति होता है, जिसे अपने देश के लिये झूठ बोलने के लिये विदेश भेजा जाता है"। जब वियना के सम्मेलन मे मेटरनिक को रूसी राजदूत की मृत्यु की सूचना दी गई, तो कहा जाता है कि उन्होने विस्मयपूर्वक कहा "क्या यह सत्य है? उसका अभिप्राय क्या हो सकता है?"

राजनय के उस अवक्षयण का आधुनिक रूप राजनयिक तकनीक के एक विशेष पक्ष—इसकी गोपनीयता—को प्रधान महत्व प्रदान करता है। प्रथम विश्व-युद्ध मे और इसके पश्चात् इस विचार को बहुत लोगो ने स्वीकार किया कि राजनयज्ञो के गुप्त षड्यन्त्र यदि मुख्य रूप मे नही तो बहुत सीमा तक युद्ध के कारण बने, राजनयिक वार्ता की गोपनीयता सामन्तशाही भूतकाल से उसी के समरूप एव भयकर अवशिष्ट थी, तथा एक शान्तिप्रिय जनमत की सावधान

आंखो के सामने की गई अन्तर्राष्ट्रीय वार्ता से शान्ति के मूल को केवल सहायता ही मिल सकती है।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो के इस नवीन दर्शन के सबसे अधिक वाग्मी प्रवक्ता वुडरो विलसन थे। उनके चौदह सिद्धान्तो की प्रस्तावना एव उनमे से पहला सिद्धान्त नवीन दर्शन का अभिजात विवरण है। चौदह सिद्धान्तों की प्रस्तावना के अनुसार

"यह हमारी इच्छा एव ध्येय होगा कि प्रारम्भ होने के पश्चात् शान्ति की प्रक्रियाएँ पूर्णत खुली होंगी, तथा उनका अबसे किसी प्रकार के गोपनीय समझौते से सम्बन्ध नही होगा और न ही वे इसका अनुमोदन करेंगी। विजय एव विवर्धन का समय समाप्त हो गया है; उन गोपनीय समझौतो की भी, यही स्थिति है, जिनका कुछ विशेष सरकारो के हितो के लिये निर्माण होता था तथा जिन से किसी अप्रत्याशित क्षण मे विश्व-शान्ति के भग होने की आशका थी, यही वह उपयुक्त तथ्य है, जो ऐसे प्रत्येक लोकनेता के लिये, जिसके विचार अभी तक समाप्त हो गय युग मे विचरण नही करते, स्पष्ट है तथा जो ऐसे प्रत्येक राष्ट्र के लिये, जिसके ध्येय विश्व-शान्ति एव न्याय से सगत है, यह सभव करता है कि वह अब अथवा किसी और समय मे अपने लक्ष्यो को प्रकट कर सके। पहले सिद्धान्त के अनुसार "शान्ति की खुली प्रसविदायें मुक्त रूप से बनायी गयी हैं, और इसके बाद किसी प्रकार के एकान्तिक अन्तर्राष्ट्रीय समझौते नहीं होंगे, परन्तु राजनय प्रत्यक्ष एव लोगो के सामने होगी।"[1]

संसदीय प्रक्रियाओं द्वारा राजनय

इसी नवीन दर्शन के प्रति सम्मान के कारण प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् ससार के राजमर्मज्ञ राजनय के सुस्थापित प्रतिरूप से प्रस्थान करने लगे। उन्होने राष्ट्र-सघ और बाद मे सयुक्त-राष्ट्र मे एक नये प्रकार के राजनयिक ससर्ग की रचना की वह था ससदीय प्रक्रिया द्वारा राजनय। जिन अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ का समाधान आवश्यक हो उन्हें इन सगठनो के विचारक निकायो की कार्यावली मे रखा जाता है। विभिन्न सरकारो के प्रतिनिधि सार्वजनिक वाद विवाद मे किसी समस्या के गुण-दोषो पर विचार करते हैं। सगठन के सविधान के अनुसार मत लेने के पश्चात् उस समस्या पर बहस का अन्त हो जाता है।

1. Selected Addresses and Public Papers of Woodrow Wilson, edited by Albert Bushnell Hart (New York · Boni and Liveright, Inc., 1918), pp. 247-8

पहले इस ढग का प्रयोग 1899 एव 1907 के हेग शान्ति सम्मेलनो जैसे विशेष सम्मेलनो मे किया गया था। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर विचार करने के लिये व्यापक प्रणाली के रूप मे इसका प्रयोग सर्वप्रथम राष्ट्र-सघ द्वारा हुआ। परन्तु उस सगठन के द्वारा इसका उपयोग वास्तविक होने की अपेक्षा आभासी था। राष्ट्र-सघ की सभा एव परिषद् मे होने वाले लोक विचार-विमर्शों का, विशेषकर जब राजनीतिक मामलो पर विचार होता था, प्राय ध्यानपूर्वक पूर्वाभ्यास हुआ रहता था। साधारणतया ऐसे समाधान की खोज होती थी जिसके विषय मे सभी एकमत हो सकें, और इस प्रकार का समाधान प्राय लोक अधिवेशनो के पूर्व गोपनीय वार्ता के प्रारम्भिक साधनो द्वारा प्राप्त होता था। इस प्रकार लोक अधिवेशन, सबन्धित राष्ट्रो के प्रतिनिधियों को लोक-उपभोग के लिये अपने विचार पुन प्रकथन करने का तथा गोपनीय ढग से किये समझौतो का प्रसविदा के नियमो के अनुसार अनुसमर्थन करने का केवल अवसर प्रदान करते थे। इसके विपरीत सयुक्त-राष्ट्र ने ससदीय प्रक्रियाओं द्वारा राजनय के कार्य करने की ओर अधिक ध्यान दिया है। इसने सयुक्त-राष्ट्र-राजनय की प्रक्रियाओ का विकास किया है, जिनका अभिप्राय प्रत्येक समस्या के लिये, जिस पर महासभा मे मतदान होना हो, चार्टर के द्वारा निर्धारित दो-तिहाई मत को पुन. स्थापित करना है। साधारण तौर पर सयुक्त-राष्ट्र की नयी राजनय का लक्ष्य सदस्यो को विभाजित करने वाली किसी समस्या का समाधान करना नही, वरन् दो-तिहाई मत एक ओर करके दूसरे पक्ष को अधिक मत-सख्या से पराजित करना है। यही मतदान इसकी प्रक्रियाओ का लक्ष्य है तथा यही उनकी चरम सीमा है।

पारम्परिक राजनयिक वार्ता की अपेक्षा लोक-ससदीय प्रक्रियाओ के प्रति प्रवृत्ति ने, जिसका लाक्षणिक उदाहरण राष्ट्र की महासभा का परिचालन है, विश्व-युद्ध के पश्चात् के अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो पर भी, जिनका सगठन, समस्याओ तथा ध्येयो की दृष्टि से उन्नीसवी एव प्रारम्भिक बीसवी शताब्दी की राजनयिक सभाओ से बहुत साम्य है, प्रभाव डाला है। 1946 के पेरिस-शान्ति-सम्मेलन का, जिसमे इक्कीस देशो ने भाग लिया, यथेष्ट प्रचार के साथ परिचालन हुआ तथा इसने अपनी प्रक्रियाओ मे सयुक्त-राष्ट्र के विचारक अभिकरणो द्वारा स्थापित प्रतिरूप को दुगुना कर दिया। विदेश-मन्त्रियो के सम्मेलन ने, जिसमे फ्रास, ग्रेट-ब्रिटेन, सोवियत-सघ एव सयुक्त-राज्य के विदेश मन्त्री सम्मिलित थे, पूर्णत लोगों के समक्ष अथवा अर्धगोपनीयता के पारदर्शक पर्दे के पीछे, बहस एव मतदान किया। इससे लोगो को वाद-विवाद की मुख्य प्रावस्थाओ को, जिस प्रकार विभिन्न प्रतिनिधि-मडलो ने उनका प्रेस के सवाद-दाताओ से वर्णन किया, समझने का अवसर मिला।

सोवियत-गुट एवं पश्चिम के बीच हुई अधिक अविदर्शनीय वार्ता के कारण ही राजनय के पारम्परिक ढंग प्राय लुप्त नहीं हुए हैं। एक ओर संयुक्त-राज्य एवं अन्य पाश्चात्य देशों के तथा दूसरी ओर सोवियत-गुट के राजनयिक विद्वानों के बीच होने वाली दिन प्रतिदिन की वार्ता के विषय में भी यह सत्य है। संचार-व्यवस्था की सुविधा, गोपनीय राजनय की निन्दा तथा नवीन संसदीय राजनय से ही राजनय के व्यापक विघटन का कारण स्पष्ट नहीं होता। इस अवक्षयण के दो अतिरिक्त कारण हैं अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की समस्याओं के प्रति दो अति शक्तिशाली राष्ट्रों का विशिष्ट रूप से अ-पारम्परिक दृष्टिकोण, तथा मध्य-बीसवीं शताब्दी में विश्व राजनीति का ही स्वरूप।

अति शक्तिशाली राष्ट्र : राजनय में नवागन्तुक

संयुक्त राज्य को अपने निर्माणात्मक काल में एक असाधारण देदीप्यमान राजनय की सेवाओं से लाभ हुआ। जैफरसन के काल के पश्चात् अमरीकी राजनय के मुख्य गुण, जैसे ही उनके लिए आवश्यकता समाप्त हो गई, लुप्त हो गये। 1930 एवं 1940 की दशाब्दी के बाद के भाग में एक सक्रिय अमरीकी विदेश-नीति की आवश्यकता हुई। परन्तु इसके निर्माण के लिये एक साधारण विदेश-सर्विस, शक्ति राजनीति एवं गोपनीय राजनय की निंदा, जिसका आक्रमणकारी "राष्ट्रों के प्रति नैतिक रोष में रूपान्तर हो गया था, तथा एक लम्बी छड़ी' की परम्परा, जिसने पाश्चात्य जगत में सफलतापूर्वक कार्य किया था, के अतिरिक्त और कुछ नहीं था। इस प्रकार केवल राष्ट्रपति रूजवेल्ट की आशु रचना ने, जिसका समय-समय पर अंतर्राष्ट्रीय यथार्थताओं के अन्त प्रज्ञा-ज्ञान ने पथ प्रदर्शन किया, अमरीकी विदेश-नीति को अमरीका के हितों से संगत बनाये रखा।

उस निर्णायक काल में न तो विदेश मंत्री ने, न विदेश मंत्रालय के स्थायी कर्मचारी वर्ग ने, और न ही विदेश में राजनयिक प्रतिनिधियों ने अमरीका की विदेश नीति के परिचालन पर उपाश्रित से अधिक प्रभाव डाला। जब रूजवेल्ट, जिन्होंने बारह वर्षों तक प्राय अकेले ही अमरीका की विदेश नीति का निर्माण किया था, कार्य क्षेत्र से अलग हो गये, तब कोई ऐसा व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समुदाय नहीं था, जिनमें उस जटिल एवं सूक्ष्म मशीनरी के निर्माण एवं परिचालन करने के लिए सामर्थ्य हो, जिसके द्वारा पारम्परिक राजनय ने राष्ट्रीय हित को शान्तिपूर्वक संरक्षण एवं वृद्धि प्रदान की थी। न ही योग्य एवं अनुरक्त लोक-सेवकों का वह छोटा समुदाय, जिन्हें यह पता था कि विदेश नीति क्या है, विदेश-नीति को वर्कमापरक एवं जटिल प्रक्रियाओं के हेतु लोक विश्वास एवं लोक-सहायता पर निर्भर कर सकता था, जिसके अभाव में प्रजातंत्र में विदेश-नीति का सफलतापूर्वक संचालन नहीं हो सकता।

पूर्वोक्त विभिन्न कारणो से—जो सख्या मे तीन हैं—सोवियत-सघ राजनयिक सशर्त के यथेष्ट यन्त्रों का विकास करने मे सफल हुआ है। 1917 की बॉलशेविस्ट क्रान्ति ने रूसी राजनयिक सर्विस का अन्त कर दिया, जिसकी एक लम्बी परम्परा थी तथा जिसने अनेक देदीप्यमान निष्पत्तियाँ प्राप्त की थी। पुरानी परम्परा के थोडे से राजनयज्ञो को, जिन्हे क्रान्ति के पश्चात् सेवा मे रखा गया, तथा प्रतिभाशाली नये राजनयज्ञो को, जो क्रान्तिकारियों मे से आये, अपनी योग्यता प्रदर्शित करने का कम अवसर था। सोवियत-सघ एव अधिकतर अन्य राष्ट्रो के बीच शत्रुता तथा इसके कारण सोवियत सघ के पृथक्करण ने सामान्य राजनयिक सम्बन्धो के सचालन मे रुकावट डाली।

इसके अतिरिक्त राजकीय रूसी दर्शन इन सम्बन्धो को पूँजीवादी राज्यो के साथ सम्बन्ध रखने के लिये एक अस्थायी कार्य-साधक मानता है, एक सामान्य एव स्थायी ढग नही। यह पूँजीवादी समाजो के विघटन की अपरिहार्यता में विश्वास रखता है, यह विघटन या तो स्वत हो जायगा या क्रान्ति द्वारा। रूसी राजनयज्ञ इस दर्शन के व्याख्याकार के रूप मे सर्वप्रथम उस ऐतिहासिक प्रक्रिया का यन्त्र है, जिसका परिचालन वह मन्द अथवा सरल कर सकता है, परन्तु जिसमे परिवर्तन करना उसकी शक्ति के परे है। यह उसका ध्येय है कि वह उन देशो मे क्रान्तिकारी शक्तियो को सहायता दे, जिनमे इतिहास के पूर्वनिर्धारित मार्ग की चेतना है तथा जो इसको सहायता प्रदान करने के लिये इच्छुक हैं।

इस प्रकार के राजनयज्ञ के लिये राजनय का पारम्परिक सचालन उस ऐतिहासिक प्रक्रिया की वृहत् समस्या के लिये अवश्य ही प्रासगिक बन जायेगा जो प्रत्येक स्थान मे समाजवाद की स्थापना के साथ अस्त मे राजनय को ही निरर्थक बना देगी। अपने राजनयिक व्यवहार मे वह अधिक से अधिक एक अस्थायी व्यवस्था के लिये प्रयत्न करेगा, जिसकी वह आशा एव प्रत्याशा करता है तथा जिसके विषय मे उसके सहयोगियो को आशका है कि वह सदा के लिये वर्तमान नही रहेगी। इस प्रकार की राजनय के हाथो मे अनुनय, वार्ता तथा शक्ति की धमकी अधिक से अधिक अस्थायी कार्यसाधक हैं। राजनय तो केवल सक्रमण-काल के लिये उस अन्तिम प्रलय के पूर्व एक कामचलाऊ यन्त्र है, जो व्यापक समाजवाद एव उसके साथ स्थायी शान्ति लायेगा।

रूसी राजनयज्ञ एक ऐसी समग्रवादी सरकार का प्रतिनिधि है, जो असफलता अथवा सरकारी आज्ञाओ के अर्थनिर्णय में बहुत अधिक स्वविवेक के लिये पद का अन्त और इससे भी दु खद दण्ड देती है। परिणाम यह है कि क्रान्ति के पश्चात् रूसी राजनयज्ञो ने पारम्परिक रूप से और विशेषकर द्वितीय

विश्व-युद्ध के अन्त से अपने कार्य को अपनी सरकारों के प्रस्तावों का संचारण समझा है, जिन्हे अन्य सरकारें, जिस प्रकार वे उपयुक्त समझें, स्वीकार अथवा अस्वीकार कर सकती हैं। प्रति-प्रस्तावो एव वार्ता मे अन्य नये तत्वो के आने से विदेश-मन्त्रालय से नये अनुदेशो की आवश्यकता पडती है। इन नये अनुदेशों की विषय-सूची पुन अन्य सरकारो के समक्ष रखी जाती है, जो इसे स्वीकार करें अथवा इसका परित्याग करें। यह प्रक्रिया इसी प्रकार तब तक चलती है जब तक एक अथवा दूसरे अथवा सभी पक्षो का धैर्य समाप्त नही हो जाता। ऐसी प्रक्रिया राजनयिक वार्ता के सभी गुणो का, जैसे नयी परिस्थितियो मे शीघ्र अनुकूलन, मनोवैज्ञानिक अवसर का कुशलतापूर्वक उपयोग, स्थिति के अनुसार पीछे हटना तथा आगे बढना अनुनय, सौदाबाजी तथा ऐसे अन्य गुणो का अन्त कर देती है। नवीन रूसी राजनय के द्वारा सम्पादित राजनयिक ससर्ग सबसे अधिक सैनिक अनुदेशो की उस शृंखला के समरूप है, जिन्हे उच्च कमान—विदेश मन्त्रालय—द्वारा फील्ड-कमाडरो—राजनयिक प्रतिनिधियो—को दिया जाता है, जो अपनी ओर से समझौते के निबधनो से शत्रु को सूचित करते हैं।

जिस राजनयज्ञ का मुख्य ध्येय अपने उच्च पदाधिकारियो की स्वीकृति बनाये रखना है, वह साधारणतया ऐसी ही सूचना देने के लिए उत्सुक होगा जिसे वे सुनना पसन्द करते हो, और इस बात की ओर ध्यान नही देगा कि वह सूचना सत्य है अथवा नही। विदेश-मन्त्रालय की इच्छाओ के अनुसार सत्य को मोडने तथा तथ्यो को अनुकूल रँगो मे रँगने की यह प्रवृत्ति सभी राजनयिक सेवाओ मे पाई जाती है। रूसी राजनयज्ञ के लिये यह निश्चय ही प्राय: प्रस्तुता बन जाती है क्योकि अनुवर्तन से पद की कम से कम अस्थायी सुरक्षा प्राप्त हो जाती है।

इस प्रकार अमरीकी राजनय की त्रुटि का रूसी राजनयिक प्रणाली के दोषो के साथ प्रशमन हो जाता है, तथा इनका सपात संयुक्त-राज्य एव सोवियत-संघ के बीच सामान्य राजनयिक सम्बन्धो के प्राय: लुप्त होने की पर्याप्त व्याख्या प्रदान करता है।

समकालीन विश्व-राजनीति की प्रकृति

हमारे काल मे राजनय के पतन की व्याख्या मे जो अभाव है, उसकी पूर्ति समकालीन विश्व-राजनीति की प्रकृति द्वारा हो जाती है। राष्ट्रीय विश्ववाद की नवीन नैतिक शक्ति की धर्मयुद्धीय भावना से ओत-प्रोत होकर, तथा पूर्णयुद्ध की सभाव्य परिस्थितियो से दोनो ही आकर्षित एव भयभीत हो, दो अति शक्तिशाली

राष्ट्र, दो अतिकाय शक्ति-गुटो के केन्द्र मे अनम्य विरोध के साथ एक दूसरे के समक्ष उपस्थित है। जिसे वे अपने लिये महत्त्वपूर्ण समझते हैं, उसका बिना त्याग किये वे पीछे नही हट सकते। मुठभेड का जोखिम लिये बिना वे आगे बढ सकते हैं। तब अनुनय छल के समान है, समझौते का अर्थ अभिद्रोह है, तथा शक्ति की धमकी से युद्ध हो सकता है।

सयुक्त-राज्य एव सोवियत-सघ के बीच शक्ति-सम्बन्धो की प्रकृति के कारण, तथा इन दो अति शक्तिशाली राष्ट्रो के पारस्परिक सम्बन्धो मे वर्तमान मानसिक स्थिति के कारण राजनय के परिचालन के लिये बहुत कम अवसर है तथा इसके अप्रचलित हो जाने की सम्भावना है। इस प्रकार की नैतिक एव राजनीतिक परिस्थितियो मे राजनयज्ञ का सज्ञाशील, नम्य तथा दक्ष मस्तिष्क नही वरन् धर्मयुद्धकर्त्ता का अनम्य, कठोर एव एकपक्षीय मस्तिष्क राष्ट्रो का भाग्य निर्धारित करता है। धर्मयुद्धीय मस्तिष्क अनुनय एव समझौत के विषय मे कुछ नही जानता। वह केवल विजय एव पराजय के विषय मे जानता है।

यदि युद्ध अवश्यम्भावी होता तो यह पुस्तक यही पर समाप्त हो जाती। दि युद्ध अवश्यम्भावी नही है, तब राजनय के पुन प्रवर्तन की परिस्थितियो एव ान्ति की सेवा मे इसके सफलतापूर्वक परिचालन पर विचार करना शेष है।

बत्तीसवाँ अध्याय

राजनय का भविष्य

राजनय का पुनः प्रवर्तन कैसे हो सकता है ?

राजनय के पुन. प्रवर्त्तन के लिये उन तथ्यो के, अथवा कम से कम इनके परिणामो मे से कुछ के विलोपन की आवश्यकता है, जो पारम्परिक राजनयिक व्यवहार के अपकर्ष के लिये उत्तरदायी हैं। इस सम्बन्ध मे राजनय के अवक्षयण तथा इसके उपप्रमेय—ससदीय प्रक्रियाओ द्वारा राजनय—को प्राथमिकता देनी होगी। जहाँ तक वह अवक्षयण शक्ति राजनीति के अवक्षयण का परिणाम मात्र हैं, वहाँ तक जो हम दूसरे के विषय मे कह चुके हैं, वह पहले के विषय मे भी पर्याप्त है। अनेक लोगो को राजनय का कार्य नैतिक दृष्टि से चाहे जितना भी अनाकर्षक प्रतीत हो, राजनय उन सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रो मे शक्ति के लिये सघर्ष का लक्षण है, जो आपस मे सुव्यवस्थित एव शान्तिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित रखना चाहते हैं। यदि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से शक्ति के लिये सघर्ष को रोकने का कोई उपाय होता, तब राजनय स्वय ही लुप्त हो जाती। यदि विश्व के राष्ट्रो का व्यवस्था एव अराजकता, शान्ति एव युद्ध से कोई सम्बन्ध नही होता, तब वे राजनय का त्याग कर युद्ध की तैयारी कर सकते थे तथा सर्वोत्तम परिणामो की आशा कर सकते थे। यदि राष्ट्र, जो सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न हैं, जो अपने क्षेत्रो मे सर्वोच्च हैं तथा जिनके ऊपर कोई उच्चाधिकारी नही हैं, पारस्परिक सम्बन्धो से शान्ति एव व्यवस्था का सरक्षण चाहते हैं, तब उन्हे अनुनय, समझौते तथा एक-दूसरे पर दबाव डालने का अवश्य प्रयत्न करना होगा। इसका अर्थ यह है, कि उन्हे राजनयिक प्रक्रियाओ का अवश्य प्रयोग एव विकास करना होगा तथा उन पर निर्भर करना होगा।

नवीन ससदीय राजनय इस प्रक्रियाओ के लिये प्रतिस्थापक नही हो सकती। इसके विपरीत इसकी प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षों को कम करने की अपेक्षा बढाने की है, तथा यह शान्ति की प्रत्याशा को उज्ज्वल करने की अपेक्षा निष्प्रभ कर देती है। नवीन राजनय के तीन प्रधान गुण इन दुखद परिणामो के लिये उत्तरदायी हैं इसका प्रचार, इसका बहुमत, तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो का इसके द्वारा विखण्डन।

प्रचार का दोष

गोपनीय राजनय की समस्या के विचार-विमर्श के विषय में अधिकतर सभ्रान्ति का कारण इस समस्या के दो पृथक् पक्षों में प्रभेद करने की असफलता है अर्थात् खुली प्रसंविदाओं एवं खुले रूप से बनाई गई प्रसंविदाओं में, राजनयिक वार्ता के परिणामों के लिये प्रचार तथा राजनयिक वार्ता के लिये ही प्रचार में। प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार राजनयिक वार्ता के परिणामों का प्रकटीकरण आवश्यक है, क्योंकि इसके अभाव में विदेश-नीति का प्रजातन्त्रीय नियन्त्रण नहीं हो सकता। तथापि प्रजातन्त्र के अनुसार वार्ता के लिये ही प्रचार आवश्यक नहीं है तथा यह साधारण बुद्धि की आवश्यकताओं के भी विपरीत है। प्रतिदिन के अनुभव से प्राप्त साधारण बुद्धि से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी ऐसे विषय पर जनसाधारण के समक्ष वार्ता करना असम्भव है, जिससे वार्ताकारों के अतिरिक्त अन्य पक्षकारों का भी सम्बन्ध हो। वार्ता की प्रकृति ही तथा वे सामाजिक परिस्थितियाँ, जिनमें साधारणतया वार्ता का परिचालन होता है, इस असम्भव स्थिति के कारण हैं।

वार्ताओं की यह सामान्य विशेषता है कि उनका प्रारम्भ प्रत्येक पक्ष द्वारा अधिकतम शर्तों के साथ होता है, और ये शर्तें अनुनय, सौदाबाजी एवं दबाव की प्रक्रिया द्वारा तब तक कम की जाती हैं जब तक दोनों पक्ष उस स्तर से नीचे नहीं मिलते, जहाँ से उन्होंने प्रारम्भ किया था। वार्ताओं के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि इनका परिणाम प्रत्येक पक्ष की शर्तों की कम से कम एक सीमा तक परिपूर्ति करता है। समझौते में दोनों को संबद्ध करने वाले समरूप एवं संपूरक हितों का अस्तित्व प्रदर्शित कर दोनों पक्षकारों की मैत्री को सुदृढ़ करने की भी प्रवृत्ति है। दूसरी ओर, जिस प्रक्रिया द्वारा परिणाम प्राप्त होता है, वह पक्षकारों को ऐसी भूमिकाओं में प्रकट करती है, जिनमें वे अपने सहयोगियों द्वारा स्मरण नहीं किये जाना चाहेंगे। बहकाने, धौंसलाने, वाद-विवाद, तथा धोखा देने से भी अधिक गम्भीर रहस्य होते हैं, वास्तविक शक्ति-हीनता तथा मिथ्या शक्ति का ढोंग, जो लेन-देन और सौदाबाजी की प्रक्रिया के साथ चलते हैं। इन वार्ताओं का प्रचार करने का अर्थ होगा पक्षकारों की सौदाबाजी की स्थिति को अन्य वार्ताओं के लिये, जो वे दूसरे पक्षकारों से कर रहे हों, समाप्त अथवा कम से कम क्षीण करना।

केवल उनकी सौदाबाजी की स्थितियों की ही हानि नहीं होगी। यदि इन वार्ताओं का प्रचार हो और उनकी शक्तिहीनता एवं त्रुटियाँ प्रकट हो जायें, तब उनकी सामाजिक स्थिति, उनकी प्रतिष्ठा, तथा उनकी शक्ति को असाध्य क्षति

पहुँचेगी। जिन लाभों की वार्ताकार अभिलाषा रखते हैं, उन्हें प्राप्त करने के लिये प्रतियोगी लोक-वार्ताओं द्वारा प्रकट की गई स्थिति से लाभ उठायेंगे। वे पक्षकारों के साथ अन्य वार्ताओं में ही केवल नहीं, वरन् अपने उन समस्त परिकलनों, योजनाओं एवं प्रवृत्तियों में ऐसा करेंगे जो प्रतियोगिता में सभी भाग लेने वालों के गुणों और सम्भाव्य शक्तियों का ध्यान रखती हैं।

इन्हीं कारणों से "निर्बाध बाजार" में कोई विक्रेता किसी क्रेता के साथ, कोई भू-स्वामी किसी किराएदार के साथ, उच्च शिक्षा की कोई संस्था अपने कर्मचारी-वर्ग के साथ लोक-वार्ता नहीं करेगी। पद के लिये कोई उम्मीदवार अपने सहायकों के साथ, कोई लोक-अधिकारी अपने सहयोगियों के साथ, कोई राजनीतिज्ञ अपने सहायक राजनीतिज्ञों के साथ सार्वजनिक रूप से वार्ता नहीं करेगा। तब हम यह कैसे प्रत्याशा कर सकते हैं कि राष्ट्र वह कार्य करने के योग्य एवं इच्छुक होंगे, जिसे करने का कोई व्यक्ति विचार भी नहीं करता?

वार्ताओं के प्रचार से राष्ट्रों को होने वाली हानियाँ इस तथ्य से और भी बढ़ जाती हैं कि लोक अन्तर्राष्ट्रीय वार्ताओं के अभिदृश्य को देखने वाले श्रोतागण एक सीमित संख्या में सम्बन्धित पक्षकार ही नहीं हैं, वरन् समस्त संसार है। विशेष रूप से सम्बन्धित सरकारें अपने लोगों की सावधान आँखों के समक्ष, तथा यदि उनका प्रजातन्त्रीय रूप से निर्वाचन हुआ हो तब विरोधी दलों के भी समक्ष वार्ता करती हैं। कोई भी सरकार जो अपने पास शक्ति रखना चाहती है या कम से कम अपने प्रति लोगों के सम्मान को बनाये रखना चाहती है, दूसरे पक्ष के दावों को कम से कम आंशिक न्याय प्रदान करने के लिये, प्रारम्भ में जो स्थिति उसने अपनाई थी उससे पीछे हटकर सार्वजनिक रूप से उन दावों का परित्याग नहीं कर सकती, जिनमें से कुछ को इसने आरम्भ में न्यायपूर्ण एवं आवश्यक घोषित किया था। लेन-देन करने वाले व्यवसायी नहीं, वरन् वीर लोग जनमत के आराध्य होते हैं। युद्ध से भयभीत होने पर भी जनमत चाहता है कि इसके राजनयज्ञ उन वीरों की तरह कार्य करें, जो युद्ध की आशंका होने पर भी शत्रु के समक्ष नहीं झुकते। यह उनको दुर्बल एवं राज्य-द्रोही कहकर निंदा करता है, जो शान्ति के हेतु झुक जाते हैं, यद्यपि वे ऐसा कुछ सीमा तक ही करते हैं।

इसके अतिरिक्त पारम्परिक राजनय राज्य का कार्य ऐसी भाषा में और ऐसे तरीकों से करती थी, जो इसके कार्य के लिये पूर्णतः उपयुक्त थे। तब राजनय का उद्देश्य राष्ट्रीय हित का परिमितता के साथ उन्नति करना तथा वार्ता द्वारा होने वाले निपटारे के रूप में समझौते के लिये निर्बन्ध मार्ग रखना था। लेन-देन

की उन वार्ताओं में सयत शब्दों एवं औपचारिकतापूर्ण वाक्यांशों के प्रयोग के कारण वक्ता किसी भी बात के लिये वचनबद्ध नहीं होता था अथवा केवल ऐसे कार्य के लिये वचनबद्ध होता था, जिसे करने के लिये वह इच्छुक हो। ये वाक्यांश एवं औपचारिकतायें अर्थहीन हैं अथवा कम से कम अस्पष्ट हैं और इसलिये ये सभी प्रकार की व्याख्याओं के लिये ग्रहणशील हैं, जो किसी भी ऐसी नीति अथवा निपटारे के पक्ष में हो सकती है, जो अन्त में लाभप्रद प्रतीत हो। ये नम्र भी हैं, और इसलिये जो इनका प्रयोग करते हैं यदि उनके राष्ट्रों को पृथक् करने वाली समस्यायें गम्भीर हों, तो भी उनका साथ-साथ कार्य करना सरल बना देते हैं। सारांश यह है कि सूक्ष्म, सावधान, परिमित, एवं सामप्रिय वार्ताकार के ये दोष रहित यन्त्र हैं।

लोक-राजनय एवं इसके अधिवक्ता इस प्रकार के यन्त्र को केवल घृणा की दृष्टि से देखते हैं तथा उनके विचारानुसार यह आभिजात्य मिथ्याभिमान एवं नैतिक उदासीनता के बीते हुए युग की वस्तु है। सत्य के लिए धर्मयुद्धकर्ता··· "और लोक-राजनयज्ञों को यही समझा जाता है" कि वे इस प्रकार बात नहीं करते। एक मंच पर बैठ कर, जिसके लिए संसार ही श्रोतागण है, लोक-राजनयज्ञ एक दूसरे के लिए, वरन् संसार के लिए ही बोलते हैं। उनका ध्येय एक दूसरे को समझाना नहीं है, जिससे वे समझौते के लिए सामान्य सिद्धान्त प्राप्त कर सकें, वरन् संसार को ही, और विशेषतया अपने ही राष्ट्रों को समझाना है कि वे उचित बातें कर रहे हैं तथा दूसरा पक्ष अनुचित बातें कर रहा है और वे सत्य के दृढ़ प्रतिरक्षक हैं एवं सदा रहेंगे।

कोई भी व्यक्ति, जिसने विश्व की सचेत आँखों एवं कानों के समक्ष इस स्थिति को अपनाया है, बिना मूर्ख एवं धूर्त प्रतीत हुए पूर्णतया सार्वजनिक रूप से कोई समझौता स्वीकार नहीं कर सकता। उसे अपने लोक-वचन के अनुसार अवश्य कार्य करना होगा तथा वार्ता एवं समझौते की अपेक्षा 'सिद्धान्त पर', जो लोकमत का विशिष्ट वाक्यांश है, अवश्य दृढ़ रहना होगा। प्रारम्भ में अपनाई गई स्थिति की उसे अवश्य प्रतिरक्षा करनी होगी, और दूसरा पक्ष भी अवश्य ऐसा ही करेगा। पीछे हटने या आगे बढ़ने में दोनों ही पक्षों के असमर्थ होने के कारण स्थितियों का एक 'कृत्रिम युद्ध' प्रारम्भ हो जाता है। दोनों ही पक्ष एक दूसरे का अनम्य रूप से विरोध करते हैं, तथा प्रत्येक पक्ष यह जानता है कि दूसरे पक्ष की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होगा और न ही हो सकता है। लोगों को कार्यशीलता का कुछ आभास देने के लिए वे वायु में शब्दों के खाली कारतूसों का फायर करते हैं, जिनकी ध्वनि के साथ विस्फोटन होता है, तथा जैसा कि प्रत्येक व्यक्ति जानता है, इनका ध्येय कुछ भी नहीं होता। केवल पारस्परिक भर्त्सना में

ही प्रतिनिधियों के मस्तिष्कों का मिलन होता है। अन्त में जब क्रोधित एवं निराश होकर प्रतिनिधि अलग होते हैं तो वे क्रोधित रूप में ही इस विषय पर एकमत होते हैं कि दूसरे पक्ष ने प्रचार का उपयोग किया है। स्थिति ऐसी है कि इस विषय में दोनों ही पक्ष ठीक हैं।

राजनयिक संसर्ग का एक प्रचार प्रतियोगिता में यह अपकर्ष तब नवीन राजनय के प्रचार का अपरिहार्य सहवर्ती परिणाम है। सार्वजनिक रूप से संचालित राजनय केवल समझौता करने अथवा समझौते के ध्येय से वार्ता करने में ही असमर्थ नहीं है, वरन् प्रत्येक लोकसभा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को पहले से अधोवर्ती स्थिति में छोड़ देती है। क्योंकि प्रत्येक प्रचार-प्रतियोगिता विभिन्न प्रतिनिधियों एवं उनके राष्ट्रों के इस विश्वास को दृढ़ करती है कि वे पूर्णतः ठीक हैं तथा दूसरा पक्ष पूर्णतः गलत है, और दोनों को पृथक् रखने वाला अन्तर इतना गम्भीर एवं विस्तृत है कि राजनय के पारम्परिक ढंगों द्वारा यह समाप्त नहीं किया जा सकता। संयुक्त-राष्ट्र के महासचिव की 1956 की रिपोर्ट के तर्क में, जिसे उसकी 1959 की रिपोर्ट में विस्तृत किया गया, यथेष्ठ प्रज्ञान है कि "समस्याओं पर केवल बहस से भिन्न समझौते करने के यन्त्र के रूप में संयुक्त-राष्ट्र को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए।"

बहुमत निर्णय का दोष

राजनय के लोक-संचालन द्वारा कृत हानि का समस्याओं के बहुमत द्वारा निर्णय के प्रयत्न से प्रशमन हो जाता है। संयुक्त-राष्ट्र की महासभा में सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से अन्य सदस्यों को मत द्वारा पराजित करने के प्रतिरूप ने इस प्रणाली का रूप ले लिया है। राजनय का कार्य संचालन करने की इस प्रणाली ने एक महत्त्वपूर्ण समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान में भी कोई प्रत्यक्ष योगदान नहीं किया है। यह परिणामों से स्पष्ट है। उदाहरण के लिए, कोरिया की समस्या पर सोवियत-गुट को अनेक बार मत के द्वारा पराजित किया गया। तथापि महासभा में मतदान कोरिया की समस्या के समाधान में केवल इतना ही सगत था कि इसने पाश्चात्य गुट की मतशक्ति प्रदर्शित की और इस प्रकार उसकी राजनीतिक शक्ति में वृद्धि की तथा जो राष्ट्र, संयुक्त-राष्ट्र के कार्य को कोरिया में सहायता कर रहे थे, उन्हें सोवियत-गुट के विरोध में एकताबद्ध होकर कार्य करने के योग्य बनाया। एक पक्ष की शक्ति में वृद्धि करने के अप्रत्यक्ष योगदान के अतिरिक्त मतदान से कोरिया की समस्या के समाधान में कोई सहायता नहीं हुई। उस समस्या का समाधान महासभा के भवन में नहीं, वरन् लड़ाई के मैदान में तथा पूर्व एवं पश्चिम के बीच राजनयिक वार्ताओं द्वारा हुआ। एक समुदाय विशेष को प्रबल

बनाने के हेतु आकस्मिक प्रयोग के अतिरिक्त विरोधी को एक विचारक अन्तर्राष्ट्रीय निकाय मे अधिक मत-सख्या द्वारा पराजित करना एक व्यर्थ एव विवादग्रस्त उपक्रम क्यो है? इसका कारण राष्ट्रीय समाजो के विपरीत अन्तर्राष्ट्रीय समाज की प्रकृति ही है।

जब सयुक्त-राज्य की ससद एक अल्पमत को मत के द्वारा पराजित करती है, तब यह वास्तव मे समस्या का निर्णय कुछ समय के लिए करती है। यह ऐसा करने में चार कारणो से समर्थ होती है, जोकि सभी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र से अनुपस्थित हैं।

1. ससदीय बहुमत शान्तिपूर्ण परिवर्तन के लिये उपायो की एक सम्पूर्ण प्रणाली का एक पूर्ण अग है तथा इन उपायो मे से प्रत्येक दूसरो के प्रति सपूरक सहायक अथवा शोधक के रूप मे परिचालित होने के योग्य होता है और सविधान द्वारा सभी सीमित होते हैं एव सब मे समन्वय स्थापित होता है। ससद मे अल्पमत एव बहुमत एक पूर्ण समाज निर्मित करते है। विचारक निकायो के अतिरिक्त, जिनमे बहुमत द्वारा निर्णय होते है राष्ट्रीय समाज ने ऐसे उपायो की शृखला की, जैसे राष्ट्रपतीय वीटो एव न्यायिक पुनर्विलोकन, रचना की है, जिनसे बहुमत को पराजित किया जा सकता है, तथा बहुमत के असवैधानिक उपयोग अथवा स्वेच्छा-पूर्वक दुरुपयोग के विरुद्ध अल्पमत की रक्षा की जा सकती है। बहुमत के निर्णय के पीछे तथा पराजित अल्पमत के पीछे भी राष्ट्रीय समुदाय की सम्पूर्ण नैतिक एव राजनीतिक शक्ति होती है, जो बहुमत के निर्णय को प्रवर्त्तित करने और अन्याय एव शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध अल्पमत की रक्षा करने के लिए तत्पर रहती है।

2 शान्तिपूर्ण परिवर्तन के उपकरण, जिनका राष्ट्रीय समुदाय के अन्दर परिचालन होता है, अल्पमत को भविष्य मे कभी बहुमत बनाने का अवसर प्रदान करते हैं। यह अवसर सामयिक निर्वाचनो के उपाय मे एव सामाजिक प्रक्रिया के साधनों मे अन्तर्निहित है, जो सदा नये गुटो एव शक्ति के वितरणो की रचना करते रहते हैं। ये साधन इस बात का भी ध्यान रखते है कि एक विचारक-सभा में एक अल्पमत उन सब विषयो पर, जो इसके लिए महत्त्वपूर्ण हैं, सदा अल्पमत न रहे। एक समुदाय एक धार्मिक अल्पमत हो सकता है, इस प्रकार के विषयो पर मत मे पराजित हो सकता है, परन्तु यह आर्थिक बहुमत का अग हो सकता है, और इस प्रकार आर्थिक विधान एव ऐसे अन्य विषयो को निश्चित कर सकता है।

3. अल्पमत एव बहुमत के बीच सख्यात्मक सम्बन्ध सम्पूर्ण जनसख्या मे शक्ति एव हितो के वास्तविक वितरण का कम से कम सन्निकटन है। जब

प्रतिनिधि सभा (House of Representatises) में किसी प्रस्ताव के विरुद्ध मतदान होता है—उदाहरण के लिए 270 से 60 द्वारा—यह मानना साधारणतया सुरक्षित होगा कि अमरीकन लोगों के केवल सापेक्ष लघु अल्पमत की पराजित प्रस्ताव के साथ अनन्यता होती है।

4 जब कि ससद में दिये गये प्रत्येक मत की गणना एक होती है, तथापि यह सत्य है कि राजनीतिक दृष्टिकोण स सभी मतों का समान महत्त्व नहीं होता। एक कानून के विषय में, जिसका उनके अपने-अपने समुदाय पर प्रभाव पड़ता हो, समिति के एक शक्तिशाली सभापति, उद्योगपति, किसान, अथवा श्रमनेता के नकारात्मक मत का उन राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक परिणामों पर प्रभाव पड़ सकता है, जो बहुमत के विचारानुसार उस कानून के द्वारा उत्पन्न होने हों। तथापि ससद म सबसे अधिक शक्तिशाली एक मत अमरीकन लोगों की सम्पूर्ण शक्ति के एक छोटे अश का प्रतिनिधित्व करता है।

इन चार तत्त्वों में से, जिनके कारण देशीय शान्तिपूर्ण परिवर्तन में बहुमत का योगदान सम्भव हो पाता है, एक भी ऐसा नहीं है, जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में वर्तमान हो।

1 सयुक्त-राष्ट्र के ढाँचे के अन्दर अनिवार्य शान्तिपूर्ण परिवर्तन के लिए बहुमत ही एकमात्र उपाय है। कोई सविधान, कोई राष्ट्रपतीय वीटो, कोई न्यायिक पुनर्विलोकन, तथा कोई अधिकार घोषणा-पत्र नहीं है, जो बहुमत पर सारभूत एव क्रियाविधि-सम्बन्धी नियन्त्रण लगा सके तथा अन्याय एव शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध अल्पमत की रक्षा कर सके। न ही कोई ऐसा समुदाय है, जो बहुमत एव अल्पमत पर समान रूप से नैतिक नियन्त्रण लगा सके तथा एक अनिच्छुक अल्पमत के विरुद्ध बहुमत के निर्णय को प्रवर्तित करने के योग्य हो। बहुमत जितनी बार चाहे और किसी भी प्रश्न पर, जिसे वह चुन ले, अल्पमत को मत द्वारा पराजित कर सकता है, तथा अल्पमत वीटो एव बहुमत के किसी भी निर्णय को रद्द करने की अपनी शक्ति द्वारा अपनी रक्षा कर सकता है।

2. सयुक्त-राष्ट्र म एक अल्पमत, विशेषकर वर्तमान राजनीतिक परिस्थितियों में, सम्भवत एक स्थायी अल्पमत बना रहेगा। इसी कारण से अधिक महत्त्व वाले सभी प्रश्नों पर यह अल्पमत ही रहेगा। दोनों गुटों के बीच तनाव के कारण प्रायः सभी प्रश्न राजनीतिक प्रश्न बन जाते है। जब ऐसे प्रश्नों पर मतदान होता है, दोनों गुटों के सहायकों की गुटों को पृथक् करने वाले सिद्धान्तों के अनुसार ही विभक्त होने की सम्भावना होती है।

3. महासभा में एक अल्पमत एव एक दो-तिहाई बहुमत के बीच का सख्यात्मक सम्बन्ध स्पष्टतया आवश्यक रूप [redacted] सयुक्त-राष्ट्र के सदस्यों के बीच

शक्ति एवं हितों के वास्तविक वितरण के अनुरूप नहीं होता। न ही महासभा के सबसे अधिक शक्तिशाली सदस्यों का मत राष्ट्रों के लोक-समाज की सम्पूर्ण शक्ति का सापेक्ष रूप से एक लघुअंश का प्रतिनिधित्व करता है। अफ्रीका, एशिया यूरोप एवं लैटिन अमरीका के समस्त छोटे राष्ट्रों द्वारा निर्मित बहुत अधिक संख्या में एक बहुमत की शक्ति संयुक्त राज्य अथवा सोवियत-संघ के एक मत की तुलना में बहुत कम है।

यद्यपि एक विचारक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में एक शक्तिशाली अल्पमत को साधारणतया मत द्वारा पराजित करना शीत युद्ध में एक सशक्त शस्त्र है तथापि इससे शान्ति संरक्षण में कोई योगदान नहीं प्राप्त होता। क्योंकि अल्पमत बहुमत का निर्णय स्वीकार नहीं कर सकता और बहुमत अपने निर्णय को बिना युद्ध के प्रवर्तित नहीं कर सकता। बहुत अच्छा परिणाम होने पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्थानान्तर के पश्चात् संसदीय प्रक्रियायें वर्तमान स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं लाती। वे समस्याओं का निपटारा एवं प्रश्नों का समाधान नहीं कर पाती। बहुत बुरा परिणाम होने पर तो ये प्रक्रियायें अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को दूषित कर देती हैं तथा जिन संघर्षों में युद्ध के बीज है, उन्हें बढ़ा देती है। ये बहुमत को एक अवसर प्रदान करती हैं कि वह सार्वजनिक रूप से जितनी बार चाहे अल्पमत का अपमान कर सकता है। ये प्रक्रियायें वीटो के रूप में, जो सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रों के समाज में बहुमत का परिणाम है, अल्पमत को एक शस्त्र प्रदान करती है, जिससे बहुमत के संकल्प में बाधा डाली जा सके तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को कोई भी कार्य करने से रोका जा सके। न तो बहुमत को और न ही अल्पमत को आत्म-संयम का प्रयोग करने अथवा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के प्रति अपने उत्तरदायित्व से सचेत होने की आवश्यकता है, क्योंकि जिस विषय के लिये अथवा विरुद्ध प्रत्येक पक्ष मतदान करता है, वह स्वयं ही घटनाओं के क्रम को प्रभावित नहीं कर सकता। तब सम्पूर्ण प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों के एक गुट को मत द्वारा साधारणतया पराजित करना एक ऐसी निरर्थक क्रीडा में भाग लेना है, जो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों के शान्तिपूर्ण निपटारे में कोई योगदान नहीं देती वरन् जो मानवता को युद्ध के मार्ग पर और आगे ले जाती है।

विखण्डन का दोष

बहुमत द्वारा निर्णय में तीसरा दोष निहित है जो पारम्परिक राजनयिक प्रक्रियाओं के पुनः प्रवर्तन में बाधा डालता है वह है अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का विखण्डन। अपनी प्रकृति के अनुसार ही बहुमत वोट का एक एकाकी स्थिति के

साथ सम्बन्ध होता है। जीवन के तथ्यों को, जो बहुमत के निर्णय से सम्बन्धित होते हैं, कृत्रिम रूप से उन तथ्यों से पृथक् कर दिया जाता है, जो इनके पूर्व, साथ अथवा बाद में होते है, और इनका एक वैध 'मामले' अथवा एक राजनीतिक 'समस्या' में रूपान्तर कर दिया जाता है जिसका इसी रूप मे बहुमत द्वारा निर्णय होता है। देशीय क्षेत्र मे यह प्रक्रिया आवश्यक रूप से हानिकारक नहीं है। यहाँ एक विचारक-निकाय का बहुमत-निर्णय शान्तिपूर्ण परिवर्तन के लिए उपायों की एक जटिल व्यवस्था के प्रकरण के अन्दर सम्मिलित होता है। ये उपाय स्थिति के अनुसार एक-दूसरे के लिए सपूरक, सहायक अथवा बाधक होते हैं, परन्तु प्रत्येक स्थिति मे ये कुछ सीमा तक एक दूसरे के समरूप होते हैं और इस प्रकार वैयक्तिक निर्णयों को एक दूसरे के साथ एव सम्पूर्ण सामाजिक-प्रणाली के साथ स्थिरता प्रदान करते है।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे तत्वों के एकीकरण के लिये ऐसी कोई प्रणाली विद्यमान नहीं है। फलत यहाँ एक के पश्चात् दूसरे 'मामले' अथवा 'समस्या' पर विचार करना तथा बहुमत के अनुक्रम द्वारा उनका निर्णय करने का प्रयत्न करना विशेषकर अपर्याप्त है। चीनी तट के दूरवर्ती द्वीप अथवा बर्लिन जैसा मामला अथवा समस्या सदा ही एक बहुत बृहत् स्थिति की एक विशेष अवस्था एव अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार के मामले अथवा समस्या का मूल ऐतिहासिक भूतकाल मे रहता है तथा इसकी बहुधाखायें विशेष स्थानीय स्थिति से परे एव भविष्य काल मे विस्तृत होती है। विवादों एव तनावों के बीच के सम्बन्धों के हमारे विचार-विमर्श ने हमे उन घनिष्ठ सम्बन्धो का आभास दिया है, जो अन्तर्राष्ट्रीय सघर्षों की सतह के तत्वो एव बृहद् एव अस्पष्ट समस्याओं के बीच विद्यमान हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय जीवन की प्रतिदिन की घटनाओं की सतह के नीचे गहराई मे छिपे हुये हैं। जिस प्रकार मामले और प्रश्न सामने आते है, उन पर विचार करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून अथवा राजनीतिक कालोचितता द्वारा उनका निर्णय करने का प्रयत्न करना सतह के तत्वों पर ही विचार करना है और मौलिक समस्याओं को अविचारित और बिना समाधान के छोड़ देना है। राष्ट्र-सघ उसी दोष का शिकार हो गया, तथा सयुक्त-राष्ट्र, राष्ट्र-सघ के अनुभव से असावधान रहा है।

उदाहरण के लिये, इसमे कोई सन्देह नहीं है कि फिनलैंड पर आक्रमण करने के कारण सोवियत-सघ को 1939 मे निष्कासित करने मे राष्ट्र सघ ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार उचित कार्य किया। परन्तु जो राजनीतिक एवं सैनिक समस्यायें सोवियत-सघ ने विश्व के समक्ष उपस्थित की, उनका न तो

प्रारम्भ और न ही अन्त फिनलैंड पर इसके आक्रमण के साथ हुआ, ऐसी स्थिति थी, यह बहाना करना और उसी बहाने के आधार पर उस प्रश्न का निर्णय करना राष्ट्र सघ के लिये अविचारपूर्ण था। इतिहास ने उस बहाने की अविवेकशीलता को सिद्ध किया है क्योंकि फिनलैंड की सहायता के हेतु ग्रट-ब्रिटेन एव फ्रास की सेनाओ को स्वीडन के अपने प्रदेश से जाने की स्वीकृति न देने के कारण ही ग्रेट-ब्रिटेन एव फ्रास को जर्मनी और सोवियत सघ के साथ एक ही समय मे युद्ध करने की स्थिति से रक्षा हो सकी। अब भी राष्ट्र सघ ने राजनीतिक स्थितियो का, जिन्हे वैध प्रश्नो के रूप मे उपस्थित किया गया, निर्णय करने का प्रयत्न किया, वह इनका निर्णय एक सर्वोपरि राजनीतिक स्थिति की विशेष अवस्थाओ के रूप मे नही जिसके लिये राजनीतिक कला के नियमो के अनुसार एक सर्वोपरि समाधान की आवश्यकता थी वरन् अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रयोज्य नियमो के अनुसार केवल एकाकी स्थितियो के रूप म कर सका। अत राजनीतिक समस्याओ का कभी समाधान नही हो सका, वरन् उनपर केवल निरर्थक विचार विमर्श होता रहा और अन्त मे वैध लेख के नियमो के अनुसार यह विचार-विमर्श भी बन्द हो गया।

जो राष्ट्र-सघ के विषय म सत्य था वह सयुक्त राष्ट्र के विषय मे पहले से ही सत्य सिद्ध हो गया है। अपने राजनीतिक अभिकरणो के समक्ष लाये गये प्रश्नो मे से अनेक का निर्णय करने के तरीके मे सयुक्त-राष्ट्र राष्ट्र-सघ द्वारा स्थापित परम्परा के प्रति एकनिष्ठ रहा है। इन प्रश्नो ने ससदीय प्रक्रियाओ के प्रयोग एव उस छल कपट के लिये, जिसके लिये पारम्परिक राजनय की बार बार निन्दा हुई है, अवसर प्रदान किये हैं। परन्तु केवल असाधारण अवसरो पर उन राजनीतिक प्रश्नो का सामना करने का प्रयास भी किया गया है जिनकी ये स्थितियाँ प्रत्यक्ष अभिव्यक्तियाँ है।

युद्ध के पश्चात् के काल मे विशेष राजनीतिक सम्मेलनो ने राष्ट्र-सघ एव सयुक्त राष्ट्र द्वारा स्थापित विखण्डन के प्रतिरूप की पुनरावृत्ति की है। उदाहरण के लिये इनमे कोरिया, जर्मनी के एकीकरण, अथवा निरस्त्रीकरण पर विचार विमर्श हुआ। इनमे से किसी भी सम्मेलन ने उस समस्या पर विचार नही किया है, जिसकी ये सभी प्रश्न विशेष अवस्थायें एव अभिव्यक्तियाँ हैं तथा जिसके समाधान पर इन प्रश्नो का निपटारा निर्भर करता है। वह है सयुक्त-राज्य एव सोवियत सघ के बीच सर्वांगीण सम्बन्धो की समस्या। क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की मौलिक समस्या पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने के लिये ये अनिच्छुक

ये किसी विशेष प्रश्न के समाधान मे भी, जिसपर इन्होंने अपना ध्यान केन्द्रित किया, ये असमर्थ रहे।

समकालीन राजनय की उस समस्या को समझने तक की असफलता, जिसके समाधान पर शान्ति-संरक्षण निर्भर है—इसका समाधान करने के प्रयत्न का प्रश्न पृथक है—उन तरीकों का अनिवार्य परिणाम है, जिनका इसने प्रयोग किया है। जो राजनय दूसरे पक्ष से शान्तिपूर्ण ढंग से बातचीत करने की अपेक्षा विश्व के समक्ष प्रचार के ध्येय से व्याख्यान देती है, जो समझौते को लक्ष्य बनाकर वार्ता करने की अपेक्षा निरर्थक बहुमत निर्णयों की साधारण विजयो एव बाधक निषेधाधिकारों के लिये प्रयत्न करती है, जो प्रधान समस्या का सामना करने की अपेक्षा अप्रधान समस्याओं के हेर फेर से ही सतुष्ट है ऐसी राजनय शान्ति की रक्षा के हेतु साधक न होकर बाधक ही होती है।

समकालीन राजनय के ये तीन अनिवार्य दोष आधुनिक संचार-व्यवस्था के दुरुपयोग ने और बढ़ा दिये है। आधुनिक टैक्नालोजी द्वारा समय एव आकाश की विजय ने राजनयिक प्रतिनिधित्व के महत्त्व को अनिवार्य रूप से कम कर दिया है। तथापि इसने किसी प्रकार से विदेश मन्त्रालय एव राजनयिक प्रतिनिधित्व के बीच के कार्यों की उस भ्रान्ति को आवश्यक नही बनाया है, जो समकालीन राजनय की विशेषता है। एक राज्य-सचिव (सेक्रेटरी आफ स्टेट) अथवा विदेश-मन्त्री आधुनिक संचार-व्यवस्था के प्रयोग से कुछ मिनटों के समय के अन्दर किसी भी विदेशी राजधानी से बातचीत करने मे तथा वहाँ अधिक से अधिक कुछ दिनो मे स्वय पहुँचने मे समर्थ होता है। इस प्रकार जो व्यक्ति परराष्ट्र-सम्बन्धो के संचालन के लिये उत्तरदायी है, उनमें भ्रमणशील राजदूत का रूप धारण करने की प्रवृत्ति हो गई है। वे एक सम्मेलन से दूसरे सम्मेलन मे शीघ्रता से जाते है, सम्मेलनों के बीच के समय मे थोडी देर के लिये विदेश मन्त्रालय मे रुकते हैं, और अगली सभा की तैयारी के लिये वहाँ अपने समय का उपयोग करते हैं। जिन व्यक्तियो को राजनय का मस्तिष्क, इसका तन्त्रिका केन्द्र समझा जाता है, वह अधिक से अधिक तन्त्रिका-संस्थान की परिधि का कार्य करते हैं। फलत. केन्द्र मे शून्यता हो जाती है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं रहता जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सर्वांगीण समस्या का सामना करे तथा सभी विशेष प्रश्नों को सम्पूर्ण की अवस्थाओ एव अभिव्यक्तियों के रूप मे देखे। इसकी अपेक्षा विदेश मन्त्रालय मे प्रत्येक विशेषज्ञ अपने क्षेत्र विशेष से सम्बन्धित विशेष समस्याओं पर विचार करता है। फलत परराष्ट्र सम्बन्धो के संचालन के विखण्डन को, जिसकी समकालीन राजनय के ढगो से शका है, परराष्ट्र सम्बन्धो के सर्वांगीण निर्देशन के अभाव के कारण प्रबल सहायता प्राप्त होती है।

राजनय से आशा : इसके नौ नियम[1]

यदि राजनय उन दोषों का परित्याग कर सके, जिनके कारण आधुनिक समय में इसकी उपयोगिता प्राय समाप्त हो गई है, और यदि यह उन तरीकों का पुनः प्रयोग करे, जिनके द्वारा स्मरणातीत समय से राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध नियन्त्रित हुए हैं, तब इसका पुनः प्रवर्तन हो सकता है। ऐसा होने पर भी शान्ति सरक्षण के हेतु पूर्व शर्तों में से केवल एक को ही राजनय प्राप्त कर सकेगी। शान्ति के हेतु पुन प्रवर्तित राजनय का योगदान इसके द्वारा प्रयुक्त होने वाली पद्धतियों और इसके अभिप्रायों पर निर्भर करेगा। इन प्रयोगों पर विचार विमर्श ही अन्तिम कार्य है, जो हम इस पुस्तक में करेंगे।

हमने पहले ही उन चार कार्यों का वर्णन किया है, जिन्हें राजनय को राष्ट्रीय हित एवं शान्ति-सरक्षण के हेतु अवश्य सफलतापूर्वक करना होगा। अब हमें विशेष समस्याओं को जिन्हें समकालीन विश्व-राजनीति राजनय के समक्ष उपस्थित करती है, ध्यान में रखते हुए उन कार्यों का पुन वर्णन करना है। हमने देखा है कि द्विध्रुवी प्रणाली (Bipolar System) म, जो समकालीन विश्व-राजनीति का प्रधान एव विशिष्ट तत्त्व है, असाधारण हानि एव असाधारण कल्याण की क्षमता है। हमने फ्रांसीसी दार्शनिक फ़ेनेलों को उद्धृत किया है जिसके विचारानुसार दो प्राय समान राष्ट्रों का विरोध शक्ति सतुलन की आदर्श व्यवस्था स्थापित करता है। हमने देखा कि वे कल्याणकारी परिणाम, जिनकी फ़ेनेलों द्विध्रुवी प्रणाली से प्रत्याशा करता है, सयुक्त-राज्य एव सोवियत सघ के विरोध से प्राप्त नहीं हुए हैं।

अन्त में, हमने समकालीन विश्व राजनीति के इस भयानक पहलू का मुख्य कारण आधुनिक युद्ध के स्वरूप में देखा, जिसमें *राष्ट्रवादी विश्ववाद एव आधुनिक* टेक्नोलोजी के प्रभाव के कारण गम्भीर परिवर्तन हुए हैं। आधुनिक टेक्नोलोजी के प्रभाव को समाप्त नहीं किया जा सकता। राष्ट्रवादी विश्ववाद की नवीन नैतिक-शक्ति ही केवल एक ऐसी अस्थिर वस्तु है, जिसमें आयोजित रूप से परिवर्तन हो सकता है। युद्ध की ओर अग्रसर प्रवृत्ति को एक पुन प्रवर्तित राजनय के तरीकों के द्वारा विपरीत दिशा में लाने के प्रयास का प्रारम्भ अवश्य ही इसी विषय से होना चाहिये। नकारात्मक रूप से इसका अर्थ यह है कि एक पुन प्रवर्तित राजनय से *शान्ति-सरक्षण की केवल तभी आशा की जा सकती* है जब

1. राजनय के नियमों का विस्तृत रूप से वर्णन करने का हमारा यहाँ अभिप्राय नहीं है। हमारा विचार केवल उन नियमों पर विचार-विमर्श करना है, जिनका अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति से विशेष सम्बन्ध है।

इसका प्रयोग सार्वदेशिक स्वामित्व के ध्येय से एक राजनीतिक धर्म के यन्त्र के रूप में न हो।

चार मौलिक नियम

राजनय को धर्मयुद्धीय भावना से अवश्य रहित होना होगा

यह उन नियमों में से पहला है, जिसकी अवहेलना राजनय युद्ध का संकट लेकर ही कर सकती है। विलियम ग्राहम समनर के शब्दों में, "यदि आप युद्ध चाहते हैं, एक मत को अपनाइए। मत अत्यन्त भयानक निरंकुश शासक हैं, जिनके अधीन लोग रहे हैं, क्योंकि मतों का मानव की विचार-शक्ति पर प्रभाव पड़ता है तथा ये मानव को उसी के विरुद्ध धोखा देते हैं। सभ्य लोगों ने मतों के लिये ही अपने भयंकरतम युद्ध किये हैं। "होली सेपल्चर" की पुर्नविजय, "शक्ति-सतुलन", "सार्वदेशिक स्वामित्व नहीं", झंडे के पश्चात् व्यापार होगा", "जिसका भूमि पर आधिपत्य है, उसका समुद्र पर भी आधिपत्य होगा" "राज-सिंहासन एवं वेदी", क्रान्ति, विश्वास—ये ही वे वस्तुयें हैं, जिनके हेतु लोगों ने अपने जीवन न्योछावर किये हैं। जब कोई मत शक्ति की उस सीमा तक पहुँच जाता है, इसका नाम एक ऐसा उपाय बन जाता है, जिसका कोई मनोतेजक नेता आप पर किसी भी समय और किसी भी कार्य के लिये प्रयोग कर सकता है। इस मत की व्याख्या करने के लिये हमें धार्मिक भाषा का अवश्य सहारा लेना होगा। एक मत विश्वास का एक नियम है। यह एक ऐसी वस्तु है, जिसमें विश्वास करने के लिये आप बाध्य हैं, इसलिए नहीं कि इसे सत्य समझने के लिये आपके पास कुछ युक्ति-सगत कारण हैं, वरन्, इसलिये कि आप अमुक धर्म अथवा सम्प्रदाय के सदस्य हैं ···। एक राज्य की किसी नीति को हम समझ सकते हैं। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में संयुक्त-राज्य की यह नीति थी कि स्पेन से युद्ध का संकट लेकर भी मिस्सीसिप्पी में इसके मुहाने तक निर्बाध नौचालन प्राप्त किया जाए। इस नीति में तर्क एवं न्याय था, यह हमारे हितों पर आधारित थी, इसका स्वरूप स्पष्ट था एवं कार्य-क्षेत्र निश्चित था। एक मत एक अमूर्त सिद्धान्त होता है, यह आवश्यक रूप से अपने लक्ष्य में निरंकुश होता है तथा इसकी भाषा कठिन होती है, यह एक तात्विक दृढ़ कथन होता है। यह कभी भी सत्य नहीं होता, क्योंकि यह निरंकुश है, और मनुष्यों के सभी कार्य अनुकूलित एवं सापेक्ष होते हैं। अब राजनीति की ओर फिर ध्यान देते हुए आप तनिक यह सोचें कि राज्यकला में एक अमूर्त मत कितना घृणित होगा। कोई राजनीतिज्ञ अथवा संपादक किसी भी क्षण में इसमें एक नया अर्थ जोड़ सकता है। लोग किसी मत को इसलिये स्वीकार करते हैं एवं इसकी प्रशंसा करते हैं कि

वे राजनीतिज्ञो एव सपादकों को इसे दोहराते हुए सुनते हैं, और राजनीतिज्ञ एव सपादक इसे इसलिये दोहराते हैं कि वे सोचते हैं कि यह लोकप्रिय है। इस प्रकार इसका विकास होता है । किसी भी क्षण मे इसका अर्थ कुछ भी अथवा शून्य हो सकता है और यह कोई व्यक्ति नही जानता कि यह कैसे होगा। आप इसे जो भी समझते हैं, इसकी अस्पष्ट सीमाओ के अन्दर इस समय इसे स्वीकार कर लेते हैं, फलत आपको कल इसे स्वीकार करना पडेगा, जब वही नाम एक अन्य वस्तु के विषय मे होगा, जिसके सम्बन्ध मे न आपने सुना होगा और न ही विचार किया होगा। यदि आप एक राजनीतिक नारे की ओर ध्यान नही देते और इसे विकसित होने देते हैं तो आप किसी दिन जागृत होकर पायेंगे कि यह आपके ऊपर स्थित है, आपकी नियति का विवेचक है, और आप इसके विरुद्ध शक्तिहीन हैं जिस प्रकार मनुष्य विभ्रमों के विरुद्ध शक्तिहीन होते हैं । गम्भीर राजमर्मज्ञता एव सहज-बुद्धि के इससे अधिक प्रतिकूल और क्या हो सकता है कि एक ऐसी अमूर्त हठोक्ति को सामने रखा जाए, जिसका हमारे वर्तमान महत्त्वपूर्ण हितो से कोई निश्चित सम्बन्ध न हो, परन्तु जिसमे ऐसी उलझनें उत्पन्न करने की अनेक सम्भावनाएँ हो, जिन्हे हम पहले से नहीं जान सकते, परन्तु जब वे उत्पन्न होगी अवश्य ही हमे कठिनाई मे डालेंगी"।[2]

धर्म के युद्धो ने यह प्रदर्शित किया है कि केवल अपने धर्म को ही सत्य मानकर उसे शेष ससार पर आरोपित करने का प्रयास उतना ही निरर्थक है जितना यह मँहगा है। प्रतियोगियो को यह विश्वास दिलाने के लिये कि दोनो धर्म एक साथ पारस्परिक सहिष्णुता से रह सकते हैं, भीषण रक्त-पात, विध्वस एव बर्बरता की एक शताब्दी की आवश्यकता पडी। हमारे काल के दो राजनीतिक धर्मों ने सोलहवी एव सत्रहवी शताब्दियो के दो महान् ईसाई सम्प्रदायो का स्थान ले लिया है। क्या हमारे काल के राजनीतिक धर्मों को तीस वर्षीय युद्ध के द्वारा प्रदान की गई शिक्षा की आवश्यकता होगी, अथवा क्या वे कुछ समय के पश्चात् उन विश्ववादी महत्त्वाकाक्षाओ का परित्याग करेंगे, जिनका परिणाम अनिवार्य रूप मे अनिश्चयपूर्ण युद्ध होता है।

इस प्रश्न के उत्तर पर शान्ति की रक्षा निर्भर है। क्योकि यदि इसका उत्तर स्वीकारात्मक ही हो, तभी एक नैतिक मतैक्य का, जो सामान्य विश्वासो एव विचारो स उत्पन्न होगा, विकास हो सकता है—एक ऐसे नैतिक मतैक्य का, जिसके अन्दर एक शान्ति-सरक्षक राजनय को विकास का अवसर प्राप्त होगा। केवल तभी राजनय को उन वास्तविक समस्याओ का सामना करने का

2 "War" Essays of William Graham Sumner (New Haven Yale University Press, 1934) Vol I, pp 169 ff

अवसर प्राप्त होगा, जिनके लिये शान्तिपूर्ण समाधान आवश्यक है। यदि विदेश नीति के ध्येयों की परिभाषा एक विश्व-व्यापी राजनीतिक धर्म के रूप में न की जाए, तब उनकी कैसे परिभाषा की जायेगी? यदि राष्ट्रवादी विश्ववाद की धर्मयुद्धीय महत्वाकांक्षाओं का परित्याग कर दिया जाये, तब यही मौलिक समस्या रह जायेगी, जिसका समाधान करना होगा।

विदेश नीति के ध्येयों की परिभाषा राष्ट्रीय हित के अर्थ में अवश्य करनी होगी तथा इसका यथेष्ट शक्ति द्वारा अवश्य पोषण करना होगा

शान्ति-संरक्षक राजनय का यह दूसरा नियम है। एक शान्ति-प्रिय राष्ट्र के राष्ट्रीय हित की परिभाषा केवल राष्ट्रीय सुरक्षा के अर्थ में ही सकती है, तथा राष्ट्रीय सुरक्षा की परिभाषा राष्ट्रीय क्षेत्र एवं इसकी संस्थाओं की अखण्डता के रूप में अवश्य होनी चाहिये। जब राष्ट्रीय सुरक्षा वह न्यूनतम वस्तु है, जिसकी राजनय को यथेष्ट शक्ति द्वारा बिना समझौते के रक्षा करनी होगी। परन्तु राजनय को उस आमूल रूपान्तरण के प्रति अवश्य सदा सचेत रहना होगा, जिसका राष्ट्रीय सुरक्षा ने परमाणु-युग के प्रभाव में अनुभव किया है। इस युग के आगमन तक एक राष्ट्र किसी अन्य राष्ट्र को हानि पहुँचा कर अपनी सुरक्षा हेतु अपनी राजनय का प्रयोग कर सकता था। आज एक राष्ट्र विशेष के पक्ष में परमाणु-शक्ति-सन्तुलन में आमूल परिवर्तन के अभाव में राजनय को एक राष्ट्र को परमाणु विनाश से सुरक्षित करने के हेतु सभी राष्ट्रों को अवश्य सुरक्षित करना होगा। राष्ट्रीय हित की इस प्रकार के प्रतिबन्धक एवं महत्वपूर्ण शब्दों में परिभाषा के पश्चात् राजनय को अपने नियमों में से तीसरे की ओर अवश्य ध्यान देना होगा।

राजनय को राजनीतिक क्षेत्र पर दूसरे राष्ट्रों के दृष्टिकोण से अवश्य देखना होगा

"आत्म पक्षपात की अतिशयता एवं अन्य लोग स्वभावतः क्या आशा अथवा किस से भय करते है, इस विचार के पूर्णतः अभाव के समान किसी राष्ट्र के लिये और कुछ भी घातक नही है।"[3] दूसरे राष्ट्रों के राष्ट्रीय-सुरक्षा के अर्थ में क्या हित हैं, तथा क्या वे किसी राष्ट्र के अपने हितों से संगत हैं? राष्ट्रीय-सुरक्षा के अर्थ में राष्ट्रीय हितों की परिभाषा सरल है, तथा शक्ति-सन्तुलन की

3. Edmund Burke, "Remarks on the Policy of the Allies with Respect to France" (1793) Works, Vol IV (Boston Little, Brown and Company, 1889), p 447

किसी अन्य प्रणाली की अपेक्षा एक द्विध्रुवी प्रणाली में दो विरोधी राष्ट्रों के हितों के सगन होने की अधिक सम्भावना है। जैसा कि हमने देखा है, शान्ति के दृष्टिकोण से द्विध्रुवी प्रणाली किसी अन्य प्रणाली से अधिक अरक्षित है, क्योंकि दोनों गुट समस्त संसार में प्रतिद्वन्द्वियों की तरह सम्पर्क में हैं तथा दोनों की महत्वाकांक्षा एक विश्व सम्बन्धी लक्ष्य के धर्मयुद्धीय उत्साह से ओत प्रोत है।···"पड़ोस अथवा स्थिति की निकटता राष्ट्रों को स्वाभाविक शत्रु बना देती है।"[4]

तथापि एक बार अपने राष्ट्रीय हितों को राष्ट्रीय-सुरक्षा के सन्दर्भ में परिभाषा करने के पश्चात् वे अपनी उन दूरस्थ स्थितियों से पीछे हट सकते हैं, जो दूसरे पक्ष के राष्ट्रीय-सुरक्षा के क्षेत्र के निकट अथवा अन्दर स्थित हैं। वे अपने-अपने क्षेत्रों में पुन जा सकते हैं, और प्रत्येक अपने कक्ष के अन्दर स्वयं पूर्ण रह सकता है। उन दूरस्थ स्थितियों से राष्ट्रीय-सुरक्षा में कोई सहायता नहीं होती, वे केवल दायित्व हैं तथा ऐसी स्थितियाँ हैं, जिनपर युद्ध के समय अटल नहीं रहा जा सकता। राष्ट्रीय-सुरक्षा के दोनों क्षेत्रों का पृथक् करने वाले अन्तर को एक गुट जितना ही विस्तृत करेगा, वह उतना ही अधिक सुरक्षित होगा। प्रत्येक पक्ष एक दूसरे से यथेष्ट अन्तर पर एक रेखा खींच सकता है और यह स्पष्ट कर सकता है कि इसे स्पर्श करने अथवा इसके समीप तक पहुँचने का अर्थ युद्ध होगा। तब उन मध्य स्थित स्थानों का क्या होगा, जो सीमांकन की दोनों रेखाओं के बीच फैले हुए हैं ? यहाँ चौथे नियम का प्रयोग होता है।

राष्ट्रों को उन सभी प्रश्नों पर, जो उनके लिये महत्त्वपूर्ण नहीं है, समझौता करने के लिए अवश्य इच्छुक रहना होगा

यही राजनय का कार्य सबसे अधिक कठिन है। उन मस्तिष्कों के लिये, जो एक राजनीतिक धर्म के धर्मयुद्धीय उत्साह से प्रभावित नहीं हुए हैं तथा जिनमें दोनों पक्षों के राष्ट्रीय हितों पर वस्तुनिष्ठता पूर्वक विचार करने की क्षमता है, इन महत्त्वपूर्ण हितों का परिसीमन बहुत कठिन नहीं सिद्ध होना चाहिये। यहाँ उन हितों को पृथक् करने एवं उनकी परिभाषा करने का कार्य नहीं है, जिनमें अपनी प्रकृति के कारण पहले से ही पृथक्करण एवं परिभाषा की प्रवृत्ति है। यहाँ उन हितों को सतुलन में रखने का कार्य है, जिनका अनेक बिन्दुओं पर पारस्परिक स्पर्श होता है तथा जिन्हें पृथक्करण की सम्भावना के परे गूँथा जा सकता है। दूसरे पक्ष को उन मध्य-स्थित स्थानों में इस प्रकार कुछ प्रभाव प्रदान करना कि दूसरा पक्ष अपने पक्ष में उनका अवशोषण न कर ले, यह एक अतिवृहत् कार्य है। दूसरे पक्ष को अपने सुरक्षा-क्षेत्र के निकट के प्रदेशों में

4. The Federalist, No. 6.

जितना सम्भव हो सके उतना कम इस प्रकार प्रभाव प्रदान करना कि उन प्रदेशों का अपनी कक्ष में अवशोषण न कर लिया जाए, यह भी उससे कम मूह्त् कार्य नहीं है। इन कार्यों के सम्पादन के लिये कोई सूत्र तैयार नहीं है, जिसका स्वचालित प्रयोग हो। रूपान्तरण की एक अविच्छिन्न प्रक्रिया द्वारा ही, जिसे दृढ़ता एवं आत्म-संयम के साथ अपनाना होगा, अप्रधान प्रश्नों पर समझौता कार्य में लाया जा सकता है। तथापि कारण से परिणाम बतलाने की युक्ति से यह बतलाना सम्भव है कि किन उपायमों से समझौते की नीतियों की सफलता में सुविधा अथवा बाधा होगी।

सर्वप्रथम हमें इस ओर ध्यान देना चाहिये कि समझौते की सफलता—अर्थात् चौथे नियम का अनुपालन—अन्य तीन नियमों के अनुपालन पर किस सीमा तक निर्भर है, जो पुनः समान रूप से अन्योन्याश्रित हैं। जिस प्रकार दूसरे नियम का अनुपालन पहले की स्वीकृति पर निर्भर है, उसी प्रकार जब तक दूसरे का अनुपालन नहीं होता तब तक तीसरे की स्वीकृति के लिये अवश्य प्रतीक्षा करनी होगी। एक राष्ट्र अपने राष्ट्रीय हितों के प्रति तभी युक्ति-संगत दृष्टिकोण रख सकता है जब वह एक राजनीतिक मत की धर्म-युद्धीय भावना का परित्याग कर दे। एक राष्ट्र तभी दूसरे पक्ष के राष्ट्रीय हितों पर वस्तुनिष्ठता-पूर्वक विचार कर सकता है, जब वह अपने राष्ट्रीय हितों—जिन हितों को वह ऐसा समझता है—को सुरक्षित कर ले। किसी भी प्रश्न पर, चाहे वह कितना भी अप्रधान हो, तब तक समझौता असम्भव है, जब तक दोनों पक्षों के राष्ट्रीय हित सुरक्षित नहीं हो जाते। इस प्रकार यदि राष्ट्र तीन अन्य नियमों के अनुपालन के लिये इच्छुक नहीं हैं, वे चौथे के अनुपालन की भी आशा नहीं कर सकते। परन्तु नैतिकता एवं कार्य-सिद्धि के हेतु इन चार मौलिक नियमों का अनुपालन आवश्यक है।

अनुपालन से समझौता सम्भव हो जाता है, परन्तु यह सफल होगा, यह निश्चित नहीं होता। पहले तीन नियमों के अनुपालन द्वारा हुए समझौते को सफलता का अवसर प्रदान करने के लिये पाँच अन्य नियमों का अवश्य पालन करना होगा।

समझौते की पांच पूर्वापेक्षित शर्तें

यथार्थ लाभ की वास्तविकता के हेतु निरर्थक अधिकारों की प्रतिच्छाया का परित्याग कर दीजिये

जो राजनय वैध एवं प्रचार की भाषा में विचार करती है, वह कानून की व्याख्या करने पर कानून के शाब्दिक अर्थ को अधिक महत्त्व देने के लिये तथा जो

परिणाम इस दृष्टिकोण के कारण उसके अपने राष्ट्र एवं मानवता के लिये हो सकते है, उनकी ओर न ध्यान देने के लिये विशेष रूप से प्ररित होती है। क्योकि कुछ ऐसे अधिकार होते हैं, जिनकी रक्षा करनी होती है। इस प्रकार की राजनय यह विचार करती है कि इस प्रश्न पर समझौता नही हो सकता। तथापि राजनयज्ञ के समक्ष वैधता एवं अवैधता के बीच नही, वरन् राजनीतिक विवेक एवं राजनीतिक मूर्खता के बीच विकल्प होता है। एडमड बर्क ने कहा है, मेरे समक्ष यह प्रश्न नही है कि अपने लोगो को आपको दुखी करने का अधिकार है अथवा नहीं, वरन् उन्हे सुखी बनाना आपके हित मे है अथवा नही, प्रश्न यह नही है कि एक वकील मुझे क्या करने को कहता है, वरन् मानवता, विवेक एव न्याय के अनुसार मुझे क्या करना चाहिये।"[5]

अपने आपको कभी ऐसी स्थिति मे न रखिये जहाँ से आप बिना प्रतिष्ठा गँवाए पीछे नहीं हट सकते तथा जहाँ से आप बिना गम्भीर सकटो के आगे नहीं बढ सकते

इस नियम का उल्लघन प्राय पूर्वगामी नियम की उपेक्षा का परिणाम होता है। एक राजनय, जो वैध अधिकार की प्रतिच्छाया को अव्यवस्थित रूप से राजनीतिक लाभ की वास्तविकता के साथ सम्मिलित करती है, सम्भवत अपने को ऐसी स्थिति मे पायेगी जहाँ उसे भविष्य के लिए एक वैध अधिकार तो प्राप्त हो सकता है, परन्तु राजनीतिक कार्य नही। दूसरे शब्दो मे, राजनीतिक परिणामो से असावधान रहकर एक राष्ट्र किसी ऐसी स्थिति के साथ अनन्यता स्थापित कर सकता है, जिसे अपनाने का उसे अधिकार हो भी सकता है और नही भी। और तब फिर समझौता होना कठिन हो जाता है। अपनी प्रतिष्ठा मे गम्भीर हानि के बिना एक राष्ट्र उस स्थिति से पीछे नही हट सकता। राजनीतिक सकटो, और सम्भवत युद्ध के सकट के प्रति अपने को प्रस्तुत किये बिना यह उस स्थिति से आगे भी नही बढ सकता। अरक्षणीय स्थितियो मे असावधान होकर गतिशीलतापूर्वक जाना और विशेषकर उचित समय मे उनसे अपने को मुक्त करने से हठपूर्वक अस्वीकार करना अयोग्य राजनय का लक्षण है। 1870 के फ्रैंको-प्रशियन युद्ध के ठीक पहले नेपोलियन तृतीय की नीति तथा प्रथम महा युद्ध के ठीक पहले आस्ट्रीया एव जर्मनी की नीतियाँ इसके श्रेष्ठ उदाहरण है। ये उदाहरण

5 "Speech on Conciliation with the Colonies" (1775) The Works of Edmund Burke (Boston : Little, Brown and Company, 1865), Vol. II, p 140

यह भी प्रदर्शित करते है कि युद्ध के सकट और इस नियम के उल्लघन मे कितनी घनिष्ठता है।

एक निर्बल सश्रित राष्ट्र को अपने लिए कभी निर्णय नहीं करने दीजिये

शक्तिशाली राष्ट्रो मे, जो पूर्वगामी नियमो का अनुपालन नही करते, इसका उल्लघन करने की विशेष रूप से प्रवृत्ति होती है। अपने राष्ट्रीय हितो की निर्बल सश्रित-राष्ट्र के राष्ट्रीय हितो के साथ पूर्णत अनन्यता स्थापित कर वे कार्य करने की अपनी स्वतन्त्रता खो देते है। अपने शक्तिशाली मित्र की सहायता द्वारा सुरक्षित होकर निर्बल सश्रित-राष्ट्र अपनी विदेश-नीति के ध्येयो एव तरीको को अपनी आवश्यकतानुसार चुन सकता है। तब शक्तिशाली राष्ट्र अपने को इस स्थिति मे पाता है कि उसे ऐसे हितो को अवलम्ब देना होगा, जो उसके अपने नहीं हैं तथा वह उन प्रश्नो पर समझौता करने के लिए असमर्थ है, जो उसके लिए नही, वरन् उसके सश्रित-राष्ट्र के लिए महत्वपूर्ण हैं।

1853 के क्रीमिया युद्ध के ठीक पहले टर्की ने जिस प्रकार ग्रेट-ब्रिटेन एव फ्रास को बाध्य किया, उसमे इस नियम के उल्लघन का श्रेष्ठ उदाहरण मिलता है। यूरोपीय-सघ (The Concert of Europe) रूस एव टर्की के बीच के सघर्ष के निपटारे के लिए एक समझौते को प्राय स्वीकार कर चुका था। उसी समय टर्की ने यह जानते हुए कि रूस के साथ युद्ध होने पर पाश्चात्य शक्तियाँ इसकी सहायता करेंगी, उस युद्ध के प्रारम्भ के लिए पूरा प्रयत्न किया। फलत. ग्रेट-ब्रिटेन एव फ्रास को अपनी इच्छा के विरुद्ध युद्ध मे अन्तर्ग्रस्त होना पड़ा। इस प्रकार टर्की ने अपने राष्ट्रीय-हितो के अनुसार ग्रेट-ब्रिटेन एव फ्रास के लिए युद्ध और शान्ति के प्रश्न का बहुत अश मे निर्णय किया। यद्यपि ग्रेट-ब्रिटेन एव फ्रास के राष्ट्रीय-हितो के लिए रूस के साथ युद्ध आवश्यक नही था और वे इसके आरम्भ को रोकने मे प्राय सफल हो गए थे, तथापि उन्हे वह निर्णय स्वीकार करना पड़ा। उन्होने कार्य की अपनी स्वतन्त्रता को एक ऐसे निर्बल सश्रित-राष्ट्र को समर्पित कर दिया था, जिसने उनकी नीतियो पर अपने नियन्त्रण का अपने हितो के लिये प्रयोग किया।

सशस्त्र सेनाएँ विदेश-नीति की यत्र नहीं हैं, इसकी स्वामी नहीं

इस नियम के पालन के बिना कोई सफल एव कोई शान्तिपूर्ण विदेश-नीति सम्भव नही है। यदि सेना विदेश-नीति के साध्यों एव साधनो को निर्धारित करें तो कोई भी राष्ट्र समझौते की नीति का अनुसरण नही कर सकता। सशस्त्र

सेनायें युद्ध के यन्त्र हैं, विदेश-नीति शान्ति का एक यन्त्र है। यह सत्य है कि युद्ध के संचालन एवं विदेश-नीति के संचालन के अन्तिम लक्ष्य समरूप हैं दोनों ही राष्ट्रीय हित के पक्ष में कार्य करते हैं। तथापि दोनों के तात्कालिक उद्देश्यों में इनके द्वारा प्रयोग किये जाने वाले साधनों में, तथा उन विचारधाराओं में जिनका इनके अपने-अपने कार्यों पर प्रभाव पड़ता है, मौलिक अन्तर है।

युद्ध का लक्ष्य सरल एवं शर्तरहित है अर्थात् शत्रु की इच्छा को भंग करना। इसके ढंग भी समान रूप से सरल एवं शर्तरहित हैं अर्थात् शत्रु के कवच के सबसे अधिक भेद्य स्थान पर अधिक से अधिक हिंसा का प्रयोग करना। फलतः सैनिक नेता अवश्य ही दुराग्रही ढंग से विचार करेगा। वह वर्तमान एवं तात्कालिक भविष्य में निवास करता है। उसके समक्ष केवल एक प्रश्न होता है कि जितना सम्भव हो सके उतने सस्ते एवं शीघ्र ढंग से विजय किस प्रकार प्राप्त की जाए तथा पराजय से किस प्रकार बचा जाए।

विदेश-नीति का उद्देश्य सापेक्ष एवं सशर्त है अपने महत्त्वपूर्ण हितों की रक्षा के लिए दूसरे पक्ष के महत्त्वपूर्ण हितों को हानि पहुँचाये बिना जितना आवश्यक हो, उतना दूसरे पक्ष की इच्छा को तोड़ना नहीं, वरन् झुकाना। विदेश-नीति के ढंग सापेक्ष एवं सशर्त हैं अपने मार्ग की बाधाओं को समाप्त कर आगे बढ़ना नहीं, वरन् उनके समक्ष पीछे हटना, उनपर विजय पाना, उनके समीप चालें चलना, तथा अनुनय वार्ता एवं दबाव की सहायता द्वारा उन्हें धीरे धीरे मन्द एवं विघटित करना। परिणाम यह है कि राजनयज्ञ का मस्तिष्क जटिल एवं सूक्ष्म होता है। अपने समक्ष प्रश्न को वह इतिहास में एक क्षण के रूप में देखता है, तथा कल की विजय के परे यह भविष्य की असीम सम्भावनाओं की प्रत्याशा करता है। बोलिंगब्रोक के शब्दों में

"यहाँ मैं केवल यही कहता हूँ कि नगरों पर आधिपत्य जमाने एवं संग्रामों में विजय प्राप्त करने के गौरव का माप उन विजयों के फलस्वरूप होने वाले परिणामों की उपयोगिता द्वारा होता है। जिन विजयों द्वारा शस्त्रों को मान प्राप्त होता है, उनपर एक राष्ट्र की परिषदों को लज्जा आ सकती है। एक संग्राम में विजय प्राप्त करना, एक नगर पर आधिपत्य जमाना, एक जनरल एवं एक सेना के लिए गौरव की बात है। परन्तु एक राष्ट्र का गौरव उन लक्ष्यों को, जिन्हें वह अपने हित एवं अपनी शक्ति के अनुसार अपने समक्ष रखता है, उन साधनों को जिन्हें वह अपने समक्ष रखे लक्ष्यों की प्राप्ति के हेतु प्रयोग करता है तथा उस शक्ति को, जिसे वह दोनों के लिय प्रयोग करता है, समानुपातिक करना है।"[6]

6. Bolingbroke's Defence of the Treaty of Utrecht (Cambridge University Press, 1932) p 95.

परराष्ट्र सम्बन्धो का सचालन तब सेना को समर्पित करना समझौते की सम्भावना को समाप्त करना है तथा शान्ति के हित को भी समर्पित कर देना है। सैनिक मस्तिष्क विजय एव पराजय की एकान्तिक स्थितियों के बीच परिचालित होना जानता है। यह राजनय की उन धैर्यपूर्ण, जटिल एव सूक्ष्म चालो के विषय मे कुछ नही जानता, जिनका मुख्य उद्देश्य विजय एव पराजय की एकान्तिक स्थितियो का परित्याग करना है तथा दूसरे पक्ष से वार्ता द्वारा किये समझौते के मध्यस्थ स्थान मे मिलना है। सैनिक कला के नियमो के अनुसार सैनिक व्यक्तियों द्वारा सचालित विदेश-नीति का अन्त केवल युद्ध मे हो सकता है, क्योंकि हम उसी की तैयारी करते हैं, जो हम प्राप्त करेंगे।[7]

जो राष्ट्र आधुनिक युद्ध के सभाव्य परिणामो के प्रति सचेत हैं, उनकी विदेश-नीतियो का लक्ष्य अवश्य ही शान्ति होगा। विदेश-नीति का सचालन अवश्य इस प्रकार से होना चाहिए कि शान्ति-सरक्षण सम्भव हो सके तथा युद्ध का आरम्भ अवश्यम्भावी न हो जाये। सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रो के एक समाज मे सैनिक शक्ति विदेश-नीति का एक आवश्यक यन्त्र है। तथापि विदेश-नीति के यन्त्र को विदेश-नीति का स्वामी नही बनना चाहिये। जिस प्रकार शान्ति सम्भव करने के लिये युद्ध लडा जाता है, उसी प्रकार शान्ति को स्थायी बनाने के लिये विदेश नीति का सचालन होना चाहिए। इन दोनो कार्यों के सम्पादन के लिये सेन [illegible] सिविलियन अधिकारियो के अधीन होना, जो कि परराष्ट्र सम्बन्धो के सचालन [illegible] लिए सविधानी रूप स उत्तरदायी होते हैं, एक अनिवार्य पूर्वापेक्षित शर्त है।

सरकार जनमत की नेता है, इसकी दास नहीं

यदि विदेश-नीति के सचालन के लिये उत्तरदायी व्यक्ति इस नियम का अविच्छिन्न रूप से ध्यान नही रखते, तो वे राजनय के पूर्वगामी नियमो का भी अनुपालन नही कर सकेंगे। जैसाकि अधिक विस्तृत रूप से ऊपर बतलाया गया है, कुशल विदेश-नीति की युक्तिसगत आवश्यकताएं ऐसी हैं कि उसे जनमत की सहायता पर आरम्भ से ही निर्भर नही किया जा सकता। जनमत की अभिरुचियाँ युक्तिसगत होने की अपेक्षा भावना-पूर्ण होती हैं। यह विशेषकर ऐसी विदेश-नीति के विषय मे अवश्य ही सत्य होगा, जिसका लक्ष्य समझौता है, तथा इसके फलस्वरूप जिसे दूसरे पक्ष के उद्देश्यो मे से कुछ को अवश्य स्वीकार करना होगा, तथा अपने उद्देश्यो मे स कुछ का परित्याग करना पडेगा। विशेषकर जब विदेश-नीति का सचालन लोकतन्त्रीय नियन्त्रण की परिस्थितियो मे होता है तथा यह

7. William Graham Sumner, op cit., p. 173.

एक राजनीतिक धर्म के धर्म-युद्धीय उत्साह से प्ररित होती है, तब राजमर्मज्ञों मे जनसाधारण की प्रशसा के समक्ष कुशल विदेश नीति की आवश्यकताओं का परित्याग करने की सदा प्रवृत्ति होती है। दूसरी ओर, जो राजमर्मज्ञ इन आवश्य कताओं की सत्यनिष्ठा की लोक-भावावेग के साथ तनिक भी दूषित होने से रक्षा करता है, वह राजनीतिक नेता के रूप मे अपना अनिष्ट तथा इसके साथ अपनी विदेश-नीति का अनिष्ट आमन्त्रित करेगा, क्योंकि वह उस लोक-सहायता से ही वचित हो जायगा, जो उसे शक्ति प्रदान करती है एव सत्तारूढ रखती है।

तब राजमर्मज्ञ न तो लोक-भावावेग के समक्ष आत्मसमर्पण कर सकता है और न ही इसकी अवहेलना कर सकता है। उसे इन दोनो के अनुकूल होने के लिए एक प्रज्ञापूर्ण सतुलन करना होगा तथा उनका अपनी नीतियो की सहायता के हेतु प्रयोग करना होगा। एक शब्द म, उसे अवश्य नेतृत्व करना होगा। उसे राजमर्मज्ञता के उस उच्चतम अनोखे कार्य का अवश्य सम्पादन करना होगा अर्थात् लोक-भावावेग के झोको के अनुसार अपने पालसुव्यवस्थित करना होगा तथा इसके साथ-साथ राज्य के जहाज़ को कुशल विदेश-नीति के बन्दरगाह तक ले जाने के लिए उनका प्रयोग करना होगा, चाहे मार्ग कितना ही पेचीदा एव टेढा मेढा हो।

उपसंहार

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए जिस मार्ग की हमने रूपरेखा खीची है, वह प्रेरणा-सम्बन्धी गुणो मे उन सरल एव आकर्षक सूत्रो के साथ प्रतियोगिता नही कर सकता, जिनके कारण डेढ शताब्दी तक युद्ध से क्लान्त ससार की कल्पना प्रेरित हुई है। जिस सूत्र के विषय म ऐसा प्रतीत हो कि वह एक ही लपेट मे सदा के लिए युद्ध की समस्या का समाधान कर देगा, उसकी मौलिक सरलता म कुछ अधिदर्शनीयता है। मुक्त व्यापार, विवाचन, निरस्त्रीकरण, सामूहिक सुरक्षा, विश्ववादी समाजवाद, अन्तर्राष्ट्रीय सरकार तथा विश्व राज्य जैसे समाधानो से ऐसी आशा की गई है। राजनय के कार्य म कम से कम साधारण लोगो के लिए कोई अधिदर्शनीय, आकर्षक अथवा प्रेरक वस्तु नही है।

तथापि हमने यह स्थापित किया है कि जहाँ तक ये समाधान वास्तविक समस्या पर विचार करते हैं, और केवल इसके कुछ लक्षणो पर ही नही, ये एक सकलित अन्तर्राष्ट्रीय समाज क अस्तित्व की पूर्वकल्पना करत है, जो वास्तव मे विद्यमान नही है। ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समाज की रचना करने एव इसे स्थापित रखने के लिये राजनय की समायोजक प्रक्रियाओं की आवश्यकता है। जिस प्रकार देशीय-समाज एव इसकी शान्ति के एकीकरण का विकास समायोजन एव परिवर्तन की प्रविधियों की साधारण एव प्राय: असूचित दिन-प्रति-दिन की सक्रियाओं द्वारा होता

है, उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय जीवन के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति अर्थात् एक अधिराष्ट्रीय समाज के रूप में इसको अपने को ऊपर उठाना, केवल अनुनय, वार्ता, एवं दबाव की प्रविधियों द्वारा ही सम्भव है, जो कि राजनय के पारम्परिक यन्त्र हैं।

जिस पाठक ने हम यहाँ तक समझा है, वह यह प्रश्न स्वभावतः पूछ सकता है : परन्तु क्या भूतकाल में युद्ध रोकने में राजनय असफल नहीं हुई है ? इस तर्कसंगत प्रश्न के लिये दो उत्तर दिये जा सकते हैं।

शान्ति-संरक्षण के अपने कार्य में राजनय अनेक बार असफल हुई है, और अनेक बार सफल हुई है। कभी-कभी यह इसलिये असफल हुई है कि इसकी सफलता कोई नहीं चाहता था। हमने देखा है कि भूतकाल के सीमित युद्ध अपने उद्देश्यों एवं ढंगों में हमारे काल के सम्पूर्ण युद्ध से कितने भिन्न रहे हैं। जब युद्ध राजाओं का सामान्य क्रिया-कलाप था राजनय का कार्य इसे रोकना नहीं था, वरन् इसे सबसे अधिक उपयुक्त क्षण में आरम्भ करना था।

दूसरी ओर, जब राष्ट्रों ने राजनय का प्रयोग युद्ध को रोकने के लिये किया है, वे प्रायः सफल हुए हैं। आधुनिक काल में युद्ध को सफलतापूर्वक रोकने में राजनय का प्रकृष्ट उदाहरण १८७८ का बर्लिन का सम्मेलन है। एक समायोजक राजनय के शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा उस सम्मेलन ने उन प्रश्नों का, जिन्होंने नेपोलियन के युद्धों के अन्त में ग्रेट-ब्रिटेन एवं रूस को पृथक् रखा था, निपटारा किया अथवा निपटारे के हेतु उन्हें उद्यत किया। उन्नीसवीं शताब्दी के अधिकतर भाग में ग्रेट ब्रिटेन एवं रूस के बीच बालकन, डार्डेनेल्स, तथा उत्तरी भूमध्य-सागर से सम्बन्धित संघर्ष विश्व की शान्ति पर निलंबित तलवार के समान लटकता रहा। तथापि क्रीमिया के युद्ध के पश्चात् वर्षों तक ग्रेट-ब्रिटेन एवं रूस के बीच अनेक बार युद्ध के आरम्भ होने की शंका हुई, वास्तव में युद्ध का आरम्भ कभी नहीं हुआ। शान्ति-संरक्षण के लिये मुख्यतः एक समायोजक राजनय की प्रविधियाँ उत्तरदायी थीं, जिनका चरम बिन्दु बर्लिन का सम्मेलन था। जब ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री डिजरैली उस सम्मेलन से लन्दन लौटे, उन्होंने सगर्व घोषित किया कि वे "सम्मान के साथ शान्ति" घर ला रहे थे। वास्तव में, वे बाद की पीढ़ियों के लिये भी शान्ति लाए थे, एक शताब्दी से ग्रेट-ब्रिटेन एवं रूस के बीच कोई युद्ध नहीं हुआ है।

तथापि हमने सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रों के एक समाज में शान्ति की सन्दिग्धता को स्वीकार किया है। जैसाकि हमने देखा है, शान्ति-संरक्षण में राजनय की अविच्छिन्न सफलता उन असाधारण नैतिक एवं मानसिक गुणों पर निर्भर करती है, जो सभी मुख्य भाग लेने वालों के पास अवश्य होने चाहिये।

राष्ट्रीय शक्ति के तत्त्वों में से किसी के भी मूल्यांकन में मुख्य राजमर्मज्ञों में किसी से गलती होने पर शान्ति एवं युद्ध में अन्तर प्रतीत हो जायेगा। ऐसा एक योजना अथवा एक शक्ति के अनुमान को निष्फल करने वाली किसी आकस्मिक घटना से भी हो सकता है।

राजनय शान्ति-सरक्षण का सबसे उत्तम साधन है जो कि सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्रों का एक समाज प्रदान कर सकता है, परन्तु विशेषकर आधुनिक युद्ध एवं आधुनिक राजनीति की परिस्थितियों में यह पर्याप्त नहीं है। जब राष्ट्र एक उच्चतर शक्ति को विनाश के वे साधन समर्पित कर दें जो आधुनिक टेक्नोलोजी ने उनके हाथों में दिये हैं जब वे अपनी प्रभुसत्ता का परित्याग कर दें केवल तभी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति देशीय-शान्ति के समान सुरक्षित बन सकती है। राजनय आज की अपेक्षा शान्ति को अधिक सुरक्षित बना सकती है और यदि राष्ट्र राजनय के नियमों का पालन करें तो उस परिस्थिति की अपेक्षा विश्व-राज्य शान्ति को अधिक सुरक्षित बना सकता है। तथापि जिस प्रकार एक विश्व-राज्य के बिना स्थायी शान्ति सम्भव नहीं है, उसी प्रकार राजनय की शान्ति सरक्षण एवं लोकसमाज निर्माण सम्बन्धी प्रक्रियाओं के बिना एक विश्व-राज्य सम्भव नहीं है। विश्व राज्य को एक अस्पष्ट कल्पना से ऊपर उठाने के लिये राजनय की समायोजक प्रक्रियाओं का, जिनसे सघर्ष मन्द एव न्यूनतम होते हैं, अवश्य पुन प्रवर्त्तन करना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की अन्तिम स्थिति के विषय में चाहे किसी की कुछ भी सकल्पना हो उस आवश्यकता का मान्यता प्रदान करने में तथा इस मांग में कि यह आवश्यकता पूरी हो सद्भावपूर्ण सभी लोग सम्मिलित होंगे।

इन पृष्ठों में उपस्थित की गई अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की सकल्पना के विषय में यदि प्रमाण की आवश्यकता हो तो इस एक ऐसे व्यक्ति के परामर्श में पाया जा सकता है जिन्होंने अपने किसी भी समकालीन व्यक्ति की अपेक्षा विदेश-नीति में कम गलतियाँ की हैं—वे हैं सर विन्सटन चर्चिल। २३ जनवरी १९४८ को हाउस आफ कामन्स के समक्ष अपने भाषण में समकालीन स्थिति पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करते हुए तथा स्वय से यह प्रश्न पूछकर 'क्या युद्ध होगा' मिस्टर चर्चिल ने समायोजन द्वारा शान्ति का परामर्श दिया—जैसा कि उन्होंने युद्धारम्भ के पश्चात् प्राय पचास भाषणों में किया था। उन्होंने कहा

"मैं इस समय केवल इतना कहूँगा कि अधिक परिवर्तन से वास्तविक सकट उत्पन्न हो सकता है। मेरे विचारानुसार युद्ध को रोकने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि, इसके पूर्व कि बहुत विलम्ब हो जाए, सभी प्रश्नों को समक्ष रखकर सोवियत-सरकार के साथ निपटारा कर लिया जाए। इसका अर्थ यह है कि

पाश्चात्य लोकतन्त्रों को शीघ्रातिशीघ्र परस्पर एकता कर सोवियत-संघ के साथ निपटारा करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

साम्यवादियों के साथ तर्क करना निरर्थक है। तथापि न्यायसंगत एवं यथार्थ आधार पर उनसे व्यवहार करना सम्भव है। मेरा अनुभव यह है कि वे तब तक सौदाकारी करेंगे जब तक ऐसा करना उनके हित में होगा और एक बार निपटारा हो जाने के पश्चात् इस गम्भीर स्थिति में सौदाबाजी बहुत समय तक हो सकती है।

आज मैं केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि मतभेदों की वृद्धि करने में वास्तविक संकट निहित है और ऐसा समय आ सकता है जब स्थिति आकस्मिक रूप से आपके नियन्त्रण से परे हो जाए।

इन तथ्यों पर विचार करते हुए मैं आज यह कहना उचित समझता हूँ कि युद्ध को रोकने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि अन्य पाश्चात्य लोकतन्त्रों की सहमति से सोवियत सरकार के साथ निपटारे का प्रयत्न किया जाए तथा गोपनीय गम्भीर एवं औपचारिक राजनयिक प्रक्रियाओं की सहायता से इस सरकार के साथ एक स्थायी निपटारा किया जाए। यदि ऐसा निपटारा हो सके तो इससे निश्चय ही सभी का कल्याण होगा। मैं यह अवश्य कहूँगा कि यह निश्चित नहीं है कि इस प्रविधि को अपनाने से युद्ध नहीं होगा। परन्तु यह मेरा विश्वास है कि इससे युद्ध में जीवित रहने की सबसे अधिक सम्भावना है।"

❀

परिशिष्ट

संयुक्त राष्ट्र का चार्टर

संयुक्त-राष्ट्रो के हम लोगो ने, अनुवर्ती पीढ़ियो को युद्ध की उस विभीषिका से रक्षा करने के लिये, जिसने हमारे जीवन काल मे मानवता पर अकथनीय दुःख ढाये हैं,

मौलिक मानव अधिकारो मे, मानव की गरिमा एव महत्व मे, नर-नारियो तथा बडे एव छोटे राष्ट्रो के समान अधिकारो मे पुन विश्वास स्थापित करने के लिये, ऐसी परिस्थितियो को स्थापित करने के लिये, जिनमे न्याय तथा सन्धियो एव अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्य स्रोतो के परिणामस्वरूप हमारे दायित्वो के प्रति सम्मान बना रहे, तथा अधिक व्यापक स्वतन्त्रता मे सामाजिक प्रगति एव जीवन के उच्चतर स्तर केहेतु और इन उद्देश्यो के लिये, सहनशीलता को व्यवहार मे लाने तथा अच्छे पडोसियो के समान एक दूसरे के साथ शान्ति से रहने के लिये, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा के हेतु अपनी शक्ति सगठित करने के लिये, उन नियमो की स्वीकृति एव उन साधनो के प्रयोग द्वारा यह विश्वास दिलाने के लिये कि सामान्य हित के अतिरिक्त अन्य किसी स्थिति मे सशस्त्र शक्ति का प्रयोग नही होगा, सभी लोगो के सामाजिक एव आर्थिक उत्थान के हेतु अन्तर्राष्ट्रीय साधनो का प्रयोग करने के लिये, दृढ सकल्प द्वारा इन उद्देश्यो की प्राप्ति के हेतु मिलकर प्रयत्न करने का निश्चय किया है।

इसीलिये हमारी अपनी-अपनी सरकारो ने, उन प्रतिनिधियो के द्वारा जो सानफ्रासिस्को नगर मे एकत्रित हुए हैं, तथा जिन्होने अपनी शक्तियो को ठीक और उचित रूप से प्रदर्शित किया है, सयुक्त-राष्ट्रो के इस चार्टर को स्वीकर किया है तथा इसी कारण एक अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की स्थापना की है, जिसका नाम सयुक्त-राष्ट्र होगा।

अध्याय 1

उद्देश्य एवं सिद्धान्त

अनुच्छेद 1

संयुक्त-राष्ट्र के उद्देश्य ये हैं :

1 अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाए रखना, और इसके लिये : प्रभावपूर्ण सामूहिक प्रयत्नो द्वारा शान्ति के सकटो को रोकना और समाप्त

करना, तथा आक्रमण की एवं शान्ति-भंग की अन्य चेष्टाओं को दबाना, तथा न्याय एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा उन अन्तर्राष्ट्रीय विवादों अथवा स्थितियों को सुलझाना अथवा निपटारा करना, जिनसे शान्ति भंग होने की आशंका हो ;

2 लोगों के समान अधिकार एवं आत्म-निर्णय के सिद्धान्तों के प्रति सम्मान के आधार पर राष्ट्रों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्धों का विकास करना, तथा विश्व-शान्ति को सुरक्षित रखने के लिये अन्य उपयुक्त साधनों को अपनाना ;

3 विश्व की आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, अथवा मानवतावादी समस्याओं के समाधान के हेतु तथा बिना जाति, भाषा, लिंग या धर्म के भेद-भाव के सब के लिये मानव-अधिकारों एवं मौलिक स्वतन्त्रताओं के प्रति सम्मान को बढ़ाने एवं प्रोत्साहन देने के हेतु अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना, तथा

4 इन सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति के हेतु राष्ट्रों के कार्यों में सामंजस्य लाने के लिये एक केन्द्र बनना ।

अनुच्छेद 2

पहले अनुच्छेद में उल्लिखित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये संगठन एवं इसके सदस्य निम्नलिखित सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करेंगे ।

1 इस संगठन का आधार इसके सब सदस्यों की प्रभुसत्ता-पूर्ण समानता का सिद्धान्त है ।

2 सभी सदस्य उन दायित्वों को निष्ठापूर्वक निभायेंगे, जिन्हें उन्होंने वर्तमान चार्टर के अनुसार अपने ऊपर लिया है, जिसके फलस्वरूप सभी को इसकी सदस्यता के कारण अधिकार एवं लाभ निश्चित रूप से प्राप्त हो सकें ।

3 सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा इस प्रकार निपटारा करेंगे कि विश्व की शान्ति एवं सुरक्षा तथा न्याय खतरे में न पड़े ।

4 सभी सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी राज्य की प्रादेशिक अखण्डता अथवा राजनीतिक स्वाधीनता के विरुद्ध बल की धमकी नहीं देंगे अथवा इसका प्रयोग नहीं करेंगे, अथवा कोई ऐसा कार्य नहीं करेंगे जो संयुक्त-राष्ट्र के उद्देश्यों से असंगत हो ।

5. सभी सदस्य संयुक्त-राष्ट्र को किसी भी कार्य में प्रत्येक प्रकार की सहायता देंगे, जो वर्तमान चार्टर के अनुसार हो, तथा उस राज्य को सहायता

नही देंगे, जिसके विरुद्ध सयुक्त-राष्ट्र निवारण अथवा प्रवर्त्तन-सम्बन्धी कार्यवाही कर रहा हो।

6 यह सगठन सुनिश्चित करेगा कि जो राज्य सयुक्त-राष्ट्र के सदस्य नही है, वे भी अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा बनाये रखने के लिये जहाँ तक आवश्यक हो इन सिद्धान्तो के अनुसार कार्य करें।

7 वर्तमान चार्टर मे जो कुछ कहा गया है, उससे सयुक्त-राष्ट्र को ऐसे मामलो मे हस्तक्षेप करने का अधिकार नही होगा, जो अनिवार्य रूप से किसी राज्य के देशीय अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत हो, और न ही सदस्यो के लिये यह आवश्यक होगा कि वे ऐसे मामलो को वर्तमान चार्टर के अधीन निपटारे के लिये रक्खें। परन्तु सातवें अध्याय मे वर्णित प्रवर्त्तन सम्बन्धी कार्यवाहियो के लागू होने पर इस सिद्धान्त का कोई प्रभाव नही होगा।

अध्याय 2

सदस्यता

अनुच्छेद 3

सयुक्त-राष्ट्र के सस्थापक सदस्य वही राज्य होगे, जिन्होने सान-फ्रासिस्को मे अन्तर्राष्ट्रीय सगठन के विषय मे हुए सयुक्त-राष्ट्र-सम्मेलन मे भाग लिया हो अथवा 1 जनवरी 1942 तक पहले ही सयुक्त-राष्ट्रो की घोषणा पर हस्ताक्षर किया हो तथा जो वर्तमान चार्टर पर भी हस्ताक्षर करें और अनुच्छेद 110 के अनुसार इसका सत्याकन करें।

अनुच्छेद 4

1 सयुक्त-राष्ट्र की सदस्यता उन सभी शान्ति-प्रिय राज्यो के लिये खुली है, जो वर्तमान चार्टर मे दिये हुए दायित्वो को स्वीकार करें, तथा इस सगठन के निर्णय के अनुसार इन दायित्वो को निभाने के योग्य एव इच्छुक हो।

2. सयुक्त-राष्ट्र की सदस्यता मे किसी ऐसे राज्य का तभी प्रवेश हो सकता है जब सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा अपना निर्णय दे।

अनुच्छेद 5

यदि सयुक्त-राष्ट्र के किसी सदस्य के विरुद्ध सुरक्षा-परिषद् ने निवारण अथवा प्रवर्त्तन सम्बन्धी कार्यवाही की हो तो सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर महासभा उस राज्य को सदस्यता के अधिकारो एव विशेषाधिकारो के प्रयोग से निलबित कर सकती है। सुरक्षा-परिषद् इन अधिकारो एव विशेषाधिकारो के प्रयोग को पुन: स्थापित भी कर सकती है।

अनुच्छेद 6

यदि संयुक्त-राष्ट्र का कोई सदस्य वर्तमान चार्टर के सिद्धान्तों का बार-बार अतिक्रमण करता है, तो उसे महासभा सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर इस संगठन से निष्कासित कर सकती है।

अध्याय 3

अंग

अनुच्छेद 7

1 संयुक्त-राष्ट्र के ये प्रमुख अंग स्थापित किये गये हैं : एक महासभा, एक सुरक्षा-परिषद्, एक आर्थिक एवं सामाजिक-परिषद्, एक न्यास-परिषद्, एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, तथा एक सचिवालय।

2 वर्तमान चार्टर के अनुसार अन्य सहायक अंग भी आवश्यकतानुसार स्थापित किये जा सकते हैं।

अनुच्छेद 8

संयुक्त-राष्ट्र अपने प्रमुख अथवा सहायक अंगों में समानता की परिस्थितियों में किसी भी हैसियत से भाग लेने के लिये नर-नारियों की पात्रता पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाएगा।

अध्याय 4

महासभा

संविरचना

अनुच्छेद 9

1. महासभा में संयुक्त-राष्ट्र के सभी सदस्य होंगे।

2. महासभा में प्रत्येक सदस्य के पाँच से अधिक प्रतिनिधि नहीं हो सकते।

कार्य एवं शक्तियाँ

अनुच्छेद 10

महासभा किसी भी ऐसे प्रश्न अथवा मामले पर विचार कर सकती है, जो वर्तमान चार्टर के कार्य-क्षेत्र में हो अथवा जिसका वर्तमान चार्टर में वर्णित किसी अंग की शक्तियों एवं कार्यों से सम्बन्ध हो, और अनुच्छेद 12 के उपबन्ध के

अनिरिक्त किसी भी ऐसे प्रश्न अथवा मामलो पर सयुक्त-राष्ट्र के सदस्यो अथवा सुरक्षा-परिषद् अथवा दोनो के समक्ष अपनी सिफारशें रख सकती है।

अनुच्छेद 11

1 महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा बनाये रखने मे सहयोग देने वाले सामान्य सिद्धान्तो पर विचार कर सकती है, निरस्त्रीकरण एव शस्त्र-नियन्त्रण सम्बन्धी सिद्धान्त भी इसी के अन्तर्गत है, तथा इन सिद्धान्तो के विषय मे सदस्यो अथवा सुरक्षा-परिषद् अथवा दोनो के समक्ष सिफारशें रख सकती है।

2. महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा बनाए रखने से सम्बन्धित किसी भी ऐसे प्रश्न पर विचार कर सकती है, जो सयुक्त-राष्ट्र के किसी सदस्य अथवा सुरक्षा-परिषद् अथवा किसी ऐसे राज्य द्वारा, जो अनुच्छेद 35 के पैरा 2 के अनुसार सयुक्त-राष्ट्र का सदस्य न हो, महासभा के समक्ष लाया गया हो, और अनुच्छेद 12 के उपबन्ध के अतिरिक्त ऐसे किसी प्रश्न के विषय मे किसी राज्य या राज्यो, जिनका इससे सम्बन्ध हो, अथवा सुरक्षा-परिषद् अथवा दोनो के समक्ष सिफारशें रख सकती है। यदि कोई ऐसा प्रश्न हो जिसपर कार्यवाही करना आवश्यक हो, तो महासभा विचार-विमर्श के पूर्व अथवा पश्चात् उसे सुरक्षा-परिषद् मे भेज देगी।

3. महासभा सुरक्षा-परिषद् का ध्यान उन स्थितियो की ओर दिला सकती है, जिनसे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा के सकट मे पडने की सम्भावना हो।

4 इस अनुच्छेद मे वर्णित महासभा की शक्तियाँ अनुच्छेद 10 के साधारण विषय क्षेत्र को सीमित नही करेंगी।

अनुच्छेद 12

1 वर्तमान चार्टर मे सौंपे गये कार्यो के सम्बन्ध मे जब सुरक्षा-परिषद् किसी विवाद अथवा स्थिति पर विचार कर रही हो तो उस विवाद अथवा स्थिति के सम्बन्ध मे महासभा कोई सिफारिश तब तक नही करेगी जब तक सुरक्षा-परिषद् उसे ऐसा करने के लिये अनुरोध न करे।

2 सुरक्षा-परिषद् की सहमति से महासचिव महासभा को प्रत्येक अधिवेशन के समय ऐसे मामलो की सूचना देगा, जिनका अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा बनाये रखने से सम्बन्ध हो तथा जिनपर सुरक्षा-परिषद् विचार कर रही हो, और इसी प्रकार वह महासभा को, अथवा सयुक्त-राष्ट्र के सदस्यो को, जब

महासभा का अधिवेशन न हो रहा हो, उन मामलों पर सुरक्षा-परिषद् के विचार विमर्श के अन्त के पश्चात् तत्काल सूचना देगा।

अनुच्छेद 13

1 महासभा इस उद्देश्य से अध्ययनों का प्रारम्भ एवं सिफारशें करेगी कि:

क. राजनीतिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़े अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के क्रमिक विकास एवं इसके संहितीकरण को प्रोत्साहन मिले।

ख. आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा शिक्षा एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़े, और जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के बिना सभी को मानव-अधिकार एवं मौलिक स्वतन्त्रतायें प्राप्त होने में सहायता हो।

2. ऊपर पैरा 1 (ख) में जिन मामलों का उल्लेख किया गया है, उनसे सम्बन्धित महासभा के अन्य उत्तरदायित्वों, कार्यों एवं शक्तियों का नवें एवं दसवें अध्यायों में वर्णन किया गया है।

अनुच्छेद 14

अनुच्छेद 12 के उपबन्धों के अधीन रहते हुए, महासभा किसी भी ऐसी स्थिति के विषय में बिना इसकी उत्पत्ति का ध्यान किये हुए शान्ति-पूर्ण समजन के हेतु उपायों की सिफारिश कर सकती है, जिससे इसके विचारानुसार सामान्य हित एवं राष्ट्रों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्धों में ठेस पहुँचती हो, और वे स्थितियाँ भी इसके अन्तर्गत है, जो संयुक्त-राष्ट्र के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों से सम्बन्धित वर्तमान चार्टर के उपबन्धों के अतिक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न होती है।

अनुच्छेद 15

1. महासभा सुरक्षा-परिषद से वार्षिक एवं विशेष रिपोर्ट प्राप्त करेगी तथा उनपर विचार करेगी, इन रिपोर्टों में उन कार्यवाहियों का विवरण होगा, जिनके विषय में सुरक्षा-परिषद् ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के लिये निश्चय किया है अथवा इनका सम्पादन कर चुकी हो।

अनुच्छेद 16

महासभा अन्तर्राष्ट्रीय न्यास-व्यवस्था के सम्बन्ध में उन कार्यों का सम्पादन करेगी, जो इसे 13 एवं 14 अध्यायों में सौंपे गये है, और उन क्षेत्रों के लिये न्यास समझौते भी इसके अन्तर्गत हैं, जिनका युद्धनीति की दृष्टि से महत्त्व नहीं है।

अनुच्छेद 17

1 महासभा संगठन के बजट पर विचार करेगी और इसका अनुमोदन करेगी।

2. संगठन का व्यय महासभा के द्वारा निश्चित अनुपात के अनुसार सदस्यों को उठाना होगा।

3. अनुच्छेद 57 मे उल्लिखित विशेष एजेंसियों के साथ हुए किसी भी वित्त एव बजट सम्बन्धी समझौते पर महासभा विचार करेगी एव इसका अनुमोदन करेगी तथा सम्बन्धित एजेंसियो को सिफारिशें देने के अभिप्राय से इन विशेष एजेंसियो के प्रशासनिक बजटों की जाँच करेगी।

मतदान

अनुच्छेद 18

1 महासभा के प्रत्येक सदस्य का एक मत होगा।

2. महासभा के महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर निर्णय उपस्थित एव मतदान करने वाले सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत द्वारा किये जायेंगे। इन प्रश्नो के अन्तर्गत होगे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एम सुरक्षा बनाये रखने के विषय मे सिफारिशें, सुरक्षा-परिषद् के अस्थायी सदस्यो का निर्वाचन, आर्थिक एव सामाजिक परिषद् के सदस्यो का निर्वाचन, अनुच्छेद 86 के पैरा 1 (ग) के अनुसार न्यास-परिषद् के सदस्यो का निर्वाचन, सयुक्त-राष्ट्र मे नये सदस्यो का प्रवेश, सदस्यो का निष्कासन तथा सदस्यता के अधिकारो एव विशेषाधिकारो का निलम्बन, न्यास-व्यवस्था के परिचालन से सम्बन्धित प्रश्न तथा बजट सम्बन्धी प्रश्न।

3 अन्य प्रश्नो पर निर्णय उपस्थित एव मतदान करने वाले सदस्यो के बहुमत द्वारा होगा। इसके अन्तर्गत प्रश्नो के अतिरिक्त श्रेणियो को निश्चित करना भी है, जिनका निर्णय दो तिहाई बहुमत से होगा।

अनुच्छेद 19

यदि सयुक्त-राष्ट्र के किसी सदस्य को सगठन के प्रति वित्तीय अशदान अदायगी का बकाया देना है, और इसके बकाया की राशि पूर्वगामी पूरे दो वर्षो के लिये इसके अशदान की राशि के समान है अथवा उससे अधिक है तो वह महासभा मे मतदान नही करेगा। तथापि यदि महासभा यह समझे कि अदा करने की असफलता का कारण ऐसी परिस्थितियाँ थी जिनपर उस सदस्य का नियन्त्रण नही है, तो वह उसे मतदान की अनुमति प्रदान कर सकती है।

क्रिया-विधि

अनुच्छेद 20

महासभा के नियमित वार्षिक अधिवेशन होंगे तथा ऐसे विशेष अधिवेशन होंगे जिनकी आवश्यकता पड़े। महासचिव सुरक्षा-परिषद् अथवा संयुक्त-राष्ट्र के सदस्यों के बहुमत के निवेदन पर विशेष अधिवेशन बुलायेगा।

अनुच्छेद 21

महासभा क्रियाविधि के लिए अपने नियम बनायेगी। प्रत्येक अधिवेशन के लिये यह अपना अध्यक्ष निर्वाचित करेगी।

अनुच्छेद 22

अपने कार्यों के सम्पादन के हेतु महासभा जिन सहायक अंगों को आवश्यक समझे स्थापित कर सकती है।

अध्याय 5

सुरक्षा-परिषद्

संविरचना

अनुच्छेद 23

1 सुरक्षा-परिषद् में संयुक्त-राष्ट्र के ग्यारह सदस्य होंगे। चीन का गण-राज्य, फ्रांस, सोवियत-रूस, ग्रेट-ब्रिटेन एवं उत्तरी आयरलैंड का संयुक्त-राज्य तथा अमरीका का संयुक्त-राज्य सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्य होंगे। महासभा संयुक्त-राष्ट्र के 6 अन्य सदस्यों का निर्वाचन करेगी, जो सुरक्षा परिषद् के अस्थायी सदस्य होंगे। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम संयुक्त-राष्ट्र के सदस्यों के अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने में तथा संगठन के अन्य उद्देश्यों में दिये गये योगदान और न्यायपूर्ण भौगोलिक वितरण की ओर यथेष्ट ध्यान दिया जायेगा।

2 सुरक्षा-परिषद् के अस्थायी सदस्यों का दो वर्षों की अवधि के लिए निर्वाचन होगा। परन्तु अस्थायी सदस्यों के प्रथम निर्वाचन में तीन एक वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित होंगे कोई सेवा-निवृत्त सदस्य तत्काल पुनर्निर्वाचन के लिये पात्र नहीं होगा।

3 सुरक्षा-परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक प्रतिनिधि होगा।

कार्य एवं शक्तियाँ

अनुच्छेद 24

1 यह निश्चित करने के लिये कि संयुक्त-राष्ट्र शीघ्र एवं प्रभावपूर्ण ढंग से कार्य करे, इसके सदस्य सुरक्षा-परिषद् को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के हेतु प्राथमिक उत्तरदायित्व प्रदान करते हैं और यह स्वीकार करते हैं कि इस उत्तरदायित्व के अधीन अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में सुरक्षा-परिषद् उनकी ओर से ही कार्य करती है।

2. इन कर्त्तव्यों के पालन में सुरक्षा-परिषद् संयुक्त-राष्ट्र के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों के अनुसार कार्य करेगी। इन कर्त्तव्यों के पालन के लिये सुरक्षा-परिषद् को दी गई निश्चित शक्तियों का 6, 7, 8, एवं 12वें अध्यायों में वर्णन है।

अनुच्छेद 25

संयुक्त-राष्ट्र के सदस्य यह स्वीकार करते हैं कि वे वर्तमान चार्टर के अनुसार सुरक्षा-परिषद् के निर्णयों को मानेंगे और उन्हें कार्यान्वित करेंगे।

अनुच्छेद 26

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना में एवं उन्हें बनाए रखने में इस प्रकार सहायता करने के लिए कि संसार के मानवीय एवं आर्थिक साधनों का शस्त्रों के लिए कम से कम प्रयोग हो, सुरक्षा-परिषद् को यह उत्तरदायित्व दिया गया है कि वह अनुच्छेद 47 में उल्लिखित सैनिक स्टाफ समिति की सहायता से संयुक्त-राष्ट्र के सदस्यों के समक्ष रखने के लिये ऐसी योजनायें बनाये, जिनसे शस्त्रों के नियन्त्रण के लिए एक व्यवस्था स्थापित हो सके।

मतदान

अनुच्छेद 27

1 सुरक्षा-परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक मत होगा।

2 क्रियाविधि सम्बन्धी मामलों पर सुरक्षा-परिषद् के निर्णय सात सदस्यों के स्वीकारात्मक मत द्वारा होंगे।

3. अन्य सभी मामलों पर सुरक्षा-परिषद् के निर्णय सात सदस्यों के स्वीकारात्मक मत द्वारा होंगे, जिसके अन्तर्गत स्थायी सदस्यों के स्वीकारात्मक मत होंगे, परन्तु छठे अध्याय और अनुच्छेद 52 के पैरा 3 के अधीन जो निर्णय होंगे, उनमें विवादी पक्ष मत नहीं देंगे।

क्रिया-विधि

अनुच्छेद 28

1. सुरक्षा-परिषद् का संगठन इस प्रकार होगा कि वह अविच्छिन्न रूप से कार्य कर सके। इस अभिप्राय के लिये सुरक्षा-परिषद् के प्रत्येक सदस्य का संगठन के स्थान में हर समय प्रतिनिधित्व होगा।

2 सुरक्षा-परिषद् की सामयिक बैठकें होगी, जिनमे सदस्यो मे से प्रत्येक का, यदि वह चाहे तो सरकार के एक सदस्य द्वारा अथवा किसी विशेष मनोनीत प्रतिनिधि द्वारा प्रतिनिधित्व हो सकता है।

3. सुरक्षा-परिषद् संगठन के स्थान के अतिरिक्त ऐसे स्थानों मे अपनी बैठकें कर सकती है, जहाँ उसके कार्य मे सबसे अधिक सुविधा होगी।

अनुच्छेद 29

अपने कार्यों के सम्पादन के हेतु सुरक्षा-परिषद् ऐसे सहायक अंगों की स्थापना कर सकती है, जिन्हे वह आवश्यक समझती है।

अनुच्छेद 30

सुरक्षा-परिषद् क्रिया-विधि के अपने नियम बनायेगी, और इसके अध्यक्ष के निर्वाचन की विधि भी इसमे सम्मिलित होगी।

अनुच्छेद 31

संयुक्त-राष्ट्र का कोई भी सदस्य, जो सुरक्षा-परिषद् का सदस्य नही है, बिना मतदान के अधिकार के सुरक्षा-परिषद् के समक्ष लाये गये किसी भी प्रश्न के वाद-विवाद मे तब भाग ले सकता है, जब सुरक्षा-परिषद् के विचारानुसार उस सदस्य के हितो पर विशेष प्रभाव पड़ता हो।

अनुच्छेद 32

यदि सुरक्षा-परिषद् मे विचाराधीन किसी विवाद मे कोई ऐसा राज्य विवादी पक्ष हो, जो संयुक्त-राष्ट्र का सदस्य नही है, अथवा संयुक्त-राष्ट्र का सदस्य है परन्तु सुरक्षा-परिषद् का सदस्य नही है, तो उसे बिना मतदान के अधिकार के उस विवाद से सम्बंधित विचार-विमर्श मे भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया जायेगा। ऐसे राज्य के भाग लेने के लिए, जो संयुक्त-राष्ट्र का सदस्य नही है, सुरक्षा-परिषद् ऐसे नियम बनायेगी, जिन्हे वह न्यायपूर्ण समझती है।

अध्याय 6

विवादों का शान्तिपूर्ण निपटारा

अनुच्छेद 33

1. यदि किसी विवाद के स्थायित्व से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा के बने रहने मे सकट की सभावना हो, तो विवादी पक्ष सर्वप्रथम उस विवाद का समाधान वार्ता, जाँच, मध्यस्थता, मेल-मिलाप, विवाचन, न्यायिक निपटारा, प्रादेशिक सस्थाओ अथवा व्यवस्थाओ की सहायता, अथवा अपनी इच्छानुसार अन्य शान्तिपूर्ण साधनो द्वारा करने का प्रयत्न करेंगे।

2 सुरक्षा परिषद् जब आवश्यक समझे, विवादी पक्षो को अपने विवादो का इन साधनो द्वारा निपटारा करने का परामर्श देगी।

अनुच्छेद 34

सुरक्षा-परिषद् किसी विवाद को अथवा किसी ऐसी स्थिति की जिससे अन्तर्राष्ट्रीय सघर्ष अथवा विवाद होने की आशका हो, इस अभिप्राय से जाँच कर सकती है कि उस विवाद अथवा स्थिति के स्थायित्व से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा के बने रहने मे सकट की सम्भावना है अथवा नही।

अनुच्छेद 35

1 सयुक्त-राष्ट्र का कोई सदस्य ऐसे विवाद अथवा ऐसी स्थिति की ओर सुरक्षा-परिषद् अथवा महासभा का ध्यान आकर्षित कर सकता है, जिसका अनुच्छेद 34 मे उल्लेख किया गया है।

2. यदि कोई राज्य सयुक्त-राष्ट्र का सदस्य है तो वह किसी विवाद को, जिसमे वह विवादी पक्ष है, इस शर्त पर सुरक्षा-परिषद् अथवा महासभा के समक्ष ला सकता है कि उस विवाद के लिये वह वर्तमान चार्टर मे उल्लिखित शान्तिपूर्ण निपटारे के दायित्वों को अग्रिम रूप से स्वीकार करे।

3 इस अनुच्छेद के अनुसार जिन मामलो को महासभा के समक्ष लाया जाएगा, उनसे सम्बन्धित उसकी कार्यवाहियाँ अनुच्छेद 11 एव 12 के उपबन्धो के अधीन होगी।

अनुच्छेद 36

1 यदि कोई इस प्रकार का विवाद हो, जिसका अनुच्छेद 33 मे उल्लेख किया गया है अथवा कोई उसी प्रकार की स्थिति हो, तो सुरक्षा-परिषद् किसी

भी समय समायोजन के लिये उचित प्रक्रियाओ अथवा उपायो की सिफारिश कर सकती है।

2 सुरक्षा-परिषद् उन प्रक्रियाओ का भी ध्यान रखेगी, जिनका विवाद के निपटारे के हेतु विवादी पक्षो द्वारा पहले प्रयोग किया जा चुका है।

3 इस अनुच्छेद के अन्तर्गत सिफारशें करते हुए सुरक्षा-परिषद् को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि साधारणतया कानूनी विवाद, विवादी पक्षो द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष उस न्यायालय की सविधि के उपबन्धो के अनुसार पेश किये जायें।

अनुच्छेद 37

1. यदि विवादी पक्ष किसी ऐसे विवाद का, जिसका अनुच्छेद 33 मे उल्लेख किया गया है, उस अनुच्छेद मे सकेत किये हुए साधनो द्वारा निबटारा करने मे असफल हो, तब उन्हे उस विवाद को सुरक्षा-परिषद् के समक्ष रखना होगा।

2 यदि सुरक्षा-परिषद यह समझे कि किसी विवाद के स्थायित्व से अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा के बने रहने मे सकट की सम्भावना है, तब वह निर्णय करेगी कि अनुच्छेद 36 के अधीन कार्यवाही की जाए अथवा समझौते की ऐसी शर्तों की सिफारिश की जाए जिन्हे वह उचित समझती है।

अनुच्छेद 38

यदि किसी विवाद के सभी विवादी पक्ष निवेदन करें तो सुरक्षा-परिषद् 33 से 37 तक के अनुच्छेदो के उपबन्धो का उल्लघन किये बिना विवाद का शान्तिपूर्ण निबटारा करने के अभिप्राय से सिफारशें कर सकती हैं।

अध्याय 7

शान्ति के प्रति धमकियों, शान्ति-भंग की स्थितियों तथा आक्रमण के विषय में कार्यवाही

अनुच्छेद 39

सुरक्षा-परिषद् यह निर्णय करेगी कि शान्ति को धमकी दी गई है, शान्ति भग हुई है, अथवा आक्रमण हुआ है, तथा वह सिफारशें करेगी और निश्चित करेगी कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा को बनाये रखने अथवा पुन स्थापित करने के लिये 41 एव 42 अनुच्छेदो के अनुसार क्या कार्यवाहियाँ की जायेंगी।

अनुच्छेद 40

किसी स्थिति को बिगड़ने से रोकने के लिये अनुच्छेद 39 में उल्लिखित सिफारशें करने और कार्यवाहियों के विषय में निर्णय करने के पूर्व सुरक्षा-परिषद् विवादी पक्षों से ऐसी अस्थायी कार्यवाहियों का अनुपालन करने को कह सकती है, जिन्हें वह उचित अथवा आवश्यक समझती हो । ऐसी अस्थायी कार्यवाहियों से सम्बन्धित विवादी पक्षों के अधिकारों, दावों एवं स्थितियों का कोई अहित नहीं होगा । यदि कोई विवादी पक्ष इन अस्थायी कार्यवाहियों का अनुपालन नहीं करता तो सुरक्षा-परिषद् इसका भी विधिवत ध्यान रखेगी ।

अनुच्छेद 41

सुरक्षा-परिषद् अपने निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिये ऐसी कार्यवाहियों के विषय में भी निर्णय कर सकती है, जिनमें सशस्त्र बल का प्रयोग न हो और वह संयुक्त-राष्ट्र के सदस्यों को इन कार्यवाहियों का अनुपालन करने के लिये कह सकती है । इन कार्यवाहियों के अनुसार आर्थिक सम्बन्धों तथा रेल, समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो एवं संचार-व्यवस्था के अन्य साधनों को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से बन्द किया जा सकता है और राजनयिक सम्बन्ध भी तोड़े जा सकते हैं ।

अनुच्छेद 42

यदि सुरक्षा-परिषद् यह समझे कि अनुच्छेद 41 में उल्लिखित कार्यवाहियाँ अपर्याप्त होंगी अथवा अपर्याप्त सिद्ध हुई है, तो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को बनाये रखने अथवा पुनः स्थापित करने के लिये सुरक्षा-परिषद् वायु, समुद्र, अथवा स्थल सेनाओं की सहायता से आवश्यक कार्यवाही कर सकती है ।

अनुच्छेद 43

1. अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग देने के लिये संयुक्त-राष्ट्र के सब सदस्य यह उत्तरदायित्व स्वीकार करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के उद्देश्य के लिये वे सुरक्षा-परिषद् के माँगने पर तथा विशेष समझौतों के अनुसार अपनी सशस्त्र सेनाएँ, सहायता, एवं सुविधायें, जिनमें मार्ग-अधिकार भी सम्मिलित है, प्रदान करेंगे ।

2. ऐसा समझौता अथवा समझौते सेनाओं की संख्या एवं प्रकार, तैयारी एवं सामान्य स्थिति की कोटि, तथा प्रदान की जाने वाली सुविधाओं एवं सहायता की प्रकृति को निश्चित करेंगे ।

3 सुरक्षा-परिषद् की प्रेरणा से ऐसा समझौता अथवा समझौते जितना शीघ्र सम्भव हो वार्ता द्वारा किये जायेंगे। ये समझौते सुरक्षा-परिषद् एव सदस्यो अथवा सुरक्षा-परिषद् एव सदस्यो के समूहो के बीच होगे, तथा हस्ताक्षर करने वाले राज्यो की अपनी-अपनी सविधानी प्रक्रियाओ के अनुसार सत्यापन के पश्चात् ये लागू होगे।

अनुच्छेद 44

जब सुरक्षा-परिषद् ने सैनिक कार्यवाही करने का निर्णय किया हो, तब वह किसी एसे सदस्य से, अनुच्छेद 43 के अधीन उत्तरदायित्वो की पूर्ति के हेतु सशस्त्र सेनाएँ माँगने के पहले, जिसका सुरक्षा-परिषद् मे प्रतिनिधित्व नही है, उस सदस्य को इच्छानुसार उसे सुरक्षा-परिषद् के उन निर्णयो मे भाग लेने के लिये आमंत्रित कर सकती है, जिनका उस सदस्य की सशस्त्र सेनाओ के प्रयोग से सम्बन्ध हो।

अनुच्छेद 45

सयुक्त-राष्ट्र को शीघ्र सैनिक कार्यवाही करने योग्य बनाने के लिए सदस्य सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय प्रवर्तन के कार्य के लिए तुरन्त सुलभ राष्ट्रीय वायु-सेना की टुकडियाँ तैनात करेंगे। इन टुकडियो की शक्ति और तत्परता की मात्रा तथा इनकी सामूहिक क्रिया की योजना "सैनिक-स्टाफ-समिति" की सहायता से सुरक्षा-परिषद् द्वारा अनुच्छेद 43 मे उल्लिखित विशेष समझौते या समझौतो की सीमाओ के अन्तर्गत निर्धारित होगी।

अनुच्छेद 46

सुरक्षा-परिषद् सैनिक स्टाफ समिति की सहायता से सशस्त्र सेनाओ के प्रयोग के लिये योजनायें बनाएगी।

अनुच्छेद 47

1 एक सैनिक स्टाफ समिति स्थापित की जाएगी जो सुरक्षा परिषद् को उन सभी प्रश्नो पर परामर्श एव सहायता देगी, जिनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा बनाये रखने के लिये सुरक्षा-परिषद् की सैनिक आवश्यकताओं, उसके अधीन सेनाओ के प्रयोग एव कमान, शस्त्रो के नियन्त्रण और सम्भावित निरस्त्रीकरण से हो।

2 सैनिक स्टाफ समिति मे सुरक्षा-परिषद् के स्थायी सदस्यो के 'स्टाफ' के अध्यक्ष (चीफ आफ स्टाफ) अथवा उनके प्रतिनिधि होगे। यदि सयुक्त-राष्ट्र के किसी सदस्य का इस समिति मे स्थायी रूप से प्रतिनिधित्व न हो और समिति के दायित्वो की निपुणतापूर्वक पूर्ति के लिये समिति के कार्य मे उस सदस्य

का भाग लेना आवश्यक हो, तो समिति उसे अपने साथ काम करने के लिये आमन्त्रित करेगी।

3 सुरक्षा-परिषद् के अधीन रहकर सैनिक-स्टाफ समिति उन सशस्त्र सेनाओं के युद्ध-सम्बन्धी निर्देशन के लिये उत्तरदायी होगी, जो सुरक्षा-परिषद् के उपयोग के लिये इसे दी जायेंगी। इन सेनाओं के कमान सम्बन्धी प्रश्न बाद में निश्चित किये जायेंगे।

4 सुरक्षा-परिषद् से अधिकार प्राप्त होने पर और उपयुक्त प्रादेशिक संस्थाओं के साथ परामर्श के पश्चात् सैनिक स्टाफ-समिति प्रादेशिक उप-समितियाँ भी स्थापित कर सकती है।

अनुच्छेद 48

1 अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के हेतु सुरक्षा-परिषद् के निर्णयों को कार्यान्वित करने के लिये जो कार्यवाही आवश्यक होगी, उसके विषय में यह सुरक्षा-परिषद् निर्धारित करेगी कि वह संयुक्त-राष्ट्र के सभी सदस्यों द्वारा हो अथवा उनमें से कुछ के द्वारा।

2 संयुक्त-राष्ट्र के सदस्य स्वतन्त्र रूप से तथा जिन उपयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के वे सदस्य हैं, उनमें अपनी कार्यवाही द्वारा इन निर्णयों को कार्यान्वित करेंगे।

अनुच्छेद 49

सुरक्षा-परिषद् द्वारा निर्धारित कार्यवाही को लागू करने के लिये संयुक्त-राष्ट्र के सदस्य एक दूसरे को पारस्परिक सहयोग देंगे।

अनुच्छेद 50

यदि सुरक्षा-परिषद् के द्वारा किसी राज्य के विरुद्ध निवारक अथवा प्रवर्तन-सम्बन्धी कार्यवाही हो रही हो और किसी अन्य राज्य के समक्ष जो संयुक्त-राज्य का सदस्य हो अथवा नहीं, इस कार्यवाही के लागू होने के कारण विशेष आर्थिक समस्यायें उत्पन्न हो जाएँ, तो उसे इन समस्याओं के समाधान के सम्बन्ध में सुरक्षा-परिषद् से परामर्श करने का अधिकार होगा।

अनुच्छेद 51

यदि संयुक्त-राष्ट्र के किसी सदस्य के विरुद्ध कोई सशस्त्र आक्रमण हो, तो उसे व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा का अन्तर्निहित अधिकार है, और जब तक सुरक्षा-परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के लिये आवश्यक कार्यवाही नहीं करती, तब तक वर्तमान चार्टर के अनुसार इस अधिकार पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होगा। आत्म-रक्षा के इस अधिकार के प्रयोग में सदस्य जो भी

कार्यवाही करेंगे उनकी सूचना तत्काल सुरक्षा-परिषद् को दी जाएगी और इस कार्यवाही का सुरक्षा-परिषद् की वर्तमान चार्टर के अधीन उस शक्ति एव उत्तरदायित्व पर किसी प्रकार का प्रभाव नही पडेगा, जिनके अनुसार वह किसी भी समय अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा बनाये रखने अथवा पुन:स्थापित करने के लिये ऐसी कार्यवाही कर सकती है, जिसे वह आवश्यक समझे।

अध्याय 8

प्रादेशिक प्रबन्ध

अनुच्छेद 52

1. ऐसे प्रादेशिक प्रबन्ध एव सस्थाओ के अस्तित्व मे, जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा के बने रहने से सम्बन्धित मामलो पर विचार करते हैं और उपयुक्त प्रादेशिक कार्यवाही करते हैं, वर्तमान चार्टर के अनुसार कोई बाधा नही पडेगी। शर्त यह है कि ऐसे प्रबन्ध अथवा सस्थायें तथा उनके कार्य सयुक्त-राष्ट्र के उद्देश्यो एव सिद्धान्तो से सगत हो।

2 सयुक्त राष्ट्र के वे सदस्य जो ऐसे प्रबन्धो के भी सदस्य हैं अथवा ऐसी सस्थाओ का निर्माण करते है, स्थानीय विवादो को सुरक्षा-परिषद् के समक्ष ले जाने के पहले ऐसे प्रादेशिक प्रबन्धो अथवा ऐसी प्रादेशिक सस्थाओ द्वारा उनका शान्तिपूर्ण निपटारा करने के लिये प्रत्येक प्रयत्न करेंगे।

3 सुरक्षा परिषद राज्यो के अभिक्रम द्वारा अथवा स्वय ही स्थानीय विवादो के इन प्रादेशिक प्रबन्धो अथवा इन प्रादेशिक सस्थाओ द्वारा शान्तिपूर्ण निपटारे की अभिवृद्धि को प्रोत्साहन देगी।

4 इस अनुच्छेद से, अनुच्छेद 34 एव 35 के लागू होने पर कोई प्रभाव नही पडेगा।

अनुच्छेद 53

1. जहाँ उचित होगा, सुरक्षा-परिषद् अपने अधिकार मे इन प्रादेशिक प्रबन्धो अथवा सस्थाओ का प्रवर्तन-सम्बन्धी कार्यवाही मे उपयोग करेगी। परन्तु इन प्रादेशिक प्रबन्धो अथवा प्रादेशिक सस्थाओ के अधीन तब तक कोई प्रवर्तन सम्बन्धी कार्यवाही नही की जाएगी, जब तक सुरक्षा-परिषद् इसका अधिकार न दे। इसमे उन कार्यवाहियो के विषय मे अपवाद है, जो किसी शत्रु राज्य के विरुद्ध, जिसकी परिभाषा इस अनुच्छेद के पैरा 2 मे की गई है, अनुच्छेद 107 के अनुसार अथवा किसी ऐसे राज्य के पुन: आक्रमणकारी नीति के अपनाने के विरुद्ध तब तक की जा रही हो जब तक सम्बन्धित राष्ट्रों के निवेदन

पर उस राज्य के द्वारा आगे आक्रमण रोकने के लिये सगठन को इसका उत्तरदायित्व न दिया जाए।

2 इस अनुच्छेद के पैरा 1 मे जो "शत्रु राज्य" शब्द का प्रयोग किया गया है, वह उस राज्य के लिये लागू होता है जो दूसरे महायुद्ध मे इस चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले किसी राष्ट्र का शत्रु रहा है।

अनुच्छेद 54

प्रादेशिक प्रबन्धो अथवा प्रादेशिक सस्थाओ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा बनाये रखने के लिये जो कार्यवाही की जायगी अथवा जिस कार्यवाही पर विचार हो रहा होगा, उसकी पूर्ण सूचना सुरक्षा-परिषद् को समय-समय पर दी जाएगी।

अध्याय 9

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग

अनुच्छेद 55

लोगो के समान अधिकारो एव आत्म निर्णय के सिद्धान्त के प्रति सम्मान के आधार पर राष्ट्रो के बीच शान्तिपूर्ण एव मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए स्थिरता एव जन-हित की आवश्यक स्थितियाँ उत्पन्न करने के अभिप्राय से सयुक्त-राष्ट्र इन बातो को प्रोत्साहन देगा

(क) रहन-सहन के उच्चतर स्तर, पूर्ण रोजगार, तथा आर्थिक एव सामाजिक प्रगति एव विकास की स्थितियो को—

(ख) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य एव अन्य सम्बन्धित समस्याओ के समाधान को तथा अन्तर्राष्ट्रीय सास्कृतिक एव शिक्षा-सम्बन्धी सहयोग को, तथा—

(ग) जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के बिना भेद भाव के सब के लिये मानव-अधिकार एव मौलिक स्वतन्त्रताओ के प्रति सर्वत्र सम्मान एव उनके पालन को—

अनुच्छेद 56

सभी सदस्य प्रतिज्ञा करते हैं कि अनुच्छेद 55 मे दिये उद्देश्यो की प्राप्ति के हेतु वे सयुक्त अथवा पृथक् कार्यवाही द्वारा सगठन के साथ सहयोग करेंगे।

अनुच्छेद 57

1 अनेक विशेष एजेंसियो को, जिनकी अन्तर्राजकीय समझौतो के द्वारा स्थापना हुई है, तथा जिनके आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक, शिक्षा-सम्बन्धी,

स्वास्थ्य एवं सम्बन्धित क्षेत्रों में, जैसा कि उनके आधार-भूत प्रपत्रों में उल्लेख किया गया है, विस्तृत उत्तरदायित्व हैं, अनुच्छेद 63 के उपबन्धों के अनुसार संयुक्त-राष्ट्र के साथ सम्बन्धित किया जाएगा।

2. जिन एजेंसियों का इस प्रकार संयुक्त-राष्ट्र से सम्बन्ध स्थापित किया गया है, उन्हें इसके बाद विशेष एजेंसियाँ कहा जाएगा।

अनुच्छेद 58

विशेष एजेंसियों की नीतियों एवं क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने के लिये संयुक्त-राष्ट्र सिफारिशें करेगा।

अनुच्छेद 59

अनुच्छेद 55 में दिये उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये यदि उचित होगा, तो संगठन नई विशेष एजेंसियों की स्थापना के हेतु सम्बन्धित राज्यों से वार्ता प्रारम्भ करवायेगा।

अनुच्छेद 60

इस अध्याय में दिये संगठन के कार्यों के निर्वहण का उत्तरदायित्व महासभा के ऊपर होगा, तथा महासभा के अधीन यह उत्तरदायित्व आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के ऊपर होगा, जिसे इस प्रयोजन के हेतु अध्याय १० में उल्लिखित शक्तियाँ प्राप्त होंगी।

अध्याय 10

आर्थिक एवं सुरक्षा परिषद्

संविरचना

अनुच्छेद 61

1. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् में महासभा द्वारा निर्वाचित संयुक्त राष्ट्र के अठारह सदस्य होंगे।

2. पैरा 3 के उपबन्धों के अधीन आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के 6 सदस्य प्रति वर्ष तीन वर्षों की अवधि के लिये निर्वाचित होंगे। कोई सेवा-मुक्त सदस्य तात्कालिक पुन: निर्वाचन के लिये पात्र हो सकता है।

3. पहले निर्वाचन में आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के अठारह सदस्य चुने जायेंगे। महासभा द्वारा किये गये प्रबन्धों के अनुसार इस प्रकार से चुने गये 6 सदस्यों की पदावधि एक वर्ष होगी, और 6 अन्य सदस्यों की पदावधि दो वर्ष होगी।

4. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक प्रतिनिधि होगा।

कार्य एवं शक्तियाँ

अनुच्छेद 62

1. आर्थिक एव सामाजिक परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय, आर्थिक, सामाजिक, सास्कृतिक, शिक्षा एव स्वास्थ्य सम्बन्धी तथा अन्य सम्बन्धित मामलो का अध्ययन कर सकती है और रिपोर्ट तैयार कर सकती है अथवा अध्ययन एव रिपोर्टों का प्रबन्ध कर सकती है। ऐसे सभी मामलो पर यह महासभा सयुक्त-राष्ट्र के सदस्यो तथा सम्बन्धित विशेष एजेंसियो के समक्ष सिफारशें कर सकती है ।

2. यह सबके लिये मानव-अधिकारो एव मौलिक स्वतन्त्रताओ के प्रति आस्था बढाने एव इनके पालन के अभिप्राय से सिफारशें कर सकती है ।

3. अपने अधिकार क्षेत्र के भीतर आने वाले मामलो के सम्बन्ध मे यह महासभा के समक्ष पेश करने के लिये उपसधियो के मसौदे तैयार कर सकती है ।

4. सयुक्त-राष्ट्र द्वारा निर्धारित नियमो के अनुसार यह अपने अधिकार-क्षेत्र मे आने वाले मामलो पर सम्मेलन बुला सकती है ।

अनुच्छेद 63

1 आर्थिक एव सामाजिक परिषद् अनुच्छेद 57 मे उल्लिखित किसी भी एजेंसी के साथ ऐसे समझौते कर सकती है, जिनमे उन शर्तों को निर्धारित किया जायगा, जिनके आधार पर सम्बन्धित एजेंसी का सयुक्त-राष्ट्र के साथ सम्बन्ध निश्चित होगा। ऐसे समझौतो के लिये महासभा का अनुमोदन आवश्यक होगा।

2 यह विशेष एजेंसियो के साथ परामर्श के द्वारा तथा उनके समक्ष सिफारिशें करके और महासभा एव सयुक्त-राष्ट्र के सदस्यो के समक्ष सिफारशें करके विशेष एजेंसियो की क्रियाओ मे समन्वय कर सकती है ।

अनुच्छेद 64

1 विशेष एजेंसियो से नियमित रूप से रिपोर्ट प्राप्त करने के लिये आर्थिक एव सामाजिक परिषद् उचित कार्य कर सकती है। वह सयुक्त-राष्ट्र के सदस्यो तथा विशेष एजेंसियों से ऐसे प्रबन्ध कर सकती है, जिससे उसकी सिफारिशो और इसके अधिकार-क्षेत्र मे आने वाले मामलो पर महासभा की सिफारिशो को कार्यान्वित करने के हेतु की गई कार्यवाहियो की रिपोर्ट इसे प्राप्त हो सकें ।

2. इन रिपोर्टों पर अपने विचारों को यह महासभा तक पहुँचा सकती है।

अनुच्छेद 65

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् सुरक्षा-परिषद् को सूचना दे सकती है तथा सुरक्षा-परिषद् के निवेदन पर उसकी सहायता कर सकती है।

अनुच्छेद 66

1. महासभा की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में जो कार्य आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के अधिकार-क्षेत्र में पड़ेंगे, उसे उनका सम्पादन करना होगा।

2 संयुक्त-राष्ट्र के सदस्यों के निवेदन पर तथा विशेष एजेंसियों के निवेदन पर यह महासभा का अनुमोदन प्राप्त होने पर सेवायें प्रदान कर सकती है।

3 यह ऐसे अन्य कार्यों का सम्पादन करेगी, जिनका वर्तमान चार्टर में कहीं और उल्लेख किया गया है अथवा जो इसे महासभा द्वारा सौंपे जायें।

मतदान

अनुच्छेद 67

1. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक मत होगा।

2 आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के निर्णय उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत द्वारा होंगे।

क्रिया-विधि

अनुच्छेद 68

आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्रों में तथा मानव-अधिकारों को बढ़ावा देने के लिए आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् आयोग स्थापित करेगी और अपने कार्यों के सम्पादन के हेतु ऐसे अन्य आयोग स्थापित करेगी जिनकी आवश्यकता हो।

अनुच्छेद 69

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् संयुक्त-राष्ट्र के किसी सदस्य को किसी ऐसे मामले पर अपने विचार विमर्श में भाग लेने के लिए आमन्त्रित करेगी, जिससे

उस सदस्य का विशेष सम्बन्ध हो। उस सदस्य को मतदान का अधिकार नही होगा।

अनुच्छेद 70

आर्थिक एव सामाजिक परिषद् यह प्रबन्ध कर सकती है कि विशेष एजेंसियो के प्रतिनिधि बिना मत के अधिकार के इसके तथा इसके द्वारा स्थापित आयोगो के विचार-विमर्श मे भाग लें, और इसके प्रतिनिधि विशेष एजेंसियो के विचार-विमर्श मे भाग लें।

अनुच्छेद 71

आर्थिक एव सामाजिक परिषद अपने अधिकार-क्षेत्र के भीतर आने वाले मामलो से सम्बन्धित अराजकीय सगठनो से परामर्श लेने का उपयुक्त प्रबन्ध कर सकती है। ऐसे प्रबन्ध अन्तर्राष्ट्रीय सगठनो के साथ और जहाँ उपयुक्त हो सयुक्त-राष्ट्र के सम्बन्धित सदस्य के साथ परामर्श के पश्चात् राष्ट्रीय सगठनो के साथ किये जा सकते हैं।

अनुच्छेद 72

1 आर्थिक एव सामाजिक परिषद् अपनी क्रियाविधि के नियम स्वय बनायेगी, जिनमे इसके अध्यक्ष के चुनाव की विधि भी सम्मिलित है।

2 आर्थिक एव सामाजिक परिषद् की सभायें जब आवश्यक हो, इसके नियमो के अनुसार होगी। इन नियमो के अन्तर्गत यह उपबन्ध भी होगा कि इसके सदस्यो के बहुमत के निवेदन पर इसकी सभायें बुलाई जा सकती हैं।

अध्याय 11

अस्वाधीन क्षेत्रों के विषय में घोषणा

अनुच्छेद 73

सयुक्त-राष्ट्र के व सदस्य, जिन पर उन क्षेत्रो के प्रशासन के उत्तरदायित्व हैं अथवा होगे, जिनके लोगो ने अभी पूर्ण रूप से स्वशासन नही प्राप्त किया है, यह स्वीकार करते हैं कि इन क्षेत्रो के निवासियो के हित सर्वोपरि हैं, तथा एक पुण्य न्याय के रूप मे अपना यह दायित्व मानते हैं कि वर्तमान चार्टर द्वारा

स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था के भीतर इन क्षेत्रों के निवासियों की अधिक से अधिक भलाई करेंगे तथा इस उद्देश्य के हेतु

(क) इन क्षेत्रों के लोगों की संस्कृति को पूर्ण सम्मान देते हुए उनकी राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक एवं शिक्षा-सम्बन्धी प्रगति, उनके साथ न्याय-पूर्ण व्यवहार तथा अत्याचारों से उनकी रक्षा का प्रबन्ध करेंगे ।

(ख) प्रत्येक क्षेत्र एवं इसके लोगों की विशेष परिस्थितियों तथा उनकी प्रगति की विभिन्न अवस्थाओं के अनुसार वे स्वशासन का विकास करेंगे, लोगों की राजनीतिक आकांक्षाओं की ओर उपयुक्त ध्यान देंगे तथा उनकी स्वतन्त्र राजनीतिक संस्थाओं के क्रमिक विकास में उनकी सहायता करेंगे।

(ग) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बढ़ायेंगे ।

(घ) इस अनुच्छेद में उल्लिखित सामाजिक, आर्थिक तथा वैज्ञानिक उद्देश्यों की व्यावहारिक प्राप्ति के अभिप्राय से वे विकास के रचनात्मक कार्यों को बढ़ावा देंगे, अनुसंधान को प्रोत्साहन देंगे, तथा एक-दूसरे को, और जब और जहाँ उपयुक्त हो, विशेष अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं को सहयोग देंगे, तथा

(ङ) सुरक्षा एवं संवैधानिक बातों को ध्यान में रखते हुए इन्हें महासचिव को उन क्षेत्रों के विषय में जिनके लिये ये उत्तरदायी हैं, आर्थिक, सामाजिक, एवं शिक्षा-सम्बन्धी परिस्थितियों के सम्बन्ध में आँकड़े एवं तकनीकी प्रकृति की अन्य सूचना नियमित रूप से सूचना के अभिप्राय से देनी होगी। इसके अन्तर्गत वे क्षेत्र नहीं हैं जिनके सम्बन्ध में 12 एवं 13 अध्याय लागू होते हैं।

अनुच्छेद 74

संयुक्त-राष्ट्र के सदस्य यह भी स्वीकार करते हैं कि इन क्षेत्रों के विषय में उनकी नीति, जिनके सम्बन्ध में यह अध्याय लागू होता है—और इसी प्रकार से अपने राजधानी-क्षेत्रों के विषय में भी उनकी नीति—अच्छे पड़ोस के सामान्य सिद्धान्त पर अवश्य आधारित होगी, तथा सामाजिक, आर्थिक, एवं वाणिज्य सम्बन्धी मामलों में शेष संसार के हितों एवं कल्याण का उचित ध्यान रखा जाएगा।

अध्याय 12

अन्तर्राष्ट्रीय न्यास-व्यवस्था

अनुच्छेद 75

संयुक्त-राष्ट्र अपने प्राधिकार के अधीन ऐसे क्षेत्रों के प्रशासन एवं पर्यवेक्षण के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यास-व्यवस्था स्थापित करेगा, जो अनुवर्ती

वैयक्तिक समझौता द्वारा इसके अधीन रखे जायें। इन क्षत्रो को इसके बाद न्यास क्षत्र कहा जाएगा।

अनुच्छेद 76

वतमान चाटर के अनुच्छेद 1 मे दिये गये सयुक्त राष्ट के उद्दश्यो के अनुसार न्यास व्यवस्था क मूल ध्येय निम्नलिखित होगे

(क) अन्तराष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा बढाना

(ख) प्रत्यक क्षेत्र एव इसके लोगो की विशेष परिस्थितियो के लिये जो उपयुक्त हो तथा सम्बन्धित लोगो की स्वतन्त्रतापूवक व्यक्त इच्छाओ के अनुसार, और जो शर्तें प्रत्येक न्य स समझौते मे दी हुई हो उनका ध्यान रखते हुए न्यास क्षत्रो के निवासियो की राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक, एव शिक्षा सम्बन्धी उन्नति मे और स्वशासन अथवा स्वत त्रता के क्रमिक विकास मे उ ह सहायता देना,

(ग) जाति लिंग भाषा, अथवा धम के बिना भेद-भाव के सबके लिय मानव अधिकारो एव मौलिक स्वतन्त्रताओ के प्रति सम्मान को प्रोत्साहित करना तथा ससार के लोगो म अन्यो याश्रय की भावना को प्रोत्साहित करना, और

(घ) सयुक्त राष्ट के सदस्यो एव इनके राष्ट्रिको के लिय सामाजिक, आर्थिक एव वाणिज्य सम्बन्धी मामलो मे समानता के व्यवहार का विश्वास दिलाना तथा उन राष्ट्रिको के लिये न्याय क प्रशासन मे समान व्यवहार का विश्वास दिलाना। परन्तु इसम पूवगामी ध्येयो पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पडेगा तथा यह काय अनुच्छेद 80 के उपबन्धो के अधीन होगा।

अनुच्छेद 77

1 न्यास व्यवस्था निम्नलिखित श्रणियो के उन क्षत्रो के विषय म लागू होगी, जो न्यास समझौता द्वारा इसके अधीन रखे जायें

(क) वे क्षत्र जो अब प्रादेश पद्धति के अधीन है

(ख) वे क्षत्र जो द्वितीय महायुद्ध के फलस्वरूप शत्रु राज्यो से अलग किय गये हो

(ग) वे क्षत्र जो स्वेच्छापूवक उन राज्यो द्वारा इस व्यवस्था के अधीन रखे गय हो जो इनक प्रशासन के लिए उत्तरदायी है।

2 यह बात अनुवर्ती समझौते द्वारा निर्धारित होगी कि पूवगामी श्रणियो मे कौन से क्षेत्र न्यास व्यवस्था के अधीन किन शर्तों पर लाये जायेंगे।

अनुच्छेद 78

न्यास-व्यवस्था उन क्षेत्रों के लिये लागू नहीं होगी, जो संयुक्त-राष्ट्र के सदस्य बन गये हैं तथा जिनके बीच सम्बन्ध प्रभुसत्ता की समानता के सिद्धान्त पर आधारित होगा।

अनुच्छेद 79

न्यास-व्यवस्था के अधीन रखे जाने वाले प्रत्येक क्षेत्र के लिये न्यास की शर्त, जिनमें परिवर्तन एवं संशोधन भी सम्मिलित हैं, प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित राज्यों द्वारा समझौते द्वारा निश्चित की जायेंगी। यदि संयुक्त-राष्ट्र के किसी सदस्य के पास प्रादेश के अधीन क्षेत्र हो तो इन राज्यों में प्रादेश प्राप्त राष्ट्र को भी सम्मिलित किया जायेगा, तथा इन शर्तों का अनुमोदन अनुच्छेद 83 एवं 84 के उपबन्धों के अनुसार होगा।

अनुच्छेद 80

1. जब तक प्रत्येक क्षेत्र का न्यास-व्यवस्था में रखने के लिये 77, 79 एवं 81 अनुच्छेदों के अधीन किये वैयक्तिक न्यास-समझौतों में यह स्वीकार न किया जाए, और जब तक ये समझौते अन्तिम रूप से न हो जायें, इस अध्याय की किसी बात से यह अर्थ नहीं निकाला जाएगा कि किसी भी राज्य अथवा लोगों के जो अधिकार हैं, अथवा किन्हीं ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय प्रपत्रों की जो शर्तें हैं जिनके संयुक्त-राष्ट्र के सदस्य पक्षकार हैं, उनमें कोई परिवर्तन किया जा सकता है।

2. इस अनुच्छेद के पैरा 1 का इस प्रकार अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि अनुच्छेद 77 के उपबन्धों के अनुसार प्रादेशाधीन एवं अन्य क्षेत्रों को न्यास-व्यवस्था के अधीन लाने में वार्ता एवं समझौतों में विलम्ब अथवा उन्हें स्थगित करने का बहाना मिल सके।

अनुच्छेद 81

न्यास-समझौते में प्रत्येक स्थिति में वे शर्तें होंगी, जिनके अधीन न्यास-क्षेत्र का प्रशासन होगा तथा उस प्राधिकारी राष्ट्र का नाम भी दिया जाएगा, जो न्यास-क्षेत्र का प्रशासन करेगा। ऐसे प्राधिकारी राष्ट्र को सबसे प्रशासक प्राधिकारी कहा जाएगा और यह एक अथवा अधिक राज्य या संयुक्त-राष्ट्र का निजी संगठन भी हो सकता है।

अनुच्छेद 82

किसी भी न्यास-समझौते में सामरिक महत्त्व के एक क्षेत्र या क्षेत्रों का नाम दिया जा सकता है, जिनके अन्तर्गत उस न्यास-क्षेत्र का आंशिक अथवा

सम्पूर्ण भाग हो सकता है, जिसके विषय मे समझौता लागू होगा। परन्तु इससे अनुच्छेद 43 के अधीन किये विशेष समझौते अथवा समझौतो पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नही पड़ेगा।

अनुच्छेद 83

1. सामरिक महत्त्व के क्षेत्रो से सम्बन्धित सयुक्त-राष्ट्र के जितने भी कार्य होंगे, वे सभी सुरक्षा-परिषद् करेगी। इन कार्यो मे न्यास-समझौतो की शर्तों का अनुमोदन एव उनमे परिवर्तन अथवा सशोधन भी सम्मिलित है।

2. अनुच्छेद 76 मे दिये गये मूल ध्येय सामरिक महत्त्व के प्रत्येक क्षेत्र के के लोगो के विषय मे लागू होगे।

3. न्यास-समझौतो के उपबन्धो के अधीन तथा सुरक्षा पर प्रतिकूल प्रभाव डाले बिना सुरक्षा-परिषद् सामरिक महत्त्व के क्षेत्रो मे राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एव शिक्षा-सम्बन्धी मामलो मे सयुक्त-राष्ट्र [redacted] कार्यो का न्यास-व्यवस्था के अधीन सम्पादन करने मे न्यास-परिषद् की सहायता लेगी।

अनुच्छेद 84

प्रशासक प्राधिकारी का यह कर्तव्य होगा कि वह इस बात का निश्चित प्रबन्ध करे कि न्यास-क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा के बनाये रखने मे अपना योग दे सके। इस ध्येय के हेतु प्रशासक प्राधिकारी ने सुरक्षा-परिषद् के प्रति जो दायित्व स्वीकार किये हैं, उन्हे कार्यान्वित करने के लिये तथा स्थानीय रक्षा एव न्यास-क्षेत्र के भीतर शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये वह न्यास-क्षेत्र से स्वय-सेवक-दल, सुविधायें एव कोई अन्य सहायता ले सकता है।

अनुच्छेद 85

1. सामरिक महत्त्व के क्षेत्रो के अतिरिक्त और जितने भी क्षेत्रो के विषय मे न्यास-समझौते होगे, उनसे सम्बन्धित सयुक्त-राष्ट्र के कार्य, जिनमे न्यास-समझौतो का अनुमोदन एव उनमे परिवर्तन अथवा सशोधन भी सम्मिलित हैं, महासभा द्वारा किये जाएँगे।

2 महासभा के प्राधिकार के अधीन परिचालित होने वाली न्यास-परिषद् इन कार्यों के सम्पादन मे महासभा की सहायता करेगी।

अध्याय 13

न्यास-परिषद्

संविरचना

अनुच्छेद 86

1 न्यास-परिषद् मे संयुक्त-राष्ट्र के निम्नलिखित सदस्य होंगे :—

(क) जो सदस्य न्यास-क्षेत्रो का प्रशासन कर रहे है,

(ख) ऐसे अन्य सदस्य जिनका अनुच्छेद 23 मे उल्लेख किया गया है तथा जो न्यास-क्षेत्रो का प्रशासन नही कर रहे; तथा

(ग) महासभा के द्वारा तीन वर्षों की अवधि के लिए उतने निर्वाचित सदस्य जितने यह निश्चित करने के लिए आवश्यक हो कि संयुक्त-राष्ट्र के जो सदस्य न्यास-क्षेत्रो का प्रशासन करते हो और जो नही करते हों, न्यास परिषद् में उन दोनो की समान सख्या हो।

2 न्यास परिषद का प्रत्यक सदस्य एक विशेष योग्यता वाले व्यक्ति का नाम उसम अपना प्रतिनिधित्व करने के लिये देगा।

कार्य एवं शक्तियाँ

अनुच्छेद 87

महासभा और उसके प्राधिकार के अधीन न्यास-परिषद् अपने कार्यों के सम्पादन क हेतु,

(क) प्रशासक प्राधिकारी द्वारा दी हुई रिपोर्टों पर विचार कर सकती है,

(ख) प्रार्थना-पत्र स्वीकार कर सकती है तथा प्रशासक प्राधिकारी के साथ परामर्श करते हुए उनकी जाँच कर सकती है,

(ग) प्रशासक प्राधिकारी के साथ समय निश्चित कर विभिन्न न्यास-क्षेत्रो मे नियतकालिक निरीक्षणो का प्रबन्ध कर सकती है, तथा

घ. न्यास-समझौतो की शर्तों के अनुरूप ये तथा अन्य कार्यवाहियाँ कर सकती हैं।

अनुच्छेद 88

न्यास-परिषद् प्रत्येक न्यास-क्षेत्र के निवासियो की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एव शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति पर एक प्रश्नावली तैयार करेगी तथा

महासभा के अधिकार-क्षेत्र के भीतर प्रत्येक न्यास-क्षेत्र के लिये प्रशासक प्राधिकारी इस प्रश्नावली के आधार पर महासभा को एक वार्षिक रिपोर्ट देगा।

मतदान

अनुच्छेद 89

1. न्यास-परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक मत होगा।

2. न्यास-परिषद् के निर्णय उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत द्वारा होंगे।

क्रियाविधि

अनुच्छेद 90

1 न्यास-परिषद् क्रियाविधि के अपने नियम बनायेगी, जिनमें इसके अध्यक्ष के चुनाव की विधि भी सम्मिलित है।

2 न्यास-परिषद की सभायें उसके नियमों के अनुसार होंगी, जिनके अन्तर्गत यह उपबन्ध भी होगा कि इसके सदस्यों के बहुमत के निवेदन पर इसकी सभायें बुलाई जा सकती हैं।

अनुच्छेद 91

न्यास-परिषद् जब उचित समझे आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् एवं विशेष एजेंसियों से ऐसे मामलों में सहायता लेगी, जिनसे उनका अपना-अपना सम्बन्ध हो।

अध्याय 14

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

अनुच्छेद 92

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त-राष्ट्र का प्रमुख न्यायिक अंग होगा। यह साथ लगी हुई संविधि के अनुसार कार्य करेगा, जो कि स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि पर आधारित है तथा वर्तमान चार्टर का अभिन्न अंग है।

अनुच्छेद 93

1 संयुक्त-राष्ट्र के सभी सदस्य स्वतः अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि के पक्षकार होंगे।

2 यदि कोई राष्ट्र संयुक्त-राष्ट्र का सदस्य नहीं है, तो वह उन शर्तों पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की संविधि का पक्षकार बन सकता है, जो प्रत्येक स्थिति में सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा निर्धारित होगी।

अनुच्छेद 94

1 संयुक्त-राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य प्रतिज्ञा करता है कि किसी मुकदमे में पक्षकार होने पर वह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों का अनुपालन करेगा।

2 यदि किसी मुकदमे में एक पक्षकार न्यायालय के निर्णय के अनुसार अपने दायित्वों का सम्पादन नहीं करता है, तो दूसरा पक्षकार सुरक्षा-परिषद् का आश्रय ले सकता है जो यदि आवश्यक समझे तो सिफारिशें कर सकती है अथवा निर्णय को कार्यान्वित करने के लिये कार्यवाहियाँ निर्धारित कर सकती है।

अनुच्छेद 95

वर्तमान चार्टर का कोई उपबन्ध सदस्यों को इससे नहीं रोकेगा कि वे अपने मतभेदों को समाधान के लिये अन्य ऐसे न्यायाधिकरणों के समक्ष रखें जिनके विषय में वे पहले से समझौता कर चुके हैं अथवा भविष्य में समझौता करेंगे।

अनुच्छेद 96

1 किसी वैध प्रश्न पर महासभा अथवा सुरक्षा-परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय-न्यायालय से सलाहकारी राय देने के लिये निवेदन कर सकती है।

2 किसी भी समय में महासभा से प्राधिकार प्राप्त होने पर संयुक्त-राष्ट्र के अन्य अंग एवं विशेष एजेंसियाँ भी अपनी क्रियाओं के कार्यक्षेत्र से सम्बन्धित वैध प्रश्नों पर न्यायालय से सलाहकारी रायों के लिये निवेदन कर सकती हैं।

अध्याय 15

सचिवालय

अनुच्छेद 97

सचिवालय में एक महासचिव और संगठन की आवश्यकतानुसार कर्मचारी-वर्ग होगा। महासचिव सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा नियुक्त किया जायेगा। वह संगठन का प्रमुख प्रशासन अधिकारी होगा।

अनुच्छेद 98

महासभा, सुरक्षा-परिषद् आर्थिक एव सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद की सभी सभाओं म महासचिव उसी हैसियत से काय करेगा तथा ऐसे अन्य कार्यों का सम्पादन करेगा जो उस इन अगो के द्वारा जैसे सौंपे जायें। सगठन के कार्य पर महासभा को महासचिव एक वार्षिक रिपोर्ट देगा।

अनुच्छेद 99

महासचिव किसी ऐसे मामले की ओर सुरक्षा परिषद का ध्यान दिला सकता है, जिससे उसके विचार मे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एव सुरक्षा के बने रहने मे सकट उत्पन्न हो सकता हो।

अनुच्छेद 100

1 अपने कर्तव्यो के सम्पादन मे महासचिव एव कर्मचारी-वर्ग सगठन से बाहर किसी सरकार अथवा अन्य प्राधिकारी से न तो अनुदेश मागेगे और न ही प्राप्त करेंगे। व कोई ऐसा काय नही करेंगे, जिससे केवल सगठन के प्रति उत्तरदायी अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारियो के रूप म उनकी निन्दा हो।

2 सयुक्त राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य प्रतिज्ञा करता है कि वह महासचिव एव कर्मचारी-वग के उत्तरदायित्वो के अनन्य अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप का सम्मान करेगा तथा उनके उत्तरदायित्वो के निर्वहण म प्रभाव डालने का प्रयत्न नही करेगा।

अनुच्छेद 101

1 महासचिव कर्मचारी-वग की नियुक्ति महासभा द्वारा बनाये गये नियमो के अनुसार करेगा।

2 आर्थिक एव सामाजिक-परिषद न्यास-परिषद तथा आवश्यकतानुसार सयुक्त-राष्ट्र के अन्य अगो का स्थायी रूप से यथोचित कर्मचारी दिये जायेंगे। ये कर्मचारी सचिवालय के एक भाग होंगे।

3 कर्मचारी-वर्ग की नियुक्ति तथा सेवा की शर्तों को निर्धारित करने म सर्वोपरि ध्यान इस आवश्यकता पर दिया जायगा कि दक्षता क्षमता एव सत्यनिष्ठा के उच्चतम स्तर स्थापित हो सकें। जितना सम्भव हो सके उतने विस्तृत भौगोलिक आधार पर कर्मचारी-वग की भर्ती करने के महत्त्व की ओर भी उचित ध्यान दिया जायगा।

अध्याय 16

विविध उपबन्ध

अनुच्छेद 102

1 वर्तमान चार्टर के लागू होने के पश्चात् यदि संयुक्त-राष्ट्र का कोई सदस्य कोई संधि अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करता है, तो उसे जितना शीघ्र सम्भव हो सचिवालय में पंजीकृत करना होगा और यह उसके द्वारा प्रकाशित होगा।

2 यदि किसी ऐसी सन्धि अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समझौते को इस अनुच्छेद के पैरा 1 के उपबन्धों के अनुसार पंजीकृत नहीं किया गया है तो उस सन्धि अथवा अन्तर्राष्ट्रीय समझौते का कोई पक्षकार संयुक्त राष्ट्र के किसी अंग के सामने उसका उल्लेख नहीं कर सकता।

अनुच्छेद 103

यदि किसी अन्य अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के अधीन संयुक्त-राष्ट्र के सदस्यों के दायित्व वर्तमान चार्टर के अधीन उनके दायित्वों के विरुद्ध हो, तो वर्तमान चार्टर के अधीन उनके दायित्वों को माना जायेगा।

अनुच्छेद 104

इसके सदस्यों में से प्रत्येक के राज्य-क्षेत्र में संगठन को ऐसी वैध क्षमता प्राप्त होगी जो इसके कार्यों के सम्पादन एवं इसके उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु आवश्यक हो।

अनुच्छेद 105

1 संगठन को अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अपने सदस्यों में से प्रत्येक के राज्य-क्षेत्र में आवश्यक विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ प्राप्त होंगी।

2 उसी प्रकार संगठन से सम्बन्धित अपने कार्यों का स्वतन्त्र रूप से सम्पादन करने के लिये संयुक्त-राष्ट्र के सदस्यों के प्रतिनिधियों एवं संगठन के अधिकारियों को आवश्यक विशेषाधिकार एवं उन्मुक्तियाँ प्राप्त होंगी।

3 इस अनुच्छेद के पैरा 1 एवं 2 के प्रयोग के ब्यौरे को निर्धारित करने के अभिप्राय से महासभा सिफारिशें कर सकती है अथवा इस प्रयोजन के हेतु संयुक्त-राष्ट्र के सदस्यों के सामने उपसन्धियों का प्रस्ताव रख सकती है।

अध्याय 17

संक्रमणकालीन सुरक्षा-प्रबन्ध

अनुच्छेद 106

अनुच्छेद 43 में उल्लिखित उन विशेष समझौतों के लागू होने तक, जो सुरक्षा-परिषद् को इसके विचार में अनुच्छेद 42 के अन्तर्गत इसके उत्तरदायित्वों का सम्पादन आरम्भ करने के योग्य बना सकते हैं, 30 अक्टूबर, 1943 को मॉस्को में हस्ताक्षर की गई चतुर्राष्ट्र घोषणा के पक्षकार तथा फ्रांस उस घोषणा के पैरा 5 के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के अभिप्राय से संयुक्त-राष्ट्र की ओर से आवश्यक संयुक्त कार्यवाही करने के लिये एक दूसरे के साथ तथा आवश्यकता पड़ने पर संयुक्त राष्ट्र के अन्य सदस्यों के साथ परामर्श करेंगे।

अनुच्छेद 107

यदि किसी ऐसे राज्य के सम्बन्ध में, जो द्वितीय महायुद्ध में वर्तमान चार्टर के किसी हस्ताक्षर-कर्ता का शत्रु रहा है, उन सरकारों के द्वारा, जिनपर उसके विरुद्ध कार्यवाही करने का उत्तरदायित्व है, युद्ध के फलस्वरूप ऐसी कार्यवाही की जाती है अथवा उसके लिये प्राधिकार दिया जाता है तो वर्तमान चार्टर का कोई उपबन्ध इस कार्यवाही को रद्द नहीं कर सकता, और न ही इसे रोक सकता है।

अध्याय 18

संशोधन

अनुच्छेद 108

वर्तमान चार्टर में संशोधन संयुक्त-राष्ट्र के सदस्यों के लिये तभी लागू होंगे जब उन्हें महासभा के सदस्यों के दो-तिहाई मत द्वारा अंगीकार किया जाये तथा संयुक्त-राष्ट्र के सदस्यों में से दो-तिहाई, जिनमें सुरक्षा-परिषद् के सभी स्थायी सदस्य सम्मिलित होंगे, अपनी-अपनी संविधानी प्रक्रियाओं के अनुसार उनका सत्यांकन करें।

अनुच्छेद 109

1. वर्तमान चार्टर के पुनर्विलोकन के अभिप्राय के लिये संयुक्त-राष्ट्र के सदस्यों का एक सामान्य सम्मेलन किया जा सकता है, जिसकी तिथि एवं स्थान

महासभा के सदस्यों के दो-तिहाई मत द्वारा तथा सुरक्षा-परिषद् के किन्हीं सात सदस्यों के मत द्वारा निश्चित किये जायेंगे। इस सम्मेलन में संयुक्त-राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य का एक मत होगा।

2. सम्मेलन के दो-तिहाई मत द्वारा प्रस्तावित किया हुआ वर्तमान चार्टर में कोई परिवर्तन तभी लागू हो सकता है, जब संयुक्त-राष्ट्र के दो-तिहाई सदस्य, जिनमें सुरक्षा-परिषद् के सभी स्थायी सदस्य भी सम्मिलित होंगे, अपनी-अपनी संविधानी प्रक्रियाओं द्वारा इसका सत्यांकन करें।

3 वर्तमान चार्टर के लागू होने के पश्चात् यदि महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन तक इस प्रकार का सम्मेलन नहीं किया जाता है, तो ऐसा सम्मेलन बुलाने का प्रस्ताव महासभा के उस अधिवेशन की कार्यसूची में रखा जायेगा, और यदि महासभा के सदस्य बहुमत द्वारा तथा सुरक्षा-परिषद् किन्हीं सात सदस्यों के मत द्वारा ऐसा निर्णय करे, तो सम्मेलन किया जायेगा।

अध्याय 19
सत्यांकन एवं हस्ताक्षर
अनुच्छेद 110

1 वर्तमान चार्टर का हस्ताक्षर-कर्त्ता राज्यों द्वारा उनकी अपनी-अपनी संविधानी प्रक्रियाओं के अनुसार सत्यांकन होगा।

2 सत्यांकन-पत्र संयुक्त-राज्य की सरकार के पास जमा किये जाएंगे, जो सभी हस्ताक्षर-कर्त्ता राज्यों को तथा संगठन के महासचिव की नियुक्ति होने के पश्चात् उसे भी प्रत्येक सत्यांकन-पत्र के जमा करने की सूचना देगी।

3. वर्तमान चार्टर तभी लागू होगा जब चीन गणराज्य, फ्रांस, सोवियत-रूस, ग्रेट-ब्रिटेन एवं उत्तरी आयरलैंड के संयुक्त-राज्य, तथा अमरीका के संयुक्त-राज्य और अन्य हस्ताक्षर-कर्त्ता राज्यों के बहुमत से सत्यांकन पत्र जमा हो जायें। अमरीका के संयुक्त-राज्य की सरकार जमा किये जाने वाले सत्यांकन पत्रों का एक सलेख बनाएगी और सभी हस्ताक्षर-कर्त्ता राज्यों को उसकी प्रतिलिपियां भेजेगी।

4. जो हस्ताक्षर-कर्त्ता राज्य चार्टर के लागू होने के पश्चात् उसका सत्यांकन करेंगे, वे अपने-अपने सत्यांकन पत्रों के जमा करने की तिथि से ही संयुक्त-राष्ट्र के संस्थापक सदस्य बन जायेंगे।

अनुच्छेद 111

वर्तमान चार्टर, जिसके चीनी, फ्रांसीसी, रूसी, अंग्रेजी, एवं स्पेनिश, पाठ भी समान रूप से प्रामाणिक है, संयुक्त-राज्य अमरीका की सरकार के अभिलेखागार में जमा रहेगा। इसकी विधिवत् प्रमाणित प्रतिलिपियाँ वह सरकार अन्य हस्ताक्षर-कर्त्ता राज्यों की सरकारों को भेजेगी। वर्तमान चार्टर पर संयुक्त-राष्ट्रों की सरकारों के प्रतिनिधियों ने निष्ठापूर्वक हस्ताक्षर किये हैं।

यह चार्टर छब्बीस जून, उन्नीस सौ पैंतालीस को सान-फ्रांसीस्को नगर में तैयार हुआ। निम्नलिखित देशों ने चार्टर को स्वीकार किया है।

चीन	क्यूबा
सोवियत संघ	चैकोस्लोवाकिया
युनाइटेड किंगडम ऑफ ग्रेट-ब्रिटेन तथा उत्तरी आयरलैंड	डैन्मार्क
संयुक्त राज्य अमरीका	डोमिनीकन रिपब्लिक
फ्रान्स	इक्वेडोर
अफगानिस्तान	एल साल्वेडोर
अलबानियाँ	इथोपिया
अर्जेनटाइना	फिनलैण्ड
आस्ट्रेलिया	घाना
आस्ट्रीया	ग्रीस
बैल्जियम	गोटेमला
बोलिविया	गायना
ब्राजील	हेटी
बलगारिया	होण्डुरस
बरमा	हंगरी
बैलोरशियन सोवियत सोशलिस्ट रिपब्लिक	आइसलैण्ड
	भारत
	इण्डोनेशिया
कम्बोडिया	इटली
कनाडा	ईरान
लंका	ईराक
चाइल	आयरलैण्ड
कोलम्बिया	इज़रायल
कोस्टारिका	जापान

जोर्डन
लाग्रोस
लैबनान
लाइबेरिया
लीबिया
लक्सम्बर्ग
मलाया
मैक्सिको
मोरक्को
नैपाल
नीदरलैण्ड्स
न्यूज़ीलैण्ड
निकाराग्वे
नार्वे
पाकिस्तान
पनामा
पैराग्वे
पीरू
फिलिपाइन कामनवैल्थ
पुर्तगाल
पोलैण्ड
रूमानिया
साउदी अरब
स्पेन
सूडान
स्वेडन
थाईलैण्ड
ट्यूनिशिया
टर्की
यूक्रेनियन
यूनियन ऑफ साउथ अफ्रीका
युनाइटेड अरब रिपब्लिक
यूराग्वे
वेनेजुला
यमन
यूगोस्लाविया

ऐतिहासिक-शब्दावली

जॉन ऐडम्स

1735-1826। संयुक्त-राज्य के द्वितीय राष्ट्रपति (1797-1801)। 1777 में फ्रांस के लिये शान्ति कमिश्नर के रूप में इनकी नियुक्ति हुई, स्वतन्त्रता के लिए अमरीकन युद्ध का अन्त करने के हेतु की गई पेरिस की सन्धि (1783) के वार्ताकारों में से ये भी एक थे, ग्रेट-ब्रिटेन में दूत (1785-88)। जब ऐडम्स राष्ट्रपति थे, इन्होंने नरम एवं साम-नीति द्वारा फ्रांस के साथ युद्ध होने से रोका।

जॉन क्विन्सी ऐडम्स

1767-1848। संयुक्त-राज्य के छठे राष्ट्रपति (1825-29)। नेदरलैंड्स (1794-97) एवं प्रशा (1797-1801) में राजदूत, अमरीका में सिनेटर (1803-8); रूस में राजदूत (1809-14), 1812 के युद्ध का अन्त करने के लिए घेंट की सन्धि करने में इन्होंने सहायता की; ग्रेट-ब्रिटेन में राजदूत (1815 17)। राज्यसचिव (1817-25) के रूप में मनरो सिद्धान्त के निरूपण में इनका महत्त्वपूर्ण भाग था।

अलबामा दावे

ये इंगलैंड के प्रति संयुक्त-राज्य के दावे थे, जो गृह युद्ध के काल में राज्य-संघ के अलबामा-क्रूजर द्वारा उत्तरी जहाजों पर की गई हानि के फलस्वरूप किये गये। अलबामा क्रूजर का निर्माण एवं इसकी फिटिंग इंगलैंड में हुई थी। इन दावों का निपटारा अन्त में 1871 में एक विवाचन न्यायाधिकरण द्वारा हुआ, जिसकी बैठक जिनीवा में हुई।

प्रथम एलक्जेंडर

रूस के जार (1801-25)। नेपोलियन के आक्रमण की असफलता के फलस्वरूप एलक्जेंडर यूरोप के सबसे अधिक शक्तिशाली शासकों में से हो गये हैं। रहस्यवाद एवं रूढ़िवाद के विचित्र संयोग से प्रेरित होकर इन्होंने 'होली सन्श्रय' की स्थापना करवाई।

महान् एलक्जेंडर

मेसिडन के राजा, 336-23 ईसा पूर्व। ग्रीस, इल्लीरिया, एवं मिस्र पर सैनिक विजय एवं परशिया तथा उत्तरी भारतवर्ष पर आक्रमण के द्वारा एलक्जेंडर सभ्यता के भूमध्यसागरीय केन्द्र का प्रतीयमान प्रभु बन गया।

नारमन एजेल

1874– । अंग्रेज शान्तिवादी । ये अपनी लोकप्रिय पुस्तक 'दी ग्रेट इल्यूजन' (1910) के द्वारा प्रख्यात हो गये । इस पुस्तक में यह विचारधारा उपस्थित की गई थी कि युद्धों से कोई लाभ नहीं होता, तथा इस विचार से यह अनुमान लगाया गया कि यदि राष्ट्र केवल इतना स्वीकार कर लें तो फिर युद्ध नहीं होंगे ।

अटलांटिक चार्टर

सामान्य सिद्धान्तों का विवरण, जिसपर राष्ट्रपति रूजवेल्ट एवं प्रधानमंत्री चर्चिल ने अगस्त 1941 में हस्ताक्षर किये तथा जिसमें युद्ध के पश्चात् विश्व के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य एवं ग्रेट-ब्रिटेन की राष्ट्रीय नीतियाँ दी गईं, राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त, आक्रमण का विरोध, निरस्त्रीकरण तथा व्यापार एवं कच्चे माल में समान सुविधा इसके अन्तर्गत थे ।

अगस्टस

जूलियस सीज़र के दत्तक पुत्र एवं उत्तराधिकारी । प्रथम रोमन सम्राट् (27 ईसा पूर्व—14 ईसवी) इटली, अफ्रीका, सार्डिना, एवं सिसली पर नियन्त्रण किया, ऐक्टियम के युद्ध (31 ईसा पूर्व) में एन्थनी एवं क्लियोपेट्रा को पराजित कर रोमन संसार का एकमात्र शासक बने ।

आस्टरलिट्स का युद्ध

1805 में आस्टरलिट्स में, जिसमें आजकल चेकोस्लोवैकिया है, प्रथम नेपोलियन ने रूस एवं आस्ट्रिया की सेनाओं को पराजित किया । यह नेपोलियन की सबसे अधिक महान् विजय समझी जाती है, तथा इस युद्ध में नेपोलियन की सफलता शिखर पर पहुँच गई ।

फ्रांसिस बेकन

1561–1626 । अंग्रेज दार्शनिक ।

स्टैनले बाल्डविन

1867–1947 अंग्रेज अनुदार नेता, वित्त-मंत्री 1922-23, प्रधान मंत्री, 1923-24, 1924-29, 1935-37 ।

फ्रेडरिक बारबारोस्सा

प्रथम फेडरिक का, जो होली रोमन सम्राट् एवं जर्मनी के राजा थे, 1152-90, विशेष नाम ।

केमिल ई. पी. बरेयर

1851–1940 । इटली में फ्रांसीसी राजदूत (1897–1924) ।

यां लूई बारथो

1862–1934 । फ्रांसीसी राजमर्मज्ञ । विदेश मंत्री के रूप में (1934) इन्होंने रूस, ग्रेट-ब्रिटेन एवं लिटल आंतात के साथ फ्रांस के सम्बन्ध सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया।

चार्ल्स ए. बियर्ड

1874–1948 । अमरीकन इतिहासकार एवं राजनीति-विज्ञान वेत्ता।

एडवर्ड बेनेस

1887-1948 । चेकोस्लोवेकिया के राजमर्मज्ञ। विदेश मंत्री (1918–35) एवं प्रधान-मन्त्री (1921–22) के रूप में ये लघु समहित एवं फ्रांस के साथ चेकोस्लोवेकिया के सभय के लिए मुख्यतः उत्तरदायी थे। 1935 में राष्ट्रपति निर्वाचित हुये, म्यूनिक समझौते (1938) के पश्चात् ये निर्वासन में चले गये, द्वितीय महायुद्ध के काल में अन्तःकालीन सरकार के अध्यक्ष थे 1946 में पुनः राष्ट्रपति निर्वाचित हुए, 1948 के साम्यवादी राज्य-विप्लव के पश्चात शीघ्र ही पद-त्याग कर दिया।

जेरमी बैन्थम

1748-1832 । अंग्रेज दार्शनिक एवं विधिवेत्ता, उपयोगितावादी विचार-धारा के संस्थापक।

बर्लिन का सम्मेलन

1878 । इसे क्रिमिया के युद्ध का अन्त करनेवाली पेरिस की सन्धि (1856) के हस्ताक्षर-कर्त्ताओं द्वारा इस अभिप्राय से बुलाया गया कि सेन स्टीफेनो की सन्धि की शर्तों पर, जिन्हें स्वीकार करने के लिये 1878 के पूर्व भाग में ओटोमन साम्राज्य को रूस द्वारा बाध्य किया गया था, पुनः विचार किया जाये।

अलबर्ट जे. बेवरेज

1862-1927 । अमरीकन सिनेटर (1889 1911) तथा जॉन मारशल के जीवनी-लेखक। राजनीतिज्ञ के रूप में ये अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में साम्राज्यवाद के पक्ष में होने तथा देशीय राजनीति में प्रगतिशील विचारधारा के लिए प्रख्यात हैं।

प्रबल डंडे की नीति

राष्ट्रीय शक्ति के प्रबल प्रयोग के उल्लेख का ढंग, जिसकी उत्पत्ति राष्ट्रपति थ्योडोर रूजवेल्ट (1901-9) की प्रख्यात उक्ति "धीरे बोलो, परन्तु प्रबल डंडा अपने पास रखो" से हुई।

ओटो फन बिस्मार्क

1815-98। जर्मन राजमर्मज्ञ। प्रशा के प्रधानमन्त्री (1862-71) एवं जर्मनी के चान्सलर (1871-90), इन्होंने जर्मनी का प्रशा के नेतृत्व के अधीन एकीकरण किया तथा जर्मन साम्राज्य को एक महान् शक्ति बनाया।

ब्वायर युद्ध

1899 1902। दक्षिण अफरीका में अंग्रेज़ों एवं डच उपनिवेशियों (जिन्हें ब्वायर्स कहा जाता है) के बीच युद्ध।

चार्ल्स ई. बोहलेन

1904 - । अमरीकन राजनयज्ञ। सोवियत-संघ में राजदूत (1953-57)।

हेनरी सैंट जॉन बोलिंगब्रोक

1678 1751। अंग्रेज अनुदार राजमर्मज्ञ एवं लेखक।

सुभाष चन्द्र बोस

1897 1945। भारतीय राष्ट्रवादी, द्वितीय महायुद्ध के समय धुरी राष्ट्रों के साथ सहानुभूति रखने के कारण इन्हें कारागृह में रखा गया। ये भाग निकले, जर्मनी चले गये, और जापान द्वारा प्रयोजक 'भारतवर्ष की अन्तःकालीन सरकार' के अध्यक्ष बने।

बूरबों

राजसी परिवार, मूलत फ्रांस में था, और इसकी शाखाओं ने स्पेन, दोनों सिसिलियों, एवं पर्मा पर शासन किया, इस परिवार ने फ्रांसीसी क्रान्ति एवं नेपोलियन युग के अतिरिक्त सोलहवीं शताब्दी के अन्त से 1848 तक फ्रांस पर शासन किया।

बॉक्सर विद्रोह

1900। चीन में (विशेषकर पीकिंग में) विदेशियों एवं ईसाइयों पर विदेशियों के विरुद्ध बॉक्सर्स नामक एक सैनिक संगठन ने तीव्र आक्रमण किये।

कैलॉग-ब्रिया समझौता

एक सन्धि, जिसे पेरिस का समझौता भी कहते हैं, और जिस पर 1928 में संयुक्त-राज्य एवं 43 अन्य राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किये। इस सन्धि के हस्ताक्षरकर्ताओं ने यह प्रतिज्ञा की कि वे राष्ट्रीय नीति के यन्त्र के रूप में युद्ध का परित्याग करेंगे, तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा केवल शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा करने का प्रयत्न करेंगे। यह मुख्यतः संयुक्त-राज्य के राज्य-सचिव कैलॉग तथा फ्रांस के विदेश मन्त्री ब्रिया की कृति थी।

जॉन ब्राइट

1811 89। इगलैंड की ससद क सदस्य। इगलड मे मध्यवर्गीय सुधार क हेतु विचारधारा क उदारवादी समथक।

जेम्स ब्राइस

1838 1922। अग्रज इतिहासकार राजममन राजनयज्ञ एव विधि वेत्ता। सयुक्त राज्य मे ये मुख्यत अमरीकन समाज एव राजनीति के अपने शास्त्रीय अध्ययन **दी अमेरिकन कामनवेल्थ** (1888) तथा सयुक्त राज्य म राजदूत होने क लिये (1907 13) प्रख्यात हैं।

निकोले आई बुखारिन

1888 1938। रूसी साम्यवादी लेनिन की म यु क पश्चात् दल क प्रमुख सिद्धान्तवादी पोलिटब्युरो क सदस्य 1938 क शुद्धिकरण मे फासी दे दी गई।

एडमण्ड बक

1729 97। अग्रज राजममन तथा प्रबुद्ध रूढिवाद क राजनीतिक दार्शनिक।

जान बन्स

1858 1943 अग्रज समाजवादी एव ससद के सदस्य (1892 1918)।

जूलियस सीज़र

100 44 ईसा पूव। रोमन राजममन एव जनरल, जिन्होने रोमन साम्राज्य का सस्थापन किया।

जान सी० केलहून

1782 1850। अमरीकन राजममन एव राजनीतिक दार्शनिक। दक्षिणी प्लैंटर कुलीन तन्त्र क हितो क प्रतिरक्षक तथा अकृतिकरण क सवैधानिक सिद्धान्त क लेखक। युद्ध मत्री (1817 25), उपराष्ट्रपति (1825 29) राज्य सचिव (1844 45)।

जूल एम० कैम्बो

1845 1935। फ्रासीसी राजनयज्ञ पियर पाल कैम्बो क भाई। स्पेनिश अमरीकन युद्ध क समय सयुक्त राज्य मे स्पेन मे (1902 7), तथा जमनी म (1907-14) राजदूत।

पियर पाल कैम्बो

1843 1924। फ्रासीसी राजनयज्ञ, जूले कैम्बो क भाई। इगलैड मे राजदूत क रूप मे (1898 1920) इन्होने मैत्रीपूण समहित (1904) एव 1907 क आग्ल रूसी समझौते की रचना में सहायता की, तथा इगलैन्ड को प्रथम विश्व-युद्ध म प्रवेश करने क लिये प्रोत्साहित किया।

जार्ज केनिंग

1770-1827 । अंग्रेज राजमर्मज्ञ, विदेश मन्त्री (1807-9, 1822-27) ।

कार्थेज की शान्ति

तृतीय प्यूनिक युद्ध, 149 46 ईसा पूर्व के अन्त में 146 ईसा पूर्व में रोम द्वारा कार्थेज का विनाश ।

राबर्ट एस० कैसलरी

1769-1822 । अंग्रेज अनुदार राजमर्मज्ञ । युद्ध मन्त्री (1805, 1807-9), विदेश मन्त्री (1811-22)

महान् कैथरीन (द्वितीय कैथरीन)

रूस की जारिना (1762-96) । रूसी साम्राज्य का, मुख्यत. टर्की की हानि कर, विस्तार किया एव उसे सुदृढ बनाया ।

केटो (बड़ा)

234-149 ईसा पूर्व । रोमन राजमर्मज्ञ, कार्थेज के कठोर शत्रु, उनके प्रभाव से तृतीय प्यूनिक युद्ध के प्रारम्भ होने मे सहायता मिली ।

कैमिलो बी० कैवूर

1810-61 । इटली के राजमर्मज्ञ, सार्डीनिया के प्रधानमन्त्री (1852-59, 1860 61), इटली का राजनीतिक एकीकरण इनके कारण हुआ ।

चैको युद्ध

1932-35 । चैको प्रदेश के स्वामित्व पर बोलीविया एव पैरागवे के बीच युद्ध ।

जोजेफ चेम्बरलेन

1836-1914 । अंग्रेज राजमर्मज्ञ । उपनिवेश मन्त्री (1895 1903) के रूप मे इन्होने साम्राज्य के प्रसार, दृढीकरण एव सुधार का समर्थन किया ।

नेविल चेम्बरलेन

1869-1940 । अंग्रेज राजमर्मज्ञ, जोजेफ चेम्बरलेन के पुत्र । प्रधानमन्त्री के के रूप मे (1937-40) ये धुरी राष्ट्रों के प्रति 'तुष्टीकरण' की नीति के समर्थक थे, नार्वे मे इगलैंड की आकस्मिक पराजय (अप्रैल, 1940) के पश्चात् पद-त्याग करने के लिये बाध्य हुए ।

शार्लमेन

'पश्चिम' का सम्राट् (800-814); फ्रैंको का राजा (768-814) ।

द्वितीय चार्ल्स

इगलैंड, स्काटलैंड, आयरलैंड के राजा (1660-85)।

पाँचवे चार्ल्स

होली रोमन साम्राज्य के सम्राट् (1519-58) तथा (प्रथम चार्ल्स के रूप मे) स्पेन के राजा (1516-56)।

आठवें चार्ल्स

फ्रास के राजा (1483 98) 1494 मे इटली पर आक्रमण किया, स्पेन के पाँचवे फर्डीनेंड, सम्राट् प्रथम मेक्सीमिलियन, पोप छठे अलेक्जेंडर, तथा मिलान एवं वेनिस के शासको द्वारा निर्मित लीग' द्वारा पीछे हटने को बाध्य हुए।

फिलिप डारमर स्टैनहोप, चेस्टरफील्ड के चौथे अर्ल

1694-1773। अंग्रेज राजमर्मज्ञ एव लेखक।

विन्सटन एल० एस० चर्चिल

1874- अंग्रेज राजमर्मज्ञ एव लेखक। एडमिरेल्टी के प्रथम लार्ड (1911-15, 1939-40), प्रथम विश्व-युद्ध के पूर्व एव पश्चात् मत्रि परिषद् मे अनेक पद ग्रहण किये, प्रधान मन्त्री (1940-45, 1951-55)।

कार्ल फन कलाउजविट्स

1780-1831। प्रशा के जनरल एव सैनिक रणविद्या के लेखक। इनकी श्रेष्ठ कृति 'ऑन वार'' का सैनिक रणविद्या एव समर तत्र तथा युद्ध के सिद्धान्त पर असाधारण प्रभाव पड़ा है।

जार्ज क्लेमान्सो

1841-1929। फ्रांसीसी राजमर्मज्ञ, दो बार प्रधान मन्त्री (1906 9, 1917-19) पेरिस शान्ति सम्मेलन (1919) मे वुड्रो विलसन के प्रमुख विरोधी।

रिचर्ड कावडन

1804 65। अंग्रेज राजमर्मज्ञ, उदारवादी सुधार-आन्दोलन मे नेता, अबाध व्यापार के प्रोत्साहन से विशेष सहानुभूति।

कोलम्बो योजना

एक ब्रिटिश राष्ट्रमडल योजना, जिसकी स्थापना दक्षिण एव दक्षिणपूर्व एशिया मे सहकारी आर्थिक विकास के अभिप्राय से 1951 मे हुई।

पियर कार्नीत

1606-84 फ्रांसीसी नाटककार।

यूरोप की परिषद्

ग्रेट-ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, नेदरलैंड्स लक्जमबर्ग, नार्वे, स्वीडन, डेनमार्क, आयरलैंड, एवं इटली के प्रतिनिधियों द्वारा 1949 में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय निकाय, 1950 में इसमें ग्रीस और टर्की सम्मिलित हो गये। मन्त्रियों की अपनी समिति तथा परामर्श सभा के कार्य के द्वारा एक यूरोपीय संघ की स्थापना करना इस परिषद् का लक्ष्य है।

राष्ट्र-संघ की प्रसंविदा

राष्ट्र-संघ का संविधान।

क्रीमिया युद्ध

1854-56। इस युद्ध में फ्रांस, ग्रेट-ब्रिटेन एवं टर्की रूस के विरुद्ध संधित थे। इस युद्ध का अन्त करने वाली पेरिस की सन्धि (1856) ने डैन्यूब के प्रदेशों को महान् शक्तियों की संयुक्त गारंटी के अधीन कर दिया, काला सागर सन्तुलित कर दिया, तथा इसके हस्ताक्षरकर्ताओं ने टर्की की स्वतन्त्रता एवं अविच्छिन्नता का सम्मान करने की प्रतिज्ञा की।

एमरिक क्रूचे

1590-1648। ला नोवें सीनी (1623) में क्रूचे ने राजदूतों की एक परिषद् का वर्णन किया, जिसमें सभी राजाओं एवं सम्पूर्ण प्रभुसत्ता-सम्पन्न गणराज्यों का प्रतिनिधित्व होगा, तथा जो अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का बहुमत वोट द्वारा निर्णय करेगी एवं अपने निर्णयों का प्रवर्तन करेगी।

डेमोस्थनीज

384-322 ईसापूर्व। सबसे महान् यूनानी वक्ता। इन्होंने अपनी "फिलिपिक्स" (351, 344, 341 ईसापूर्व) में द्वितीय फिलिप के मेसिडन की धमकी के विषय में एथीनियनों को चेतावनी दी, जिसने यूनान पर 338 ईसापूर्व में विजय प्राप्त करली।

रेने डेकार्ट

1596-1650। फ्रांसीसी दार्शनिक।

डेनी डिडरो

1713-84। फ्रांसीसी दार्शनिक एवं साहित्यिक।

बेंजामिन डिजरेली

1804-81। अंग्रेज राजमर्मज्ञ एवं लेखक, प्रधानमंत्री (1867-68, 1874-80)। अनुदार दल को साम्राज्यवाद एवं लोकतन्त्रीय सुधार की दोहरी नीति द्वारा पुनः सशक्त बनाया।

प्रथम एलिजाबेथ

इगलैंड की रानी (1558 1603)।

डेसीयिरियस इरासमस

1469 1536। पुनर्जागरण के मानववादियों में से एक।

यूरोपीय रक्षा समुदाय

एक सामान्य रक्षा शक्ति की स्थापना के अभिप्राय से फ्रांस, जर्मनी इटली, बेल्जियम, नदरलैंड, एवं लक्जमबर्ग में 1952 में समझौता हुआ।

यूरोपीय अदायगी संघ

इस संगठन की स्थापना यूरोपीय आर्थिक सहयोग के संगठन (ओइइसी) के सदस्यों द्वारा अन्तर्यूरोपीय मुद्राओं का विकास एवं इन्हें सुगम करने के अभिप्राय से 1950 में की गई। यह संघ सदस्यों को अपने लेन देन अन्य सदस्य राज्यों के साथ सन्तुलित करने के योग्य बनाता है। इसके लिये सदस्य किसी देश के साथ बाकी राशि का निपटारा करने के हेतु किसी भी विदेशी मुद्रा का प्रयोग कर सकते हैं।

विदाई अभिभाषण

1796। अपने दूसरे प्रशासन के अन्त में पद से निवृत्ति प्राप्त करने पर राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन का अपने देशवासियों को परामर्श।

फ्रांसवा फेनेलाँ

1651 1715। फ्रांसीसी अध्यात्मवादी एवं लेखक कैम्बराय के आर्कबिशप।

जोहान गोटलीब फिक्टे

1762 1814। जर्मन दार्शनिक।

फर्दीनां फोश

1851 1929। फ्रांस के मार्शल मार्च 1918 में प्रथम महायुद्ध के काल में सम्मिलित संश्रित राष्ट्र कमान के अध्यक्ष।

चार स्वतन्त्रतायें

लैंड लीज (Lend Lease) 6 जनवरी, 1941 को प्रस्ताव करते हुए राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी रूजवेल्ट ने संसद को भेजे गये अपने संदेश में कहा कि विश्व में सर्वत्र चार स्वतन्त्रताएं प्राप्त होनी चाहिये—भाषण की स्वतन्त्रता, उपासना की स्वतन्त्रता, अभाव से स्वतन्त्रता, तथा भय से स्वतन्त्रता।

चौदह नियम

संधित राष्ट्रों के युद्ध के समय के उद्देश्य एवं एक सामान्य शान्ति-कार्यक्रम का राष्ट्रपति वूड्रो विलसन द्वारा निरूपण, जिन्हें उन्होंने संसद के समक्ष 8 जनवरी, 1918 को एक अभिभाषण में रखा।

प्रथम फ्रान्सिस

फ्रांस के राजा (1515-47)।

द्वितीय फ्रान्सिस

होली रोमन साम्राज्य के अन्तिम सम्राट् (1792-1806) आस्ट्रिया के प्रथम सम्राट् (प्रथम फ्रान्सिस के रूप में 1804 35), बोहेमिया एवं हंगरी के राजा (1792-1835)।

बेंजामिन फ्रैंकलिन

1706 90। अमरीकन राजमर्मज्ञ, मुद्रक, वैज्ञानिक एवं लेखक। अमरीकन क्रान्ति एवं नवोदित राष्ट्र के सबसे महान् राजनयज्ञों में से एक, नवीन गणराज्य को फ्रांस द्वारा मान्यता प्रदान करवाने (1778) एवं 1782 में ग्रेट-ब्रिटेन के साथ सन्धि की वार्ता करने में प्रमुख भाग लिया।

द्वितीय फ्रेडरिक (महान् फ्रेडरिक)

प्रशा के राजा (1740 86)। अपने देदीप्यमान सैनिक समरतंत्र द्वारा, विशेषकर आस्ट्रिया के उत्तराधिकार के युद्ध (1740 48) एवं सप्त-वर्षीय-युद्ध (1756 63) में इन्होंने प्रशा को यूरोप में प्रमुख सैनिक शक्ति बना दी।

सर ऐन्ड्रू फ्रीपोर्ट

रिचर्ड स्टील एवं जोजफ एडीसन के द्वारा आविष्कार किये गये उन पात्रों में से एक, जो अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में प्रकाशित होने वाले दैनिक अंग्रेजी समाचार पत्र 'स्पेक्टेटर' में प्रचलित मामलों पर उनके विचारों के लिये प्रवक्ता का काम करता था।

चार्ल्स डी गॉल

1890- । फ्रांसीसी जनरल एवं राजमर्मज्ञ। द्वितीय विश्व-युद्ध में उन्होंने 1940 में फ्रांस एवं जर्मनी के बीच युद्ध विराम का विरोध किया, इंगलैंड भाग गये, तथा युद्ध करने वाले फ्रांसीसियों तथा फ्रांसीसी अन्त कालीन सरकार के नेता बने। युद्ध के पश्चात् के फ्रांस में वे राष्ट्रवादी- रूढ़िवादी दल, आर. पी एफ के नेता थे, तथा 1958 में पाँचवें गणराज्य में वे राष्ट्रपति निर्वाचित हुए।

जेनोआ का गणराज्य

इटली की एक सामुद्रिक शक्ति जो चौदहवीं शताब्दी म अपनी शक्ति के शिखर तक पहुच गई । 1805 म इसे फ्रास क साथ विजय के द्वारा मिला लिया गया, तथा 1815 म सार्डीनिया के राज्य के साथ इसे सयुक्त कर दिया गया ।

तृतीय जार्ज

ग्रेट ब्रिटेन एव आयरलैंड के राजा (1760 1820) ।

षष्ठ जार्ज

ग्रेट ब्रिटेन के राजा (1936 52) ।

जोहान वोल्फगाग फन गेटे

1749 1832 । जर्मनी के कवि, नाटककार एव उपन्यासकार ।

निकोले वी गोगल

1809 52 । रूसी उपन्यासकार एव नाटककार ।

अच्छे पड़ौसी की नीति

एक वाक्यांश, जिसे अपनी नीति बतलाने के लिय राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट न चुना । यह नीति राष्ट्रपति हूवर क प्रशासन म प्रारम्भ की गई । और इसका उद्देश्य मैत्रीपूर्ण सहयोग क पक्ष मे लटिन अमरीका म सैनिक हस्तक्षप का परित्याग करना था ।

एडवर्ड ग्र प्रथम वाइकाउट ।

1862 1933। अग्रेज राजममज्ञ । विदश सचिव (1905 16) के रूप म त्रिराष्ट सश्रय के निर्माण मे इनका प्रमुख भाग था ।

ह्यूगो ग्रोशस

1583 1645 । डच विधिवत्ता एव मानवतावादी अन्तर्राष्टीय कानून के पिता' । अन्तर्राष्टीय कानून पर प्रथम सुव्यवस्थित पुस्तक लिखी (डी ज्योरे बली एत पेसिस) ।

फ्रासेस्को गीसियारडिनी

1483 1540 । इटली क इतिहासकार एव राजनयज्ञ । मैक्यावली क अनुयायी गीसियारडिनी इटली के युद्धो (1492 1534) के समय के अपन इतिहास के लिये प्रमुख रूप स प्रख्यात हैं ।

फ्रास्वा गीजो

1787 1874 । फ्रासीसी इतिहासकार एव उदारवादी राजममज्ञ ।

गुस्टाफस एडोल्फस

1594-1632। स्वीडन के राजा, तीस-वर्षीय युद्ध मे प्रोटेस्टेन्टों के नेता।

हेग-उपसन्धियाँ

सन्धियाँ, जिनपर 1899 एवं 1907 के हग-शान्ति-सम्मेलनों के फलस्वरूप सयुक्त-राज्य एव अन्य महान् शक्तियों ने हस्ताक्षर किये। इन के द्वारा तथाकथित *"विवाचन के स्थायी न्यायालय"* का प्रबन्ध किया गया, भूमि-युद्ध के कानूनों एवं प्रथाओं तथा तटस्थ राष्ट्रों के अधिकारों एव दायित्वों आदि की परिभाषा दी गई।

एलेक्ज़ेंडर हैमिल्टन

1757-1804। अमरीकन राजमर्मज्ञ। सवात्मक सवैधानिक सम्मेलन मे प्रतिनिधि, जहाँ वे एक केन्द्रीकृत सरकार के प्रबल समर्थक थे; मेडीसन एव जे के साथ 'फेडरलिस्ट पेपर्स" के लेखक। वित्त-मन्त्री एव वाशिंगटन के समय फेडरलिस्ट दल के नेता के रूप में हैमिल्टन ने विदेशी एव वित्तीय मामलों पर बहुत प्रभाव डाला।

हैनीबाल

247-182 ईसा पूर्व, कार्थेज का जनरल, दूसरे प्यूनिक-युद्ध (218-201 ईसा पूर्व) मे आल्प्स को पार कर इटली पर आक्रमण किया।

हैप्सबर्ग

आस्ट्रिया पर 1282-1918 तक शासन करने वाला घराना, 1438 से लेकर 1806 तक इसी मे से होली रोमन साम्राज्य के सम्राट चुने जाते थे।

जार्ज विलहल्म फ्रीडरिक हेगल

1770-1831, जर्मन दार्शनिक।

द्वितीय हैनरी

फ्रान्स के राजा (1547-59), सम्राट् पाँचवे चार्ल्स एव चार्ल्स के पुत्र स्पेन के द्वितीय फिलिप के विरुद्ध अपने पिता प्रथम फ्रांसिस का संघर्ष जारी रखा।

सातवें हेनरी

इंगलैंड के राजा (1509-47)।

रूडोल्फ हिल्फर्डिंग

1877-1941। जर्मन समाजवादी एव अर्थशास्त्री, वित्त-मन्त्री (1923, 1928-29)।

टामस हाब्स

1588-1679 । अंग्रेज दार्शनिक ।

जान ए हाब्सन

1858-1940 । अंग्रेज अर्थशास्त्री ।

होली रोमन साम्राज्य

962-1806 । एक पाश्चात्य यूरोपीय राजनीतिक सत्ता, जो 476 मे निलंबित हो जाने वाले रोमन साम्राज्य का उत्तराधिकारी होने का दावा करती थी । यद्यपि यूरोपीय राष्ट्रो ने इसका अधिराजत्व स्वीकार नहीं किया, तथापि सोलहवी शताब्दी तक यह एक यूरोपियन राष्ट्रमंडल बना रहा । तीस वर्षीय युद्ध (1618-48) के फलस्वरूप इसका सम्पूर्ण राजनीतिक महत्त्व प्राय समाप्त हो गया, और 1806 मे यह विघटित हो गया ।

कार्डेल हल

1871-1955 । संयुक्त राज्य के राज्य-सचिव (1933-44) ।

पुनर्निर्माण एव विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक

संयुक्त-राष्ट्र-संघ के साथ सम्बद्ध एक स्वायत्त-संस्था । इसका कार्य सदस्य राष्ट्रो एव विदेशी निवेशको को इस अभिप्राय से कर्जा देना है कि उत्पादनकारी निवेश सरल हो सके, विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिले तथा, अन्तर्राष्ट्रीय ऋणो का निर्वहण हो सके ।

तोल एव माप के लिए अन्तर्राष्ट्रीय ब्यूरो

तोल एव माप मानकीकरण के हेतु 1875 मे स्थापित अन्तर-सरकारी संगठन । 1949 से संयुक्त राष्ट्र के साथ सम्बद्ध ।

अन्तर्राष्ट्रीय सिविल विमानन संगठन

1947 मे संगठित एव संयुक्त-राष्ट्र से सम्बद्ध , अन्तर्राष्ट्रीय वायु-व्यापार का विस्तार करना तथा इसे अधिक सुरक्षित एव अधिक मितव्ययपूर्ण बनाना इसका उद्देश्य है ।

अन्तर्राष्ट्रीय डैन्यूब आयोग

नदी के अन्तर्राष्ट्रीयकरण किये गये भाग का प्रशासन करने के लिये वर्साई की सन्धि-(1919) द्वारा स्थापित , 1936 मे जर्मनी द्वारा इसका प्रत्याख्यान किया गया तथा 1940 मे इसे विघटित कर दिया गया ।

कृषि का अन्तर्राष्ट्रीय संस्थान

कृषि-सम्बन्धी ज्ञान के संग्रह एव प्रसार के अभिप्राय से 1905 मे इसकी स्थापना की गई ।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा निधि

1947 से संयुक्त-राष्ट्र के साथ सम्बद्ध स्वायत्त-संगठन, पुनर्निर्माण एवं विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के साथ घनिष्ठतापूर्वक सहयोग प्रदान करता है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को सुविधाजनक बनाना, मुद्रा-विषमताओं को कम करना तथा मुद्राओं को स्थिर करना इसका उद्देश्य है।

अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ

सभी प्रकार के दूर-संचार के विकास एवं तर्कनापरक प्रयोग के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बनायें रखना और बढाना इसका उद्देश्य है। 1865 में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय तार-संघ और 1906 में स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय-रेडियो तार-संघ के एकीकरण से 1934 में इसकी स्थापना हुई।

अन्तर्राष्ट्रीय तार-संघ

1865 में स्थापना हुई, और यह संगठन प्रथम महत्त्वपूर्ण लोक-अन्तर्राष्ट्रीय-संघ था। 1934 में यह दूर-संचार संघ कहलाने लगा, अब संयुक्त-राष्ट्र की यह एक विशेष ऐजेन्सी है।

विलियम जेम्स

1842 1910। अमरीकन दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक।

जॉन जे

1745-1829। महाद्वीपीय सम्मेलन (1778) के अध्यक्ष, सहायता एवं मान्यता प्राप्त करने के उद्देश्य से स्पेन में पूर्णाधिकार प्राप्त राजदूत (1779), ग्रेट-ब्रिटेन के साथ संधि सम्बन्धी वार्ता करने वाले कमिश्नरों में से एक। हैमिल्टन एवं मेडिसन के साथ 'फेडरलिस्ट पेपर्स' के लेखक। राज्य-सचिव (1784-89) सर्वोच्च न्यायालय के प्रथम मुख्य न्यायाधीश (1789 95)। पेरिस की संधि-(1783) के उल्लंघन से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का निपटारा करने के लिए इन्होंने इंगलैंड से जे-संधि (1794) की।

टामस जैफरसन

1743-1826। संयुक्त-राज्य के तृतीय राष्ट्रपति (1801-9)। स्वतन्त्रता की घोषणा के लेखक, वर्जीनिया के गवर्नर, महाद्वीपीय सम्मेलन में कार्य किया, फ्रैन्कलिन के पश्चात् फ्रांस में राजदूत बन (1785), राज्य-सचिव (1790-93)।

जॉन आफ सालसबरी

1115-80। अंग्रेज स्कोलेस्टिक दार्शनिक।

एमेनुवल काट

1724-1804। जर्मन-दार्शनिक।

कार्ल जोहन्न काउत्स्की

1854–1938 । जर्मन-आस्ट्रिया के समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्तवादी ।

जार्ज एफ केनन

1904- । अमरीकन राजनयज्ञ एवइतिहासकार। सोवियत-संघ मे राजदूत (1952) ।

कोरिया युद्ध

रूस एव संयुक्त-राज्य के बीच एक समझौते द्वारा निर्धारित युद्ध के पश्चात् की विभाजक रेखा अक्षांश 38 के पार उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिण कोरिया पर आक्रमण (जून 1950) होने के साथ इसका आरम्भ हुआ। संयुक्त-राष्ट्र ने एक प्रस्ताव पास किया (जून 25) जिसके अनुसार यह घोषित हुआ कि शान्ति भंग हुई है, तथा युद्ध-विराम एव उत्तर कोरिया की सेनाओं के पीछे हटने की माँग की गई । इसके पश्चात् संयुक्त-राज्य के कमान के अधीन संयुक्त-राष्ट्र की सेनाओं ने दक्षिण कोरिया का साथ दिया। जब संयुक्त राष्ट्र की सेनाए मंचूरिया की सीमा के समीप पहुँच गई, नवम्बर, 1950 में चीनी साम्यवादी उत्तर कोरिया के साथ हो गये । 1951 में पुन अक्षांश 38 पर युद्ध की रेखाएँ स्थिर कर दी गई । जुलाई 1953 मे युद्ध विराम हुआ ।

पियर लावाल

1883–1945 । फ्रांसीसी राजनीतिज्ञ, प्रधान मंत्री (1931–32) (1935–36), पिटैं के अधीन विशी सरकार के वास्तविक अधिनायक (1942 45), जर्मनी के साथ सहयोग करने के कारण द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् इन्हे फांसी दी गई ।

वी० आई. लेनिन

1870–1924। रूसी क्रान्तिकारी एव राजमर्मज्ञ, बोल्शेविकवाद, तृतीय इण्टरनैशनल, एव सोवियत-संघ के संस्थापक ।

प्रथम लियोपोल्ड

बेल्जियम के राजा (1831–65) ।

द्वितीय लियोपोल्ड

बेल्जियम के राजा (1865-1909) ।

लघु समहित (Little Entente)

1919 की यथापूर्वस्थिति की सामान्य रक्षा के लिये चेकोस्लोवेकिया रूमानिया एव यूगोस्लाविया मे 1920 एव 1921 के बीच की गई सत्रय की सन्धियाँ ।

डेविड लायड जार्ज

1863–1945। अंग्रेज राजममंज्ञ एव प्रथम विश्व-युद्ध के समय प्रधान-मंत्री।

लोकार्नो सन्धियां

1925। फ्रास और जर्मनी तथा बेल्जियम और जर्मनी की सीमाओं की पारस्परिक गारण्टी की एक सन्धि (जर्मनी, फ्रास, बेल्जियम, तथा गारटीकर्त्ता के रूप में ग्रेट-ब्रिटेन एव इटली द्वारा इस पर हस्ताक्षर किये गये), अनेक विवाचन सन्धियां, तथा जर्मनी द्वारा आक्रमण होने पर पारस्परिक सहायता के हेतु फ्रास एव पोलैंड के बीच तथा फ्रास और चेकोस्लोवेकिया के बीच एक सन्धि इनके अन्तर्गत थी। कुछ समय क लिये अन्तर्राष्ट्रीय कल्याण की भावना उत्पन्न हो गई, जिसे "लोकारनो की भावना" कहते हैं।

जॉन लॉक

1632 1704। अंग्रेज दार्शनिक।

ह्यूवे लांग

1893 1935। लूसियाना क गवर्नर (1928-31), सयुक्त-राज्य मे सिनेट के सदस्य (1931-35)।

चौदहवें लूई

फ्रास के राजा (1643-1715)।

पन्द्रहवें लूई

फ्रास के राजा (1715-74)।

सोलहवें लूई

फ्रास के राजा (1774-92)

एल्फ्रेडहेनरी लव

1830–1913। अमरीकन शान्तिवादी।

रोज़ा लक्जमबर्ग

1870-1919। जर्मनी के मार्क्सवादी, प्रथम विश्व-युद्ध मे स्पार्टाक्स दल की स्थापना की, तथा जर्मन साम्यवादी दल में इसके रूपान्तरण में सहायता की।

मेसेडोनिया का साम्राज्य

ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में महान् एलेक्जेंडर के शासन-काल मे यह अपनी शक्ति के शिखर तक पहुँच गया, ईसापूर्व दूसरी और पहली शताब्दी में यह रोम द्वारा पराजित हो गया, तथा उसके साथ मिला लिया गया।

निकोलो मैकियावेली

1469-1527 । इटली के राजनीतिक दार्शनिक एवं राजमर्मज्ञ ।

जेम्स मेडीसन

1751-1836 । हैमिल्टन एवं जे के साथ "फेडरलिस्ट पेपर्स" के लेखक, जेफरसन के अधीन, राज्य-सचिव (1801-8) जिनके पश्चात् ये राष्ट्रपति बने (1809-17) ।

मेगीनो रेखा

फ्रांस की उत्तरी सीमा पर किला-बन्दी की व्यवस्था, यह नाम फ्रांसीसी युद्ध-मन्त्री एन्ड्रे मेगीनो (1922-24, 1929-31) के कारण हुआ, जिन्होंने इसका निर्माण प्रारम्भ किया। इसे दुर्जेय समझा जाता था, परन्तु जब जर्मनी ने सेडान से इसमें प्रवेश किया, जिससे 1940 में फ्रांस पर आक्रमण प्रारम्भ हुआ, तब सम्पूर्ण रेखा व्यर्थ हो गई ।

एलफ्रेड थेयर मेहा

1840 1914 । अमरीकन इतिहासकार, नौ-सैनिक पदाधिकारी, एवं लोक-प्रचारक, इन्होंने सामुद्रिक शक्ति के सिद्धान्त का निरूपण किया, जिसका संयुक्त-राज्य, ग्रेट-ब्रिटेन, जर्मनी, जापान एवं रूस पर बहुत प्रभाव पड़ा ।

द्वितीय-महोमेत

1429-81 । टर्की के सुलतान (1451-81) । बीजेन्टाइन साम्राज्य पर विजय को पूर्ण किया, टर्की के साम्राज्य के संस्थापक ।

मैरिया थेरेसा

आस्ट्रिया-हंगरी की साम्राज्ञी (1740-80)

कार्ल-मार्क्स

1818-83 । जर्मनी के अर्थशास्त्री एवं सामाजिक दार्शनिक, जिन्होंने आधुनिक समाजवाद की सैद्धान्तिक नींव रखी ।

जूले मेजारें

1602-61 । फ्रांसीसी राजमर्मज्ञ, रोमन कैथोलिक चर्च के कार्डिनल । चौदहवें लूई के शासन-काल के प्रथम भाग में प्रमुख मन्त्री (1643-61) ।

मेडियेटाइज़ेशन

वह कार्य जिसके अनुसार होली रोमन-साम्राज्य में एक राज्य एवं साम्राज्य के बीच के तात्कालिक सम्बन्ध का एक उत्कृष्ट राज्य की मध्यस्थता के कारण

"मध्यस्थता" के सम्बन्ध मे रूपान्तर हो गया। तब से वह उत्कृष्ट राज्य साम्राज्य के साथ अपने सम्बन्धो मे उस राज्य का भी प्रतिनिधित्व करने लगा।

प्रिन्स क्लेमन्स फन मेटरनिक

1773-1859। ग्रास्ट्रिया के विदेश-मंत्री (1809-21), चान्सलर (1821-48) नेपोलियन के युद्धो के काल मे यूरोप की राजनय को रूप देने मे इनका प्रमुख भाग था, तथा 1845 से 48 तक ये यूरोप के प्रमुख राजमर्मज्ञ थे।

जॉन स्टूमर्ट मिल

1806-73। अंग्रेज दार्शनिक एव अर्थशास्त्री।

अल्पसंख्यक-वर्गों-सम्बन्धी सन्धियाँ

व सन्धियाँ, जो प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात की गई, तथा जिनके द्वारा केन्द्रीय एव पूर्वी यूरोप के अधिकतर राज्यो ने यह दायित्व स्वीकार किया कि वे अपनी सीमाओ के भीतर अल्पसंख्यक वर्गो को अपने धर्मों को मानने, अपनी भाषाएं बोलने तथा अपने बच्चो को अल्प सख्यक संस्कृतियो के अनुसार शिक्षित करने की स्वतन्त्रता प्रदान कर उनकी रक्षा करेंगे। इन अनुबन्धो के प्रवर्त न के लिये राष्ट्र-संघ उत्तरदायी था।

जॉन वाइकाउन्ट मॉर्ले

1838-1923। अंग्रेज उदारवादी राजमर्मज्ञ एव साहित्यकार।

म्यूनिक समझौता

सितम्बर 1938। 'तुष्टीकरण' की नीति चरम सीमा तक पहुंच गई। इगलैंड ने, जिसका प्रतिनिधित्व नेविल चेम्बरलेन ने किया, तथा फ्रान्स ने, जिसका प्रतिनिधित्व एडुवर्ड डैलाडियर ने किया, हिटलर की मांगो को स्वीकार कर लिया तथा जर्मनी को चेकोस्लोवेकिया मे सुडेटनलैंड-अधिकृत करने की अनुमति दे दी।

प्रथम नेपोलियन

1769-1821। फ्रांस के सम्राट् (1804-15)।

तृतीय नेपोलियन

1808-73। फ्रास के सम्राट् (1852-70), प्रथम नेपोलियन के भतीजे। 1848 की क्रान्ति के पश्चात् द्वितीय गणराज्य के राष्ट्रपति के रूप मे इन्होंने अपने को निरंकुश शासक और बाद मे सम्राट् बना लिया; फैंको-प्रशन-युद्ध (1870-71) के पश्चात् राज्य-त्याग कर दिया।

नेपोलियन के युद्ध

1796-1815। प्रथम नेपोलियन के सैनिक एवं राजनीतिक नेतृत्व में विभिन्न समयों में तथा अनेक समूहों में इंगलैंड, आस्ट्रिया, प्रशा, रूस, तथा यूरोप के अन्य देशों में से अधिकतर के विरुद्ध फ्रांस के द्वारा किये गये युद्ध। वाटरलू में नेपोलियन की पराजय के पश्चात् ये समाप्त हो गये।

राष्ट्रीय समाजवादी

राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन श्रमिक दल (संक्षेप में 'नात्सी'), जिसका प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् संस्थापन हुआ तथा हिटलर जिसका नेता था, के सदस्य।

जवाहर लाल नेहरू

1889- । भारतीय स्वतन्त्रता-आन्दोलन के एक नेता, 1929 से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अध्यक्ष, 1947 से स्वतन्त्र भारतवर्ष के प्रधान मंत्री।

फ्रीडरिक विल्हेम निट्शे

1844-1900। जर्मन दार्शनिक।

नौ शक्तियों की सन्धि

1922। चीन की प्रभुसत्ता, स्वतन्त्रता तथा प्रादेशिक एवं प्रशासन सम्बन्धी अविच्छिन्नता का सम्मान करने के लिये तथा मुक्त द्वार नीति के सिद्धान्त के समर्थन के हेतु संयुक्त-राज्य, ग्रेट-ब्रिटेन, जापान, और वाशिंगटन-सम्मेलन के अन्य 6 सदस्यों ने दायित्व स्वीकार किया।

लार्ड फ्रेडरिक नार्थ

1732-92। अंग्रेज प्रधान मंत्री (1770-82)।

न्यूरमबर्ग मुकदमे

1945-47। "युद्ध-अपराधों" के लिये नात्सियों के अन्तर्राष्ट्रीय सैनिक न्यायाधिकरण द्वारा मुकदमे, जिसकी बैठक न्यूरमबर्ग, जर्मनी में हुई।

नाई समिति

सिनेटर जेराल्ड पी० नाई (नार्थ डकोटा) की अध्यक्षता में सिनेट की समिति (1934-36), जिसकी स्थापना प्रथम विश्व-युद्ध में बैंकरों एवं युद्ध-सामग्री विनिर्माताओं के कार्य-कलाप की जांच करने के लिये हुई। इसने मुख्यतः यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि अमरीका के हस्तक्षेप के लिये युद्ध के मुनाफाखोर उत्तरदायी थे। इस विचारधारा की लोकप्रियता 1935-37 के तटस्थता सम्बन्धी कानून में प्रतिबिम्बित हुई।

मुक्त द्वार

चीन के प्रति संयुक्त-राज्य की नीति, जिसे प्रारम्भ में राज्य-सचिव जॉन हे ने महान् शक्तियों को भेजे गये समरूप पत्रों के रूप में, जिन में चीन में समान व्यापारिक अधिकारों क पालन के लिये कहा गया था, प्रवर्तित किया। 1900 में उसी प्रकार क एक पत्र द्वारा, जिसमें चीन की प्रादेशिक अविच्छिन्नता एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता का भी उल्लेख था, इसे विस्तृत कर दिया गया।

मॉरिस पेल्योलॉग

1849-1944। फ्रांसीसी राजनयज्ञ एवं लेखक, रूस में राजदूत (1914-17)।

हेनरी जे० टी० पामरस्टन

1784-1865। इंगलैंड के विदेशमंत्री (1830-41), प्रधानमंत्री (1855-58)।

पेरिस की सन्धि

1856। क्रीमिया-युद्ध देखें।

राबर्ट पील

1788-1850। ब्रिटेन के गृह-मंत्री (1822-27), प्रधानमंत्री (1834-35) (1841-46)।

विलियम पेन्न

आङ क्वेकर पेनसिलवेनिया के संस्थापक। अपने लेख एसे टुवार्ड्स दी प्रेजेंट एन्ड फ्यूचर पीस ऑफ यूरोप (1693) में पेन्न ने एक राष्ट्र संघ का विचार दिया, जिसमें विवादों का निर्णय विवाचन की एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा होगा।

स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

इसे विश्व-न्यायालय भी कहते हैं। राष्ट्र-संघ की प्रसंविदा के अनुसार 1921 में इसकी स्थापना हुई, जब संयुक्त-राष्ट्र के चार्टर में दिये गये अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को इसके कार्य प्रदान कर दिये गये, तब 1945 में यह समाप्त हो गया।

महान् पीटर (प्रथम पीटर)

रूस के ज़ार (1682-1725), आधुनिक रूसी राज्य के संस्थापक।

द्वितीय फिलिप

स्पेन, नेपल्स एवं सिसली (1556-98) के राजा तथा (प्रथम फिलिप के रूप में) पोर्चुगाल (1580-98) के राजा फिलिप की विदेश-नीति का ध्येय यूरोप के

महादेश में स्पेन के नेतृत्व का संरक्षण करना एवं अपधर्म पर रोमन चर्च की विजय प्राप्त करना था। इंगलैंड के विरुद्ध विनाशकारी अभियान किया, जिसके फलस्वरूप 1588 में स्पेन के जंगी बेड़े (स्पेनिश आरमेडा) की पराजय हुई।)

विलियम पिट (छोटा)

1759-1806। अंग्रेज राजमर्मज्ञ, प्रधान-मंत्री (1783-1801, 1804-6)।

पोस्टडैम समझौता

पोस्टडैम, जर्मनी में संयुक्त-राज्य, सोवियत-संघ, एवं ग्रेट-ब्रिटेन के सम्मेलन (1945) का परिणाम। जर्मनी में प्रमुख अधिकार अमरीकन रूसी अंग्रेज, एवं फ्रांसीसी अधिकृत प्राधिकारियों तथा चतुर्राष्ट्र सम्मिश्रित नियन्त्रण परिषद् को दे दिया गया, अनात्मीकरण, विसैन्यीकरण, तथा लोकतन्त्रीयकरण की शर्तें निर्धारित की गईं। चीन की सहमति के साथ जापान को आत्मसमर्पण की अन्तिम चेतावनी दी गई।

पियर जे० प्रुधा

1809-65। फ्रांसीसी सामाजिक दार्शनिक।

प्यूनिक-युद्ध

कार्थेज (जिसकी भाषा को "प्यूनिक" कहा जाता था) जिसका उत्तरी पश्चिमी अफ्रीका एवं पश्चिमी भूमध्यसागर पर नियन्त्रण था, तथा रोम के बीच युद्ध। प्रथम प्यूनिक-युद्ध, 264-241 ईसा पूर्व। द्वितीय प्यूनिक-युद्ध 218-201 ईसा पूर्व। तृतीय प्यूनिक युद्ध 149-146 ईसापूर्व। इनके अन्त के साथ कार्थेज का विनाश हो गया तथा रोम का पाश्चात्य विश्व में सबसे अधिक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उत्थान हुआ।

क्विसलिंग

राज्यद्रोही अथवा पंचमांगी। इस शब्द की उत्पत्ति विडकन क्विसलिंग से हुई, जो नार्वे का एक फासिस्ट नेता था तथा जिसने नार्वे पर विजय की तैयारी करने में हिटलर की सहायता की। बाद में यह प्रधान-मंत्री बनाया गया। 1945 में इसे फाँसी दे दी गई।

यां रेसीन

1639-99। फ्रांसीसी नाटककार

रेडियो तार-संघ

1906 में स्थापना हुई, वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार-संघ बनाने के लिये इसे अन्तर्राष्ट्रीय तार-संघ के साथ मिला दिया गया।

सुधार कानून

तीन विधेयक (1832, 1867, 1884), जिन्होंने इगलैंड की निर्वाचन प्रणाली मे सुधार किया तथा मताधिकार को विस्तृत बनाया।

डाइट ऑफ रिजेन्सबर्ग

होली रोमन साम्राज्य के राजाओं के राजदूतों की एक स्थायी कांग्रेस (1663-1806)।

राइनलैंड

जर्मनी के राजाओं का एक संघ, जिसका निर्माण प्रथम नेपोलियन के नेतृत्व में 1806 में हुआ।

आरमा या डू प्लेसी डू डा रिशेलू

1585-1642। फ्रांसीसी राजमर्मज्ञ, तेरहवें लूई के मन्त्री के रूप में (1624 42) सरकार पर नियन्त्रण रखा। रोमन कैथोलिक चर्च के कार्डिनल।

मैक्सीमिलियन मेरी इसीडोर रोब्सपियर

1758-94। एक उग्रवादी लोकतन्त्रीय दल—जैकोबिन्स—के अध्यक्ष के रूप में इन्होंने फ्रांसीसी क्रान्ति के समय आतंक के शासन को प्रोत्साहन दिया तथा फ्रांस के प्रायः निरंकुश शासक बन गये। इसके पश्चात् इन्हें फाँसी दे दी गई।

ज्यां ज्याक रूसो

1712-78। फ्रांसीसी दार्शनिक।

बर्नारडो रुसैले

1449-1514। इटली के इतिहासकार एवं राजनयज्ञ।

रूसी-फिनिश-युद्ध

1939-40। फिनलैंड पर रूसी आक्रमण (नवम्बर 30, 1939) के साथ प्रारम्भ हुआ, फिनलैंड के प्रतिरोध के समाप्त होने पर एक सौ दिनों के पश्चात् इसका अन्त हुआ। मार्च 12, 1940 की शान्ति-सन्धि में फिनलैंड ने यू० एस० एस० आर० को करेलियन संयोग भूमि (इस्थमस), वीपुरी का नगर, एवं नौसैनिक अड्डा, तथा 450,000 जनसंख्या के साथ 16 173 वर्गमील के क्षेत्र दे दिये।

चार्ल्स आई० सी० एबे सेन्ट पियरे

1658-1743। फ्रांसीसी सामाजिक दार्शनिक। अपनी "प्रोजेक्ट ऑफ परपीचुअल पीस" (1713) में इन्होंने विवाचन के एवं अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय,

युद्ध के परित्याग, तथा ईसाई राज्यो के एक सघ का, जो पारस्परिक सुरक्षा क हेतु एक शाश्वत सश्रय में बधे होगे समर्थन किया ।

लार्ड राबर्ट ग्रार्थर टैलबाट गेसकोग्रायन-सेसिल-सालसबरी

1830 1903। डिज़रेली के अधीन इगलैंड क विदेश मन्त्री (1878–80) प्रधान मन्त्री (1885, 1886 92, 1895-1902)।

सप्त वर्षीय युद्ध

1756 63। एक ओर फ्रास, आस्ट्रिया रूस सैकसनी, स्वीडेन, तथा (1762 क पश्चात्) स्पेन और दूसरी ओर प्रशा, ग्र ट ब्रिटेन एव हनोवर क बीच यूरोप, उत्तरी अमरीका, एव भारतवर्ष म लडा गया विश्वव्यापी युद्ध फ्रांस एव इग्लैंड के बीच औपनिवेशिक प्रतिद्वन्दिता तथा आस्ट्रिया एव प्रशा क बीच जमनी में सर्वोच्चता के लिये सघर्ष से इसका प्रारम्भ हुआ ।

स्पेन के उत्तराधिकार का युद्ध

यूट्रेक्ट की सन्धि देखें ।

हर्बर्ट स्पेन्सर

1820 1903 । अग्रेज दार्शनिक ।

स्टैर डेसिसिस

समान परिस्थितियो म कानून क समरूप सिद्धान्त को लागू करने में पूर्व उदाहरणो पर दृढ रहने का सिद्धान्त ।

फरिट्ज स्टर्नबर्ग

1895—। मार्क्सवादी लेखक ।

स्टोइक्स

स्टोइसिज्म के दर्शन, जिसका सस्थापन ईसा-पूव तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ म जनो ने किया, के समर्थक ।

मैक्सीमिलियां डा वेथून सल्ले

1560 1641 । फ्रासीसी राजमर्मज्ञ । इनका ग्रेण्ड डिजाइन सभी ईसाई राष्ट्रों के सघ के लिये एक योजना थी ।

विलियम ग्राहम समनर

1840 1910 । अमरीकन समाजशास्त्री एव अर्थशास्त्री , येल विश्व-विद्यालय म राजनीतिक एव सामाजिक विज्ञान के प्राध्यापक ।

अधिराजत्व

एक राज्य का दूसरे राज्य पर, जो प्रभुसत्ता के सभी बाह्य गुणों को सरक्षित रखता है, राजनीतिक नियन्त्रण।

कार्नेलियस टेसीटस

सी० 55-120। रोमन इतिहासकार।

चार्ल्स मॉरिस डा टालेरा

1754-1838। फ्रांसीसी विदेश-मन्त्री (1797-99, 1800-7, 1814-15)।

तेहरान सम्मेलन

तेहरान, ईरान मे रूजवेल्ट, चर्चिल एवं स्टालिन का 1943 मे सम्मेलन, फ्रांस पर आक्रमण के क्षेत्र एवं समय पर तथा जर्मनी के विरुद्ध कार्यवाही पर समझौता हुआ।

लुई एडॉल्फ थियर

1797-1877। फ्रांसीसी राजमर्मज्ञ, पत्रकार, तथा इतिहासकार। तीन बार प्रधानमन्त्री, तृतीय गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति (1871-73)।

फ्रांस का तृतीय गणराज्य

फ्रैंको-प्रशन युद्ध (1871) मे फ्रांस की पराजय से 1940 मे जर्मन दखल के अधीन विशी सरकार क निर्माण तक यह रहा।

तीस वर्षीय युद्ध

1618-48। एक सामान्य यूरोपीय युद्ध, जो मुख्यत: जर्मनी में लड़ा गया, यह मुख्यत जर्मनी के छोटे राजाओं तथा विदेशी शक्तियों-फ्रांस, डेनमार्क, इगलैंड का होली रोमन साम्राज्य के विरुद्ध, जिसका प्रतिनिधित्व आस्ट्रिया, जर्मनी, इटली, नदरलैंड्स, एव स्पेन मे हैप्सबर्ग ने किया, युद्ध था तथा प्रोटेस्टैंटों का कैथोलिकों के विरुद्ध धार्मिक युद्ध था।

थ्यूसेडाइड्स

460-400 ईसापूर्व। एथेन्स के इतिहासकार।

निकोलस टिटूलेस्कू

1883-1941। रूमानिया के राजमर्मज्ञ। विदेशी मन्त्री के रूप मे (1927-36) इन्होंने राष्ट्रसंघ द्वारा आयोजित सामूहिक सुरक्षा की नीति का समर्थन किया तथा चेकोस्लोवेकिया एव यूगोस्लाविया के साथ लघु समष्टि के निर्माताओ मे से वे एक थे।

एलक्सी डा टॉक वील

1805-59 । फ्रांसीसी राजमर्मज्ञ, राजनीतिक सिद्धान्तवादी, तथा इतिहासकार । 1831 मे अमरीका मे भ्रमण के पश्चात् इन्होंने 'डमोक्रेसी इन अमेरिका' (1835-40) लिखी, जो अमरीका के प्रजातत्र तथा सामान्य रूप से प्रजातन्त्र की प्रकृति का मार्मिक विश्लेषण है ।

ट्राजन

रोमन सम्राट् (98-117) ।

ट्रोपाओ की कांग्रेस

1820 । सिसली एव स्पेन के राजाओ क विरुद्ध उदारवादी विद्रोहों के दमन के हेतु साधनो पर विचार करने क लिये होली सधय के उपबन्धो क अधीन मेटरनिक द्वारा बुलाया गया अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन ।

ट्रूमैन सिद्धान्त

ग्रीक-टरकिश-सहायता-विधेयक के पक्ष म काग्रेस क समक्ष एक अभिभाषण म (मार्च 1947) राष्ट्रपति ट्रूमैन द्वारा इसकी रूपरेखा उपस्थित की गई। जो नीति ट्रूमैन सिद्धान्त कहलाने लगी, उसका अभिप्राय वास्तव मे समग्रवादी अपधर्षण का प्रतिनिर्पण करन का प्रयत्न करने वाली सरकारो को सहायता देकर साम्यवाद का विरोध करना है ।

स युक्त राष्ट्र आर्थिक एव सामाजिक परिषद्

सयुक्त राष्ट्र का मौलिक अग, जिसका कार्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एव सामाजिक प्रश्नो की जाच करना तथा महा सभा एव सयुक्त-राष्ट्र क अन्य अगो को कार्यवाही के लिय सूचना देना है ।

स युक्त-राष्ट्र खाद्य एव कृषि-स गठन

इसकी स्थापना ग्राम्य जीवन की स्थितियो म सुधार लाने, कृषि-उत्पादन एव वितरण को बढाने तथा पोषण क स्तर को ऊँचा करन क उद्देश्य से 1946 में हुई ।

सयुक्त राष्ट्र न्यास-परिषद्

सयुक्त-राष्ट्र के चार्टर के अनुसार अस्वाधीन क्षत्रो का पर्यवेक्षण करती है, न्यास-क्षेत्रो पर प्रशासन करन वाले तथा अन्य सदस्य राष्ट्रों की (सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्य सदा इनमे सम्मिलित होंगे) समान सख्या के सदस्य इसके सदस्य होते हैं ।

सार्वदेशिक डाक-संघ

बर्न, (स्विट्ज़रलैंड) में प्रधान केन्द्र के साथ 1875 में स्थापना हुई, 1947 में संयुक्त-राष्ट्र की एक विशेष एजेन्सी बन गई।

अनरा (UNRRA)

संयुक्त-राष्ट्र सहायता और पुनर्वास प्रशासन, जिसका संस्थापन युद्ध से ध्वस्त हुये देशों को सहायता देने के लिये 1943 में हुआ, 1947 में इसकी यूरोप में कार्यवाही समाप्त हो गई 1949 में इसे विघटित कर दिया गया।

द्वितीय अरबन

पोप (1088-99)।

यूट्रेक्ट की सन्धि

इंग्लैंड और हालैंड के द्वारा फ्रांस की पराजय के पश्चात् इससे स्पेन के उत्तराधिकारों का युद्ध (1701-4) समाप्त हुआ।

एमेरी डा वैटल

1714 67। स्विट्ज़रलैंड के दार्शनिक एवं विधिवेत्ता, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रमुख विद्वान्।

वेनिस का गणराज्य

पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दियों की महान् सामुद्रिक शक्तियों में एक, जिसके राजदूतों ने राजनय का एक महत्वपूर्ण कला में विकास किया। 1866 में वेनिस इटली के राज्य के साथ संयुक्त हो गया।

वरोना की कांग्रेस

1822। चतुर्राष्ट्रीय संश्रय के उपबन्धों के अधीन अन्तिम सम्मेलन, स्पेन में क्रान्ति के विषय में क्या किया जाए, इस पर विचार करने के लिये बुलाया गया। अंग्रेजी विदेश मंत्री कैनिंग के विरोध के विरुद्ध कांग्रेस ने इस विद्रोह के दमन के लिये एक फ्रांसीसी सेना भेजने का निर्णय किया।

वरसाई की सन्धि

प्रथम विश्व युद्ध का अन्त करने वाली प्रमुख सन्धि।

विक्टोरिया

इंग्लैंड की रानी (1837-1901) और भारत की साम्राज्ञी (1876-1901)

वियाना की कांग्रेस

1814-15। नेपोलियन के युद्धों के पश्चात् शान्ति-सम्मेलन, जिसमें

महान् शक्तियों-आस्ट्रिया, रूस, प्रशा, ग्रेट-ब्रिटेन तथा फ्रांस—ने समझौते की प्रादेशिक एवं राजनीतिक शर्तों को स्वीकार किया।

वाल्टेयर

1694-1778। फ्रांसीसी दार्शनिक एवं लेखक।

वाग्रम का संग्राम

1809 में वाग्रम आस्ट्रिया में प्रथम नेपोलियन ने अपनी सबसे अधिक देदीप्यमान विजयों में से एक प्राप्त की। 6 दिनों के पश्चात् आस्ट्रिया युद्ध-विराम के लिये बाध्य किया गया।

मैक्स वेबर

1864-1920। जर्मनी के सबसे अधिक प्रभावशाली समाजशास्त्री।

वाइमर का गणराज्य

1919-33। जर्मनी का राज्य, जिसकी स्थापना वाइमर के नगर में एक संविधानी सभा के द्वारा पास किये गये एक लोकतन्त्रीय संघात्मक संविधान के अन्तर्गत हुई।

आर्थर वेलस्ली ड्यूक आफ वेलिंगटन

1769 1852। अंग्रेज-सैनिक एवं राजमर्मज्ञ। इंगलैंड एवं सम्मिलित राष्ट्रों की सेनाओं के नेपोलियन के विरुद्ध युद्धों में (1808-15) कमांडर, वाटरलू में (1815) अपनी सबसे अधिक प्रख्यात विजय प्राप्त की, प्रधान-मंत्री (1828-30), विदेश मंत्री (1834-35)।

वेस्टफेलिया की सन्धि

1648। सामान्य निपटारा, जिससे तीस वर्षीय युद्ध समाप्त हुआ, होली रोमन साम्राज्य की शक्ति समाप्त हो गई और फ्रांस का प्रबल यूरोपीय शक्ति के रूप में उदय हुआ।

द्वितीय विलियम

1859-1941। जर्मनी के सम्राट् (1888-1918)।

तृतीय विलियम

1650-1702। इंगलैंड, स्काटलैंड, एवं आयरलैंड के राजा (1689-1702)।

विजेता विलियम (प्रथम विलियम)

1027 87। इंगलैंड के राजा (1066-87)।

वूडरो विलसन

1856-1924। संयुक्त-राज्य के सत्ताईसवें राष्ट्रपति (1913-21)

टामस वूल्जी

1472-1530। अंग्रेज राजमर्मज्ञ तथा रोमन कैथोलिक चर्च के कार्डिनल, प्रिवी कौंसिल के सदस्य तथा आठवें हैनरी के लार्ड-चान्सलर।

विश्व-स्वास्थ्य-संगठन

संयुक्त राष्ट्र—की विशेष एजेंसी, जिसकी स्थापना 1948 में हुई इसका उद्देश्य "सभी लोगों का स्वास्थ्य का उच्चतम स्तर प्राप्त करवाना" है।

याल्टा (अथवा क्रीमीया) समझौता

रूजवेल्ट चर्चिल, और स्टालिन की याल्टा, क्रीमिया, सोवियत संघ में एक बैठक (1945) का परिणाम, इसका सम्पूर्ण मूलपाठ 1947 तक प्रकट नहीं किया गया जर्मनी के दखल की शर्तें निर्धारित की गईं लोकतन्त्रीय आधार पर एक नवीन पोलैंड की स्थापना की प्रतिज्ञा की गई तथा हस्ताक्षरकर्त्ताओं को यह दायित्व स्वीकार करना पड़ा कि वे नात्सी अभिभावन से परिमुक्त देशों को संयुक्त सहायता दगें, जिसके फलस्वरूप वे "मुक्त' निर्वाचन "के द्वारा" लोगों की इच्छा के प्रति अनुक्रियाशील सरकारें स्थापित कर सकेंगे। संयुक्त-राष्ट्र में महान् शक्तियों के मतदान का सूत्र घोषित किया गया तथा सोवियत-संघ ने रूस-जापान युद्ध (1904 5) में खोए हुए कुछ प्रदेशों की पुनः प्राप्ति तथा उत्तरी चीनी रेलवे में संयुक्त चीनी रूसी कार्यवाही के बदले में जापान के विरुद्ध युद्ध में प्रवेश करने का वचन दिया।

ॐ

सन्दर्भ-ग्रंथों की सूची

सन्दर्भ-ग्रंथों की इस सूची का उद्देश्य पाठक को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की सामान्य समस्याओं से सम्बन्धित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और सुलभ साहित्य से परिचित कराना है। इस उद्देश्य से हमारे सामने तीन सीमायें उपस्थित हो गयी हैं। प्रथम, सूची में केवल चुनी हुई पुस्तकों को ही स्थान दिया गया है। द्वितीय, विशेष राष्ट्रों की विशिष्ट समस्याओं से सम्बन्धित विशाल साहित्य को इसमें समाविष्ट नहीं किया गया है। तृतीय, अंग्रेजी भाषा के प्रकाशनों को ही विशेष प्रमुखता प्रदान की गयी है।

पहले से दूसरे अध्याय तक

On political realism, see

ARON, RAYMOND. "*En Quete d'une Philosophie de la Politique Étrangère*," *Revue Française de Science Politique*, Vol 3, No 1 (Janvier-Mars, 1953), pp 69-91

BERLIN, ISAIAH, "Realism in Politics," *The Spectator*, Vol 193 December, 17, 1954), pp 774-6

BUTTERFIELD, HERBERT *Christianity and History*. New York Charles Scribner s Sons, 1950

BUTTERFIED, HERBERT *History and Human Relations* London Collins Press, 1951

BUTTERFIELD, HERBERT. "The Scientific vs the Moralistic Approach in International Affairs," *Internationel Affairs*, Vol 27, No 4 (October 1951), pp 411-22

BUTTERFIELLD, HERBERT *Christianity, Diplomacy and War* London: Epworth Press, 1953

CARLETON, WILLIAM G "Wanted. Wiser Power Politics," *The Yale Review*, Vol 41, No 2 (Winter 1952), pp 194-206

CARR, EDWARD HALLETT *The Twenty Year's Crisis, 1919 1939*. London Macmillan and Company, Limited, 1946.

COOK, THOMAS I., and MOOS, MALCOLM *Power through Purpose The Realism of Idealism as a Basis for Foreign Policy* Baltimore Johns Hopkins Press, 1954

CORBETT, PERCY E, *Morals, Law, and Power in International Relations* Los Angeles The John Randolph Haynes and Dora Haynes Foundation, 1956

HERZ, JOHN H *Political Realism and Political Idealism* Chicago University of Chicago Press, 1951

HOFFMANN, STANLEY H, "International Relations: The Long Road to Theory," *World Politics*, Vol 11, No 3, (April 1959), pp 346-77

MAYER, CARL, "Power and World Organization," *Christianity and Society*, Vol. 8, No 1 (Winter 1942), pp 11-18

MORGENTHAU, HANS J *Dilemmas of Politics* Chicago University of Chicago Press, 1958

MORGENTHAU, HANS J *In Defense of the National Interest*. New York Alfred A. Knopf, Inc, 1951.

MORGENTHAU, HANS J *Scientific Man vs Power Politics* Chicago University of Chicago Press, 1946

NIEBUHR, REINHOLD 'Politics and the Christian Ethic' *Christianity and Society* Vol 5, No 2 (Spring 1940), pp 24-8

NIEBUHR, REINHOLD *Christian Realism and Political Problems* New York Charles Scribner s Sons, 1953.

ROMMEN, HANS Realism and Utopianism in World Affairs,' *Review of Politics* Vol 6, No 2 (April 1944) pp 193-215.

SCHUMAN, FREDERICK L "International Ideals and the National Interest *The Annals of the American Academy of Political and Social Science*, Vol 280 (March 1952) pp 27 36

THOMSON, DAVID, MEYER, E, and BRIGGS, A *Patterns of Peacemaking* London Kegan Paul, Trench, Trubner and Company, Ltd, 1945

WOLFERS, ARNOLD "'National Security' as an Ambiguous Symbol,' *The Political Science Quarterly*, Vol 47, No 4 (December 1952), pp 481-502

On the study of international politics, see

CORBETT, PERCY E "Objectivity in the Study of International Affairs," *World Affairs*, Vol 4, No 3 (July 1950), pp 257-63

DUNN, FREDERICK S. "The Present Course of International Relations Research," *World Politics*, Vol 2, No 1 (October 1949), pp. 80-95

DUROSELLE, JEAN-BAPTISTE, "*L'Étude des Relations Internationales*," *Revue Française de Science Politique*, Vol. 2, No 4 (*Octobre-Décembre*, 1952) pp 676-701

GOODWIN, GEOFFREY L *The University Teaching of International Relations* Oxford H Blackwell, Ltd, 1951

GURIAN, WALDEMAR "The Study of International Relations," *Review of Politics*, Vol 8, No. 3 (July 1946), pp 275-82.

KIRK, GRAYSON *The Study of International Relations.* New York Council on Foreign Relations, 1947

MANNING C A W "The Pretensions of International Relations," *Universities Quarterly*, Vol 7, No. 4 (August 1953), pp 361-71

MARCHAND, P D, "Theory and Practice in the Study of International Relations," *International Relations*, Vol 1, No 3 (April 1955), pp. 95-102.

THOMPSON, KENNETH W. "The Study of International Politics A Survey of Trends and Developments," *Review of Politics*, Vol 14, No 4 (October 1952), pp 433-67

WEBSTER, C K *The Study of International Politics* Cardiff. University of Wales Press Board, 1923

WOODWARD, E L *The Study of International Relations at a University*. Oxford The Clarendon Press, 1945

WRIGHT, QUINCY, *The Study of International Relations* New York. Appleton - Century - Crofts, 1955.

तीसरे से सातवें अध्याय तक

For the concept of political power, see

BRYSON, LYMAN, FINKELSTEIN, LOUIS, and MACIVER, R M, editors *Conflicts of Power in Modern Culture* New York Harper & Brothers, 1947

DUNN, FREDERICK S *Peaceful Change* New York Council on Foreign Relations, 1937

GERTH H H., and MILLS, C WRIGHT, editors *From Max Weber Essays in Sociology* New York Oxford University Press, 1946

LASSWELL, HAROLD D *Politics Who Gets What, When, How* New York Whittlesey House, 1936

MANNHEIM, KARL *Man and Society in an Age of Reconstruction* New York Harcourt, Brace and Company, 1941

MERRIAM, CHARLES E. *Political Power Its Composition and Incidence* New York, Whittlesey House 1934

PARSONS, ELSIE CLOUSE *Social Rule A Study of the Will to Power.* New York G P Putnam's Sons, 1915

PARSONS, TALCOTT *The Structure of Social Action* New York McGraw-Hill Book Company, Inc, 1937

PARSONS, TALCOTT, editor *Max Weber The Theory of Social and Economic Organization* New York Oxford University Press, 1947

PLAMENATZ, JOHN, "Interests," *Political Studies*, Vol 2, No 1 (February, 1954), pp 1-8

RUSSEL, BERTRAND *Power* New York. W. W. Norton & Co, 1938.

WOLFERS, ARNOLD "The Pole of Power and the Pole of Indifference," *World Politics*, Vol 4, No 1 (October 1951), pp 39-63

Concerning the depreciation of political power, see in addition to the following books those cited under Part One, on political realism

ASH, MAURICE A "An Analysis of Power, with Special Reference to International Politics," *World Politics*, Vol 3, No 2 (January 1951), pp 218-37

BEARD, CHARLES A *The American Spirit A Study of the Idea of Civilization in the United States* New York The Macmillan Company, 1942

BEARD, CHARLES A *A Foreign Policy for America* New York Alfred A. Knopf, Inc, 1940.

BEARD, CHARLES A, and MARY R. *The Rise of American Civilization* Vol II, New York The Macmillan Company, 1927

BECKER CARL L. *How New Will the Better World Be?* New York Alfred A Knopf, Inc, 1944

CURTI, MERLE *The Growth of American Thought* New York: Harper & Brothers, 1943

NIEBUHR, REINHOLD *The Irony of American History* New York: Charles Scribner's Sons, 1952

OSGOOD, ROBERT E *Ideals and Self-Interest in America's Foreign Relations* Chicago. University of Chicago Press, 1953.

SILBERNER, EDWARD. *The Problem of War in Nineteenth Century Economic Thought* New York Oxford University Press, 1946

TEMPERLEY, HAROLD *The Victorian Age in Politics, War and Diplomacy* Cambridge At the University Press, 1928

VAGTS, ALFRED. "The United States and the Balance of Power," *The Journal of Politics* Vol 3 No 4 (November 1941), pp 401 49

For the general nature of international politics, see, in addition to the books cited under Part One

FERRERO, GUGLIELMO *The Principles of power The Great Political Crisis of History* New York G P Putnam s Sons, 1942

LASSWELL HAROLD D *World Politics and Personal Insecurity* New York McGraw Hill Book Company Inc 1935

LASSWELL HAROLD D *World Politics Faces Economics* New York McGraw Hill Book Company Inc 1945

SPYKMAN NICHOLAS *America s Strategy in World Politics The United States and the Balance of Power* New York Harcourt, Brace and Company, 1942

WIGHT, MARTIN *Power Politics* London Royal Institute of International Affairs, 1946

For the different aspects of imperialism, see

ARON, RAYMOND "The Leninist Myth of Imperialism," *Partisan Review*, Vol 18, No 6 (November-December, 1951), pp 646-62

[illegible]D, CHARLES A *The Devil [illegible]eory of War*. New York The [illegible]nguard Press, 1936

[illegible] ASHER "Business and [illegible]," *Fortune* (July 1950), p [illegible]

BUKHARIN, NIKOLAI I *Imperialism and World Economy* New York International Publishers, 1929

DELAISI FRANCIS *Political Myths and Economic Realities* New York The Viking Press, 1927

EINZIG, PAUL *Bloodless Invasion* London Duckworth, 1938

EINZIG, PAUL *Appeasement Before, During and After the War*. London Macmillan and Company, Limited, 1941.

FEIS, HERBERT *The Diplomacy of the Dollar* Baltimore John Hopkins Press, 1950

HALLGARTEN, GEORGE W F *Imperialismus vor 1914*, 2 vols Munich C H Beck, 1951

HANDMAN, MAX "War, Economic Motives, and Economic Symbols," *The American Journal of Sociology*, Vol 44, No 5 (March 1939), pp. 629-48

HASHAGEN, JUSTUS "*Der Imperialismus als Begriff*," *Weltwirtschaftliches Archiv*, Vol 15, No 2 (1919-20), pp 157-91.

HASHAGEN, JUSTUS "*Zur Deutung des Imperialismus*," *Weltwirtschaftliches Archiv*, Vol 15, No 2 (1919-20), pp 134 51.

HEIMANN, EDUARD "Schumpeter and the Problems of Imperialism," *Social Research*, Vol 19, No 2 (June 1952), pp 177-97

HOBSON, JOHN A *Imperialism* London G Allen and Unwin, 1938

HOVDE, BRYNJOLF J "Socialist Theories of Imperialism Prior to the Great War," *Journal of Political Economy*, Vol, 36, No 5 (October 1928), pp 569 91

KOEBNER, R. "The Emergence of the Concept of Imperialism,"

The Cambridge Journal, Vol 5, No 12 (September 1952), pp 726-41

LANGER, WILLIAM L *The Diplomacy of Imperialism* New York Alfred A Knopf, Inc, 1935

MARCK, SIEGFRIED *Imperialismus und Pazifismus als Weltanschauungen* Tubingen J C B Mohr, 1918

MOON, PARKER THOMAS *Imperialism and World Politics*. New York The Macmillan Company, 1926

NEARING, SCOTT *The Tragedy of Empire* New York Island Press, 1945

ROBBINS, LIONEL *The Economic Causes of War* London Jonathan Cape, 1939

ROBBINS, LIONEL *The Economic Problem in Peace and War: Some Reflections on Objectives and Mechanisms* New York The Macmillan Company, 1948

SCHUMPETER, JOSEPH *Imperialism and Social Classes* New York Augustus M Kelley, 1951

SEILLIÈRE, ERNEST *Introduction a la philosophie de l impérialisme* Paris Félix Alcan, 1911.

STALEY, EUGENE *War and the Private Investor A Study in the Relations of International Private Investment* New York: Doubleday, Doran and Company, Inc, 1935

SULZBACH, WALTER *"Capitalist Warmongers"— A Modern Superstition* Chicago University of Chicago Press, 1942

VINER, JACOB *International Economics* Glencoe The Free Press, 1951, pp 49-85 and 216-31

WINSLOW, E. M *The Pattern of Imperialism*. New York Columbia University Press, 1948.

On the policy of prestige, see in addition to the following books the literature cited under (31 से 32 अध्याय तक)

NICOLSON, HAROLD *The Meaning of Prestige* Cambridge The University Press, 1947

The fundamental work on political ideologies is

MANNHEIM, KARL *Ideology and Utopia An Introduction to the Sociology of Knowledge*, with a Preface by Louis Wirth New York Harcourt, Brace and Company, 1936

See also

BURRS, RICHARD V "A Conception of Ideology for Historians," *Journal of the History of Ideas*, Vol 10, No 2 (April 1949), pp 183 98

ROUCEK, JOSEPH S "A History of the Concept of Ideology," *Journal of the History of Ideas*, Vol 5, No 4 (October 1944), pp 479-88

आठवें से लेकर दसवें अध्याय तक

On national power in general, see

BALDWIN, HANSON W *The Price of Power* New York Harper & Brothers, 1948

BEARD, CHARLES A *The Idea of National Interest* New York The Macmillan Company, 1934

EMENY, BROOKS *Main springs of World Politics* New York Foreign Policy Association Headline Series No 42, 1943

STRAUSZ HUPE ROBERT *The Balance of Tomorrow* New York G P Putnam s Sons, 1945

On nationalism see

BARKER, ERNEST *Christianity and Nationality* London Oxford University Press, 1927

BARON SALO WITTMAYER *Modern Nationalism and Religion* New York Harper & Brothers, 1947

CARR EDWARD HALLETT *Nationalism and After* New York The Macmillan Company, 1945

CHADWICK H MUNRO *The Nationalities of Europe and the Growth of National Ideologies* New York The Macmillan Company, 1946

COBBAN, ALFRED *National Self-Determination* Revised edition Chicago. University of Chicago Press, 1948

DEUTSCH, KARL W *Nationalism and Social Communication* New York John Wiley and Sons, Inc , 1953

FRIEDMANN, W *The Crisis of the National State* London Macmillan and Company, Limited, 1943

GOOCH, GEORGE P. *Nationalism* New York Harcourt, Brace and Howe, 1920

GRODZINS, MORTON *The Loyal and the Disloyal* Chicago University of Chicago Press, 1956.

HAYES, CARLETON J *The Historical Evolution of Modern Nationalism* New York R R Smith, Inc., 1931

HERTZ, FREDERICK. *Nationality in History and Politics* New York Oxford University Press, 1944

HULA, ERICH "National Self-Determination Reconsidered" *Social Research*, Vol 10, No 1 (February 1943), pp 1-21

JANOWSKY, OSCAR I *Nationalities and National Minorities* New York The Macmillan Company, 1945

KOHN, HANS *The Idea of Nationalism* New York The Macmillan Company, 1944

ROYAL INSTITUTE OF INTERNATIONAL AFFAIRS *Nationalism* New York Oxford University Press, 1946

SHAFER, BOYD C *Nationalism Myth and Reality* New York Harcourt, Brace and Co, 1955

SULZBACH, WALTER *National Consciousness* Washington American Council on Public Affairs, 1943.

WEST, REBECCA *The Meaning of Treason* New York: The Viking Press, 1947

WIRTH, LOUIS "Types of Nationalism," *The American Journal of Sociology*, Vol 41, No 6 (May 1936), pp 723 37

On the different elements of national power, see.

BARKER, ERNEST *National Character and the Factors of Its Formation* London Methuen & Co , Ltd , 1927

BENEDICT, RUTH *The Chrysanthemum and the Sword* Boston Houghton Mifflin Company, 1946

BROGAN, D W. *The American Character* New York Alfred A Knopf, Inc , 1944

CARR-SAUNDERS, A M *World Population* New York. Oxford University Press, 1936

COLBY, C C, editor *Geographic Aspects of International Relations* Chicago, University of Chicago Press, 1938

EMENY, BROOKS *The Strategy of Raw Materials* New York: The Macmillan Company, 1934

FAIRGRIEVE, JAMES, *Geography and World Power* Eighth edition London University of London Press, 1941.

FRIEDENSBURG, FERDINAND *Die mineralischen Bodenschatze als weltpolitische und militarische Machtfaktoren* Stuttgart Ferdinand Enke, 1936

GINSBERG, MORRIS *Reason and Unreason in Society* Cambridge Harvard University Press, 1948, pp 131 76

HARTSHORNE, RICHARD *The Nature of Geography* Ann Arbor Edwards Brothers, 1946

HIRSCHMAN, ALBERT O *National Power and the Structure of Foreign Trade* Berkeley University of California Press, 1945

HUME, DAVID "Of National Characters," *Essays Moral, Political, and Literary* New edition Vol I London Longmans, Green and Company, 1889

LEITH, C K FURNESS, J W, and LEWIS, CLEONA *World Minerals and World Peace* Washington The Brookings Institution, 1943

MADARIAGA, SALVADOR *Englishmen, Frenchmen, Spaniards* Fourth Edition London Oxford University Press, 1937

MEAD, MARGARET "National Character," *Anthropology To day*, A L Kroeber, editor Chicago University of Chicago Press, 1953

RATZEL, FRIEDRICH *Politische Geographie* Second Edition Munich Oldenburg, 1903

STALEY, EUGENE *Raw Materials in Peace and War* New York Council on Foreign Relations, 1937

THOMPSON, WARREN S *Population Problems* Third edition New York McGraw Hill Book Company, Inc, 1942

WEIGERT, HANS W and STEFANSSON, VILHJALMUR *Compass of the World* New York The Macmillan Company, 1944

WEIGERT, HANS W, STEFANSSON, VILHJALMUR, and HARRISON, RICHARD EDES *New Compass of the World* New York The Macmillan Company, 1949

WHITTLESEY, DERWENT *The Earth and the State A Study of Political Geography* New York Henry Holt and Company, 1944

On geopolitics, see

GYORGY, ANDREW *Geopolitics* Berkeley University of California Press, 1944

MACKINDER, SIR HALFORD J "The Geographical Pivot of History," *Geographical Journal*, Vol 23 (1904), pp 421 44

MACKINDER, SIR HALFORD J *Democratic Ideals and Reality* New York Henry Holt and Company, 1942

MATTERN, JOHANNES *Geopolitik Doctrine of National Self Sufficiency and Empire* Baltimore Johns Hopkins University Press 1942

SPYKMAN NICHOLAS J *The Geography of the Peace* New York Harcourt Brace and Company, 1944

STRAUSZ HUPE, ROBERT *Geopolitics* New York G P Putnam's Sons, 1942

WEIGERT, HANS W *German Geopolitics* New York Oxford University Press, 1941

WEIGERT, HANS W *Generals and Geographers* New York Oxford University Press, 1942

ग्यारहवें से लेकर चौदहवें अध्याय तक

On the theory of the balance of power see

CARLETON WILLIAM G Ideology or Balance of Power ?" *Yale Review* Vol 36 No 4 (June 1947) pp 590 602

DONNADIEU, LEONCE *Essai sur la theorie d equilibre* Paris A Rousseau 1900

DUPUIS, CHARLES *Le Principe d equilibre et le Concert Europeen* Paris Perrin et C[e], 1909

ELTZBACHER, O The Balance of Power in Europe *The Nineteenth Century and After* Vol 57 (May 1905) pp 787 804

FRIEDRICH CARL JOACHIM *Foreign Policy in the Making* New York W W Norton & Company 1938

GULICK EDWARD VOSE *The Balance of Power* Philadelphia The Pacifist Research Bureau, 1943

HAAS ERNEST B "The Balance of Power Prescription Concept or Propaganda ?" World Politics, Vol 5 No 4 (July 1953) pp 442-77

HOIJER OLAF *La Theorie d'equilibre* Paris A Pedone, 1917

HUME, DAVID "Of the Balance of Power," *Essays Moral, Political, and Literary* New edition Vol 1 London Longmans, Green and Company, 1889

KAEBER E *Die Idee des europaischen Gleichgewichts in der publizistischen Literatur vom 16 bis zur Mitte des 18 Jahrhunderts*, Berlin A Duncker, 1907

NYS ERNEST "*La Theorie d equilibre Europeen,*" *Revue de droit international et de legislation comparee*, Vol 25 (1893), pp 34 57

PHILLIMORE, SIR ROBERT *Commentaries upon International Law* Second edition Vol I London, Butterworths, 1871

PRIBRAM, KARL "*Die Idee des Gleichgewichtes in der alteren nationalokonomischen Theorie,*" *Zeitschrift fur Volkswirtschaft*, Vol 17, Part I (1908), pp 1-28

RÉAL DE CURBAN, GASPARDE *La Science du gouvernement*, Vol II Aix-la Chapelle, 1765

SPYKMAN, NICHOLAS *America's Strategy in World Politics* New York Harcourt, Brace and Company, 1942

STIEGLITZ, ALEXANDRE DE *De l'Équilibre politique, du légitimisme et du principe des nationalités*, Vol 3 Paris Pédone-Lauriel, 1893

TANNENBAUM, FRANK "The Balance of Power in Society," *Political Science Quarterly*, Vol. 61, No 4 (December 1946), pp 481-504

TOYNBEE, ARNOLD J *A Study of History*, Vol 3, New York Oxford University Press, 1934

On the classic Indian theory of power politics and the balance of power, see·

KAUTILYA *Arthâsâstra* Translated by R. Shamasastry Mysore Wesleyan Mission Press, 1929

LAW, NARENDRA NATH *Interstate Relations in Ancient India* London Luzac and Company, 1920

NAG, KALIDAS *Les Theories diplomatiques de l'Inde ancienne et l'Arthaçâstra*, Paris Jouve et C^ie, 1923

For the history of the balance of power, see

GANSHOF, FRANCOIS L *Histoire des Relations Internationales* Vol I, *Le Moyen Âge* Paris Librairie Hachette, 1953

GRANT, A J, and TEMPERLEY, HAROLD *Europe in the Nineteenth and Twentieth Centuries* (1789-1939) New York Longmans, Green & Co, 1940

LANGER, WILLIAM L *The Diplomacy of Imperialism* New York Alfred A Knopf, Inc, 1935

LANGER, WILLIAM L *European Alliances and Alignment*, 1871-1890 Second edition New York Alfred A. Knopf, Inc, 1950

PETRIE, SIR CHARLES *Diplomatic History*, 1713-1933 London Hollis and Carter, Ltd, 1946.

POTIEMKINE, VLADIMIR *Histoire de la diplomatie* Three volumes Paris Librairie de Medicis, 1946-7

SCHMITT, BERNADOTTE E *Triple Alliance and Triple Entente* New York Henry Holt and Company, 1934

SETON-WATSON, ROBERT W *Britain in Europe*, 1789-1914 New York The Macmillan Company, 1937

SONTAG, RAYMOND J *European Diplomatic History*, 1871-1932 New York The Century Co, 1933

SOREL, ALBERT *Europe under the Old Regime* Los Angeles Ward Ritchie Press, 1947

TEMPERLEY HAROLD *The Foreign Policy of Canning*, 1822 1827 *England, the Neo Holy Alliance, and the New World* London G Bell and Sons Ltd, 1925

VAGTS, ALFRED "The Balance of Power Growth of an Idea," *World Politics*, Vol 1, No 1 (October 1948), pp 82-101

WEBSTER, CHARLES K *The Foreign Policy of Castlereagh*, 1812-1815 London G Bell and Sons, Ltd, 1931

WINDELBAND, WOLFGANG *Die auswartige Politik der Grossmachte in der Neuzeit* (1494-1919) Stuttgart Deutsche Verlagsanstalt, 1922

WOLFERS, ARNOLD *Britain and France between Two Wars* New York Harcourt, Brace and Company, 1940

पन्द्रहवें से लेकर सत्रहवें अध्याय तक

For the general problem of rules of conduct, see

MORGENTHAU, HANS J *La Réalité des normes* Paris Librairie Felix Alcan, 1934

TIMASHEFF N S *An Introduction to the Sociology of Law* Cambridge Harvard University Committee on Research in the Social Sciences, 1939

On the problem of international morality, see

BOSANQUET BERNARD *The Philosophical Theory of the State* New York The Macmillan Company, 1899

CARR, EDWARD HALLETT *Conditions of Peace* New York The Macmillan Company, 1944

HUIZINGA, J H. "On the High Cost of International Moralizing," *The Fortnightly Review*, Vol 156, New Series (November 1944), pp 295 300

KRAUS, HERBERT La Morale internationale,' *Hague Academy of International Law Recueil des cours* Vol 16 (1927), pp 389 539

LINDSAY, A D *The Modern Democratic State* New York Oxford University Press 1947

NIEBUHR, REINHOLD *Moral and Immoral Society A Study in Ethics and Politics*. New York C Scribner s Sons, 1932.

NIEBUHR REINHOLD *Christianity and Power Politics* New York C Scribner's Sons, 1940

NIEBUHR, REINHOLD "Democracy as a Religion," *Christianity and Crisis*, Vol 7, No 14 (August 4, 1947), pp 1-2

POLITIS, NICOLAS *La Morale internationale*. New York. Brentano's, 1944

THOMPSON, J W., and PADOVER, S K *Secret Diplomacy A Record of Espionage and Double Dealing*, 1500-1815 London Jarrolds, Ltd , 1937.

WELDON, T D *States and Morals*. New York McGraw-Hill Book Company Inc., 1947

WEST, RANYARD *Conscience and Society* New York Emerson Books 1945

See also the books by CARR and MORGENTHAU cited under (पहले से दूसरे अध्याय तक)

On nationalistic universalism, consult the books in (8 से 10 अध्याय तक) under nationalism

On world public opinion, see

DICEY, A V *Lectures on the Relation between Law and Public Opinion in England during the Nineteenth Century*, London Macmillan and Company, 1914

FERRERO, GUGLIELMO *The Unity of the* World London Jonathan Cape, 1931

LASSWELL, HAROLD D *World Politics and Personal Insecurity* New York Whittlesey House, 1935

LIPPMANN, WALTER *Public Opinion* New York The Macmillan Company 1922

LOWELL, A LAWRENCE *Public Opinion and Public Government* New York Longmans, Green & Co , 1914

LOWELL, A LAWRENCE *Public Opinion in War and Peace* Cambridge Harvard University Press, 1926

SCHINDLER, DIETRICH, "*Contribution á l étude des facteurs sociologiques et psychologiques du droit international*," *Hague Academy of International Law Recueil des cours*, Vol 46 (1933), pp 231 322

SMITH, CHARLES W *Public Opinion in a Democracy* New York Prentice Hall, 1939

STRATTON, GEORGE MALCOMB *Social Psychology of International Conduct* New York D Appleton and Company, 1929

अठारहवें से लेकर उन्नीसवें अध्याय तक

For the general problems of international law, see

BENTWICH, NORMAN *International Law* London Royal Institute of International Affairs, 1945

BRIERLY, J L *The Law of Nations* Fourth edition Oxford The Clarendon Press, 1949

BRIERLY, J L *The Outlook for International Law* Oxford The Clarendon Press, 1944

CORBETT, PERCY E *Law and Society in the Relations of States* New York Harcourt, Brace and Company, 1951

DICKINSON, EDWIN D *What Is Wrong with International Law?* Berkeley James J Gillick and Company, 1947.

HUBER, MAX *Die soziologischen Grundlagen des Volkerrechts* Berlin Dr Walter Rothschild, 1928

JESSUP, PHILIP C *A Modern Law of Nations* New York The Macmillan Company, 1948.

KEETON, GEORGE W, and SCHWARZENBERGER, GEORGE *Making International Law Work* Second edition London Stevens & Sons, Limited, 1946

KELSEN, HANS *Principles of International Law* New York Rinehart and Company. Inc, 1952

LAUTERPACHT H *The Function of Law in the International Community* Oxford The Clarendon Press, 1933

MOORE, JOHN BASSETT *International Law and Some Current Illusions* New York The Macmillan Company, 1924

MORGENTHAU, HANS J "Positivism, Functionalism and International Law' *American Journal of International Law*, Vol 34 (April 1940), pp 260-84

ROYAL INSTITUTE OF INTERNATIONAL AFFAIRS *International Sanctions* London, New York, and Toronto Oxford University Press, 1938

SCHWARZENBERGER, GEORG *A Manual of International Law* London Stevens & Stevens, Limited, 1947

STARKE, J G *Introduction to International Law* London Butterworths and Company, Ltd., 1947

STONE, JULIUS *Legal Controls of International Conflict* New York Rinehart and Company, 1954

VISSCHER, CHARLES DE *Theory and Reality in Public International Law* Princeton Princeton University Press, 1957

WILLIAMS, SIR JOHN FISCHER *Chapters on Current International Law and the League of Nations* New York Longmans Green & Co 1929

WILLIAMS, SIR JOHN FISCHER *Aspects of Modern International Law* New York Oxford University Press, 1939

On special problems connected with the Covenant of the League of Nations and the Charter of the United Nations see the books cited under (23 से 28 अध्याय तक) On sovereignty, see

CORWIN, EDWARD S *The President Office and Powers* Second Edition New York New York University Press, 1941

CORWIN, EDWARD S *Total War and the Constitution* New York Alfred A Knopf, Inc, 1947

DICKINSON, EDWIN D *The Equality of States in International Law* Cambridge Harvard University Press, 1920

DICKINSON, EDWIN D "A Working Theory of Sovereignty," *Political Science Quarterly* Vol 42, No 4 (December 1927), pp 524-48, Vol 43, No 1 (March 1928), pp 1-31

DUGUIT, LEON *Law in the Modern State* New York B W Huebsch, 1919

KEETON, GEORGE W *National Sovereignty and International Order* London Peace Book Company, 1939

KELSEN, HANS *General Theory of Law and State* Cambridge Harvard University Press, 1945

KELSEN, HANS *Das Problem der Souveranitat und die Theorie des Volkerrechts* Tubingen J C B Mohr, 1920

KOO, WELLINGTON, JR *Voting Procedures in International Organizations* New York Columbia University Press, 1947

KRABBE, H *The Modern Idea of the State* New York D Appleton and Company, 1922

LASKI, HAROLD J *Studies in the Problem of Sovereignty* New Haven Yale University Press, 1917

LASKI, HAROLD J *Authority in the Modern State* New Haven Yale University Press, 1919

LASKI, HAROLD J *The Foundations of Sovereignty and Other Essays.* London G Allen and Unwin, 1921

MATTERN, JOHANNES *Concepts of State, Sovereignty International Law* Baltimore Johns Hopkins Press, 1928

MERRIAM, CHARLES E *History of the Theory of Sovereignty since Rousseau* New York Columbia University Press, 1900

RICHES, CROMWELL A *Majority Rule in International Organizations* Baltimore Johns Hopkins Press, 1940

WATKINS, FREDERICK M *The State as a Concept of a Political Science* New York and London Haper and Brothers, 1934

चौसवें से लेकर बाईसवें अध्याय तक

On the general nature of contemporary world politics see

ARON, RAYMOND *The Century of Total War* New York Doubleday and Company, 1954

CARR, EDWARD HALLETT *Conditions of Peace* New York The Macmillan Company, 1944

DUNN, FREDERICK S *War and the Mind of Men* New York Harper and Brothers, 1950

FISCHER, ERIC *The Passing of the European Age* Cambridge Harvard University Press, 1943

FOX, WILLIAM T R *The Super-Powers* New York: Harcourt, Brace and Company, 1944

HERZ, JOHN *International Politics in the Atomic Age* New York Columbia University Press, 1959

KENNAN, GEORGE F *American Diplomacy, 1900-1950* Chicago University of Chicago Press, 1951

KISSINGER, HENRY A, *Nuclear Weapons and Foreign Policy* New York Harper and Brothers, 1957

LIPPMANN, WALTER *U S Foreign Policy* Boston Little, Brown and Company 1943

LIPPMANN, WALTER *U S War Aims* Boston Little, Brown and Company 1944

LIPPMANN, WALTER *The Cold War* New York Harper and Brothers, 1947

LIPPMANN, WALTER *Isolation and Alliances* Boston. Little Brown and Company 1952

MORGENTHAU HANS J *In Defense of the National Interest* New York Alfred A Knopf, Inc 1951

VINER, JACOB 'The Implications of the Atomic Bomb for International Relations' *Proceedings of the American Philosophical Society* Vol 90 No 1 (Philadelphia, 1946), pp 538

OSGOOD, ROBERT E *Limited War The Challenge to American Strategy* Chicago University of Chicago Press, 1957

On total war see

ARON, RAYMOND *On War* London Secker and Warburg 1958.

BRODIE, BERNARD *Sea Power in the Machine Age* Princeton Princeton University Press, 1941.

BRODIE, BERNARD, editor *The Absolute Weapon Atomic Power and World Order* New York Harcourt, Brace and Company, 1946

CLARKSON, JESSE, and COCHRAN, THOMAS C, editors *War as a Social Institution* New York Columbia University Press, 1941

EARLE, EDWARD MEAD, editor, *Makers of Modern Strategy* Princeton Princeton University Press, 1944

FERRERO, GUGLIELMO *Peace and War* London Macmillan and Company Limited, 1933

HART, B H LIDDELL *The Revolution in Warfare* Lon-

don Faber and Faber, Ltd, 1946

MUMFORD LEWIS *Technics and Civilization* New York Harcourt Brace and Company 1946

OGBURN WILLIAM FIELDING, editor *Technology and International Relations* Chicago, University of Chicago Press, 1949

OMAN SIR CHARLES *A History of the Art of War in the Sixteenth Century* New York E P Dutton and Company, 1937

SCHULTZ, THEODORE W "Changes in the Economic Structure Affecting American Agriculture," *Journal of Farm Economics*, Vol 28, No 1 (February 1946), pp 15-27

SPAULDING, O L., NICKERSON, HOFFMAN, and WRIGHT, J W. *Warfare* New York Harcourt, Brace and Company, 1925

SPEIER, HANS *Social Order and the Risks of War* Part III New York George W. Stewart, 1952

SPEIER, HANS, and KAHLER, ALFRED, editors *War in Our Time* New York W W Norton and Co, 1939

VAGTS, ALFRED *A History of Militarism* New York W W. Norton and Co, 1937

तेईसवें से लेकर अट्ठाईसवें अध्याय तक

On the history of peace plans, see·

HEMLEBEN, SYLVESTER JOHN *Plans for World Peace through Six Centuries* Chicago University of Chicago Press, 1945

LANGE, CHRISTIAN *Histoire de l'internationalisme* New York G P Putnam's Sons 1919

MARRIOTT, J A R *Commonwealth or Anarchy ? A Survey of Projects of Peace from the Sixteenth to the Twentieth Century* New York Columbia University Press 1939

PARGELLIS, STANLEY, editor "The Quest for Political Unity in World History," Vol 3, *Annual Report of the American Historical Association*, 1942 United States Government Printing Office, 1944

PAULLIN, THEODORE, *Comparative Peace Plans* Philadelphia· Pacifist Research Bureau, 1943

SOULEYMAN, ELIZABETH V *The Vision of World Peace in Seventeenth and Eighteenth-Century France* New York G P Putnam's Sons, 1941

WYNNER, EDITH, LLOYD, GEORGIA. *Searchlights on Peace Plans* New York E P Dutton and Company, 1944

On disarmament, see

BUELL, RAYMOND LESLIE *The Washington Conference* New York D Appleton and Company, 1922

GRISWOLD, A WHITNEY, *The Far Eastern Policy of the United States* New York Harcourt, Brace and Company, 1938

HUNTINGTON, SAMUEL, P, "Arms Races Prerequisites and Results," *Public Policy*, Vol 8 (Cambridge Harvard Graduate School of Public Administration, (1958), pp 41 86

MORGAN, LAURA PUFFER *The Problem of Disarmament* New York Commission to Study the Organization of Peace, 1947

POSSONY, STEFAN T "No Peace Without Arms," *The Review of Politics*, Vol 6, No 2 (April 1944), pp 216 27

SHILS, EDWARD A *Atomic Bombs in World Politics* London National Peace Council, 1948

SINGER, J. DAVID, 'Threat Perception and the Armament Tension Dilemma," *Conflict Resolutions*, Vol 2, No 1 (March 1958), pp 90 105

TATE, MERZE *The Disarmament Illusion* New York The Macmillan Company 1942

TATE, MERZE *The United States and Armaments* Cambridge Harvard University Press, 1948

WHEELER BENNETT, JOHN *The Pipe-Dream of Peace The Story of the Collapse of Disarmament* New York William Morrow and Company, 1935

WOODWARD, E L *Some Political Consequences of the Atomic Bomb* New York Oxford University Press, 1946

On security, see

JESSUP, PHILIP C *International Security*, New York Council on Foreign Relations, 1935

MITRANY, DAVID *The Problem of International Sanctions* New York Oxford University Press, 1925.

ROYAL INSTITUTE OF INTERNATIONAL AFFAIRS *International Sanctions* London Oxford University Press, 1938

WILD PAYSON S *Sanctions and Treaty Enforcement* Cambridge Harvard University Press 1934

On judicial settlement see

KELSEN, HANS *Peace through Law* Chapel Hill University of North Carolina Press, 1944

LAUTERPACHT H *The Function of Law in the International Community* Oxford The Clarendon Press 1933

LISSITZYN, OLIVER J *The International Court of Justice* New York Carnegie Endowment for International Peace, 1951

MORGENTHAU, HANS J *La Notion du 'politique" et la theorie des differents internationaux* Paris Librairie du Recueil Sirey, 1933

ROSENNE, SHABTAI *The International Court of Justice* Leyden Sijthoff, 1957

For peaceful change, see in addition to the titles under international government

BLOOMFIELD, LINCOLN P *Evolution or Revolution? The United Nations and the Problem of Peaceful Territorial Change* Cambridge Harvard University Press 1957

CRUTTWELL, C R M F. *A History of Peaceful Change in*

the Modern World New York Oxford University Press, 1937

DUNN, FREDERICK S *Peaceful Change* New York Council on Foreign Relations, 1937

On international government in general, see

BARKER, ERNEST *The Confederation of Nations* Oxford The Clarendon Press, 1918

BRIGGS, HERBERT W "Power Politics and International Organization" *American Journal of International Law*, Vol 39, No 4 (October 1945), pp 664 79

CORBETT, PERCY E *Post-War Worlds* Los Angeles Institute of Pacific Relations, 1942

DAVIS, HARRIET EAGER editor *Pioneers in World Order* New York Columbia University Press, 1944

DELL, ROBERT. *The Geneva Racket, 1920 1939* London Robert Hale, Ltd, 1940

FREEMAN, HARROP A *Coercion of States in International Organizations.* Philadelphia The Pacifist Research Bureau, 1944

FREEMAN, HARROP A, and PAULLIN, THEODORE *Coercion of States in Federal Unions* Philadelphia The Pacifist Research Bureau, 1943

FRIEDRICH, CARL JOACHIM *Foreign Policy in the Making* New York W W Norton & Co, 1938

HANKEY, LORD MAURICE P *Diplomacy by Conference* New York, G P Putnam's Sons, 1946

KISSINGER, HENRY A, *A World Restored* McHermid, *Castlereagh, and the Problem of Peace, 1812-22* Boston Houghton Mifflin Company, 1957

LEVI WERNER *Fundamentals of World Organization* Minneapolis University of Minnesota Press, 1950

MCCALLUM, R B *Public Opinion and the Last Peace* New York Oxford University Press, 1944

MANGONE, GERARD J *A Short History of International Organization* New York McGraw-Hill Book Co, Inc, 1954

NICOLSON, HAROLD *The Congress of Vienna A study in Allied Unity, 1812-1822* New York Harcourt, Brace and Company, 1946

NIEMEYER, GERHART "The Balance-sheet of the League Experiment," *International Organization*, Vol 6, No 4 (1952), pp 537-58

NYS, M ERNEST "*Le Concert Europeen et la notion du droit international,*" *Revue de droit international*, Deuxieme Serie, Vol 1 (1899), pp 273-313

OPPENHEIM, L *The League of Nations and Its Problems* London Longmans, Green & Co, 1919

PHILLIPS, WALTER ALISON *The Confederation of Europe.* London Longmans, Green & Co, 1914

RAY, JEAN *Commentaire du Pacte de la Societe des Nations* Paris Recueil Sirey, 1930

SCHENK, H G *The Aftermath of the Napoleonic Years The Concert of Europe—an Experiment* New York: Oxford University Press, 1948

WALTERS, F P *A History of the League of Nations* 2 vols New York Oxford University Press, 1952

World Organization A Balance Sheet of the First Great Experiment Washington American Council on Public Affairs, 1942

ZIMMERN, SIR ALFRED E *The League of Nations and the Rule of Law* New York The Macmillan Company, 1939

See also the books by TEMPERLEY, WEBSTER, and WOLFERS, cited under (11 से 14 अध्याय तक)

On the United Nations, see

BENTWICH, NORMAN, and MARTIN, ANDREW *A Commentary on the Charter of the United Nations* London 1950

BRIERLY, J L *The Covenant and the Charter* Cambridge The University Press, 1947

CLAUDE, INIS L *Swords Into Plowshares* New York Random House, 1956

FELLER, A H *United Nations and World Community* Boston Little Brown and Company 1952

GOODRICH LELAND M *The United Nations* New York Thomas Y Crowell 1959

HASLUCK PAUL *Workshop of Security* Melbourne F W Chesire 1948

HAVILAND H FIELD JR *The Political Role of the General Assembly* New York Carnegie Endowment for International Peace 1951

KELSEN HANS *The Law of the United Nations* New York Frederick A Praeger, Inc 1950

MORGENTHAU HANS J editor *Peace Security and the United Nations* Chicago University of Chicago Press 1946

ROSS ALF *Constitution of the United Nations* New York Rinehart and Company 1950

"Symposium on World Organization *The Yale Law Journal*, Vol 55 No 5 (August 1946)

उनतीसवें से लेकर तीसवें अध्याय तक

On the problem of the world state, see

BRINTON, CRANE *From Many One The Process of Political Integration The Problem of World Government* Cambridge Harvard University Press, 1948

EWING, ALFRED C *The Individual the State, and World Government* New York The Macmillan Company, 1947

HAMMOND, MASON *City-State and World State in Greek and Roman Political Thought until Augustus* Cambridge Harvard University Press 1951

LEWIS EDWARD R "Are We Ready for a World State?" *The Yale Review* Vol 35, No 3 (March 1946) pp 491-501

MANGONE, GERARD J *The Idea and Practice of World Government* New York Columbia University Press, 1951

MARRIOTT T A R *Federalism and the Problem of the Small State* London' G Allen and Unwin 1943

MARTIN, WILLIAM *A History of Switzerland* London Grant Richards 1931

MEYER, CORD *Peace or Anarchy* Boston Little Brown and Company 1947

NAF WERNER *Die Schweiz in Europa* Bern Herbert Lang and Company, 1938

NIEBUHR, REINHOLD 'The Illusion of World Government *Foreign Affairs*, Vol 27, No 3 (April 1947) pp 379 88

PELCOVITS N A 'World Government Now ? *Harper s* Vol 193 No 1156 (November 1946) pp 396 403

RAPPARD, WILLIAM E *Cinq siecles de securite collective 1291 1798* Paris Recueil Sirey, 1945

REVES, EMERY *The Anatomy of Peace* Now York Harper and Brothers 1946

RIDER FREMONT *The Great Dilemma of World Organization* New York Reynal and Hitchcock, 1946

SCHUMAN, FREDERICK L *The Commonwealth of Man* New York Alfred A Knopf Inc 1952

On the problem of the world community see

BELOFF, MAX The 'Federal Solution in Its Application to Europe Asia and Africa" *Political Studies*, Vol 1, No 2 (June 1953), pp 114-31

FREEMAN, HARROP A, and PAULLIN, THEODORE *Road to Peace A Study in Functional International Organization* Ithaca The Pacifist Research Bureau, 1947

HAAS, ERNEST B *The Uniting of Europe* Stanford Stanford University Press, 1958

HOSELITZ, BERT, editor *The Progress of Underdeveloped Areas* Chicago University of Chicago Press, 1952

HUXLEY, JULIAN *UNESCO* Washington Public Affairs Press, 1947

JAMES, WILLIAM *A Moral Equivalent for War* New York Carnegie Endowment for International Peace, 1926

LISKA, GEORGE *The New Statecraft Foreign Aid in American Foreign Policy* Chicago University of Chicago Press, 1960

MASON, HENRY L *The European Coal and Steel Community* The Hague Martinus Nijhoff, 1955

MCMURRY, RUTH EMILY, and LEE, MUNA. *The Cultural Approach Another Way in International Relations* Chapel Hill University of North Carolina Press, 1947

MITRANY, DAVID *A Working Peace System* Fourth edition London National Peace Council, 1946

MURPHY, GARDNER, editor *Human Nature and Enduring Peace* New York Reynal and Hitchcock, Inc, 1945

NIEBUHR, REINHOLD *The Moral Implication of Loyalty to the United Nations* New Haven Edward W Hazen Foundation, 1952

PATTERSON, ERNEST MINOR editor "NATO and World Peace", *The Annals of the American Academy of Political and Social Science*, Vol 288 (July 1953)

SHUSTER, GEORGE N *Cultural Cooperation and the Peace* Milwaukee The Bruce Publishing Company, 1952

WEST, RANYARD *Psychology and World Order* London Penguin Books, 1945

WOODWARD, ERNEST L, *et al Foundations for World Order* Denver University of Denver Press, 1949

WRIGHT, QUINCY, editor *The World Community* Chicago University of Chicago Press, 1948

इकत्तीसवें से लेकर बत्तीसवें अध्याय तक

On the problems of diplomacy, see

BEARD, CHARLES A *The idea of National Interest* New York The Macmillan Company, 1934

CALLIERES FRANCOIS DE *On the Manner of Negotiating with Princes* Boston Houghton Mifflin Co, 1919

CAMBON, JULES *Le Diplomate* Paris Hachette 1926

CHAMBRUN, CHARLES DE *L'Esprit de la diplomatie* Paris Editions Correa, 1944

CRAIG, GORDON A, and GILBERT, FELIX, editors *The Diplomats, 1919 1939* Princeton Princeton University Press, 1953

FOSTER, JOHN W *The Practice of Diplomacy* Boston Houghton Mifflin Company, 1906

FRIEDRICH, CARL JOACHIM *Foreign Policy in the Making* New York W W Norton & Co, 1938

HEATLEY, DAVID PLAYFAIR *Diplomacy and the study of International Relations* Oxford The Clarendon Press, 1919

JONES, JOSEPH M *A Modern Foreign Policy for the United States* New York The Macmillan Company, 1944

JUSSERAND, JEAN A *The School for Ambassadors and Other Essays* New York G P Putnam's Sons, 1925

LIPPMANN, WALTER *The Stakes of Diplomacy* New York Henry Holt and Company, 1917

MABLY, ABBE GABRIEL BONNET DE "*Principes des négociations,*" *Collection complete des oeuvres de l'Abbé de Mably*, Vol 5 Paris 1794 5

MCLACHLAN, DONALD "The Death of Diplomacy," *The Twentieth Century*, Vol 149, No 889 (March 1951), pp 173-80

MORLEY, JOHN VISCOUNT *On Compromise* London Macmillan and Company Limited 1923

MOWRER, PAUL SCOTT. *Our Foreign Affairs A Study in National Interest and the New Diplomacy* New York E P Dutton and Company, 1924

NICOLSON, HAROLD G *Diplomacy* London T Butterworth, 1939

NICOLSON, HAROLD G *The Evolution of Diplomatic Method* London Constable, 1954

ONCKEN, HERMANN *Politik und Kriegfuhrung* Munich Max Huber, 1928

REDLICH, MARCELLUS D *International Law as a Substitute for Diplomacy* Chicago Independent Publisher Co, 1928

REINSCH, PAUL S *Secret Diplomacy* New York Harcourt, Brace and Company, 1922

THAYER, CHARLES W *Diplomat* New York Harper & Brothers, 1959

THOMSON, DAVID, MEYER E, and BRIGGS, A *Patterns of Peacemaking* London Kegan Paul, Trench, Trubner and Company Ltd, 1945

WELLESLEY, SIR VICTOR *Diplomacy in Fetters* London Hutchinson and Company, Ltd, 1944

WILLITS, JOSEPH H "Social Adjustments to Atomic Energy," *Proceedings of the American Philosophical Society*, Vol 90, No 1 (Philadelphia 1946) pp 48-52.

WOODWARD, E L "The Old and the New Diplomacy," *The Yale Review*, Vol 36, No 3 (Spring 1947), pp 405 22

YOUNG, GEORGE *Diplomacy Old and New* London Swarthmore Press, 1921

थी गम्भीरतापूर्वक अनुभव की जाने वाली बौद्धिक और राजनीतिक आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की योग्यता । जर्मन लोगो के कुण्ठाग्रस्त सत्तावाद ने जातिवादी सिद्धान्तो को ग्रहण किया और विपरीत स्थिति दिखलाई पडने पर भी अपने लिए सिद्ध किया कि प्रकृति से वे दूसरे व्यक्तियो से वास्तव मे उत्तम हैं और यदि वे ठीक नीतियो को अपनाएँ तो वे वास्तव मे उत्तम बन सकेंगे । इस उच्चता की प्रत्याशा ने जर्मन लोगो को प्रेरित किया कि वे जातिवादी सिद्धान्तो का प्रयोग अपनी सीमाओ मे रहने वाले अल्पसख्यको पर अपनी उत्तमता दिखाने के लिए करें और परीक्षा की अनिवार्य सफलता ने उन्हे जातिवादी सिद्धान्तो की सफलता का अनुभव-प्राप्त प्रमाण प्रदान किया ।

इसी प्रकार साम्राज्यवाद और युद्ध की आर्थिक व्याख्या ने गम्भीरता से अनुभव की जाने वाली बौद्धिक और राजनीतिक आवश्यकताओ को सन्तुष्ट किया । लोक-हृदय आज के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो की भीषण जटिलता से आक्रान्त होकर ऐसे स्पष्टीकरण की इच्छा करता है, जो सरल और सच्चा हो । आर्थिक व्याख्या, ऐसा करने से, जन-हृदय को सन्तुष्ट करती है । यह राजनीतिक क्रिया के हित मे एक ऐसा काम करती है, जैसाकि जातिवादी सिद्धान्तो द्वारा होता है । वह वाल-स्ट्रीट (Wall Street) के लडाकुओ और युद्ध-सामग्री तैयार करने वालो को ऐसा सुलभ प्रतीक प्रदान करती है, जिससे राजनीतिक क्रिया के लक्ष्य-अभ्यास--के उद्देश्यो को प्रयोग मे लाया जा सकता है । इस सिद्धान्त के अनुसार युद्ध से लाभ उठाने के लिए कुछ उपाय किए जा सकते हैं या युद्धकारियो का व्यापार सीमित किया जा सकता है । इन उपायो की पूर्ति के साथ साम्राज्यवाद और युद्ध अपना भय खो बैठे हैं और जन हृदय दोहरा सन्तोष प्राप्त कर सकता है, क्योंकि वह जानता है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति क्या है ? और इस बात की भी चेतना रखता है कि सब कुछ इस ज्ञान के अनुसार हुआ है ।

राजनीतिक दर्शन के सत्य और राजनीतिक प्रभाव के बीच मे परस्पर कोई यथार्थ सम्बन्ध नही है । कभी-कभी एक राजनीतिक दर्शन, जो अपनी धारणाओं और निष्कर्षों मे असत्य होता है, एक विशाल जनसमुदाय के हृदय को मोह लेता है और कभी-कभी एक राजनीतिक दर्शन जो सत्य की दृष्टि से अत्यधिक महान् होते हुए भी, उस के विपरीत दुर्बल होता है । मनुष्य के हृदय के सघर्ष को जीतने के लिए एक सच्चा राजनीतिक दर्शन केवल अपने सत्य की आन्तरिक शक्ति परनिर्भर नही हो सकता, बल्कि इसे चाहिये कि सत्य और उस मानव-हृदय मे जिसको कि यह प्रभावित करना चाहता है एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करे । ये सम्बन्ध उन जीवन के अनुभवो और हितो से निर्धारित होते हैं, जो मनुष्यो की राजनीतिक विचारो की ग्रहणशीलता को निर्धारित करते हैं ।

(२) राजनीतिक दर्शन में प्रत्येक स्थान और समय पर सत्य अपेक्षित होना है, फिर भी लोग विशेष समय पर अपनी परिस्थितियों के अनुसार विशेष विचारों के प्रति ग्रहणशील होते हैं। जैसा हमने देखा है, कि ये परिस्थितियाँ न केवल समय के अनुसार परिवर्तित होती हैं वरन् इतिहास के एक समय में रहने वाले लोगों की विभिन्नता के आधार पर भी भिन्न होती हैं।

साम्यवाद हर उस स्थान पर सफल रहा है, जहाँ कहीं इसके सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समता के सिद्धान्तों ने उस जनता को आकर्षित किया है जिसे असमता को शीघ्र ही दूर करने की लालसा रही है। पश्चिमी दर्शन उस स्थान पर सफल रहा है जहाँ कहीं लोगों की राजनीतिक स्वतन्त्रता की आकांक्षाओं ने उनकी दूसरी आवश्यकताओं पर प्राथमिकता प्राप्त की है। इसलिए साम्यवाद मध्य और पूर्वी योरप में मानव-हृदय के संघर्ष को खो बैठा है और प्रजातन्त्रवाद एशिया में अधिकांश रूप में पराजित हो चुका है। मध्यवर्ती और पूर्वी योरप में समता के साम्यवादी वायदे वहाँ के लोगों के जीवन के उन अनुभवों पर विजय प्राप्त न कर सके जिनका सम्पर्क लाल सेना और रूसी गुप्त पुलिस के आतंकवाद से रहा था। उन प्रदेशों में कम्युनिज़म, जन-संख्या के कुछ भागों में इसलिए सफल रहा है, क्योंकि उनके जीवन के अनुभवों में आर्थिक समता ने स्वतन्त्रता पर प्राथमिकता प्राप्त की है।

दूसरी ओर, जहाँ कहीं भी एशिया में प्रजातन्त्रवाद असफल रहा है, वहाँ उसकी असफलता का कारण यह था कि एशिया के लोगों और अनुभवों की रुचियों से वह बिल्कुल दूर पड़ता था। सब छोड़कर जो चीज एशिया के लोग चाहते हैं, वह है पश्चिमी उपनिवेशवाद से स्वतन्त्रता। जब तक प्रजातान्त्रिक दर्शन एशिया के लोगों के जीवन के अनुभवों के प्रतिकूल है तब तक विचारों के संघर्ष में प्रजातन्त्रवाद के सफल होने की कोई सम्भावना नहीं। 30 सितम्बर 1950 के शिकागो दैनिक समाचार में फ्रेड स्पार्कस द्वारा लिखित समाचार से अद्भुत रूप में यह प्रकट होता है कि साधारण व्यक्ति के जीवन के अनुभवों से पृथक् राजनीतिक प्रचार का क्या महत्त्व है।

"गत दिवस मैं सायगाव के निकट एक छोटे किसान के पास गया और अपने दुभाषिया द्वारा उससे यह पूछा कि इन्डोचाइना में आने वाले अमेरिकनों के सम्बन्ध में वह क्या सोचता है।" उसने कहा "गोरे लोग गोरों की सहायता करते हैं तुम फ्रांसीसियों को हम लोगों को मारने के लिए बन्दूकें देते हो, हम तमाम विदेशियों से मुक्त होना चाहते हैं और वाइटमिन फ्रांसीसियों को धीरे-धीरे बाहर निकाल रहा है" मैंने कहा कि तुम जानते हो कि वाइटमिन के पीछे भी गोरा आदमी है, क्या तुम नहीं जानते कि हूचीमिन रूसी आज्ञा का पालन करता है।

उसने कहा कि 'सायगाव मे मैने अमेरिकीओ तथा फ्रासीसियो को देखा है। यह मैंन कभी नहीं सुना कि वाइटमिन के साथ गोरे भी हैं।"

इस प्रसग का यदि कोई महत्व है तो यह कि यह पश्चिमी विचारो के प्रति एशियाई प्रतिक्रिया का अधिक मात्रा में प्रतिनिधित्व है। कही भी यह प्रतिक्रिया इतनी अधिक उग्र और इतनी अधिक दुष्परिणामो स परिपूर्ण नहीं रही जितनी चीन में। क्योंकि वहा भी लागो के दर्शन और उन के जीवन में इतना अधिक विरोध नही रहा है। जब अमरीकी अस्त्र चीनियो को मारने के लिए प्रयाग में लाए गए और जब अमरीकी वायुयानो ने चीनी नगरो पर बम बरसाए, तुरन्त ही एक क्षण में अमरीका ने शताब्दी से चले आए अपने साम्राज्य-विरोधी इतिहास का अन्त कर दिया। लडन एकनोमिस्ट (London Economist) में छपी एक सूचना राष्ट्रवादियो के शिघाई पर हवाई आक्रमण की तरफ इस प्रकार सकेत करती है।

समाचारपत्रो में यह आक्रमण अमरीकी साम्राज्यवादियो स उतने ही सम्बन्धित किए गए जितने कि टायवान के प्रतिक्रियावादी शप अनुचरो से। और इन आक्रमणो न यदि कम शिक्षित लोगो में बाम के प्रति विश्वास खत्म किया तो साथ ही जहाँ कही अमेरिका के प्रति अभी तक विश्वास बना हुआ था वहाँ भी यह कम समाप्त नहीं हुआ।

यहाँ फिर अमरीकी विचारो के मौलिक गुणों—सच्चाई और अच्छाई के विचार—का युद्धो में सफलता या असफलता के दृष्टिकोण स कोई सम्बन्ध नही था। निर्णय करने वाली चीज तो साधारण आदमी के अनुभवो से असम्बद्ध प्रजा तान्त्रिक प्रचार था। सयुक्त-राज्य ने जिन नीतियो का समर्थन किया या समर्थन करता दिखाई पड़ा, उन नीतियो ने विचार-युद्धो की सफलता को असम्भव बना दिया।

मनोवैज्ञानिक युद्ध के लिए राजनीतिक-नीति का तीन कार्य करने चाहिए। प्रथम यह, कि इस अपने लक्ष्य और ढग स्पष्ट करने चाहिएँ, जिनके द्वारा वह इन्हे प्राप्त करना चाहती है। दूसरे इसे उन लोगो के, जिनमें प्रचार किया जाता है, लक्ष्यो तथा ढग-सम्बन्धी लौकिक आकाक्षाओ को निर्धारित करना अनिवाय है। तीसरे, इस निर्धारित करना चाहिए कि किस सीमा तक मनोवैज्ञानिक युद्ध नीतियो के समर्थन के योग्य है।

दूसरे कारणो के अतिरिक्त एशिया म पश्चिम की मनोवैज्ञानिक दुर्बलता इस की राजनीतिक-नीतियो की दुर्बलता का परिणाम है, क्योंकि पश्चिम अपने लक्ष्यो और उन तक पहुँचने के ढगो के प्रति निश्चित नहीं है इसलिए इसकी मनोवैज्ञानिक नीतियो में यह प्रवृत्ति पाई गई है कि व अपनी नीति की अनिश्चितता

से बचने के लिए प्रजातान्त्रिक समानता की ओट लेती है। इसी प्रकार पश्चिमी प्रचार प्रजातन्त्र के गुण और सत्य पर अधिक बल देता है और बोल्शेविकवाद के अवगुणों और असत्यों को बतलाता है।

नैतिक और दार्शनिक सूक्ष्मताओं के प्रति यह झुकाव लोगों की इच्छाओं की निष्पक्ष जाँच में बाधक होता है। हम इन जीवन आवश्यकताओं की पूर्ति को सच मान लेते हैं, क्योंकि हमें विश्वास होता है कि हमारा अधिकतम जीवन हिंसा द्वारा या भोजन और निवास के अभावों द्वारा होने वाली मृत्यु के पंजों से सुरक्षित है। जब हमारा जीवन सुरक्षित है तब हम अपने विचार और प्रयत्न स्वतन्त्रता की सुरक्षा और प्रसन्नता की खोज में जुटा देते हैं। इस स्वाभाविक सीमित अनुभव को, जो समय और स्थान की परिस्थितियों पर निर्भर है, हम सर्वकाल और सर्वस्थानों के लिए उपयुक्त सिद्धान्त मानने लगते हैं, इसलिए हम यथार्थ यह मान लेते हैं कि जो कुछ हम स्वीकार करते हैं वही सब स्वीकार करते हैं और जिस उद्देश्य की प्राप्ति करने के लिये हम प्रयत्न शील हैं वही सब का उद्देश्य है, यद्यपि यह बात सिद्ध की जा चुकी है कि कैसे मनुष्यों के जीवन-अनुभव सामान्य मनोवैज्ञानिक लक्षणों और भिन्न राजनीतिक आकांक्षाओं के ढाँचे के कारण भिन्न प्रकार से बने हुए हैं।

पश्चिमी प्रजातन्त्रवाद की योरुप और एशिया के लोगों को प्रभावशाली रूप से सम्बोधित करने की योग्यता इन की दो भिन्न सम्बन्धों के स्थापित करने की योग्यता पर निर्भर है। पहला यह, कि उन लोगों की आकांक्षाओं और पश्चिम की राजनीतिक-नीतियों के बीच सम्बन्ध और दूसरे, उन नीतियों और उनके मौखिक प्रचार का सम्बन्ध। कुछ परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं, जहा ये तीनों तत्त्व एक दूसरे के साथ आपेक्षिक सरलता से समन्वित हो सकते हैं। अधिकृत योरुप में नाजी जर्मनी के विरुद्ध दूसरे महायुद्ध में राजनीतिक युद्ध छेड़ना आपेक्षिक रूप में सरल था। जनता की आकांक्षाओं को स्पष्ट किया गया था और इसी तरह संयुक्तराष्ट्र की अपनाई हुई नीतियाँ भी स्पष्ट थी। दोनों नाज़ी जर्मनी का नाश चाहती थी और उस उद्देश्य को शाब्दिक रूप देना सरल था। इसी प्रकार रूसी विस्तार के विरुद्ध योरुप में क्षेत्रीय यथापूर्व-स्थिति बनाए रखने के लिए राजनीतिक और सैनिक नीतियाँ पश्चिमी योरुप के लोगों की आकांक्षाओं को प्रकट करती हैं और ट्रूमैन-सिद्धान्त, मार्शल-योजना और उत्तरी अटलांटिक समझौते के रूप में व्यक्त होती हैं। न तो पूर्वी योरुप में और न ही एशिया में और न ही सोवियत-संघ में मनोवैज्ञानिक युद्ध का कार्य सरल है। दो मौलिक दुविधाएँ इस के सम्मुख हैं। एक का सम्बन्ध एक इलाके की विशेष राजनीतिक नीति का दूसरे इलाके की मनोवैज्ञानिक युद्ध की असम्बद्धता से है। दूसरी दुविधा

मनोवैज्ञानिक युद्ध के द्वारा विशेष राजनीतिक नीति के समर्थन की असम्भवता से उत्पन्न होती है।

पहली दुविधा का दृष्टान्त पूर्वी योरुप मे अमेरिका नीति के लक्ष्य और सोवियत-सघ से सम्बन्धित हमारे मनोवैज्ञानिक युद्ध के लक्ष्य से मिलता है। पूर्वी योरुप म हमारी नीति का लक्ष्य रूसी प्रभुत्व से पूर्वी योरुप के लोगो को मुक्त करना है। सोवियत-सघ के प्रति हमारे राजनीतिक युद्ध का उद्देश्य रूसी लोगो को उनकी सरकार से उच्चतर अपने लक्ष्यो से प्रभावित करना है, ताकि रूसी जनमत के दबाव द्वारा सोवियत नीतियो को बदला जाए। पूर्वी योरुप विशेषकर पोलैण्ड और बाल्टिक राज्यो की मुक्ति का उद्देश्य शताब्दियो से चली आई रूसी राष्ट्रीय आकाक्षाओ के प्रतिकूल है, जिसके सम्बन्ध मे सरकार और लोगो मे कभी मतभेद नही रहा है। पूर्वी योरुप मे वह नीति जो दोनो-रूसी सरकार और रूसी जनता-की आकाक्षाओ को बाधित करना चाहती है, ऐसे बचे-खुचे अवसरो को जो मनोवैज्ञानिक युद्ध द्वारा रूसी सरकार को रूसी जनता से पृथक् करना चाहते हैं, रद कर देगी। ऐसी परिस्थितियो मे हमारी समस्त नीति का यह कार्य हो जाता है कि लक्ष्यो की प्राथमिकता को निर्धारित करें और या तो राजनीतिक युद्धो के लक्ष्यो का राजनीतिक नीति के उद्देश्यो के अधीन करें या इसके विपरीत।

सोवियत-सघ भी पोलैण्ड और पूर्वी जर्मनी के प्रति अपनी नीतियो के कारण अपने आप को दुविधा मे पाता है। ओडर नेस सीमा की स्थायी स्वीकृति पूर्वी जर्मनी मे रूसी मनोवैज्ञानिक युद्ध को नाकाम कर देगी, इस को दोहराने की सम्मति पोलैण्ड म यही प्रभाव डालेगी। इस दुविधा के समक्ष सोवियत नीति ने वर्तमान समय के लिए यह निश्चय किया है कि पूर्वी जर्मनी के निवासियो की राष्ट्रीय आकाक्षाओ को कुछ मात्रा मे सन्तुष्टि द्वारा निष्ठाएँ प्राप्त करने की अपेक्षाकृत यह अधिक महत्वपूर्ण है कि सोवियत-सघ पोलैण्ड की राष्ट्रीय आकाक्षाओ का पोषक प्रतीत हो और इससे पोलैण्ड पर अपना राजनीतिक नियन्त्रण स्थापित और दृढ करे।

दूसरी दुविधा का ज्वलन्त उदाहरण कोरिया के युद्ध मे अमेरिकी हस्तक्षेप के प्रचार के प्रभाव से मिलता है। इस हस्तक्षेप को अन्तर्राष्ट्रीय कानून मे कितना ही उपयुक्त ठहराया जाए, लेकिन अमेरिकी राष्ट्रीय हित तथा कोरिया के लोगो के दीर्घकालीन हितो की दृष्टि से इसमे तत्कालीन मनोवैज्ञानिक प्रभाव सयुक्तराज्य के प्रतिकूल रहे हैं। विशेषकर दक्षिण कोरिया मे जहाँ रूसी हस्तक्षेप का कोई भौतिक प्रमाण नही मिला जो साधारण व्यक्ति के लिए बोधगम्य हो, उस बात की जो कि इन्डोचाइना के किसान ने श्री सपार्क से कही थी, व्यापक प्रतिध्वनि पाई जाती है। जबकि योगयाग मे सयुक्तराज्य की सेनाओ का, रूसियो से

मुक्त कराने वाली सेनाओं के रूप में उल्लास के साथ स्वागत किया गया, लेकिन उजड़े हुए सोयल (soyal) में यह आगमन नीरस था। इसप्रसग मे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सयुक्तराज्य उस हस्तक्षेप के मनोवैज्ञानिक दायित्व को तात्कालिक विपरीत मनोवैज्ञानिक उपायो द्वारा निष्फल करने मे अयोग्य रहा। पश्चिमी साम्राज्यवाद के पारस्परिक रूप मे एशियाई सम्बन्धो मे गोरो के हस्तक्षेप के दिखावे का खडन किया जा सकता है, लेकिन राजनीतिक युद्ध के द्वारा नही बल्कि राजनीतिक सैनिक और आर्थिक नीतियो के द्वारा, जोकि कोरिया के लोगो के जीवन-अनुभव मे अमरीकी नीति के साम्राज्य-विरोधी और प्रजातान्त्रिक लक्ष्यो को स्थापित कर पाएँगी। ऐसी परिस्थितियो मे राजनीतिक या सैनिक नीतियो के मनोवैज्ञानिक दायित्व का तात्कालिक उत्तर प्रचार नही है बल्कि वे नीतिया हैं, जो सफल प्रचार के लिए मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि तैयार करेंगी।

इस प्रसग मे अल्प विकसित इलाको के लिए आर्थिक और औद्योगिक सहायता का विशेष महत्त्व है, क्योकि ऐसी सहायता प्रचार से इतनी ही भिन्न होती है, जितना कार्य वचन से। इसके स्थान पर कि लोगो को बताया जाए कि क्या हो सकता है या दूसरे स्थानो पर क्या किया जा रहा है यह प्रचार के वचनो को तुरन्त सही सिद्ध कर देती है, तथापि प्रचार के यन्त्रो को पूर्ण प्रभावशाली बनाने के लिए आर्थिक और औद्योगिक सहायता की दो आवश्यकताएँ अनिवार्य रूप मे पूरी करनी चाहिएँ। प्रथम यह, कि अन्त मे उन लोगो को, जिनको यह सहायता दी जा रही है लाभदायक साबित हो, लेकिन यह तुरन्त दी जाय और उनकी समझ मे आए। दूसरे, सहायता ग्रहण करने वालो को सहायता के विदेशी स्रोत का पता होना चाहिए। ठीक बात तो यह है कि ऐसी स्थिति मे प्रचार काम मे आता है और विदेशी ऐजेंसी को, जिससे यह सहायता आती है मान्यता देता है और उस सहायता और उसके लाभो को विदेशी एजेन्सी के सामान्य दर्शन, चरित्र और नीतियो के साथ जोडता है।

तब तो मनुष्यो के हृदयो के लिए सघर्ष अपरिमित सूक्ष्मता व जटिलता का कारण है। अपने देश मे सार्वजनिक समर्थन बहुत ही यथार्थ और सरल होता है और उतना ही सफल होता है, यदि इतने जटिल कार्य के प्रति 4 जुलाई के भाषण के भाव और साधनो के दृष्टिकोण को अपनाया जाए। घरेलू जनमत द्वारा एक नीति का समर्थन प्राप्त करने के लिये धर्मयुद्ध के साधारण दर्शन और यन्त्र लाभदायक और अनिवार्य है, परन्तु मनुष्यो के हृदयो पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए राष्ट्रो के सघर्ष मे ये हथियार कुण्ठित हो जाते है। प्रचार न केवल बुराई और भलाई के मध्य, सत्य और असत्य के मध्य सघर्ष है, लेकिन शक्ति और शक्ति के मध्य भी है। इस सघर्ष मे भलाई और सत्य केवल प्रसार से ही सफल

नही होते, बल्कि उनको प्रवाहित करने के लिए सुदृढ राजनीतिक नीतियो की आवश्यकता है, जा उन को युक्ति सगत और विश्वसनीय बनाती हैं। बोल्शेविक-वाद के साथ सघर्ष म प्रजातन्त्रवाद के मनोवैज्ञानिक कार्यो को इस दृष्टिकोण से सोचना कि यह लोह-आवरण को फाडने और समूचे ससार मे प्रजातन्त्रवाद की शाश्वत भिन्नताओ को फैलाने की औद्योगिक रामरश है तो यह असली बात को भूलना है। राजनीतिक युद्ध विचारो के ससार मे राजनीतिक और सैनिक नीतियो का प्रतिबिम्ब है। जिन नीतियो का यह राजनीतिक युद्ध समर्थन करना चाहता है यह इन नीतियो से निकृष्टतर हो हो सकता है, श्रेष्ठ कभी नही। इन नीतियो के गुणो से यह शक्ति प्राप्त करता है, उन के साथ यह विजयी तथा परास्त होता है। मनुष्यो के हृदय के सघर्ष मे विजय के आवाहन को प्रभावशाली बनाने के लिए प्रारम्भिक रूप मे राजनीतिक और सैनिक नीतियो के आवाहन को विजय का रूप देना पडेगा। यहाँ पर भी क्रिया शब्दो से अधिक प्रबल है।

मनुष्यो के हृदय के लिए इस सघर्ष ने, जो अनेक राष्ट्रो की ओर से विश्व-समप्रभुता के प्रतियोगी अधिकार के रूप मे हमारे सामने आता है, अन्तर्राष्ट्रीय सम्पर्क की उस सामाजिक प्रणाली को अन्तिम घातक धक्का दिया है, जिस मे राष्ट्र तीन शताब्दियो से निरन्तर पारस्परिक प्रतियोगिता मे रह रहे थे, तथापि वे सामान्य मूल्यो और व्यवहार के विश्वव्यापी मानदण्डो की सामूहिक छत्रछाया मे रहते थे। इस छत्रछाया के नाश होने से ससार के राष्ट्रो का सामूहिक आश्रय-स्थल नष्ट हो चुका है और उनमे से अधिक शक्तिशाली अपने मनचाहे नमूने के अनुसार इसके नवीन मार्ग के अधिकार की माँग करते हैं। इस छत्रछाया के खण्डहरो के बीच यह यन्त्रकला दबी हुई है, जो राष्ट्रो के सदनो की दीवारों को सभाले हुए थी और वह है शक्ति-सतुलन।

इक्कीसवाँ अध्याय

नवीन शक्ति-संतुलन

बौद्धिक और नैतिक मतैक्य का विनाश जिस ने तीन शताब्दियों तक शक्ति संघर्ष को नियन्त्रण में रखा उसी ने शक्ति सतुलन को उस जीवनी-शक्ति से वंचित किया जिसने इसको अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक जीवित सिद्धान्त बनाया। उस जीवन शक्ति के घटाव के साथ शक्ति-सतुलन की प्रणाली में तीन संरचनात्मक परिवर्तन हुए हैं, जिन्होने इसके कार्य को क्षीण कर दिया है।

नव शक्ति संतुलन की कठोरता

महान् शक्तियों की सख्या में कटौती

संरचनात्मक परिवर्तनों में सबसे अधिक स्पष्ट परिवर्तन यह है, जिसने शक्ति-सतुलन के कार्य को क्षीण किया है और जिसने इस खेल के खिलाडियों की सख्या मे महान् कटौती की है। उदाहरणतया तीस वर्षीय युद्ध के अन्त मे जर्मन साम्राज्य 100 समप्रभुता-सम्पन्न राज्यों का बना हुआ था जिनको वैस्टफेलिया की सन्धि ने 1648 मे घटा कर 355 कर दिया। नैपोलियन के हस्तक्षपों ने जिन मे स 1803 के रीजनवर्ग के डायट द्वारा प्रादिष्ट सन्धि प्रसिद्ध है 200 से अधिक समप्रभुता सम्पन्न जमन राज्यों का अन्त कर दिया। 1815 मे जब जमन राज्यमडल की स्थापना की गई उस समय केवल 36 समप्रभुता-सम्पन्न राज्य इस मे सम्मिलित होने के लिए बच गए थे। 1859 मे इटली के एकीकरण के फलस्वरूप समप्रभुसता-सम्पन्न राज्य समाप्त हो गए। 1815 मे नैपोलियन के युद्धों के अन्त होने पर आठ राष्ट्रों को महान् शक्तियों का राजनयिक पद प्राप्त था और वे थे आस्ट्रिया फ्रास इगलैंड पुर्तगाल, रूस, पुर्शिया स्पेन और स्वीडन। पुर्तगाल, स्पेन और स्वीडन को यह पद पारस्परिक शिष्टाचार के नाते दिया गया था, किन्तु इस पद के अयोग्य होने के कारण इनको यह पद खोना पड़ा, जिससे शक्तियों की सख्या कम हो कर पाच हो गई। 1860 के समय मे इटली और अमेरिका उनमे सम्मिलित हुए और उस के पश्चात् शताब्दी के अन्त मे जापान की बारी आई।

पहले महायुद्ध के छिड़ने पर आठ महाशक्तियाँ थी। आस्ट्रिया, फ्रास, जर्मनी, इग्लैंड, जापान, रूस और सयुक्त राज्य अमेरिका ये बड़ी शक्तियाँ थी।

पहले महायुद्ध की समाप्ति पर आस्ट्रिया निश्चित रूप से और जर्मन तथा रूस अस्थाई रूप से इस सूची से निकल गए। दो सदियों के बाद जब दूसरा महायुद्ध छिड़ा तो सात महाशक्तियाँ रह गईं, जिनमें जर्मनी और सोवियत संघ पुनः प्रथम श्रेणी की शक्ति बन गए और बाकी ने अपनी प्रतिष्ठा को स्थापित रखा। दूसरे महायुद्ध की समाप्ति पर ये संख्या में घट कर तीन रह गये और वे हैं इंग्लैंड, सोवियत-संघ और संयुक्तराज्य अमेरिका। जब कि चीन और फ्रांस को अपने अतीत काल या अपनी शक्तियों के कारण वार्ता और संगठन में महाशक्तियों जैसा पद दिया गया। अंग्रेजी शक्ति तो इस सीमा तक शिथिल पड़ गई थी कि वह संयुक्तराज्य अमेरिका और सोवियत-संघ की अपेक्षा स्पष्ट रूप में निम्न प्रतीत होने लगी, जब कि ये दो शक्तियाँ अपनी अत्यधिक श्रेष्ठता के कारण विशिष्ट शक्तियाँ कहलाने के योग्य हो गईं।

इन राष्ट्रों की संख्या की कटौती ने जो कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में महान् योग दे सकते हैं, शक्ति संतुलन की क्रिया पर दूषित प्रभाव डाला है। यह प्रभाव 1688 और 1803 के ममेकन द्वारा और उन्नीसवीं शताब्दी के राष्ट्रीय एकीकरण द्वारा राज्यों की संख्या में कमी करते हुए बढ़ गया था। 1919 में पूर्वी और मध्य योरप में नवीन राष्ट्रों के पैदा होने से इन कटौतियों का प्रभाव अस्थायी रूप से डाँवाडोल कर दिया गया, लेकिन ये राष्ट्र इस अवधिकाल में या तो समाप्त हो गए जैसा कि बाल्टिक राज्य, या वे अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर स्वतन्त्र तत्त्व नहीं रहे। इन विकासों ने संतुलन को अपने लचकीलेपन और अनिश्चितता से वंचित कर दिया है और इसके फलस्वरूप उस अवरोधक प्रभाव से भी जो कि शक्ति-संघर्ष में सतर्क रूप से व्यस्त राष्ट्रों पर लागू होता था।

पूर्व समय में जैसा कि हमने देखा है कि शक्ति-संतुलन प्रधान रूप में राष्ट्रों के सहमिलन के द्वारा कार्य करता था। मुख्य राष्ट्र शक्तियों में भिन्न होते हुए भी महत्ता में समान श्रेणी के होते थे। उदाहरणतया अठारहवीं शताब्दी में जहाँ तक सापेक्ष शक्ति का सम्बन्ध है आस्ट्रेलिया, फ्रांस, इंग्लैंड, प्रशिया, रूस और स्वीडन एक श्रेणी से सम्बन्ध रखते थे। शक्ति में अस्थिरता के कारण शक्ति के उत्तराधिकार में उनकी पारस्परिक सम्बन्धित अवस्था पर तो प्रभाव पड़ता था, परन्तु अपनी महान् शक्ति के पद पर नहीं। इसी प्रकार 1870 से लेकर 1914 तक शक्ति संघर्ष का खेल प्रथम श्रेणी के आठ खिलाड़ी खेलते रहे, जिनमें से योरप के 6 खिलाड़ी निरन्तर खेल में डटे रहे। इन परिस्थितियों में कोई खिलाड़ी अपनी शक्ति-आकांक्षाओं के लिए बहुत दूर नहीं जा सकता था जब तक उसे एक या दो सह-खिलाड़ियों का समर्थन प्राप्त न हो, और किसी को भी इस समर्थन का पूरा विश्वास नहीं था। अठारहवीं शताब्दी में वस्तुतः कोई ऐसा राष्ट्र

विश्व राजनीति के

अफ्रीका

चीन

आस्ट्रेलिया

यूरोप

एशिया

कोरिया

नही या जो अग्र अवस्था से पीछे हटने मे बाधित न हुआ हो। इसका कारण यह था कि इसे उन राष्ट्रो से जिन पर इसे भरोसा था, राजनैतिक और सैनिक समर्थन प्राप्त न हो सका। विशेष तौर पर उन्नीसवी शताब्दी मे यह बात रूस के सम्बन्ध मे सत्य थी। दूसरी ओर 1914 मे यदि जर्मनी ने इस खेल के नियमो को अवहेलना करते हुए आस्ट्रेलिया को सरबिया के साथ व्यवहार करने मे स्वतन्त्र न छोडा होता तो निस्सन्देह आस्ट्रेलिया इतना आगे न बढता, जितना यह बढा और प्रथम महायुद्ध भी टल सकता था।

जितनी सक्रिय खिलाडियो की सख्या अधिक होगी, उतनी ही अधिक सहमिलनो की सख्या की सभावना होगी और उतनी ही अधिक इन सहमिलनो के सम्बन्ध मे अनिश्चितता होगी कि वे वास्तव मे कहाँ तक एक दूसरे का विरोध करेंगे और व्यक्तिगत खिलाडियो का इस खेल मे क्या वास्तविक योग होगा। 1914 मे विलियम द्वितीय और 1939 मे हिटलर, दोनो ने इस बात से इन्कार कर दिया कि इगलैंड और सयुक्तराज्य अन्त मे उनके शत्रुओ से जा मिलेंगे और दोनो ही अमेरिकी हस्तक्षेप के प्रभाव का ठीक निर्णय न कर पाए। यह स्पष्ट है कि इस गलत गणना ने, कि कौन किसके विरुद्ध लडेगा, जर्मनी के लिए वह अन्तर उपस्थित किया जो विजय और पराजय मे हुआ करता है। जब कभी शक्ति मे तुल्य राष्ट्रो के सहमिलन एक दूसरे का मुकाबला करते है, इस प्रकार की गणना आवश्यक रूप मे सही के बहुत समीप होती है, क्योकि किसी एक भावी सदस्य के छोड जाने से या अकस्मात् किसी नये के आ जाने से शक्ति-सतुलन पर यदि निर्णयात्मक रूप से नही, तो पर्याप्त रूप मे अवश्य प्रभाव पडता है। इस प्रकार अठारहवी शताब्दी मे जब राजकुमार अपनी गुटबन्दी को बहुत सरलता से छोड देते थे, तो साधारणतया ऐसी गणनाएँ महान् कल्पनाओ से भिन्न नही होती थी। फलस्वरूप इन मैत्रियो के अविश्वसनीय परिणाम से शक्ति सतुलन मे महान् लचकीलापन आ जाता था, जिसने तमाम खिलाडियो को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के शतरज पर चालें चलने मे सावधान कर दिया था, और क्योंकि खतरों को *मिटना कठिन था, इसलिए वे कम से कम खतरा लेने के लिए बाध्य होते थे।* पहले महायुद्ध मे यह बात सघर्ष के अन्तिम परिणाम के सम्बन्ध मे बहुत महत्त्वपूर्ण थी कि इटली तटस्थ रहेगा या मित्र राष्ट्रो की ओर से लडेगा। इस महत्त्व को स्वीकार करते हुए दोनो पक्षो ने इटली के निर्णय पर प्रभाव डालने के लिए बहुत यत्न किए और परस्पर होड करते हुए प्रादेशिक विवर्धन के वचन दिए। यद्यपि यूनान तो सापेक्ष रूप मे एक दुर्बल राष्ट्र था, फिर भी उसकी स्थिति भी, कुछ कम मात्रा मे, ऐसी ही महत्त्वपूर्ण थी।

शक्ति की द्विध्रुवता

पिछले वर्षों मे शक्ति-सतुलन के इस रूप मे महान् परिवर्तन हुए हैं। दूसरे महायुद्ध मे इटली, स्पेन टर्की अथवा फ्रास का निर्णय कि वह किस पक्ष की ओर जाए, केवल प्रासङ्गिक था, जिसका युद्धकारी या तो स्वागत करते थे या इससे भयभीत होते थे लेकिन निश्चयरूप मे यह बात हार को जीत मे और जीत को हार मे परिवर्तित करने का सामर्थ्य नहीं रखती थी। पहली श्रेणी के राष्ट्रों में, जिनमे एक ओर सयुक्त राज्य, सोवियत सघ, जापान, इग्लैण्ड और जर्मनी थे तथा दूसरी ओर बाकी सब थे, इतनी महान् असमानता थी कि यदि उनका कोई सहकारी छोड़ जाए या आ जाए तो इससे शक्ति-सतुलन उल्टा नहीं जा सकता था और इसी प्रकार सघर्ष के अन्तिम परिणाम पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड सकता था। इन गुटबदियो मे परिवर्तन के फलस्वरूप एक पक्ष कभी ऊँचा उठता और कभी दूसरा पक्ष भारी वजन से नीचे जाता। तथापि ये परिवर्तन पक्षों की अवस्था को पलट नहीं सकते थे। पक्षो की स्थिति का निर्णय प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों की शक्ति के भारी वजन से निर्धारित होता था। वास्तव मे जिन देशों का मूल्य था वे थे महान् देश जैसे कि एक ओर सयुक्त-राज्य, सोवियत सघ और इग्लैण्ड और दूसरी ओर जर्मनी और जापान। यह परिस्थिति जो दूसरे महायुद्ध मे दिखलाई पडी अब उस ने सयुक्त-राज्य और सोवियत सघ मे ध्रुवता का प्रचण्ड रूप धारण कर लिया है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की एक सर्वोपरि विशेषता बन गई है। सयुक्त-राज्य और सोवियत सघ की शक्ति अपने सम्भावित सहकारियो की शक्तियो के अपेक्षाकृत इतनी महान् है कि वे अपने प्रभावशाली भार से पारस्परिक शक्ति-सतुलन का निर्णय कर सकते हैं। वह सतुलन आज उनके अपने सहकारियो की गुटबदियों मे परिवर्तन द्वारा निर्णयात्मक रूप मे प्रभावित नहीं हो सकता। शक्ति सतुलन बहुध्रुवी से परिवर्तित हो कर द्विध्रुवी बन गया है।

दो-गुट-प्रणाली की ओर प्रवृत्ति

फलस्वरूप शक्ति सतुलन का लचकीलापन और उसके साथ अन्तर्राष्ट्रीय मच पर मुख्य महारथियो की शक्ति-आकांक्षा पर निरोधक प्रभाव समाप्त हो गया। दो विशिष्ट शक्तियाँ जो कि एक दूसरे से या दूसरी शक्तियों के सम्भावित सहमिलन से अतुलनीय रूप से दृढतर हैं, एक दूसरे का विरोध कर रही हैं। उन मे से किसी को अपने सम्बन्धित सहायको मे से किसी के आश्चर्यजनक कृत्यों का भय नहीं। महान् और लघु शक्तियों के बल मे इतनी असमानता है कि साधारण शक्तियाँ न केवल मानदण्ड को हिलाने की योग्यता खो बैठी है, अपितु इसके साथ

काफी मात्रा मे अपनी गति मे स्वतन्त्रता भी खो बैठी हैं जिसके द्वारा पहले समय मे वे इतने महत्त्वपूर्ण और प्रायः निर्णयात्मक रूप मे शक्ति सतुलन मे भाग लिया करती थी। जो कुछ पहले अपेक्षाकृत थोड़े राष्ट्रो के सम्बन्ध मे सत्य था (जैसेकि सयुक्त राज्य के प्रति लेटिन—अमेरिकी देशो का सम्बन्ध और इग्लैण्ड के प्रति पुर्तगाल का सम्बन्ध) वह चीज अब बहुत राष्ट्रो के विषय म सत्य है। अब अनेक राष्ट्र रूस और सयुक्त राज्य रूपी दो दानवो के चक्र मे फँस हैं और उनकी राजनीतिक, सैनिक और आर्थिक प्रधानता इन राष्ट्रो को इच्छा के विरुद्ध भी अपने साथ घसीटे हुए है। इस प्रकार यह अकस्मात् कथन नही है यदि हम दूसरे पक्ष के अनिच्छुक और नपुसक सहकारियो को "पिछलग्गू" के नाम से सम्बोधित करते हैं।

पूर्व समय के विपरीत इन राष्ट्रो की कोई अभिरुचियाँ नही हैं। विशिष्ट शक्तियो की इच्छा और अनियन्त्रित परिस्थितियाँ उनकी राजनीतिक और सैनिक गुटबदियो को निर्धारित करती हैं। आज केवल दो स्थितियो मे ही एक राष्ट्र एक कक्षा से दूसरी कक्षा मे जा सकता है। प्रथम स्थिति शक्ति-वितरण मे घातक परिवर्तन है, जबकि युद्ध के परिणामस्वरूप एक महान शक्ति अपने सहकारी पर अपना नियत्रण खो बैठती है। इस प्रकार का दृष्टान्त हमे चीन से मिलता है, जोकि 1905 से लेकर 1949 तक धीरे-धीरे पश्चिमी कक्षा से साम्यवादी कक्षा की तरफ बढा। यह जापान की हार के कारण उत्पन्न शक्ति-शून्यता और चीनी गृह-युद्ध मे साम्यवादियो की जीत का परिणाम था।

दूसरी सम्भावना एक विशिष्ट शक्ति से एक सहकारी देश का स्वेच्छापूर्वक मुक्त होना है, 1947 मे सोवियत कक्षा से योगोस्लेविया का निकल जाना इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण है, जबकि रूसी दृष्टिकोण से यह निष्कासन निश्चित रूप मे एक बडी गलती थी। फिर भी यह बात भली प्रकार समझ मे आ जाती है। ऐसा तब होता है जब कोई महान् शक्ति गुटबन्दी के लाभो की तुलना मे उसके दायित्वो पर विचार करे और इस निणय पर पहुचे कि खर्चा और जोखिम उठाकर आगे बढने की अपेक्षा पीछे हटना ही लाभदायक है।

आज न तो सयुक्त राज्य और न ही सोवियत सघ को अपने सहकारियो की ओर देखने को आवश्यकता है जैसा कि उन्हे दूसरे महायुद्ध मे करना पडा था। उस समय उन्हें भय था कि कही किसी सहकारी देश के छोड जाने से शक्ति-सतुलन उलट-पुलट न हो जाए। अब वह काल बीत गया है, जब गुटो मे परिवर्तन हुआ करते थे और जब कि नये सगठनो को निरन्तर सतर्कता निरीक्षण और सावधानी की आवश्यकता होती थी। यह चीज अठारहवी शताब्दी मे अपनी पराकाष्ठा पर पहुँची और उसका अन्त केवल दूसरे महायुद्ध मे हुआ।

यद्यपि इस विकास का यह अर्थ नहीं कि विशिष्ट शक्तियो को अपने मित्र राष्ट्रों से कोई भय भी न रहे। व मित्र राष्ट्र अपने गुटो को छोडने का सकल्प नहीं कर सकने, तो भी व अपने स्थान पर या तो स्वेच्छा से या प्रभावशाली रूप मे विशिष्ट शक्तियो की नीतियो का समर्थन करते हुए टिक सकते हैं या विघ्नकारी अविश्वसनीय वदी क रूप मे। वे अधिक से अधिक इस योग्य हो सकते हैं कि कक्षा के केन्द्र से हिल कर इस की परिधि पर जा टिकें और इस तरह विशिष्ट शक्ति द्वारा कक्षा के नियत्रण को दुर्बल कर दें और उसके प्रति अपनी उपयोगिता को क्षीण कर दे।

जहाँ तक दोनो ओर के गुटो का सम्बन्ध है एक कठोर शक्ति-सतुलन मे, विशिष्ट शक्तियो के लिए अपने मित्र राष्ट्र दुर्बलता या शक्ति का स्रोत होते हैं। दूसरे महायुद्ध से पहले महान् शक्तियो के सामने मुख्य प्रश्न यही था कि "हम कैसे अपने मित्र राष्ट्रो को अपने पास रख सकते हैं?" इसके विपरीत अपने मित्र राष्ट्रो के सम्बन्ध मे आज जो प्रश्न सम्मुख हैं, वे ये हैं 'कि हम कैसे उन्हे अपने नीतियो के प्रति इच्छुक और कार्य-कुशल भागीदार बना सकते हैं' इस बात के लिए विशिष्ट शक्तियो की ओर से लचकदार और निभाने योग्य नीतियो की आवश्यकता है। उनकी शक्ति अपने मित्र राष्ट्रो की अपेक्षाकृत बहुत अधिक होती है, परन्तु असीम नहीं होती। यह सत्य है कि वे अपूर्व रूप मे अपनी नीतियो और अपने भाग्य के स्वामी होते हैं, परन्तु पूर्णरूप मे नहीं। यदि व अपने मित्र राष्ट्रो के अविकल्प समर्थन को प्राप्त करना चाहते हैं, तो इन्हे विशेष सीमा मे उनकी इच्छा के अनुसार अपनी नीतियो को ढालना पडेगा।

तटस्थ राष्ट्र

पक्षपाती राष्ट्रो के अपनी कक्षाओ मे स्थिरता से स्थित होने के कारण शक्ति-सतुलन मे लचकता का मूल तत्व तटस्थ राष्ट्रो की सम्भावित क्रियाओ म प्राप्त होता है। उदाहरण के तौर पर अरब राष्ट्र, भारत, इन्डोनेशिया किस ओर अन्त मे भुकेंगे और किस पक्ष मे पश्चिम जर्मनी और जापान अपनी चुनाव-क्षमता द्वारा शामिल होंगे, विश्व-शक्ति सतुलन का निकटस्थ भविष्य मे विकास इन तथा और तटस्थ राष्ट्रो के द्वारा अपनाये गये मार्ग से निर्धारित होगा। केवल सुदूरवर्ती भविष्य मे प्रश्न का उत्तर दिया जा सकेगा कि क्या नाभकीय शस्त्रो के प्राप्त करने मे राजनीतिक और औद्योगिक परिस्थितियाँ शक्ति के नये केन्द्रो के विकास को जन्म देंगी, जोकि पुनः स्वतन्त्ररूप मे एक पक्ष से दूसरे पक्ष की ओर जा सकेंगे। यदि यह घटित हो जाय, तो विश्व-राजनीति का आधुनिक द्विध्रुवी शक्ति-सतुलन पारम्परिक बहु-ध्रुवी शक्ति-सतुलन की ओर वापिस मुड़ जाएगा।

संतुलनकर्त्ता का लोप

शक्ति-सन्तुलन के ढाँचे मे आज दूसरा परिवर्तन जो हम देख रहे हैं वह उस परिवर्तन का अनिवार्य परिणाम है, जिस का अभी हमने विवेचन किया है, यह है सतुलक का या सतुलनधारी का लोप। समुद्री-बेड़े की प्रधानता और विदेशी आक्रमण से वास्तविक मुक्ति-इन दोनो ने इगलैंड को तीन शताब्दियो तक इस योग्य बनाये रखा कि वह शक्ति-सतुलन के इस कार्य को निभा सकें। पर आज इगलैंड इस काम के योग्य नही है, क्योकि युद्ध की आधुनिक यंत्र-विद्या ने इसकी नव सेना को समुद्रो पर निर्विरोध स्वामित्व से वंचित कर दिया है। वायुयानो की शक्ति ने ब्रिटिश द्वीपो की अजेयता को न केवल समाप्त किया है, वरन् इसके साथ एक लाभ को भी दायित्व मे परिवर्तित कर दिया है, क्योकि वहा की अपेक्षाकृत छोटी भूमि मे जोकि महाद्वीप के इतने निकट है जनसख्या तथा उद्योगों का इतना केन्द्रीकरण हो गया है।

फ्रास और हैब्सबर्ग के महान् प्रतिरोधो मे, जिसके इर्द-गिर्द आधुनिक राज्य-प्रणाली विकसित हुई, इगलैंड इस योग्य था कि वह सतुलक का नियत्रण और निग्रह-रूपी योगदान दे सके, क्योकि वह प्रतिरोधी और उनके सहकारियों दोनो से अपेक्षाकृत इतना मजबूत था कि वह जिस तरफ जाता उस पक्ष की विजय सम्भव थी। (कम से कम 1756 की राजनयिक क्रान्ति तक जब फ्रास पुरशिया के विरुद्ध हैब्सबर्ग के साथ मित्रता बनाये हुए था। यह बात पुन नैपोलियन के युद्धो मे उन्नीसवी शताब्दी के अवधिकाल मे और बीसवी शताब्दी के पूर्व काल मे सत्य थी)। आज इगलैंड इस योग्य नही कि वह अपनी निर्णायक अवस्था बनाए रख। इसका सतुलनधारी योगदान अब समाप्त हो चुका है, जिस के कारण आधुनिक राज्य-प्रणाली प्रतिबन्धो और शान्ति के उन लाभो से वचित हो चुकी है, जो पूर्व समय मे इस प्रणाली को प्राप्त थे। यहाँ तक कि दूसरे महायुद्ध मे इगलैंड की तटस्थता या सयुक्तराष्ट्र के स्थान पर जर्मनी और जापान के साथ गुटबदी सयुक्तराष्ट्र के लिए जीत और हार का अन्तर लिए हुए थी। अब युद्ध की यान्त्रिकी मे भावी प्रवृत्तियो और सयुक्तराज्य और सोवियत सघ के बीच शक्ति-वितरण को सम्मुख रखते हुए कहना ठीक होगा कि इन दो शक्तियो मे सशस्त्र युद्ध के प्रति इगलैंड का दृष्टिकोण अन्तिम परिणाम पर कोई निर्णायक प्रभाव नही छोडेगा।

उपर्युक्त विवरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि इगलैंड की शक्ति मे अपेक्षाकृत अवनति और इस के फलस्वरूप शक्ति-सतुलन मे मूल स्थान बनाए रखने की अयोग्यता एक ऐसी अकेली घटना नही है, जो पूर्णत. इगलैंड से सम्बन्धित की

जाए, प्रत्युत यह ढाँचे मे उपस्थित परिवर्तन का परिणाम है जो कि शक्ति-सतुलन की क्रिया को इसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति में प्रभावित करता है। इसलिए यह असम्भव है कि इगलैंड को जो इतने समय तक विशेष स्थान प्राप्त रहा था, वह आज किसी दूसरे राष्ट्र को प्राप्त हो सकता है। इसका कारण यह नहीं कि पारम्परिक शक्तिधारी का बल कम हो गया है, जिसके कारण वह अपने पारम्परिक योगदान के अयोग्य हो गया है, बल्कि बात यह है कि वह स्थान ही स्वय मिट चुका है। आज जब दो दानव इतने बलवान हैं कि केवल अपने वजन से तराजू की स्थिति निर्धारित कर सकते हैं तब तीसरी शक्ति को निर्णायक प्रभाव डालने का कोई अवसर नहीं मिल सकता। इसलिए इस समय यह आशा करना व्यर्थ है कि दूसरा राष्ट्र या राष्ट्रो का समुदाय इगलैंड के खाली स्थान को ग्रहण करेगा।

तृतीय शक्ति की समस्या

अनेक राष्ट्रो या राष्ट्रो के समुदायो ने, जिन्होंने निश्चित रूप में या सम्पूर्णतया पश्चिमी या पूर्वी गुट का साथ नहीं दिया, समय-समय पर ऐसी आशाए लगाई हैं। ऐसे राष्ट्र वास्तव मे पूर्व और पश्चिम के बीच राजनीतिक तथा सैनिक धन्धो से पृथक् होकर और अपने आप को सम्पूर्ण या निश्चित सीमा तक तटस्थ रख सकते हैं तथा तीसरी शक्ति की अवस्था को बनाए रखने के योग्य हो सकते हैं। दो विशिष्ट शक्तियो और इनके बीच शक्ति की असमानता को दृष्टि मे रखते हुए यह कठिन प्रतीत होता है कि वे अधिक आशा कैसे कर सकते हैं, जब कि यह सुझाव प्रकल्पित होगा कि उनकी ये आशाए कि वे विश्व-शक्ति-सतुलन मे तृतीय शक्ति के रूप मे एक निर्णयात्मक भाग ले सकते हैं, कभी पूरी नहीं हो सकती, विशेषकर अप्रत्याशित औद्योगिक परिवर्तनो पर दृष्टिपात किया जाए तो यह कहना ठीक होगा कि उन्हे प्रत्याशित भविष्य मे निराश होना पड़ेगा। दृष्टान्त के तौर पर जनरल डीगाल ने अनेक गम्भीर और ज़ोरदार व्याख्यानो मे इस बात की वकालत की है कि सयुक्त योरुप को तीसरी शक्ति का काम करना चाहिए और पूर्वी और पश्चिमी दानवो के बीच शान्तिमय और निग्राहक कार्य करते हुए सतुलक बनना चाहिये। उन्होने 28 जुलाई 1946 को कहा—

"यह वास्तव मे निश्चित है कि ससार का वह रूप जो 30 वर्ष पहले था अब प्रत्येक दृष्टि से बदला हुआ है। एक तिहाई शताब्दी पहले हम एक ऐसे ससार मे रह रहे थे जहा छ या आठ महान् राष्ट्र देखने मे समान शक्ति वाले थे। वे मित्रता और दूसरो के साथ सधि द्वारा हर स्थान पर एक ऐसा सतुलन स्थापित करने के योग्य थे, जिसमे कम शक्तिशाली राष्ट्र अपने

को अपेक्षाकृत सुरक्षित पाते थे, और जहा अन्तर्राष्ट्रीय कानून को स्वीकार किया जाता था, क्योकि उल्लघन करने वालो को नैतिक या भौतिक हितो के सहमिलन का मुकाबला करना पडता था और जहा अन्तिम विश्लेषण मे युद्धनीति भावी द्वन्द्वो को दृष्टि मे रखत हुए इस प्रकार सोची और तैयारी की जाती थी जिसमे केवल शीघ्र और सीमित विनाश शामिल था।

परन्तु एक चक्रवात बीत चुका है। एक तालिका बनाई जा सकती है। जब हम जमनी और जापान के विनाश को और योरुप की क्षीणता को ध्यान मे रखत हैं, तो सोवियत रूस और सयुक्त राज्य को केवल प्रथम श्रेणी मे पाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विश्व के भाग्य ने जो आधुनिक काल मे क्रमश पवित्र रोमन साम्राज्य स्पेन फ्रास इग्लैण्ड और जमन गणराज्य पर चमका और क्रमश प्रत्येक को एक प्रकार की प्रतिष्ठा प्रदान की, अब अपनी कृपा का इन दोनो मे बाँटने का निर्णय किया है। इस निणय से एक एक विभाजक तत्त्व उत्पन्न होता है, जिसने प्राचीन सतुलन की जगह ले ली है।

सयुक्तराज्य और सोवियत सघ को विस्तारवादी प्रवृत्तियो द्वारा उत्पन्न चिन्ताओ की ओर सकेत करने के पश्चात् डीगाल ने स्थिर शक्ति सतुलन के पुनर्स्थापन का प्रश्न उठाया। कौन ऐसी शक्ति है जो यदि पुरानी दुनिया को पुन न स्थापित कर सके तो दोनो महाशक्तियो के मध्य शक्ति-सतुलन को तो पुनर्स्थापित कर सके। प्राचीन योरुप जो शताब्दियो तक ससार का पथ प्रदशक बना रहा, वह इस अवस्था मे है कि ससार के केन्द्र मे, जो अब दो भागो मे विभाजित होना चाहता है समझौते और क्षति पूर्ति के आवश्यक तत्त्व प्रदान कर सकता है।

प्राचीन पश्चिम के राष्ट्रो को इन दो नवीन जन-समूहो के मध्य भौगोलिक रूप मे उत्तरसागर, भूमध्यसागर और राईन जैसी महत्त्वपूर्ण स्थितिया प्राप्त हैं। अपनी स्वतन्त्रता की सुरक्षा का ध्यान और यह भय कि ये रूसी प्रचण्ड मल्लो और अमरीकी उदारतापूर्ण प्रगति स युद्ध की अवस्था मे ग्रस्त हो जायेंगे, इन राष्ट्रो को शारीरिक और नैतिक रूप से आपस मे सगठित किए हुए है। समय समय की कठिनाइयो के होते हुए भी यदि वे अपनी नीतियो मे समवन्य करलें तो उनके बल का क्या असर होगा, जबकि इन राष्ट्रो के पास भारी भौगोलिक शक्ति है, जिसके पीछे अनेक साधन और विशाल प्रदेश हैं, जो भाग्यवश इनके साथ जुडे हुए हैं और इनके प्रभाव और काय को दूर दूर तक फैलाते हैं।'[1]

लेकिन योरुपीय राष्ट्रो की सयुक्त राज्य और सोवियत-सघ से सापेक्ष दुर्बलता ही केवल ऐसा कारण नही है, जो उन्ह इस काय के अयोग्य बनाता है।

1 New York Times, July 29, 1946, P 1, cf for later speeches ibid, June 30, 1947, p 1, July 10 1947, p 3

सर्वप्रथम तो जनरल डीगाल का तर्क इस निर्णयात्मक तत्त्व को ध्यान से निकाल देता है कि इग्लैण्ड यदि शान्ति और स्थिरता के प्रति उपयोगी योगदान दे सका तो वह इसलिए कि वह भौगोलिक रूप से झगडे और फसादो के केन्द्र से बहुत दूर था और इसलिए कि उसकी इन झगडो के दावो मे कोई रुचि नही थी ; फिर इसलिए कि वह अपनी शक्ति-आकांक्षा की पूर्ति के अवसरों को उन प्रदेशों में प्राप्त करता था, जोकि समुद्र से पार थे और जो सामान्तया मुख्य प्रतिरोधियो की शक्ति के ऊपर थे ।

यह त्रिविध एकान्तता थी जिसने ब्रिटेन के शक्ति-सूत्रो से मिलकर उसे इस योग्य किया कि वह सतुलक रूप मे योगदान कर सके । इन तीन रूपो मे योरप के राष्ट्र सघर्ष के केन्द्र से पृथक् नही है । इसके विपरीत वे सब इन बातो मे बुरी तरह ग्रस्त हैं, क्योकि वे एक समय मे ही युद्ध-क्षेत्र भी हैं और सयुक्त-राज्य और सोवियत सघ के बीच सघर्ष मे विजय का पुरस्कार भी है। वे स्थायी और मार्मिक रूप मे एक या दूसरे पक्ष की जीत मे रुचि रखते है । वे इस योग्य नही कि अपने महत्त्वपूर्ण राजनीतिक हितो की पूर्ति योरप महाद्वीप को छोड कर कही और कर पाएँ । इन्ही कारणो से योरुपीय राष्ट्र एकान्तता और तिकडम की स्वतन्त्रता का उपयोग न कर सकें, क्योकि इनके बिना तीसरी शक्ति तटस्थ तमाशबीन के रूप मे, या शक्ति-सतुलक के रूप मे स्थापित नही हो सकती ।

औपनिवेशिक सीमान्त का लोप

इस चर्चा के साथ हम शक्ति-सतुलन के ढाँचे मे तीसरे परिवर्तन का विवेचन शुरू कर रहे हैं, वह है औपनिवेशिक सीमान्त का लोप । शक्ति-सतुलन का वह उदारतापूर्ण और नियामक प्रभाव जिसका प्रयोग उसके उत्कर्ष-काल मे हुआ, न केवल नैतिक वायुमडल और अपने यन्त्रो के कारण था, सुलभ बल्कि अच्छी मात्रा मे उन परिस्थितियो के कारण था, जिनमे राष्ट्र राजनीतिक और सैनिक सघर्षों मे एक दूसरे के विपरीत अपनी पूरी राष्ट्रीय शक्तियो को लगाने की आवश्यकता बहुत कम अनुभव करते थे । उस काल मे राष्ट्र भूमि-प्राप्ति द्वारा शक्ति सचित करना चाहते थे । भूमि तब राष्ट्रीय शक्ति का सार और प्रतीक था । शक्तिशाली पडौसी से भूमि छीन लेना शक्ति प्राप्त करने का एक साधन था । तो भी इस उद्देश्य को प्राप्त करने मे बहुत कम खतरा था । यह अवसर अफ्रीका, अमरीका और पूर्वीसागर के तटवर्ती एशिया के भागो जैसे तीन महाद्वीपो के विशाल विस्तार द्वारा प्राप्त किया गया ।

शक्ति-सतुलन के सारे इतिहास मे इग्लैण्ड ने इस अवसर द्वारा अपनी शक्ति का प्रमुख स्रोत प्राप्त किया और उन समस्याओ से छुटकारा प्राप्त

किया, जिसमे दूसरे राष्ट्र निरन्तर फँसे हुए थे। स्पेन ने इस अवसर से लाभ उठाने मे सारी शक्ति व्यर्थ कर दी और फलस्वरूप शक्ति-संघर्ष की प्रतियोगिता मे अपना ही नाश किया। जो बात इग्लैण्ड और स्पेन के लिए सर्वदा महत्वपूर्ण थी उसने दूसरे राष्ट्रों को कम और हलक-फुलके रूप मे आकर्षित किया। फ्रांसीसी नीतियाँ अठारहवी शताब्दी मे औपनिवेशिक विस्तार और साम्राज्यवादी आक्रमणों के तत्कालीन शक्ति संतुलन पर पारस्परिक प्रभाव का शिक्षापूर्ण उदाहरण हैं। जितना तीव्र फ्रांसीसी साम्राज्यवाद था, उतना ही कम फ्रांस ने औपनिवेशिक विस्तार की ओर ध्यान दिया। यही बात इसके विपरीत भी कही जा सकती है। संयुक्त राज्य और रूस अपने इतिहास के लम्बे काल तक अपने महाद्वीपों के राजनीतिक दृष्टि से खाली स्थानों की ओर अपनी सीमाओं को फैलाने में व्यस्त रहे और उन कालों में उन्होंने शक्ति संतुलन में सक्रिय भाग न लिया। आस्ट्रिया का राज्य विशेषकर उन्नीसवीं शताब्दी में, केन्द्रीय और पश्चिमी-पूर्वी योरुप में रहने वाली असन्तुष्ट गैर जर्मन जातियों पर नियन्त्रण स्थापित करने में लगा रहा, जो कि इसके साम्राज्य का मुख्य भाग थी, इस कारण वह शक्ति-राजनीति में सीमित भाग ले सका। इसके अतिरिक्त अठारहवी शताब्दी के अन्त तक तुर्की आक्रमण की धमकी के भय के कारण आस्ट्रिया अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के चौपड़ पर क्रीडा करने के अधिक अवसर प्राप्त कर सका। अन्त में पुरशिया महान् शक्तियों के चक्र में देर से आने के कारण केवल महान् शक्ति की अवस्था प्राप्त करने और उसे सुरक्षित रखने में सन्तुष्ट रहा। इसके अतिरिक्त अपनी आन्तरिक दुर्बलता और प्रतिकूल भौगोलिक परिस्थिति के कारण यह असीमित विस्तार के कार्य क्रम की बात नहीं सोच सकता था। यद्यपि बिस्मार्क ने जर्मनी में पुरशिया की शक्ति को महान् बनाया, फिर भी उस की नीति का उद्देश्य उस शक्ति को विस्तृत करना नहीं, सुरक्षित करना था।

1870 और 1914 के बीच के काल में योरपीय यथापूर्व-स्थिति-एक तरफ उन खतरों का प्रत्यक्ष परिणाम थी, जो महान् शक्तियों के सीमावर्ती क्षेत्रों में तनिक सी भी हलचलों में निहित थे और दूसरी ओर उस अवसर का परिणाम थी जिस के द्वारा बाहरी प्रदेशों में बगैर किसी आम झगड़े के खतरे की यथापूर्व स्थिति को बदला जा सकता था। जैसाकि प्रोफेसर टायम्बी ने कहा है :—

"शक्ति-संतुलन स्थापित करने की दृष्टि से संगठित राज्यों के दल के केन्द्र में हर उस चाल को जो एक राज्य अपने बड़प्पन के लिए खेलता है, ईर्ष्या-पूर्वक देखा जाता है और पड़ोसियों द्वारा दक्षता से उस का विरोध किया जाता है। कुछ वर्ग फुट भूमि और कुछ सैंकड़ लोगों पर आधिपत्य कटुतम और